महर्षिव्यासप्रणीतः

स्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

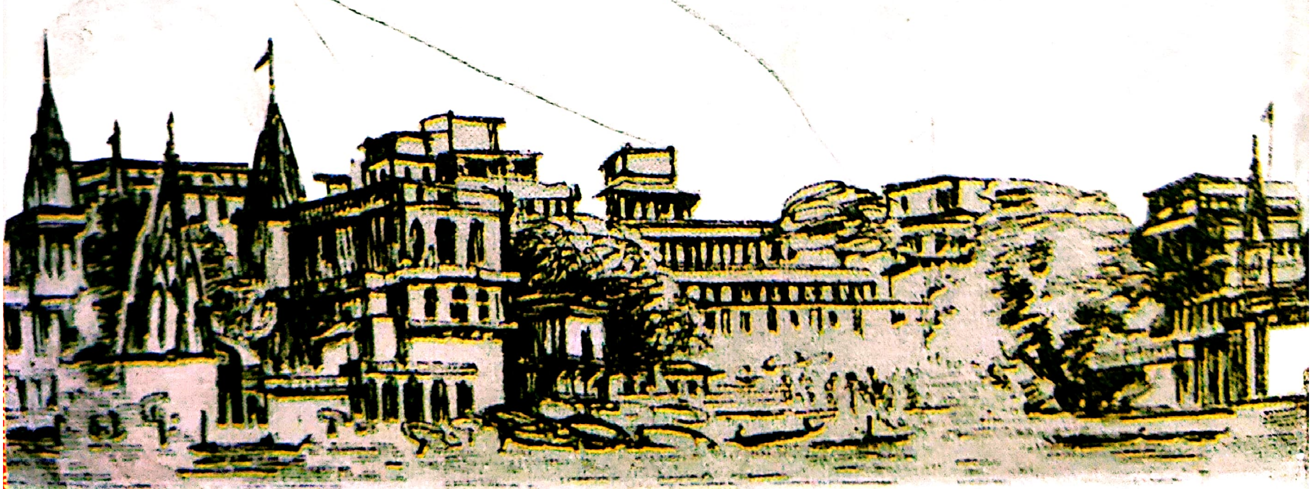
व्याख्याद्वयोपेतः

[प्रथमो भागः]

कुलपतेः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य प्रस्तावनया विभूषितः

सम्पादकः

आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

वाराणसी

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 13]

KĀŚĪKHAṆḌA

[PART ONE]

OF

MAHARṢI VYĀSA

With Two Commentaries
'RĀMĀNANDĪ'
BY
ĀCĀRYA ŚRĪ RĀMĀNANDA
&
HINDĪ 'NĀRĀYAṆĪ'
BY
ŚRĪ NĀRĀYAṆAPATI TRIPĀṬHĪ

FOREWORD BY
PROF. ASHOK KUMAR KALIA
VICE-CHANCELLOR

EDITED BY
ĀCĀRYA ŚRĪ KARUṆĀPATI TRIPĀṬHĪ
Ex-Vice-Chancellor
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

VARANASI
2008

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
[१३]

महर्षिव्यासप्रणीतः
श्रीस्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

[प्रथमो भागः]

आचार्यश्रीरामानन्दप्रणीतया 'रामानन्दी'-व्याख्यया
पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिप्रणीतया 'नारायणी'-हिन्दीव्याख्यया
कुलपतेः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य प्रस्तावनया च विभूषितः

सम्पादकः
आचार्यश्रीकरुणापतित्रिपाठी
कुलपतिचरः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणस्याम्

वाराणस्याम्

२०६५ तमे वैक्रमाब्दे १९३० तमे शकाब्दे २००८ तमे खैस्ताब्दे

प्रस्तावना

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय धन्य है कि यहाँ से **स्कन्द-महापुराण** के **'काशीखण्ड'** का प्रकाशन चार भागों में हुआ था। 'काशीखण्ड' में कुल १०० अध्याय हैं। २५-२५ अध्यायों के एक-एक भाग **श्रीरामानन्दाचार्य** की संस्कृत-व्याख्या एवं **पण्डित श्री नारायणपति त्रिपाठी** की हिन्दी-व्याख्या के साथ श्री नारायणपति त्रिपाठी के सुपुत्र **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी** के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुए, जिसका प्रथम भाग कालातीत हो गया है। अन्य तीन भागों को भी अहमहमिकया विद्वान् क्रय कर रहे हैं।

'काशीखण्ड' का प्रकाशन लगभग १६ वर्षों में सम्पन्न हुआ था और इसके सम्पादक **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी** ने, जो इस विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति भी रह चुके हैं, इन १६ वर्षों में अपनी तपस्या, अपनी ज्ञान-निधि तथा अपनी समर्पण-भावना से इसके चारों भागों, जो कि लुप्त हो चुके थे, को विद्वज्जगत् के समक्ष लाकर काशी के बारहवीं शताब्दी से लेकर अद्यावधिक स्वरूप को भारतवर्ष के कोने-कोने तक पहुँचाया, ऐसे महनीय विद्वत्कुलावतंस पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी को प्रणामपुरस्सर अपनी श्रद्धासुमनाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

'काशीखण्ड' के चारों भागों में काशी का इतिहास, उसकी संस्कृति, उसके विस्तार, उसकी चतुर्दिक् वनराजि और साधनापद्धतियाँ बड़ी गम्भीरता तथा ओजस्विता के साथ ओतप्रोत हैं। भगवान् विश्वेश्वर, भगवती अन्नपूर्णा तथा भगवती भागीरथी के आशीर्वाद से आज भी काशी की बराबरी करने वाली इस धराधाम पर अन्य कोई प्राचीन नगरी नहीं है।

नाना धर्मों, नाना संस्कृतियों, नाना प्रकार की साधनाओं, नाना प्रकार के शिल्प-कौशलों, सभी धर्मों के देवालयों, सभी प्रान्तों के निवासियों ने मिलकर इस काशी को जो लघु-भारत का स्वरूप प्रदान किया है, वह यहाँ के सांस्कृतिक सद्भाव का निदर्शन है।

ऐसे महनीय सारस्वत याग के अध्वर्यु और होता **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी, डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय, डॉ. ददन उपाध्याय, श्री कन्हई सिंह कुशवाहा, श्री अशोक कुमार शुक्ल, श्री अतुल कुमार भाटिया, श्री ओम प्रकाश वर्मा** तथा **श्री जितेन्द्र कुमार भाटिया** प्रभृति के समवेत तपोहव्य से यह सारस्वत यज्ञ पूर्णता को प्राप्त हुआ, अतः मैं हर्षातिरेक से इन होताओं को मङ्गलाशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

इस प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण के मुद्रक विजय-प्रेस के सञ्चालक **श्री सतीश कुमार** तथा निबन्धक **श्री रमेश कुमार** को स्वस्तिवाक् से सनाथित करता हूँ।

अन्त में साम्ब-शिव की लीलाओं से ओतप्रोत इस ग्रन्थ को उन्हीं के श्रीचरणों में समर्पित करता हुआ कृतार्थ हो रहा हूँ।

वाराणसी
चैत्र-पूर्णिमा,
वि.सं. २०६५

अशोक कुमार कालिया

(प्रो. अशोक कुमार कालिया)
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्रकाशकीय

मुझे अत्यन्त हर्षानुभूति हो रही है कि **'काशीखण्ड'** का प्रथम भाग कालातीत हो गया और शेष तीन भाग भी दिनोंदिन उसी स्थिति को प्राप्त हो रहे हैं। हमारा अत्यन्त सौभाग्य रहा है कि अपनी युवावस्था के १६ वर्ष अपने पूज्य गुरुदेव **पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी** के साथ इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने से लेकर प्रूफसंशोधन, पाठभेदालोचन तथा भूमिकादि में नाना प्रकार के सन्दर्भों के संयोजन एवं परिशिष्टों के निर्माण में लगा रहा।

सन् १९८२ में तत्कालीन कुलपति **डॉ. गौरीनाथ शास्त्री जी** के साथ मुझे एवं पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी को माता आनन्दमयी के श्रीचरणों में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रणामाशीर्वाद के अनन्तर माता श्री आनन्दमयी ने पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी से पूछा कि आजकल आप कौन-सा सारस्वत कार्य कर रहे हैं ? मैं चाहती हूँ कि आप 'काशीखण्ड' पर श्रीरामानन्दाचार्य की संस्कृत-टीका और पण्डित श्री नारायणपति त्रिपाठी जी की हिन्दी-व्याख्या के साथ इस विश्वेश्वराराधक ग्रन्थ का सम्पादन करें।

वहीं कुलपति डॉ. गौरीनाथ शास्त्री जी ने छूटते ही कहा कि माँ ! मैं आज ही आपके इस आदेश को अपने अनुज श्री करुणापति त्रिपाठी जी को उपलब्ध करा देता हूँ। मैं तो चाहता था कि यह ग्रन्थ आपकी संस्था नैमिषारण्य के वैदिक एवं पौराणिक शोध-संस्थान से प्रकाशित हो; किन्तु आपका आदेश संस्कृत विश्वविद्यालय के लिए हुआ है, इसमें भगवान् श्री विश्वेश्वर का कोई महनीय संकेत छिपा होगा।

उसके पश्चात् कुलपतिश्री ने इस योजना की स्वीकृति प्रदान की। तदनन्तर पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी जी ने इस सारस्वत यज्ञ का होता बनना स्वीकार किया। 'काशीखण्ड' के एक सौ अध्यायों का संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्याओं के साथ धारावाहिक रूप से प्रकाशन वस्तुतः श्रीकाशीविश्वेश्वर की अनुकम्पा से ही सम्पन्न हुआ। मुझे स्मरण हो रहा है कि काशी के पण्डित एवं विद्वान् यत्र तत्र प्राप्त जीर्ण-शीर्ण प्रतियों से 'काशीखण्ड' का पाठ किया करते थे। इस ग्रन्थ की ऐसी दुर्दशा को देखते हुए माता श्री आनन्दमयी ने जो उद्बोधन प्रदान किया, वह काशीविश्वेश्वर की अनुकम्पा से चार भागों में पूर्णता को प्राप्त हुआ।

मेरा अतिशय सौभाग्य रहा है कि **'काशीखण्ड'** जैसे महनीय ग्रन्थ, जो विश्वेश्वर की लीलाओं से अनुगुम्फित है, के आलोडन-विलोडन में अपने परम-पूज्य गुरु **पण्डित** श्री करुणापति त्रिपाठी जी के साथ प्राणपण से जुटा रहा। कितना ही अच्छा हो कि पुराणविद्याओं के आचार्य अन्य पुराणों पर ऐसा कार्य करें। इससे इस विश्वविद्यालय की यशोगाथा तो दिग्दिगन्त में व्याप्त होगी ही, साथ ही शताब्दियों तक गुलामी भोग चुकी भारत की जनता को उसके महनीय सांस्कृतिक ग्रन्थों की उपलब्धि भी होगी। यह कार्य भारत की अस्मिता को शिखर तक ले जाएगा।

इस ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन हेतु प्रोत्साहित करने वाले अपने परम आदरणीय कुलपति **प्रो. अशोक कुमार कालिया जी** को प्रणाम करता हूँ, जिनके उद्बोधन से यह कार्य सम्पन्न हुआ।

मैंने इस विश्वविद्यालय में सन् १९६४ से लेकर आज तक लगभग २० कुलपति महोदयों के कार्यकाल को देखा है, जिनमें प्रो. अशोक कुमार कालिया जी का कार्यकाल भी स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। वे शरीर से, वाणी से, व्यवहार से, विद्या से और तप से स्वयं स्वर्णमय थे। ऐसे स्वर्णयुग के पुरोधा प्रो. अशोक कुमार कालिया जी के श्रीचरणों में सादर प्रणाम करता हूँ।

वाराणसी
अक्षय-तृतीया,
वि.सं. २०६५

(डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी)
निदेशक
शिक्षण, शोध एवं प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

प्ररोचना

[प्रथम संस्करण की]

'स्कन्दपुराण' का **'काशीखण्ड'** सांस्कृतिक दृष्टि से अपूर्व रचना है और उसकी जो हिन्दी-व्याख्या **पण्डित श्रीनारायणपति त्रिपाठी** ने लिखी थी, वह अपने आप में शोधात्मक कार्य है, उपलब्धि है; क्योंकि उन्होंने घूम-घूम कर पुराने कागज-पत्र देख-देखकर काशी के प्राचीन स्थानों की पहचान की थी और उनका संकेत दिया था। बहुत पहले छपे हिन्दी-अनुवाद समेत **श्रीरामानन्दाचार्य** की संस्कृत-टीका के साथ 'काशीखण्ड' को फिर से सम्पादित करने का कार्य उनके (हिन्दी-व्याख्याकार के) सुपुत्र और मेरे अग्रज **पण्डित श्रीकरुणापति त्रिपाठी** ने किया है और विस्तृत भूमिका भी लिखी है, जिसमें टीकाकार और हिन्दी-व्याख्याकार का परिचय भी दिया है तथा इसके साथ ही स्व० नारायण-पति त्रिपाठी द्वारा रचित **'काशीयात्रा'** भी सम्पादित करके जोड़ दिया है।

यह ग्रन्थ चार भागों में छपेगा। यह पहला भाग प्रकाशित हो रहा है। हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है कि लगभग एक सौ वर्ष पहले काशी के बारे में इतना महत्त्वपूर्ण अभिलेख छपा और वह पुन: प्रकाशित हो रहा है।

'काशीखण्ड' के पढ़ने से बारहवीं शताब्दी की काशी का एक सजीव चित्र उपस्थित होता है, जिसमें **'आनन्दकानन'**, **'महाश्मशान'**, **'तपोभूमि'** और **'बस्ती'** के अलग-अलग विभाग पुनराकलित हो जाते हैं। इसी के साथ-साथ इस ग्रन्थ के माध्यम से धर्म, समाज और कला के बारे में भी बड़ा ही स्पष्ट चित्र सामने आता है।

मैं इस ग्रन्थ को सम्पादित करने में अथक परिश्रम करने वाले **श्रीकरुणा-पति त्रिपाठी** जी को प्रणाम अर्पित करता हूँ।

वाराणसी,
महाशिवरात्रि,
वि०सं० २०४७

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

आशीर्वचनम्

[प्रथमसंस्करणस्य]

स्कन्दपुराणान्तर्गतं **काशीखण्ड**मिति नाम्ना जनेषु प्रख्यातिं भजमानं ग्रन्थरत्नं नितरां विद्योतते । तत्र वाराणस्या नानाऽऽख्यानोपाख्यानैः परिबृंहितं समस्ततीर्थानां माहात्म्यं देवाराधनसमन्वितं प्राधान्येन मुख्यतामश्नुते । एतस्य ग्रन्थस्य प्रतिपद्यं विशुद्धहिन्दीभाषया काशीवास्तव्येन **पण्डितश्रीकरुणापतित्रिपाठिनः** पितृपादेन **पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिना** भाषान्तरणं विहितम् । तच्च 'श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम-प्रेस, बम्बई' इति संस्थायाः स्वत्वाधिकारिणा १९६५ वैक्रमाब्दे मुद्रितं प्रकाशितमभूत् । साम्प्रतमेतद् ग्रन्थरत्नं नितान्तं भजते दौर्लभ्यम् । एतस्यैवाधुना पुनरुद्धारः कृतः श्रीकरुणापतित्रिपाठिना इति विद्यते विद्यारसिकानां कृते अपारहर्षस्यावसरः । अस्य नानातथ्यसमाकुले उपोद्घाते काश्याः प्राचीनमितिवृत्तं समधिकं प्रामाणिकं प्राचीनेतिहासग्रन्थानां साक्ष्योद्धरणपूर्वकं विवृतं विराजते । पूज्यचरणानां स्वपितृपादानां प्राचीनं ग्रन्थं स्वमनीषया **'काश्यां मरणान्मुक्तिः'** इति तथ्यं प्राचीनशास्त्रीयवचनैः साङ्गोपाङ्गं विविच्य कमनीयतरं विदधता त्रिपाठिमहोदयेन समुपजृम्भितं स्वीयमसाधारणं पाण्डित्यं पुराणोपबृंहितेषु विषयेषु । एतदर्थमाशीर्वचनैस्तमभिनन्दयामि ।

वाराणसी
८।३।१९९१

बलदेव-उपाध्यायः

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सम्पादकीयं निवेदनम्

[प्रथमसंस्करणस्य]

ढुण्ढिराजः प्रियः पुत्रो भवान्याः शङ्करस्य च ।
तस्य पूजनमात्रेण (स्मरणमात्रेण) त्रयोऽपि वरदाः सदा ॥

अतीवसौभाग्यस्य मम कृतेऽयमवसरो यत्काशीखण्डस्य स्कन्दपुराणान्तर्गतस्य प्रथमो भागो वाराणसीस्थेन **सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयेन** प्रकाश्यते । शताध्यायात्मकस्य काशीखण्डस्य पञ्चविंशत्यध्यायात्मकोऽयं भागः प्राकाश्यमुपगच्छति ।

अत्र मदीयापारहर्षस्यापरो हेतुविशेषो वर्त्तते । प्रातर्वन्दनीयेन धर्माचारसदाचारविशुद्धेन नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानपरायणेन त्रिकालसन्ध्या-देवर्षि-पितृतर्पणनिष्ठेन विद्याव्यसनिना शिवसायुज्यप्राप्तेन सरयूपारीणेन काशीवास्तव्येन मदीयपितृपादेन **पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिना** एतस्य ग्रन्थस्य प्रतिपद्यं विशुद्धहिन्दीभाषया भाषान्तरणं विहितम् ।

स खलु पुण्यश्लोकः पण्डितवर्यस्त्रिपाठिमहोदयो मध्याह्नसन्ध्या-तर्पण-सम्पादनानन्तरं नित्यं पार्थिवशिवलिङ्गपूजनं विदधाति स्म । शिवलिङ्गनिर्माणकाले आङ्गिरसप्रोक्तेन शब्दालङ्काररमणीयशिवस्तवेनातीवाभिनिवेशेन त्रिपाठिना नित्यं तोष्टूय्यते स्म । तद्धि स्तोत्रं यथोक्तफलश्रुतिवर्णितं सिद्धिदायकम् । तदनन्तरं च **''नमस्ते रुद्रमन्यव''** इत्यादि षोडशमन्त्रमयेन रुद्रपूजनं विधायान्ते दुग्धमयपयसा तन्मयीभूतभावेन महिम्नःस्तोत्रेणाभिषेकं करोति स्म । आङ्गिरसस्तोत्रं त्वस्मिन्नेव काशीखण्डभागे सप्तदशेऽध्याये चतुस्त्रिंशत्श्लोकत एकोनसप्ततिश्लोकपर्यन्तं द्रष्टव्यम् ।

स ग्रन्थः फाल्गुने मासि १९६५ (पञ्चषष्ट्युत्तरैकोनविंशतिशततमे) वैक्रमाब्दे श्रीवेङ्कटेश्वरस्टीम-प्रेस-बम्बई इति संस्थायाः स्वत्वाधिकारिणा मुद्रितः प्रकाशितश्च । एतस्य स्कन्दपुराणांशभूतस्य काशीखण्डस्य मुद्रणं तदा रूपद्वयेनाभूत् । तस्यैकं स्वरूपं केवलहिन्दीभाषामयं श्लोकानुवादसंख्यासंवलितमाधुनिकपुस्तकाकारात्मकमभवत्, अपरं च प्राचीनग्रन्थपरिपाट्यनुसारेण पत्राकारमयम् (साँचीरूपात्मकम्) । पत्राकारात्मके च ग्रन्थे प्राचीनपद्धतिविधया मध्ये संस्कृतश्लोका उपर्यधश्च भाषानुवादः प्रत्येकश्लोकसंख्यासहितः प्रकाशितः ।

अधुना उभे अपि संस्करणे लुप्तप्राये जाते इति कृत्वा काशीखण्डस्य प्रतिसंस्करणं विधीयते ।

पितृ ऋणस्य, ऋषि-ऋणस्यांशिकस्य तर्पणाय मया सानुवादस्य काशीखण्डस्यैतस्य मुद्रणं विचारितम् । महती मदीयैषा चिन्ताऽभूद्यत्कथं ममायमभिलाषः पूर्णतां प्राप्नुयात् । एनया मदीयचिन्तया सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्रकाशनाधिकारी **डॉ० श्रीहरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी** सम्यक् परिचित आसीत् ।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य वाराणसेयस्य स्थापनाया रजतजयन्तीवत्सरो मद्भाग्यवशादुपस्थितः । तात्कालिकेन समादरणीयेन कुलपतिना एका नवीना ग्रन्थमाला समारब्धा । इतः पूर्वं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य ग्रन्थानां भाषामाध्यमं संस्कृतमयमासीत् । नूतनेयं ग्रन्थमाला जनप्रचारदृष्ट्या संस्कृतभाषाबोधविरहितानां हिन्दीभाषाभाषिणां कृते राष्ट्रभाषामाध्यमेन ग्रन्थस्य प्रकाशनं स्वीकरोति स्म; परन्तु तत्रैतदावश्यकमासीद्यत्प्रकाश्यमानो ग्रन्थः संस्कृतभाषाग्रन्थस्य हिन्दीभाषायामनुवादो भवेद् भाष्यं भवेदथवा मूलसंस्कृतभाषाग्रन्थसम्पृक्तो भवेत् ।

तदनूपर्युक्तस्य काशीखण्डस्य सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयद्वारा प्रकाशनाय कुलपतेः सेवायामावेदनपत्रं मया प्रेषितम्, येन मच्चिन्तानिरासो भवेत् । काशीभक्तेन कुलपतिना **डॉ० गौरीनाथशास्त्रिणा** सहर्षं तस्य प्रकाशनाय स्वीकृतिः प्रदत्ता ।

एतस्यैवाभ्यन्तरे कस्यचिन्महापण्डितस्य रामानन्दाख्यस्यैका काशीखण्डस्य व्याख्यात्मिका प्राचीना महत्त्वमण्डिता संस्कृतभाषामयी टीकाऽपि संयोगवशादुपलब्धा । अस्या व्याख्याया उल्लेखं कुर्वता मत्तातचरणेन हिन्दीभाषामय्यां भूमिकायां (भूमिकापृष्ठे ४१ तमे) निर्दिष्टम्—**''यतीन्द्रस्वामिरामानन्दरचिता प्रोत्तमा, प्राचीना, प्रसिद्धा च टीकैका वर्त्तते । तस्याष्टीकायाः प्रचुर उपयोगोऽस्मिन्ननुवादे मया विहितः, प्रचुरा च सहायता मया प्राप्ता''** । श्रीरामानन्दकृतं व्याख्यानं मन्ये, नूनमेव विशिष्टं वैदुष्यजुष्टम्, यस्मिन् किल वेद-स्मृति-पुराण-नानाशास्त्र-दर्शनानामुद्धरणानि ओतप्रोतानि । अस्या व्याख्याया अत्र प्रकाशन-संयोजनाद् संस्करणस्यास्य टीकाद्वयोपेतस्य महत्त्वं नूनं समृद्धिं भजिष्यतीति मन्ये । तां व्याख्यामत्र **'रामानन्दी'**नाम्ना सुधियः पठिष्यन्ति ।

अनुवादविषये किञ्चित्—

अनुवादकेन पण्डितश्रीनारायणपतित्रिपाठिनाऽत्र कश्चिद्विशिष्टः प्रयासो विहितः । तेनास्मिन्ननुवादे या हिन्दीभाषा प्रयुक्ता, सा खलु तात्कालिकी भाषा । यद्यपि पितुर्मैत्रीपूर्णः परिचयो स्व० **देवकीनन्दनखत्रीमहोदयेन** साकं सम्यगा-

सीत्, तथापि कारणविशेषेणेह हिन्दी-भाषाया: प्राचीनरूपं दृष्टिपथमायाति । कारणमत्र वर्त्तते । मत्पित्रा प्रयारपूर्वकं यथासमयं फारसी-अरबी-उर्दूभाषीय-शब्दानां यथाशक्त्यत्राप्रयोगो विहित: । अधुना या हिन्दीभाषा प्रयोगपरम्परायां प्रचलती दृश्यते, तत्तु हिन्दीभाषाया अभिनवं स्वरूपमस्ति । एतस्मिंश्च परिष्कारे आंग्लभाषानुवाद-हिन्दीपत्रकारप्रयोग-नवीनसाहित्यालोचनदृष्टि-विदेश-साहित्यसम्पर्काद्यनेककारणैरधुना हिन्दीभाषा विकासपरिष्कृता जाता ।

अरबी-फारस्यादिभाषाशब्दप्रयोगविरलत्वेनास्यां भाषायां किञ्चित्प्राचीन-भाषाप्रयोगरूपं विद्यते । मया च तत्स्वरूपस्यैतिहासिकं रूपमभिलक्ष्यीकृत्य भाषाया: प्राय आधुनिकरूपात्मक: संस्कारो न कृत: । अतोऽत्र तदानीन्तनं परम्पराप्रचलितं यद्भाषारूपम्, तस्य निदर्शनाय प्राय: पितृचरणानामेव भाषा सुरक्षिता अस्ति ।

अत्रापरमपि भाषावैशिष्ट्यं पाठका द्रक्ष्यन्ति, यतो हि अरबी-फारसीशब्दा: सामान्यतोऽत्र न गृहीता:, अतोऽभिप्रायप्रकाशनाय बहव: पूर्वीहिन्दीभाषाशब्दा:, स्थानीयप्रयोगप्रचलिता लोकभाषाशब्दाश्च प्रयुक्ता विद्यन्ते ।

ममालस्यवशाद्विश्वविद्यालये ग्रन्थप्रकाशनाधिक्याच्च प्रथमभागस्य काशी-खण्डस्य प्रकाशने विलम्बो जात: । विश्वसिमि यदन्येषां भागानां प्रकाशनं श्रीकाशीविश्वनाथानुग्रहेण द्रुततरं भविष्यतीति ।

प्रस्तावनाविषये निवेदनम्—

प्रथमे भागे कार्यान्तरव्यापृतेन मया संक्षिप्ता पुरोवाक् (प्रस्तावना) लिखिता । इह केवलं काश्या: (वाराणस्या:) महिमा, पुरातनता, धार्मिकी महत्तासम्पृक्तानि च कानिचन संक्षिप्तविवरणानि उपस्थापितानि । मदीयविचारोऽस्ति यद् यदि विश्वेश्वरस्यानुकम्पा भविष्यति, तर्हि काश्या: संक्षिप्तमैतिहासिकं विवरणं कानिचनान्यानि तथ्यानि हिन्दीभाषामाध्यमेन प्रस्तोष्यामि ।

अस्य काशीखण्डस्य हिन्दीभाषामयस्य प्रथमे संस्करणे मत्पितृचरणै-र्यन्निवेदितं तद्यथारूपं हिन्दीभाषालिखितमधस्तादुद्धरामि—"काशीखण्ड के अनुवाद को देखकर जिन-जिन महानुभावों ने पत्र द्वारा अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं, वे (सम्मतियाँ) आदरपूर्वक इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित कर दी गयी हैं और इस उदारता के लिए उन लोगों को अनेक धन्यवाद है" इत्यादि ।

निवेदक
श्रीत्रिपाठिनारायणपतिशर्मा
काशी

एषु सम्मतिपत्रप्रदातृषु द्वित्रा अतिमहत्त्वपूर्णा इति कृत्वा तेषां सविरुदनामानि लिख्यन्ते—

१. काश्या जगत्प्रसिद्धो विद्यामार्त्तण्डषट्शास्त्रिप्रभृतिविविधोपाधिमण्डितो दरभङ्गापाठशालाप्रधानाध्यापको **महामहोपाध्यायः श्रीशिवकुमारमिश्रः** ।

२. काशिकराजकीयकालेजस्य प्रधानज्यौतिषाध्यापको नागरीप्रचारिणी-सभा-सभापतिर्नैकग्रन्थानां निर्माता विश्वविख्यातो **महामहोपाध्यायः पण्डित-श्रीसुधाकरद्विवेदी** ।

३. काश्याः सुविख्यातज्योतिर्विदः **पण्डितश्यामाचरणशर्मणस्तनुजः, त्रिपाठ्युपनामकमहामहोपाध्यायः पण्डितपुङ्गवः अयोध्यानाथशर्मा** ।

४. महान्तो हिन्दी-उपन्यासलेखकाः **श्रीदेवकीनन्दनखत्रिणः** ।

अस्मज्जनकेनैतस्य ग्रन्थस्योपक्रमात्पूर्वं लघ्वी भूमिकाऽपि लिखिता । तत्र बहवः पक्षाः काशीखण्डस्यान्येभ्यः पुराणेभ्यो वैशिष्ट्यसूचकाः समुद्घाटिताः । सर्वतः प्रथमं तत्रोक्तं यदस्मिन् ग्रन्थे समागतममृतवर्षि काव्यामृतमाधुर्यं प्रशंसयताऽस्मत्पित्रा द्वे उदाहरणे माघकवि-श्रीहर्षकव्योरुद्धृते—

याचमानमनोवृत्तिपूरणे यस्य नो जनिः ।
तेन भूर्भारवत्येषा समुद्रागद्रुमैर्नहि ।। (का०ख० ५८।११७)

नैषधीयचरिते—

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य ।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः[१] ।।

काशीखण्डे—

युगे युगे द्वारवत्या रत्नानि परितो मुषम् ।
अब्धी रत्नाकरोऽद्यापि लोकेषु परिगीयते[२] ।।

शिशुपालवधे—

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिभिः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जिमुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप[३] ।।

अपरश्च विषयो महत्त्वपूर्णस्तत्र वर्ण्यते यच्छ्रुतिस्मृतिधर्मसंहितापुराणोक्तानि अनुष्ठानादीनि धर्माचरणानि च सन्ति । अन्यच्चेह मत्पितृलेखे सूचितं खल्वत्र काशीपुर्या भगवतो विश्वनाथस्य पुण्यसलिलायाः सकलकलिकलुषहारिण्या गङ्गा-

---

१. नै०च० ५।८८; २. का०ख० ७।११० ।
३. शि०व० ३।३८ ।

याश्चेतिवृत्तानि वर्णितानि । अत्र च पौराणिकानामितिवृत्तानां विषयेऽपि सङ्केतो लभ्यते । पौराणिकी समन्वयभावना सौर-गाणपत्य-वैष्णव-शाक्त-शैवभावनया सूर्य-गणेश-विष्णु-देवी-शिवादीनां यथा तथा कथाप्रसङ्गे महत्त्वं विस्तरेण विवृतम् ।

तत्रैतदपि सूचितं खलु समग्रे चापि काशीखण्डे काशीपुराधीश्वर्या अन्नपूर्णाया नाम्नो नोल्लेखो विद्यते; परन्तु भवानी-देव्याश्चर्याऽस्ति । कदाचित्सैव अन्नपूर्णाया प्रत्नतरा आख्याऽऽसीत् । 'भाषा-काशीखण्ड की भूमिका' शीर्षके बहवोऽन्ये पक्षा ग्रन्थानुवादकर्त्रा लिखिताः, येन तस्य गभीरानुसन्धानपरकशोधदृष्टिर्दरीदृश्यते ।

पितृचरणानां कृतित्वविषय एकमतिमहनीयं श्रमसाध्यं च तथ्यं निर्देश्यम् । अत्र परिशिष्टरूपेण भाषाकाशीखण्डस्य पूर्वं 'काशी-यात्रा' संलग्ना वर्त्तते । एतदर्थं मम पिता प्रयत्नं दशवर्षाणि यावत् कृतवान् । काश्या वीथीं वीथीं भ्रामं भ्रामं काशीखण्डोक्तदेवानां तस्मिन्काले उपलभ्यमानानां पूर्णं विवरणं सङ्कलय्य तत्र लिखितवान् । पृथगपि स लघुग्रन्थस्तदा 'काशी-यात्रा'नाम्ना श्रीवेङ्कटेश्वरमुद्रणालयेन मुद्रितः । अधुना यथा भाषाकाशीखण्डम्, तथैव सोऽपि दुर्लभो जातः ।

अस्मिन् प्रथमे भागे रामानन्दीटीकाया विस्तृतत्वादयं भागो बृहदाकारो जातः । काशीखण्डस्य भाषान्तरकारेणापि भूमिका लिखिता, परिशिष्टरूपा काशीयात्रा च । भूमिकायामपि बहूनि महत्त्वपूर्णानि तथ्यानि समाकलितानि । काशीयात्राऽपि विस्तृता । अतोऽहं भागेऽस्मिन् लघ्वीमेव पुरोवाचं प्रस्तौमि । तत्र काश्याः प्राचीनत्वम्, अस्याः पुर्या धार्मिकमहत्त्वम्, विद्या-साधना-सम्प्रदाय-धर्मानुष्ठानानामविच्छिन्नकेन्द्रत्वम्, अन्यो च पक्षाः । मन्ये, काशीविश्वनाथस्य प्रसादात् काशीपुराधीश्वर्यन्नपूर्णाऽऽशीर्वादाच्च नातिविस्तृतरूपेण द्वितीयादिभागेषु समुपस्थापयितुं कामये ।

कृतज्ञताप्रदर्शनम्—

तदानीन्तनान् सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपतीन् **डॉ० गौरीनाथशास्त्रिमहाभागान्** प्रति सर्वतः प्रथमं मया आभारो निवेद्यते । ते मां प्रति स्वकीयां सहजामहैतुकीं कृपां दर्शयन्तोऽस्य ग्रन्थस्य मुद्रण-प्रकाशनयोः कृते स्वीकृतिं प्रदत्तवन्तः ।

तदनु सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपतिपदं विभूषयतां विद्यारण्यकेसरिणामा**चार्यश्रीविद्यानिवासमिश्रमहाशयानां** प्रति कार्तज्ञ्यमावहामि, येषां सोत्साहाभिनिवेशेनास्य ग्रन्थस्य प्रकाशनमुपपन्नम् ।

डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी चापि मदीयाशीर्वादभाजनं विद्यते । असौ खलु आदितोऽन्तपर्यन्तं सर्वं मुद्रण-प्रकाशनव्यवस्थापनमनालस्यभावेन निष्पादितवान् । तं प्रति नाहं केवलमाशीर्वादं व्याहराम्युत स्वीकरोमि यदृते तस्य साहाय्यमयं जनः करुणापतिरस्मिन् महत्यनुष्ठाने प्रकाशनरूपे सर्वथाऽक्षमः ।

रत्ना-प्रिन्टिंग-वर्क्स-मुद्रणालयस्य स्वत्वाधिकारी **श्रीविपुलशङ्करपण्ड्याऽपि** भूयो भूयो धन्यवादार्हः, येन सत्स्वपि बहुषु व्यवधानेष्वस्य प्रथमभागस्य शोभाधायकं मुद्रणं विहितम् ।

ये चान्येऽत्र कार्ये सहायास्ते सर्वेऽपि साधुवादार्हाः । सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सर्वे सम्बद्धा अधिकारिणोऽपि धन्यवादास्पदम् । अत्र यत्किञ्चित्स्खलनं त्रुटिर्वा भवेत्, तदर्थमयं विनीतः सम्पादकः क्षम्यः ।

निवेदकः
करुणापतित्रिपाठी

उपोद्घातः

[१]

पुरोवाणी

(वन्दनम्)

विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिं च भैरवम् ।
वन्दे काशीगुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम् ॥
काशीं गङ्गां विश्वनाथान्नपूर्णे ढुण्ढिस्कन्दौ माधवं भैरवं च ।
दुर्गां लक्ष्मीं कालिकां शारदां च वन्दे गौरीं मङ्गलां सङ्कटां ताम् ॥
वन्देऽहं श्रीविश्वनाथं गङ्गाकलितमस्तकम् ।
भस्माक्ताङ्गं नीलकण्ठं फणिभूषणभूषितम् ॥
विभूतीनां प्रदाता यो विभूत्यर्चितविग्रहः ।
लोकानां शङ्करः सोमः (उमया सहितः) शङ्करः शं करोतु नः ॥
काशीश्वरीमन्नपूर्णां भवानीं लोकमातरम् ।
आद्यां शक्तिं शङ्करस्य शाङ्करीं प्रणमाम्यहम् ॥
गङ्गां विष्णुपदीं वन्दे पापिनामघनाशिनीम् ।
शम्भोर्जटां विहरतीं मोक्षदां काशिवासिनाम् ॥
गङ्गा शम्भोः शिरस्था ललितजलकणैर्या जटां क्षालयन्ती
काशीं सम्प्राप्य सेयं सुजयति सकलं पापपुञ्जं दहन्ती ।
स्वीयैर्धाराविलासैर्मिलितविधुसुधाबिन्दुभिः प्रोच्छलन्ती
पुण्या पूज्या वदान्या सुगुणरचितां मुक्तिमालां ददन्ती ॥
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं तं षट्शास्त्राणां विचक्षणम् ।
सुधियं **शिवकुमारं** हि वन्दे मातामहं स्वकम् ॥
राजेश्वरीं पुण्यशीलां व्रतयात्रापरायणाम् ।
साध्वीं सुशीलां जननीं प्रणमामि सश्रद्धया ॥
नारायणपतिं तातं नित्यपार्थिवपूजकम् ।
वन्दे काशीरहस्यज्ञं काशीखण्डानुवादकम् ॥
काशी-गङ्गा-विश्वनाथप्रसदात्सम्पाद्येदं ग्रन्थरत्नं पवित्रम् ।
काशीभक्तेभ्यः श्रद्धया निवेद्यानुग्राह्योऽसौ प्राज्ञभक्तस्त्रिपाठी ॥

जानन्त्येव संस्कृतिरहस्यवेत्तारो यदियं काशीपुरी भारतस्य सांस्कृतिकी राजधानी। विश्वस्य पुरातनतमासु पुरीष्वस्याः स्थानमनन्यतमम्। सर्वविधानामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकविद्यानां वैदिक-स्मार्त-पौराणिकविज्ञानानाम्, तान्त्रिक-गाणपत्य-शैव-वैष्णव-शाक्त-सौर-प्रज्ञानानाम्, वामाचार-कौलाचार-दक्षिणाचाराणाम्, जैनबौद्धज्ञानानां भूमिरियं स्वकीयेन महत्त्वेन चकास्ति। सर्वविधसाधनानामनुष्ठानानां यागादीनामसौ धरित्री साक्षिणी। न खलु एतावदेव, नूनमेषा भूराधुनिकेसवीयमोहम्मदीयनानकादीनाम्, कबीर-रविदास-दादूप्रभृतिसतां क्षौणिरियं (सन्तानमित्याशयः) लीलाभूमिः। सिद्धसन्तादीनां चाप्येषा साधनास्थली। किं बहुना, अद्यापि काश्यमानेयं काशी सर्वसाधकानां मतेषु सामञ्जस्यमावहन्ती सर्वेषां पूजनीयाऽऽदरास्पदं च।

विश्वस्मिन् नूनं बह्व्यः प्रत्नतमा नगर्य आसन् मिस्र-मेसोपोटामिया-असीरिया-चीन-यूनान-रोमादयः। मन्ये, तासां तासां प्राक्तनपुरीणां महनीयत्वं पुरातनेतिहासवृत्तेष्वद्यापि जेगीयते। ताः सर्वा नगर्यः स्वकीयसभ्यता-संस्कृति-धर्मादीनां कृतेऽद्यापि प्राचीनेतिहासानुसन्धातृषु वैशिष्ट्यमावहन्ति। तासां सन्दर्भे प्रत्नेतिहासरसिका वर्त्तमानेऽपि समये नानास्रोतोभ्य आकलनेनावकल्पनेन च कृतभूरिश्रमाः सन्ति। ते समुद्घोषयन्ति यत्तेषां तेषां प्रत्नतमनगराणां देशानां वेतिहासः खलु पुरातनः, संस्कृतिश्चापि प्राचीनतमा। पुरातत्त्वविज्ञानवित्ताः स्वानुशीलनेष्वधुनाऽपि नवनवमताविष्कारकरणे संसक्तचित्ताः।

परं मन्ये, कस्याश्चिदप्यतिपुरातननगर्यास्तथा अविच्छिन्ना परम्परा नोपलभ्यते, यथा काश्या वाराणस्या वा। इयं हि काशी स्वप्रकाशेन दीप्त्या च प्रागैतिहासिककालादारभ्याद्यपर्यन्तं प्रकाशते। अत्र नगरोपकण्ठे आनन्दकाननस्य सन्निधौ भगवतो गौतमबुद्धस्य मृगपत्तनम्, यत्राद्यापि दीप्तिः चकास्ति, मानवीयपक्षाणां ज्योतिः प्रभावयति विश्वस्य बौद्धधर्मानुयायिलोकवर्गम्।

सांस्कृतिककेन्द्रस्थली काशी विचित्राऽद्भुताऽनुपमा च। एतस्या महिम्नः परम्परोत्तरवैदिककालादारभ्याद्ययावदविच्छिन्ना। इतिहासविज्ञा विज्ञापयन्ति यत्पूर्वबुद्धाविर्भावकालादेवास्या महीयस्त्वे प्रचुराणि प्रामाणिकप्रमाणानि परिपुष्टान्युपलभ्यन्ते। उदयनबिम्बसारकालादेव काशिकजनपदराज्यस्य महत्त्वगाथा सर्वैर्गीयते। मौर्य-पुष्यमित्र-शक-सीदियन-हूण-गुप्त-वर्धन-(सपूर्वजहर्षवर्धनः) प्रभृतिराजवंशानां शासनकालेऽप्यस्या गरिष्ठो महिमा अक्षुण्णो वर्तते। काश्या इतिहासमधिकृत्य बहवो ग्रन्थास्तैस्तैः पौरस्त्यप्राच्यप्रज्ञावद्भिर्लिखिताः सन्ति। काशीवास्तव्येन **डॉ० मोतीचन्देने**तिहासपुरातत्त्वनदीष्णपण्डितेनापि एको ग्रन्थो व्यरचि।

अस्मिन् वैदुष्यसमृद्धे ग्रन्थे वैदिककालादारभ्य अर्वाचीनयुगपर्यन्तस्यैतिहासिकं सांस्कृतिकं च सर्वेक्षणं ग्रथितमस्ति[१] ।

पावनतमा पुण्यपुरी हीयं न केवलं समग्रराष्ट्रस्य सांस्कृतिकी धार्मिकी राजधानी; अपि तु वाणिज्यस्याप्यतिप्राचीनकालादेव[२] । एषा सर्वविधं स्वमहिमानं सम्पोषयन्ती, सम्यग् रक्षयन्ती, सुष्ठु सम्भरन्ती, यशोगाथां समग्रे जगति विस्तारयन्ती स्वगरिमाणं स्फुटीकरोति । तस्य (गरिम्णः) अभिज्ञानाय सुधीभिर्नानुसन्धेयं न वानुशीलनीयम् । स नूनं मन्ये, भारतीयवाङ्मये, विशेषतः संस्कृतभाषारचितेषु ग्रन्थेषु सर्वत्रोतप्रोतोऽस्ति तदीयो महिमा । काश्या अखण्डिता गाथा सर्वत्र विप्रकीर्णा विद्यते । श्रद्धालुभारतीयानां कृते काश्या गरिम्णो महिम्नश्च ज्योतिर्मयं स्वरूपं मार्गप्रदर्शकम् । तस्या गाथाया आभैव ज्योतिष्मती । तस्या दीप्तिः प्रचुरेषु संस्कृतभाषाग्रन्थेषु देदीप्यते ।

अस्या नगर्या ज्ञानमयालोकेन भारतीयं वाङ्मयम्, भारतीया संस्कृतिः, भारतीया च मनीषा दीप्तिमती जाता । सर्वविधं भारतीयवाङ्मयम्, समग्रो भारतीयो धर्मः, सर्वाणि भारतीयदर्शनानि, सर्वविधो विद्याविलासः, सर्वाः साधनाः, सर्वे सम्प्रदायाश्च काशिकेयपण्डितप्रज्ञाप्रकाशेन प्रभास्वरा जाताः । सर्वमप्यनया मोक्षदायिपुर्योपकृतम् । इतोऽप्यधिकमत्रैतदप्यवधेयं यन्नूनं द्वे विद्ये पराऽपराख्ये इहादिकालादेवोपबृंहिते जाते । तयोर्विद्ययोराश्रयभूमिरूपेण चिरकालादेवास्याः ख्यातिरविच्छिन्ना सुरसरस्वतीधारावत्सारस्वतीं धारां प्रवाहयति ।

भारतीयायाः सभ्यतायाः संस्कृतेश्चेयं काशी सदैव परिपोषिका । भारतीयसभ्यताया रचनायां बहूनि मतमतान्तराणि बह्व्यश्च विचारधाराश्चिन्तनपद्धतयः सहायिका आसन् । भारतस्य धर्मेण, शिक्षया, व्यापारेण, दर्शनेनाध्यात्मिकचिन्तनेन च अस्या नगर्य्या निकटतमः सम्बन्धो बभूव । अतो वाराणस्या बहुधा काशीनगरापरपर्यायाया नगर्या इतिहासो नूनं न केवलो राजनीतिकोऽपि त्वस्या इतिहास एतादृशो वर्त्तते यत्र सर्वाङ्गीणाया भारतीयायाः संस्कृतेः सम्यक् साक्षा-

---

१. एतस्य ग्रन्थस्य शीर्षकम्—"काशी का इतिहास" । अस्य प्रथमं संस्करणं सम्भवतः १९६२ तमे ईसवीयेऽभवत् । द्वितीयं च संस्करणं १९८५ तमे ईशवीये काशीस्थ-'विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी' द्वारा प्रकाशितं वर्तते ।

२. गौतमबुद्धकालादपि प्राक्तनतरयुगादासीदित्यस्या यशोवर्द्धनेऽप्येको महत्त्वपूर्णो हेतुः । द्रष्टव्यं 'काशी का इतिहास'शीर्षकग्रन्थस्य प्रथमसंस्करणीयभूमिकायां पृष्ठमेकादशम् । तत्र लिख्यते—"काश्या महत्त्वं न केवलं तीर्थविद्ययोरुपरि समाश्रितम् । व्यापारोऽपि तत्रैको मुख्यो हेतुः । तस्मादेव कारणादत्र नागरिकसंस्कृती राराजति । अस्या नागरिकसंस्कृतिकृतेऽद्यापि वाराणसी बनारसापरनाम्नी विख्याताऽस्ति ।

त्कारं कर्त्तुं सुगमम् । वस्तुत इतिहासो न केवलं राजनीतिकघटनानां शृङ्खलात्मकं समाकलनम्; अपि तु देशवासिनां समग्रजीवनपक्षाणां गर्भं प्रविश्य तेषां विवेचनात्मकमुपस्थापनम् । इतिहासः किल शुष्कघटितघटनानां न वर्णनमात्रम्; अपि तु सर्वाङ्गीणानां समग्राणां सार्वजनीनानां सामाजिकसमारम्भाणां सहानुभूति-पूर्वकं समाकलनम् । तत्र धार्मिकविचाराचाराणामथ च दार्शनिकाध्यात्मिक-विकासानां पूर्णं चित्रं रेखाङ्कनीयम् । विश्वस्य पुरातनतमा जीव्यमानाऽसौ नगरी विद्यत इत्यत्र न कोऽपि शङ्कावकाशः ।

विश्वस्मिन् न काऽप्येतादृशी नगरी, या वाराणसीतोऽधिकतरं प्राक्तनत्वस्य नैरन्तर्यस्याविच्छिन्नपरम्परायाश्चैतादृशं मनोहारि आदरास्पदञ्च । आधुनिकैतिहा-सिकानामपि मतेन पञ्चसहस्राब्दवर्षादारभ्याद्य यावदेतादृक् पवित्रमिदं नगरं निर-न्तरं सर्वैः स्वीक्रियते स्म । हिन्दूनां कृते तु धार्मिकभावोद्दीपनसमर्था नेतरा काचिन्नगरी निखिले भारतभुवि । हिन्दूमतानुयायिनां दृष्ट्या इयं मोक्षपुरी अखण्डाया धार्मिक्याः पावनताया मूर्त्तिमत् केन्द्रस्थलमथ च स्वकीयेन पुण्य-मयप्रतिमानेन जीवन्ती सर्वविद्याराजधानी अद्यापि वर्त्तते । उपरि सङ्केतितं यद-स्मिन्नानन्दकानने समग्रैरवान्तरसम्प्रदायैः साधनाशाखाभिः समं पुण्यक्षेत्रेऽस्मिन् पुष्पितस्य फलितस्यापि च एशियाभूखण्डे बहुषु भागेषु प्रसृतस्य बौद्धधर्मस्या-प्युद्घोषणमत्रैवाभवत् ।

काश्या ऐतिहासिकं गौरवम्—

काश्याः[१] परिचयो वैदिककालादेवोपलभ्यते । सर्वतः प्रथमं पैप्पलाद-शाखीयाथर्ववेदमन्त्रे (५।२२।१२) 'काशयः' इति प्रयोगो दृश्यते । मन्ये, प्रयोगोऽयं काशीशब्दस्य पर्यायरूपेण तदाप्रयुक्तस्य 'काशि'शब्दस्य बहु-वचनरूपम् । आशयश्चास्य पदस्यास्ति काशिवासिजना इति । अस्मिन्नेव मन्त्रे समीपवर्तिनः काश्याः 'कोशल'-'विदेह'-जनपदयोः सहैवोल्लेखोऽस्ति । काशि-शब्दः काश्याः पर्याय इति प्रमाणीकुरुतः शतपथगोपथब्राह्मणे । तच्चाधस्तादु-च्यते ।

---

१. काशी की पाण्डित्यपरम्परा—पृ० १, लेखकः—आचार्यपद्मभूषण-श्रीबलदेवोपाध्यायः, प्रकाशकः—विश्वविद्यालयप्रकाशनम्, चौक, वाराणसी ।

(क) तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥
(अथर्व० सं० ५।२२।१२)

(ख) गान्धारिभ्यो भुजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवधिं तक्मानं परि दद्मसि ॥
(वही–५।२२।१४)

ब्राह्मणग्रन्थेषु शतपथ-गोपथब्राह्मणयोस्तस्याः (काश्याः) समुल्लेखो विद्यते । शतपथे (१३।५।४।२१) समुद्धृतायामेकस्यां गाथायां[१] वर्ण्यते यद्यथा भरतो सत्वतां कृते व्यवहरत्, तथैव सत्राजित्पुत्रेण शतानीकेन काशिजनान् प्रत्याचरत् । तेषां पवित्रमश्वमेधीयमश्वं वशीकृत्यापहृत्य च रक्ष्यते स्म । तस्मिन्नेव ब्राह्मणे (१४।३।१।२२) धृतराष्ट्रो विचित्रवीर्यो 'काश्य'-पदेन काशिकेयरूपेण निर्दिष्टः । गोपथब्राह्मणेऽपि पूर्वभागे '**काशिकोशला**' इति समस्तं पदं प्रयुक्तमस्ति ।

बृहदारण्यकोपनिषदि कौषीतक्युपनिषदि च निगदितं यद्बालाकिगार्ग्यो ब्रह्मज्ञानोपदेशाय काशिराजमजातशत्रुं[२] जगाम ।

उपनिषत्सु जनकजनपदविदेह इव काशी अप्यध्यात्मविद्यायाः, अपराविद्यायाः, ब्रह्मविद्याया वा केन्द्र आसीत् । अत एव बालाकिगार्ग्यः काशीमागत्य ब्रह्मज्ञानजिज्ञासुं काशिराजं ब्रह्मविद्यामुपदिष्टवान् ।

काशिराजदिवोदासस्य किञ्चिद्विशिष्टं विवरणं महाभारते वर्त्तते । तदग्रिमे द्वितीयखण्डे द्रष्टव्यम् । इहेदमेव कथनीयं वर्त्तते यद् वेदेषु, वैदिकसंहितास्वपि दिवोदासस्य समुल्लेखो बहुत्र लभ्यते । ऋग्वेदसंहितायां विविधेषु प्रसङ्गेषु दिवोदासश्चर्चितोऽस्ति । अत्रैतदप्यवधेयं यद् 'दिवोदासः' इति नामापि वैदिकप्रभावं सूचयति 'दिवः द्युलोकस्य दासः' इति दिवोदासः । दिवोदासेन सहेन्द्रस्य युद्धस्यापि सङ्केतो लभ्यते । अथ च स राजा दिवोदासो ऋग्वेदसंहितादिशा इन्द्रस्य कृपाभाजनमप्यबीभवत्[३] ।

---

१. तदेतद्गाथागीतम्—

(क) शतानीकः समन्तासु मेध्यं सत्राजितो हयम् ।
आदत्त यज्ञं काशीनां भरतः सत्वतामिव ॥

(श०ब्रा० १३।५।४।२१)

एतेनैतदपि सूच्यते यच्छतपथब्राह्मणकालात्पूर्वमपि गाथाबद्धानां पुराणकथानां प्रचारोऽभूत् ।

(ख) "सात्राजित ईजे काश्यस्याश्वमादाय ततो हैतदर्वाक् काशयोऽग्नीन्नाधत्त । आत्तसोमपीथा स्म इति वदन्ति" । (तदेव–१३।५।४।१९)

अत्रैतदवधेयम्—सात्राजितेन शतानीकेन मेध्यमश्वं यतः काश्यानां बलात् समादाय तेनैव स्वकीयोऽश्वमेधः सम्पादितः, अतो पराजितास्तस्मादेव हेतोः काशयो हृत्सोमपानाधिकाराः । अत एव श्रौताग्निधारणविमुखा जाताः । एतेन च काशिकेयानां वैदिकानुष्ठानं प्रति संलग्नता सोसूच्यते । अस्मिन् मन्त्रे 'काश्य'-पदं काशिराजं सूचयति ।

२. नायमितिहासप्रसिद्धो मगधराजोऽजातशत्रुः, अपरोऽयं कश्चित् ।

३. (क) ऋग्वेदसंहितायां वर्ण्यते यदिन्द्रो दिवोदासस्य नवतिसंख्यका नगरीः जितवान् । (ऋ०सं० १।३०।७)

वाराणस्याः प्रतिष्ठापने दिवोदासस्यावदानम्—

दिवोदासप्रसङ्गेन पूर्वमेव दिवोदासपितुर्हर्यश्वस्य, तस्य च पितुः सुदेवस्य, काशिराजदिवोदासस्य चर्चा मया कृता। एतदपि महाभारते तत्रैवानुशासने पर्वणि वर्ण्यते यद्गोमत्या सरित उत्तरे पुलिने वाराणस्याः स स्थापनामकरोत्। अतोऽनुमीयते यद् राजा दिवोदास एव वाराणस्याः स्थापनां चकार।

भारतरत्नमहामहोपाध्यायेन डॉ० पाण्डुरङ्गवामनकाणेलिखिते धर्मशास्त्रेतिहासस्य संक्षिप्ते हिन्दी-भाषासंस्करणे बहूनि महत्त्वपूर्णानि तथ्यानि प्रकाशितानि सन्ति। तत्र वर्ण्यते यद् यथा भरतेन सात्त्वतैः सह व्यवहृतं सत्राजित्पुत्रेण शतानीकेनापि तथैवाचरितम्। तेन काशिवासिनां पवित्रं यज्ञियमश्वमपहृत्य तथैवानुष्ठितम्[१]।

तत्रैवाग्रिमायां गाथायां धृतराष्ट्रो वैचित्रवीर्यः काश्यपदेन निर्दिष्टः[२]। एतेन निष्कृष्यते यत्काशी पुराकाले यज्ञभूमिरूपेण बहुमता।

प्रथमे मण्डले 'परुच्छेपो दिवोदासिः' इति निगदनं १२७ तः सूक्तात् १४१ सूक्तपर्यन्तं वर्त्तते, यस्य स्पष्टः सङ्केतो दिवोदासापत्यादस्ति।

(ख) एतदपि तत्रैव (ऋग्वेदे) निर्दिष्टं यच्छक्रेण दिवोदासाय नगरीणां शतं दीयते स्म। "शतमत्र नगर्याणां पुरामिन्द्रो व्यदास्यत्। दिवोदासाय दानुषे" (ऋ० सं० ४।३।२०)

(ग) इदमत्राधिकं निवेदनीयम्—

(अ) काठकसंहितायां वयं पठामो यन्महर्षेरारुणेः समकालिकस्य भीमसेनस्य पुत्रः कश्चिद् दिवोदासनामा राजा आसीत्।

(आ) कौषीतकिब्राह्मणे कौषीतक्युपनिषदि च दैवोदासि-(दिवोदासापत्यस्य) प्रतर्दनस्योल्लेखो लभ्यते। एतेन नामत उल्लेखेन निर्भ्रान्तरूपेण सिद्ध्यति यद्राज्ञो भीमसेनस्य पुत्रः प्रतर्दनस्य च पिता दिवोदासोऽवश्यमेव कश्चिद्विख्यात इतिहासपुरुषोऽभवत्।

—(पी० वी० काणे, "धर्मशास्त्र का इतिहास" भाग ३, पृ० १३३९-४०)

१. तदेतद्गाथायामविगीतम्—

शतानीकः समन्तासु मेध्यं सात्राजितो हयम्।
आदत्त यज्ञं काशीनां भरतः सात्वतामिव ॥ (शतपथब्राह्मणे-१३।५।४।२१)

२. अथ द्वितीया—

श्वेतं समन्तासु वशं चरन्तं शतानीको धृतराष्ट्रस्य मेध्यम्।
आदाय सह्वा दशमास्यमश्वं शतानीको गोविनतेन हेजऽ इति ॥ इति।

(तत्रैव-१३।५।४।२२)

(क) अत्रैतदप्यवधेयं प्रसङ्गतो यदत्र धृतराष्ट्रं वैचित्रवीर्यं स ब्राह्मणग्रन्थः काश्यपदेनाभिहितवान्।

गोपथब्राह्मणस्य पूर्वस्मिन् भागे (२।९), तत्र 'काशिकोशलाः' इति समस्तं पदं प्रयुक्तं वर्त्तते[१] ।

'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव् इण्डिया' (जिल्द १, पृ० ११७) इत्थं सङ्केतो लभ्यते यत्काशिवासिनां राजधानी वरणावतीनामके स्थाने स्थिताऽऽसीत्[२] ।

बृहदारण्यकोपनिषदि[३] कौषीतक्युपनिषदि[४] च निगद्यते यद् दृप्तबालाकि-गार्ग्यः काशिराजमजातशत्रुं गत्वा प्रोवाच—

ब्रह्मज्ञानं शिक्षयितुं राजानमजातशत्रुम् ।
तमागत्य सोऽकथयत् त्वामहं ब्रह्म ब्रूमि ।।

पाणिनेरष्टाध्याय्या एकस्मिन् सूत्रे 'काशी'शब्दादारभ्य 'काश्यादि'-गण-स्योल्लेखो वर्त्तते । अपरत्र काशेयरूपस्यापि सिद्धिः प्रदर्शिता ।

ऋग्वेदसर्वानुक्रमण्यामपि ऋषिः प्रतर्दनः खलु काशिराजो निगदितः । हिरण्यकेशिगृह्यसूत्रे तु तर्पणानुष्ठानप्रसङ्गे विष्णु-रुद्र-स्कन्दादिभिः सहैव काशी-श्वरस्यापि अजातशत्रोः समुल्लेखो विद्यते ।

दिवोदासः—ऋग्वेदसंहितायामनेकत्र राज्ञो दिवोदसस्य चर्चा दरीदृश्यते । अस्य दिवोदासस्य राज्ञ ऐतिहासिकं महत्त्वं मन्यते । काशीखण्डेऽपि दिवोदासो-पाख्यानमन्येनैव रूपेण लक्ष्यते । इत्थं च परोक्षरूपेण दिवोदासस्योल्लेखेन ऋग्वेदसंहितायामपि काश्याः प्रकरणमनुमीयते ।

(ख) अपरं चैकं महत्त्वशालि तथ्यं नैतिहासिकैर्विस्मार्यं शतपथब्राह्मणकाले महाभारतस्य कथा येन केनापि रूपेण विख्याता आसीत् । यतो भारतस्य महाभारतस्य विचीत्रवीर्यधृतराष्ट्रकल्पानि पात्राणि शतपथब्राह्मणेऽन्येषु च ब्राह्मणेषु नामग्रहणेन निर्दिष्टानि ।

(ग) मन्ये, महाभारतस्य भारतस्य कथायाः क्रमाः किञ्चिद्भिन्ना अबीभवन् । यतो महाभारतस्य साम्प्रतिके संस्करणे धृतराष्ट्रो हि विचीत्रवीर्यपुत्रः । एतदपि सम्भाव्यते यत् पितुर्नाम्नो निर्दशो विशेषणरूपेण वर्त्तते ।

१. धर्मशास्त्र का इतिहास हिन्दी—तृतीयभागे पूर्वोक्ते पृष्ठे १३३९ ।

२. तदेव, पृ० १३३९ ।

३. "दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस । स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति । स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति" । (बृहदारण्यकोपनिषदि—२।१।१) ।

४. "अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानः सस्पृष्ट आस । सोऽवददुशीनरेषु स वसन् मत्स्येषु कुरुपाञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच । ब्रह्म ते ब्रवाणीति तं होवाचाजातशत्रुः । सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति" । (जाबालोपनिषदि—४।१) ।

दिवोदासस्य राज्यस्य केचन भागा: परैरपहृता आसन्, तान् पुन: प्राप्य दिवोदासस्य पौत्रोऽलर्क: काशिराज्यस्य सुसंघटनां विधाय वाराणस्या: समुद्धारं पुन: कृतवान् ।

अत्र किञ्चिद्दिवोदासविषयकं विशेषं निवेद्यं वर्त्तते, तच्च पुरोवाण्या: टिप्पण्यात्मके परिशिष्टे (क) पठितव्यम् । शेषश्चात्र निवेद्यते—दिवोदास: किल स्वकीये राज्ये काशीति विश्रुते आयुर्वेदशास्त्रस्य महत् संरक्षणं प्रदत्तवान् । तस्यामुष्मै शास्त्रायावदानं चिरायास्माभिरविस्मरणीयम् । एतदप्यनुमीयते यत् स किल कस्यचिदायुर्वेदविद्यापीठस्यापि पोषकोऽभूत् । एतदपि चिकित्साविज्ञानानुरागिभिरवधेयं यदसौ विद्यापीठ: खलु शल्यचिकित्साया भारते प्रवर्तककेन्द्रो बभूव । अत्र दिवोदासेन द्वादश चिकित्साविज्ञानविशेषज्ञा: प्रशिक्षिता:, येषु सुश्रुतसंहितारचयिता सुश्रुताचार्योऽन्यतम: । मन्ये, अश्विनीकुमाराभ्यां शल्यक्रियाकर्तृभ्यां वैदिकशल्यचिकित्सकाभ्यामनन्तरं सुश्रुताचार्य एव पुरातनतम: शल्यक्रियाप्रवीणतम आधुनिकैर्देशीयैर्वैदेशिकैश्च निर्भ्रान्तभावेन स्वीकृत: । तस्यामेव संहितायां निगदितम्—''आश्रमस्थं दिवोदासं धन्वन्तरिम्''[१] । धन्वन्तरिविषये विस्तरेणात्र पादटिप्पण्यां द्रष्टव्यम्[२] ।

---

१. सुश्रुतसंहिता–१।१ ।

२. धन्वन्तरि:—पुराणान्यनुसरतेदं निष्कृष्यते यदमृतपाणिर्धन्वन्तरि: समुद्रमन्थनादुद्भूतेषु चतुर्दशरत्नेष्वन्यतम:[1] । विक्रमादित्यनवरत्नेषु चापि धन्वन्तरेर्नामोल्लेखो दृश्यते[2] ।

हरिवंशपुराणकथानुसारेण स्वतेजसा दिग्दिन्तं दीपयन् धन्वन्तरि: समुद्रमन्थनादाविर्भूतो भगवन्तं विष्णुमपश्यद्विष्णुश्च तमब्जाभिधानेनाचष्टे स्म । यज्ञेषु भागस्थानाय च प्रार्थयन्तं तं तयो: (यज्ञभाग-यज्ञस्थानयो:) पूर्वमेव वितरणं कृतमिति संसूच्य तस्मै वरमदाद्विष्णुर्यदपरस्मिन् जन्मनि गर्भत एव सोऽणिमादिसिद्धिसम्पन्न: सशरीरं च देवत्वं

---

१ २ ३ ४ ५ ६

1. लक्ष्मी: कौतुभ-पारिजातक-सुरा धन्वन्तरिश्चन्द्रमा

७ ८ ९

गाव: कामदुघा: सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गना: ।

१० ११ १२ १३ १४

अश्व: सप्तमुखो विषो हरिधनु: खड्गोऽमृतं चाम्बुधे

रत्नानीह चतुर्दशं प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।। (मङ्गलाष्टकम्)

2. धन्वन्तरि-क्षपणकामरसिंहशङ्कुवेताल-भट्टघटखर्पर-कालिदासा: ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

(सुभाषितश्लोक:)

अत्रेदमवधेयं यदितिहाससम्बद्धकालविचारेणामुष्मिन् सुभाषितपद्ये निर्दिष्टानां नवरत्नभूतविचक्षणानां भिन्न-भिन्नकालिकानां नृपतेरेकस्य (विक्रमस्य) सभायामवस्थानं सर्वथाऽविश्वसनीयम् ।

अनुश्रुतिदिशा समुद्रमन्थनेनोद्धृतेषु चतुर्दशरत्नेष्वमृतकलशपाणिर्धन्वन्तरिः खलु चिकित्सकः सर्वविधरोगाणां महाचिकित्सकः पौराणिको व्यक्तिरभवत् । अथ च शल्यचिकित्सकोऽपि बभूव, अतोऽयं दिवोदासो द्वितीयो धन्वन्तरिरिति वर्ण-यितुं पारयामः[१] ।

पातञ्जले महाभाष्ये 'काशिकोसलीयाः' इत्युदाहरणं लभ्यते । अन्यत्र तत्रैव 'माथुर-काशिकेय'-वस्त्रसम्बन्धिनी चर्चा विद्यते । एतेनैतदपि विज्ञायते यद्यथा-द्यतनीने युगे काशी स्वकीयवस्त्रविशेषरचनार्थं विख्याताऽस्ति, तथैव ई० पू० द्वितीयायां शताब्द्यां चापि काशीवस्त्रस्य ख्यातिरासीत् ।

निष्कर्षः—एतैरुल्लेखैर्वयमनुमातुं शक्नुमो यच्छतपथब्राह्मणकालादपि पूर्वं काश्याः किमप्यपूर्वं वैशिष्ट्यमासीत् । ब्राह्मणग्रन्थेष्वारण्यकेषूपनिषत्सु नानाप्रसङ्गेषु तस्या निर्देशोऽस्य काशिजनपदस्य प्रत्नतमं महत्त्वं च सूच्यते । इतिहासविख्यातो यात्री चीनदेशीयः फाहियानोऽपि (३९९ ई०–४१३ ई०) काशिराज्यस्य वाराणसी-नगरीमागतवान् । पतञ्जलिकालेऽपि (यथोक्तं पूर्वम्) काशी-वाराणसीशब्दयोर्यदा कदा पर्यायरूपेणापि प्रयोगो दृश्यते; परन्तु स प्रयोगो विरलः ।

लप्स्यमान आयुर्वेदशास्त्रमष्टसु भागेषु विभाजितं करिष्यति । द्वापरे युगेऽब्जदेवो स्वयम-वातरत् । भरद्वाजादृषेरायुर्वेदशास्त्रमष्टाङ्गं शल्यशालादियुतं सम्यगधीत्य प्रजा रोग-विमुक्ताश्चकार ।

किन्तु प्रसिद्धायुर्वेदग्रन्थानुसारं खलु देवराज इन्द्रो धन्वन्तरिं साङ्गमायुर्वेदविज्ञानं शिक्षयित्वा लोककल्याणाय तं भूर्लोकं प्रैषयत् । धन्वन्तरिः काश्यां जनिं लेभे, काशिराजश्च बभूव । अत्रैवायुर्वेदशास्त्रस्याद्यप्रवर्त्तक आचार्यो बभूव ।

इत्थं च यस्यायुर्वेदशास्त्रस्य प्रचारोऽध्यापनादिकं च काश्यां पुराणकाला-देवाभूत्, तत्रैव द्वितीयधन्वन्तरिनामापरपर्यायेण दिवोदासेन काशिराजेनायुर्वेदशास्त्रस्य विशिष्टान् द्वादशविदुषः सम्पाद्य शल्यचिकित्सायामपि शिक्षणं कारितम् । एष्वेवान्यतमः सुश्रुताचार्यः सर्वोत्तमः शिष्योऽथ च शल्यचिकित्सायाः प्रथमः काशीस्थ आचार्योऽभूत्[1] ।

१. काशी की पाण्डित्यपरम्परा—आचार्य बलदेवोपाध्याय, १९८३ ई०, पृ० ४ ।

---

1. अत्रान्याऽपि जनश्रुतिः, यथा कथ्यते पतञ्जलिर्महामुनिर्न केवलं पाणिनिसूत्राणां व्याकरणमहाभाष्यस्य विधाताऽभूत्; अपि तु पातञ्जलयोगसूत्रस्याथ च चरकसंहिताया अपि । प्रमाणं चात्र महावैयाकरणनागेशोक्तिः—"इति चरके पतञ्जलिः" । अपरं पतञ्जलिचरिते सुभाषितम्—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

यद्यप्यैतिहासिकानामत्र प्रबलं वैमत्यं तथाऽप्येतेन सूच्यते यदस्यामायुर्वेदशास्त्रस्य जन्मभूमौ न केवलं सुश्रुतसंहितायाः सम्बन्धः, अपि तु चरकसंहिताया अपि । इत्थं च मन्ये, काशीयं नूनमायुर्वेदशास्त्रस्य भारते पुरातनतमाऽऽविर्भावभूमिरिति ।

वाराणसी, दिवोदासश्च—महाभारतस्यानुशासने पर्वणि राज्ञो दिवोदासस्य पितामहो हर्यश्वः काशि-जनपदीयानां राजा वर्णितोऽस्ति । तस्य पुत्रः सुदेवोऽपि काशिराजोऽभवत् । तदनन्तरं हर्यश्वपौत्रो राज्यासनेऽभिषिक्तोऽभूत् । अयमेव दिवोदासो वाराणसीनगर्याः संस्थापकोऽपि विद्यते । इन्द्राज्ञया महाभारतानुसारमनेन वाराणसीपुरी निर्मिता[१] । दिवोदासविषयकं काशीखण्डे उपाख्यातमाख्यानकं पादटिप्पण्यामवलोकनीयम्[२] । संक्षेपेणात्रैव लिख्यते ।

---

१. दिवोदासस्तु विज्ञाय तेषां वीर्यं यतात्मनाम् ।
वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात् ।।
(महाभारतम्, अनु० पर्व-३०।१९)

२. **दिवोदासोपाख्यानम्**-दिवोदासस्योपाख्यानं तु काशीखण्डेऽनेकेभ्योऽध्यायेभ्यः पूर्वमेवोपक्रमितं तस्य विशेषकथोपाख्यानं प्रतापादिवर्णनात्मकं तत्र त्रिचत्वारिंशत्तमाध्यायात् प्रारभ्यते; परन्तु पूर्वाख्यानं विना तस्य राज्ञो वृत्तस्य स्पष्टीकरणं न सम्यग्बोधपथमायातीति कृत्वाऽतिसंक्षेपेण सोऽपि वृत्तान्तो वर्ण्यते । स च वृत्तान्त एकोनचत्वारिंशाध्यायमध्यतश्चतुर्विंशश्लोकानन्तरमगस्त्यमहर्षिप्रश्नेनारभ्यते । उमासुतस्य स्कन्दस्योत्तररूपेण सा कथा कथ्यते[1] ।

तस्मिन्नखिललोकदुःखदायके दुर्भिक्षात्मके काले ब्रह्मा स्वयं काश्यां घोरां तपस्यां तपस्यतोऽविमुक्तक्षेत्रे निवसतो मनोरन्वयजस्य रिपुञ्जयाख्यस्य राज्ञः समीपमन्वगात्, प्रार्थयच्च स्वसर्गस्य विनश्यतः कृते सृष्टिरक्षार्थं तं राजानम् । स महातपस्वी महात्मानं सर्वकार्यसाधनसमर्थं न्यवेदयद् यद्भवता भूर्लोकजनिरखिलचराचरजीवा अवश्यमेव मत्प्रार्थनया रक्षणीयाः । नागराजो वासुकिः स्वीयामनङ्गमोहिनीनाम्नीं कन्यकां लोकोत्तरलावण्यललामभूतां दास्यति । तया सह रममाणो देवदत्तसमस्तसम्पत्समृद्धिसंवलितो भवान् चिराय विहरिष्यतीति ।

---

1. **अगस्त्य उवाच**—
कथं स भगवान्रुद्रो द्रुहिणं तु कृपाम्बुभिः ।
प्रार्थितोऽभूत् किमर्थं च तन्मे ब्रूहि षडानन ! ।।
स्कन्द उवाच—
पाद्मे कल्पे पुरावृत्ते मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे ।
अनावृष्टिरभूद्विप्र ! सर्वभूतप्रकम्पिनी ।।
तया तु षष्टिहायिन्या पीडिताः प्राणिनोऽखिलाः ।। इति ।
(काशीखण्डे, ३९।२५-२७)

दिवोदासस्तु तस्याज्ञासंकाशमनुनयं श्रावं श्रावं तस्योररीकरणार्थं पणमेकं द्रुहिणमयाचत तेनोक्तम्[1]—देवा भूलोकं विहाय विबुधलोकं गच्छन्तु । इत्थमेवेदमपि वरं तेनावाप्तं यद् रिपुञ्जये क्षोणीं शासति यक्ष-राक्षस-पिशाचादयोऽपि भूतलं त्यक्त्वा पातालं यास्यन्तीति । ब्रह्मणा च 'तथास्तु' इति प्रोक्ते सर्वं तद्वृत्तमखिलं ज्ञात्वा श्रुत्वा च देवदेवो महेशानस्त्रिलोचनो ब्रह्मणः प्रार्थनामाकर्ण्य कुशद्वीपीय-मन्दराचलस्य महतः कालात्पूर्वतः क्रियमाणां याचनामाकर्ण्य सपरिवारो नन्दि-पुरोगमः समग्रस्वगणसहितः सोमो (उमया सहितः) मन्दराचलं सम्प्राप्य तत्रैवावासं कारयामास । तथा कुर्वताऽप्यविमुक्तेश्वरो न काशीं सर्वतोऽत्यजत् । लिङ्गरूपेण ज्योतिर्लिङ्गात्मके काशीनगरेऽप्यतिष्ठत्[2] ।

दिवोदासप्रतापवर्णनम्—इतः परं दिवोदासस्य मुख्यमुपाख्यानं प्रतापवर्णन-जुष्टं तपःप्रभावगरिष्ठं काशीखण्डस्य त्रिचत्वारिंशाध्यायादारभ्याष्टपञ्चाशत्तमाध्याय-पर्यन्तमुपाख्यातम् । तदेवात्र संक्षेपेण निगद्यते ।

ब्रह्मणो याचनामुररीकृत्य तपस्यासमृद्धस्य मन्दराचलस्य भूयो भूयः कृतं निवेदनं ध्यायं ध्यायं यदा जगच्छङ्करः शङ्करो मन्दरमुवास, तदा निर्भयो निर्द्वन्द्वो दिवोदासो वाराणसीमेव स्वकीयां राजधानीं विधाय प्रजापालनतत्परो धर्माचार-संसक्तमना धर्माधर्मविवेकपूर्वकशासनकर्ता शालिहोत्रशास्त्र-गजपालनशास्त्र-सकल-षष्टिकलानदीष्णः शस्त्रास्त्रप्रभृतिनिखिलायुधप्रयोगप्रवीणो वर्णाश्रमधर्मपालने स्वयं दत्तचेताः सकललोकाँश्च वर्णाश्रमधर्मपालनाय प्रेरयन्, सकलमानवीय-शासक-धार्मिकगुणसमृद्धः, सदा सर्वथा च सर्वाः स्वप्रजाः समग्ररूपेण समेधमानां महीं शशास । काशीं च स्वकीयं स्थिरमावासं व्यदधात् । तस्य शासने सरस्वती-लक्ष्म्यावसापत्न्यभावेन सर्वत्रोषतुः । तस्य राज्ये न हीतयः षड्विधाः, न वाऽकाल-जन्यं दुर्भिक्षं न वाऽनावृष्टिः कदापि जाता ।

"काले वर्षति पर्जन्यो मही सस्यसमन्विता ।
नाकालमरणं क्वापि नानाचारोऽपि दृश्यते ।।
नराः सर्वे धर्मशीला एकपत्नीव्रताः सदा ।
नार्यश्च निखिला नित्यं पातिव्रतसमन्विताः ।।

1. यद्यहं पृथिवीनाथः सर्वलोकपितामहः ।
तदादिविपदो देवा दिवि तिष्ठन्तु मा भुवि ।।
2. अस्मिन्नेवाध्याये काशीखण्डस्याविमुक्तेश्वराविर्भाववर्णनं समाहात्म्यं निगद्यते । अविमुक्तपुर्यां तस्य लिङ्गस्य महत्वमतीव महिष्ठम् । निखिलेऽपि शताध्यायात्मके काशीखण्डे तस्य महिमा श्रद्धालुजनेभ्यो नाविदितः ।

यथा श्रीवाल्मीकिरामायणे भगवतोऽध्योध्याधिपते राज्यशासने तत्प्रतीकाशने तस्य प्रजापालनमबीभवत् । यथा वा महाभारते शान्तनोः शासनवर्णनं तत्तुल्यं तस्यापि यज्ञाद्यनुष्ठानेन सन्तुष्टैर्देवै रिपुञ्जयस्य राज्ञो 'दिवोदासः' इत्यन्वर्थिक्याख्या प्रदत्ता ।

तस्मिन्निर्दुष्टं भूभुवनं प्रशासति क्वापि किञ्चिच्छिद्रं नूनं प्रयासेनापि देवा नानुसन्दधति स्मेति हेतोस्तस्य राज्ञस्तस्यापकृतिकरणे समुत्सुकाः स्वल्पतममप्यपकरणासमर्था बभूवुः । यथास्वभावो वृत्रघ्नो भयाक्रान्तोऽबीभवद् यत् कदाचिदयं स्वर्गपदावाप्तिकामस्तं स्वर्गादपदस्थं न कुर्यादिति । स्वगुरुं बृहस्पतिं समागत्य यथोपचारं प्रणत्यादि निवेदयन् तं परामृश्याग्निं सम्प्रार्थ्य तस्य राज्ञो नगरीं त्यक्त्वा ततो बहिर्गमनार्थं भूयो भूयः प्रार्थयत । तथाकृते च वैश्वानरे वाराणसीनगरे सर्वतोभावेनाग्न्यभावोऽभवत् । भोजन-पाक-उदराग्निनाशादिभिः सर्वाण्यग्निहोत्र-यज्ञयागादीनि नित्य-नैमित्तिक-काम्यादिप्रभृतीन्यनुष्ठानानि चावरुद्धान्यभूवन् । अन्यान्यपि भौतिकतत्त्वानि, यथा वरुणाधिष्ठितो वायुः शरीरस्थपञ्चप्राणयुक्तो वरुणदेवात्मको वायुरपि ततो निरगच्छन् ।

स्वतपःप्रभावेण पृथवीजलतेजोवाय्वादिमहाभूततत्त्वानां नवीनां सृष्टिं निर्माय धर्माचारनिष्ठो महिष्ठो भूपालः सर्वाण्यनुष्ठेयानि यागादीनि भोजनपानप्रभृतिकार्याणि समपादयत् । देवा राज्ञोऽपकरणे पुनरप्यक्षमा बभूवुः, यतो दिवोदासो द्रुहिणं स्वतपसा पूर्वमेव प्रसाद्य वरमलभत, यद्देवयक्षगन्धर्वविद्याधराप्सरसो भूर्लोकं विहाय विहायसरूपं स्वर्गं यान्तु, दानवासुरप्रभृतयश्च पातालतलम् । हेतुनानेन देवा भूम्यागमनाधिकारवञ्चिता अतिविक्लवा अभूवन् । नूनं ससुनाशीराः सुराः सर्वतो विवशा जाताः ।

काशी तु शिवस्य सदैव प्रेमास्पदमासीत् । तां त्यक्त्वा हिरण्यमयमहीध्रमन्दराचलं वसतो महेश्वरस्य सोमस्य (उमया सहितस्येत्यर्थः) स्वान्तःकरणं वियोगव्यथितमेव प्रतिक्षणमासीत् । दिवोदासो वाराणसीं विहायान्यत्र यात्वित्यर्थं सोऽयतत । एतदर्थं तेन चतुष्षष्टिसंख्याका योगिन्यः प्रेषिताः । ता दिवोदासापकृतिकरणे कथञ्चनाप्यक्षमा अभूवन् । नानाविधैः प्रयासैरपि दृढचरितं दिवोदासं तिलमात्रमपि विचालयितुं योगिन्यो नाशक्नुवन्, परं च तद्गुणगणाकृष्टचेतसस्तास्तत्रैवोषुः[१] ।

१. अस्मिन्नेव प्रसङ्गे (काशीखण्डे—४६।३३-४१) चतुष्षष्टिसंख्याकानां योगिनीनां नामान्युक्तानि । एतदपि सूचितं यत्सम्प्रति चौसट्ठीतीर्थघट्टसन्निधौ चौसट्ठीदेव्या मन्दिरं चकारित । होली-पर्वण्यवसरे श्रद्धालवो नागरिकाः सहस्रशो दर्शनार्थं तत्राहमहमिकया समागच्छन्ति (सम्पादकः) ।

एतत्सर्वं वृत्तं विज्ञायात्मयोगबलेन महायोगी विधुशेखरः पुनरपि तयैवाकाङ्क्षया दिवोदासं धर्मादपसारयितुं द्वादशादित्यान् वाराणसीमगमयत् । सर्वथा सर्वप्रयासैः प्रयतमाना अपि द्वादशादित्यास्तं धर्माचाराद्विचालयितुं कथमप्यसमर्थाः सन्तो द्वादशादित्यरूपेण तां पुरीमवसन्[1] ।

यदा द्वादशादित्यरूपेण दिवाकरो दिवोदासशासितां वाराणसीमवसत्, तदा शङ्करो वाराणसीवियोगेन विदग्धमानसो हिरण्यगर्भं सम्प्रार्थ्य दिवोदासं धर्मभ्रष्टं विधातुं प्रैरयत् काशीं प्रति । स तु तत्र वृद्धब्राह्मणवेषं धृत्वा तां पुरीं गत्वा तस्य पुरतः स्वात्मानमुपस्थाप्य दिवोदासं भूरिशः प्रशंसयन् तस्य गुणान् मुहुर्मुहुः कीर्त्तयन्, प्रजापालने लोकोत्तरामुदारतां भूयो भूयो वर्णयन्, दानशीलतां च तस्य भूरिश उद्घोषयन्, अगणनीयगुणगणान् समुच्चरन् तं प्रोवाच—

"त्वं स्वप्रजां पुत्र-परिवारवज्जानासि, ब्राह्मणान् देववत्पूजयसि, तपःसाहाय्येन सर्वान् विहितविधीन् सम्यगनुतिष्ठसि" । अन्ततश्चाब्जासनस्तं स्वानुष्ठीयमानाय यज्ञाय समग्रं साहाय्यं प्रदातुमयाचत । तां श्रुत्वा स्वीकृत्य च दिवोदासो रुद्रसरोवरनामके पावने क्षेत्रे वेधसा दशाश्वमेधयागान् अनुष्ठापितवान् । अत एव तस्य तीर्थभूतस्थलस्य **दशाश्वमेधे**ति समाख्या जाता । तत्रैव च ब्रह्मेश्वराख्यं शिवलिङ्गं संस्थाप्य ब्रह्माऽपि स्थायिरूपेण तत्रैव न्यवसत् ।

काशीवासं प्रति प्रीत्याऽतिसमुत्सुको विश्वनाथस्तां पुरीं स्वगणानां मण्डलानि सर्वेप्सिततमानि कार्याणि साधयितुं प्रेषयामास; परन्तु निर्दुष्टं निष्पापं निरनाचारं तस्य लोकानुरञ्जनं राज्यशासनं नीतिसमेधितं दर्शं दर्शं धर्माचरणानि सर्वगुणमण्डलानि च विधिविहितान्यवलोकमवलोकं कथमपि दिवोदासं नगरत्यागायोद्वेजनेऽसमर्थास्तेऽपि काश्यामेव स्थायिरूपेण न्यवसन् ।

तदनन्तरं सर्वेषां शिवगणानामधिपतिं गणेशं बुद्धिमतां वरिष्ठं सर्वप्रत्यवायविनाशकं स्वबुद्धिवैभवेन कौशलेन च दिवोदासं समुद्वेज्य काशीपुरीं त्यक्तुं महादेवः प्रैषयत् । गणेशो वाराणसीमाजगाम । तत्र वृद्धब्राह्मणस्य ज्यौतिर्विदो वेषं विधाय तत्रान्तःपुरचरीणां महिलानां भविष्यत्फलभाषणेन तासां स्वस्मिन् विश्वासमुत्पाद्य निवासं निवासं प्रवेशं प्रवेशं सर्वासां प्रीतिपात्रमभवद्धेरम्बः । ततश्च स्वमायां प्रसार्य मायापतिर्गणपतिर्विश्वेषां नगरनिवासिनां नैकट्यमवाप्य तान् रात्रौ विविधान् स्वप्नान् दर्शयाञ्चकार । प्रभाते प्रतिगृहं गत्वा सर्वेषां स्वदर्शितज्ञानस्व-

१. अस्मिन्नेवाध्याये काशीखण्डे (श्लो० ४५-४७) वाराणसीस्थानां विशिष्टानां द्वादशार्काणां स्थाननिर्देशपुरःसरं नामानि निर्दिष्टानि । तेषां दर्शन-यात्रापूजनप्रभृतिविधिविधानान्यपि सूचितानि । तानि तत्रैव ज्ञातव्यानि (सम्पादकः) ।

प्मान् स्वयमेव घोषयँस्तेषां शुभाशुभफलानि भाषयन् सर्वेषां काशीवासिनां चेतांसि आत्मानं प्रत्यावर्जयन्, तेषां मनांसि काशीं प्रति समुच्चाटयन्, ग्रहचाराणि च सूचयन्, ग्रहाणां चारेण यान्यनिष्टानि फलानि निकटे भविष्यत्काले भविष्यन्ति, तानि सर्वाणि समुद्घोषयन् नागरीणां नागरिकाणां च चित्तेषु दृढमुच्चाटनभावं कीलयाञ्चकार ।

पुनश्चान्तःपुरिकाणां विश्वासभाजनं गणेशस्तास्ता नागरीः प्रति स्वमधुर-भविष्यद्वाण्या नैकफलानि समुद्घोष्य राजवनितास्वपि स सर्वमान्यो जातः । सर्वे च तस्य विद्या-बुद्धि-गुणकीर्त्तनं कुर्वन्तः समयमयापयन् । राज्ञो दिवोदासस्य पट्टमहिषी 'लीलावती' अन्याश्च तस्माद् ज्योतिर्वेत्तुर्येषामिष्टानिष्टभवितव्यानां सूचनाः समधिगतवत्यस्ताभिः समाकृष्टमनसस्ता दिवोदासं प्रैरयन् यद्राजा दिवोदासो ब्राह्मणेन सह गुह्यालापं करोतु ।

राजा तं निर्जने प्रदेशे समाहूय संक्षेपेण स्वजीवनप्रणालीं निवेद्य स्वमनो-गतमनोरथसिद्ध्युपायं जिज्ञासितवान् । गणेशः स्वमायाजालं वितन्वन्नवदत्— "अद्यारभ्याष्टादशे दिवसे कश्चनौदीच्यो ब्राह्मण आगमिष्यति, उपदेक्ष्यति चावश्यं भवन्तम् । महाराज ! स यत् किञ्चिन्निगदिष्यति, निःसंशयेन मनसा भवता तद-नुसारं समाचरणीयम्, तेन च सर्वोऽपि भवतो मनोऽभिलाषः सिद्धिमेष्यति ।

जाते कालातिपाते देवदेवो विश्वनाथो विष्णुं सम्प्रार्थ्य स्वाभीष्टसाधनाय तं वाराणसीं प्रेषयामास । तां पुरीं प्राप्य काश्या उत्तरभागे धर्मक्षेत्रे अद्यापि 'धर्मेश्वर'-नाम्ना विख्याते ग्रामे सम्भवतः सारनाथाख्ये स्थाने स्वयं त्रैलोक्यमोहक-बौद्ध-रूपेण समागच्छत् । तस्याद्धाङ्गिनी लक्ष्मी च परिव्राजिकारूपं धारयन्ती तेन सहा-ययौ । लक्ष्म्या अपि रूपसम्पत्तिं सौभाग्यसम्पन्नां हस्ते पुस्तकधारिणीं दर्शं दर्शं लोका मुह्यन्ते स्म । मृगदावनामकस्थानमेतदासीत् । गरुडोऽपि करे पुस्तकं धृत्वा महाविद्वानिव ज्ञान-विज्ञान-स्तम्भनोच्चाटनाकर्षणादिसिद्धिसहितस्तत्रैव निःस्पृहो गुरु-सुश्रूषकः शिष्योऽभूत् ।

बौद्धरूपधारिणो विष्णोर्द्वौ शिष्यावपि तत्रास्ताम् । तयोर्नाम्नी खलु विनय-कीर्तिगुणकीर्तिश्च । परस्परमालपतोर्विनयकीर्तिना शिष्येण पृष्टः पुण्यकीर्तिः सर्वतः प्रथमं बौद्धधर्मं वेदविधिविरोधिनमीश्वरप्रत्याख्यानकमहिंसाधर्मबहुलं वर्णयन्नागरिकेषु अवैदिकं यज्ञादिनिन्दकं मतं प्रचारयामास । अहिंसाप्रचारमाध्यमेन ब्रह्मविष्णु-महेशादींश्चापि सामान्यान् देहिन इव साधयन्तश्चत्वारि दानानि सर्वश्रेष्ठानीत्य-घोषयत् । तानि दानानि यथा—१. भीतेभ्योऽभयदानम्, २. रोगिभ्य औषध-दानम्, ३. विद्यार्थिभ्यो विद्यादानम्, ४. दरिद्रबुभुक्षितेभ्यश्चान्नवस्त्रादिदानम् ।

पुण्यकीर्तिरिव तत्रैका नेत्रकौमुदीनाम्नी परिव्राजिकाऽप्यासीत् । सा महायानानुगत-तान्त्रिकचेतनाजुष्टान् सिद्धान्तान्, अथ च लौकायतिकचार्वाकादिदेह-भोगसुखवादिनां भोगवादिमतानि सर्वोत्कृष्टानि वास्तविकानीति गृहे गृहे जनं जनं ख्यापयन्ती कामार्थौ पुरुषार्थौ सर्वथा सर्वतश्च सेवनीयावित्युद्घोषयन्ती ''अत्रैव लोके नरकस्वर्गौ विद्येते'' इति प्रचारितवती । 'सुखभोगं कुर्वतो जनस्य वपुस्त्याग एव स्वर्गः' इत्यपि घोषयाञ्चकार । एतदप्यज्ञापयद्यत्समग्रवासनासहितानां क्लेशानामुच्छेदे जाते विज्ञानस्य य उपरमः, स एव मोक्षः । इदमप्यकथयत्—

वृक्षाँश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमान् ।
तिलान्यग्नौ पातयित्वा स्वर्गं गच्छेत्कथं नरः ? ॥

अवैदिकानि मतानि सम्यक् स्पष्टानीति मुहुर्मुहुर्घोषयन्तः स्वोपदेशसाधकानि तत्त्वान्येकीकृत्य समेषां पुरवासिनां मनःसु, बुद्धिषु, चिन्तनप्रक्रियासु, वैदिके सनातनधर्मे च तैस्तैर्वचनैरनास्थां समुदपादयत् । श्रुतिस्मृत्यादिभिः प्रतिपादिताः सिद्धान्ताः पुण्यकीर्तिना परिव्राजकेन सम्यक् प्रत्याख्याताः । भोगवादिनी मनोदृष्टिस्तेन दृढीकृता जनमनःसु । वर्णाश्रमसाधकानि प्रमाणानि भूयो भूयस्तर्कैर्लौकिकैर्निःसारीकृतानि । नागरीणां मनसि च विज्ञानकौमुदी क्रियासमभिहारेण वर्णविचारं खण्डयन्ती एकतः पातिव्रतधर्माचरणं प्रति मनोभावं शिथिलयन्ती, धर्माधर्मविवेकं निर्मूलयन्ती निरङ्कुशं कामोपभोगसुखमेव तरुणावस्थासर्वस्वं साधयन्ती व्यचरत् । अपरतश्च शरीरसुखभोगसमुत्सुका महिलाबौद्धतन्त्रानुसारि आकर्षणवशीकरणादितान्त्रिकविद्याबलं प्राप्य व्यभिचारपरायणा जाता ।

इत्थं द्वौ विज्ञानकौमुदी-पुण्यकीर्ती नगरवासिनां नारीनराणां मनांसि स्वोपदेशेषु समाकृष्य राज्ञोऽन्तःपुरचरीणां चेतांस्यपि व्याकुर्वताम् । अञ्जन-गुटिका-तिलकादितान्त्रिकाप्रसिद्धप्रयोगान् शिक्षितवत्यौ ।

सकले लोके धर्मपराङ्मुखे जाते समुल्लासितस्याधर्मस्याभिवृद्धिः सर्वत्र प्रासरत् । दूरस्थो गणेशोऽपि सर्वमेतच्चरितं दूरादेव निरीक्षमाणः स्वकार्यसिद्धिमवालोकयत् । रिपुञ्जयो राजा दिवोदासोऽधर्मस्य सर्वतोमुखीं वृद्धिं दर्शं दर्शं पापाचारफलजनितां सस्यादिप्रभृतिसमस्तसमृद्धिं शनैः शनैर्विनश्यन्तीं पश्यन् निर्वेदाक्रान्तचित्तः कुण्ठितः खेदग्रस्तोऽभूत् ।

इत्थं च गणेशकथनानन्तरं व्यतीते सप्तदशमे दिवसे सम्प्राप्ते चाष्टादशे दिने मध्याह्नवेलायां ब्राह्मणवेषो विष्णुरेव धर्मक्षेत्रादागतो बौद्धाचार्यः पुण्यकीर्तिनामकः समुपस्थितः । तं तेजोमण्डितं ब्राह्मणं भूयो भूयः प्रणमन्, तं मधुपर्कादिविधानेन सम्यक्पूजयन्, ब्राह्मणस्य मार्गश्रमं दूरयन्, तं सम्यग् भोजयन्,

स्वशासनप्रणालीं विस्तरेणोद्घाटयन्, आत्मनो भोगसुखभोगैः सन्तृप्तं सूचयन्, तैश्च निर्विण्णं घोषयन्, पुराकाले देवेभ्योऽभयत्वमात्मनो ख्यापयन् कञ्चनैतादृशमाचरणचरणार्थमपृच्छत्, येन पुनर्गर्भावासो न भवेत् ।

पुराऽपि छलितवामनो मायावी परिव्राजकवेषधारी विष्णुर्ध्यानावस्थित इव दिवोदासस्य शासनं प्रजापालनं धर्माचरणं दानशीलतां सदाचारनिष्ठताम्, किं बहुना, तस्य कर्मणां त्रिकालाप्रमितत्वं भूरिशः प्रशंसयन् तमसूचयत्, यद्यपि त्वयि सर्वे गुणाः सदाऽध्यतिष्ठन्, तथापि एको महान् दोषोऽस्ति । भवता काशीतो विश्वेश्वरः काशीप्रियो महादेवो दूरीकृतः । काश्यां खलु यतः शिवलिङ्गप्रतिष्ठाया अपूर्वं महत्त्वं फलं चाप्यपरिमितम् । पुनश्च, क्षणं समाधिमास्थाय स्वसमाधिप्रत्यक्षीभूतं दृश्यं प्रकटयन् विश्वेश्वरलिङ्गप्रतिष्ठानोपदेशमुपादिशत् । एतदपि चासूचयद् यद् विश्वेश्वरो यथा त्वां हृदयेन स्मरति, तथा नान्यं कञ्चन जनम् ।

दिवोदासो राजा विष्णुवचनं सश्रद्धं विश्वसन् तथैव समाचरद् यथा विष्णुनोपदिष्टः । स्वयं पञ्चनदाख्ये (पञ्चगङ्गाख्ये) स्थाने बिन्दुमाधवनाम्ना लक्ष्म्या सह स्वकीयं स्थायिनिवासं कुर्वन् महादेवागमनं प्रत्यैक्षत ।

दिवोदासश्च विषण्णचित्तः सकलैहिकसुखपराङ्मुखः सन् स्वकुमारं समरञ्जयं गोमतीतटे नवीने राज्येऽभिषिच्य सर्वमत्यजत् । राजा रिपुञ्जयो दिवोदासो गङ्गायाः पश्चिमे पुलिने पुष्कलधनव्ययेन विशालं शिवमन्दिरं निर्माय दिवोदासेश्वराख्यं शिवलिङ्गं स्थापयाञ्चकार । स्थानस्यास्य नाम भूपालश्रीरभवत् । एकदा च शिवलिङ्गस्य शास्त्रविधानेन पर्यर्चनं सम्पाद्य यावद्बहिरागच्छति, तावद् गगनाङ्गणादेको दिव्यो ज्योतिष्मान् रथः खट्वाङ्गत्रिशूलादिधारिभी रुद्रगणैः, रुद्रकन्याभिश्च समन्तात्परिवृतोऽवातरत् । रुद्रवेषेण सम्यक् तं दिवोदासं सज्जीकृत्य तं त्रिनेत्रशिवप्रमुखगणं विधाय विमानमुपवेश्य तेनैव विमानेन शिवदूतास्तं स्वर्गमगमयन् । ततःप्रभृति स तीर्थो भूपालश्रीसमाख्यया विख्यातोऽभवत् ।

अस्य दिवोदासेश्वरदर्शनपूजनादीनां महान् महिमा काशीखण्डे दृश्यते । मुख्यं च दिवोदासोपाख्यानं त्रिचत्वारिंशदध्यायतोऽष्टपञ्चाशत्तमाध्यायपर्यन्तं प्रसृतं वरीवर्ति ।

एतदाख्यानस्यात्र समुपस्थापनस्य विशिष्टं प्रयोजनम् । अस्य राज्ञो नाम ऋग्वेदसंहितायामुपलभ्यते, अतोऽस्य महत्त्वम् । अन्येऽपि उपाख्यानस्योपस्थापनस्य प्रबला हेतवः । ते यथा—

(१) प्रथमस्तु काशीखण्डे यथोक्तमेतदुपाख्यानं षोडशाध्यायव्यापि ।

पुराणानां महापुराणे भारतीयाख्यानोपाख्यानानां विश्वकोशात्मके महाग्रन्थे महाभारते स्कन्द-पद्म-लिङ्ग-मत्स्य-कूर्म-वायुमहापुराणेष्वन्येषु शिवपुराणश्रीमद्देवी-भागवतप्रभृतिपुराणेषु क्वचिच्चान्येषु पुराणेषु काशीरहस्ये वा काश्या विषयेऽवि-मुक्तेश्वरप्रसङ्गे च विवृतं विद्यते, इत्थमेव च त्रिस्थलीसेतु-मानमेयोदयादिप्रमुख-प्रबन्धेषु इतरत्र च काशीमाहात्म्यं सूचितम्, तेषां सिंहावलोकनं भागेऽग्रिमेऽहं संक्षिप्तातिसंक्षिप्तरूपेण निवेदयितुं प्रयतिष्ये । काशी एतादृशी महिममयी यद-मुमधिकृत्य सर्वं समुपस्थापयितुं न पार्यते, एतदर्थमनेकभागात्मको ग्रन्थोऽ-पेक्षितोऽस्ति ।

अग्रिमे भाग एव काश्या ऐतिहासिकपक्षाणामपि त्वरितसिंहावलोकनस्य प्रयासो भविष्यति । तत्रैव चाविमुक्तपुर्या अविमुक्तेश्वरमाहात्म्यमविमुक्तपदार्थविवेचन-मपि भविष्यति । काशीस्थविश्वनाथगङ्गयोर्माहात्म्यमप्यधिकृत्य तत्रैव किञ्चि-न्निवेदयिष्ये ।

अत्रैतदेव निवेद्यं वर्त्तते यत्संक्षेपेण पुरोवाण्यां मया वाराणस्याः काश्या वा पुरावृत्तविषये निवेदितम्, तत्र न किञ्चिदपि मदीयम् । सन्दर्भग्रन्थसरस्वत्यां झटिति स्नात्वा तत्र यन्मयाऽल्पबलेनाल्पसत्त्वेनाल्पवैदुष्येण यदधिगतम्, तावन्मात्रमेवात्र निगदितम् ।

---

(२) द्वितीयस्तूपाख्यानेऽस्मिन्निकटस्थस्य मृगदावधर्मक्षेत्रस्य (धमेखेत्यस्य) उल्लेखो विद्यते, तेनानुमीयते यदैतिहासिकानामाधुनिकानां मतेन काशीखण्डस्ये-तस्यांशस्य रचनाकाले सारनाथस्य बौद्धधर्मक्षेत्ररूपेण प्रसिद्धिरासीत् ।

(३) तृतीयश्च तदा तत्र वैदिकधर्मविरोधिनस्तन्त्रक्रियानिपुणा महायाना-नुयायिनो बौद्धा अपि न्यूषुः ।

(४) चतुर्थश्च तदा लोके कश्चित्प्रजावर्गश्चार्वाक-बार्हस्पत्य-लोकायतिक-विचारदर्शनं प्रति समाकृष्टास्तिष्ठन्ति स्म ।

(५) राजा दिवोदासः सकलराष्ट्रशासनगुणगरिष्ठोऽपि त्रिदेवविरोधी, अथ च शिवपूजापराङ्मुख आसीत् ।

(६) अन्तिमश्चात्र नाविस्मरणीयं यदैतिहासिकानां मतेन समरे पराजितोऽयं वाराणसीं विहाय गोमतीपुलिने नूतने राज्ये स्वतनयं समरञ्जयमभिषिच्य जीवनस्य तुरीयं कालं यापयामास । एतद् दिवोदासेश्वरशिवलिङ्गस्थापनं बिन्दुमाधवमहत्त्वञ्च पौराणिकरूढिसरण्या वर्णितम् ।

मन्ये, यदि श्रीविश्वनाथ-गौरी-गङ्गादीनां महता अनुग्रहेण लेखनसमर्थोऽभवेयम्, तदा यथोक्तमत्रैव द्वितीये भागे क्रमबद्धरूपेण संक्षेपतो निवेदयेयम् । अत्र येषां येषां लेखकानामहं साहाय्यमगृह्णम्, तेषां नामाननुल्लेखपूर्वं तान् सर्वान् प्रति स्वकीयं हार्दिकमाभारं निवेदयन्नप्यहं सङ्कुचितो भवामि । यतस्तेषां तेषां रचितानां रचनानां सहायतां विना अहं किञ्चिदपि लिखितुमकिञ्चित्करः । मन्ये, स्वमातामहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य संस्कृतविद्यारत्नाकरस्य **श्रीशिवकुमारशास्त्रिण** आशीर्वादभाजनं जनोऽयं तथा च मातापित्रोः श्रीमद्राजेश्वरीदेवीत्रिपाठिनारायणपतिदेवयोरपाराशीर्वचनपात्रं करुणापतित्रिपाठी किञ्चिल्लेखने प्रयासं कृतवान् । वैयाकरणपुङ्गवेन पण्डितशार्दूलेन **श्रीरामप्रसादत्रिपाठिना** मल्लेखपाठशोधनेन यदुपकृतं तदर्थमहं तस्याधमर्णोऽस्मि ।

जानेऽहमत्र बह्व्यस्त्रुटयः सन्ति, तदर्थमहं क्षम्योऽस्मि विज्ञविदुषाम् । प्रार्थये मातरं गङ्गां पितरावन्नपूर्णाविश्वनाथौ यत्ते सर्वे अपारानुकम्पया मह्यमाशीर्वदन्तु येनाग्रिमे भागे यथाशक्ति निवेदयितुं पारयिष्ये ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण उदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

[२]

श्रीकाशीखण्डस्यावतरणिका

भारतीयायाः संस्कृत्याः, सभ्यतायाः, धर्मस्य, भारतीयदर्शनस्य च स्रोतांसि वेदवाङ्मये निहितानि । स च वेदोऽपौरुषेयः । तत्र निहितगूढार्थानां बुबोधयिषया शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दःशास्त्र-ज्यौतिषरूपाणि षडङ्गानि विबुधैर्विकासितानि । इमान्यङ्गानि वेदार्थज्ञानायाधारभूमिभूतानि; परन्तु शास्त्रीयप्रतिभापेशलाः पण्डिता एव तेषां वेदाङ्गानां सम्यगवगतौ समर्थाः । श्रुतेरर्थमनुगच्छन्तीनां नाना स्मृतीनां स्मृतिसंहितानाञ्च निर्माणं जातम्; परन्तु ता अपि जनसामान्यबोधपरिधिबहिर्भूताः, इति कृत्वा लोके भारतीयसंस्कृत्याधारभूतं वेदार्थमुपबृंहयितुं प्रचारयितुं च परमकारुणिकेन व्यासरूपधारिणा विष्णुना पुराणनिर्माणं विहितम् ।

व्यासः खलु पौराणिकपरम्परानुसारेण यद्यपि वसिष्ठस्य नप्ता, शक्तेः पौत्रः, पराशरस्य चात्मजः, तथापि स विष्णुस्वरूप एव[१]। किं बहुना, ब्रह्मविष्णुशिवत्रिदेवरूपः साक्षात् महर्षिर्बादरायणो व्यासः[२]। कृष्णद्वैपायनो व्यासो बादरायणो व्यासः पाराशरो वा व्यासः सर्वेऽभिन्ना भिन्ना वेत्यस्मिन्सन्दर्भे आधुनिकानामनुशीलनतत्पराणामैतिह्यविज्ञानां मते मतभेदो वरीवर्ति। इयमेव कथा वेदमन्त्राणां सङ्कलनाविषयेऽपि चकास्ति। मन्त्राणां चतुर्वेदसंहितारूपेण वर्गीकर्ता, अथ च वेदान्तसूत्राणां व्याससूत्राणां ब्रह्मसूत्रापराख्यग्रन्थनिबद्धानामष्टादशमहापुराणानां निर्माता च व्यास एक एव, भिन्नो वेत्यत्र बहूनि मतानि तर्कवितर्करूपाणि प्रकाश्यन्ते इतिवृत्तज्ञैः; किन्त्वत्र तेषां तर्कवितर्काणां समुपस्थापनमनवसरमस्थानप्रस्तावनमिति विरमाम्यत्रैव।

पुराणोपयोगित्वम्—इत्थं च लोकानुग्रहकाङ्क्षया सामान्याज्ञनान् वेदविहिताचारविचारधर्मदर्शनादीनां सम्यक्त्वेन सरलमार्गेण च विजिज्ञापयिषया वेदव्यासेनाष्टादशसंख्याकानि महापुराणानि निर्मितानि। अत एव छान्दोग्योपनिषदि पुराणं पञ्चमवेदरूपेण परिगणितम्[३]।

पुराणानां का संख्येति विचारसरण्यां प्रसृतायामेका पुराणी किंवदन्ती प्रोच्यते। अतिपुराकाले सम्भवतो वैदिकवाङ्मयाविर्भावादपि प्रागेकं महाविशालं पुराणमासीत्। प्रमाणं चात्र यद्वैदिकवाङ्मये ऋक्संहितायामपि पौराणिकाख्यानसन्दर्भाः प्रचुराः समुपलभ्यन्ते। यथा—यम-यमीसंवादात्मकमाख्यानम्, देवभगिन्याः सुरसाया आख्यानबीजम्, वृत्रासुरोपाख्यानसङ्केतोऽदितिकथोपाख्यानमूलमित्यादि। तैः संसूच्यते यत्ततोऽपि पूर्वमेकं बृहन्महापुराणं बभूव, यत्र पुरोक्तान्य-

---

१. व्यासं वसिष्ठनप्तारं शक्तेः पौत्रमकल्मषम्।
पराशरात्मजं वन्दे शुकतातं तपोनिधिम्॥

२. काश्चन सूक्तयोऽत्र लिख्यन्ते—
(क) व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे।
नमो वै ब्रह्मनिधये वसिष्ठाय नमो नमः॥
(ख) अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो विभुः (विष्णुरिति)।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः॥
(ग) विस्ताराय च वेदानां स्वयं नारायणः प्रभुः।
व्यासरूपेण कृतवान् पुराणानि महीतले॥

३. "स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्"। (छा० उ० ४।१।२)
अत्रेदमवधारणीयमवधानेन यदुपनिषद्यस्यां पुराणं हि न पञ्चमो वेदो घोषितोऽपि तु वेदानां वेदमिति घोषयति स्म।

न्यानि च पुरोपाख्यानानि निबद्धान्यासन् । यथास्तु, तथास्तु तावत्[१] । तच्च महा-पुराणं सम्भवतश्चतुर्लक्षप्रमाणमिति किंवदन्ती[२] ।

द्वापरयुगे महर्षिणा पाराशरेण व्यासेनाष्टादशमहापुराणानि निर्मितानीति पारम्परिकाणां मतम् । तेनैव ततोऽपि पूर्वं लक्षश्लोकात्मकं (सहरिवंशपुराणम्) महाभारताख्यं काव्यपुराणात्मकमितिवृत्तमयं ग्रन्थरत्नं प्रणीतमिति प्रसिद्धिः । आधुनिकानां पाश्चात्यविद्वज्जनतर्कप्रभावितानां विपश्चितां मतेनात्रापि मत-भेदोऽस्ति । तेषां विचारानुसारेण नैकः पुरुषो व्याससंज्ञकः । व्यासो हि नाम कथोपाख्याननिपुणानां कथाप्रवाचकानामाख्यानोपाख्याननिर्मातृणां व्यासपरम्परा-गतकोविदां वेदकः । अद्य यावदस्मिन् प्रसङ्गे मतमतान्तराणि तर्क-वितर्काधी-नानि । नहि किञ्चिन्मतं सर्वमान्यम् । अत्र तेषां विस्तरेणोद्धारगीरनवसरप्राप्तेति प्रकृतमनुसरामि ।

एवञ्च गतानुगतिकानां पौराणिकमतानुयायिनां विचारसरण्या महर्षिव्यास-रचितानि अष्टादशमहापुराणान्यासन् । एतेष्वष्टादशपुराणेषु निखिला धार्मिक-दार्शनिक-सांस्कृतिक-राजनीतिकविषयाः पौराणिकशैल्या सम्यग्रूपेण निरूपिता बभूवुः । काले काले च ते सर्वे सन्दर्भाः कथाकथनकोविदैः पुराणविद्भिः सूतादिभिर्यथावसरं श्राविताः सन्तो भुवने जने च प्रसिद्धिमागताः ।

मन्ये, श्रोतॄणां जिज्ञासाप्रशमनाय प्रश्नानां चोत्तरप्रदानाय सूतादिभिः कथा-श्रावकैर्विचक्षणैर्वा विविधविषयाणां तत्र तत्र समावेशो विहितः, येन महाभारतस्य कलेवरवृद्धिर्निरन्तरं लक्ष्यते स्म । तत्रोदाहरणं च महाभारतम् । यद्धि प्रथमतो जयनामेतिहासो दशसहस्रश्लोकात्मकः[३] । तदनन्तरं कालेन कलेवरवृद्धिकलनया

---

१. पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरे नृप ।
त्रिवर्गसाधनं भिन्नं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ।
व्यासरूपो विभुर्भूत्वा संहरेत्स युगे युगे ॥ (मत्स्यपु० ५३।३-४)

२. चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ।
तदष्टादशधा कृत्वा भूलोकेऽस्मिन्प्रकाशते ॥ (तत्रैव-५३।११)

३. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ (महाभारतम्, मङ्गलश्लोकः)
अत्र नरं नारायणं सरस्वतीं नमस्कृत्य **जयाख्यस्य** महापुराणग्रन्थस्य पाठं कुर्यात् । एषा सर्वमान्या ख्यातिर्यदस्य ग्रन्थस्य श्लोकसंख्या दशसहस्रात्मिका बभूव ।

चतुर्विंशतिसहस्रपद्यात्मको भारताख्यो ग्रन्थोऽभवत्[1] । पुनश्च तदेवेतिहासात्मकं काव्यपुराणं सपरिशिष्टहरिवंशयुतं लक्षश्लोकात्मना परिणतम्[2] ।

पुराणानि खलु पञ्चलक्षणानीति सर्वत्र प्रसिद्धिः । तानि किलाधस्तात्सूच्यन्ते—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

१–सर्गः=सृष्टिविकासः, विश्वस्योत्पत्तिः । २–प्रतिसर्गः=दृश्यस्य जगत्-प्रपञ्चस्य प्रलयः संहरणं वा । ३–वंशः=विश्वस्योपादानभूतानां देवर्षि-मनुष्य-पूर्व-देवविद्याधरप्रभृतीनां वंशानुकीर्तनम्, अथ चोत्पत्तिपरम्परा । ४–मन्वन्तराणि=मन्वन्तराणामादिमनुना स्वायम्भुवेन प्रवर्तितानां कल्पान्तराणां च समारम्भाणामनु-कीर्तनम् । ५–वंशानुचरितं च=तत्तद्वंशोद्भूतानां देवर्षीणां महर्षीणां ब्रह्मर्षीणां राजर्षीणां च प्रसङ्गमधिकृत्य यद् वक्तव्यं तद्वदेव मनुष्यादीनां च वंशवर्णनम्, तस्य सर्वस्य विवरणस्योपस्थापनञ्च । तेषां निवासभूमिस्तेषां यात्राविचरणभूमिः, पर्वताः, नद्यः, वनान्यादीनि सर्वाणि प्रसङ्गप्राप्तानि विवरणान्यत्रैव वर्ण्यन्त इति विस्तरस्तु अन्यत एवोह्यः[3] ।

उपर्युक्तोपक्रमेणावगम्यते यद्वेदार्थानुपबृंहयितुमिमं कार्ष्ण्यं कृष्णद्वैपायनरचितं पुराणाख्यमितिहास-पुरावृत्ताख्यानोपाख्यानात्मकं पञ्चमं वेदाख्यं वाङ्मयमतीव महनीयम् । वेदानामुपबृंहकेण पुराणवाङ्मयेनावश्यमेव वेदतात्पर्यावबोधकेन

---

१. चतुर्विंशतिसाहस्रीं कुर्वे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानं विना तावत् प्रोच्यते भारतं बुधैः ॥

२. प्रस्तुतोऽयमुपलब्धो महाभारतग्रन्थो हरिवंशाख्यस्वपरिशिष्टभागेन संयुक्तो लक्षश्लोकात्मको वरीवर्ति ।

३. संक्षेपेण निगदितुं शक्यते यत्पुराणेषु सर्गस्यारम्भात् (क्वचिच्च सृष्ट्या आरम्भादपि पुरातनवृत्तस्य) महाप्रलयपर्यन्तस्य जीवजगतो विशेषतश्च देव-दैत्य-राक्षस-मनुष्यादि-चतुर्विधोद्भिज्जाण्डजादीनां जीवजगतां सह स्थावरभूलोकादिदृश्यादृश्यतत्त्वानां जीवात्मनां धर्मस्य समाजस्य सभ्यतादीनां समग्राणां पक्षाणामनुकीर्तनमन्वाचरणं च विद्यते—इति पुराणानि कथमपि नोपेक्षणीयान्यपि तु सर्वत्रापेक्षणीयानि । एष तु दिङ्मात्रनिर्देशः । वस्तुतस्तु पुराणवर्णिताः पक्षाः सन्दर्भाश्चागणनीया एव ।

पुराणेषु भारतस्य सांस्कृतिक इतिहासो लभ्यते; परन्तु तस्येतिहासस्योपस्थापन-शैली पौराणिकी । एषा पौराणिकरूढिरिति वर्ण्यते । तयैव रीत्येह सर्वं खलु तत्त्वं लोक-हृदयेषु कान्तासम्मितवचांसीव प्रतिष्ठाप्यते । यथा हि हितोपदेशपञ्चतन्त्रादौ कथाच्छलेन बालानामुपकाराय नीतिः कथ्यते, तद्वदत्रापि लोकानुग्रहकाङ्क्षया जनसामान्यस्योपकाराय सर्वं वेदमूलकं ततोऽन्यदपि किञ्चित्तत्त्वं वर्ण्यत इति ।

भाव्यम् । यत इमानि धर्मव्यवस्थापदानि पुराणानि वेदानुगामीनि यथा **"श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्"** (र०म० २।२) तथैव **"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्"** इति प्रमाणमनुसरन्ति पुराणान्यपि श्रुत्यनुगामीनि वेदतात्पर्योपबृंहकाणीत्यत्र न शङ्कालेशावकाशः; परन्तु एतेषां तात्पर्यप्रकाशनरीतिर्न कल्पसूत्रादिवाङ्मयकल्पा, न वा मन्वादिसंहितास्मृतिसाहित्यदेशीया । एतेषां वेदार्थोपबृंहणप्रकारस्तु स्वतन्त्रः पुराणसंवादशैलीनिबद्धः कथा-आख्यानोपाख्यानादिगर्भितः लोकानुरञ्जकः सुबोध इति विभावनीयम् ।

पुराणशब्दार्थः—'पुराण'-शब्दस्य बह्व्यो व्युत्पत्तयो निरुच्यन्ते । तासु किलैका पुरा नवमिव यत्र दृश्यते, तत्पुराणम् । भाषाविज्ञानदृष्ट्या व्याकरणमतेनेमा व्युत्पत्तयः 'पापुलर इटिमालाजी' इति निगद्यन्ते । एषैवास्माकीनमतेन पौराणिकी निरुक्तिः । अन्यानि निर्वचनान्यत्रानवसराणीतिकृत्वा ता नहीह लिखितानि । तानि जिज्ञासुभिः पुराणविमर्श-पर्यालोचनपरकग्रन्थेषु स्वयमेव ज्ञातव्यानि ।

महापुराणानां संख्या अष्टादशेति कथ्यते । तानि पुराणानि किं नामकानीति निश्चितरूपेण निर्धारयितुं न शक्यते । विभिन्नपुराणेषु सा संख्या त्वष्टादशैव निर्दिश्यते; परं तेषां नामानि क्वचित्क्वचिदभिन्नानि । आधुनिकैः पुराणानुशीलकैर्नैतन्निर्धारयितुं पार्यते, यत्किञ्चन पुराणं पुरातनतमम्; परन्तु नानाप्रमाणैस्तेषु बहवो मन्वते, यद्विष्णुपुराणमनेकैः प्रमाणभूतैर्हेतुभिः सर्वप्राचीनं वर्णयितुं शक्यते । अतोऽत्र विष्णुपुराणमुद्धरामि पुराणानां नामाङ्कने—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ।।
प्रख्यातो व्यासशिष्योऽभूत्सुतो वै रोमहर्षणः ।
पुराणसंहितां तस्मै ददौ व्यासो महामतिः ।।
सुमतिश्चाग्निवर्चाश्च मित्रायुश्शांसपावनः ।
अकृतव्रणसावर्णी षट् शिष्यास्तस्य चाभवन् ।।
काश्यपः संहिताकर्ता सावर्णिश्शांसपावनः ।
रोमहर्षणिका चान्या तिसृणां मूलसंहिता ।।
चतुष्टयेन भेदेन संहितानामिदं मुने[१] ।।
आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते ।
अष्टादशपुराणानि[२] पुराणज्ञाः प्रचक्षते ।।

---

१. अयमाशयः—एतेषां चतसृणां संहितानां सारभूता एषा विष्णुपुराणसंहिता रारच्यते स्म ।
२. अष्टादशमहापुराणानीत्यभिप्रायः ।

१–ब्राह्मं २–पाद्मं ३–वैष्णवञ्च ४–शैवं ५–भागवतं तथा ।
६–तथान्यन्नारदीयं ७–मार्कण्डेयं च सप्तमम् ।।
८–आग्नेयमष्टमं चैव ९–भविष्यन्नवमं तथा[१] ।
१०–दशमं ब्रह्मवैवर्त्तं ११–लैङ्गमेकादशं स्मृतम् ।।
१२–वाराहं द्वादशं चैव १३–स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ।
१४–चतुर्दशं वामनं च १५–कौर्मं पञ्चदशं तथा ।।
१६–मात्स्यं च १७–गारुडं चैव १८–ब्रह्माण्डं च ततःपरम् ।
अष्टादशपुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने ।।
(वि० पु० ३।६।१५-२४)

तान्यष्टादशमहापुराणानि क्रमशः—ब्रह्मपुराणम्, पद्मपुराणम्, श्रीविष्णुपुराणम्, शैवपुराणम्, भागवतपुराणम्[२], नारदीयपुराणम्, मार्कण्डेयपुराणम्, अग्निपुराणम्, भविष्यत्पुराणं भविष्यपुराणं वा, ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्, लिङ्गपुराणम्, वाराहपुराणम्, स्कन्दपुराणम्, वामनपुराणम्, कूर्मपुराणम्, मत्स्यपुराणम्, गरुडपुराणम्, ब्रह्माण्ड-पुराणं चेति नाम्ना प्रसिद्धान्यष्टादशमहापुराणानीह निर्दिष्टानि ।

अतः परम्—

तथा चोपपुराणानि कथितानि महामुनें ! ।। (विष्णुपुराणम्–३।६।२५)

अत्रावधेयम्—अस्मिन्नुद्धरणे यद्यपि ब्रह्मपुराणमाद्यं पुराणं निगदितम्, तथाप्याधुनिका बहुसंख्यकाः पुराणानुशीलका विष्णुपुराणमेव बहुभिर्हेतुभिः सर्वतः प्राचीनं वदन्ति । केषाञ्चिन्मतेन वायुपुराणमाद्यं महापुराणम् । अस्मिन् विवादे मतमतान्तरस्योपस्थापनं न स्थाने इति कृत्वा प्रसङ्गमेनमत्रैवोपसंहरामि ।

अन्येष्वपि नानापुराणेषु महापुराणानामष्टादशानां नामानि तेषां श्लोकसंख्याश्च निर्दिष्टाः सन्ति । तत्र नामसु प्रायशः साम्यम् । यत्र तत्र च भेदोऽपि लक्ष्यते । यथा कौर्मे अग्निपुराणस्य स्थाने वायुपुराणस्य, मार्कण्डेयपुराणे विष्णुपुराणस्य स्थाने नृसिंहपुराणस्य, देवीभागवतपुराणे शिवपुराणस्य स्थाने नारदपुराणस्य, तस्यैव च स्थाने मात्स्ये वायुपुराणस्य च नाम लभ्यते ।

---

१. एतेनैतदपि प्रमाण्यते यद् भविष्यत्पुराणं न नवीनं यथा कैश्चन विश्वस्यते । तत्र त्रिकालदर्शिनो महापुराणमुनयो भविष्यत्कालिकीं वार्तां दिव्यदृष्ट्याऽवलोक्य तां तत्र सन्निवेशयामासुः । अथवा काले काले तत्र तेषां तेषामंशानां संयोजनं परवर्तिनः पौराणिकाश्चक्रुरिति ।

२. अत्र मतभेदेन श्रीमद्भागवतपुराणं श्रीमद्देवीभागवतपुराणं वा गृह्यते ।

एतत्तु दिग्दर्शनमात्रम् । विस्तरतस्तु तेषु तेषु पुराणेषु स्वयमेवानुशीलनीयम्[१] । सर्वेषां पुराणानां समवेता श्लोकसंख्या प्रायश्चतुर्लक्षात्मिकेत्यपि भण्यते[२] ।

स्कन्दमहापुराणम्—एतन्महापुराणस्य महापुराणेषु प्रायः सर्वत्र गणना उपलभ्यते ।

शिवपुराणे स्कन्दपुराणस्य विस्तृतः परिचयो वर्त्तते । तदनुसारं यतोऽस्य पुराणस्य वक्ता साक्षान्महादेवः शिवः श्रोता च स्कन्द इति हेतोरिदं स्कन्दमहा-पुराणम् । स्कन्दपुराणं किल उपलभ्यमानेषु सर्वेषु अष्टादशमहापुराणेषु बृहत्तमम् । नारदीयमहापुराण एतस्य स्कन्दमहापुराणस्य एकाशीतिसहस्रात्मिका संख्या वर्तते । अस्य महापुराणस्य द्विविधं विभाजनमुपलभ्यते—एकं संहितात्मकम्, इतरच्च खण्डात्मकम् । आद्ये संहितात्मके विभागे षट्संहिता अधस्तान्निर्दिष्टाः ।

---

१. पुराणानां पुरातनता न शङ्कनीया । आपस्तम्बधर्मसूत्रे भविष्यत्पुराणस्य निर्देशोऽस्ति—"आ भूतसम्प्लवात्ते स्वर्गजितः । पुनः सर्गे बीजार्थो भवति" इति भविष्यत्पुराणे ।

२. पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
निर्दग्धेषु च लोकेषु वाजिरूपेण वै मया । (वाजिरूपेण=हयग्रीवरूपेणेत्याशयः)
अङ्गानि चतुरो वेदान् पुराणं न्यायविस्तरम् ॥
मीमांसा धर्मशास्त्रं च परिगृह्य मया कृतम् ।
मत्स्यरूपेण च पुनः कल्पादावुदकार्णवे ॥
अशेषमेतत्कालेन उदकान्तर्गतेन च ।
श्रुत्वा जगाद च मुनीन् प्रति देवाँश्चतुर्मुखः ॥
प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः ।
कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ॥
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥
तदाष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते ।
अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम् ॥
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेदितम् ।
पुराणानि दशाष्टौ च साम्प्रतं तदिहोच्यते ॥
[कल्याण—मत्स्यपुराणाङ्के, ५८ वर्षे, प्रथमे अङ्के, अध्याये ५३, श्लोकाः-३-११]

अग्रे च तत्रैव पुराणानां नामानि निर्दिष्टानि, तानि तु तान्येव, यानि विष्णुपुराणे; परन्त्वत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यम् । प्रथमं तावदत्र सर्वेषां पुराणानां श्लोकसंख्या निर्दिश्यते, यथा—ब्राह्मं त्रिदशसाहस्रमित्यादि । अपरं चात्र पृथक् पृथक् सर्वेषां महापुराणानां पारायणस्य विधिसफलश्रुतिः तिथिनिर्देशजुष्टं निर्दिष्टमस्ति, यथा ब्रह्मपुराणसन्दर्भे—
"लिखित्वा तच्च यो दद्याज्जलधेन्दुसमन्वितम् ।
वैशाखपूर्णिमायां च ब्रह्मलोके महीयते" ॥ (तदेव–५३।१३)

द्विविधविभागस्य नामानि श्लोकसंहितासहितानि वर्ण्यन्ते । यथा—

[क]—(१) सनत्कुमारसंहिता, ३६००० श्लोकात्मिका, (२) सूतसंहितायां ६००० श्लोका निर्दिश्यन्ते, (३) शाङ्करीसंहितायां ३०००० श्लोकाः, (४) वैष्णवीसंहिता तु ५००० श्लोकवती, (५) पञ्चमी ब्राह्मीसंहिता ३००० श्लोकात्मिका तथा (६) सौरसंहिता १००० श्लोकमयी । सङ्कलनेन सर्वासां संहितानां संख्या ८१००० (एकाशीतिसहस्रात्मिका) भवति । खण्डात्मको च विभागोऽधस्ताद् वर्ण्यते ।

[ख]—(१) माहेश्वरखण्डः, (२) वैष्णवखण्डः, (३) ब्रह्मखण्डः, (४) काशीखण्डः, (५) अवन्तीखण्डः, (६) तापीखण्डः, (७) प्रभासखण्ड-श्चेति । अत्रापि श्लोकसंख्या मत्स्यपुराणनिर्दिष्टा ८१००० एकाशीतिसहस्रा-त्मिका । यथा मत्स्यपुराणे—

स्कान्दं नाम पुराणं च ह्येकाशीति निगद्यते ।
सहस्राणि शतं चैकमिति मत्स्ये सुनिश्चितम् ।।
परिलिख्य च यो दद्याद्धेमशूलसमन्वितम् ।
शैवं पदमवाप्नोति मीने चोपगते रवौ ।।

(म०पु० ५३।४२-४३)

विष्णुपुराणेऽष्टादशपुराणगणनायां मत्स्यस्थानं त्रयोदशमित्युपरि निर्दिष्टम् । द्वयोः प्रकारयोर्विभाजने श्लोकसंख्यायां प्रायः साम्यमेव । संहितात्मके विभाजने खण्डात्मकविभाजनापेक्षया किञ्चिद्वैशिष्ट्यं भासते । नारदमहापुराणेऽपीमाः संहिता अधिकृत्य निर्देश उपलभ्यते; यतोऽस्य स्कन्दमहापुराणस्य संहितात्मका विभागाः सर्वेऽद्ययावन्नानुशीलकानां लोचनगोचरीभूताः, अतस्तेषां विषये नाधिकमत्र वक्तु-मुपक्रमे ।

रचनाकालः—परम्परावादिनां मते मन्ये, महापुराणानां रचनाकालोऽतीव पुरातनः परन्त्वाधुनिकाः पुराणानुशीलकाः पाश्चात्त्याः पौरस्त्याश्च पुराणविचक्षणा अन्तर्बहिःसाक्ष्याण्याधारीकृत्यानुमानसाहाय्येन विश्वेषां पुराणानां कालनिर्णयाय प्रयासो विहितवन्तः । अस्यापि महापुराणस्य कालनिर्धारणप्रसङ्गे बहूनि मतमता-न्तराणि तैस्तैर्विद्वद्भिः समुपस्थापितानि । काशीखण्ड एव येषां तडाग-कूप-वापी-क्षेत्र-मन्दिर-नदी-स्रोतःप्रभृतीनामुल्लेखो वर्तते, तमाधारीकृत्यैतिहासिकानां दृष्ट्या बहु वक्तुं शक्यते; परन्त्वस्मिन्सन्दर्भे म० म० हरप्रसादशास्त्रिमहाभागानां मतं विशेषरूपेण पौराणिकेतिहासाध्ययनशीला उररीकुर्वन्ति । ते महानुभावा नयपाल-(नेपाल)स्थानां बहूनां हस्तलेखानां गहनमध्ययनं कृत्वाऽस्य स्कन्दमहापुराणस्य निर्माणकालः संग्रथनसमयो वा **ईसवीयषष्ठशतकात्पूर्ववर्ती** घोषितवन्तः ।

सामान्यत एष एवास्य रचनाकालः प्रायः स्वीकृतः ; परन्त्ववन्तीखण्डे, काशीखण्डे, प्रभासखण्डे चैतादृशानि बहूनि प्रमाणभूतानि साक्ष्याणि अनुशीलकैराकलितानि, येषु राज्ञां स्थानानां मन्दिराणामन्येषाञ्च वर्णनानां प्रमाणैरस्य रचनाकाल ईशवीयनवशताब्दीतः पूर्ववर्ती न सिद्ध्यति; परन्तु बहुसंख्यका विद्वांसो म० म० हरप्रसादशास्त्रिमहानुभावानां दृढानि प्रमाणान्यङ्गीकुर्वन्तोऽस्य रचनाकाल ईसवीयषष्ठशतकात्पूर्ववर्ती मन्वते । प्रायो गुप्तकालस्य उत्तरार्द्धवर्तीसमयः ।

अस्य वैशिष्ट्यम्—स्कान्दं महापुराणं हि अष्टादशमहापुराणेषु बृहत्तममिति पूर्वमेवोक्तम् । श्लोकसंख्यादृष्ट्यैव न केवलमस्य महत्त्वम्; अपि तु कारणेनेतरेणास्य महनीयता । भारते स्थितानामगणितनद-नदी-तीर्थ-सरोवर-मन्दिर-पुष्कर-पुण्यवनादीनां वर्णनं वर्त्तते । माहेश्वर-वैष्णवखण्डयोर्महेश्वरविष्णुमहिम्नो गाथा वर्त्तन्ते । प्रथमे माहेश्वरखण्डे द्वयोरुपखण्डयोः केदारकुमारिकाखण्डयोर्मुख्यतो हरगौर्योर्लीलावर्णनं विस्तरेण लभ्यते, तयोर्लीलाभूमिमिषेण पावनस्थलतीर्थादीनां च । वैष्णवखण्डेऽपि स्वकीयेऽङ्गभूते उत्कलखण्डाख्येंऽशे जगदीशस्य जगन्नाथ-पुर्य्या विषये बहवः पक्षाः समुद्घाटिताः सन्ति ।

तृतीयो ब्रह्मखण्डोऽपि भागद्वयात्मकः । प्रथमे उपखण्डे ब्रह्मारण्यस्य माहात्म्यं पुराणकारेण भक्तिभरितेन वचसा गीयते स्म । द्वितीये च ब्रह्मोत्तरखण्डे 'महाकाल'प्रतिष्ठाजुष्टं पूजाविधानं सुष्ठु निरूपितम् ।

चतुर्थः खण्डः काशीखण्डः । पुरस्तात्पृष्ठेषु काश्याः सन्दर्भे किञ्चिद्विस्तरेण निवेदनीयं वर्तते, इतिकृत्वाऽत्रैतावन्मात्रं निवेदयामि यत्तत्र काश्या वाराणस्या वा प्रसङ्गमाधारीकृत्य शताध्यायात्मकेऽस्मिन् खण्डे भारतस्य सांस्कृतिक-धार्मिक-राजधानीरूपायाः काश्याः सम्बन्धे बह्व्यः सूचनाः सन्ति ।

पञ्चमे रेवाखण्डे रेवायाः=नर्मदाया उत्पत्तिप्रसङ्गेन साकं नर्मदातटे स्थितानां तीर्थानां नर्मदेश्वरशिवलिङ्गादीनां च प्रामाणिकं विवरणं सङ्कलितमस्ति ।

षष्ठोऽवन्तिखण्डः । जानन्त्येव मनीषिणो यदुज्जयिन्या महत्त्वं काव्य-कारैर्धार्मिकैः पौराणिकैरथेतिहासज्ञैर्बहुत्र गीतम् । एकतस्त्वियं मोक्षदायिनीषु पुरीष्वेका, अपरतस्तु बौद्धकालादेवेतिहासविख्याता । महाकविकालिदासेनाप्येतां महाकालनिकेतनस्यादूरे स्थितां पुरीं प्रति अमरकाव्ये रघुवंशे स्वकीयो विशेषानुरागोपलक्षितः पक्षपातः प्रदर्शितः[१] । अस्मिन् खण्डे पुराणमुनिना उज्जयिनी-अवन्तिका-

---

१. असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥

(रघुवंशम्-६।३४)

स्थितानां शिवलिङ्गादीनां शिवायाश्च धार्मिकमहत्त्वोद्घोषपूर्वं विवरणमुपस्थापितम् ।

सप्तमे तापीखण्डे च नर्मदायाः सहायकनद्यास्तापीनामिकाया नद्यास्तस्यास्तीरे स्थितानां तीर्थादीनां च विस्तृतं विवरणं लभ्यते[1] ।

काशीखण्डः—काशीखण्डः स्कन्दमहापुराणस्य बृहत्तमस्य महत्त्वपूर्णो भागश्चतुर्थः खण्डः शताध्यायात्मकः । अत्र काश्या लोकोत्तरं वैभवं निरूपितम् । पुराणकारेण ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गतकाशीरहस्यस्य, शिवरहस्यस्य, लिङ्गपुराणस्यान्येषां वायुपुराणादिशैवपुराणानां सारभूतं कथोपाख्यानाख्यान-देवस्थान-पुष्कर-वापी-देवतडाग-देवकुण्ड-देवकूपादीनां विशेषतश्च गङ्गायाः श्रीविश्वनाथस्य कालभैरवस्य च महत्त्वं विज्ञापितम् । शिवमहापुराणे, मत्स्यमहापुराणे, वायुपुराणे, लिङ्गपुराणे, तथाऽन्येषु नानापुराणसंहितादिग्रन्थेषु विशेषतो विस्तरेण च पद्ममहापुराणे काशीविश्वनाथगङ्गादीनां माहात्म्यं महताऽऽदरेण महत्या च भक्तिजुष्टश्रद्धया निरूपितमस्ति । अस्मिंश्च स्कन्दमहापुराणान्तर्गतकाशीखण्डे तेषां तेषां पक्षाणां वर्णनं किमपि वैशिष्ट्यमावहतीति पारायणपरायणा अस्य खण्डस्य भक्तिरसभरितं तत्त्वं स्वयमेवास्वादयिष्यन्ति । न केवलं शिवस्य, किन्तु पञ्चदेवेष्वन्येषां चतुर्णां विष्णु-गणेश-देवी-सूर्याणां परस्परसामञ्जस्यस्थापकं श्रद्धाभक्तिग्रथितं प्रचुरं विवरणमत्रास्वादनीयं काशीखण्डाध्ययनरसिकैः । अनेकेषु पुराणेषु स्वेतरपुराणादीनां नामानि केषुचन श्लोकसंख्यादयो वर्णिता इति पूर्वं मया सूचितम् । श्रीनारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने चतुर्थे १०४ तमेऽध्याये सर्वेषामष्टादशपुराणानां समग्रसन्दर्भमधिकृत्य किञ्चिद्विस्तरेण विवरणमस्ति । तत्र स्कन्दपुराणमधिकृत्य तत्प्रतिपाद्या विषयाः सर्वे स्कन्दपुराणखण्डानां पुराणकारव्यासेन निर्दिष्टाः । काशीखण्डसम्बद्धाः सन्दर्भसारपरिचायकाः श्लोका अधस्ताल्लिख्यन्ते[2]—

अतः परं चतुर्थं तु काशीखण्डमनुत्तमम् ।
विन्ध्यनारदयोर्यत्र संवादः परिकीर्तितः ।।

---

१. मानसखण्डोऽपर एकः खण्डः श्रीगोपालदत्तपाण्डेयेन परिष्कारकर्त्रा सुसम्पादितः प्रकाश्यतां च नीतः । विभिन्नेषु पुराणेष्वस्योल्लेखो न दृश्यते । पुराणेषु या स्कन्दमहापुराणस्य श्लोकसंख्या वर्णिता, तयाऽपि संवादमभजमानाऽस्य खण्डस्य संख्या आधिक्यं सूचयति । तस्यैव मानसखण्डस्य भूमिकायां कश्मीरखण्डाभिधेयस्यापि कस्यचन खण्डस्य नामोल्लेखोऽस्ति । अनयोर्द्वयोः खण्डयोः सन्दर्भे पुराणानुशीलकैरनुसन्धेयम् ।

२. आचार्यश्रीबलदेवोपाध्यायकृते पुराणविमर्शाख्ये ग्रन्थे प्रथमपरिशिष्टस्य 'ख'बिन्दौ ६६१ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

सत्यलोकप्रभावश्चागस्त्यावासे सुरागमः ।
पतिव्रताचरित्रञ्च तीर्थचर्याप्रशंसनम् ।।
ततश्च सप्तपुर्याख्या संयमिन्या निरूपणम् ।
ब्रध्नस्य च तथेन्द्राग्न्योर्लोकाप्तिः शिवशर्मणः ।।
अग्नेः समुद्भवश्चैव क्रव्याद्वरुणसम्भवः ।
गन्धवत्यलकापुर्योरीश्वर्य्याश्च समुद्भवः ।।
चन्द्रोडुबुधलोकानां कुजेज्यार्कभुवां क्रमात् ।
सप्तर्षीणां ध्रुवस्यापि तपोलोकस्य वर्णनम् ।।
ध्रुवलोककथा पुण्या सत्यलोकनिरीक्षणम् ।
स्कन्दागस्त्यसमालापो मणिकर्णीसमुद्भवः ।।
प्रभावश्चापि गङ्गाया गङ्गानामसहस्रकम् ।
वाराणसीप्रशंसा च भैरवाविर्भवस्तथा ।।
दण्डपाणी-ज्ञानवाप्योरुद्भवः समनन्तरम् ।
ततः कलावत्याख्यानं सदाचारनिरूपणम् ।।
ब्रह्मचारिसमाख्यानं ततः स्त्रीलक्षणानि च ।
कृत्याकृत्यविनिर्देशो ह्यविमुक्तेशवर्णनम् ।।
गृहस्थयोगिनो धर्माः कालज्ञानं ततः परम् ।
दिवोदासकथा पुण्या काशीवर्णनमेव च ।।
योगिचर्चा च लोलार्कोत्तरशाम्बार्कजा कथा ।
द्रुपदार्कस्य तार्क्ष्याख्यारुणार्कस्योदयस्ततः ।।
दशाश्वमेधतीर्थाख्या मन्दराच्च गणागमः ।
पिशाचमोचनाख्यानं गणेशप्रेषणं ततः ।।
माया गणपतेश्चाथ भुवि प्रादुर्भवस्ततः ।
विष्णुमायाप्रपञ्चोऽथ दिवोदासविमोक्षणम् ।।
ततः पञ्चनदोत्पत्तिर्बिन्दुमाधवसम्भवः ।
ततो वैष्णवतीर्थाख्या शूलिनः काशिकागमः ।।
जैगीषव्येन संवादो ज्येष्ठे शाखा महेशितुः ।
क्षेत्राख्यानं कन्दुकेशव्याघ्रेश्वरसमुद्भवः ।।
शैलेशरत्नेश्वरयोः कृत्तिवासस्य चोद्भवः ।
देवतानामधिष्ठानं दुर्गासुरपराक्रमः ।।
दुर्गाया विजयश्चाथ ओङ्कारेशस्य वर्णनम् ।
पुनरोङ्कारमाहात्म्यं त्रिलोचनसमुद्भवः ।।

केदाराख्या च धर्मेशकथा विश्वभुजोद्भवः ।
वीरेश्वरसमाख्यानं गङ्गामाहात्म्यकीर्त्तनम् ।।
विश्वकर्मेशमहिमा दक्षयज्ञोद्भवस्तथा ।
सतीशस्यामृतेशादेर्भुजःस्तम्भः पराशरेः ।।
क्षेत्रतीर्थकदम्बश्च मुक्तिमण्डपसंकथा ।
विश्वेशविभवश्चाथ ततो यात्रापरिक्रमः ।।

एतेन पुराणवर्णनेनैतत्संसूच्यते यत्पुराणमुनयः सर्वपुराणविज्ञा एव नासन् अपि तु सम्यक् पुराणपाठकाश्च । इदमवधार्यं यन्नारदीयपुराणात्पूर्वमस्य स्कन्दपुराणस्याथ च तदन्तर्गतशताध्यायात्मकस्य काशीखण्डस्य रचना सम्पन्ना, विख्याता, पुराणनिर्मातृषु श्रद्धास्पदतामुपगता ।

[३]

काश्यां मरणान्मुक्तिः

काश्या महिष्ठता, वरिष्ठता, गरिष्ठता, श्रेष्ठता च नानाहेतुभिर्गीयते । मन्ये, तेषु नूनं काशीपुर्या नगर्य्या मोक्षदायकत्वमन्यतमम् । अत एवोच्यते— **"काश्यां मरणान्मुक्तिः"** । पूर्वमेवोक्तं सप्तसु मोक्षदायिपुरीषु प्रसिद्धे पुराणपद्ये—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।

मध्यमणिरिवास्या नाम राराज्यते ।

भगवत आद्यशङ्कराचार्यस्य स्तोत्रे पठितम्—

कुरुते गङ्गासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीने सर्वमनेन भवति न मुक्तिर्जन्मशतेन ।।

अत्र गङ्गासागरगमनादिकं कर्म ब्रह्माद्वैतवादिज्ञानमार्गिणां साम्प्रदायिकानां मतेन द्वैतबुद्धिजुष्टाज्ञानप्रेरितं काम्यं कर्म । तादृशाज्ञानध्वंसं विना अद्वैतानुभूतिमयज्ञानेन प्रकाशात्मकेन सच्चिदानन्दरूपेण द्वैतबुद्धिनिरासं विना कथमपि मोक्षावाप्तिर्न सिद्ध्यतीति चेत्तर्हि अत्रोच्यते—नानापुराणेषु = मात्स्ये, कौर्मे, पाद्मे, वैष्णवे, लैङ्गे, शैवे, वायवीये, देवीभागवतप्रभृतिषु, तत्र विकीर्णानि वचनानि, यैः काश्या मुक्तिप्रदत्वं द्योत्यते । स्कन्दमहापुराणान्तर्गतकाशीखण्डे, ब्रह्मवैवर्त्तमहा-

पुराणान्तर्गतकाशीरहस्ये च शताधिकेषु प्रसङ्गेषु पुण्यपुर्य्या अस्या मोक्षदायकत्वं मुहुर्मुहुरुद्घोषितम् । सर्वेषां वचनानां यद्युद्धरणान्यत्र सङ्कलितानि भवेयुस्तदा स्वतन्त्र एव विस्तृतो ग्रन्थो भवेत् । काश्चन सूक्तयश्चाप्यत्र सन्ति, यथा—

"अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि वै" ।

अपि च—

प्रयागादपि तीर्थात्प्रागिदमेव परं स्मृतम् ।
अनायासेन चैवात्र मोक्षप्राप्तिः प्रजायते ।।

मत्स्यमहापुराणे च—

एक एव प्रभावोऽस्ति क्षेत्रस्य परमेश्वरि ।
एकेन जन्मना देवि ! मोक्षं प्राप्स्यस्यनुत्तमम् ।।

न केवलं पुराणेष्वेव, बृहज्जाबाल-रामतापनीयाद्युपनिषत्सु सनत्कुमार-संहितादिषु च निर्दिष्टमस्ति यद्भगवती काशीपुरी मोक्षादायिकासु महिष्ठा । अत एतन्निर्विवादमेव यदियं पुरी मृतेभ्यो झटित्यनासेन मोक्षं प्रददाति । न हि केवलं मनुष्येभ्योऽपि तु आकीटपतङ्गचतुर्विधजङ्गमजीवेभ्यः । मानवाः किल यावज्जीवनं पापाचारवन्तो वेदस्मृतिपुराणविहितकर्माण्यनाचरन्तोऽपि प्राणेषु प्रयातेषु क्षेत्रमाहात्म्यवशान्मोक्षमधिगच्छन्ति ।

पूर्वोक्तेषु सर्वेषु श्रुतिस्मृतिपुराणादिष्वेतदप्यभिहितं यदत्र मरणवेलायां शिवकृततारकमन्त्रोपदेशादेव मुक्तिरिति तु नूनं निर्विवादं तथ्यं धार्मिकाणामास्तिकहिन्दूनां कृते ।

स्वीकृते चैतत्सिद्धान्ते "यन्मरणवेलायां विश्वनाथशिवकृततारकमन्त्रोपदेशान्मुक्तिरिति", जिज्ञासोदेति कस्तारको मन्त्रः ? संसारसागरे निमग्नानां जीवानां जन्ममरणपापपुण्यादिभोगात्तारयति इति तारको मन्त्रः । लोके तमेव मन्त्रं लोका रामतारकमन्त्रं षडक्षरम् **'ॐ नमो रामाय'** इत्यामनन्ति । रामतापनीयोपनिषदि तदेव विज्ञापितम् । बृहज्जाबालोपनिषन्मतेनाष्टाक्षरः **'ॐ नमो महादेवाय'** इति मन्त्रस्तारकः ।

देवीप्रणवसंज्ञको भुवनेश्वरीमन्त्रोऽपि 'भुवनेश्वरीसंहिता'मतेन, शिवरहस्यद्वादशांशोक्तरीत्या तारकमन्त्रः, यथा—

"अनिलो मृगनाभिगन्धैरथ काशीप्रणवोपदेशकाले ।
हरते भवजं श्रमं (जन्मजरामरणजं भयम्) नराणां हरवामार्धकुचोत्तरीव जन्म" ।।

इति पुराणरीत्या बैजिकः प्रणवस्तारकमन्त्रः । शिवरहस्ये सप्तमांशे—

"तारकं ब्रह्म परमं शिव इत्यक्षरद्वयम्"[१] ।

अत्र त्वेतद्दिङ्मात्रप्रदर्शनम् । तथ्यं त्वेतावदेव यज्जीवात्मनां प्राणप्रयाणसमये साक्षाच्छिवस्तारकमन्त्रमुपदिशन्नज्ञानजन्यतमो ध्वंसयन् तारकमन्त्रद्वारा ज्ञानमाविर्भावयति, येन जीवः सायुज्यमुक्तिं लभते । नानोपनिषत्संहितास्मृतिपुराणादीनां वचनानां सार एषः । ते भिन्न-भिन्नवचनानुसारेण भिन्ना मन्त्राः । तेषु कं तारकमन्त्रं भगवाँच्छिव उपदिशतीति तु शिव एव जानाति ।

अत्र केचन वदन्ति यत्सर्वे तारकमन्त्रा मोक्षदायकाः । शिवस्तु कञ्चनापि तारकमन्त्रमिषेण महावाक्यप्रतिपादितज्ञानप्रकाशोदयं काश्यां मृतानां मरणान्तवेलायामाविर्भावयति, येनाज्ञानजन्यतमोध्वंसो जायते, जीवात्मा नित्यः शुद्धोऽज्ञानानावृतः प्रकाशमयो भूत्वा निर्वाणपदं सायुज्यरूपमधिगच्छति ।

अपरे तु अनेकेषु तारकमन्त्रेषु कस्य मन्त्रस्योपदेशो नूनं मोक्षदायक इति नियमाभावेन महावाक्योपदेशस्यैवाज्ञाननाशाय सर्वासु श्रुतिषु सिद्धान्तितत्वेन प्रसिद्ध एव महावाक्योपदेशः शिवेन क्रियते—रामादिमन्त्रोपदेशप्रतिपादकानि वाक्यानि तु तत्तन्मन्त्रवाच्यब्रह्मोपदेशपराणीति वदन्ति ।

अत्र केचन जिज्ञासन्ते—यदा हि (पुराणकथानुसारम्) शिवस्यागमनं काशीसेवनार्थं न बभूव, ततः पूर्वं तारकमन्त्रोपदेष्टुरभावाद् उपदेशं विना काश्यां पञ्चत्वं प्राप्ताः प्राणिनः कथं मुक्ता बभूवुरित्यत्र प्रोच्यते—

कलावन्तर्हितो देवस्तत्पुरं च विशेषतः ।
पुरी तु वसते नित्यं सर्वप्राणिविमोक्षदा ।।

परमस्वतन्त्रा भगवतीस्वरूपा काशी स्वयं पराशक्तिः । सैव उपदेशं विधाय जनान्मोक्षयतीति । अत्र **'काश्यां मरणान्मुक्तिः'** इत्याप्तवचनं प्रमाणीकर्तुमुपायान्तराभावाद् एषा व्याख्याऽवश्यं करणीयेति पौराणिकाः ।

---

१. इदमत्र विशेष्यं यल्लिङ्गधारकाणां वीरशैवानां मतेन—

इदमेव परं ब्रह्म काश्यां मल्लिङ्गधारिणाम् ।
अन्तकालोपरक्तानां मायादि व्युपदिश्यते ॥

इति रीत्या 'शिव' इत्यक्षरद्वयात्मक एव तारको मन्त्रः ।

अपरञ्च तथा तत्रैव द्वादशांशे अन्तिमाध्याये—"एवं निवासरसिकस्य हरोऽन्तकाले तारं (तारकमन्त्रम्) स पञ्चार्णमथो दिदेश" इति वचनात्षडक्षरः शिवमन्त्रः शिवतारकमन्त्रः **"ॐ नमः शिवाय"** इति । अन्यदपि वचनं सन्दर्भेऽमुस्मिन्—

ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते नान्यथा जन्तवः क्वचित् ।
ब्रह्मज्ञानं तदेवाहं काशीसंस्थितिभागिनाम् ॥

इति वचनेन काशीखण्डे प्रतिपाद्यते यन्महावाक्यरूपस्तारकमन्त्रः ।

एतमेवाशयं साधयन्ति, स्वतन्त्रायाः काश्या मोक्षदायकत्वं प्रतिपादयन्ति, शतशः श्रुतिपुराणादिवचनान्युपलभ्यन्त इति केचित्[१] ।

---

१. अत्राधस्तात्कानिचन वचनानि ससन्दर्भाणि अज्ञातसन्दर्भाण्युल्लिख्यन्ते, पाद्मे यथा—

काश्यां मृतस्तु सालोक्यं साक्षात्प्राप्नोति सत्तमः ।
ततो ब्रह्मैकतां याति न परावर्त्तते पुनः ॥

अपरं च—'मण्डूकमत्स्याः कृमयोऽपि काश्यां त्यक्त्वा शरीरं शिवमाप्नुवन्ति' । तत्रैव—

'भूमौ जलेऽन्तरिक्षे वा यत्र क्वापि मृतो जनः ।
ब्रह्मत्वमाप्नोति काशी शक्तिमयी हिता' ॥ (स्कन्द० १२-१३)

भस्मजाबालोपनिषदि द्वितीयाध्याये—

"त्रिशूलगां काशीमधिश्रित्य त्यक्तासवोऽपि मय्येव संविशन्ति" ।

जाबालोपनिषदि—"अत्र हि प्राणेषूत्क्रामत्सु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे । येनासावमृतो भूत्वा मोक्षीभवति । तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत । अविमुक्तमेव निषेवेत" ।

मुण्डकोपनिषद्यपि प्रतिपादितम्—

यत्र कुत्रापि वा काश्यां मरणे स महेश्वरः ।
जन्तोर्दक्षिणकर्णे तु तारकं समुपादिशत् ॥

(लघु) आश्वलायनस्मृतौ यथा—

"यः कश्चिन्मानवो लोके वाराणस्यां त्यजेद्वपुः ।
स चाप्येको भवेन्मुक्तो नान्यथा मुनयो विदुः ॥
(आ० स्मृ० ११।८९)

प्रसिद्धोऽयं श्लोको लोके सनत्कुमारसंहितायाः—

रथ्यन्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चाण्डालवेश्मन्यथवा श्मशाने ।
कृतप्रयत्नोऽप्यकृतप्रयत्नो देहावसाने लभतेऽत्र (काश्याम्) मोक्षम् ॥

गर्गसंहितायाञ्च—

विश्वेश्वरस्य देवस्य काशी नाम महापुरी ।
यत्र पापी मृतः सद्यः परं मोक्षं प्रयाति हि ॥

प्राचीनतमपुराणानां पुराणं महाभारतमभ्युपदिशति—

कीटपक्षिपतङ्गानां तिरश्चामपि केशव ।
महादेवप्रपन्नानां न भयं (पुनर्जन्मभयं) विद्यते क्वचित् ॥
(म० भा०, अ० प० १८।६८)

शिवपुराणेऽपि (कोटिरुद्रसंहितायाम्)—

इयं च (काशी) शुभदा लोके कर्मनाशकरी मता ।
मोक्षप्रकाशिका काशी ज्ञानदा मम सुप्रिया ॥ (शि०पु० २२।२०)

तत्रैवाग्रे—

अन्यत्र प्राप्यते मुक्तिः सारूप्यादिमुनीश्वराः ।
अत्रैव प्राप्यते जीवैः सायुज्या मुक्तिरुत्तमा ॥

अन्यच्च—

मम क्षेत्रे मोक्षदे हि यो वा वसति मानवः ।
यथा तथा मृतः स्याच्चेन्मोक्षमाप्नोति निश्चितम् ॥

स्कन्दपुराणान्तर्गतकाशीखण्डे, कोटिरुद्रसंहितायां शिवमहापुराणस्य, काशीरहस्ये च शतशः स्थानेषु काश्या मोक्षदायकत्वं समुद्घोषितं वर्त्तते ।

परमात्मज्योतिर्लिङ्गरूपा हि भगवती काशी साक्षाच्छिवशक्त्यात्मिका । नूनं हि पञ्चक्रोशात्मिका काशी न भूमिसीममात्रम् । मन्ये, सा मोक्षदानाय मूर्त्तिधारणं कृतवती । तयैव शिवरूपेण तारकमन्त्रमुपदिशति नात्रेतरसाधनस्य कस्यचिदपेक्षा । काशीरहस्ये[1] उक्तम्—

मूर्तिमत्याः काशिकायाः कोऽधिकारी महेश्वर ।
क्षेत्रमूर्त्तिप्रभेदेन स्थितया किं प्रयोजनम् ।।

महादेव उवाच—

क्षेत्रे ऋणत्रयात्काशी मोचयेत्सर्वदेहिनः ।
आधारभूता जीवानामाद्या प्रकृतिरव्यया ।।
मूर्त्तिरूपा चित्स्वरूपाऽविमुक्तेश्वरसेवया ।
पूर्णरूपा स्वमाहात्म्यं स्वयमेव प्रकाशयेत्[2] ।।

इत्थं च काशीरहस्यानुसारं काशी न जडभूमयी । नूनं चिच्छक्तिसमृद्धा ज्योतिर्लिङ्गशिवस्वरूपा स्वयं तारकमेव मन्त्रमुपदिशन्ती, जीवानां समानि पापानि निर्दहन्ती, मायाजनितमोहान्धकारं दूरयन्ती, अद्वैतानुभूत्यात्मकज्ञानं प्रकाशयन्ती 'महाज्ञानमये अविमुक्तके[3]' मुक्तिं सर्वजीवेभ्योऽमृतेभ्यो वितरति । एष काशीरहस्याध्यायः सप्तदशः, अस्मिन् सन्दर्भे विशेषरूपेण मननीयः । सा हि काशी—

एहि काशि महाभागे सर्वलोकहितप्रदे ।
महालिङ्गैकनिलये योनिरूपे परात्मिके[4] ।।

---

१. इतः पूर्वं तत्रैवोक्तम्—

पूजिता सा प्रयत्नेन काशीवासफलप्रदा ।
द्वादश्यां प्रातरेव काशीं यः पूजयेत्सुधीः ।।
तस्य पापे न रमते बुद्धिर्धर्मे प्रवर्त्तते ।
चतुर्विधाश्च ये जीवा ये च वेदादयः परे ।।
ते सर्वे मुक्तिमायान्ति काश्यां स्थावरजङ्गमाः ।। (का० रह० १७।१७-१९)

२. काशीरहस्यम्—अध्या० १७, श्लो० २०-२२ ।

३. काशीरहस्यम्, अध्या० १७, श्लो० २७ ।

४. (क) महालिङ्गैकनिलये इत्यस्याशयः पञ्चक्रोशात्मकज्योतिर्लिङ्गस्वरूपे । अत एव तस्मिन्नेवाध्यायेऽग्रे काश्याः स्वयमुक्तिः—

"प्रतिज्ञा मम देवेश ! स्थावरा जङ्गमा जनाः ।
तारणीयाः सर्वतो ये सा गच्छति कलौ शुभा" ।। (का०र० १७।४१)

पञ्चक्रोशात्मकक्षेत्ररूपिण्या भगवत्याः काश्या महिमा अनितरसाधारणः। काशीरहस्ये द्वितीयाध्याये प्रोक्तम्—

''तत्क्षेत्रमहिमानं कः सम्यग्वर्णयितुं क्षमः? ?'' (श्लोकः-४२)

काशीरहस्ये कामकलाख्यवेश्योपाख्यानम्, तत्र काश्या उपदेशप्रदवृत्ति-प्रसङ्गे—

इयं काशी देवी सकलपुरुषार्थैकजननी
मुमुक्षून् या सर्वाञ्झित्करणदेहान् सुमनसः।
महापापान् क्रूरान् गुरुनिगमदेवद्विजगवान्
द्रुहस्तानप्याद्या गमयति परं स्वात्मसदनम् ।। (का०र० १७।२९)

काशी भगवती स्वयं परा-शक्तिरिति सिद्धम्। सा च कदाचित् स्वयमेवा-खण्डज्ञानबोधात्मकं महावाक्योपदेशं करोति, कदाचिच्च स्वप्रतिनिधिभूतेनाभिन्नेन पञ्चक्रोशात्मकज्ज्योतिर्लिङ्गरूपसदाशिवेन तत्कार्यं सम्पादयति।

(ख) अविमुक्तं महत्क्षेत्रं पञ्चक्रोशपरिमितम्।
ज्योतिर्लिङ्गं हि विज्ञेयं तद्धि विश्वेश्वराभिधम् ।। (का० र० २६।१३१)

(ग) छत्राकारं तु किं ज्योतिर्जलादूर्ध्वं (महाप्रलयकालीनसर्वप्लावकजलादूर्ध्वम्) प्रकाशते।
निमग्नायां धरण्यां तु न निमज्जति तत्कथम् ।।

तथा च काशीरहस्ये—

सदाशिवो महादेवो लिङ्गरूपधरः प्रभुः।
मया स्मृतो लोकगुप्त्यै प्रदेशपरिमाणतः ।।
लिङ्गरूपधरः शम्भुर्हृदयाद्बहिरागतः।
वृद्धिमासाद्य महतीं पञ्चक्रोशात्मकोऽभवत् ।।
आपातालादावैकुण्ठं व्याप्य चोर्ध्वमवस्थितः ।। (का० र० २।१०६-१०८)

अन्यच्च तत्रैव—

कृत्वा बहूनि पापानि काश्यामेव कलौ यदि।
म्रियते यातनान्ते तु (दण्डरूपभैरवयातनाभोगानन्तरम्) शुद्धौ मोक्षमवाप्नुयात् ।।
तीर्थानि यानि लोकेऽस्मिन् जन्तूनामघान्यहो।
तानि सर्वाणि शुद्ध्यर्थं काशीमायान्ति नित्यशः ।।
यस्तु काश्यां वसेज्जन्तुः सर्वव्यापारकृन्नरः।
तस्यापि या गतिः प्रोक्ता न सा यज्ञैर्न चान्यतः ।।
स्मरन्ति ये नराः काशीं यत्र कुत्रापि संस्थिताः।
तेऽप्यघौघविनिर्मुक्ता भवन्ति ज्ञानभागिनः ।।
परं साहसमालम्ब्य काश्यां स्थेयं मुमुक्षुभिः।
साहसात्सिद्धिमाप्नोति नरो विकलमानसः ।। (का०र० २।४२-४६)

अत्र मरणवेलायां मुक्तिप्राप्तिविचारप्रसङ्गे दिक्कालकृतविशेषो नैव विचार्यते, यथा—"उत्तरं दक्षिणं चापि नायनं च विचारयेत्" । अर्थादुत्तरायणो यथा मोक्षदो भवति, तथैव दक्षिणायनोऽप्यत्र । तथा च सनत्कुमारसंहितायाम्—"रथ्यन्तरे मूत्रपुरीषमध्ये चाण्डालवेशमन्यथवा श्मशाने" इति ।

पद्मपुराणेऽपि—"काशी शक्तिरूपा हिता" । अत्र काशीमरणजन्यमोक्षप्राप्तिप्रसङ्गे नाधिकार्यपेक्षेति तात्पर्यम्[१] ।

मुक्त्यधिकारिणश्च त्रिधेति केचिद् रहस्यवेदिनः । तदपि संक्षेपेणात्र निगद्यते । उत्तममध्यमकनिष्ठभेदेन ते त्रिविधाः । उत्तमास्तु काशीरहस्योक्तसद्धर्माचरणवन्तः । ते चापि द्विविधाः—(क) निष्कामसत्कर्मकर्तारः, (ख) स्वर्गादिलोकप्राप्तिकामाः काम्यकर्मकर्तारश्च । तत्राद्या देहपातोत्तरं दिव्यं देहं प्राप्य तत्क्षणमेव भगवतः शिवस्योपदेशेनाखण्डमद्वैतबुद्धिप्रकाशात्मकं ज्ञानमवाप्य सद्य एव सायुज्यमुक्तिं लभन्ते । द्वितीयास्तु सालोक्यमुक्तिं प्राप्य तल्लोके स्थिताः स्वपुण्यकर्मफलजन्यस्वर्गगोलोकादीनां भोगं भुक्त्वा तदनन्तरं दिव्यदेहं धृत्वा शिवोपदेशमाप्त्वा मुक्तिमधिगच्छन्ति ।

मध्यमाधिकारिणस्तु पापकर्त्तारो भवन्ति । तेऽपि द्विविधाः—(क) अबुद्धिपूर्वकपापकर्ता, (ख) बुद्धिपूर्वकपापाचारप्रवृत्ताश्च । तत्राद्यानां पश्चात्तापबुद्ध्याऽन्तर्गृही-पञ्चक्रोशी-प्रदक्षिणादिना सर्वतोऽधिकं गङ्गास्नानविश्वेश्वरदर्शनादिसत्कर्मभिर्दग्धदुराचरणानां नूनमुत्तमाधिकारिषु भवत्यन्तर्भावः । द्वितीयानां तु शास्त्रवचनानुसारेण प्रतिपापं त्रिंशद्वर्षसहस्रभैरवयातनानन्तरं दिव्यदेहप्राप्त्यनन्तरं चोपदेशेन मुक्तिर्भवति[२] । विस्तरेणैतत्प्रसङ्गे पद्ममहापुराणं काशीमाहात्म्यवर्णनपरं पठनीयम् ।

कनिष्ठास्तु अत्युत्कटपापकर्त्तारः । तेषां विषय एतदुक्तं यत्ते भैरवयातनोत्तरमपि देहान्तरे याते सति देशान्तरे जन्मावाप्य पुनः काश्यां मृता दिव्यदेहभागिनो तस्मिन् जन्मनि मरणकाले तारकमन्त्रोपदेशान्मोक्षं लभन्ते । एतस्मिन्प्रसङ्गे भिन्नभिन्नपुराणेषु मतवैविध्यं लक्ष्यते, तदत्र विस्तरभयाद् नोपस्थाप्यते ।

---

१. "कीटाः पतङ्गा मशकाश्च मत्स्याः".....काशीरहस्यम्, काशीखण्डश्च । पद्मपुराणेऽपि—"मण्डूकमत्स्याः कृमयोऽपि काश्यां त्यक्त्वा शरीरं शिवमाप्नुवन्ति" ।

२. पद्मपुराणोक्तिः—

"काशिकाकृतपापस्य भोगो रुद्रपिशाचता ।
एकस्यैव तु पापस्य समानमयुतत्रयम्" ॥

यद्यप्यभियुक्तोक्तिः—"**काशीक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति**" इति। तस्यायमभिप्रायः—पापकर्मजफलानुसारं देशदेशान्तरेषु नानायोनिषु जन्मान्यपि भैरवयातनाया अङ्गभूतानि। तेषां कष्टभोगोऽपि भैरवयातनाभोगः। अन्ते च दिव्यदेहप्राप्त्यनन्तरं तारकमन्त्रोपदेशेन सद्यो मुक्तिर्भवति। एतत्सर्वं क्षणमात्रभोगवन् न मुक्तिबाधकम्। जीव एतस्मिन् काले कालाधिक्यं नानुभवतीति रहस्यम्। उक्तमपि भङ्ग्यन्तरेण—

"नाशनं वसनं वासः काश्यां येषां कुमार्गतः।
कीकटेन समा काशी गङ्गाऽप्यङ्गारवाहिनी"॥
"अशनं वसनं वासो येषां नैवाविधानतः।
मगधेन समा काशी गङ्गाऽप्यङ्गारवाहिनी"॥

इमा उक्तयो न विधिवाक्यानीति बोद्धव्यम्, तास्तु सदाचारसत्कर्मकरणाय प्रोत्साहदायिकाः।

तत्त्वतस्त्विदमेव परमं रहस्यं तात्पर्यञ्च यत्काश्यां मरणादेव सा मुक्तिस्तारकोपदेशेन भैरवयातनाभोगेन लभ्यते, यां प्रबद्धशुद्धात्मज्योतिः साक्षात्कारवन्तो ज्ञानिनो लभन्ते[१]।

[४]

पञ्चविंशाध्यायात्मकस्यास्य भागस्याध्यायानां सारांशः

भूमिष्ठाऽपि न याऽत्र भूस्त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधस्थापि या
या बद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृता यस्यां मृता जन्तवः।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे सुरैः सेव्यते
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत्॥

(१)

विन्ध्याद्रिणा सूर्यस्य मार्गावरोधः—स्कन्दपुराणान्तर्गतस्य काशीखण्डस्योपक्रमः पौराणिकप्रणाल्या क्रियते। अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतो व्यासः कथामेतां सूताग्रे कथयामास।

---

१. शिवपुराणे कैलाससंहितायामेतत्सर्वमतिविस्तरेण विवृतं वर्त्तते। काशीखण्डेऽपि पूर्वेऽध्याये तारकमन्त्रो हि प्रणवरूप इत्युक्तम्।

एकदा नारदो नर्मदाम्भसि स्नात्वा श्रीमन्तममरकण्टकक्षेत्राधिष्ठातारमोङ्कारेश्वरं पूजयामास । तदनन्तरं विन्ध्याद्रिं दृष्टवान्[१] । अत्रातिथिं तेजस्विनं नारदं प्रति पर्वतपुङ्गवस्य विनयभरितं शिष्टाचारंवर्णनमपि रमणीयतरम् । एतदेवाभ्यन्तरे किञ्चिदुच्छ्वस्य स्थितं मुनिं दृष्ट्वा विन्ध्यगिरिः ससम्भ्रममानसो बभूवापृच्छच्च सर्वार्थकोविदं मुनिमुच्छ्वासकारणम् ।

महर्षिनारदो यथाप्रकृति विन्ध्यं प्रशंसन्नपि स्ववाक्चातुर्यबलेन विन्ध्याद्रेर्मनसि सुमेरुशिखरिणं प्रत्येतादृशीमीर्ष्यामुदपादयद्यस्या वशीभूतो विकलो विन्ध्याद्रिरहङ्कारवशेन किमप्यकरणीयमकरोत्; परन्तु फलं तस्यान्तिमं लोककल्याणकरमेवाभूत् । नारदो हि विन्ध्यमुक्तवान् यन्मेरुस्त्वामवमन्यते । एतेनैव चिन्तामयीर्ष्या तस्य हृदि जाता । अहङ्कारक्रोधवशीभूतचेता विन्ध्याद्रिर्व्याकुलोऽभूत् ।

एतदनन्तरं मेरुस्पर्द्धान्तर्दग्धचित्तो विन्ध्याद्रिर्मेरुपरिक्रमाकारिणः सूर्यस्य गगनाध्वानं निरोधयन्नाकाशे ववृधे ।

(२)

द्वितीयाध्यायस्यारम्भः सूर्योदयप्रस्तावनया भवति । तमोरिपुः सूर्य आत्माऽस्य जगतस्तस्थुषश्च यदोदयगिरौ समुदियाय, तदा कथं स्थावरं जगत्, स्थावरलताकुसुमतरुप्रभृतयः पतङ्गभृङ्गपशुपक्षिणो नानाव्यापारव्यापृता गतिशीलाश्च भवन्ति, कथं वा मानवाः स्वे स्वे निखिलकर्मणि प्रवृत्ता भवन्तीति भूयांशः पक्षा अङ्किताः सन्ति । इदं विस्तृतं वर्णनं सप्तसप्तेराधिभौतिकाधिदैविकमाध्यात्मिकं च वैभवं प्रकटयति । विन्ध्यगिरिणा सूर्यगमनमार्गेऽवरुद्धे जाते—

क्रमन्तः सर्वमर्वन्तो हेलया हेलिकस्य खम् ।
न शेकुरग्रतो गन्तुं ततोऽनूरुव्यजिज्ञपत् ।।
भानोर्मानोन्नतो विन्ध्यो निरुध्य गगनं स्थितः ।
स्पर्द्धतो मेरुणा प्रेप्सुस्त्वदत्तां तु प्रदक्षिणाम् ।।
मिहिरः किल तद्वाक्यमाकर्ण्य विस्मयं गतः ।।

स्थिरस्य प्रचण्डकिरणस्य प्रखरमयूखजालेन विश्वस्मिन् यदभवत्, तत्तु सर्वैराकलयितुं शक्यते ।

---

१. अत्रास्याध्यायस्य षष्ठश्लोकादारभ्य षट्त्रिंशच्छ्लोकपर्यन्तं विन्ध्यपर्वतस्य चारुतरं सालङ्कारं समग्रकाव्यगुणोपेतं प्राकृतिकसौन्दर्यपेशलं वृक्षलतादिसुषमामनोहरं विन्ध्यगिरेर्वर्णनं काव्यात्मकमतीव हृदयावर्जकम् ।

दिनकरगतिरोधजन्योत्पातनिवारणाय निरुद्धकालगणनाविपत्तिदूरीकरणाय च व्याकुलिताः सुरासुरनरा लोककर्तारं हिरण्यगर्भं जग्मुः । विविधैः स्तोत्रैस्तस्य स्तवनञ्च चक्रुः । देवैः कृता द्रुहिणः स्तुतिरतिमहीयसी ।

अस्यां स्तुतौ ब्रह्मणो न केवलं सृष्टिसर्जकरूपं स्तुतम्; अपि तु चिद्रूपस्याद्वैतशास्त्रप्रतिपादितस्याथ च पातञ्जलयोगदर्शनोक्तस्य निर्विकल्पसमाधिनानुभूतस्य ज्योतीरूपस्य निर्गुणस्य सगुणस्य सर्वस्य वर्णनमस्ति[१] । ब्रह्मण उपदेशच्छलेन अनेके धार्मिकाः पक्षा वर्णिताः । तस्मिन्नेव प्रसङ्गे प्रयागे माघमासस्नानफलनिगिरणानन्तरं वाराणसीमधिकृत्य कथयता ब्रह्मणा यत् प्रतिपादितम्, तत्तत्र कलनीयम् । एतद्वाराणसीक्षेत्रं वैश्वानरक्षेत्रमुक्तम्, यद्वैशिष्ट्यं पद्येनानेन महनीयतां गच्छति—

अहो वैश्वानरे क्षेत्रे मरणादपि नो भयम् ।
यत्र सर्वे प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ।।

अग्रे कुरुक्षेत्रवर्णनमपि ब्रह्मणः क्षेत्ररूपेण विशिष्टम् । एतदग्रेऽस्मिन्नेवाध्याये गवां महिमा महताऽभिनिवेशेन निर्दिश्यते । अत्र हि—

गावः पवित्रमतुलं गावो मङ्गलमुत्तमम् ।
यासां खुरोत्थितो रेणुर्गङ्गावारिसमो भवेत् ।। (का०ख० २।७७)

गोमहिम्नः प्रसङ्गे गोलोकस्योच्चैस्त्वं गायता सृष्टिकर्त्रोक्तं यन्नभोलोकात्परो वैकुण्ठलोकस्तत उपरिष्टात् क्रमशः कौमारोमा (कुमार-उमा) शिवलोका विद्यन्ते । ततोऽप्युपरि गोलोकस्य स्थानम् । अत्र सूचितं यत् के गोलोके निवसन्ति, कथं च गोलोकस्य बहुविधं वैभवमित्यादि अन्यान् पक्षानपि निर्दिश्य, सत्यलोकस्य च

---

१. यत्र देवा विजानन्ति मनो यत्रापि कुण्ठितम् ।
न यत्र वाक् प्रसरति नमस्तस्मै चिदात्मने ॥
योगिनो यं हृदयाकाशे प्रणिधानेन निश्चलाः ।
ज्योतीरूपं प्रपश्यन्ति तस्मै श्रीब्रह्मणे नमः ॥ (का०ख० २।३१-३२)

तुलनीयम्—
"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" । (तै०उ० २।४)

अत्राग्रे वैदिकमन्त्रा अपि श्लोकरूपेण निबद्धाः । यथा—
"विश्वाभूतानि ते पादः शीर्ष्णोर्द्यौः समवर्त्तत ।
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं लोमानि च वनस्पतिः ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यस्तव प्रभो ! ।
..........ईश त्वयाऽऽवास्यमिदमित्यादि" ॥ (का०ख० २।४०-४१)

व्यवस्थितिं विज्ञाप्य ब्रह्मणा ज्ञापितं यदुग्रतपा मैत्रावरुणिरगस्त्योऽविमुक्तपुर्यां मोक्षदायिन्यां निवसति । स एव याचनीयः । स हि सर्वं कार्यं साधयिष्यति । सर्वे च प्रफुल्लमनसा काशीविश्वनाथदर्शनसौभाग्यमानिनस्तं देशं तं च मुनिं जग्मुः । एषोऽध्यायः सत्यलोकवर्णनात्मकः कथितोऽस्ति ।

(३)

अगस्त्याश्रमवर्णनम्—तृतीये हीहाध्यायेऽग्रे तद्विख्यात-आख्यानस्योपक्रमो यस्मिन् सर्वे तमुपतिष्ठन्ति स्म । महर्षिरगस्त्यश्च विश्वेषां याचनामाकर्ण्य काशीवियोगजन्यखेदजुष्टोऽपि तेषां कार्यसिद्धये लोपामुद्रया स्वसहधर्मिण्या सह प्रतस्थे । प्रसङ्गेन काशीस्थस्यागस्त्येश्वरस्यागस्त्यकुण्डागस्त्याश्रमादीनां दर्शनपूजनप्रभृतिफलकथनसंवलितं विवरणं प्रस्तुतमस्ति । अगस्त्याश्रमस्य काव्यात्मकं पौराणिकं वर्णनं विशेषाभिनिवेशेन पठनीयम्, यतो ह्यस्याध्यायस्य नामागस्त्याश्रमवर्णनम् ।

(४)

लोपामुद्रामाहात्म्यम्—चतुर्थोऽध्यायः प्रमुखतो लोपामुद्रामाहात्म्यपरः । तत्र विशेषतो लोपामुद्रामहनीयत्वमिषेण सनातनधर्मानुसारिश्रुतिस्मृतिपुराणप्रतिपादितपतिव्रतामहिलाधर्मास्तत्फलानि पातिव्रतरहितनारीणाञ्च भोग्यानि कुफलान्यतिसमारम्भेणोपदिष्टानि । पतिव्रतयाऽऽचरणीयान्यनुष्ठानानि निर्दिष्टानि । अन्त्ये च पद्ये प्रोक्तम्—

इमं पतिव्रताध्यायं श्रुत्वा स्त्री पुरुषोऽपि वा ।
पापकञ्चुकमुत्सृज्य शक्रलोकं प्रयास्यति ।। (का० ख० ४।१२१)

(५)

अगस्त्य-यात्रावर्णनम्—पञ्चमाध्यायस्यारम्भे मुनिरगस्त्यो देवानां सामर्थ्यप्राचुर्यं वर्णयता कथयति यत् कथं पर्वतपक्षच्छेदने समर्थाः शक्रादयो विन्ध्याद्रिदर्पजन्योपसर्गस्य प्रशमनेऽक्षमा बभूवुः ? लोपामुद्रां सम्बोध्य ब्रूतेऽगस्त्यः—

येषां दृक्पातमात्रेण पतन्ति भुवनान्यपि ।
ते किं समर्था नो कान्ते ! नगवृद्धिनिषेधने ।। (का० ख० ५।८)

ततः काश्या:[१] सर्वातिशायिनं महिमानं वर्णयन्तः काशीत्यागात्पूर्वं विश्वेश्वरकालभैरव(कालराज)-दण्डपाणि-शिवगण-ढुण्डिविनायक-पञ्चविनायक[२]-प्रभृतीनां दर्शनपूजनादिकमनुतिष्ठन्तः परोपकारकर्मातुलनीयत्वं गायन्तः काशीत्यागहेतुना विलपन्तः शिव-शिवेति जपन्तस्तपोयानमिवारुह्यमाणं निमेषार्धेनाग्रे रुद्धाम्बरमुच्छ्रितं विन्ध्यं ददृशुः । विन्ध्यश्च तं दृष्ट्वा चकम्पे । गिरिरवनीं प्रविविक्षुरिव नम्रो भूत्वा तान्नमस्कृत्य मुनीनामाज्ञाप्रसादमयाचत । तेऽब्रुवन्—

''विन्ध्य ! साधुरसि प्राज्ञ ! मां जानासि तत्त्वतः ।
पुनरागमनं चेन्मे तावत् खर्वतरो भव ।। (का०ख० ५।५७)

इत्युक्त्वाऽगस्त्यमहर्षिर्दक्षिणामाशां प्रति जगाम । स्थायिरूपेण च तामेवाशां न्युवास ।

(६)

श्रीशैलदर्शनमगस्त्यस्य—एतस्मिन् हि षष्ठेऽध्याये[३] महामुनिरगस्त्येन श्रीशैलशिखरिणः सान्निध्यमवाप्य तस्य शिखरं लोपामुद्रां दर्शयता तद्दर्शनस्य फलमुपवर्णितम्—

---

१. (क) धर्मस्तु सम्पत्तिभरैः किलोह्यतेऽत्यर्थो हि कामैर्बहुदानभोगकैः ।
अन्यत्र सर्वं स च मोक्ष एकः काश्यां न चान्यत्र तथा यथाऽत्र ।।
क्षेत्रं पवित्रं हि यथाविमुक्तं नान्यत्तथा यच्छुतिभिः प्रयुक्तम् ।
न धर्मशास्त्रैर्न च तैः पुराणैस्तस्माच्छरण्यं हि सदाविमुक्तम् ।।

(ख) स होवाचेति जाबालिरारुणोऽसिरिडा मता । (असिरिडा-नाडी)
वरणा पिङ्गलानाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम् ।। (वरणा=पिङ्गलानाडी)
सा सुषुम्ना परानाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ ।
तदत्रोत्क्रमणे सर्वजन्तूनां हि श्रुतौ हरः ।।
तारकं ब्रह्म व्याचष्टे तेन ब्रह्म भवन्ति ह ।।
एवं श्लोको भवत्येष प्राहुर्वै वेदवादिनः ।
अविमुक्ते(क्षेत्रे)स्थिताञ्जन्तून्मोचयेन्नात्र संशयः ।।
नाविमुक्तसमं क्षेत्रं नाविमुक्तसमा गतिः ।
नाविमुक्तसमं लिङ्गं सत्यं सत्यं पुनः पुनः ।। (का०ख० ५।२३-२९)

२. चिन्तामणिविनायक-कपर्दीविनायक-आशाविनायक-गजविनायक-सिद्धविनायक इति पञ्चविनायका अत्राभिमताः ।

३. पौराणिकरीत्या कान्तासम्मितोपदेशं प्रयच्छन् पुराणकारो लोकान् प्रति परोपकारस्य महिमानं वर्णयति स्म—

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदस्तु पदे पदे ।।

श्रीशैलशिखरं श्रीमदिदं तद्यद्विलोकनात् ।
पुनर्भवो मनुष्याणां न भवेऽत्र भवेत् क्वचित् ।। (का०ख० ६।१३)

चतुरशीतियोजनविस्तीर्णस्य सर्वलिङ्गमयस्य विस्तृतस्य श्रीशैलस्य परिक्रमया महत्पुण्यार्जनं भवतीति निर्दिष्टम् । एतस्मिन्नेव प्रसङ्गे नानामुक्तिप्रदस्थानानां संवादशैल्या वर्णनम् । तत्र सर्वप्रथमं तीर्थराजस्य प्रयागस्योल्लेखं कुर्वन् नैमिषादितीर्थानि (श्लो० २१-२५) बाह्यतीर्थानीति विज्ञाप्य क्षमा-दान-यमादि-मानसतीर्थानां विशेषेण महत्त्वं प्रत्यपीपदत् । एष पक्षो हि कियन्महत्त्वशालीति पाठकैर्ग्रन्थादेवावगन्तव्यम् । तद्यथा—

तस्माद्भौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः ।
उभयेष्वपि यः स्नाति स याति परमां गतिम् ।। (का०ख० ६।४५)

तदनन्तरं तीर्थयात्रामाहात्म्यम्, तीर्थयात्राधिकार्यनाधिकारिणौ, तीर्थयात्राविधिश्चात्रोपवर्णितः[1] ।

इत्थं सूर्यस्य मार्गावरोधो दूरीभूतः, जगद्यात्रा च पुनः प्रारब्धा । तत्रैव महर्षयो उग्रतेजसस्ते स्थायिरूपेण न्यूषुः । विन्ध्यश्च तस्मात् कालादारभ्य वेपमान उत्कण्ठितश्च मुनिप्रत्यागमनप्रतीक्षां करोति स्म । महर्षयश्च तस्मै यच्छापं ददुस्तदर्थमात्मानं कृतकृत्यं धन्यञ्च विन्ध्योऽमंस्त ।

गोदावरीरम्यतटे विचरन्तोऽपि मुनयः काशीविरहजन्यसन्तापेन सन्तप्यन्ते स्म । तेषां दशा विचित्रा जाता । ते क्वचिज्जल्पन्तः, क्वचित्तिष्ठन्तः, क्वचित्स्खलन्तो धावन्तः, क्वचित्क्वचिच्चोपविशन्त इतस्ततो भ्रमन्तस्तिष्ठन्ति स्म । भ्रमन्तस्ते कोलापुरं प्राप्य महालक्ष्मीप्रतिमां ददृशुः । ताञ्च ते स्तुतिभिः प्रसादयन्तः सपत्नीकास्तां रमां दण्डवत्प्रणेमुः । प्रसन्नायाः श्रीमहालक्ष्म्या वरं प्रापुः । तदनुसारं एकोनविंशे भविष्ये द्वापरे तेऽगस्त्यमुनयो व्यासरूपं प्राप्य व्यासकरणीयानि कार्याणि सम्पादयिष्यन्तीति निर्दिष्टाः । पुनरग्रेसरन्तो मयूरवाहनस्य कुमारस्य स्थानं प्रति प्रातिष्ठन्त ।

---

[1] तीर्थस्नानैर्न सा शुद्धिर्बहुदानैर्न तत्फलम् ।
तपोभिरुग्रैस्तन्नाप्यमुपकृत्या यदाप्यते ॥
परोपकृत्या यो धर्मो धर्मो दानादिसम्भवः ।
एकत्र तुलितो धात्रा तत्र पूर्वोऽभवद्गुरुः ॥
परिनिर्मथ्य वाग्जालं निर्णीतमिदमेव हि ।
नोपकारात्परो धर्मो नापकारादघं परम् ॥ (का०ख० ६।४-७)

(७)

शिवशर्मण उपाख्यानारम्भः—अध्याये चात्र सप्तमे शिवशर्मकथाप्रसङ्ग-मिषेण वैदुष्यविद्यादीनां शास्त्रादीनां परिचयः सुलभः । गृहस्थैरनुष्ठेयानां शास्त्र-विहितपुण्यकर्मणां वर्णनमपीहास्ति । तेनैव कथाप्रसङ्गेनायोध्यादीनां तीर्थानां चर्चाऽस्ति । प्रयागतीर्थस्य किञ्चिद्विशिष्टं विवरणमत्रोपलभ्यते । तत्र तीर्थराज-सङ्गमस्य देवानाञ्च प्रयागस्थानां देवस्थानानां दर्शनफलजन्यं विवरणमप्यवाप्तुं शक्यते । अत्रैवोच्यते—

धर्मतीर्थमिदं सम्यगर्थतीर्थमिदं परम् ।
कामिकं तीर्थमेतच्च मोक्षतीर्थमिदं ध्रुवम् ।।
ब्रह्महत्यादिपापानि तावद्गर्जन्ति देहिषु ।
यावन्मज्जति नो माघे प्रयागे पापहारिणि ।।

(का०ख० ७।६१-६२)

एतदग्रे तत्रैकः श्लोकः कुतूहलोत्पादकोऽवलोकनीयः—

काशीति काचिदबला भुवनेषु रूढा
लोलार्ककेशवविलोलविलोचना च ।
तद्दोर्युगं च वरणासिरियं तदीया
वेणीति यात्र गदिताऽक्षयकर्मभूमिः ।। (का०ख० ७।६६)

अत्रेदं ज्ञेयं यल्लोलार्क-केशव(-आदिकेशव)योर्देवमन्दिरे स्तः । वाराणसी द्वे सीमनद्यौ वेणी च त्रिवेणीति ।

इतः परं काश्यास्तत्र च विशेषतो मणिकर्णिकातीर्थस्य माहात्म्यं पठ्यते । काशीमाहात्म्यं च किञ्चिद्विस्तरेण निर्दिश्यते । गङ्गातोऽप्यधिकं काशीमाहात्म्यम्, यतो हि **'गङ्गायां जले मोक्षो वाराणस्यां जले स्थले'** इति कथितम् । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे मरणकाले महेश्वरेण प्रणवोपदेशदाने कर्णिकायां तारकमन्त्रोपदेशकथनं सूचितम् ।

अत्र काश्या वर्णनमतीव ललितम्, सारमयमर्थगाम्भीर्यभरितं चेति पठनीयं श्रद्धालुभिः । जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाः सर्वेऽत्र मरणान्मुक्तिभाज इत्युक्तम् । शिवशर्मोपाख्यानच्छलेनैतत्सर्वं सूचितम् ।

ततः पश्चादन्यासां मोक्षदायिनीनामवन्ती-कान्ती-(काञ्ची) द्वारावती-माया-पुर्यादीनां[१] वर्णनं जातम् । शिवशर्मा हि सर्वासां पुरीणां यात्रावसाने हरिद्वारे

---

१. केचिदूचुर्हरिद्वारं मोक्षद्वारं ततः परे ।
गङ्गाद्वारं च केऽप्याहुः केचिन्मायापुरीं पुनः ।। (का०ख० ७।११४)

गङ्गास्नानेनैकाकी शीतज्वरपीडितो निधनं गतः, अत एव पुण्यशीलसुशीलाभ्यां देवदूताभ्यां नभोवर्त्मना स नीत इति पौराणिकी कथा ।

(८)

यमलोकवर्णनम्—अस्मिन्नष्टमेऽध्याये लोपामुद्रा पृच्छति यद्धरिद्वारे मुक्तिक्षेत्रे मृतोऽपि शिवशर्मा कथं न मुक्तिमलभत ? टीकाकारो रामानन्दः समाधानं विधीयमानो लिखति—**'विमानमारुह्येत्यनेन शिवशर्मणः सारूप्यमुक्तिरुक्ता'** । परन्त्वत्र लोपामुद्रायाः प्रश्नस्याशयः सौरलोकस्य च सायुज्यमुक्तिपरः—**''मोक्षः कैवल्यरूपः । अमुमेवार्थं मायापुर्यादिषु साक्षात्सायुज्यं नास्तीति''** । सा तु काश्यां मरणादेव, महेश्वरेण तारकमन्त्रोपदेशजन्येन ज्ञानेनैव सकलद्वैतप्रपञ्चपरकाज्ञानध्वंसेनैव भवतीति शेषः ।

नभोयात्राप्रसङ्गेन तत्र तत्र पथि क्रमशो द्वाभ्यां गणाभ्यां संवादच्छलेन पिशाच-गुह्यक-यक्ष-गन्धर्व-विद्याधरलोकानां संयमनपुर्याः (यमलोकस्य) पापेभ्यो नानाप्रकारयमदण्डादीनां च वर्णनमस्ति ।

(९)

अप्सरोलोकवर्णनम्—नवमेऽध्याये अप्सरसो लोकस्य तत्रत्यसुखवैभवस्याप्सरोयोनिजनेः पुण्यकर्मणाम्, सौरलोकस्य, गायत्री महामन्त्रमहिम्नः, सन्ध्याकरणस्येत्यादीनां शास्त्रानुसारि वर्णनं लभ्यते । अस्मिन्नध्याये सौरमहिम्नो वर्णनप्रसङ्गे सूर्यस्य सप्ततिनाम्नामुल्लेखो विहितः, फलश्रुतिसहितः ७७ तमश्लोकादारभ्य ८४ तमश्लोकपर्यन्तम् । यैर्यथोक्तविधानेनादित्यं प्रत्यर्घसमर्पणेन रोगीजनो विनौषधैर्विना वैद्यैर्विना पथ्यपरिग्रहैर्व्याधिभिर्मुच्यते—इत्यनुभवसिद्धम् ।

(१०)

अमरावत्या ज्योतिष्मत्याः प्रसङ्गः—दशमेऽध्यायेऽस्य ग्रन्थस्येन्द्रपुर्या अमरावत्याः (स्वर्गस्य) विस्तरेण वर्णनं विद्यते । तत्रत्यवैभवानां कामधेनु-कल्पलता-कल्पवृक्षादीनाम्, तत्रस्थस्य मणिमयमार्गस्य, रत्नमयवृक्षाणाम्, महेन्द्रस्य रथाश्वगजेन्द्रादीनाम्, देवराजसभाया वर्णनं महताऽभिनिवेशेनोपश्लोकितम् । ततश्च अर्चिष्मत्याः (ज्योतिष्मत्या वैश्वानरपुर्याः=अग्निनगर्या वा) सवैभवं समाहात्म्यं चारुतरं चित्रणं पुराणकारेण कृतम् । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे अग्नेर्देवस्य माहात्म्यम्, गृहस्थाश्रमस्य महत्त्वं सकलेषु चाश्रमेषु तस्य श्रेष्ठत्वं महिष्ठत्वं गरिष्ठत्वं च श्रुतिस्मृतिप्रमाणैर्निरूपितम् । तत्रैव च अग्निरूपस्य वैश्वानरस्योत्पत्तिप्रसङ्गे विश्वानरमुनेः सपत्नीकस्य कथोल्लिखिता वर्त्तते । सा तत एव पारायणपरायणैर्ज्ञेया ।

अस्मिन्नध्याये भगवतो वीरेश्वरस्य महादेवस्य प्रसादाय विश्वानरमुनिकृतमभिलाषाष्टकं स्तोत्रं पुत्रदं सर्वसिद्धिदं चेति साम्प्रदायिकाः ।

एतस्मिन्नध्याये वीरेश्वरमहादेवसन्दर्भ एकमनुमानमत्रोपस्थापयामि । दक्षिणदेशस्य वीरशैवमतानुयायिनां शैवानामत्र काश्यां जङ्गममठः सर्वेषु तेषां मठेषु प्राचीनतमः । वीरशैवानां तेषां समुपास्यरूपेण कदाचित् काशीखण्डरचनाकाले वीरेश्वरस्य पूजा प्रचलिताऽऽसीत्, यतोऽत्रैकस्मिन् प्रसङ्गे महादेवस्य सदाशिवेति नाम्न उल्लेखोऽस्तीत्यलमतिविस्तरेण ।

(११)

अग्निलोकस्य विस्तरेण वर्णनम्—एकादशेऽस्मिन्नध्याये गृहपतिनामकस्य पुत्रस्योत्पत्तिविषयकमाख्यानं नारदेन च तस्य पुत्रस्य स्वल्पायुष्ट्वं सूचितम्[१] । अयं विश्वानरतनुजो महातेजस्वी, अलौकिकव्यक्तित्वसमृद्धोऽतीवमेधावी प्रतिभाशाली चासीत्; परन्तु तस्य शरीरपरिवर्तनं वयसि द्वादशे वर्षे विधिना निर्धारितम् । विलपन्तौ पितरौ समाश्वस्य काशीं गत्वा गृहपतिः स्वकीयेनाद्भुतेन तपसा शिवं प्रसादयामास[२] । मध्ये च शतक्रतुरागत्य तं प्रलोभयामास, असफलत्वात् स तं वज्रस्य तेजसा तर्जयन् मूर्च्छितमकरोत् । अन्ततश्च तपसाऽर्चनेन प्रसन्नः शङ्करः प्रकटीभूय वरप्रदानेन तं वैश्वानरं गृहपतिमग्निपदमाग्नेयदिशश्च लोकपालं विधायामरकीर्तिमन्तं चकार । अस्मिन्नध्यायेऽग्नेर्महत्त्वमपि वर्णितमस्ति ।

(१२)

नैर्ऋतवरुणलोकपालयोस्तयोर्दिशश्च वृत्तम्—द्वादशेऽध्याये नैर्ऋतलोकस्य वरुणलोकस्य चोपाख्यानं विस्तारपूर्वकं लिखितं वर्तते । कथं पिङ्गाक्षो धार्मिकः सदाचारी पथिकजनमार्गागतपरिपन्थिनो नाशयन् शत्रुभिर्निधनं प्राप्य नैर्ऋतस्य दिशो लोकपालत्वमवापेति मिषेण नैर्ऋतलोकस्य वर्णनं कृतम् ।

अतः परमस्मिन्नेवाध्याये कर्दममुनेः पुत्रो विनीतो मेधावी कथं यादसां पतिरपांपतिः पाशपाणिर्वरुणो बभूव । कथं च स मणिकर्णिकेश्वरस्य नैर्ऋत्यदिग्देशे शिवलिङ्गं वरुणेश्वरं वाराणस्यां स्थापयामास, तस्य च पूजादिकं कृतवानित्यादि-

१. एतस्य जन्मकाले मुनिमन्दिरे देवा गन्धर्वा विद्याधरा अप्सरसः प्रजापतयो मुनयो ब्रह्मर्षि-राजर्षि-देवर्षिप्रभृतयः समुपस्थिता आसन् । यथाशक्यं तेषु प्रमुखाणामिह नामोल्लेखो जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यः ।

२. अत्रापि विस्तरेण काशीमहिमा वर्णिता वर्त्तते ।

कथा विस्तरेण वर्णिताऽस्ति । वरुणपूजनस्य माहात्म्यं वरुणेश्वरपूजनस्य महत्फलं तदध्यायपठनादेवावगन्तव्यम्[१] ।

इत्थं चास्मिन् द्वादशेऽध्याये नैर्ऋतवरुणलोकयोः नैर्ऋत्यदिक्पाल-वारुणी-दिक्पालयोश्चोपाख्याने वर्णिते । तयोरेव मिषेण काश्याः काश्यां शिवलिङ्गस्था-पनपूजनप्रभृतीनां सविधानं फलकथनं प्रवर्णितम् ।

(१३)

वायुकुबेरयोर्गन्धवत्यलकापुर्योश्च वृत्तान्तम्—त्रयोदशे काशीखण्डस्याध्याये वायुदेवस्य वायव्यदिक्पालस्य तस्य गन्धवतीनगर्या गुह्यकेश्वरस्योदीचीदिक्पालस्य कौबेरीदिङ्नाथस्य कुबेरस्यालकापुर्याश्च वर्णनं वर्तते ।

पुरा काश्यपदायादः पूतात्माख्यो वाराणस्यां पवनेश्वरं महादेवलिङ्गं संस्थाप्य तदपूजयत् । अस्य कथाप्रसङ्ग उक्तम्—

ज्ञानशक्तिर्भवानीश इच्छाशक्तिरुमा स्मृता ।
क्रियाशक्तिरिदं विश्वं तस्य त्वं कारणं ततः ।। (का०ख० १३।१८)

इत्थमिह पूर्वोक्तशक्तित्रयजुष्टस्य शैवदर्शनवादिनो महेश्वरस्य परोक्षरूपेण निर्देशो लभ्यते । भगवाँच्छिवः पवनं प्रत्याशीर्वचनं वदताऽघोषयद् यत्सर्वेषा-मायुषो रूपं भवानेव भविष्यतीति । ततो वायुलोकपालस्य मरुद्देवस्य लोकपालत्वं वायव्यदिशि वर्णितम् । एतदग्रे चालकापुरीं दर्शयन्तौ विष्णुदूतौ यक्ष-(गन्धर्व-किन्नर-गुह्यकप्रभृति) पतेर्विश्वश्रवसः सुतस्य कथा समुपस्थापिता । तत्र कुबेरस्यै-कतो वैभवस्य, शिवसखित्वप्राप्तेरलकाधिपतित्वस्य वर्णनमस्ति । अपरतश्चैकस्य कुबेरनेत्रस्य हानेः कुत्सितशरीरवत्त्वस्य चोल्लेखो विद्यते । कुबेरेश्वरस्य शिवलिङ्ग-स्य वाराणस्यां प्रतिष्ठापनादिकं विस्तरेणात्र लभ्यते ।

(१४)

दिव्यस्येशानलोकस्य चन्द्रलोकस्य च विवरणम्—चतुर्दशे काशीखण्ड-स्याध्याये प्रथममीशानलोकस्य (ऐशान्या दिशो लोकपालस्य) वर्णनमस्ति, यत्र तपोधना रुद्रभक्ताः सततं निवसन्ति । ते सदा शिवस्मरणसक्ताः शिवपूजारतास्त-

---

१. वैदिकेषु देवेषु वरुणदेवस्य स्थानमनुपमम् । स खलु नैतिकतायाः, सदाचारस्य, न्यायस्य, दण्डविधानादिकस्य च महान् देवः । यद्यपि इन्द्राग्न्योरपेक्षया तस्य सूक्तानि स्वल्पसंख्यकानि, तथापि मन्ये, तस्य महिष्ठत्वं नाल्पम् । अपि चास्माकं संस्कारेषु, यज्ञेषु, किं बहुना सत्यनारायणकथादिष्वपि कलशपूजनस्य (यस्मिन् कलशे सर्वे देवा अधिष्ठिताः, तस्य पूजनस्य) सर्वाधिकं महत्त्वं लक्ष्यते ।

स्थुः । एतस्मिन् रुद्रपुरे रुद्ररूपधराः सन्तो वासं कुर्वन्ति, येषु एकादशरुद्रास्त्रि-शूलोद्यतपाणयः 'अज-एकपाद-अहिर्बुध्न्यादयः' आसन् । इमे वाराणसीं निवसन्तम् ईशानेश्वराख्यं शिवलिङ्गं संस्थाप्य तं पूजयन्तस्तपश्चरन्ति स्म ।

तदनन्तरं शिवशर्मा दिवाकाल एव चन्द्रिकोज्ज्वलं लोकं पश्यन् जिज्ञासितवान्, तस्य विषये । देवदूतौ तं विज्ञापयाञ्चक्रतुर्यदयमेव लोकः कलानिधेश्चन्द्रस्य, यस्य स्वामिना सुधांशुना स्वकीयैः पीयूषवर्षिभी रश्मिभिर्जगदाप्यायते । एतस्य जनको ब्रह्मणो मानसपुत्रो महर्षिरत्रिर्यस्य नेत्राभ्यामस्योत्पत्तिरभवत् । अध्यायेऽस्मिंश्चन्द्रस्यात्रिनेत्रोत्पत्तिविषयिणी कथा विस्तरेण वर्णिताऽस्ति । अस्मिन् प्रसङ्गे द्रुहिणा सागरान्ताया वसुन्धराया एकविंशतिवारं प्रदक्षिणा कृता । अत्रौषधीनां समुदयवनवर्णनमप्यस्ति । चन्द्रोऽपि वाराणसीं प्राप्य चन्द्रेश्वरनामानममृतमयं लिङ्गं चन्द्रकूपं च व्यधात् । इमे द्वे चन्द्रकूप-चन्द्रेश्वरलिङ्गे काश्यामद्यापि वर्त्तेते । चन्द्रकूपस्य (अमृतोदकूपस्य) पानस्नानाभ्यां नरोऽज्ञानात्प्रमुच्यते । तुष्टश्च देवदेवः शङ्करः कलानिधेरेकां जगत्सञ्जीवनीनाम्नीं कलां स्वमौलौ धारयति स्म । दक्षेण शप्त आप्तक्षयोऽपि चन्द्रस्तस्याः शिवशेखरस्थायाः कलायाः प्रभावेण पौनःपुन्येन वर्द्धते । तस्य राजसूययागे स्वयं स्वयम्भूर्ब्रह्मपदस्थितोऽभवत् । अत्रि-मरीचि-भृग्वादयो हि ऋत्विजोऽभवन् । स सोम औषधीनां जीवानां ब्राह्मणानाञ्च राजा बभूव ।

इत्थञ्चास्मिन्नध्याये सुधांशोर्वैभवमथ च चन्द्रलोकस्य लोकोत्तरत्वं देवदूतौ महताऽभिनिवेशेनावर्णयताम् ।

(१५)

नक्षत्रलोकस्य वृत्तं बुधजन्मकथा बुधलोकवर्णनञ्च—पञ्चदशाध्याये सर्वतः प्रथमं सिसृक्षोः स्रष्टुरङ्गुष्ठाद् दक्षप्रजापतेर्जन्मोपाख्यानम्, तत्पश्चाच्च षष्टिसंख्यकानामपरिमितानां लावण्यमण्डितानां रोहिणीप्रभृतीनां दुहितॄणां जन्मवर्णनम्, तदनन्तरं च ताः कथं वाराणसीं गत्वा तप्त्वा च तपःप्रसन्नेन शिवेन वरं याचितवत्यो यच्छङ्करतुल्यस्तासां भर्त्ता भवेदिति । वरणातटे सङ्गमेश्वरनिकटे नक्षत्रेश्वरलिङ्गस्य स्थापनां कृत्वा पुनश्च घोरं पुरुषायितनामकं तपश्चरितवत्यः । ता वरदानं प्राप्तवत्यः, तेन एवैतासां नक्षत्रमण्डलस्थानां रोहिण्यादीनामेकः पतिरभवत् ।

पश्चाच्च बुधलोकं पश्यञ्छिवशर्मा दृश्यमानं बुधलोकवर्णनं प्रति जिज्ञासितवान् । चन्द्रस्य महिमानं वर्णयन्तौ देवदूतौ कामवशीभवतो बृहस्पतिपत्नीं तारां कामेच्छया बलाद्गृहीतवतश्चन्द्रमसः प्रसिद्धं प्रसङ्गं श्रावयामासतुः । अस्मिन्

प्रसङ्गे पुष्पकधन्वनः प्रभावं चावर्णयताम्[1]। एतत्कुकृत्यं मृगाङ्कस्य दर्शं दर्शं रुद्रस्तेन सह समरं रचयामास। प्रलयङ्करं घोरं संग्रामं समापयितुकामो हिरण्यगर्भो निशापतेर्गर्भधारिणीं तारां चन्द्राद्दूरीकृत्य बृहस्पतिं समर्पयत्। हिरण्यगर्भेण कस्यायं गर्भो बृहस्पतेर्वा चन्द्रस्येति भृशं पृष्टा तारा लज्जावनतमुखी तं गर्भं शशाङ्कस्येत्यब्रवीत्। काले जाते तेन गर्भेण पुत्रो बभूव। यस्य चन्द्रजस्य ब्रह्मणा **'बुधः'** इति नाम कृतम्। बुधश्च पितरमापृच्छ्य तपस्तप्तुं काशीमाजगाम। तत्र स्वनाम्ना बुधेश्वरलिङ्गं संस्थाप्य सततं तमर्चयन् घोरं तपश्चचार[2]। तेजोऽभवद्देवदेवो बुधोक्तेन स्तवनेन (अध्याये १५, श्लोकाः ५५-६१) परमतुष्टो हृष्टो चन्द्रभालो बुधाय बुधलोकं निर्माय तं तस्याधीश्वरं कारयाम्बभूव।

(१६)

शुक्रलोकवर्णनम्—अध्यायेऽस्मिन् शुक्रलोकवर्णनं विद्यते। जानन्त्येव पुराणरसिकास्तद्वृत्तं यद्दैत्यदानवानां गुरुः शुक्रः सञ्जीविनीविद्याविज्ञो देवासुरसंग्रामे मृतानसुरान् तद्विद्याबलेन सञ्जीवयति स्म। अस्मिन्नध्याये द्वे वार्त्ते वैशिष्ट्यमावहतः। पूर्ववर्णितः प्रसङ्गस्तु न बहु प्रचलितः। अस्मिन् प्रसङ्गे रुद्रगणैः प्रमथैः पराजिता दैत्यदानवाः स्वगुरुमाचार्यं कविं (शुक्रम्) प्रार्थयामासुः। स्वकीयसञ्जीविनीमन्त्रप्रयोगेणासुरान् रुद्रगणैर्विमर्दितान् पुनरुज्जीवनाय स चाचार्यो भार्गवोऽभ्यस्तां तां विद्यां पुनरभ्यासेन स्वोपासनेन सक्षमां विधाय दैत्यानुज्जीवयाञ्चकार। प्रमथगणानां सन्देशेन रुद्रप्रेषितो नन्दी भृगुनन्दनं बलादाजग्राह। रुद्रसन्निधौ च तमानयाञ्चकार। रुद्रश्च तं फलवत् स्वमुखे चिक्षेप। बहुकालानन्तरं चासौ शङ्करस्य लिङ्गमार्गेण शुक्रद्रव इव बहिराजगाम। शिवप्रसादेन शिवार्थकृताष्टमूर्तिस्तवेन वरदानेन श्रीरुद्रेण शुक्रलोकाधिपतिर्बभूव[3], 'शुक्र' इति संज्ञां च लेभे[4]।

---

१. यः कामेन न निर्जितस्त्रिजगतां पुष्पायुधेनाप्यहो !
क: क्रोधस्य वशं गतो न च को लोभेन सम्मोहितः।
योषिल्लोचनभल्लभिन्नहृदयः को नाप्तवानापदं
को राज्यश्रियमाप्य नान्धपदवीं यातोऽपि सल्लोचनः॥
(का०ख० १५।३५)

२. चन्द्रेश्वरात्पूर्वभागे दृष्ट्वा लिङ्गं बुधेश्वरम्।
न बुद्ध्या हीयते जन्तुरन्तकालेऽपि जातुकृत्॥ (का०ख० १५।६७)

३. अष्टमूर्तिस्तवः फलदोऽध्याये षोडशे काशीखण्डस्य १०१-११० श्लोकेषु द्रष्टव्यः।

४. 'शुक्रे'ति नामोपाख्यानसन्दर्भे शुक्रेति-नाम्नः सार्थक्यं विधीयमानेनैतेन पुराणेनात्र पौराणिकीनामव्युत्पत्तिः कथाकथनमाध्यमेन प्रदर्शिता। भाषावैज्ञानिकास्त्वामनन्ति यद्ग्रहेषु शुक्रग्रहोऽतिभास्यमानत्वात् शुक्लः। देशभेदेन विभाषाभेदेन शुक्रशुक्लशब्दावभिन्नौ, रलयोरभेदात्। यः शुक्लः, स एव शुक्र इत्यपि भाषाशास्त्रिणां परिकल्पना नोपेक्षणीया।

एतदनन्तरं भृगुनन्दनः कथं तां सञ्जीविन्याख्यां विद्यामधिगतवानिति जिज्ञासवे शिवशर्मण एतत्सम्बन्धि प्रसिद्धां कथां देवदूतौ व्यावर्णयामासतुः । तत्र प्रसङ्गे भृगुनन्दनस्य वाराणसीगमनम्, शिवलिङ्गस्य शुक्रेश्वराख्यस्य स्थापनम्, तपसा विधिविधानेन शङ्करपूजनम्, तस्मिन् चर्चाप्रसङ्गे रमणीयतरेण भावगाम्भीर्यपूर्णेनाष्टमूर्तिस्तवेन च (श्लो० १०१-१०९) रुद्रप्रसादेन तस्याः पुनर्जीवनदायिन्याः सञ्जीविनीविद्याया अधिगतिर्वर्णिता । स एव भार्गवः शुक्रः शुक्रलोकाधिष्ठाता चेत्यलं प्रसङ्गविस्तरेण[१] ।

(१७)

मङ्गलबृहस्पतिशनिलोकानामुद्भवोपाख्यानम्—दाक्षायण्याः (दक्षपुत्र्याः सत्याः) वियोगेन तपस्यतो रुद्रस्य (शिवस्य) भालदेशात् स्वेदबिन्दुरेकः पपात । स एव धात्रीरूपया मह्या स्नेहसंवर्द्धितो बभूव । वयःप्राप्तो माहेयः काशीं गत्वा अङ्गारेश्वराख्यं शिवलिङ्गं पाञ्चमुद्रे महास्थाने कम्बलाश्वतरोत्तरे संस्थाप्य तमर्चयन्तस्तपश्चरन् तपोबलेन चाङ्गारसंकाशां दीप्तिमवाप्य शिवप्रसादेनाङ्गारको लोकेश्वरो भूत्वा भौमग्रहलोकाधिपतित्वं भुनक्ति[२] ।

ततो ब्रह्मणो मानसपुत्रस्याङ्गिरसः सुतस्य आङ्गिरसस्य (बृहस्पतेः) लोकवर्णनं देवदूताभ्यां शिवशर्मणः कृते कृतम् । यथा पूर्वं सर्वत्र वर्णितमस्ति, तथैव आङ्गिरसो वाराणसीं गत्वा शिवलिङ्गं बृहस्पतीश्वराख्यं संस्थाप्य शरदाभयुतं पूजनं तपश्चरणं च सम्पाद्य भगवतः शङ्करस्याद्भुतां स्तुतिं निर्माय महादेवं शङ्करं प्रसाद्य बृहस्पतिलोकेश्वरो भूत्वा अद्यापि नभसि देदीप्यते[३] ।

ततः परमस्मिन्नेवाध्याये सावर्णेः शनैश्चरलोकस्य वर्णनं वर्त्तते । अस्मिन् वर्णने वैशिष्ट्यमिदं यद्यथा सूर्यस्य महत्त्वं सर्वप्राणिसवितृत्वं च सत्सर्वमुपाख्यातम् । तस्य द्वयोः पत्न्योः (प्रथमायाः त्वष्टुः सुतायाः संज्ञायाः, द्वितीयायाश्च छायायाः) उपाख्याने वर्णिते । कथं संज्ञया सूर्यस्य तिस्रः सन्ततयः, एका कन्या—यमुना, द्वौ च पुत्रौ—वैवस्वतमनुः, यमश्च जातौ ? कथं च तदनन्तरं

---

१. विश्वेश्वराद्दक्षिणतः शुक्रेशोऽस्ति परन्तप ।
तस्य दर्शनमात्रेण शुक्रलोके महीयते ॥ (का०ख० १६।१२८)

२. कम्बल-अश्वतरेति द्वौ नागविशेषयोः संज्ञे ।

३. एतदाङ्गिरसरचितं "जय शङ्करशान्तशशाङ्करुचे" इत्यादि स्तोत्रं सद्यः सिद्धिप्रदम् । एतत्स्तोत्रपाठस्यापूर्वं फलं स्तोत्रे वर्त्तते । बुद्धिव्यवसायिभिरेतस्य पाठोऽवश्यं करणीयः । अङ्गिरसं वरं प्रयच्छन् शिवो हि बृहस्पति-वाचस्पतिजीवादिनामकरणस्य हेतवः प्रावोचद् ग्रहमण्डले चैव नक्षत्ररूपो गुरुर्बृहच्चेत्यादि नूनं न विस्मरणीयम् ।

यमं संज्ञा शप्तवतीत्यादयः सर्वा वार्ता अस्मिन्नेवाध्याये ग्रथिता। सूर्यस्यात्युग्र-तेजसोऽसहिष्णुः संज्ञा कथं स्वरूपसवर्णां छायामुत्पाद्य स्वप्रतिनिधिरूपेण सूर्य-पत्नीपदेऽभिषिक्ता। पितृगृहं गता सा (संज्ञा) जनकेन भर्त्स्यमाना ततो निर्गत्य कथं वडवारूपेण तपश्चचार, कथं च पुनस्तयोः सङ्गमो जातः, कथं च छाययापि तिस्रः सन्ततयः (१. अष्टमः सावर्णिर्मनुः, २. शनैश्चरः, ३ भद्रा कन्या) जाताः ? शनैश्चरेण कृतस्य विश्वेश्वरमन्दिरे दक्षिणभागे स्थितस्य शनैश्चरलिङ्गस्य स्थानमस्ति। अथ च सूर्यपुत्रस्य तपः, शिवपूजनादिकं सर्वं वर्णितमस्ति, विस्त-रेण शनैश्चरेश्वरोपासनामाहात्म्यं शनैश्चरलोकस्य महिमा च। आनुषङ्गिकरूपेणा-श्विनीकुमारयोर्जन्मापि वर्णितमस्ति।

इत्थं च सवर्णायाश्छायाया गर्भसम्भवस्य शनैश्चरस्य शनिलोकेश्वरस्योपा-ख्यानं निर्दिष्टम्। काश्यां सावर्णिना स्थापितं शनैश्चरेश्वरलिङ्गं विश्वेश्वरलिङ्गाद्दक्षिणे शुक्रेश्वरस्योत्तरे भागेऽद्यापि स्थितमस्ति।

(१८)

नभसि देदीप्यमानसप्तर्षिमण्डलस्य वृत्तान्तः—ब्रह्मणो मानसपुत्राणां सप्त-प्रजासर्जकानामृषीणां मरीचि-अत्रि-पुलह-पुलस्त्य-क्रतु-अङ्गिरस्-वसिष्ठानां यन्मण्डलं सप्तर्षिमण्डलसंज्ञया प्रसिद्धिं गतम्, तदद्यापि केन न ज्ञायते। तस्यैव वृत्तान्तमिह वर्ण्यते। शिवोपासकाः सप्तर्षयः शङ्करस्याविमुक्तक्षेत्रमागत्य स्वस्वनाम्नाऽत्राध्याये निर्दिष्टेषु स्थलीविशेषेषु तपश्चरित्वा, अत्रीश्वरादीनि लिङ्गानि स्थापयित्वा, चिर-कालपर्यन्तमुपासनां च कृत्वा ते सप्तर्षयः शिवानुग्रहेण नभोमण्डलं सप्तर्षि-मण्डलरूपेण राराज्यन्ते। सप्तर्षिमण्डलस्य नेदीयसः स्थिताया अरुन्धत्या माहा-त्म्यम्, तस्या लोकोत्तरपातिव्रतस्यान्येषां च गुणानां कीर्तनेनास्याध्यायस्य सम्पन्नता जाता।

(१९)

ध्रुवस्योत्तानपादपुत्रस्योपाख्यानोपक्रमः—एकोनविंशतितमाध्यायत आरभ्यैक-विंशत्यध्यायपर्यन्तं ध्रुवोपाख्यानम्। तत्रैकोनविंशाध्याये स्वायम्भुवसुतोत्तानपादस्य द्वयोः पत्न्योः परमसुन्दर्योः रुचि-(कान्ति)मत्याः, सुनीत्याश्च पुत्रयोर्द्वयोरुत्तमध्रुवयोः कथाऽस्ति। एतस्मिन्नध्याये सुरुचिद्वाराऽपूर्णनवमवर्षस्य ध्रुवस्यापमानः, पितु-रुत्सङ्गाभिलाषिणो पितुरुत्सङ्गस्थस्य ध्रुवस्य खेदः, मातृ-पुत्रयोः संवादः, खेदजेन विषादेन तस्य तपश्चरणाय वनगमनम्, तत्र सप्तर्षीणां वासुदेवमुद्दिश्य तपःप्रवृत्तये उपदेशो विद्यते। अन्यश्चानुषङ्गिकः संवादोऽप्यतिरुचिरश्चानुशीलनीयः, यत एत-दुपाख्यानमनेकपुराणाख्यातं लोके च प्रकामं प्रसिद्धिं गतम्।

(२०)

ध्रुवतपोवर्णनं वासुदेवस्य दर्शनञ्च—अस्मिन्नध्याये वनान्निर्गतस्य मधुवनं गिरिधरक्षेत्रं प्राप्तस्य कृतदृढनिश्चयस्य ध्रुवस्य तपश्चरणैकचित्तस्य घोरस्य तपसः प्रसङ्गा वर्णिताः सन्ति । अस्मिन्नेव देवादीनां विशेषतश्च देवेन्द्रस्य मनसि भयं जातम्, यदसौ ध्रुवः स्वतपोबलेन देव-देवराजादीन् स्व-स्वपदेभ्योऽपदस्थान् न कदाचित्कुर्यात् । तेन बालध्रुवविषये स्वर्गपतिः स्वकीयानि सर्वाणि प्रहरणानि कोमलानि मेनकादीनि कठोराणि वज्रादीनि च प्रयोगाक्षमाणि ध्रुवस्य तपोभङ्गार्थं निभालयामास; परन्तु बाले ध्रुवे तेषां प्रयोगावसर एव नायातः । तदनन्तरं घोर-भूतप्रेतादीनां भयङ्करदर्शनानामवलिं सम्प्रेषयन्नपि देवेन्द्रस्तस्य हृदि न भयं न वा तपसि बाधां कर्तुमशकत् । अनन्तरं मायारचितया मात्रा सुनीत्या सौनतेयं मातृ-मोहेन विचालयितुं यत्नः कृतः । अन्ततश्च ते देवाः सेन्द्रा ब्रह्माणं गत्वा ततोऽभीत्याश्वासनं च प्राप्य परावर्त्तन्ते स्म ।

एतदनन्तरं दृढं तपोऽचलां च भक्तिं निभाल्य वासुदेव आविर्बभूव । ध्रुवश्च कातरचित्तो भक्तिभरितो दण्डवत्प्रणिपत्य परितः परिलुण्ठ्य च रुरोद । करुणार्द्र-हृदयः करुणावरुणालयो भगवान् वासुदेवः करेण धृत्वा तं बालमुत्थापयाञ्चक्रे । देवदेवस्य वासुदेवस्य स्पर्शादेव ध्रुवमुखात् संस्कृतमयी वाक् प्रसृता ।

(२१)

ध्रुवोपाख्यानोपसंहारः—ध्रुवोऽकस्मात् स्फुरितया संस्कृतवाण्या भगवतः स्तुतिं पञ्चसप्ततिश्लोकात्मिकां विष्णुमहिमकीर्त्तनभरितां महाफलदायिनीं करोति स्म । ततश्च प्रसन्नो भवन् भगवान् तद्गतं मनोरथं जानन् सूर्यस्याप्याधारभूतं तं ध्रुवं ध्रुवलोकं निर्माय तत्र स्थापयामास । मनु-देव-सुरपति-सप्तर्ष्यादिभिरप्राप्यं ध्रुवलोकपदं कल्पान्तरस्थायि विधाय तमदात् । ध्रुवकृतस्तोत्रपाठस्य सर्वाणि फलानि श्रावयन् तस्मिन्नवसरे कार्तिकपूर्णिमायां तमात्मना सहैव वासुदेवो वाराणसीमानयत् । तत्र स्नानदर्शनादिकं विधाय ध्रुवेश्वरस्य लिङ्गस्य स्थापनाय, तस्योपासनाकरणाय, तत्र तपश्चरणाय च प्रेरणां दत्वाऽन्तर्हितो बभूव । एत-न्मन्दिरं वैद्यनाथेश्वरसमीपवर्तीति । अद्यापि विश्वेश्वरमन्दिरं काश्यामस्ति ।

(२२)

महस्-तपस्-सत्यलोकानां संक्षिप्ततरं विवरणं ब्रह्मणा च प्रयाग-काशी-माहात्म्यवर्णनञ्च—देवदूतौ प्रावोचतां यद्दृश्यमानो लोको **महर्लोको** स्वर्लोका-

दप्यद्भुतो यत्र अध्याये वर्णिताः कल्पायुषः सदाचार-तपस्-सदनुष्ठानसाधका वसन्ति । ततः परं देवदूताभ्यां नीयमानं विमानं **जनलोकं** प्राप्तवान् । तौ प्रोचतुर्यदत्र ब्रह्मणो मानसपुत्रा ऊर्ध्वरेतसोऽखण्डब्रह्मचर्यशालिनोऽमला मुनीन्द्राः, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमारादिमहर्षयोऽन्ये तत्सदृक्षा योगीन्द्रास्तत्र निवासं लभ्यन्ते ।

तदनन्तरं **तपोलोकं** दृष्ट्वा शिवशर्मणि परिचयं जिज्ञास्यमाने देवदूतौ व्यज्ञापयताम्—'शिलोञ्छवृत्तिशीला दन्तोलूखलिका उग्रतपस्विनः (पञ्चाग्नितापादितप्तारो) मुनयस्तत्र निवसन्ति' । अत्रोग्रतपसो निदर्शनरूपेणोल्लेखो वर्त्तते । ते चाकुतोऽभया ब्रह्मायुःसदृक्षायुष्मन्तस्तपोधना भवन्ति ।

इतः परमत्र **सत्यलोकस्य** महोज्ज्वलस्य वर्णनमस्ति । तत्र सम्प्राप्ते विमाने स्वयं ब्रह्माऽऽत्मानं दर्शयाम्बभूव । रथादवतीर्य देवदूतौ तं प्रणेमतुः । शिवशर्माऽपि तथैवाचरति स्म । हिरण्यगर्भश्च सर्वज्ञो शिवशर्माणं सम्बोध्य व्यज्ञापयद्यद् मार्गे भूर्लोकादारभ्य सत्यलोकपर्यन्तं भवान् यान् लोकान् पश्यति स्म, ते सर्वे नश्वरा गत्वराश्च । तथोच्यते—

सत्वरं गत्वरं सर्वे यच्चैतद्भवतेक्षितम् ।
दैनन्दिनप्रलयतः सृजामि च पुनः पुनः ।।
आ वैराजं प्रतिपदमुपसंहरते हरः ।
का कथा मशकाभानां नृणां मरणधर्मिणाम् ।।

(का०ख० २२।२६-२७)

जीवेषु च मानवो लोभ-काम-क्रोध-मदाहङ्कारमोहादीन् रिपून् दूरीकृत्य भारते वर्षे, तत्रापि चार्यावर्ते, तत्रापि चान्तर्वेद्यां जन्म प्राप्य मोक्षकामो यतितुं शक्यते । अत एव देवा अप्यस्मिन् कर्मभूम्यास्पदे भारतवर्षे जन्मावाप्तुं स्पृहयन्ति । एतस्मिन् प्रसङ्गे रम्यभूमिं स्वर्गं केवलां कर्मभूमिरिति निगद्य ततोऽपि रम्यतरं पाताललोकं नागलोकं विवृत्य इलावर्षान्तर्गत-जम्बुद्वीपान्तर्गत-कर्मभूमेर्भारतस्य महान् महिमा वर्णितोऽस्ति ।

अग्रे च तीर्थराजस्य निष्कामकर्मकुर्वते जनाय मोक्षदायिनः प्रयागस्य प्रभूता पुण्यकीर्तिर्निरूपिता ।

अन्ते चाप्यधिकफलदायिन्याः काश्या माहात्म्यमवश्यमेव पठनमननयोग्यम् । यत्रोक्तम्—

विना तपोजपाद्यैश्च विना योगेन सुव्रत ।
निःश्रेयो लभ्यते काश्यामिहैकेनैव जन्मना[१] ।।
(का०ख० २२।११२)

(२३)

वैष्णवलोकवर्णनं विष्णोरभिषेकवर्णनञ्च—पूर्वाध्याये ब्रह्मणा विज्ञापितः शिवशर्मा यत्तस्य मोक्षप्राप्तिसम्बन्धिवार्तां देवदूतौ कथयिष्यतः । देवदूतौ तं शिवशर्माणं विमानेनादाय विष्णुलोकं प्रति जग्मतुः । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे भूलोकतः सत्यलोकपर्यन्तं ये नाना लोकाः, यावन्तो दूरे उपर्युपरि च स्थितास्तेषां विवरणं देवदूतावुपस्थापयामासतुः । अन्ते चैतदपि निर्दिष्टं वर्त्तते यद् ब्रह्मणः सत्यलोकाद्वैकुण्ठलोकस्य स्थितिः । तद्यथा—

सत्यादुपरि वैकुण्ठो योजनानां प्रमाणतः ।
भूर्लोकात्परिसंख्यातो कोटिषोडशसंज्ञितः ।। (का०ख० २३।२१)

ततोऽपि शिवस्यालयः कैलासः षोडशगुणीपरिमितं दूरे तिष्ठति । तत्र स्थायिरूपेण निवसञ्छिवो लीलामूर्तिधृक्सर्वं सृष्टि-पालन-संहारं सम्पादयति । एतदनन्तरं शिवविभूतयो वर्णिताः । एतस्याध्यायस्य एकचत्वारिंशत्संख्यके श्लोके शिवस्य विष्णवोश्चाभेदः प्रतिपादितः[२] । अस्मिन्पुराणे बहुषु प्रसङ्गेषु शैव-वैष्णवयोर्मध्ये या विरोधभावना यत्र तत्र वर्त्तते, तां निराकृत्य तयोर्मध्ये सामञ्जस्यस्थापनाया दृढः प्रयासो लभ्यते । पुराणमुनीनामसौ सामञ्जस्यदृष्टिः सर्वत्र प्रसृता वर्त्तते, इति तु कथमपि न विस्मरणीयम् । अत एव शिवेन स्वहस्तेन कमलापतिं विष्णुलोकेऽयथाविध्यभिषिच्य ब्रह्माणं विष्णुं नमस्कर्तुं न्यदिशत्, स्वयमपि च प्रणनाम[३] । विष्णवे च स्वकीया इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तीः समर्प्य ब्रह्माण्डसञ्चालनाय न्यवेदयत् ।

तदनन्तरं च शिव इत्यप्यकथयद्विष्णुभक्तेभ्योऽपि शिवेन निर्वाणं दातव्यं भविष्यति । स्वकीयां मायां विष्णवे प्रयच्छन् शिव उवाच—

---

१. अविमुक्तान्महाक्षेत्राद्विश्वेशमधितिष्ठितात् ।
न च किञ्चित्क्वचिद्रम्यमिह ब्रह्माण्डगोलके ।।
अविमुक्तमिदं क्षेत्रमपि ब्रह्माण्डमध्यगम् ।
ब्रह्माण्डमध्ये न भवेत् पञ्चक्रोशप्रमाणतः ।। (का०ख० २२।८२-८३)

२. यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः ।
अन्तरं शिवविष्ण्वोश्च मनागपि न विद्यते ।। (तत्रैव-२३।४१)

३. मम वन्द्यस्त्वयं विष्णुः प्रणम त्वममुं हरिम् ।
इत्युक्त्वाऽथ स्वयं रुद्रो ननाम गरुडध्वजम् ।। (तत्रैव-२३।५४)

मायां चेमां गृहाणेमां दुष्प्रणेद्यां सुरासुरैः ।
यया सम्मोहितं विश्वमकिञ्चिज्ज्ञं भविष्यति ।।
वामबाहुर्मदीयस्त्वं दक्षिणोऽसौ पितामहः ।
अस्यापि हि विधेः पाता जनितापि भविष्यसि ।।

(का०ख० २४।६४-६५)

(२४)

शिवशर्मणोपाख्यानसमाप्तिस्तस्य च मोक्षलाभः—देवदूतौ प्रावोचतां शिवशर्माणम्—'त्वं हि ब्रह्मणो वर्षपर्यन्तं विष्णुलोकं वसन्नप्सरोगणै रममाणः पुनर्मानवजन्मावाप्य नन्दिवर्धनदेशे वृद्धकालो रिपुञ्जयो नाम भूपतिर्भविष्यसि । पत्नीं च पतिव्रताम् अनङ्गलेखां प्राप्स्यसि । परमधार्मिको गोब्राह्मणदेवादिपूजकोऽनेकयागकर्ता, प्रजां धर्मेण पालयन् नैकसमरविजेता राजा भविष्यसि' । अध्यायेऽस्मिन् तस्य राज्यस्य परिवृत्याद्यलङ्काररमणीयं काव्यगुणोत्कृष्टं रुचिरं बृहद्विवरणं लिखितमस्ति ।

एकदा शौर्यौदार्यसौभाग्यादिगुणसमृद्धायां भूपतिसभायां काशीतः समागतौ कार्पटिकौ प्रभूतैराशीर्वचनै राजानमभिनन्दयन्तो मिषेण काशीं विश्वनाथं च चर्चितवन्तः । पुनश्च राज्ञः कृते काश्यां विश्वनाथे च आशिराशीर्व्याजह्रुः । देवदूतौ च पुनर्विज्ञापितवन्तौ—"त्वं वृद्धकाल ! भूपाल ! तेषामाशीर्वचनानां श्रवणमात्रेण तेभ्यः प्रचुरं द्रविणं दत्वा मदीयमुक्तं वृत्तान्तं स्मरन् योग्ये सुते राज्यं न्यस्य स्वपत्न्या सह सद्यः काशीं प्रति प्रस्थाय, तं क्षेत्रं चावाप्य तत्र वृद्धकालेश्वरस्य महता समारम्भेण प्रभूतोपकरणेन महामन्दिरं निर्माय तत्रैवाग्रे च कूपमपि विधाय तत्र व्रतोपवासनियमैः परिक्षीणविग्रहस्तिष्ठन्नेकदा तत्रागतं कञ्चनातीव तेजसोज्ज्वलम्, क्षीणविग्रहम्, परिपिङ्गजटाधरम्, साक्षान्मूर्तिमन्तं जनमनोहरं धर्ममिव तपोधनं द्रक्ष्यसि" । मन्ये, साक्षाच्छिवो हि शिवशर्माणं स्वभक्तं मुक्तिलाभोपायमुपदेष्टुं तपोधनवेषं धृत्वोपस्थितः ।

स खलु मन्दिरसभामण्डपादागत्य अन्तरङ्गमण्डपे उपविश्यानेकानेकैः प्रश्नोत्तरैः सर्वज्ञोऽसौ सर्वं स्वयं प्रकारान्तरेण वर्णयन् निखिलं शिवशर्मणो वृत्तं संक्षेपेणोक्त्वा पुनरिदमपि कथयित्वा यदिदं वृद्धकालेश्वरलिङ्गमनादिः, परन्तु त्वां निमित्तीकृत्यास्य निर्माणं जातम् । वृद्धकालेश्वरदर्शनस्य वृद्धकालकूपस्नानस्य च फलान्युक्त्वा देवदूतौ—'स जटिलो महात्मा सानङ्गलेखं त्वां महीपालं हस्ते गृहीत्वा तस्मिन्नेव लिङ्गे लयं यास्यति । तदनन्तरं च तथैव त्वया मोक्षो लप्स्यते' इति । तथैव सर्वं घटितम् । शिवशर्मा च विश्वेश्वरमाराध्यान्ते च निर्वाणपदं सायुज्यरूपमलभत । इत्थं चागस्त्योक्तमनेकाध्यायव्यापि शिवशर्मोपाख्यानमपि समाप्तिं जगाम ।

(२५)

अगस्त्यस्य कार्तिकेयदर्शनम्—शिवशर्मनिर्वाणप्राप्तिवृत्तं लोपामुद्रां श्रावयित्वा लोपामुद्रया सह श्रीशैलं प्रदक्षिणीकृत्य सुवर्णगिरिप्रभं लोकोत्तरप्रभामण्डितं लोहितगिरिं प्राप्य गिरिजातनुजं षडाननं साक्षाद्दृष्टिपथीकृत्य रमणीयेनाष्टश्लोकमयेन स्तोत्रेण (१० श्लोकत: १७ श्लोकपर्यन्तम्) दण्डवद्भूतौ प्रणनाम। स्कन्दश्च त्र्यम्बकरक्षिताया: काश्या वैभवं वर्णयित्वा तस्या: पुर्या: शिवकृपयैव लभ्यतां निरूप्य श्रुत्यादिषूक्तेषु बहुषु मोक्षसाधनेषु विज्ञापितं यदन्यानि तु निखिलानि तानि साधनानि काशीप्राप्तिकराणि—

'प्राप्य काशीं भवेन्मुक्तो जन्तुर्नान्यत्र कुत्रचित्' ।

काश्या बहु माहात्म्यं प्रज्ञाप्य ततश्च बाल्ये मातुरुत्सङ्गस्थित: स्कन्द: साक्षाच्छिवेन यत्काशीमाहात्म्यमाकर्णि सावहितमनसा, तदपि सूचितम् । सर्वमेतदुक्त्वा काश्यां गतस्यागस्त्यस्य देहं स्नेहेन श्रद्धया परिष्वज्य पुनरगस्तीश्वरस्यागस्त्यकुण्डस्य वाराणस्याश्च महिमानं भूयो भूय: कीर्तयता स्कन्देनामृतसरोवरे तत्रैव सुखं विगाह्य पुन: पुन: काशीं वर्णयता परा तृप्ति: प्राप्ता ।

इत्थं काशीखण्डस्यास्य पञ्चविंशाध्यायात्मकस्य प्रथमं पुष्पं काशीविश्वेश्वराय निवेद्य विरमामि । मन्ये, यदन्यान्यपि काशीखण्डस्य पुष्पाणि विश्वेश्वरकृपयाऽचिरादेव स्फुटीभविष्यन्तीति ।

॥ ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ॥

काश्याम्,
वसन्तपञ्चम्याम्,
२०४७ तमे वैक्रमाब्दे
(२१.१.१९९१ तमे खैस्ताब्दे

विदुषां कृपाभिलाषी
करुणापतित्रिपाठी
पूर्व-कुलपति:,
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

प्रथम संस्करण में प्रकाशित

काशीखण्ड की भूमिका

काशीखण्ड स्कन्दमहापुराण के चतुर्थखण्ड का नाम है। तीनों गुणों से परे होने से काशी तुरीय है। जैसे—

"अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चेति, सप्तैता मोक्षदायिकाः" ॥

सातों मोक्षपुरियों में प्रधान होने के कारण ही काशी मध्य में कही गई है, वैसे ही काशीखण्ड भी सात खण्डों के मध्य में चतुर्थ ही रखा गया है। इस ग्रन्थ में पुराणोपयोगी सभी बातें उत्तम रीति से निवेशित हैं। अष्टादश पुराणों के रचयिता भगवान् कृष्णद्वैपायन हैं। उनका 'वेदव्यास' नाम आपामर प्रसिद्ध है। वही इस ग्रन्थ के भी प्रणेता हैं।

इस अनूठे ग्रन्थ की लेखप्रणाली जैसी अमृतवर्षिणी है, वैसी ही मधुर कविता भी बहुत चढ़ी बढ़ी है। क्या प्राचीन क्या नवीन कहीं भी इस ढर्रे की मनोहर कविता स्यात् (शायद) ही दीख पड़ेगी; क्योंकि "श्रीहर्ष" तथा "माघ" महाकवियों ने भी—इसके भावों को कौन कहे, श्लोकों को ही अपने बड़े-बड़े काव्यों में केवल छन्द बदलकर ज्यों का त्यों लिख दिया है। यथा—

"याचमानमनोवृत्तिपूरणे यस्य नो जनिः।
तेन भूर्भारवत्येषा समुद्रागद्रुमैर्न हि" ॥ (का० ख० ५८।११७)

यही "नैषधचरित" काव्य के पाँचवें सर्ग का ८८ वाँ श्लोक यों है—

"याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः" ॥

दूसरा उदाहरण, यथा—

"युगे युगे द्वारवत्या रत्नानि परितो मुषन्।
अब्धी रत्नाकरोऽद्यापि लोकेषु परिगीयते" ॥

(का० ख० ७।११०)

इसी का साँचा "माघ" ने अपने "शिशुपालवध" नामक प्रसिद्ध काव्य में तीसरे सर्ग के ३८वें श्लोक में यों उतारा है—

"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप" ।।

इसी भाँति यदि परिश्रम किया जाय, तो बहुतेरे उदाहरण मिल सकेंगे । रहा इस ग्रन्थ की कविता का आनन्द सो तो सहृदय पाठक लोग आप से आप लूट ले सकते हैं । उसका उदाहरण ग्रन्थभर में सर्वत्र ही बिखरा पड़ा है । अत एव उसे दिखलाना आवश्यक नहीं जान पड़ता ।

इस अलौकिक ग्रन्थ में केवल आख्यायिका और उपाख्यानों की ही भर-मार नहीं है, वरन् वेदवचनों के प्रमाण, मन्वादि स्मृतियों के कथित आचारादि विषयों का निर्णय, दर्शनशास्त्रों के परम निगूढ़तत्त्व, वेदान्त का सर्वस्व, सामुद्रिकशास्त्र का निचोड़, सती स्त्री तथा सदाचारी पुरुषों के कर्त्तव्य, बौद्धधर्म का सार एवं काशीपुरी, भगवान् विश्वनाथ और कलिकलुषहारिणी भगवती जी का इतिहास, माहात्म्य और रहस्य आदि का यथास्थान विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

इस काशीखण्ड को केवल साधारण पुराण ही नहीं समझना चाहिए, यह ग्रन्थ धर्मशास्त्रों में भी बहुत ही प्रामाणिक माना जाता है । "निर्णयसिन्धु" इत्यादि निर्णयविषयक ग्रन्थों में इसके बहुतेरे वचन प्रमाणरूप से उद्धृत किये गये हैं । व्रतादिकों का वर्णन तथा निर्णय भी इस ग्रन्थ में पाया जाता है ।

यद्यपि काशी का वर्णन और माहात्म्य "यजुर्वेद" के "जाबालोपनिषद्" तथा "रामतापनी" इत्यादि स्थलों पर, तथा "लिखितस्मृति", "शङ्खस्मृति" और "पराशरस्मृति" इत्यादि स्मृतियों में एवं महाभारत के "वनपर्व ८४वाँ अध्याय", "भीष्मपर्व २४वाँ अध्याय", "कर्णपर्व ५वाँ अध्याय" एवं "अनुशासनपर्व ३० वाँ अध्याय" इत्यादि में विस्तारपूर्वक कथित है ।

पुराणों में काशी-महिमा के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रायः सभी पुराणों में पाया जाता है । यह कथन युक्तिहीन नहीं हो सकता । "शिवपुराण", "लिङ्गपुराण" तथा (प्राचीन) "ब्रह्मवैवर्तपुराण" में तो इसका वर्णन एक छोटे से "काशीखण्ड" के ही समान है; परन्तु नारदीयपुराण के उत्तर-खण्ड में २९ अ० एवं ४८ से ५१ अ० तक, आदि ब्रह्मपुराण के ११वें अध्याय, कूर्मपुराण की ब्राह्मीसंहिता में ३१ अ० से ३५ अ० तक मत्स्यपुराण के १८० अ० से १८५ अध्याय तक, पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में १४वाँ अध्याय, पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड में ३३ अ० से ३७ अ० तक एवं पद्मपुराण के भूमिखण्ड ९१वें अध्याय, वामनपुराण के ३ अध्याय, अग्निपुराण के ११२ अध्याय एवं मार्कण्डेयपुराण के ८वें अध्याय में विशेष रूप से काशी का

माहात्म्य कहा गया है। इन्हीं सब में इतस्तत: फुटकर वर्णन भी पाया जाता है। फिर इन सबके अतिरिक्त "वायुपुराण", "सौरपुराण", "भविष्यपुराण", "शिवरहस्य", "रामायण", "भागवत", "देवीभागवत", "सनत्कुमारसंहिता", "त्रिस्थलीसेतु" आदि ग्रन्थों अथवा "नैषधचरित" सदृश उत्तम काव्यों आदि में भी सर्वत्र ही काशी-वर्णन दृष्टिगोचर होता है। यदि इन सब ग्रन्थों के प्रकरणों का एकत्र संग्रह किया जाय, तो सम्भव है कि काशीखण्ड का दूना किं वा तिगुना बड़ा ग्रन्थ बन जावेगा।

इनके अतिरिक्त "काशीरहस्य" (प्राचीन ब्रह्मवैवर्तपुराण का), "काशी-माहात्म्य" (१-पद्मपुराण का, २-"मत्स्यपुराण का", ३-"रसमयसिद्धकृत" और ४-"पण्डित ईश्वरीदत्त कृत"), "काशीदर्पण" (श्रीकृष्णचन्द्रकृत), "काशी-प्रकाश" (पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो भाग), "काशीस्थितिचन्द्रिका" (प्राचीन ग्रन्थ), "काशीमुक्तिविवेक" (प्राचीन ग्रन्थ), "काशीतत्त्वविवेक" (प्राचीन ग्रन्थ), "काशीविनोद" (नवीन ग्रन्थ), "काशीयात्राप्रकाश" (आधुनिक), "काशी-कुतूहल" (मेरे पूर्वज पं० रामानन्द त्रिपाठी का बनाया हुआ) आदि रचनाओं में पर्याप्त काशी-विवरण मिलता है।

इसी भाँति अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ आज भी काशी के विषय में वर्तमान दीखते हैं। एतद्भिन्न बहुतेरे ऐसे भी हैं, जिनमें "नित्ययात्रा" अथवा "पञ्च-क्रोशी-यात्रा" आदि का वर्णन पाया जाता है। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू अथवा अंग्रेजी में भी अनेक ग्रन्थ इतिहास इत्यादि के आधार पर लिखे गये हैं, जो आज दिन प्रचलित हैं; पर इन समस्त ग्रन्थों का आचार्य और आधार "काशीखण्ड" ही है। वास्तव में काशीखण्ड से बढ़कर काशी के विषय में सर्वाङ्गपूर्ण दूसरा कोई ग्रन्थ आज तक नहीं दीख पड़ा। अतएव यदि इस "काशीखण्ड" को काशी का प्रमाणपत्र (कवाला) कहा जावे, तो स्यात् कुछ अनुचित नहीं होगा; क्योंकि इसमें काशी की चतुस्सीमा (चौहदी) भी निवेशित (मुन्दर्ज) कर दी गई है।

यद्यपि इस काशीखण्ड के लिखे जाने का समय मैं अपनी तुच्छबुद्धि के अनुसार स्थिर नहीं कर सकता; पर इतना अवश्य कहूँगा कि इस ग्रन्थ में काशी का केवल माहात्म्य ही नहीं, वरन् पूरा-पूरा इतिहास भी है। इसमें यहाँ तक लिखा गया है कि—इतने घाट, इतने कुण्ड अथवा कूप, इतने देवमन्दिर, इतने शिवलिङ्ग, इतने अमुक-अमुक देव-देवी, अर्थात् इतने राम, इतने कृष्ण, इतने नृसिंह इत्यादि एवं इतनी संख्या के ब्राह्मण लोग काशी में वर्तमान थे, तथा अमुक-अमुक तीर्थों अथवा स्थानों का यह वृत्तान्त किं वा माहात्म्य है।

विश्वेश्वर के मन्दिर के खम्भों में जड़ाऊ पुतरियों का वर्णन एवं ज्ञानवापी के माहात्म्य में कलावती के चित्रपट (तसवीर-नक्शा) वर्णन से उस काल के शिल्प और चित्रविद्या का भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है । यद्यपि यह आजकल के इतिहासों की चाल पर (सन् व तारीख) नहीं लिखा गया है; पर इसे पुराने ढर्रे का इतिहास अवश्य ही मानना पड़ेगा; क्योंकि इस ग्रन्थ के लिखे जाने के युग में क्या जाने किसी का संवत् चलता था अथवा नहीं, यह कौन बता सकता है ।

इस ग्रन्थ में सबसे बड़ी बात यह है कि जैसे शैवलोगों के ''शिवपुराण'', वैष्णवों के ''भागवत'' अथवा ''नारदपाञ्चरात्र'', शाक्तों के ''देवी-भागवत'' इत्यादि ग्रन्थों में केवल ग्रन्थनायक (अर्थात् जिन-जिन के नामानुसार पुराण लिखा गया है, उन्हीं) का माहात्म्य सबसे अधिक लिखा रहता है, वैसे ही यह ग्रन्थ भी भले ही काशी को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर देता है; पर शिव और विष्णु के विषय में वैसा ही लिखता है, जैसा कि ''कूर्मपुराण'' का मत है, किं वा जैसे यह किसी प्राचीन कवि का श्लोक कहता है—

''उभयोः प्रकृतिस्त्वेका प्रत्ययभेदेन भिन्नवद्भाति ।
पश्यति कश्चन मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम्'' ।।

इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि यह ''काशीखण्ड'' कुछ शैवों का ही ग्रन्थ नहीं है, वरन् इस पाञ्चभौतिक शरीर को शुद्ध कर देने वाली पाञ्चदैविक आराधना का स्पष्ट रूप से उपदेश कर देता है ।

जो हो, पर इतना तो मैं अवश्य (ताली ठोंक कर) कह सकता हूँ कि जो आस्तिक हिन्दूलोग काशी में रहते हैं, या जो लोग काशीवास करना चाहते हैं, उन पर अपनी आस्था बनाये रहते हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय सोचा करते हैं, किं वा उत्तमोत्तम उपाख्यानों से सदुपदेश ग्रहण करने की अभिलाषा रखते हैं, अथवा—काशी ही क्यों मुक्तिक्षेत्र है, किं वा मोक्ष ही क्योंकर मिल सकता है, इन सब बातों को जान लेने को उत्सुक हैं, या जिन लोगों को शिव और विष्णु में कुछ भेद दीखता हो, वे लोग कष्ट उठाकर, समय लगाकर, चित्त देकर, पक्षपात छोड़कर, आग्रह-रहित होकर एक बार इस ''काशीखण्ड'' को आद्योपान्त पढ़ जावें—फिर देखें कि मेरी बात अक्षरशः सत्य है वा नहीं ?

इस ग्रन्थ में एक और भी विचित्रता है कि जिस काशी का नाम ''अन्नपूर्णाक्षेत्र'' सर्वत्र प्रसिद्ध है और लोक में यह भी ख्याति है कि ''काशी में अन्नपूर्णा ही सब किसी को भोजन पहुँचा देती हैं, जिससे कोई भूखा नहीं रहने पाता'' । उस जगज्जननी ''अन्नपूर्णा'' महारानी का नाम इस ग्रन्थ में कहीं भी

नहीं दीख पड़ता । यदि भगवान् शिव जी काशी में "विश्वनाथ" रूप से विराजमान हैं, तो भगवती का "अन्नपूर्णा" रूप तो रहना बहुत ही आवश्यक है; क्योंकि अन्न से पूर्ण हुए विना विश्व का काम ही कैसे चल सकता है ? और इस प्राचीन श्लोक में तो दूसरी ही बात कही गई है—

"स्वयं पञ्चाननः पुत्रौ गजाननषडाननौ ।
दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा न चेद् गृहे" ।।

इस ग्रन्थ में अन्नपूर्णाशब्द के स्थान पर भवानी-शब्द का प्रयोग किया गया है । 'मातर्भवानि !' (अ०६१, श्लोक ३७) इत्यादि श्लोक तो मन्त्ररूप से लिखा गया है; पर काशीखण्ड के जोड़ का जो "काशीरहस्य" नामक छोटा ग्रन्थ है, उसमें वेदव्यास जी ने अन्नपूर्णा-शब्द का ही बारम्बार उल्लेख किया है । यथा—

"मातर्विशालाक्षि ! भवानि ! सुन्दरि !
त्वामन्नपूर्णे ? शरणं प्रपद्ये"—(अ० २०, श्लो० १०२)

और भी उदाहरण—

"जय जयान्नपूर्णे ! अन्नप्रदाननिरते !
अन्नार्थिसंग्रहपरे ! अन्धबधिरपङ्गुपतितमहापापि-
शरणागतत्राणनिरते !"—इत्यादि (अ० २०, श्लो० ११०)

इसका मुख्य कारण तो मैं नहीं जान सकता; पर इतना समझ पड़ता है कि बड़े-बड़े ग्रन्थों में किसी विशेष संकेत से कभी कोई शब्द अवश्य छोड़ दिया जाता है, अथवा किसी नियमित शब्द का अवश्यमेव प्रयोग किया जाता है; क्योंकि इन्हीं "व्यास जी" ने जैसे "काशीखण्ड" में अन्नपूर्णा-शब्द का प्रयोग बचा रक्खा है । ऐसे ही "श्रीमद्भागवत" में भी "राधा" शब्द को नहीं आने दिया है । पर "ब्रह्मवैवर्त" इत्यादि पुराणों में "राधा" शब्द की ही भरमार मचा दी है । यह प्रथा केवल व्यास जी की ही नहीं है, आदिकवि महर्षि "वाल्मीकि" ने भी अपने बनाये हुए "रामायण" में "रामचन्द्र" पद का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है; पर प्रत्येक सहस्र श्लोकों पर गायत्री के अक्षरों का क्रमशः प्रयोग किया है । यों ही काव्यों में भी "महाकवि" "श्रीहर्ष" ने "नैषधचरित" में "आनन्द" शब्द, "भारवि" ने "किरातार्जुनीय" में "लक्ष्मी" शब्द एवं "माघ" ने "शिशुपालवध" में "श्री" शब्द का प्रयोग प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोकों में स्पष्टरूप से दिखा दिया है । ऐसे ही तुलसीकृत रामायण की प्रत्येक चौपाई में भी रकार वा मकार प्रायः पाया जाता है । इससे यही बात सूचित होती है कि बड़े-बड़े ग्रन्थकारों की यह प्रणाली ही है । वे लोग या तो किसी एक प्रधान शब्द

का प्रयोग नहीं करेंगे अथवा किसी नियमित शब्द को यथास्थान पर अवश्य ही लाकर धर देवेंगे। अस्तु ''व्यास जी'' ने चाहे जो सोचकर ''अन्नपूर्णादेवी'' का नाम न लिखा हो; पर हमलोगों को आजकल ऐसे कठोर दुर्भिक्ष के काल में एकमात्र ''अन्नपूर्णामाता'' का ही स्मरण और भरोसा रखना चाहिए। कदापि भूलना नहीं चाहिए। एकमन होकर उन्हीं से बारम्बार यह प्रार्थना करनी उचित है कि ''अम्ब ! अब तू इस भूखे भारत-सन्तान पर कृपादृष्टि फेरकर और यहाँ से अन्य देशों की यात्रा को त्याग कर इस (विचारे) दीन देश को अन्न-पूर्ण कर दे''।

इस ''काशीखण्ड'' पर ''यतीन्द्र रामानन्द स्वामी जी'' की संस्कृत-टीका प्राचीन और प्रसिद्ध है एवं वह टीका भी बहुत उत्तम बनी है। इस भाषानुवाद में जहाँ-तहाँ उसी टीका से कथा वा श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। टीका में प्रत्येक अध्यायों के आदि में एक श्लोक लिखकर अध्याय भर की सार-सूचना दी गई है। उसी प्रथा के अनुसार इस अनुवाद में भी प्रत्येक अध्यायों के अन्त में कुछ एक पद्यों से अध्याय भर की कथा का आभास झलकाया गया है और कहीं-कहीं तो बीच में भी उपयुक्त श्लोकों का पद्यानुवाद पाठकों के थोड़ा-सा मनफेर कर लेने के लिये लिख दिया गया है।

सभी पुराणों का प्रादुर्भाव संस्कृत-भाषा में ही हुआ है, इसी कारण से अब इस देश के वे लोग, जो कि संस्कृत पढ़ने का श्रम नहीं उठाते, यहाँ की बहुतेरी पुरानी बातों को, अर्थात् धर्मविषयक, इतिहासविषयक एवं रहन-सहन, मिलन और वर्त्तन (जीवनक्रम) इत्यादि को अच्छी रीति से नहीं जान पाते। इसी का फल यह होता है कि इस देश के व्यवहारों को छोड़कर विदेशीय वर्ताव और चाल-ढाल पर चलने लगते हैं। धीरे-धीरे आजकल यहाँ तक हो गया है कि पुराणों की कथायें गप्प कहाने लगीं; लोग उनके पढ़ने-सुनने में अपना अमूल्य समयरत्न खोने से किसी अच्छे उपन्यास वा (शुकबहत्तरी जैसे) किस्सा कहानी की पुस्तकों को दो-चार दिन नहाना-खाना छोड़कर भी पढ़ डालना उचित समझने लगे। जो हो, पर मेरी तुच्छ समझ में तो जब तक किसी विषय का मर्म नहीं समझ लिया जाता, तब तक कदापि उसका आनन्द नहीं मिल सकता है।

पर हाँ, यदि कोई परिश्रम उठाकर सभी पुराणों की कथाओं को जान लेवे, तो सम्भव है कि उसे इस देश की बहुतेरी प्राचीन रीतियाँ आपसे आप ज्ञात हो जावेंगी। यद्यपि मैंने पुराण बाँचने वाले कुछ एक व्यास लोगों की इच्छा के विरुद्ध इस अनुवाद के लिखने का साहस किया है; क्योंकि उन महात्माओं का यही कथन है कि—''पुराणों में वेद की भी बहुतेरी ऋचायें, किं वा मन्त्र आ जाते हैं, जो केवल अधिकारियों के पढ़ने-सुनने के योग्य होते हैं, वे सब लोगों

के लिए नहीं हैं" । यद्यपि यह बात सर्वथा माननीय है कि, हिन्दी में ग्रन्थ का अनुवाद हो जाने पर केवल हिन्दी जानने वाले भी उन विषयों को पढ़ ले सकते हैं, तथापि इस झगड़े का न्याय (फैसला) "गोस्वामी तुलसीदास जी" ने "अध्यात्मरामायण" का अनुवादरूप अपना जगत्प्रसिद्ध "मानसरामायण" लिखकर निपटा दिया है । फिर यह बात भी बहुत ठीक है कि ईश्वर के स्मरण करने का अधिकार प्रत्येक जन को सब प्रकार से सर्वदैव और सर्वत्र ही समान है, जैसा कि कहा भी है—

"जाति पाति पूछे नहिं कोई ।
हरि को भजै सो हरि का होई" ।।

एक बात और भी है—यदि भक्ति रखने वाले श्रद्धालुजनों से परम गोप्य विषय भी प्रकट कर दिया जाता है, तो मेरे इस अनुवाद के पढ़ने से यदि किसी को कुछ भी लाभ पहुँचा अथवा कोई उपकार ही हो सका, तो मेरे दोषों का प्रायश्चित्त अनायास ही हो जायेगा । काशी के विषय में कथाओं के जानने की इच्छा रखने वाले किं वा काशीवास करने वाले, अथवा बिगड़ैल अधिकारी को ही इससे कुछ भी सहायता मिल सकी, तो मेरा परिश्रम अक्षरशः सफल हो जावेगा—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।

तिस पर (इतने पर) भी यावच्छक्य उक्त दोषों को दूर करने की चेष्टा की गई है । अनुवाद में इसी इच्छा से श्लोकाङ्क भी लगाया गया है कि जो लोग इसे मूल से मिलाकर पढ़ेंगे, उन्हें ये सब बातें यथार्थ रीति से विदित हो जावेंगी ।

इस काशीखण्ड के "महाराष्ट्री", "गुजराती", "तैलंगी" और "बंगला" इत्यादि भारतवर्ष की अवान्तर भाषाओं में गद्य और पद्य में अनेक अनुवाद हो चुके हैं । एक अनुवाद "फारसी" में भी (शायद राजा पटनी-मल्ल का बनाया हुआ) है; पर काशीपुरी की प्रचलित हिन्दी-भाषा में अभी तक कोई पूर्ण अनुवाद मुझे नहीं दीख पड़ा । यों तो अध्यायों की कथामात्र का भावार्थ लेकर एक अनुवाद दोहा, चौपाइयों में ३५ अध्याय तक "जयनारायण जी" का बनाया हुआ कलकत्ते में छपा था; पर वैसे अनुवाद से ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोकों का भाव नहीं समझा जा सकता । हाँ, कथा का कुछ आभास अवश्य ही झलक जा सकता है । बस "हिन्दी" ऐसी प्रधान भाषा में ऐसे अलौकिक ग्रन्थ का अनुवाद नहीं दिखाई पड़ने पर कतिपय सज्जन सुहृदों के अनुरोध से यह अनुवाद शुद्ध हिन्दी (अर्थात् उर्दूरहित) भाषा में मन्दबुद्धि के अनुसार लिखा गया है । इसी कारण से इसमें बहुतेरे दोषों के पड़े रहने की विशेष संभावना है । पर साथ ही यह आशा भी दृढ़ है कि सुधारक लोग अपने कर्त्तव्य में कभी कोई त्रुटि नहीं होने

देंगे और मेरी भूलों-चूकों को अवश्य ही सुधार देने की अपार दया दरसावेंगे; क्योंकि—

"काल सुभाव कर्म बरिआई, भलेउ प्रकृति बस चूक भलाई।
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं, दलि दुख दोष विमल जस देहीं" ।।

फिर इस परम पवित्र श्रीवेदव्यासोक्त "काशीखण्ड" की अनुगामिनी हो जाने से मेरी टूटी-फूटी भी हिन्दी-भाषा अवश्यमेव स्वीकार के योग्य हो जावेगी। जैसा कहा गया है—

"धूमहु तजै सहज करुआई।
अगर प्रसंग सुगंध बसाई" ।। (तु०रा०)

और भी किसी ने यह बहुत ठीक कहा है कि—

"कहा न होत सुसंग ते, देखहु तिल अरु तेल।
मोल तोल सब फिरि गयो, पायो नाम फुलेल" ।।

अन्त में मैं केवल इतना कहकर चुप हो रहता हूँ कि—

"छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।
सुनिहहिं बालवचन मन लाई" ।। (तु०रा०)

इस ग्रन्थ के प्रायः प्रत्येक अध्यायों की कथाएँ अन्य पुराणों से भी बहुत मिलती हैं—जैसे कि लोकों का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में वर्तमान है। सदाचारादि का निरूपण "मनुस्मृति" इत्यादि धर्मशास्त्र एवं "पद्मपुराण" से विशेष मिल जाता है। यों ही काशी के अवान्तर तीर्थ, जैसे कपालमोचन की कथा प्रायः "वामनपुराण" और "नारदीयपुराण" में एवं और भी बहुतेरे पुराणों में समान ही वर्णित है। गङ्गा जी का 'दशहरा" स्तोत्र "नारदीयपुराण में" ज्यों का त्यों है; फिर "ब्रह्माण्डपुराण के उपसंहार पाद में" और "स्कन्दमहापुराण के प्रभासखण्ड में", शैवपुर=अविमुक्तक्षेत्र का वर्णन एक-सा है। इसी रीति पर भगवान् विश्वेश्वर को कौन कहे, काशी के अनेकानेक तीर्थ और शिवलिङ्गों का माहात्म्य प्रायः पूर्वोक्त तथा अन्यान्य पुराणादिकों से बहुत कुछ मिल जाता है। यदि परिश्रम उठाया जावे, तो यथेष्ट सम्भव है कि काशीखण्ड के प्रत्येक अध्यायों की कथाओं का पुराणान्तर से मिलान किया जा सकता है।

एक बात और भी निवेदनीय है कि मैंने यह अनुवाद अपने घर की (सं० १६७६, ज्येष्ठ कृष्णा० ११ की) लिखित पुस्तक के पाठानुसार लिखा है; पर उस प्राचीन काशीखण्ड में श्लोकाङ्क कहीं भी नहीं हैं। अतएव अङ्क-गणना बम्बई के "गणपतिकृष्णा जी" द्वारा छापे हुए ग्रन्थ से ली गई है। इससे यदि कहीं कोई श्लोक दूसरी पुस्तकों से घट-बढ़ जावे तो पाठकगण उसे ठीक करके सुधार

लेवें; क्योंकि कुछ पाठभेद हो जाना कोई असंभव नहीं है;, पर प्रयत्न तो ऐसा ही किया गया है, जिसमे कोई भ्रम नहीं पड़ने पावे ।

अब एक बहुत आवश्यक बात यह है कि इस काशीखण्ड में जिस काशी की महिमा विस्तारपूर्वक वर्णन की गई है, उसका दूसरा नाम "वाराणसी" है और अपभ्रंश अब "बनारस" प्रसिद्ध है । इसी रीति पर समय के फेर-फार से एवं विधर्मी यवनराजादिकों के अत्याचार से इस ग्रन्थ के अनुसार बहुतेरे देवस्थान और तीर्थादिकों में कुछ उलट-पलट होकर प्राय: अन्तर पड़ गया है । औरों की बात तो दूर जाने दीजिए, स्वयं भगवान् विश्वेश्वर ही का मन्दिर इस ग्रन्थ के अनुसार ज्ञानवापी के उत्तर ओर था । पर अब वह स्थान जहाँ पर भगवान् विराजमान हैं, ज्ञानवापी से दक्षिण-दिशा में वर्तमान है ।

इसी रीति से जहाँ तक स्थान के परिवर्तन अथवा अन्तर की व्यवस्था ज्ञात हो सकी है, उसका कुछ थोड़ा-सा वर्णन कहीं-कहीं अध्यायों के अन्त में वा कथा के अन्त में दे दिया गया है; पर इस विषय का सविस्तर वृत्तान्त तथा काशी की वर्तमान अवस्था एवं देवस्थानों के अतिरिक्त दर्शनीय अन्य विषयों का संग्रह और उनकी छान-बीन हो रही है । आशा है कि आजकल के नव्य और प्राचीन दोनों शैली के लोगों के उपयुक्त एक छोटा-सा ग्रन्थ बन जावेगा और उसी में "उत्तर-काशी" अथवा "गुप्तकाशी" इत्यादि के विषय में भी जो कुछ वक्तव्य है, लिखा जावेगा । इस ग्रन्थ से उन सब काशियों का कोई सम्बन्ध नहीं है ।

अन्त में केवल यही निवेदन है कि इस "काशीखण्ड" का तत्त्व निचोड़-कर किसी प्राचीन विद्वान् ने यह बहुत ठीक लिख रक्खा है, यथा—

"असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम् ।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शिवपूजनम्" ।।

इत्यलं पल्लवितेनेति शम् ।

निवेदक
त्रिपाठिनारायणपतिशर्मा

श्रीकाशी, गंगासप्तमी
भानुमती सं० १९६४

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

प्रथम संस्करण में प्रकाशित

काशीयात्रा

विश्वेश्वरं माधवढुण्डिराजौ श्रीदण्डपाणिं सह भैरवेण ।
काशीं गुहां देवधुनीं ग्रहेशं वन्दे भवानीं मणिकर्णिकाञ्च ॥१॥

श्रीकाशीखण्ड में काशी की प्रायः सभी यात्राएँ कही गयी हैं; पर इन यात्राओं का विशेषरूप से वर्णन अन्य-अन्य पुराणादिकों में भी पाया जाता है। यद्यपि काशी के यात्राविषय पर अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ बने और छपे हैं; पर सभी ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण नहीं दीख पड़ते। इसीलिए यह एक छोटी-सी यात्राविधि संक्षेपरूप से लिख दी गई है। इसमें यात्राभिलाषी लोगों को बहुत ढूँढ़े विना ही सामान्य विधि प्राप्त हो जायेगी। जो लोग अन्य देश से काशी की यात्रा करने के लिये आते हैं, वे स्वयं यात्रा के विषयों में अनभिज्ञ (अनजान) होते हैं और यात्रा कराने वाले लोग भी प्रायः अपठित एवं आलसी होने के कारण शुद्ध रीति से यात्रा नहीं करा पाते। इसलिये इस लघु पुस्तिका से यदि उन लोगों को कुछ भी सहायता मिल सके, तो इसका लिखा जाना सफल होगा।

श्रीकाशीखण्ड के सौवें अध्याय में यात्राओं की विधि विहित है, (देखिये) यथा—

''न वन्ध्यं दिवसं कुर्याद्विना यात्रां क्वचित्कृती''।

अर्थात् पुण्यवान् जन काशी में एक दिन भी विना यात्रा का व्यर्थ न होने देवे। अतएव काशीवास करने वालों को प्रतिदिन यात्रा करनी चाहिए; क्योंकि काशीखण्ड में ही यह भी लिखा है कि—

''यस्य वन्ध्यं दिनं यातं काश्यां निवसतः सतः ।
निराशाः पितरस्तस्य तस्मिन्नेव दिनेऽभवन्''॥

अर्थ—काशीवास करने वाले जिस सज्जन का दिन व्यर्थ बीत जाता है, उस दिन उसके पितरगण निराश हो जाते हैं। (इसका विस्तार लिखने की आवश्यकता नहीं है, काशीखण्ड १००वाँ अध्याय देख लीजिये)।

अब विदेशी यात्रियों को काशीयात्रा करने के लिए तीर्थविधि के अनुसार अर्थात् जब यात्रा करनी हो, तब अपने घर में गणेशादिपूजन और घृतश्राद्धादिक

कर श्राद्धशेष घृत प्राशनपूर्वक कार्पटिक वेश धारण करके यात्रा के लिये अपना ग्राम गोंठकर प्रस्थान करना चाहिए। फिर तीर्थ में पहुँचकर—उपवास, मुण्डन, स्नान, श्राद्ध, दान एवं अवान्तर तीर्थयात्राओं को करना चाहिए। यात्राओं में यान (सवारी), उपानह, छत्र (जूता, छाता) इत्यादि का यथाशक्ति परित्याग ही करना उचित है।

(स्त्रियों को मुण्डन नहीं कराना चाहिए; क्योंकि उन लोगों को केवल तीन अङ्गुल चोटी का अग्रभाग ही कटा देने की विधि है)।

इन बातों को प्राय: यात्रीलोग जानते हैं, इससे इसका विस्तार नहीं लिखा गया।

जो कोई अपने इष्ट-मित्र अथवा बन्धु-बान्धवों की कुशमूर्ति बनाकर तीर्थ में नहवा देता है, उसे भी अष्टमांश फल होता है। स्वयं काशीवास करने की अपेक्षा किसी कर्मनिष्ठ ब्राह्मण को, वास कराने में और भी अधिक पुण्य होता है—जैसा "काशीरहस्य" का वचन है—

"वस्तुः कोटिगुणं पुण्यं काश्यां वासयितुर्ध्रुवम्।
आत्मानं तारयेद्वस्ता तौ द्वौ वासयिता यतः" ॥

अर्थ—काशी में स्वयं वास करनेवाले से वास करानेवाले को करोड़गुना पुण्य अधिक होता है; क्योंकि वास करनेवाला तो केवल अपने ही को तारता है; पर वासयिता अपने को तथा जिसे वास कराता है उसे—दोनों ही का उद्धार कर देता है (यही बात यात्रा के विषय में भी समझनी चाहिए)।

काशी से मृत्तिका भी बाहर नहीं ले जानी चाहिए; क्योंकि "काशीरहस्य" में उसका भी निषेध लिखा है—

"काशीतो मृत्तिकाऽन्यत्र नेतुमिच्छति यः पुमान्।
कुलं वै पतितं तस्य रौरवे चाऽतिभैरवे" ॥

अर्थ—जो कोई काशी से मिट्टी (भी) बाहर ले जाना चाहता है, उसका कुल भयंकर रौरव नामक नरक में गिरता है। इस प्रकार के बहुतेरे वचन "विष्णु-धर्मोत्तरपुराण" एवं "सौभरीसंहिता" इत्यादि में भी पाये जाते हैं।

यात्री लोगों को अपना नित्य नियम समाप्त करके यथाविधि यात्रा करनी चाहिए। यात्रा के समय में मौन होकर मन ही मन अपने इष्टदेव का नाम स्मरण करते रहना चाहिए, अथवा काशीवासी लोगों की प्रथा के अनुसार एक साथ गोल बाँध उच्चस्वर से—

"हर ! हर ! महादेव ! शम्भो ! काशी विश्वनाथ गङ्गे" !

इस वाक्य को कहते रहना चाहिए; क्योंकि अकेला यात्री तो सुखपूर्वक मौन रह सकता है; पर जब भीड़-भाड़ में यात्रा करनी पड़ती है, तब चुपके रहना कठिन हो जाता है। अतएव उक्त वाक्य को काशीवासी यात्रीगण मन्त्ररूप से उच्चस्वर में कहते रहते हैं। यह प्राचीन रीति है।

यात्रा में जहाँ-जहाँ स्नान, मार्जन, तर्पण, देवपूजन और दान इत्यादि विहित हैं, वहाँ-वहाँ यात्रियों को अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें अवश्यमेव करना चाहिए।

कतिपय विशिष्ट यात्राओं का वर्णन—

काशीखण्ड में कहा है कि गङ्गा-विश्वनाथ की यात्रा प्रतिदिन करनी चाहिए, यथा—

"यात्राद्वयं प्रयत्नेन कर्त्तव्यं प्रतिवासरम्।
आदौ स्वर्गतरङ्गिण्यास्ततो विश्वेशितुर्ध्रुवम्"॥

(का०ख० १००अ०)

अर्थ—प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक दो यात्रायें अवश्य करनी चाहिए। पहले तो गङ्गा जी (में स्नान करे) और तदनन्तर विश्वेश्वर (के दर्शन-पूजन इत्यादि)। अतएव इसे प्रधान यात्रा अथवा नित्यकर्म समझना चाहिए; क्योंकि "काशी-रहस्य" में भी ऐसा ही वचन पाया जाता है। यथा—

"चक्रपुष्करिणीतीर्थे स्नातव्यं प्रतिवासरम्।
पत्रैः पुष्पैः फलैस्तोयैः पूज्यो विश्वेश्वरः सदा"॥

अर्थ—प्रतिदिन मणिकर्णिका तीर्थ में स्नान करना चाहिए और सदैव फल, फूल, जल एवं (बिल्व) दल से विश्वनाथ की पूजा करनी चाहिए। इस यात्रा के करने से जो फल प्राप्त होता है, अथवा जिसे इसके करने की आवश्यकता है, वह बात भी "सनत्कुमारसंहिता" के इस वचन से स्पष्ट हो जावेगी। यथा—

"स्नात्वा मुमुक्षुर्मणिकर्णिकायां मृडानि गङ्गाहृदये त्वदास्ये।
विश्वेश्वरं पश्यति योऽपि कोऽपि शिवत्वमायाति पुनर्न जन्म"॥

अर्थ—जो कोई मोक्षार्थी श्रीगङ्गा जी के हृदयस्वरूप और तुम्हारे मुखरूप (गौरीमुख) श्रीमणिकर्णिकातीर्थ में नहाकर भगवान् विश्वेश्वर का दर्शन करता है, वह शिवरूप हो जाता है, हे पार्वति! फिर उसका जन्म नहीं होता। यही यात्रा "काशीखण्ड" के अनुसार "एकायतनयात्रा" भी कही गई है। यथा—

"दृश्यो विश्वेश्वरो नित्यं स्नातव्या मणिकर्णिका" ।

अर्थ—नित्य ही विश्वनाथ का दर्शन और मणिकर्णिका का स्नान करना चाहिए । **यद्यपि मणिकर्णिकाकुण्ड** गङ्गा जी के **पश्चिम तट पर विराजमान है और उसमें ब्रह्मनाल** से द्रव भी होता रहता है; **पर गङ्गा जी में उस तीर्थ के बहुत कुछ भाग मिल जाने से वह मणिकर्णिकाघाट कहा जाता है, इसीलिए "सनत्कुमारसंहिता"** के श्लोक में—**"गङ्गाह्रदये" विशेषण भी दिया है । इससे मणिकर्णिका में स्नान करने के जो वचन मिले हैं, उनमें गङ्गास्नान का विरोध नहीं समझना चाहिए, वरन् इसी प्रकार से दशाश्वमेधघाट में रुद्र-सरोवर अथवा ब्रह्मकुण्ड एवं पञ्चगङ्गाघाट में धर्मह्रद भी गङ्गा ही में मिल गया है** । उसका पृथक् कोई चिह्न नहीं है । मणिकर्णिका में प्रातःकाल की अपेक्षा मध्याह्नकाल में स्नान का विशेष माहात्म्य पाया जाता है । इसके उदाहरण "काशीखण्ड" में बहुत हैं तथा "लिङ्गपुराण" में ऐसा कहा है—

"प्रातः पञ्चनदे स्नात्वा मध्याह्ने मणिकर्णिकाम्" ।

अर्थ—प्रातःकाल पञ्चगङ्गा और दोपहर को मणिकर्णिका में स्नान करे । यों ही "शिवरहस्य" में भी यही बात मिलती है, यथा—

"प्रातर्दशाश्वमेधे च मध्याह्ने मणिकर्णिकाम्" ।

अर्थ—प्रातःकाल दशाश्वमेध एवं मध्याह्न में मणिकर्णिका का स्नान करना चाहिए । **केवल मणिकर्णिका के स्नान का नाम एकतीर्थी यात्रा, पञ्चगङ्गा और मणिकर्णिका के स्नान का नाम द्वितीर्थी यात्रा एवं दशाश्वमेध और मणिकर्णिका एवं पञ्चगङ्गा के स्नान का नाम त्रितीर्थी यात्रा कही गई है,** इसका प्रमाण "लिङ्गपुराण" में आया है—

"काश्यां तीर्थत्रयी श्रेष्ठा नित्यं सेव्या प्रयत्नतः ।
आदौ स्नात्वा प्रयागे तु पञ्चगङ्गा ततः परम् ।।
ततः पुष्करिणीतीर्थे स्नात्वा मुच्येत बन्धनात्"[१] ।।

अर्थ—काशी में तीन तीर्थ (घाट) प्रधान हैं, पहला प्रयाग (दशाश्वमेध), फिर पञ्चगङ्गा, तदनन्तर मणिकर्णिका । इन सबों में स्नान करने से मनुष्य भव-बन्धन से छूट जाता है । (का०ख०अ० ६१ में ४३ से ४६ श्लो० तक) ।

---

१. इन तीनों प्रधान घाटों के चित्र (फोटो) भी काशीखण्ड के अध्यायों की अङ्क-सूचना और तीर्थसीमा के परिमाण वचनों के सहित इसी ग्रन्थ में लगे हैं—(उन्हें देख लीजिए) ।

यों ही चतुस्तीर्थी यात्रा भी "काशीदर्पण" में काशीखण्ड के ही अनुसार लिखी गई है, यथा—अ० ७५, श्लो० ४७ से ५५ तक—

"पुण्ये पिलिपिलातीर्थे[१] त्रिसरित्परिसेविते ।
स्नात्वा गृह्योक्तविधिना तर्पणीयान् प्रतर्प्य च ।।
ततः पञ्चह्रदे स्नात्वा मणिकर्णीह्रदे ततः ।
ततो [२]ज्ञानोदवाप्यां तु स्नात्वा विश्वेशमर्चयेत् ।।
प्रायश्चित्तमिदं प्रोक्तं महापापविशोधनम्" ।।

अर्थ—(गंगा, यमुना, सरस्वती अथवा नर्मदा) इन तीन मिली हुई नदियों से सेवित पुण्यमय पिलपिलातीर्थ (त्रिलोचनघाट) में गृह्यसूत्र—इत्यादि में बताई हुई विधि के अनुसार स्नान एवं पितरगण का तर्पण कर फिर पञ्चगङ्गा और मणिकर्णिका में नहावे । तदनन्तर ज्ञानवापी में स्नान करके श्रीविश्वनाथ जी की पूजा करें । इस (यात्रा) को बड़े-बड़े पापों को शोधनेवाला प्रायश्चित्त कहा गया है ।

इसी प्रकार से पाञ्चभौतिक शरीर को शुद्ध करने के लिए पञ्चतीर्थी यात्रा भी काशीखण्ड के ८४ अध्याय में १०७-११४ श्लोक तक कही गई है; यथा—

"प्रथमं चासिसम्भेदं तीर्थानां प्रवरं परम् ।
ततो दशाश्वमेधाख्यं सर्वतीर्थनिषेवितम् ।।
ततः पादोदकं तीर्थमादिकेशवसन्निधौ ।
ततः पञ्चनदः पुण्यः स्नानमात्रादघौघहृत् ।।
एतेषामपि तीर्थानां चतुर्णामपि सत्तमम् ।
पञ्चमं मणिकर्णाख्यं मनोवाक्कायशुद्धिदम् ।।
पञ्चतीर्थ्यां नरः स्नात्वा न देहं पाञ्चभौतिकम् ।
गृह्णाति जातुचित्काश्यां पञ्चास्यो नाभिजायते"[३] ।।

अर्थ—प्रथम तो समस्त तीर्थों में परम श्रेष्ठ असिसंगम है, तब सब तीर्थों से सुसेवित दशाश्वमेध है । फिर आदिकेशव जी (वरनासंगम) के पास ही में

---

१. नाम्नि ।
२. "ततो विश्वेशमभ्यर्च्य प्राप्नोति सुकृतं महत्" काशीखण्ड में यही पाठ है—यहाँ पर पाठान्तर ही स्वीकृत और अपेक्षित है ।
३. आज भी यह 'पञ्चतीर्थी' यात्रा पर्याप्त प्रचलित है । वैशाख, कार्तिक और माघ मास में विशेषरूप से की जाती है । श्रद्धालु काशीवासी जीवन में 'पञ्चतीर्थी' अवश्य करते हैं । —सम्पादक

पादोदक तीर्थ है, तदनन्तर स्नानमात्र से समस्त पापपुञ्जों का हरण करने वाला पवित्र पञ्चनद (पञ्चगङ्गा) तीर्थ है । इन चारों ही तीर्थों से बहुत उत्तम पाँचवाँ (पञ्चस्वरूप) मणिकर्णिकातीर्थ है, जो मन, वचन और शरीर को भी शुद्ध कर देता है । मनुष्य काशी के इन पाँच तीर्थों में नहा लेने से फिर कभी पञ्चभूत-रचित देह को नहीं ग्रहण करता, यदि (कुछ) होता है, तो साक्षात् पञ्चमुख शिव ही बन जाता है । (यह यात्रा काशी में बहुत ही प्रचलित है, प्रायः पर्वों में इसे बहुत लोग नौका पर चढ़कर करते हैं ।) इसी यात्रा में गौरीकुण्ड, केदारघाट और पिलिपिलातीर्थ (त्रिलोचनघाट) को भी मिला देवे, तो यही पञ्चतीर्थी से सप्ततीर्थी यात्रा हो जाती है । इस रीति से यह एकतीर्थी से लेकर सप्ततीर्थी-पर्यन्त यात्राएँ हुईं ।

काशी की आयतन यात्राएँ—

इनकी विधि यह है कि, कहीं भी गङ्गा इत्यादि तीर्थ में स्नान करके भगवान् विश्वेश्वर का दर्शन-पूजन कर ले, तो उसका नाम **एकायतन यात्रा है** । जैसा कि पूर्व में सप्रमाण लिखा गया है । इसीलिए ''नन्दिपुराणोक्त'' **द्विरायतनयात्रा** की यह विधि है, यथा—

> **''मणिकर्ण्यां नरः स्नात्वा मणिकर्णीशमर्चयेत् ।**
> **ततो वाप्यां नरः स्नात्वा विश्वेशं पूजयेत्तु यः ।।**
> **सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते''[१] ।।**

अर्थ—मणिकर्णिका में स्नान कर जो नर मणिकर्णिकेश्वर का पूजन करके ज्ञानवापी में नहाकर विश्वेश्वर की पूजा करता है, वह मनुष्य ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । इसी भाँति **त्र्यायतनयात्रा** भी ''लिङ्गपुराण'' में कही गई है—

> **''अविमुक्तञ्च स्वर्लीनं तथा मध्यमकं पदम् ।**
> **एतल्लिङ्गत्रयं देवि ! दृष्ट्वा पापानि नङ्क्ष्यति''[२] ।।**

अर्थ—हे देवि ! अविमुक्तेश्वर, स्वर्लीनेश्वर और मध्यमेश्वर—इन तीनों ही लिङ्गों के दर्शन से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं । यों ही **चतुरायतन एवं पञ्चायतन यात्रा** भी उक्त ''लिङ्गपुराण'' ही में पाई जाती है, यथा—

> **''शैलेशं सङ्गमेशं च स्वर्लीनं मध्यमेश्वरम् ।**
> **दृष्ट्वा न जायते मर्त्यः संसारे दुःखसागरे''[३] ।।**

१-३. इन सब लिङ्गों के स्थानादि का पता चतुर्दशायतन यात्रा की विधि में देखना चाहिए, जो चतुर्दशी के प्रकरण में लिखी गई है ।

अर्थ—शैलेश्वर, सङ्गमेश्वर, स्वर्लीनेश्वर और मध्यमेश्वर—इन (चारों लिङ्गों) के दर्शन कर लेने से मनुष्य दुःख के सागररूप संसार में (फिर) नहीं उत्पन्न होता । **पञ्चायतन यात्रा** यथा—

"कृत्तिवासो मध्यमेशः ओङ्कारश्च कपर्दिकः ।
विश्वेश्वर इति ज्ञेयं पञ्चायतनमुत्तमम्"[१] ।।

अर्थ—कृत्तिवासेश्वर, मध्यमेश्वर, ओङ्कारेश्वर, कपर्दीश्वर और विश्वेश्वर–इन्हीं को उत्तम पञ्चायतन समझना चाहिए । इसी **पञ्चायतन में केदारेश्वर और त्रिलोचनेश्वर** को मिला देने से **सप्तायतन यात्रा** हो जाती है, जैसा कि सप्त-तीर्थों के विषय में कहा जा चुका है ।

बहुतेरी यात्राओं के लिए तिथि, वार इत्यादि के भी नियम बताये गये हैं । यथाक्रम वे आगे लिखे जावेंगे । पर यात्रार्थी लोगों को उचित है कि जभी श्रद्धा होवे, तभी सब यात्राओं को यथाशक्ति कर डालें । हाँ, पर्व इत्यादि पर लिखित यात्राओं के करने से अवश्य विशेष पुण्यलाभ होता है; पर इन उक्त पञ्चतीर्थी अथवा पञ्चायतन इत्यादि यात्राओं के लिए तिथ्यादि के कोई विशेष नियम नहीं कहे हैं । अतएव इन सबों को लोग प्रायः सर्वदैव करते रहते हैं ।

अब वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार एवं नक्षत्र-योगादिक की यात्राएँ यथाक्रम लिखी जाती हैं ।

इन यात्राओं में पहले वार्षिक यात्राएँ चैत्रमास के शुक्लपक्ष वर्षारम्भ दिन से क्रमपूर्वक लिखी जाती हैं । (ये यात्राएँ जो लिखी जाती हैं, प्रायः दिन में स्नानोत्तर की जाती हैं, पर फाल्गुन और श्रावण इत्यादि मासों में प्रायः विश्वेश्वरादि देवस्थानों में वार्षिक शृङ्गारोत्सव भी होता है, जिसमें प्रायः रात ही में दर्शन किया जाता है; पर वे सब शृङ्गारोत्सव शिष्टाचार के अनुसार होते हैं, अतएव उनका वर्णन इस वार्षिक-यात्रा में यद्यपि छोड़ दिया गया है; पर पृथक् करके थोड़ा-सा लिख भी दिया गया है । अन्नपूर्णा-मन्दिर का एक विशेष-शृङ्गार होता है कार्तिक-कृष्ण-चतुर्दशी से कार्तिक-शुक्ल-प्रतिपदा तक । इसमें अन्नपूर्णा-मन्दिर में सीढ़ी से ऊपर जाकर दर्शन करना होता है । यह दर्शन भी शिष्टाचारी ही है ।)—सम्पादक

---

१. इन सब लिङ्गों के स्थानादि का पता चतुर्दशायतन यात्रा की विधि में देखना चाहिए, जो चतुर्दशी के प्रकरण में लिखी गई है ।

देवयात्रा-नाम	स्थानादि (पता)	मास-तिथि	पुराण-प्रमाण
श्री दुर्गादेवी	दुर्गाकुण्ड	चैत्र-शु०१ से ९ तक	का०ख० ७२ अ० ८३ श्लो०
मङ्गलागौरी	लक्ष्मणबाला घाट पर	चैत्र-शु० ३	का०ख० ४९ अ० ८० श्लो०
चित्रघण्टा	चौक से पूर्व, चन्दू की गली में	चैत्र-शु० ३	का०ख० ७० अ० ४१ श्लो०
पार्वतीश्वर	त्रिलोचन के समीप	चैत्र-शु० ३	का०ख० ९० अ० २२ श्लो०
अन्नपूर्णादेवी	विश्वनाथ के पास प्रसिद्ध	चैत्र-शु० ८	का०ख० ६१ अ० १२६ श्लो० एवं शिवपुराण खण्ड ६, अ० १
महामुण्डा	जैतपुरा के समीप	चै० शु० ८	का०ख० ६६ अ० १६ श्लो०
मध्यमेश्वर	नेसगंज (कंपनी-बाग)	चै० शु० ८	का०ख० ९७ अ० १५० श्लो०
सुभद्रादेवी	चन्द्रकूप के समीप	चै० शु० ८	नन्दिपुराण (अप्रचलित)
राम (जन्म)	रामघाट	चै०शु० (राम)९	का०ख० ८४ अ० ६९ श्लो०
कामेश्वर	मछोदरी के पास ही गली में	चैत्र-शु० १३ (शनिप्रदोष)	का०ख० ८५ अ० ७५ श्लो० तथा का० ख० ९७ अ० ९७ श्लो०
पशुपतीश्वर	इसी नाम का महाल है,	चैत्र-शु० १४	का०ख० ६१ अ० १०९ श्लो०
कृत्तिवासेश्वर	हरतीरथ-वृद्धकाल पर	चैत्री पूर्णिमा	का०ख० ६८ अ० ५१ श्लो० एवं शिव-पुराण–खण्ड ५, अ० ५५
चन्द्रेश्वर	सिद्धेसरी–चन्द्रकूप	चैत्री पूर्णिमा	का०ख० १४ अ० ६१ श्लो०
पञ्चमुद्रादेवी	पञ्चगङ्गाघाट	वैशाख-कृ० ८	नन्दिपुराण (अप्रसिद्ध)
त्रिलोचन	त्रिलोचनघाट	वैशाख-शु० (अक्षय) ३	का०ख० ७५ अ० ६७ श्लो०
परशुरामेश्वर	नन्दनसाहु	वैशाख-शु० १४	का०ख० ८३ अ० ७५-७६ श्लो०

ओङ्कारेश्वर	मछोदरी के उत्तर महाल हुक्कालेसन प्रसिद्ध है	वैशाख-शु० १४	का०ख० ७४ अ० १०० श्लो० (कूर्म-पुराण, ब्राह्मीसंहिता अ० ३१ शिवपु० लिङ्गपुराणादि)
नृसिंह	प्रह्लादघाट	वैशाख-शु०१४	का०ख० ६१ अ० वाशिष्ठाचार नृसिंह-लीला भी होती है।
ज्येष्ठविनायक	काशीपुरा (कर्णघण्टा)	ज्येष्ठ-शु० ४	का०ख० ५७ अ० १०३ श्लो० में चतुर्दशी कही है।
ज्येष्ठागौरी	काशीपुरा (कर्णघण्टा)	ज्येष्ठ-शु० ८	का०ख० ६३ अ० १४ श्लो०
दशाश्वमेधेश्वर	दशाश्वमेधघाट	ज्ये० शु० १ से १० तक	का०ख० ५२ अ० ९२ श्लो० (शिव-पुराण-खण्ड ६ अ०९)
गङ्गेश्वर	ज्ञानवापी के पूर्व पीपरतर	ज्ये० शु० १०	का०ख० ९१ अ० ५ श्लो०
ज्येष्ठेश्वर	काशीपुरा (कर्णघण्टा)	ज्ये० शु० १४	का०ख० ६३ अ० ९ श्लो०
रथयात्रा	राजातालाब–प्राचीन वाराणसी नगर से बाद रथयात्रा चौमुहानी के पश्चिम	आषाढ़शुक्ल २ आषाढ़-शुक्ल २-४ तक	
आषाढ़ीश्वर	कासीपुरा, राजा बेंतिया के घेरे में, शिवालय के पीछे	आषा० शु० १४ अथवा १५	का०ख० ५५ अ० २९ श्लो०
व्यासेश्वर	करनघंटा पर	आषाढ़ी पूर्णिमा	का०ख० ९५ अ० ७४ श्लो०
वृद्धकाल	दारानगर में प्रसिद्ध	श्रावण के प्रति रविवार को	का०ख० २४ अ० में कथा है।
केदारेश्वर	केदारघाट	श्रावण के प्रति सोमवार को	का०ख० ७७ अ० एवं शिवरहस्य में उक्त दिन की यात्रा है।
सारनाथ	प्रसिद्ध	,, ,,	शिष्टाचार (मेला)
दुर्गा-देवी	दुर्गाकुण्ड	श्रावण के प्रति मंगलादिक वार	देवीभागवत तथा शिष्टा-चार

			इसके अतिरिक्त प्रत्येक मंगलवार को भी दर्शन करने से अरिष्ट-शान्ति होती है।
नागयात्रा (वा) वासुकीश्वर	नागकूँआ अथवा कर्कोटक वापी	श्रा०शु० ५ (नागपंचैया)	का०ख० ६६ अ० १० श्लो० तथा वाराहपुराण अ० २४, भविष्यपुराण अ०३०। ३४ और शिवरहस्य इत्यादि
(आदि) महादेव	त्रिलोचन के पास	श्रावण-शु०१४	का०ख० ६९ अ० ३५ श्लो० (पवित्रा-रोपण)
विशालाक्षी	धरमकूप के समीप	भाद्रकृ० ३	का०ख० ७० अ० ९ श्लो०
आग्नीध्रेश्वर	इसरगंगी पर प्रसिद्ध (जागेश्वर)	भाद्रकृ० ६	शिष्टाचार
कृष्ण (जन्म)	आदिकेशव से बिन्दु-माधव लों (तक) (गोपालमन्दिर इत्यादि)	भाद्रकृ० ८ जन्माष्टमी	का०ख० ६१ अ० में इन्हें विष्णुतीर्थ कहा गया है, शिष्टाचार।
ऋणमोचन	हनुमानफाटक	भाद्रकृ० १५	शिष्टाचार
मङ्गलागौरी	लक्ष्मणबालाघाट	भाद्रशु० ३	शिष्टाचार
गणेश	बड़े गनेस	भाद्रशु० चौथ (तथा भाद्रकृ० चौथ और माघकृष्ण चौथ को दर्शन करते हैं।	शिवरहस्य तथा गणेश-पुराण
लोलार्क	भदैनी में प्रसिद्ध	भाद्रशु० ६	का०ख० ४६ अ० में अगहन मास कहा है। शिष्टाचार
महालक्ष्मी	लक्ष्मीकुण्ड	भाद्रशु० ८ से आश्विनकृ० ८ तक	का०ख० ७० अ० ६७ श्लो० एवं भवि-ष्योत्तरपुराण
कुलस्तम्भ	लाटभैरो पर	भाद्रशु० १५	का०ख० १०० अ० ९९ श्लो०
ललितादेवी	ललिताघाट	आश्विनकृ० २	का०ख० ७० अ० २० श्लो०
लक्ष्मीगोपाल	लक्ष्मीकुण्ड से उत्तर घीहट्टा में	आश्वि०कृ० ८	वायुपुराण की लक्ष्मी-संहिता में वर्णन है (सोरहिया में मेला—त्रिपाठी भवन में)

मातृदेवी	लल्लापुरा-माताकुण्ड	आश्वि०कृ० ९	का०ख० ९७ अ० २४५-४६ श्लो०
पित्रीश्वर	पितरकुण्डा	पितृपक्ष में पिता की मरण-तिथि को	का०ख० ९७ अ० २३५ श्लोक (शिष्टाचार
विश्वभुजागौरी	धरमकूप के पास	आश्वि०शु०१ से ९ तक नवरात्रि भर	का०ख० ७० अ० २३ श्लो० (शुक्ला तृतीया की कथा है) तथा का०ख० ८० अ० ३० श्लो०
दुर्गादेवी	दुर्गाकुण्ड	आश्वि० शु० १ से ९ तक नवरात्रभर	का०ख० ७२ अ० ८७ श्लोक
नवदुर्गा[1]	भिन्न-भिन्न ९ स्थान	,,	देवीभा० और वाराहपुराणादि का
चतुष्षठी[2]	चौंसठ्ठीघाट और कुछ स्थान भिन्न-भिन्न हैं	,,	का०ख० ४५ अ० ४८ श्लो०
हनुमान्	हनुमानघाट (बड़े हनुमान जी) इत्यादि	कार्तिककृ० १४	शिष्टाचार
यमेश्वर	जमघाट	कार्तिकशु० २	का०ख० ५१ अ० ११ श्लो० (पर यमद्वितीया नहीं कही गई है)
धर्मेश्वर	धरमकूप पर	कार्तिकशु० ८	का०ख० ७८ अ० ५५ श्लो०
बिन्दुमाधव	पञ्चगङ्गाघाट	कार्तिकशु० ११ से १५ पर्यन्त (भीष्मपञ्चक भर)	का०ख० ५९ और ६० अ० एवं पद्मपुराणादि
विश्वेश्वर	प्रसिद्ध (विश्वनाथमंदिर)	कार्तिकशु० १४ (वैकुण्ठचतुर्दशी)	का०ख० २१ अ० १०९ श्लो०
स्वामिकार्तिक	केदारघाट पर	कार्तिकी पूर्णिमा	का०ख० ६१ अ० १२० श्लो०
काशी-महायात्रा	काशी भर सर्वत्र	कार्तिकी पूर्णिमा	का०ख० २१ अ० १०९ श्लो०
कालभैरव	प्रसिद्ध भैरवनाथ	अगहनकृ० ८	का०ख० ३१ अ० १४६ श्लो०

---

१. नवमी की यात्रा देखिये।

२. चैत्रकृ० १ की यात्रा देखिये।

मालतीश्वर	वृद्धकाल के घेरे में	अगहनशु० ६	का०ख० ९७ अ० १३५ श्लो०
कालमाधव	भैरवनाथ के पास	अगहनशु० ११	का०ख० ६१ अ० १८७ श्लो०
पादोदकतीर्थ	वरनासंगम के पास	अग०शु० ११ से पूर्णिमा १५ तक	नन्दिपुराण
कपर्दीश्वर	पिशाचमोचन	अगहनशु० १४	का०ख० ५४ अ० ७७ श्लो० वामनपु० ३ अ० एवं सनत्कुमारसंहिता इत्यादि (लोटाभंटा मेला)
गोपीगोविन्द	लालघाट	अगहनशु० १५	का०ख० ६१ अ० १९ श्लो०
नगरप्रदक्षिणा	(वरना का) चौकाघाट	अगहनशु० १५	काशीरहस्य
उत्तरार्क	अलईपुर	पौष के रविवार	का०ख० ४७ अ० ५७ श्लो० (यह बकरियाकुण्ड की यात्रा लुप्त होकर जेठ के रविवार को गाजीमीयाँ के व्याह के नाम से प्रसिद्ध है)
विधीश्वर	अगस्तकुण्डा के पास	पौष की सप्तमी	नन्दिपुराण (अप्रसिद्ध)
नरनारायण	महथाघाट	पौषशु० १५	का०ख० ६१ अ० १६ श्लो०
गणेश	बड़े गनेश प्रसिद्ध	माघकृ० ४	का०ख० १०० अ० ७३-७४ श्लो०
ढुण्डिराज	विश्वेश्वर के पास प्रसिद्ध	माघशु० ४	का०ख० ५७ अ० ४८ श्लो० लिङ्गपुराण, कूर्मपुराण एवं त्रिस्थलीसेतु
मुखप्रेक्षणिका	मङ्गलागौरी के पास	माघशु० ४	लिंगपुराण (अप्रचलित) (का०ख० ९७ अ० १८८ श्लो०)
लोलार्क	भदैनी में प्रसिद्ध	माघशु० ७	का०ख० ४६ अ० ५५ श्लो० (वामनपुराण १५ अ०)
केशवादित्य	वरनासंगम	माघशु० भानु०७	का०ख० ५१ अ० ७३-७७ श्लो०

द्वादशादित्य	भिन्न-भिन्न १२ स्थान (रविवार की यात्रा देखिए)	माघशु० भानु०७	शिवरहस्य
प्रयागतीर्थ	दशाश्वमेधघाट	प्राय: माघ भर	का०ख० ६१ अ० १९ से ४६ श्लो० तक
अविमुक्तेश्वर	विश्वनाथ जी के घेरे में	(माघ) फाल्गु० कृ० १४	का०ख० ३९ अ० ८९ श्लो०
कृत्तिवासेश्वर	हरतीरथ पर	फाल्गु० कृ० १४ शिवरात्रि	का०ख० ६८ अ० ४४ श्लो०
प्रीतिकेश्वर	साक्षीविनायक पर	,,	का०ख० ९७ अ० २१९ श्लो० और लिङ्गपुराण
दालभ्येश्वर	मानमन्दिरघाट	फाल्गु० शु० १५	सनत्कुमारसंहिता
चतुष्षष्ठी[1]	चौंसट्ठीघाट	चैत्रकृ० १	का०ख० ४५ अ० ५२ श्लो०
वारुणीस्नान	वरनासंगम	चैत्रकृ० १३	का०ख० ५८ अ० १७ से २६ श्लो० वारुणीपर्व, शिष्टाचार (भाद्रशु० १२ को मेला)
केदारेश्वर	केदारघाट	चैत्रकृ० १४ (वा चैत्री पूर्णिमा)	का०ख० ७७ अ० ६१ श्लो०
साम्बादित्य	सूरजकुण्ड	चैत्र का कोई भी रविवार	का०ख० ४८ अ० ५३ श्लो०

प्रमुख वार्षिक-शृङ्गारोत्सव

ये सब शृङ्गारोत्सव प्रतिवर्ष अपने नियमित तिथि-वार पर होते हैं। इनमें कितने ही स्थानों पर नृत्य और गायनादिक भी होता है। प्राय: सायंकाल से आरम्भ होकर अखण्ड रात्रि भर झाँकियाँ हुआ करती हैं। जहाँ गाने-बजाने का भी प्रकरण रहता है, वहाँ तो दूसरे दिन पहर-दोपहर दिन तक धूमधाम मचा रहता है। विशेष आनन्द देखने ही से प्राप्त हो सकता है। लिखने में वे बातें कहाँ तक आ सकती हैं।

---

१. इन चौसठों ६४ योगिनियों के नाम काशीखण्ड के ४५वें अध्याय में ३४ से ४१वें श्लोक तक वर्णित हैं। इनमें ६० योगिनियों का स्थान तो चौसट्ठीघाट के ऊपर रानामहल में है; पर वाराही का—मानमन्दिर, मयूरिका—लक्ष्मीकुण्ड, शुकी का—डौढियावीर और कामाक्षा का—कमच्छा में है; किन्तु यात्रा चौसट्ठीघाट पर ही होती है।

१. सबसे प्रधान श्री विश्वनाथ जी की इस यात्रा में फाल्गुन मास की शुक्ला एकादशी को होता है । इसी दिन श्री अन्नपूर्णा देवी, ढुण्डिराज गणेश, हनुमान् जी तथा ज्ञानवापी इत्यादि उस प्रान्त के सभी स्थानों में शृङ्गार की अद्‌भुत छटा देखने ही योग्य होती है ।

२. इसी फाल्गुनमास की शुक्ला तृतीया को संकटा जी के समीप पीताम्बरा (बगलामुखी) देवी जी का शृङ्गार बड़ी उत्तमता से होता है ।

३. फाल्गुनमास के शुक्लपक्ष में शुक्रवार को लक्ष्मीकुण्ड पर लक्ष्मी जी का शृङ्गार होता है । इसी रीति से श्रावणमास के शुक्लपक्ष में शुक्रवार को भी होता है ।

४. चैत्रशुक्ला ११ को चित्रकूट के पास धूमावती (धूपचण्डी) देवी का शृङ्गार भी दर्शनीय ही होता है ।

५. वैशाखशुक्ला गङ्गासप्तमी को गङ्गा जी के तट पर बहुतेरे स्थानों में शृङ्गार और गान इत्यादि होता है ।

६. श्रावण के शुक्लपक्ष में मंगलवार को बटुकभैरव जी का (कमच्छा पर) शृङ्गार और गान इत्यादि होता है ।

७. जन्माष्टमी का उत्सव बहुतेरे स्थानों में होता है । कहीं-कहीं छट्ठी अथवा बरही भी मनायी जाती है । यह उत्सव प्रायः सभी वैष्णव-मन्दिरों में होता है । वल्लभ-मतानुसारी प्रसिद्ध 'गोपाल-मन्दिर' में यह शृङ्गार और उत्सव १२ दिनों तक बड़ी धूमधाम से होता है ।

८. जन्माष्टमी के छठवें दिन दुर्गाकुण्ड पर श्रीदुर्गा जी का शृङ्गारोत्सव और नृत्यादिक भी होता है ।

९. कार्तिकमास की शुक्ला ११ से १५ तक पञ्चगङ्गाघाट पर सभी मन्दिरों में विशेष शृङ्गारादि होता है ।

१०. मृत्युञ्जयमहादेव, संकटादेवी और हनुमान् घाट पर हनुमान् जी इत्यादि देवस्थानों में भी प्रायः फाल्गुन ही में शृङ्गार होते हैं, इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे मन्दिरों में शृङ्गारोत्सव मनाये जाते हैं ।

अयन-यात्रा

यद्यपि "काशीखण्ड" में पञ्चक्रोशी यात्रा का सविस्तार वर्णन नहीं है; पर "काशीरहस्य" नामक ग्रन्थ में पञ्चक्रोशी यात्रा का विशेष वर्णन पाया जाता

है। काशीक्षेत्र की पञ्चक्रोशी यात्रा शरीरादि की शुद्धि के लिये बहुत ही प्रचलित है। काशी की समस्त यात्राओं में यही सर्वप्रधान मानी जाती है। यह पञ्च-क्रोशी यात्रा अयन-यात्रा भी कही जाती है, जैसा कि ''सनत्कुमारसंहिता'' में कहा है—

''दक्षिणे चोत्तरे चैव ह्ययने सर्वदा मया।
क्रियते क्षेत्रदाक्षिण्यं भैरवस्य भयादपि'' ।।

अर्थ—(श्री महादेव जी कहते हैं)—'हम सर्वदैव दक्षिणायन और उत्तरा-यण में भैरवनाथ के भय से (काशी) क्षेत्र की प्रदक्षिणा अर्थात् पञ्चक्रोशी यात्रा करते हैं'।

काशीवासी लोग प्रायः अगहन और फाल्गुनमास में यह यात्रा करते हैं। फाल्गुन में ठाकुर जी भी पञ्चक्रोशी यात्रा करते हैं। इससे प्रत्येक निवास स्थानों पर साथ में कभी-कभी रामलीला, कृष्णलीला और गाना-बजाना भी होता जाता है। प्रायः अधिमास (लवन) में विशेष बाहरी यात्री भी आ जाते हैं, पर यों तो सभी मासों में यात्री लोग पञ्चक्रोशी करते ही रहते हैं। वास्तव में जब जी चाहे, तभी यात्रा कर डालनी चाहिए; क्योंकि ''काशीरहस्य'' में ऐसा ही वचन मिलता है, यथा—

''यथाकथञ्चिद्देवेशि ! पञ्चक्रोशप्रदक्षिणम्।
कुर्यादेव न मासादि चिन्तयेद्धर्म्मकोविदः ।।
स एव शुभदः कालो यस्मिन् श्रद्धोदयो भवेत्'' ।।

अर्थ—जैसे बन पड़े, वैसे ही पञ्चक्रोश की प्रदक्षिणा करे, धार्मिक जन मास इत्यादि की कुछ भी चिन्ता न करें। वही काल शुभप्रद है, जब (चित्त में) श्रद्धा का उदय हो जावे। इसी भाँति से इस पञ्चक्रोशी यात्रा की चाल भी प्रचलित है और उसका माहात्म्य ''काशीरहस्य'' में अधिक वर्णित है। ''नारदीय-पुराण'' का यह श्लोक पञ्चक्रोशी यात्रा का प्रयोजन भी बतला रहा है, यथा—

''काशीप्रदक्षिणा येन कृता त्रैलोक्यपावनी।
सप्तद्वीपा साब्धिशैला कृता तेन प्रदक्षिणा'' ।।

अर्थात् जिसने त्रैलोक्यपावनी काशीपुरी की प्रदक्षिणा को कर लिया, वह सातों द्वीप, समुद्र और पर्वतों के सहित (भूमण्डल भर की) प्रदक्षिणा कर चुका, उक्त प्रदक्षिणा का फल पा जाता है।

यद्यपि "काशीरहस्य" में एक, दो, तीन और चार दिनों का वास पञ्चक्रोशी के मार्ग में कहा है एवं "शिवरहस्य" में सात दिनों तक की भी आज्ञा है; पर प्रायः लोग तीन वा पाँच निवास करते हैं। इस यात्रा में देवदर्शन इत्यादि के लिए इस प्रकार जाना और लौटकर आना चाहिए, जिसमें प्रदक्षिणा में तिलमात्र भी भूमि छूटने न पावे। यात्री को पञ्चक्रोशी में ब्रह्मचर्य से रहना और सीमा के बाहर मलमूत्र का त्याग करना उचित है। इसका विशेष वर्णन उक्त "काशीरहस्य" के दशवें अध्याय में लिखा है एवं यात्रा का प्रकार भी यों कहा है।

पञ्चक्रोशी-यात्रा-विधि

यात्रीगण पञ्चक्रोशी जाने से एक दिन पूर्व ही गङ्गास्नान और नित्ययात्रा कर मुक्ति-मण्डप (ज्ञानवापी) में जाकर सङ्कल्पपूर्वक ढुण्डिराज का पूजन करें। हो सके तो उस दिन अन्तर्गृही यात्रा भी कर डालें। एक बार हविष्य भोजन करें। फिर दूसरे दिन स्नान एवं नित्य-नियम समाप्त कर, मुक्तिमण्डप में जाँय। इस प्रकार से प्रतिज्ञा करें—"मानसिक, वाचिक, कायिक, ज्ञात और अज्ञात पापों के शुद्ध्यर्थ एवं पुण्यलाभार्थ, पञ्चक्रोशात्मक ज्योतिर्लिङ्गस्वरूप विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, लक्ष्मीनारायण, ढुण्डिराजादि छप्पन विनायक, द्वादश आदित्य, नृसिंह, केशव (तीन), राम, कृष्ण, कूर्म-मत्स्यादि अवतारों से युक्त विष्णु, अनेक शिव और गौरी इत्यादि समस्त देवताओं से परिपूर्ण इस क्षेत्र की प्रदक्षिणा हम करते हैं"। इस रीति से सङ्कल्प कर विश्वेश्वर से यह प्रार्थना करें—

"पञ्चक्रोशस्य यात्रां वै करिष्ये विधिपूर्वकम्।
प्रीत्यर्थं तव देवेश! सर्वाऽघौघप्रशान्तये"॥

अर्थ—हे महादेव! मैं आपकी प्रसन्नता और समस्त पापपुञ्ज के शान्त्यर्थ विधिपूर्वक पञ्चक्रोशी-यात्रा को करूँगा। ऐसी प्रार्थना कर, मौन हो, फिर ढुण्डिराज की पूजा करके उनसे आज्ञा माँगें, यथा—

"ढुण्डिराज! गणेशान! महाविघ्नौघनाशन!
पञ्चक्रोशस्य यात्रार्थं देह्याज्ञां कृपया विभो"!॥

अर्थ—हे ढुण्डिराज! गणेश! आप बड़े-बड़े विघ्नसमूहों के विनाशक हैं। अतएव हे विभो! कृपा करके मुझे पञ्चक्रोश की यात्रा के लिए आज्ञा दीजिए। इसके उपरान्त विश्वेश्वर को तीन प्रदक्षिणा और साष्टाङ्ग प्रणाम करके मोहादि पञ्चविनायक, दण्डपाणि और कालभैरव का पूजन एवं फिर से विश्वेश्वर की पूजा कर मणिकर्णिका पर जाँय। पुनः स्नान करके तब परिक्रमा के लिए

चलना चाहिए। मार्ग में इन सब देवताओं का दर्शन और (यथासम्भव) पूजन करना उचित है।

देवताओं के नाम	स्थान*
मणिकर्णिकेश्वर	मनिकनिकाघाट
सिद्धिविनायक	मनिकनिकाघाट
गङ्गाकेशव	ललिताघाट
ललितादेवी	ललिताघाट
जरासन्धेश्वर	मीरघाट
सोमनाथ	मानमन्दिरघाट
दालभ्येश्वर	मानमन्दिरघाट
शूलटंकेश्वर	दशाश्वमेधघाट
(आदि) वाराहेश्वर	दशाश्वमेधघाट
दशाश्वमेधेश्वर	दशाश्वमेध–शीतला के मन्दिर में
बन्दीदेवी	प्रयागेश्वर के मन्दिर में
सर्वेश्वर	पाण्डेघाट के पास में
केदारेश्वर	केदारघाट
हनुमदीश्वर	हनुमान् घाट
संगमेश्वर	अस्सीसंगम
अर्कविनायक	लोलार्क के समीप
लोलार्क	भदैनी में प्रसिद्ध
दुर्गाकुण्ड	प्रथम निवास लिखा है; पर अब लोग वहाँ नहीं टिकते, कँदवाँ चले जाते हैं। पर नगवा में एक धर्मशाला है।
दुर्गविनायक	दुर्गाकुण्ड
दुर्गादेवी	प्रसिद्ध, यहाँ पर ब्राह्मणों को पायस और लड्डू खिलाना चाहिए एवं नीचे लिखे मन्त्र से दुर्गा जी की प्रार्थना करनी चाहिए–

"जय दुर्गे ! महादेवि ! जय काशिनिवासिनि।
क्षेत्रविघ्नहरे ! देवि ! पुनर्दर्शनमस्तु ते"॥

* किसी धार्मिक सज्जन ने 'पञ्चक्रोशी' यात्रा के मन्दिरों के द्वार पर संगमरमर से लघुशिलापट्ट पर तत्तद्देवों के नाम और संख्या लिखकर जड़वा दिया है।
—सम्पादक

अर्थ—हे महादेवि दुर्गे ! जय, हे काशीनिवासिनि ! जय, देवि ! आप क्षेत्र के **विघ्नों को हर** लेती हो, (अतः आपसे प्रार्थना है कि) फिर आपका दर्शन होवे । (यह कहकर आगे चले)

विष्वक्सेनेश्वर	मार्ग के करमैतापुर गाँव में
कर्दमेश्वर	कँदवाँ गाँव (पञ्चव्रीहि और तिल चढ़ावे)
कर्दमतीर्थ	कँदवाँ का पोखरा (में नहावे)
कर्दमकूप	(में अपना मुख देखे)
सोमनाथ	कँदवाँ में
विरूपाक्ष	कँदवाँ में
नीलकण्ठेश्वर	कँदवाँ में अब पहली टिकान होती है । (कई एक धर्मशालाएँ हैं, बाजार भी हैं) । कर्दमेश्वर से यह प्रार्थना करनी चाहिए—

''कर्दमेश ! महादेव ! काशिवासिजनप्रिय ।
त्वत्पूजनान्महादेव ! पुनर्दर्शनमस्तु ते'' ।।

नागनाथ	अमरा गाँव में
चामुण्डादेवी	अबड़े गाँव में
मोक्षेश्वर	अबड़े गाँव में
करुणेश्वर	अबड़े गाँव में
वीरभद्रेश्वर	देलहना गाँव में
विकटदुर्गा	देलहना गाँव में
उन्मत्तभैरव	देउरा गाँव में
नीलगण	देउरा गाँव में
कालकूटगण	देउरा गाँव में
विमलादुर्गा	देउरा गाँव में
महादेव	देउरा गाँव में
नन्दिकेश्वर	देउरा गाँव में
भृंगिरिटिगण	देउरा गाँव में
गणप्रिय	देउरा गाँव में
विरूपाक्ष	गौरा गाँव में
यज्ञेश्वर	चक्कमातलदेई
दि[illegible]लेश्वर	पयागपुर में
मोक्षदेश्वर	पयागपुर में
ज्ञानदेश्वर	पयागपुर में

अमृतेश्वर
गन्धर्वसागर — असवारी गाँव में
भीमचण्डीदेवी — भीमचण्डी (गाँव) बालापोखरा
(यहीं पर अब दूसरा वास होता है, अनेक धर्मशालाएँ और बाजार भी हैं)
(भीम) चण्डविनायक — ,,
(तालुका जक्खिनी में)
रविरक्ताक्षगन्धर्व — ,, ,,
नरकार्णवतारणशिव — ,, ,,

उक्त भीमचण्डी की प्रार्थना यह है—

"भीमचण्डि ! प्रचण्डानि ! मम विघ्नान् विनाशय ।
नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि पुनर्दर्शनमस्तु ते" ।।

एकपादगण — कचनार गाँव में (तिल अक्षत चढ़ावे)
महाभीम — हर्रैका तालाब (हरपुर गाँव)
भैरवनाथ — हरसोस गाँव में
भैरवीदेवी — हरसोस गाँव में
भूतनाथेश्वर — दीनदासपुरा
सोमनाथेश्वर — दीनदासपुरा, प्रसिद्ध (लंगोटिया हनुमान् जी)
सिन्धुरोधसतीर्थ — सिन्धुसागर पोखरा प्रसिद्ध है (यहाँ भी एक धर्मशाला है)
जनसा गाँव
कालनाथ — जनसा गाँव (आगे क्रम से)
कपर्दीश्वर — चौखण्डी गाँव
कामेश्वर — चौखण्डी गाँव
गणेश्वर — चौखण्डी गाँव
वीरभद्रगण — चौखण्डी गाँव
चारुमुखगण — भटौली गाँव
गणनाथेश्वर
देहली-विनायक — प्रसिद्ध (इनको लड्डू, लावा, ईख और सत्तू चढ़ावे)। यहाँ पर सात दिन की यात्रा वाले टिकते हैं। (एक धर्मशाला भी है)।
डेवढियाविनायक के पास ही में है।
षोडशविनायक — आगे मार्ग में (मुड़ली गाँव)
उद्दण्डविनायक — हीरामपुर गाँव में
उत्कलेश्वर — आगे मार्ग में
रुद्राणीदेवी

तपोभूमि	मार्ग में (रुद्राणीदेवी की तपोभूमि है)
वरणानदी	रामेसर गाँव में (वहाँ स्नान-तर्पण करे)
रामेश्वर	प्रसद्धि है (श्वेत तिल, बिल्वपत्र से पूजा करे)
सोमेश्वर	रामेश्वर के पास ही में
भरतेश्वर	रामेश्वर के पास ही में
लक्ष्मणेश्वर	रामेश्वर के पास ही में
शत्रुघ्नेश्वर	रामेश्वर के पास ही में
द्यावाभूमीश्वर	रामेश्वर के पास ही में
नहुषेश्वर	" रामेश्वर में प्रधान वास है। एक ही वास करने वाले भी यहीं टिकते हैं। यहाँ पर कई एक धर्मशालाएँ हैं। रामेश्वर से प्रार्थना का यह मन्त्र है—

"श्रीरामेश्वर ! रामेण पूजितस्त्वं सनातन ! ।
आज्ञां देहि महादेव ! पुनर्दर्शनमस्तु ते" ।।

अर्थ—हे रामेश्वर ! आप सनातन देव हैं। आप श्री रामचन्द्र जी से पूजित हैं। हे महादेव ! आप मुझे आज्ञा देवें कि फिर आपका दर्शन हो (ऐसी प्रार्थना कर वरणा पार जाना बँधा है)।

असंख्यात शिवलिंग	वरना पार (भुलनीवारी के आसपास)
देवसंघेश्वर	करोमा गाँव (विशेष—जैसे दुर्गाकुण्ड का वास छूट गया है, वैसे ही शिवपुर में जहाँ पर द्रौपदीकुण्ड के समीप पञ्चपाण्डवों के नामाङ्कित पाँच लिंग विराजमान हैं, वहाँ चतुर्थ निवास होता है। यहाँ पर नगरवाले अपने घर के यात्रियों से मिलने के लिए शिवपुर जाते हैं। अनुमान से यही सिद्ध होता है कि इसी कारण से वहाँ टिकान हो गया है। यहाँ पर कई एक धर्मशाला, बाजार, पोखरा इत्यादि हैं। पर इस निवास की चर्चा "काशीरहस्य" इत्यादि में नहीं है। ठाकुर जी तो आगे बढ़कर सारंग तालाब पर भी एक दिन टिकते हैं)।

पाशपाणि-गणेश	सदर बाजार (रेलवे लाइन के पास)
पृथिवीश्वर	खजुरी गाँव (पिसनहरिया के कुँआ के पास)
स्वर्गभूमि	वही स्थान (इसी के आगे ठाकुर जी का पञ्चम निवास सारंग तालाब पर होता है। वहाँ एक छोटी-सी धर्मशाला भी है; पर और यात्री लोग नहीं टिकते। शिवपुर से सीधे कपिलधारा चले जाते हैं)
यूपसरोवर (तीर्थ)	दीनदयालपुरा में
कपिलधारातीर्थ	पँचवाँ वासस्थान (अनेक धर्मशालाएँ और बाजार इत्यादि हैं) ("काशीखण्ड" २२वाँ अध्याय)
वृषभध्वजेश्वर	कपिलधारा (गाँव) प्रसिद्ध स्थान। अन्तिम निवास। प्रार्थनामन्त्र यों है—

"वृषभध्वज ! देवेश ! पितॄणां मुक्तिदायक ! ।
आज्ञां देहि महादेव ! पुनर्दर्शनमस्तु ते" ।।

अर्थ—यह पितरों का बड़ा प्यारा और मुक्तिदायक तीर्थ है, काशी में जैसे सब तीर्थों का वास है, वैसे यहाँ पर गयातीर्थ रहता है। इसी से इसका नाम "शिवगया" प्रसिद्ध है। यहाँ पर तर्पण, श्राद्ध और ब्राह्मणभोजनादि यथाशक्ति कराना चाहिए।

ज्वालानृसिंह	कोटवाँ गाँव
वरणासंगम	फुटहीकोट के नीचे। यहाँ नदी बँध जाने पर सूखी रहती है, नहीं तो नाव से वरना पार होना चाहिए। संगम पर स्नान अथवा मार्जन अवश्य करे।
आदिकेशव	वरनासंगम मे समीप फुटहीकोट के कोने पर
संगमेश्वर	आदिकेशव से नीचे के मन्दिर में
खर्वविनायक	फुटहीकोट (वा किला) के भीतर। (यहाँ से गङ्गा के तट में जौ छींटने की विधि है। यहाँ से विनायक तक)
प्रह्लादेश्वर	प्रह्लादघाट
त्रिलोचनमहादेव	तिलोचनघाट
पंचगंगातीर्थ	पंचगंगाघाट
बिन्दुमाधव	(बेनीमाधो वा माधोराय) प्रसिद्ध
गभस्तीश्वर	प्रसिद्ध (लक्ष्मणबालाघाट)

मङ्गलागौरी	उसी मन्दिर में प्रसिद्ध देवी
वशिष्ठेश्वर	संकटाघाट पर
वामदेवेश्वर	संकटाघाट पर
पर्वतेश्वर	आत्मावीरेश्वर के समीप
महेश्वर	मनिकनिकाघाट
सिद्धिविनायक	मनिकनिकाघाट प्रसिद्ध
सप्तावरणविनायक	ब्रह्मनाल में ("जयविनायक" प्रसिद्ध हैं)
मणिकर्णिकामहातीर्थ	" यहाँ पर परिक्रमा पूर्ण हो जाती है। स्नान करके श्रीविश्वनाथ जी के पूजनार्थ जावे।

श्री विश्वनाथ जी के मन्दिर में जाकर प्रणामपूर्वक पूजन करे। उनको बारंबार दण्डवत्प्रणाम करके मुक्तिमण्डप में जाय। (अन्नपूर्णा), विष्णु, दण्ड-पाणि, ढुण्डिराज, भैरव, आदित्य और (मोदादिक) पञ्चविनायकों का पुनः पूजन करना चाहिए। फिर पञ्चक्रोशी प्रदक्षिणा के (उक्त) समस्त देवताओं को स्मरण करे और अक्षत छोड़ता जावे। पश्चात् विश्वेश्वर भगवान् से इस भाँति प्रार्थना करे—

"जय विश्वेश ! विश्वात्मन् ! काशीनाथ ! जगद्गुरो !
त्वत्प्रसादान्महादेव ! कृता क्षेत्रप्रदक्षिणा ।।
अनेकजन्मपापानि कृतानि मम शङ्कर ! ।
गतानि पञ्चक्रोशात्म-लिङ्गस्यास्य प्रदक्षिणात् ।।
त्वद्भक्तिकाशिवासाभ्यां सहैवापापकर्मणा ।
सत्सङ्गश्रवणाद्यैश्च कालो गच्छतु नः सदा ।।
हर ! शम्भो ! महादेव ! सर्वज्ञ ! सुखदायक ! ।
प्रायश्चित्तं सुनिर्वृत्तं पापानां त्वत्प्रसादतः ।।
पुनः पापरतिर्मास्तु धर्म्मबुद्धिस्सदाऽस्तु मे" ।।

अर्थ—"हे काशीनाथ ! जगद्गुरो ! विश्वात्मन् ! विश्वेश्वर ! जय, हे महादेव ! आपके ही प्रसाद से मैंने (काशी वा वाराणसी) क्षेत्र की प्रदक्षिणा की। हे शङ्कर ! मेरे किये हुए अनेक जन्म के पाप इस पञ्चक्रोशात्मक लिंग के प्रदक्षिण करने से नष्ट हो गये। आपकी भक्ति, काशीवास और पापरहित कर्मों के साथ एवं सत्सङ्ग (और पुराण-श्रवण) इत्यादि से हमलोगों का काल सदा बीता करे। हे हर ! शम्भो ! महादेव ! सर्वज्ञ ! सुखदायक ! आपके ही प्रसाद से (मेरे) पापों का प्रायश्चित्त समाप्त हो सका। अब फिर मेरी रुचि पाप में न होवे और धर्म की बुद्धि सदैव बनी रहे"। इस प्रकार से प्रार्थना कर ब्राह्मणों को यथाशक्ति दक्षिणा दे हाथ जोड़कर इस मन्त्र को पढ़े—

"पञ्चक्रोशस्य यात्रेयं यथाविधि मया कृता ।
न्यूनं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादादुमापते" ! ।।

अर्थ—'हे उमापते ! यह जो पञ्चक्रोश की यात्रा मैंने यथाविधि की (इसमें जो कुछ कर्म) न्यून रह गया हो, वह आपके अनुग्रह से सम्पूर्ण हो जावे' ।

इस प्रकार से प्रार्थनादिक करके अपने घर पर जाकर ब्राह्मण तथा कुटुम्बियों को भोजन कराकर तब स्वयं भोजनादिक करे । इस रीति से साधारण-रूप की पञ्चक्रोशी यात्रा होती है । और उसकी विधि भी अपने बुद्धि-वैभव तथा "काशीरहस्य" और "काशीदर्पण" इत्यादि ग्रन्थों के आधार पर यथासम्भव संक्षेप करके लिख दी गई । विशेष विधि को यात्री लोग स्वयं विचारपूर्वक ढूंढ़ लेवें ।

यह पञ्चक्रोशी यात्रा मणिकर्णिका किं वा मुक्तिमण्डप से आरम्भ होती है और वहीं पर (आकर) समाप्त की जाती है—यद्यपि "काशीखण्ड" में इस यात्रा की विधि इत्यादि विस्तारपूर्वक जैसी कि "काशीरहस्य" में है, नहीं कही है; पर इन सब देवस्थानों का वर्णन और माहात्म्य विशेषरूप से कथित है ।

मणिकर्णिका से कर्दमेश्वर (कँदवाँ) ३ कोस, भीमचण्डी ८ कोस, रामेश्वर १५ कोस, शिवपुर १९ कोस, कपिलधारा २२ कोस और मणिकर्णिका साढ़े २३ कोस पर है । फिर डेढ़ कोस देवदर्शन के लिए, जो हटकर जाना पड़ता है और वहाँ लौटना पड़ता है । इस रीति से यह पञ्चक्रोशी यात्रा सब मिलाकर २५ कोसों की होती है । इसमें मणिकर्णिका से अस्सीसंगम और वरनासंगम से मणिकर्णिका तक गङ्गा जी के तीर-तीर जाना पड़ता है । बरसात में लोग गङ्गा जी के बढ़ जाने से नाव पर जाते हैं (नाव पर जाने का दोष नहीं होता), बाकी सर्वत्र ही कच्ची सड़क है, (जो कि अब प्राय: पक्की हो गई है) । इस पर दाहिनी ओर देवमन्दिर, बड़े-बड़े पेड़ों का लखरावँ और कुँआ इत्यादि सुशोभित हैं । प्रत्येक पट्टी वा ठिकानों पर धर्मशालाएँ हैं । बाजारों में खाने-पीने की वस्तु मिलती है ।

इसी प्रकार से वार्षिक और शारदीय दोनों नवरात्रों में दुर्गायात्रा एवं भादों तथा माघ मास की चतुर्थी में गणेश-यात्राओं को भी अयन-यात्रा में ही समझना चाहिए ।

यदि दोनों अयनों में पञ्चक्रोशी यात्रा न हो सके, तो वर्ष में एक बार अवश्य ही करनी चाहिए; क्योंकि क्षेत्र में जो पापादिक होते हैं, उनका प्रायश्चित्त यही पञ्चक्रोशी यात्रा है । अतएव काशीवासियों को यह अवश्य कर्त्तव्य है ।

यों ही अन्तर्गृह की यात्रा अवकाश वालों को तो प्रतिदिन करनी चाहिए, ऐसा "काशीखण्ड" में लिखा है, यथा—"अन्तर्गृहस्य यात्रा वै कर्तव्या प्रतिवासरम्" । पर प्रतिदिन न हो सके, तो प्रत्येक चतुर्दशी को करना उचित है। वह भी नहीं बन पड़े, तो प्रत्येक अयन वा वर्ष में भी कर डालने से अनेक प्रकार के पापों की शान्ति हो जाती है ।

काशीखण्ड के १००वें अध्याय के अनुसार "अन्तर्गृही-यात्रा" का वर्णन—

पहले प्रातः स्नान कर मोद १, प्रमोद २, दुर्मुख ३, सुमुख ४ एवं गणनायक ५, इन पाँच गणेशों को प्रणाम कर मुक्तिमण्डप में जाय । भगवान् विश्वेश्वर को दण्डवत् प्रणाम करे, फिर "मैं समस्त पापों के शान्त्यर्थ अन्तर्गृह की यात्रा करूँगा" ऐसा सङ्कल्प कर वहाँ से मौन होकर मणिकर्णिका पर जावे। वहाँ स्नानादि करके मणिकर्णिकेश्वर का पूजन करे । तदनन्तर यात्रा और देवों के दर्शन आरम्भ करे ।

देव-नाम	**स्थानों के नामादिक**
मणिकर्णिकातीर्थ	प्रसिद्ध
मणिकर्णिकेश्वर	गोमठ के पास वर्दमान की कोठी में
(सिद्धिविनायक)	(यहाँ भी लोग दर्शन कर लेते हैं)
कंबलाश्वतरेश्वर	गोमठ के समीप
वासुकीश्वर	संकटाघाट
पर्वतेश्वर	संकटाघाट
गङ्गाकेशव	ललिताघाट
ललितादेवी	ललिताघाट
जरासन्धेश्वर	मीरघाट
सोमनाथ	मानमन्दिरघाट
(आदि) वाराहेश्वर	मानमन्दिरघाट
(दालभ्येश्वर)	" (मार्गस्थ होने से दर्शन किया जाता है)
ब्रह्मेश्वर	बालमुकुन्द का चौहट्टा
अगस्तीश्वर	अगस्तकुण्डा (गोदौलिया के पास)
कश्यपेश्वर	जंगमबाड़ी
हरिकेशवनेश्वर	जंगमबाड़ी
वैद्यनाथ (वैद्येश्वर)	कोदई की चौकी (थाने के उत्तर मंदिर है)
ध्रुवेश्वर	इसी नाम से महाल प्रसिद्ध है
गोकर्णेश्वर	कोदई की चौकी के पास
हाटकेश्वर	हड़हा (प्राचीन स्थान गुप्त है)

अस्थिक्षेपतडाग	'' बेनियाँ (में मिलकर गुप्तप्राय है)
कीकसेश्वर	राजादरवाजे के भीतर
भारभूतेश्वर	गोविन्दपुरा में (मछरहट्टा के पास)
चित्रगुप्तेश्वर	मछरहट्टा में
चित्रघण्टादेवी	चौक के पूर्व चन्दू की गली में
पशुपतीश्वर	महाल का भी वही नाम प्रसिद्ध है ।
पितामहेश्वर	शीतला गली में (ये अँधेरे गड्हे में हैं, इनका दर्शन वर्ष भर में शिवरात्रि के ही दिन होता है)
कलसेश्वर	'' कलसेश्वरी की ब्रह्मपुरी
चन्द्रेश्वर	सिद्धेश्वरी के मन्दिर में चन्द्रकूप पर
वीरेश्वर	वीरतीर्थ (सिंधियाघाट) के ऊपर "आत्मावीरेश्वर" प्रसिद्ध हैं । (यहाँ और भी बहुत देवता हैं)
विघ्नेश्वर	नीमवाली ब्रह्मपुरी
अग्नीश्वर	अग्नीश्वर (नया) घाट उपशान्त शिव के समीप वाले दूसरे मन्दिर में
नागेश्वर	भोंसलाघाट के समीप में सटे हुए
हरिश्चन्द्रेश्वर	संकटाघाट पर
चिन्तामणिविनायक	''
सेनाविनायक	''
वसिष्ठेश्वर	''
कामदेवेश्वर	''
सीमाविनायक	''
करुणेश्वर	महाल लहाउरी टोला में
त्रिसंध्येश्वर	''
विशालाक्षी	'' प्रसिद्ध
धर्मेश्वर	'' प्रसिद्ध धर्मकूप
विश्वभुजादेवी	''
आशाविनायक	मीरघाट के पास
वृद्धादित्य	''
चतुर्वक्त्रेश्वर	सकरकन्द की गली
ब्राह्मीश्वर	''
मनःप्रकामेश्वर	साखीविनायक (साक्षीविनायक)
ईशानेश्वर	कोतवालपुरा

चण्डिकादेवी	कालिका गली
चण्डीश्वर	,,
भवानी-शङ्कर	,, शुक्रकूप के समीप
(अन्नपूर्णादेवी)	(काशीखण्ड में नहीं लिखा है, पर यात्रा होती है)
ढुण्डिराज गणेश	प्रसिद्ध महाल
राजराजेश्वर	जवविनायक के समीप
लांगलीश्वर	खोवा बाजार
नकुलीश्वर	विश्वेश्वर के पास हनुमान् जी के पीछे
परान्नेश्वर	दण्डपाणि के सामने ज्ञानवापी के पीछे
परद्रव्येश्वर	,,
प्रतिग्रहेश्वर	,,
निष्कलंकेश्वर	दण्डपाणि के सामने ज्ञानवापी के पीछे
मार्कण्डेयेश्वर	,,
अप्सरेश्वर	,, उत्तर फाटक के पास
गङ्गेश्वर	पीपल के नीचे ज्ञानवापी-महजिद के सामने (मूर्ति गुप्त है)
ज्ञानवापी	प्रसिद्ध (यहाँ स्नान वा मार्जन करे)
नन्दिकेश्वर	,, ज्ञानवापी के पास नाँदिया (विशाल नन्दी)
तारकेश्वर	गौरीशङ्कर की मूर्ति के नीचे स्थान है
महाकालेश्वर	उक्त स्थान के पास
दण्डपाणि	ज्ञानवापी के पच्छिम घेरे से बाहर
महेश्वर	,, नैर्ऋत्यकोण-पीपर के नीचे
मोक्षेश्वर	वहीं पर स्थान है
वीरभद्रेश्वर	,, वायुकोण पर
अविमुक्तेश्वर	अब विश्वेश्वर के मन्दिर में हैं; पर पुराना स्थान ज्ञानवापी के उत्तर फाटक पर है ।
मोदादिपञ्चविनायक	ज्ञानवापी के पास (औरंगजेब के मन्दिर तोड़ने से यहाँ के अनेक देवता लुप्त हो गये हैं । पर महजिद के नीचे चारों ओर प्राचीन देवस्थानों पर पूजनादिक किया जाता है) ।
श्रीविश्वनाथ जी	प्रसिद्ध । वहाँ जाकर दर्शन, पूजन कर मौनव्रत को त्याग (हाथ जोड़) यह मन्त्र पढ़े—

"अन्तर्गृहस्य यात्रेयं यथावद्या मया कृता ।
न्यूनातिरिक्तया शम्भुः प्रीयतामनया विभुः" ।।

अर्थ—यथाविधि मेरी की हुई इस अन्तर्गृह की यात्रा से चाहे वह न्यून (कमती) हो अथवा अतिरिक्त (अधिक) हो गई हो, भगवान् प्रसन्न होवें ।

ऐसी प्रार्थना कर मुक्तिमण्डप में विश्राम करने के अनन्तर यात्री अपने घर चला जावे । जो कुछ बन पड़े ब्राह्मण को दक्षिणा, भोजन इत्यादि अपनी शक्ति और भक्ति के अनुसार देवे । इसमें यात्रा की सांगता पूर्ण हो जाती है । इस "अन्तर्गृही-यात्रा" के करने से मनुष्य निष्पाप और पुण्यभागी हो जाता है ।

अथ ऋतुयात्रा (सप्तपुरी-यात्रा)

ऋतु का नाम	तीर्थयात्रा-नाम	स्थान
वर्षाऋतु	द्वारकापुरी	संखूधारा
शरदऋतु	विष्णुकांचीपुरी	पञ्चगङ्गाप्रान्त
वसन्तऋतु	मथुरापुरी	अलईपुर में (उत्तरार्क से लेकर वरना-तीर नक्खीघाट तक)
ग्रीष्मऋतु	अयोध्यापुरी	रामेश्वर (पंचक्रोशी के रमेस्सर वरना-तट पर)
हेमन्तऋतु	अवन्तिकापुरी	हरतीर्थ पर वृद्धकालेश्वर से कृत्तिवासेश्वर-पर्यन्त
शिशिरऋतु	मायापुरी	अस्सीसंगम पर
प्रत्येक ऋतु में	काशीपुरी	ललिताघाट पर

ये सातों मोक्षपुरियों की यात्राएँ हैं । इनमें यथाशक्ति स्नान, पूजन, श्राद्ध और दानादिक करने से उक्त पुरियों की यात्रा का फल प्राप्त होता है । काशी-खण्ड के सातवें अध्याय में इन पुरियों का माहात्म्य विस्तारपूर्वक वर्णित है । काशी में सब तीर्थ और देवताओं का सदैव वास रहता है । अतएव काशी-वासी के यात्रार्थ ये सब सातों पुरियाँ यहाँ टिकी रहती हैं । इसी यात्रा को ऋतु-यात्रा वा सप्तपुरी-यात्रा भी कहते हैं ।

मास-यात्रा

मास-नाम	तीर्थ और देवताओं का नाम	कर्तृनामादिक और स्थान
चैत्र	कामकुण्ड में स्नान, कामेश्वर का पूजन	इस यात्रा को देवताओं ने किया है । (कामकुण्ड लुप्त है) महाल त्रिलोचन

वैशाख	विमलकुण्ड-स्नान, विमलेश्वर का पूजन	इसे दैत्यों ने किया है, कुण्ड लुप्त है, जंगमबाड़ी
ज्येष्ठ	रुद्रावासतीर्थ-रुद्रावासेश्वर	देवताओं ने यह यात्रा की है, तीर्थ गङ्गा में है, मणि-कर्णिकाघाट
आषाढ़	लक्ष्मीकुण्ड-लक्ष्मीदेवी	इसे गन्धर्वों ने किया है, प्रसिद्ध
श्रावण	कामाक्षाकुण्ड-कामाक्षादेवी	इसे विद्याधरों ने किया है, कमच्छा
भाद्रपद	कपालमोचनतीर्थ-कुलस्तम्भ (कोल्हुआ वा लाटभैरव)	यह किन्नरों की यात्रा है, लाटभैरव प्रसिद्ध
आश्विन	मार्कण्डेयतीर्थ-मार्कण्डेयेश्वर	पितरों ने इसे किया है, तीर्थ गुप्त है, ज्ञानवापी के पास
कार्तिक	पञ्चगङ्गातीर्थ-बिन्दुमाधव	ऋषिकृत, प्रसिद्ध
मार्गशीर्ष	पिशाचमोचन-कंपर्दीश्वर	विद्याधरकृत, प्रसिद्ध
पौष	धनदकुण्ड-धनदेश्वर	गुह्यककृत, कुण्ड लुप्त, अन्नपूर्णा के मन्दिर में कुबेरेश्वर हैं
माघ	कोटितीर्थ-कोटिलिङ्गेश्वर	यक्षकृत, तीर्थ गुप्त, साखीविनायक
फाल्गुन	गोकर्णकुण्ड-गोकर्णेश्वर	पिशाचों ने इसे किया है, गोकर्णकूप को कुण्ड कहा है, कोदई की चौकी

ये सब मासयात्राएँ "लिङ्गपुराण" में कथित हैं। तीर्थों में स्नान, मार्जन और अधिष्ठाता देवों का दर्शन और पूजन करना चाहिए। "लिङ्गपुराण" में तो मास भर प्रतिदिन की यही विधि कही गई है। पर पूरे मास भर न होवे, तो यथाशक्ति अवश्य करनी चाहिए। यद्यपि "काशीखण्ड" में इस क्रम से नहीं कही हैं; पर सभी देवताओं के नामादिक माहात्म्य के सहित यथास्थान वर्णित हैं।

इन मासकथित यात्राओं को प्रायः बहुत लोग नहीं करते। इससे ये अप्रचलित हैं; परन्तु वैशाख भर मणिकर्णिका-स्नान, कार्तिक भर पञ्चगङ्गा-स्नान एवं माघ भर दशाश्वमेध-स्नान को बहुतेरे लोग करते हैं। पाठकगण विचार कर जो बन पड़े, यथासम्भव करें। इसी प्रकार से पक्षयात्रा को भी समझ लेना

चाहिए; क्योंकि पक्ष मासों के भीतर आ जाते हैं; पर उनमें भी जहाँ कहीं आधिक्य है, लिख दिया जाता है। यथा—

ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे पक्षं रुद्रसरे (रुद्रसरोवरे) नरः।
कुर्वन् वै वार्षिकीं यात्रां न विघ्नैरभिभूयते ।।

(का०ख० ५२।९३)

अर्थात् जेठ मास के शुक्लपक्ष में पक्ष भर रुद्रसरोवर (दशाश्वमेध) की वार्षिकी यात्रा करने वाला मनुष्य विघ्नों से अतिक्रान्त नहीं होने पाता। अतएव जेठ के शुक्लपक्ष भर दशाश्वमेध-स्नान की यात्रा कही गई है। यों ही श्रावण के शुक्लपक्ष में दुर्गाकुण्ड पर श्री दुर्गा जी के दर्शन-पूजन की यात्रा और प्रायः वैष्णव स्थानों पर जैसे गोपाल-मन्दिर अथवा रामनगर, रामबाग में दोलायात्रा (हिड़ोरा वा झूला) का दर्शन सन्ध्याकाल में होता है। यह दर्शनयात्रा वा मेला भी है।

इसी भाँति आश्विनमास के कृष्ण (पितृ) पक्ष में भी लोग गङ्गा जी के घाटों पर अथवा पितरकुण्डा इत्यादि पवित्र तीर्थों पर पक्ष भर स्नान, तर्पण और श्राद्धादिक कर्मों से पितृगण की यात्रा करते हैं। (का० ख० ९७ वें अ० के २३५-३६ श्लोकों में माहात्म्य लिखा है)।

फिर कार्तिक मास के शुक्लपक्ष भर (रवि और मंगलवार को छोड़कर) प्रायः बगीचों में सकुटुम्ब जाकर श्रद्धालुगण धात्री (आँवलावृक्ष) का पूजन कर, ब्राह्मणभोजन करा कर, स्वयं इष्टजन के सहित भोजन करके योगिराज राजर्षि "भर्तृहरि के" इस पद्य को सार्थक बनाकर दिखा देते हैं—

"उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रातितीव्रं तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्रममितं भिक्षाटनं मण्डनम्।
आसन्नं मरणञ्च मङ्गलसमं यस्यां समुत्पद्यते
तां काशीं परिहृत्य हन्त ! विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते" ? ।।

(वैराग्य-शतक)

अर्थात्—जहाँ पर बगीचों में नाना प्रकार के भोजन बनाकर खाने की विधि (चाल) है। फिर कठिन से भी कठिन तप जहाँ पर हो जाता है, यों ही जहाँ कौपीन (लँगोटी) का पहनना ही उत्तम वस्त्र (समझा जाता) है, फिर भीख माँगना ही जहाँ पर भूषण है एवं जिसमें मृत्यु का पहुँच जाना ही (परम) मङ्गल के समान (होता) है, उस काशीपुरी को छोड़कर पण्डित लोग दूसरे स्थानों पर क्यों रहते हैं ?

इसी प्रकार से कुछ लोग अगहन मास के शुक्लपक्ष में कदम्बवृक्ष का पूजन और उसके समीप भोजनादिक भी बगीचों में करते हैं ।

माघ मास के शुक्लपक्ष भर काशीवासियों की वेदव्यासयात्रा गङ्गा जी के पार "व्यासपुरा" (गाँव) तथा श्रीमान् काशिराज के दुर्ग (किला) में होती है। लोग व्यास जी का (जो शिवलिङ्गरूप से हैं) दर्शन-पूजन करते हैं । फिर बहुतेरे लोग रामनगर के पोखरे पर चले जाते हैं, वहाँ खाना-पीना इत्यादि करके रात्रि के समय अपने घर पर लौट आते हैं । माघ मास में भगवान् वेदव्यास जी का दर्शन करना बहुत आवश्यक समझते हैं । दक्षिणदेश इत्यादि के यात्रीगण भी गङ्गापार "व्यासकाशी" की यात्रा के लिये प्रायः जाते हैं ।

इन यात्राओं में सभी यात्रा पक्ष भर की नहीं है । दशाश्वमेध और पितृ-पक्ष भर तो सभी को पूरी यात्रा वा तर्पणादिक करना चाहिए और अवशिष्ट यात्राओं में जैसे श्रावण, कार्तिक, अगहन और माघ मास के शुक्लपक्ष भर, जब जिसकी रुचि होती है, अपने मनोनुकूल एक-दो दिन यथावकाश कर लेता है । यद्यपि ये सब यात्राएँ अब मेला समझी जाती हैं, पर इनकी जड़ यात्रा ही है ।

तिथि-यात्रा

यद्यपि वार्षिक यात्राओं में भी बहुतेरी तिथियों की यात्राएँ आ जाती हैं, तथापि नियमित रूप से जिन-जिन तिथियों में जो-जो यात्राएँ "काशीखण्ड" इत्यादि में कही गई हैं, उनका भी संक्षेपतः वर्णन लिख दिया जाता है । प्रत्येक शुक्ल-तृतीया में गौरीयात्रा करनी चाहिए, यथा—

"अतः परं प्रवक्ष्यामि गौरीयात्रामनुत्तमाम् ।
शुक्लपक्षतृतीयायां यात्रेयं विश्वगृद्धिदा" ।।

अर्थ—अब (नव)गौरियों की परमोत्तम यात्रा कहता हूँ । शुक्ल-पक्ष की तृतीया (तीज) को यह यात्रा (करने से) बड़ी समृद्धि देती है । तीर्थों के सहित नवगौरियों के नाम-धामादिक इस प्रकार से हैं ।

नवगौरी-यात्रा*

गौरी-नाम	तीर्थ-नाम	स्थान-नाम (पता)
मुखनिर्मालिका गौरी	गोप्रेक्ष (गायघाट)	हनुमान् जी के मन्दिर में घाट के ऊपर

* चैत्र मास के वासन्तिक नवरात्र में नवगौरियों की यात्रा आज भी काशीवासी श्रद्धालुवों के लिए प्रचलित है । (संपादक)

ज्येष्ठा गौरी	ज्येष्ठावापी (गुप्त है)	कर्णघण्टा महाल में ज्येष्ठेश्वर के पास
सौभाग्य गौरी	ज्ञानवापी	विश्वनाथ जी के मन्दिर में वायुकोण पर की पार्वती जी
शृङ्गार गौरी	ज्ञानवापी	विश्वेश्वर मन्दिर के ईशानकोण की अन्नपूर्णा जी
विशालाक्षी गौरी	विशाल तीर्थ (मीरघाट)	अपने नाम से प्रसिद्ध
ललिता गौरी	ललितातीर्थ	ललिता घाट पर प्रसिद्ध
भवानी गौरी	भवानीतीर्थ	कालिका गली में शुक्रेश्वर के पास
मङ्गला गौरी	बिन्दुतीर्थ (पञ्चगङ्गा घाट)	प्रसिद्ध (गभस्तीश्वर के मंदिर में)
महालक्ष्मी गौरी	लक्ष्मीकुण्ड	प्रसिद्ध महाल

॥ इति नवगौरीयात्रा ॥

अब प्रत्येक कृष्णपक्ष की चतुर्थी (चौथ) को (छप्पन ५६) विनायकों की यात्रा कही गई है । यदि चतुर्थी तिथि को मंगल का वार पड़ जावे, तो वह तिथिवार (तिहवार) यात्रा विशेष फलदायक होती है—

''कुर्यात् प्रतिचतुर्थीह यात्रां विघ्नेशितुः सदा ।
ब्राह्मणेभ्यः तदुद्देशाद्देया वै मोदका मुदे'' ।।

अर्थ—प्रत्येक चतुर्थी (चौथ) को गणेश जी की यात्रा करनी चाहिए और उन्हीं के उद्देश्य से ब्राह्मणों को लड्डू देना चाहिए । (एक ही दिन ५६ विनायकों की समग्र यात्रा का करना असम्भव है, अतएव यथाशक्ति प्रत्येक चतुर्थी को यात्रा कर लेना उचित है) । सातों आवरणों के ८-८ की गणना से ५६ विनायकों के नामादि ''काशीखण्ड'' के ५७ वें अध्याय में इस क्रम से कहे गये हैं—

	विनायक-नाम	**स्थान (पता)**
१.	अर्कविनायक	लोलारक कुण्ड के समीप गङ्गा के तट पर
२.	दुर्गविनायक	दुर्गाकुण्ड पर
३.	भीमचण्डविनायक	भीमचण्डी गाँव (पञ्चक्रोशी में)
४.	देहलीविनायक	प्रसिद्ध (पञ्चक्रोशी में)
५.	उद्दण्डविनायक	भुइली गाँव में, रामेश्वर के समीप
६.	पाशपाणिविनायक	महाल-सदर बाजार (लेन में)

७.	खर्वविनायक	वरनासंगम पर, आदिकेशव से पश्चिम
८.	सिद्धिविनायक	मनिकनिकाघाट पर अमेठी के शिवालय के समीप

ये ही आठों प्रथमावरण (घेरे) के विनायक हैं।

९.	लम्बोदरविनायक	केदार जी के पास "चिन्तामणिविनायक" के नाम से प्रसिद्ध हैं
१०.	कूटदन्तविनायक	महाल कृमिकुण्ड
११.	शालकण्टकविनायक	मडुआडीह (बाजार)
१२.	कूष्माण्डविनायक	फुलवरिया गाँव, चण्डीश्वर के पास
१३.	मुण्डविनायक	त्रिलोचन के पास, वाराणसी देवी के मन्दिर में
१४.	विकटदन्तविनायक	धूपचण्डी देवी के पिछवाड़े
१५.	राजपुत्रविनायक	फुटहीकोट, राजघाट
१६.	प्रणवविनायक	त्रिलोचनघाट, हिरण्यगर्भेश्वर की मढ़ी में।

ये ही उपर्युक्त द्वितीयावरण के आठ विनायक हैं।

१७.	वक्रतुण्डविनायक	चौंसठ्ठी घाट पर रानामहल में, जो "सरस्वतीविनायक" कहे जाते हैं।
१८.	एकदन्तविनायक	बंगाली टोला (पुष्पदन्तेश्वर में)
१९.	त्रिमुखविनायक	सिगरा पर (इन्हें वानर, सिंह और हस्ती के मुख हैं)
२०.	पञ्चास्यविनायक	पिशाचमोचन-तालाब पर
२१.	हेरम्बविनायक	पिशाचमोचन-वाल्मीकि का टीला
२२.	विघ्नराजविनायक	चित्रकूट के पोखरे पर बगीचे में
२३.	वरदविनायक	राजघाट से प्रह्लादघाट की सड़क पर
२४.	मोदकप्रियविनायक	त्रिलोचन पर आदि-महादेव के मन्दिर में।

ये ही उपर्युक्त तृतीयावरण के आठ विनायक हैं।

२५.	अभयदविनायक	दशाश्वमेधघाट पर शूलटङ्केश्वर के मंदिर में
२६.	सिंहतुण्डविनायक	बालमुकुन्द के चौहट्टा के पास ब्रह्मेश्वर में
२७.	कूणिताक्षविनायक	लक्ष्मीकुण्ड पर
२८.	क्षिप्रप्रसादनविनायक	पितरकुण्डा पर
२९.	चिन्तामणिविनायक	इसरगंगी पर

३०.	दन्तहस्तविनायक	बड़े गनेश के घेरे में (इनको "हस्तदन्त" भी कहा जाता है)
३१.	पिचण्डिलविनायक	पहलादघाट पर
३२.	उद्दण्डमुण्डविनायक	त्रिलोचन के घेरा में वाराणसी देवी के मन्दिर में।

ये ही उपर्युक्त चतुर्थावरण के आठ विनायक हैं।

३३.	स्थूलदन्तविनायक	मानमन्दिर घाट–सोमेश्वर के द्वार पर
३४.	कलिप्रियविनायक	साक्षीविनायक पर, मनःप्रकामेश्वर के मंदिर में
३५.	चतुर्दन्तविनायक	ध्रुवेश्वर के मन्दिर में, कोदई की चौकी के पास
३६.	द्वितुण्डविनायक	सूर्यकुण्ड साम्बादित्य के मन्दिर के दलान में (इनको "द्विमुख-गणेश" कहते हैं)
३७.	ज्येष्ठविनायक	महाल काशीपुरा, कर्णघण्टा के पास ज्येष्ठेश्वर के समीप में
३८.	गजविनायक	मछरहट्टा में भारभूतेश्वर के मन्दिर में (इनका नाम "राजविनायक" प्रसिद्ध है)
३९.	कालविनायक	रामघाट पर
४०.	नागेशविनायक	घोंसलाघाट पर नागेश्वर के मन्दिर में।

ये ही उपर्युक्त पञ्चमावरण के आठ विनायक हैं।

४१.	मणिकर्णविनायक	मनिकनिका पर चौकी के पास
४२.	आशाविनायक	मीरघाट–हनुमान् जी के मन्दिर में
४३.	सृष्टिविनायक	कालिका गली में
४४.	यक्षविनायक	ढुण्ढिराज के पास पश्चिम फाटक पर
४५.	गजकर्णविनायक	बांसफाटक–कोतवालपुरा में ईशानेश्वर के समीप में
४६.	चित्रघण्टाविनायक	चाँदनी चौक–पूरब के फाटक में

पञ्चगङ्गा पर मङ्गला गौरी के पास (इन्हें ——" भी प्रायः कहते हैं)

४९.	मोदविनायक	ज्ञानवापी के दक्षिण ओर
५०.	प्रमोदविनायक	ज्ञानवापी विश्वनाथ की कचहरी में
५१.	सुमुखविनायक	ज्ञानवापी विश्वनाथ की कचहरी में
५२.	दुर्मुखविनायक	ज्ञानवापी विश्वनाथ की कचहरी में
५३.	गणनाथविनायक	ज्ञानवापी विश्वनाथ की कचहरी में
५४.	ज्ञानविनायक	'' ज्ञानवापी पर
५५.	द्वारविनायक	'' द्वारदेश पर
५६.	अविमुक्तविनायक	'' अविमुक्तेश्वर के पास ।

ये ही उपर्युक्त सप्तमावरण के आठ विनायक हैं ।

प्रत्येक पञ्चमी तिथि को यात्रा के प्रेमी लोग सप्तर्षियात्रा करते हैं । इन देवताओं के नाम ''काशीखण्ड'' में हैं, पर यात्रा की विधि शिष्टाचार से प्राप्त है । सप्तऋषियों की कथा ''काशीखण्ड'' के १८ वें अध्याय में कही गयी है ।

देवताओं के नाम	**का.ख.अ.श्लो.**	**स्थान (पता)**
कश्यपेश्वर		जंगमबाड़ी की सड़क पर (का. ख. में इनके स्थान पर आंगिरेश्वर का नाम १८ अध्याय के २० श्लोक में है)
अत्रीश्वर	(१८।१६)	कोदई की चौकी, गोकर्णेश्वर से पश्चिम इनका स्थान गुप्त है ।
मरीचीश्वर	(१८।१८)	
	(९७।११६)	नागकूवाँ पर इनकी मूर्ति है
गौतमेश्वर	(९७।२३८)	गोदौलिया पर महाराज काशीनरेश के शिवाला के घेरे में । (का. ख. १८ अ. के २१ श्लोक में क्रत्वतीश्वर लिखे हैं)
पुलहेश्वर	(१८।१९)	मनिकनिका, स्वर्गद्वार पर (पश्चिम ओर)
पुलस्त्येश्वर	(१८।१९)	'' '' वहीं
वशिष्ठेश्वर	(१८।२१)	संकटाघाट पर (यहीं अरुन्धतीश्वर का भी दर्शन करना चाहिए । काशीखण्ड में इनका स्थान वरना के तट पर कहा है)

इस यात्रा को सप्तर्षि-यात्रा कहते हैं ।

प्रत्येक अष्टमी को भैरवीयात्रा, दुर्गायात्रा, स्वप्नेश्वरीयात्रा, मत्स्योदरीयात्रा और ज्ञानवापीयात्रा काशीखण्ड में कथित हैं। पर इन सब यात्राओं में अष्टायतन यात्रा की प्रधानता है और वही विशेष प्रचलित है। भैरवयात्रा और दुर्गायात्रा को लोग प्रायः भौमवार को ही करते हैं। अतएव उसका वर्णन वारयात्रा में किया गया है (वहाँ देख लीजिए), त्रिलोचन का माहात्म्य काशीखण्ड के ७५-७६ वें अध्याय में है। स्वप्नेश्वरी का वर्णन ७०वें अध्याय के अन्त में है। मत्स्योदरी की कथा ओंकारेश्वर के वर्णन में ७३वें अध्याय की है। यों ही ज्ञानवापी का माहात्म्य ३३-३४वें अध्याय में देखना चाहिए। अष्टमी की प्रायः सभी यात्राएँ चतुर्दशी को भी कही गई हैं। इसलिए यात्रार्थी लोग अपनी सुविधा के अनुसार जब चाहें कर सकते हैं।

का० ख० के १००वें अ० में अष्टायतन यात्रा का वर्णन है, यथा—

का०ख० की क०	अध्यायाङ्क	देव-नाम	स्थान (पता)
(१)	८९	दक्षेश्वर	वृद्धकाल-कूप के उत्तर बड़े शिवालय में
(२)	९०	पार्वतीश्वर	त्रिलोचन पर आदिमहादेव के पास
(३)	६१	पशुपतीश्वर	इसी नाम से महाल प्रसिद्ध है।
(४)	९१	गंगेश्वर	ज्ञानवापी के पूर्व पीपर के पास स्थान है।
(५)	९२	नर्मदेश्वर	त्रिलोचन-मंदिर से पूर्व की ओर के शिवाला में
(६)	४९	गभस्तीश्वर	मङ्गलागौरी जी के मन्दिर में
(७)	९३	सतीश्वर	वृद्धकाल की सड़क पर—रत्नेश्वर के समीप
(८)	६१	तारकेश्वर	ज्ञानवापी के पूर्व गौरीशङ्कर के नीचे स्थान है, मूर्ति गुप्त है।

प्रत्येक नवमी को नवदुर्गा अथवा नवचण्डी की यात्रा कही गई है, जैसा कि "लिङ्गपुराण" का वचन है—

"नवम्यामथवाऽष्टम्यां चण्डीयात्रा शुभावहा"।

अर्थ—नवमी अथवा अष्टमी तिथि को चण्डिका की शुभकारिणी यात्रा करनी चाहिए। इसके आगे नवचण्डियों का नाम भी लिखा है, यथा—दक्षिण में—दुर्गा, नैर्ऋत्यकोण में—उत्तरेशी, पश्चिम में—अङ्गारेश्वरी, वायव्यकोण में—भद्रकाली, उत्तर में—भीष्मचण्डी, ईशानकोण में—महामुण्डा, पूर्वदिशा में—शंकरी, अग्निकोण में—ऊर्ध्वकेशी तथा क्षेत्र के मध्य में—चित्रघण्टा देवी। पर यह यात्रा बहुत ही अप्रचलित है; किन्तु दोनों नवरात्र की नवमियों को अथवा प्रतिपदा से आरम्भ करके क्रम से नवमीपर्यन्त नव दिनों में भी नवदुर्गा की यात्रा बहुतेरे लोग करते हैं। नवदुर्गाओं के नामादिक "वाराहपुराणोक्त" देवीकवच के अनुसार कहे जाते हैं।

देवियों के नाम	**स्थान (पता)**
१. शैलपुत्री-दुर्गा	वरना के तट पर मढ़ियाघाट के पास—शैलेश्वर के मन्दिर में।
२. ब्रह्मचारिणी-दुर्गा	पञ्चगङ्गा के पास दुर्गाघाट पर प्रसिद्ध हैं।
३. चित्रघण्टा-दुर्गा	चौक के पूर्व चन्दू की गली में।
४. कूष्माण्डा-दुर्गा	दुर्गाकुण्ड पर दुर्गा जी प्रसिद्ध हैं।
५. स्कन्दमाता-दुर्गा	जैतपुरा महाल में प्रसिद्ध वागीश्वरी जी। सिद्धमाता की गली—बुलानाला के पास भी एक देवी का दर्शन होता है; पर बहुधा नवगौरी के दर्शन के क्रम में वहाँ लोग जाते हैं। वहीं एक मन्दिर भी है। उसमें पञ्चक्रोशी के समस्त दर्शनार्ह देवों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उपर्युक्त सिद्धेश्वरी या स्कन्दमाता की गली में नवमी को भी दर्शन होता है। (आगे निर्दिष्ट है।)
६. कात्यायनी-दुर्गा	आत्मावीरेश्वर के मन्दिर में।
७. कालरात्री-दुर्गा	कालिका गली में कालिका माई।
८. महागौरी-दुर्गा	अन्नपूर्णा जी (पञ्चगङ्गा पर), मङ्गलागौरी और संकटा जी—इन तीनों देवियों का दर्शन अपने मत के अनुसार लोग करते हैं; पर अन्नपूर्णा जी में विशेष भीड़-भाड़ यात्रियों की होती है।

९. सिद्धिदात्री-दुर्गा — बुलानाला महाल में सिद्धमाता की गली में हैं। (कोई-कोई चन्द्रकूप के घेरे में सिद्धेश्वरी देवी, जिनके नाम से वह महाल है, दर्शन करते हैं)।

यद्यपि यह नवरात्रि की यात्रा लिखी गई है; पर काशीखण्ड के १००वें अ० के ७६वें श्लोक में प्रति अष्टमी वा नवमी को दुर्गायात्रा विहित है।

फिर ७२वें अध्याय के ८९-९१ श्लोकों के अनुसार आठों दिशाओं की आठ एवं मध्य की एक—इस प्रकार से नव अधिष्ठात्री देवियाँ और शक्तियाँ भी कही गई हैं। वे अविमुक्त क्षेत्र की सहस्रों उपद्रवों से रक्षा करती रहती हैं। उनके नाम हैं—(१) शतनेत्रा, (२) सहस्रास्या, (३) अयुतभुजा, (४) अश्वारूढ़ा, (५) गजास्या, (६) त्वरिता, (७) शववाहिनी, (८) विश्वागौरी और (९) सौभाग्यगौरी।

''सनत्कुमारसंहिता'' में व्यासेश्वर की यात्रा भी कही गयी है। यथा—

''दृष्ट्वा व्यासपुरीमेतां नवम्यां चापि पर्वणि।
उपवासीह जागर्ति व्यासमाराध्य सन्निधौ।।
प्रातर्व्यासेश्वरं दृष्ट्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते'' ।।

अर्थ—(कर्णघण्टा पर) नवमी अथवा (पूर्णिमा इत्यादि) पर्व पर व्यासपुरी का दर्शन कर कोई उपवासी जो व्यासकुण्ड में स्नान कर व्यासेश्वर की आराधना करके उनके समीप में ही रात्रि-जागरण करता है और फिर प्रातःकाल व्यासेश्वर का दर्शन (पूजन) करता है, वह सब पापों से छूट जाता है। (किसी-किसी का मत है कि उक्त ''व्यासपुरी'' गङ्गापार के ''व्यासपुरा'' गाँव का नाम है। वहाँ पर भी व्यासेश्वर का स्थान और मन्दिर प्राचीन है; पर काशीखण्ड के ९५वें अध्याय में व्यासेश्वर का वर्णन कर्णघण्टा ही पर किया है[1])।

प्रत्येक एकादशी तिथि को विष्णुतीर्थों में भगवान् विष्णु की यात्रा करनी उचित है। काशीखण्ड के ६१वें अध्याय में विष्णुतीर्थों का वर्णन है और यही बात ''वायुपुराण'' की ''लक्ष्मीसंहिता'' में भी कही गई है, यथा—

''तत्र तीर्थान्यनेकानि लिङ्गानि मुनिसत्तम।
तत्र तत्र हरेर्मूर्तिर्वर्तते मुक्तिदायिका।।

---

१. व्यासकुण्डरूप पुरी की कुछ वर्षों पूर्व खोदाई कर व्यासपूर्णिमा को दर्शन होता है। (सम्पादक)

पञ्चक्रोशेषु सर्वत्र बहिरन्तरमेव च ।
तत्तत्तीर्थादिनाम्ना वै स्थितो विष्णुः सनातनः'' ।।

अर्थ—काशी में अनेक तीर्थ और अनेक लिंग हैं । वहाँ-वहाँ (जहाँ तीर्थ और लिंग हैं) हे मुनिसत्तम ! विष्णु की भी मोक्ष देने वाली मूर्ति विराजमान है । फिर पाँच कोश के बाहर अथवा भीतर सर्वत्र ही उन-उन तीर्थों के नाम से सनातन विष्णु वर्तमान रहते हैं ।

काशी शिवपुरी होने पर भी हरिहरात्मिका है; क्योंकि हरि-हर में कुछ भी अन्तर नहीं है, अतएव सभी लोगों को यह वचन मान्य है—

''सम्प्राप्य वासरं विष्णोर्विष्णुतीर्थेषु सर्वतः ।
यात्रा कार्या प्रयत्नेन महाफलसमृद्धये'' ।।

अर्थात्—विष्णुवासर (एकादशी तिथि) को प्रयत्नपूर्वक समस्त विष्णु-तीर्थों में बड़े फल की समृद्धि के लिये यात्रा करनी चाहिए । पञ्चगङ्गा पर बिन्दु-माधवादिक एवं गोपाल-मन्दिर इत्यादि भगवान् विष्णु के स्थान शिवलिङ्गों के समान ही काशी में अगणित हैं । अतएव यात्री लोग अपने मनोनुकूल यथेष्ट यात्रा करें ।

काशीखण्ड के ८१वें अध्याय के २९वें श्लोक में एकादशी को शंखोद्धार तीर्थ (संखूधारा) पर भी स्नान करने का बड़ा माहात्म्य कहा गया है ।

प्रत्येक द्वादशी को काशी देवी की यात्रा ''काशीरहस्य'' में लिखी है, यथा—

''द्वादश्यां प्रातरेवाद्यां काशीं यः पूजयेत्सुधीः ।
तस्य पापे न रमते बुद्धिर्धर्मे प्रवर्तते'' ।।

अर्थ—द्वादशी के प्रातःकाल (ललिताघाट पर) काशी देवी का पूजन जो बुद्धिमान् जन करता है, उसकी बुद्धि पाप में नहीं रमती, वरन् धर्म में प्रवृत्त होती है । उक्त तिथि को ज्ञानवापी की यात्रा करने में भी बड़ा फल होता है । ''काशीखण्ड'' के ३३वें अध्याय में लिखा है ।

प्रत्येक त्रयोदशी को प्रदोष का व्रत करके सायंकाल में महादेव की पूजा करनी चाहिए, जैसा कि ''ब्रह्मोत्तरखण्ड'' में कहा है—

''पक्षद्वये त्रयोदश्यां निराहारो भवेद्दिवा ।
घटीत्रयादस्तमयात्पूर्वं स्नानं समाचरेत् ।।
शुक्लाम्बरधरो भूत्वा वाग्यतो नियमान्वितः ।
कृतसन्ध्याजपविधिः शिवपूजां समाचरेत्'' ।।

अर्थ—(कृष्ण और शुक्ल) दोनों पक्षों की त्रयोदशी तिथि को दिन में निराहार रहकर व्रत करे। फिर सूर्य के अस्त होने से तीन घड़ी पूर्व ही स्नान करे। तदनन्तर शुक्ल वस्त्र पहन, मौनावलम्बनपूर्वक नियमयुक्त हो, नित्य की सन्ध्या और जपादिक कृत्यों को कर, महादेव की पूजा करे।

यह प्रदोष-व्रत सन्ध्या समय में जब त्रयोदशी मिलती है, तब किया जाता है। दिन भर उपवास करके सायंकाल में शिव के पूजन करने के उपरान्त रात्रि में भोजन करने का निषेध नहीं है। जब कभी शनैश्चर अथवा सोमवार को प्रदोष होता है, तब उसका विशेष माहात्म्य कहा गया है। इसी शनिप्रदोष को कामेश्वर की (त्रिलोचन पर) प्रधान यात्रा काशीखण्ड के ८५वें अध्याय के ७५ से ७७ श्लोकों में वर्णित है और १४वें अ० के ४९वे श्लो० में चन्द्रेश्वर का भी पूजन लिखा है। पर लोग सोमप्रदोष में चन्द्रेश्वर अथवा सोमेश्वर की पूजा करते हैं। इससे भिन्न अन्य प्रदोषों में जहाँ सुगम पड़े, अपनी रुचि के अनुसार शिव जी का पूजन करना चाहिए। इस व्रत से सन्तान, सम्पत्ति का फललाभ सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। काशी में स्त्रियाँ (और पुरुष भी) इस (उक्त) प्रदोष-व्रत और पूजन को बहुतायत से करती हैं।

यद्यपि चतुर्दशी की बहुतेरी यात्राएँ अष्टमी के यात्रा-प्रसङ्ग में कही जा चुकी हैं; पर प्रतिपदा से आरम्भ करके चतुर्दशीपर्यन्त अथवा प्रतिचतुर्दशी को ही तीनों चतुर्दश आयतनों की यात्रा का विशेष माहात्म्य वर्णित है। यदि तीनों चतुर्दशायतनों की यात्रा नहीं हो सके, तो एक ही एक चतुर्दशायतन की अथवा एकादश महारुद्रों की यात्रा यथाशक्ति अवश्य करनी चाहिए। काशीखण्ड के १००वें अध्याय में ४२ से लेकर ६६वें श्लोक तक इन यात्राओं की विधि लिखी है। प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को शिवरात्रि कहा जाता है। इस दिन बहुत से लोग व्रत भी रहते हैं।

(जिन्हें यात्रा करने की इच्छा हो, वे लोग देख लेवें, विशेष वचन होने से यहाँ उद्धृत नहीं किये गये)।

शिवलिङ्गों के नाम	**स्थान (पता)**	**काशीखण्ड के अध्याय**
ओङ्कारेश्वर	मछोदरी के उत्तर महाल हुक्कालेसन (कोयला बाजार के पास)	७३-७४ वें अ० में (कूर्मपु० ब्राह्मी-संहिता ३१ अ०)।
त्रिलोचनेश्वर	तिलोचनघाट पर	७५-७६ वें अ० में।
आदिमहादेव	त्रिलोचन के मन्दिर से पूर्व की ओर	६९ वें अ० के २६ से ३५ श्लोकों तक।

कृत्तिवासेश्वर	वृद्धकाल के पास हरतीर्थ पर	६८वाँ अ० (शिवपुराण के ५वें ख० के ५५वें अ० में भी यह कथा है)।
रत्नेश्वर	वृद्धकाल की सड़क पर	६७ वाँ अ० (शिवपु० ६ वाँ ख० २१-२२ अ०)।
चन्देश्वर	सिद्धेसरी के मन्दिर में	१४वें अ० में।
केदारेश्वर	केदारघाट (हाड़ा का बाग)	७७ वाँ अ० (शिवरहस्य)।
धर्मेश्वर	मीरघाट पर धरमकूप	७८-७९-८०-८१ वें अ०।
वीरेश्वर	संकटाघाट पर आत्मा-वीरेश्वर	८२-८३-८४ वें अ०।
कामेश्वर	मछोदरी के दक्षिण सड़क पर	८५ वाँ अध्याय।
विश्वकर्मेश्वर	हनुमान् फाटक के पास ग्वालगड्डा (गोलगड्डा) पर	८६ वाँ अ०।
मणिकर्णिकेश्वर	मनिकनिकाघाट के ऊपर गोमठ के सामने काकाराम की गली में वर्दमान की कोठी के घेरे में नीचे	६१वें अ० के ४-५ श्लोकों में।
अविमुक्तेश्वर	विश्वनाथ जी के मन्दिर में	३९ वाँ अ०।
विश्वेश्वर	प्रसिद्ध (काशी के राजा विश्वनाथ बाबा)	९९ वाँ अ०।

ये ही उपर्युक्त ओङ्कारेश्वरादि चतुर्दश लिंग काशीखण्ड के ८६वें अ० में १०८ से ११० श्लोकों में कहे हैं और ये ही **प्रथम चतुर्दशायतन कहे जाते हैं।**

अमृतेश्वर	सरगदुआरी से आगे कुञ्ज बिहारी जी गङ्गापुत्र के घ में	९४वें अ० में, आदि से १९ श्लोकों तक।
तारकेश्वर	ज्ञानवापी के पूर्व स्थान है (मूर्ति गुप्त है)	६९ वें अ० के ५३ से ५६ श्लोकों तक।
ज्ञानेश्वर	लाहौरी टोला में धनीराम खत्री के आँगन में नीचे	८१ वें अ० के ४७ वें श्लोक में एवं ८४ अ० के ५८वें श्लो० में।
करुणेश्वर	ललिताघाट के ऊपर प्राचीन पं० नारायणपति तिवारी जी की हवेली के समीप में	९४वें अ० में २०-२८ श्लोक तक।
मोक्षद्वारेश्वर	,, ,, वहीं पर	९७ अ० २३३ श्लोक, फिर ९४वें अ० में २९ वें श्लोकों में दोनों ही लिंगों का वर्णन।
स्वर्गद्वारेश्वर	ब्रह्मनाल के पास सरग-दुआरी पर (बच्चासिंह के घर में)	,, ,,

ब्रह्मेश्वर	बालमुकुन्द का चौहट्टा	५२ वें अ० में ७३ वाँ श्लो०, ५३वें अ० में ९७ वाँ श्लो० ।
लांगलीश्वर	पाँचों पंडवा के पास खोआ बाजार के कोने पर	९७ अ० के २१४ से २१६ श्लोक में वर्णित हैं ।
वृद्धकालेश्वर	दारानगर में "विधकाल" प्रसिद्ध हैं	२४वें अ० में ।
वृषेश्वर	गोरखटीला के भीतर महाल मैदागिन पर	६९ वें अ० में ९२ श्लोक ।
चंडीश्वर	(वरना के) इमिलियाघाट के पास	६९ वें अ० में ५७-५८ श्लोक ।
नन्दिकेश्वर	ज्ञानवापी पर	९७ अ० में २८-२९ श्लो० और २२१ वें श्लोक में भी ।
महेश्वर	मनिकनिकाघाट पर मढ़ी में	३३ अ० के ७वें श्लोक में ।
ज्योतीरूपेश्वर	मणिकर्णिकेश्वर के समीप एक गृह की दलान में ।	९४ अ० में ३० से ३४ श्लोकों तक ।

ये ही उपर्युक्त अमृतेश्वरादि चौदह लिंग **द्वितीय चतुर्दशायतन** कहे जाते हैं ।

शैलेश्वर	(वरना के मढ़ियाघाट पर)	६६वें अ० में ३३ श्लोक से अध्याय के अन्त तक ।
संगमेश्वर	वरना संगम पर आदि-केशव के समीप	९७वें अ० में १६ वाँ श्लोक ।
स्वर्लीनेश्वर	राजघाट और पहलाद-घाट के बीच में गङ्गा के तट पर	९७वें अ० में ३६ वाँ श्लोक ।
मध्यमेश्वर	मदाकिन (वर्तमान मैदा-गिन) पर गनेसगंज में	९७ अ० ४९ से ५४ श्लो० (तथा लिंगपु० ९२वाँ अ०) ।
हिरण्यगर्भेश्वर	तिलोचनघाट के उत्तर मढ़ी में	८४वें अ० के ३७ वें श्लोक में इनका तीर्थ कहा है ।
ईशानेश्वर	बाँसफाटक पर कोतवालपुरा में	१४वें अ० में आदि से १२ श्लोक एवं ९१ अ० में ९३-९४ श्लोक ।
गोप्रेक्षेश्वर	लालघाट पर गोपीगोविंद जी के मन्दिर में गौरी-शङ्कर प्रसिद्ध	९७वें अ० में ९ से ११ श्लो० तक ।
वृषभध्वजेश्वर	कपिलधारा पर प्रसिद्ध	६२वाँ अ० (लिंगपु० ९२ अ० एवं शिवपु० ६वाँ खण्ड १७वाँ अ०) ।
उपशान्तशिव	अग्नीश्वर नया घाट के ऊपर गली में	९७ अ० के ४८ से ५० श्लोक तक वर्णन है ।
ज्येष्ठेश्वर	काशीपुरा में कर्णघण्टा के पास	६३वें अ० में आदि से २० श्लो० तक ।

निवासेश्वर	काशीपुरा में भूतभैरो के मन्दिर से पश्चित ओर (का० खं० में चतु:समुद्रेश्वर भी लिखे हैं)	६३वें अ० में १६-१७ श्लो० तथा ९७वें अ० १६७ वाँ श्लोक।
शुक्रेश्वर	कालिका गली में	१६वाँ अ०।
व्याघ्रेश्वर	काशीपुरा में भूतभैरो के नैर्ऋत्य कोन पर	६५ अ० में ४४ श्लो० से अन्त तक वर्णन है।
जम्बुकेश्वर	बड़े गनेस के पास	९७वाँ अ० १५९ वाँ श्लोक।

ये उपर्युक्त चौदहों लिंग तृतीय आयतन के देवता हैं।

इस प्रकार से तीनों चतुर्दशायतनों को मिलाकर ४२ लिंग होते हैं।

।। एककादश महारुद्र ।।

आग्नीध्रेश्वर	इसरगङ्गी पर "जागेश्वर" नाम से प्रसिद्ध हैं।	१००वें अ० में ६३वाँ श्लोक।
उर्वशीश्वर	औसानगंज गोलाबाग में	" " "
नकुलीश्वर	विश्वनाथ जी के पास महावीर जी के मन्दिर में अक्षयवट के नीचे	६९वें अ० में १६-१७ श्लोक।
आषाढ़ीश्वर	काशीपुरा में राजा बेतिया के घेरे में बड़े मन्दिर के पिछवाड़े	५५वें अ० में २७ से २९ श्लोक तक, और ९७ अ० में १७७ वाँ श्लोक।
भारभूतेश्वर	राजा-दरवाजा-गोविन्दपुरा में म० म० पं० शिव-कुमार शास्त्री जी के घर के समीप	५५ अ० में १३-१४ श्लोक में एवं ९७ वें अ० में १७८ वाँ श्लोक।
लांगलीश्वर	पाँचों पंडवा के आगे खोवा बाजार में	५५ वाँ अ० में २०-२१ श्लोक और ९७ वें अ० के २१४ से २१६ श्लोक।
त्रिपुरान्तकेश्वर	सिगिरा के टीला पर	६९ वें अ० में ७३ वें श्लोक से ७५ और ९७ अ० वें अ० में २३२ वाँ श्लोक।
मन:प्रकामेश्वर	साखीविनायक (साक्षी-विनायक) पर प्रसिद्ध	१०० अ० में ६५ वाँ श्लोक।
प्रीतिकेश्वर	कालिका गली में बाड़ा में	९७ अ० में २१८ और २१९ श्लोक।
मदालसेश्वर	कालिका गली के सामने	९७ अ० में २३० वाँ श्लोक।
तिलपर्णेश्वर	दुर्गाकुण्ड पर	५३वें अ० में १२२ वाँ श्लोक।

यह एकादश-आयतन की यात्रा कही गई है। कोई-कोई यात्रा के प्रेमी लोग इसे एकादशी को भी करते हैं। पर काशीखण्ड में एकादशी की कोई विधि नहीं है।

त्रिकोण-यात्रा

प्रथम दुर्गाकुण्ड में स्नान कर दुर्गादेवी का पूजन करे, फिर वहाँ से लक्ष्मीकुण्ड में आकर मार्जन करके महालक्ष्मी का पूजन करे, तदनन्तर जैतपुरा में जाकर वागीश्वरी देवी की पूजा करे। (यहाँ पर भी पूर्व में कुण्ड था, जो अब पटकर लुप्त हो गया है)। ये ही तीनों स्थान महाकाली, महालक्ष्मी और महा-सरस्वती के हैं और ये तीनों ही काशी के तीन कोनों में हैं, अर्थात् दक्षिण दिशा—भदैनी गाँव में दुर्गा जी, पश्चिम दिशा—रामापुरा गाँव में लक्ष्मी जी और उत्तर दिशा—जैतपुरा गाँव में वागीश्वरी देवी विराजमान हैं। इन तीनों देवियों के गाँवों में प्राचीन ब्राह्मणों की बस्तियाँ हैं और प्राय: समस्त नगर की पुरोहिती उन्हीं ब्राह्मणों की है (कालानुसार यवन लोग उन्हीं स्थानों के थोड़े अन्तर पर बसते गये हैं, जो मदनपुरा, लल्लापुरा और अलईपुरा के नाम से महाल प्रसिद्ध हैं। ये ही यवन बनारसी साड़ी तथा दुपट्टों के बनाने वाले तन्तुवाय (जोलाहे) हैं।

यह यात्रा प्राय: मंगलवार या चतुर्दशीयुक्त मंगल को देवी जी के भक्त लोग करते हैं। प्रत्येक पूर्णमासी को [काशीखण्ड के १४वें अध्याय के ४२-४३ श्लोकों के आधार पर] चन्द्रेश्वर (सिद्धेश्वरी के मन्दिर में) की यात्रा करनी चाहिए।

प्रत्येक अमावास्या को [काशीखण्ड ६२वें अध्याय के ६६वें श्लोक में] कपिलधारा पर (वृषभध्वज की यात्रा और) श्राद्ध-तर्पण इत्यादि का बड़ा माहा-त्म्य कहा है।

इस प्रकार से तिथियात्रा निरूपित हुई। यात्रार्थी लोगों को यथासम्भव इनका सम्पादन करना चाहिए।

वार-यात्रा

प्रति रविवार को सूर्यनारायण की यात्रा प्रधानरूप से करनी चाहिए। काशी में द्वादश (१२) आदित्यों के स्थानादि सप्रमाण लिखे जाते हैं। (रविवार को भैरव की यात्रा भी कही है, जो भौमवार की यात्रा में लिखी गई है, पाठक लोग वहीं देख लेवें)।

द्वादश अर्क (सूर्य-देव) के स्थानादि

सूर्य के नाम	धाम (पता)	काशीखण्ड की कथा के अध्याय के अङ्क
लोलार्क	भदैनी में अस्सीसंगम के पास प्रसिद्ध लोलारक-कुण्ड	४६ वाँ (१५ अ० वामनपुराण)।
उत्तरार्क	अलईपुर में बकरियाकुण्ड पर	४७ वाँ
साम्बादित्य	सूरजकुण्ड पर प्रसिद्ध	४८ वाँ

(यहाँ प्रति रविवार को बहुत से लोग सूर्यकुण्ड में स्नान भी किया करते थे। तदनन्तर सूर्य (साम्बादित्य) का दर्शन)।

द्रौपदादित्य	विश्वनाथ जी के समीप हनुमान् जी के मन्दिर में अक्षयवट के नीचे	४९ वाँ
मयूखादित्य	पञ्चगङ्गा के पास मङ्गलगौरी जी के मन्दिर में	४९ वाँ
खखोल्कादित्य	त्रिलोचन पर कामेश्वर के घेरे में (इन्हीं का नाम विनतादित्य भी है)	५० वाँ
अरुणादित्य	त्रिलोचन के मन्दिर में	५१ वाँ
वृद्धादित्य	मीरघाट पर हनुमान् जी के मन्दिर के पास एक घेरे में	५१ वाँ
केशवादित्य	वरनासंगम पर आदिकेशव जी के मन्दिर में	५१ वाँ
विमलादित्य	गोदौलिया के पास जंगमबाड़ी में	५१ वाँ
गङ्गादित्य	ललिताघाट पर	५१ वाँ
यमादित्य	जमघाट (संकटाघाट) पर	५१ वाँ

यही द्वादशादित्य यात्रा है। षष्ठी अथवा सप्तमी तिथि को रविवार पड़ने से भानुषष्ठी किं वा भानुसप्तमी को पद्मक योग होता है। उस दिन इन आदित्यों की यात्रा बहुत ही फलदायक होती है; क्योंकि यह पद्मक योग सहस्र सूर्यग्रहण के समान फलदायक माना गया है।

प्रत्येक सोमवार को काशीखण्ड के १४वें अध्याय में चन्द्रेश्वर की यात्रा, ३३वें अध्याय के अनुसार ज्ञानवापी की यात्रा, ६२वें अध्याय में सोमवती अमा-वास्या को कपिलधारातीर्थ पर श्राद्ध और ८४वें अध्याय के २० से २८ श्लोकों

तक करुणेश्वर की भी यात्रा लिखी है; पर इन सब यात्राओं में प्रधानयात्रा विश्वनाथ जी की है। जो लोग प्रतिदिन दर्शन नहीं कर सकते, वे प्राय: सोमवार ही को दर्शन-यात्रा किया करते हैं। जैसा कि ३३वें अध्याय में ज्ञानवापी के माहात्म्य में वर्णन किया है। श्रावण मास के प्रति सोमवार को प्राय: विशेष यात्रा होती है; क्योंकि सोमप्रदोष का व्रत करके लोग सायंकाल में स्नान और शिवपूजन इत्यादि करते हैं। इसमें जिसे जहाँ सुगम पड़ता है, वहीं पूजनादि कर लेता है; पर सारनाथ, जो नगर से प्राय: तीन कोस उत्तरदिशा में है (जहाँ पर भगवान् विष्णु ने बौद्धधर्म का उपदेश किया था, काशीखण्ड का ५८वाँ अध्याय देखिए, मेला गलता है) और नगर में केदारघाट पर स्नान की भीड़ होती है, जैसा कि "शिवरहस्य" में कहा है—

"काश्यामन्यमिह स्थानं केदाराभिधमुत्तमम्।
तस्य केदारनाथस्य श्रावणे सोमवासरे।।
पूजा कार्या विशेषेण साधनैर्विविधैः शुभैः"।।

अर्थ—काशी में केदार नामक एक बड़ा उत्तम दूसरा ही स्थान है। सावनमास के सोमवार को उन केदारनाथ जी की अनेक प्रकार की शुभ-सामग्रियों से विशेषरूप की पूजा करनी चाहिए।

प्रत्येक मंगलवार को (काशीखण्ड के ७२वें अध्याय के ८२वें श्लोक में) दुर्गा जी की यात्रा कही है। (३१वें अध्याय के १५५ श्लोक में) भैरव की यात्रा लिखी है और (७०वें अध्याय के ४८वें श्लोक में) बन्दीदेवी की यात्रा विहित है। यों ही (१७वें अध्याय में आदि से २१ श्लोकों तक) मंगलवार को चतुर्थी हो, तो और भी उत्तम है। अङ्गारकेश्वर की यात्रा भी कही है। इन सबसे भिन्न आज-कल के शिष्टाचारानुसार हनुमान् जी की यात्रा विशेष प्रचलित है। श्रावण के मङ्गलवार को संकटमोचन हनुमान् तथा हनुमानघाट के बड़े हनुमान् के दर्शन में विशेष भीड़ होती है। जब कभी भौमवार को प्रदोष अथवा अमावास्या पड़ती है, तब उक्त केदारेश्वर की यात्रा और गौरीकुण्ड पर श्राद्धादिक का (काशीखण्ड के ७७वें अध्याय के ५९वें श्लोक में) विशेष माहात्म्य लिखा है। यदि चतुर्थी को मंगलवार पड़े, तो गणेश जी की यात्रा भी अवश्य कर्तव्य है। यों ही चतुर्दशी पड़ने पर कलशेश्वर की यात्रा और भरणी नक्षत्र मिलने से यमघाट पर स्नान, तर्पण और श्राद्धादिक का भी (का० ख० के ५१वें अध्याय के १११वें श्लोक में) विशेष फल कहा है। श्रावण मास के प्रत्येक मंगलवार को दुर्गा-कुण्ड पर दुर्गा जी के दर्शन-पूजन का बड़ा भारी मेला होता है। "शिवरहस्य" में कामाक्षा (कमच्छा पर) के पूजन का भी बड़ा माहात्म्य पाया जाता है। (का० ख० ७२वें अ० के ९३ श्लोक में) अष्टभैरवों के ये नाम हैं—

अष्ट-भैरव

नाम	धाम
रुरुभैरव	हनुमान् घाट के समीप।
चण्डभैरव	दुर्गाकुण्ड, दुर्गा जी के घेरे में काली जी के मन्दिर में।
असिताङ्गभैरव	वृद्धकाल के घेरे में अमृतकुण्ड से पूर्व की ओर।
कपालभैरव	प्रसिद्ध "लाटभैरो"।
क्रोधनभैरव	कमच्छा पर "वटुकभैरो" प्रसिद्ध है।
उन्मत्तभैरव	पञ्चक्रोशी में भीमचण्डी की सड़क पर देवरा गाँव में।
संहारभैरव	तिलोचनगंज के पाठन दरवाजे के निकट।
भीषणभैरव	कासीपुरा में "भूतभैरो" के नाम से प्रसिद्ध हैं, वरन् इसी नाम से वह महाल भी कहा जाता है।

['दण्डपाणि' को भी कुछ लोग 'भैरव' का ही एक रूप बताते हैं।]

पर इन सब लोगों के कोतवाल कालभैरव हैं और प्रधान भैरव की यात्रा भैरवनाथ की ही लोग करते हैं (का० खं० के ३१वें अध्याय में इनकी कथा है)। इनसे भिन्न और भी कई भैरवों के स्थान प्रसिद्ध हैं, जैसे—रामघाट के ऊपर गली में "आनन्दभैरव", चौक से आगे नीचीबाग की सड़क पर "मोहन-भैरव" और विश्वनाथ जी के पश्चिम द्वार पर "द्वारभैरव" इत्यादि विराजमान हैं।

प्रत्येक बुधवार को काशीखण्ड के १५वें अध्याय के आधार पर बुधेश्वर की (जो आत्मावीरेश्वर के घेरे में मंगलेश्वर के समीप में हैं) यात्रा करनी चाहिए। यदि बुधवार को अष्टमी पड़े, तो वह एक पर्वदिन हो जाता है। उस बुधाष्टमी को स्नानदान का विशेष फल होता है। यों ही बुधवार, द्वादशी तिथि और श्रवण-नक्षत्र इन तीनों ही के मिलने से वरणासंगम पर स्नान-दान और श्राद्धादिक करने से अधिक पुण्यलाभ होता है।

प्रत्येक बृहस्पतिवार को (का०ख० के १७वें अध्याय के अनुसार) बृह-स्पतीश्वर (जो आत्मावीरेश्वर के पास में हैं), उनकी यात्रा करनी चाहिए। यदि बृहस्पतिवार को पुष्य-नक्षत्र मिल जावे तो उस गुरुपुष्य योग में वहाँ की यात्रा उक्त अध्याय के ६०वें श्लोक के अनुसार अधिक फलदायक कही है। यों ही गुरुपुष्य, शुक्लाष्टमी और व्यतीपात योग—इन सबके एकत्र प्राप्त होने पर ज्ञानवापी में श्राद्ध करने से गयाश्राद्ध का कोटिगुण फल लिखा है। (का०ख० ३३वें अध्याय के ३६वें श्लोक में यह बात पायी जाती है)।

प्रत्येक शुक्रवार को (का० ख० के १६वें अध्याय के अनुसार) शुक्रेश्वर (जो कालिका गली में हैं), उनकी यात्रा करनी चाहिए । आजकल के शिष्टाचार के अनुसार शुक्रवार को लक्ष्मीकुण्ड पर महालक्ष्मी जी, संकटाघाट पर संकटादेवी और जैतपुरा में वागीश्वरी देवी का भी दर्शन करते हैं । पर इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता । श्रावण के शुक्रवार को इन स्थानों के अतिरिक्त दुर्गाकुण्ड पर दुर्गा जी के दर्शन-पूजन का बड़ा भारी मेला होता है ।

प्रत्येक शनिवार को काशीखण्ड के १६वें अध्याय के अनुसार (विश्वनाथ जी के घेरे में पश्चिम-दक्षिण कोण पर) शनैश्चरेश्वर का दर्शन-पूजन लिखा है । शनिवार को प्रदोष पड़ने पर कामेश्वर (त्रिलोचन पर) की यात्रा पूर्वकथित है । शनिवार को भी मीरघाट, शिवालाघाट, हनुमान् घाट और संकटमोचन इत्यादि हनुमान् जी के स्थानों पर यात्रा प्रचलित है ।

ये ही सब उपर्युक्त दर्शनादि वारयात्राएँ कही जाती हैं ।

इसी भाँति नक्षत्र-यात्रा के इच्छुक लोगों को (का० ख० १५वें अध्याय के आदि से १९ श्लोकपर्यन्त) नक्षत्रेश्वर की कथा अवश्य देखनी चाहिए । नक्षत्रेश्वर का स्थान वरनासंगम के पास आदिकेशव जी के घेरे के बाहर दक्षिण ओर के मन्दिर में है । नक्षत्रादिक की शान्ति के लिए उनका दर्शन-पूजन करना उचित है ।

नवग्रहों की शान्ति के लिए कालभैरव की पूर्वगली में कालदण्ड के समीप ही में नवग्रहेश्वर का पूजन आवश्यक है और व्यतीपातादिक दुष्ट योगों के शान्त्यर्थ वहीं पर व्यतीपातेश्वर का दर्शन-पूजन बहुत ही उपयोगी है ।

जैतपुरा महाल में प्रसिद्ध वागीश्वरी देवी के समीप सिद्धेश्वर के मन्दिर से सटे हुए छोटे शिवालय में ज्वरहरेश्वर-नामक लिङ्ग है । इनको दुधभंगा चढ़ाने से प्रायः ज्वर छूट जाता है और [का० खं० ९७वें अध्याय के १३-१४ श्लोकों में] विज्वरनामक लिंग का माहात्म्य भी मिलता है ।

वृद्धकाल पर मृत्युञ्जय (भतखौआ) महादेव प्रसिद्ध हैं । इनकी चर्चा (का०ख० ९७वें अध्याय के १२९वें श्लोक में) मृत्वीश नाम से लिखी है । इनकी आराधना से लोगों का बहुत उपकार होता है और बहुतेरे लोगों की ओर से महामृत्युञ्जय का जप करने के लिए अनेक ब्राह्मण प्रतिदिन इनके छोटे से मन्दिर में भरे रहते हैं ।

वृद्धकाल के अमृतकुण्ड (धन्वन्तरि-कुण्ड) में स्नान करने से अब तक बहुतेरे लोगों की कठिन से कठिन व्याधियाँ, चर्मरोग और कुष्ठ इत्यादिक छूट

जाते हैं । यों ही लोलार्क और सूर्यकुण्ड भी इन्हीं बातों के लिए सेवन किया जाता है और आराधकों की कामनाएँ प्रायः सिद्ध हो जाती हैं ।

ये सब यात्राएँ कामिक (काम्य) वा नैमित्तिक कही जाती हैं, अर्थात् जब जिसे जो आवश्यक होती है, तब वह ऐसी यात्राओं को करता है[१] । पर काशीखण्ड में और भी बहुतेरी यात्राएँ नैमित्तिक अथवा आगन्तुक रूप से लिखी हैं, जिनका कुछ थोड़ा-सा उदाहरण लिख दिया जाता है ।

जब कभी ग्रहण लगता है, तो काशी में बहुत बड़ी भीड़-भाड़ हो जाती है । यद्यपि सूर्यग्रहण में सबसे बड़ा मेला कुरुक्षेत्र का होता है; पर चन्द्रग्रहण में काशो में ही विशेष यात्रीगण देश-देशान्तर से आ जाते हैं; क्योंकि काशीक्षेत्र में गङ्गा जी का विशेष माहात्म्य ''भविष्यपुराण'' में यों कहा है—

''कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा यत्र कुत्रावगाहिता ।
कुरुक्षेत्राद्दशगुणा यत्र विन्ध्येन सङ्गता ।।
ततः शतगुणा प्रोक्ता यत्र पश्चिमवाहिनी ।
तस्मात्सहस्रगुणिता काश्यामुत्तरवाहिनी'' ।।

अर्थ—गङ्गा में कहीं पर भी (गङ्गोत्री से लेकर समुद्र के संगमपर्यन्त) स्नान करने से कुरुक्षेत्र के समान (पुण्य) होता है । फिर जहाँ पर विन्ध्याचल से मिली हैं, वहाँ कुरुक्षेत्र का दसगुना फल मिलता है और जहाँ पर पश्चिमवाहिनी हो गई हैं, वहाँ सौगुना एवं काशी में उत्तरवाहिनी गङ्गा सहस्रगुना अधिक फलदात्री कही गई हैं । अतएव **''ग्रहणेषु काशी''** प्रसिद्ध है । यद्यपि ग्रहण में समुद्र-स्नान का भी बड़ा माहात्म्य ''सौरपुराणादिक में'' पाया जाता है; पर ''व्यासस्मृति'' का यह वचन विशेष प्रचलित है, यथा—

''इन्दोर्लक्षगुणं पुण्यं रवेर्दशगुणं ततः ।
गङ्गातोये तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटी रवेर्दश'' ।।

अर्थ—साधारण स्नान की अपेक्षा चन्द्रग्रहण में लाख गुना और सूर्य-ग्रहण में दस लाख गुना विशेष फल होता है; पर गङ्गाजल के प्राप्त हो जाने पर चन्द्रग्रहण करोड़ गुना और सूर्यग्रहण दस करोड़ गुना अधिक पुण्यप्रद हो जाता है ।

---

१. जैसे कर्म तीन प्रकार के—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक और (३) काम्य-होते हैं, वैसे ही यात्राएँ दर्शनस्नानादि भी काशी में नित्य, नैमित्तिक और काम्य होती हैं ।

जो हो, पर काशी में ग्रहण के दिनों में इतने मनुष्य आ जाते हैं कि रहने का स्थान नहीं मिलता। सूर्यग्रहण में काशीवासी लोग प्रायः दुर्गाकुण्ड के समीप "कुरुक्षेत्र" नामक पोखरे में स्नान करके तब गङ्गा जी स्नान करते हैं और (काशीखण्ड के ६१वें अध्याय के ३२वें श्लोक में) स्पष्ट लिखा है कि काशी के दशाश्वमेधघाट पर सूर्यग्रहण में कुरुक्षेत्र का दसगुना फल प्राप्त होता है। इन्हीं कारणों से काशी में सबसे बड़ी और प्रधान स्नानयात्रा प्रत्येक घाटों पर ग्रहणों में होती है। उसमें भी मणिकर्णिकाघाट पर तो अपार भीड़ हो जाती है। ग्रहण पर प्रायः सभी देव-मन्दिर बन्द रहते हैं, उस समय कोई भी दर्शन-पूजन नहीं करने पाता।

इसी विधि से वारुणी इत्यादि और भी छोटे-बड़े बहुतेरे पर्वों पर काशी में विशेष मेला हो जाता है, जिनमें कभी-कभी देशान्तर के तथा प्रान्त के भी यात्रीगण आ जाया करते हैं। उन सब पर्वों का सूचीपत्र बनाने से ग्रन्थ का बहुत विस्तार हो जाने की संभावना है। अतएव धार्मिक लोग स्वयं उन्हें समझ लेवें और ग्रन्थों की कौन बात है (खास), इसी काशीखण्ड की कितनी ही यात्राएँ, जो कि आजकल अप्रचलित हैं, छोड़ दी गई हैं। (९७वें अध्याय के ४६वें श्लोक में) पूर्वभाद्रपद नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी होने पर भद्रह्रद की यात्रा एवं (उक्त अध्याय के ९०वें श्लो० में) आर्द्रानक्षत्र से युक्त चतुर्दशी तिथि होने पर रुद्रकुण्ड की यात्रा कही है; पर उक्त ग्रन्थ के लिखित कितने ही कुण्ड, देव-स्थान और देवमूर्तियाँ काल के फेर-फार एवं विधर्मी म्लेच्छ महाराजों (मुसल-मान बादशाहों) के अत्याचार से नष्ट-भ्रष्ट और लुप्त-गुप्त हो गई हैं। इन्हीं सब कारणों से अब ग्रन्थोक्त सभी यात्राएँ प्रचलित नहीं हैं। बहुतेरी यात्राएँ आज-कल मेला (तमाशा) के रूप में बदल गई हैं; पर यात्रा के प्रेमी लोग अपने कर्तव्य का पूर्णरूप से निर्वाह कर ही लेते हैं, अतएव इस विषय को बहुत बढ़ाकर लिखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

काशीतीर्थ अपने ठीक ठिकाने पर वर्तमान है; क्योंकि काशीखण्ड में जहाँ-जहाँ स्रोतों का वर्णन है, वहाँ-वहाँ अब तक सोतियाँ बराबर चला करती हैं। जैसे दशाश्वमेध के वर्णन में (६१वें अध्याय के ३१वें श्लोक में) जो यमुना को पूर्ववाहिनी लिखा है, वह शूलटंकेश्वर के दक्षिण ओर (पोटियाघाट से सट के) पहले गोदौलिया का नाला बहता था। अब नाला पाटकर उसके ऊपर सड़क चलती है और नीचे से नाला है। पर जहाँ यमुना का संगम लिखा है, वहाँ पर बारहों मास पत्थर की सीढ़ी के ऊपर से एक सोती बहा करती है। उक्त श्लोक के अनुसार वह ठीक पूर्व ओर से बहकर गङ्गा में गिरती है और गङ्गा-यमुना के संगम को स्पष्ट करती हुई दिखाई पड़ती है।

यों ही मणिकर्णिका के कुण्ड में ब्रह्मनाल से ब्रह्मद्रव (का जल) गोमुखी के द्वारा बराबर आया करता है। जैसा कि उक्त ग्रन्थ के ६१वें अध्याय के १५१ वें श्लोक में कहा है। इसी सोती से मणिकर्णिका के उत्तर सिंधियाघाट (जो कि वीरतीर्थ है) धँसकर टूट गया है। (अब यह पुनः नया बन गया है)। कहा जाता है कि घाट बाँधने वालों ने अज्ञातवश उस ब्रह्मस्रोत के निकास को बन्द कर दिया था, जिससे वह घाट धँसकर बैठ गया। जो हो, पर वहाँ पर एक सोती स्पष्ट बहा करती है, जो दत्तात्रेय के मन्दिर के नीचे गङ्गा में मिली है।

इसी प्रकार से पञ्चगङ्गा घाट पर जटार के मन्दिर और लक्ष्मणबाला जी के मन्दिर के मध्य से जो मार्ग (रास्ता) आता है, जिसके ऊपर गभस्तीश्वर का स्थान है, उसी के नीचे एक सोती बहा करती है। उसको काशीखण्ड के ५९वें अध्याय के १०९वें श्लोक में किरणा नदी कहकर लिखा है। वह सोती अब तक बहा करती है। इसी भाँति पञ्चगङ्गा पर और भी कई एक सोतियाँ दीख पड़ती हैं। इनसे उस स्थान पर पञ्चगङ्गा नाम पड़ना कोई अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इस रीति के अनुसार (काशीखण्ड के ९७ वें अध्याय के २५३ वें श्लोक में) असी नदी को शुष्का नदी कहा है, जो कि आजकल भी वर्षाऋतु बीत जाने पर सूख जाती है। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काशीखण्ड के कहे हुए देवस्थान इत्यादि चाहे किसी कारण से नष्ट-भ्रष्ट होकर हट-बढ़ गये हैं; पर ये सब सोतियाँ अथवा वरना और असी नदी यथास्थान पर रहकर उक्त स्थानों का ठीक-ठीक प्रमाण (सबूत) सिद्ध कर देती हैं, जो कि काशीखण्ड के लिखे जाने के समय से आज तक अपने स्थान पर सुशोभित हैं।

काशी में "आठ वार नव तिवहार" की कहावत बहुत ही प्रसिद्ध है। वास्तव में काशी की यात्राओं को पूर्णरीति से लिख देना बड़ा ही कठिन काम है; क्योंकि "शिवरहस्य" की कथा है कि "एक बार ब्रह्मा और विष्णु इत्यादि देवगण काशी की पञ्चक्रोशीयात्रा का सङ्कल्प करके चले। बीस वर्ष में भीम-चण्डी के समीप पहुँचे। तब विचार करने लगे कि यह यात्रा विधिवत् कैसे पूर्ण हो सकेगी ? क्योंकि इतने दिन बीत जाने पर भी अभी यात्रा का बहुत भाग अवशिष्ट (बाकी) है। फिर किसी प्रकार से यात्रा समाप्त करके अपने-अपने लोकों में चले गये। पञ्चक्रोशी यात्रा को पूर्णरीति से एक बार महाबली नन्दी; गणेश और भैरव ही कर सके हैं"। तब अब विचारना चाहिए कि जब देवताओं की यह गति हुई, तो कामादिक छहों शत्रुओं से पराभूत शक्तिहीन मनुष्य (बिचारा) क्योंकर यात्रा कर सकता है ? अतएव यथाशक्ति और पूर्णभक्ति होकर

जहाँ तक बन पड़े, इन यात्राओं को करना चाहिए; क्योंकि ये सब यात्राएँ तो साधारणरूप से लिखी हैं। इनसे भिन्न और भी कितनी ही यात्राएँ शास्त्रोक्त, अशास्त्रीय और शिष्टाचार इत्यादि से प्रचलित हैं। कितनी ही नीच, अन्त्यज और विधर्मियों की यात्राएँ (तिवहार) होती हैं। फिर कितने ही देवताओं के वार्षिक (शृङ्गार) उत्सव और रामलीला, कृष्णलीला इत्यादि भी होती हैं। इन सबके कारण काशीवासियों का एक दिन भी व्यर्थ नहीं जाने पाता। यदि उन सब बातों का भी उल्लेख किया जावे, तो यह यात्रा की पुस्तिका एक बहुत भारी ग्रन्थ बन जावेगी। अतएव इन सब बातों का संग्रह हो जाने पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख दिया जावेगा।

काशी एक प्रधान तीर्थस्थान है। यद्यपि इसका रूप एक बड़े नगर के समान है; पर वास्तव में यह शुद्ध तीर्थभूमि ही है। अतएव यहाँ पर देवदर्शन, मन्दिरों की रचना और घाटों की छटा ही मुख्य दर्शनीय वस्तु है। विदेशीय लोगों के मन प्रसन्न करने को और भी बहुतेरे उत्तमोत्तम दृश्य-स्थान हैं। उनका नामादिक संक्षेप रूप से लिख देना स्यात् (शायद) अनुचित नहीं होगा।

१. अस्सी से राजघाट तक घाटों की शोभा, जिनके ऊपर प्रायः मन्दिर तथा लोगों के भवन भी शोभायमान हैं।
२. श्रीदुर्गा जी का मन्दिर, दुर्गाकुण्ड पर।
३. पानीघर (पम्पस्टेशन) भेलूपुर।
४. सेन्ट्रल हिन्दू कालिज, कमच्छा।
५. महाराज बनारस का शिवाला, गोदौलिया।
६. श्रीविश्वनाथ जी का सुवर्ण-मन्दिर।
७. श्रीअन्नपूर्णा देवी जी का मन्दिर।
८. टाउनहाल, कोतवाली, (जो अब "भैरोनाथ" महाल में बनी है।)
९. कंपनी बाग, यह मन्दाकिनी तीर्थ है। अब "मैदागिन" प्रसिद्ध है। इसी के पूर्व-दक्षिण कोण पर "काशी नागरी प्रचारिणी सभा" का भवन और पुस्तकालय है।
१०. प्रिंस आफ वेल्स अस्पताल (जिसके समीप में ईश्वरी अस्पताल स्त्रियों के लिए है)।
११. गवर्नमेण्ट संस्कृत कालिज (इसमें पत्थर खोदकर बनवाने वालों के नामादिक विविध भाषाओं में लिखे हैं)।
१२. विक्टोरिया पार्क, यह "बेनियाबाग" प्रसिद्ध है। यही अस्तिकक्षेपतड़ाग तीर्थ है। इसी में स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया की मूर्ति वर्तमान प्रिन्स

आफ वेल्स से स्थापित कराई गई थी । उसे स्वतन्त्र भारत में दासता का परिचायक मानकर हटा दिया गया है ।

१३. माधवराय का "धरहरा" । यह औरंगजेब की बनाई हुई मसजिद है ! इसमें ऊपर तक सीढ़ियाँ लगी हैं । अब यह धरहरे नहीं हैं, जीर्ण हो जाने के कारण हटा दिये गये हैं ।

१४. सारनाथ का "धमेष" । यहाँ पर बौद्ध लोगों के समय की बहुतेरी प्राचीन वस्तुएँ सरकार की ओर से खोदवा कर रक्खी गई हैं । यहाँ का संग्रहालय विश्वप्रसिद्ध है । विश्वभर से बौद्ध यहाँ आते रहते हैं ।

(यों ही और भी बहुतेरे दर्शनीय स्थान हैं, जो स्वतन्त्ररूप से दूसरे ग्रन्थ में लिखे जावेंगे) ।

अन्तिम-प्रार्थना

जिस काशी का माहात्म्य काशीखण्ड इत्यादि ग्रन्थों में भरा पड़ा है, उसी की यात्रा और चित्रादिक इस ग्रन्थ में लगाये गये हैं । चित्रों में घाटों की शोभा अद्भुत दीख पड़ती है, पर चित्र से चरित्र में बहुत ही अन्तर (फर्क) रहता है । समय के फेरफार से अब लोगों के घाट वा मन्दिर इत्यादि के विषय में धन लगाने की इच्छा नहीं होती । काशी में कितने ही घाट और बड़े-बड़े मन्दिर राजों-महाराजों के बनाये वर्तमान हैं । पर अब स्वतन्त्र भारत में उनके वंशधर राजे-महाराजे नहीं रहे । उन पर तनिक भी कोई अन्य ध्यान नहीं देता । सभी धर्मप्राण उदार दानवीरों से यही प्रार्थना है कि जो घाट सुगमतापूर्वक स्नानादिक के लिये बने थे, वे टूट कर ऐसे हो गये हैं कि अनजान यात्री लोग उनमें गिर कर चोट खा जाते हैं । घाटों के भीतर बड़ी-बड़ी पालें पड़ गई हैं, जिनके भीतर जा पड़ने पर फिर बाहर होना असम्भव है । इन दिनों घाटों की इन दुर्दशाओं के कारण अनेक मनुष्य डूबकर मर चुके हैं ।

ग्रहण इत्यादि मेलों में सरकार की ओर से बाँस बाँधा जाता है, जिससे कोई यात्री धक्का खाकर खड्ढों में नहीं चले जावें । कुछ घाट नये बन गये हैं । यही दशा बहुतेरे मन्दिरों की भी हो गई है । कितने ही प्राचीन स्थान लोगों के घर बन गये हैं । कितने ही देवता दो-चार पुरुष (पोरसा) नीचे पड़ गये हैं । कितने ही मन्दिर टूट-फूट कर जीर्ण-शीर्ण हो रहे हैं । कितने ही मन्दिरों में पूजादि कुछ भी नहीं होता है । अतएव वर्तमान काल के दानवीर धनपतियों से एकमात्र यही प्रार्थना है कि वे लोग पूर्वजों की अटलकीर्ति का जीर्णोद्धार करा-कर अक्षय पुण्य लूटें और उदार लोगों को चाहिए कि नवीन शिवालय इत्यादि

का बनवाना रोक कर यथाशक्ति प्राचीन स्थानों का ही जीर्णोद्धार करावें; क्योंकि "काशीरहस्य" में नवीन की अपेक्षा प्राचीन देवस्थानों के जीर्णोद्धार (मरम्मत) करने का विशेष पुण्य लिखा है, यथा—

"खण्डस्फुटितसंस्कारमत्र कुर्वन्ति ये नराः ।
ते रुद्रलोकमासाद्य मोदन्ते सुखिनः सदा" ।।

फिर काशीखण्ड में भी यही बात कही है—

"कालेन भङ्गमापन्नं जीर्णोद्धारं करोति यः ।
इह तस्य फलस्यान्तः प्रलयेऽपि न जायते" ।।

अतएव काशी में एक "जीर्णोद्धारिणी" सभा स्थापित हुई है । इसके उद्योग से कुछ एक स्थानों का जीर्णोद्धार हुआ है; पर अभी बहुत विशेष अंश (बाकी) पड़े हैं । यदि धार्मिक लोग सहायता करेंगे, तो आशा है कि बहुत कुछ उत्तम कार्य हो सकेंगे ।

नारायणपतिश्शर्मा काशीखण्डानुसारतः ।
ग्रन्थाननेकानालोच्य काशीयात्राविधिं व्यधात् ।।

।। इति श्रीत्रिपाठिनारायणपतिशर्मलिखिता श्रीकाशीयात्रा* समाप्ता ।।

।। शुभमस्तु ।।

***काशीयात्रा का परिशिष्ट**

काशी में गङ्गास्नान—

काशी में गङ्गास्नान की महिमा अवर्णनीय और अपरम्पार है । गङ्गास्नान सर्वत्र ही असीम पुण्यजनक है, अवर्णनीय फलप्रद है । पर हरिद्वार, प्रयाग और गङ्गासागर-संगम में स्नान का बड़ा माहात्म्य है । सर्वत्र ही गङ्गास्नान बड़े पुण्य और सौभाग्य से प्राप्त होता है । पर उपर्युक्त तीर्थों में तो गङ्गास्नान का अवसर सुदुर्लभ है । कहा जाता है—

हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
सर्वत्र दुर्लभा गङ्गा त्रिस्थानेषु सुदुर्लभा ॥

परन्तु वाराणसी में उत्तरवाहिनी गङ्गा का स्थान प्राप्त करना सुदुर्लभतर है—

काश्यां सुदुर्लभतरा केनचित्पुण्यशालिना ।
प्राप्यते पूर्वसंस्कारैस्तपोभिर्धर्मचारिणा ॥

इस प्रसङ्ग में कुछ विस्तार के साथ द्वितीय भाग के आरम्भ में लिखने का प्रयास किया जायेगा । वहाँ तीर्थमाहात्म्य की चर्चा करते समय गङ्गा और काशी—इन तीर्थद्वय की महिमा का सिंहावलोकन करने की सदिच्छा है । काशी की उत्तरवाहिनी गङ्गा की महिमा काशीयात्रा में सप्रमाण बताई गई है । यहाँ काशी के स्नान से सम्बद्ध कुछ शब्द आगे लिखे जा रहे हैं ।

काशी में गङ्गास्नान बारहों मास 'नेमी' लोग करते हैं। इनकी संख्या लाखों है। इनमें श्रद्धालुवों की संख्या विपुल रहती है। वैसे गङ्गातटवर्ती गृहों के बहुत से लोग आदतन नित्य गङ्गास्नान करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में इनकी संख्या विपुलतर हो जाती है। पर्वों पर विशेषत: श्रद्धावान् स्नान करते हैं।

विक्रम नववर्षारम्भ अर्थात् चैत्रशुक्ल प्रतिपदा से विशेष स्नान प्रारम्भ हो जाता है। नवरात्रभर विशेष स्नान और नवगौरी, नवदुर्गा अथवा देवीदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। चैत्रशुक्ल १५ पूर्णिमा से वैशाख-स्नान प्रारम्भ हो जाता है। बंगाली लोग मेषसंक्रान्ति से आरम्भ कर सौरवैशाखपर्यन्त स्नान करते हैं। यह मास हरिद्वार में विशेष स्नान और मेला का होता है। ग्रीष्म ऋतु होने के कारण काशी में भी वैशाख-स्नान करने वालों की संख्या कई लाख हो जाती है। वै० शु० ३ अक्षयतृतीया और वैशाखी पूर्णिमा को अपार भीड़ होती है। वैशाख में दशाश्वमेधघाट पर सर्वाधिक भीड़ होती है।

वैशाख में प्रात:स्नान का, सूर्योदय से कम से कम तीन घड़ी (दण्ड) या पाँच घड़ी पूर्व प्रात:स्नान करना चाहिए—

निश्चरेदेकभावेन वैशाखे यो जितेन्द्रिय:।
प्रात:स्नायी नर: स्त्री वा जातीनां श्रेष्ठतां व्रजेत् ॥

वैशाख और मेषार्क में दान की महिमा—

यो मेषस्थेऽर्के ददाति सक्तूनम्बुघटान्वितान्।
उद्दिश्य पितॄन् देवाँश्च सर्वपापै: प्रमुच्यते ॥

और भी कहा है—

गन्धमाल्यानि च तथा वैशाखे सुरभीणि च।
देयानि द्विजमुख्येभ्यो मधुसूदनतुष्टये ॥

अर्थ—मेषराशि सूर्य में सतुआ, जलभरा घट पितरों और देवों के उद्देश्य से जो दान करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। और भी, उससे मधुसूदन भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं, जो ब्राह्मणों को गन्ध, माला से और गायों को सुब्राह्मणों को दान करता है। वैशाखस्नानपरक श्लोक-मन्त्रों का स्नान के समय पाठ करे—

वैशाखे सकले मासि मेषसंक्रमणे रवे:।
प्रात: सविनयं स्नास्ये प्रीयतां मधुसूदन ॥
मधुहन्तु: प्रसादेन ब्राह्मणानामनुग्रहात्।
निर्विघ्नमस्तु मे पुण्यं वैशाखस्नानमन्वहम् ॥
मेषगे माधवे भानौ मुरारे! मधुसूदन।
प्रात:स्नानेन मे नाथ फलदो भव पापहन् ॥

ज्येष्ठ मास में ज्ये०शु० प्रतिपदा से निर्जला एकादशी तक नियमपूर्वक स्नान विशेषफलप्रद है। आषाढ़ मास सामान्य है। श्रावण मास में बहुत से लोग स्नान और बाबा विश्वनाथ के दर्शन करते हैं। भाद्र मास भी सामान्य है। आश्विन मास में पूरे पितृपक्ष—देवर्षिपितृतर्पणार्थियों की भारी भीड़ लगी रहती है। काशी के बाहर से भी क्रमश: लाखों श्रद्धालु हिन्दू आते रहते हैं। तदनन्तर आ०शु० पक्ष में शरद-नवरात्र और विजया-दशमी-एकादशी तक गङ्गास्नानार्थियों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है।

कार्तिक मास में काशी की गङ्गा की अत्यन्त मनोहारी छटा होती है। पञ्चगङ्गा और परिसर के घाटों, मणिकर्णिकाघाट एवं दशाश्वमेधघाट पर प्रातः तीन बजे से ही स्नानार्थी जुटने लगते हैं। बाँस के सीकों से बने कण्डीलों में आकाशदीप जलते रहते हैं। पञ्चगङ्गाघाट पर उनकी संख्या अत्यधिक होती है। उनकी छाया भी गङ्गा की तरंगों में झिलमिलाती रहती है। काशी में रहने वाले और बाहर के लोग इस अपूर्व सुषमा की छवि निहारते हैं और नौका-विहार भी रात्रि में और पूर्व उषःकाल करते हैं। विदेशी पर्यटक भी इस शोभा को बड़ी चाव और विस्मयभरी आँखों से नावों पर बैठ-बैठे देखते रहते हैं।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन पञ्चगङ्गा आदि घाटों पर बने अनेक पत्थर के हजारों दीपाधारों की दीपावली विश्व में अपूर्व है। ऐसे अनेक दीपाधार बिन्दुमाधवघाट और दुर्गाघाट पर हैं। महाराष्ट्र भक्तबन्धु इस उत्सव को बड़े उत्साह से मनाते हैं। मैंने (सम्पादक करुणापति त्रिपाठी ने) आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व अपने मस्तमौला मित्रों के साथ दशाश्वमेधघाट से त्रिलोचनघाट तक की शरच्चन्द्रिका से धवलित गङ्गा की धार में नौका-यात्रा की थी। उस समय देखा गया कि बिन्दुमाधवघाट और परिसर से लेकर दुर्गाघाट आदि तक हजारों दीपाधार तो जल ही रहे हैं, साथ ही सीढ़ियों पर भी झिलमिलाती दीयों की अवलियाँ (कतारें) किनारों पर और जल में दिखाई देती हैं।

सुना है कि इधर कुछ दिनों से यह दीपमहोत्सव स्थगित था। कारण मँहगाई थी। पर पढ़ा कि १९८६ ई० से यह उत्सव पुनः दशगुणित उत्साह से प्रारम्भ हो गया है। श्रीनारायण गुरु के अपार प्रयास और क्षेत्रीय युवकों के अदम्य उत्साह से इस नये उत्सव को 'देव-दीवाली' के नाम से आरम्भ किया गया है। इसका विशेष वर्णन करने का यहाँ अवसर नहीं है। कार्तिक-पूर्णिमा की धवल-कौमुदी से गङ्गा की रजताभधारा में नौका द्वारा और पार की रेती से इस 'कौमुदीमहोत्सव' का अपूर्व नयनानन्द उठाया जा सकता है। विश्व की यह एक अद्भुत छटा है। अस्तु, अगले भाग में इस विषय पर यथास्थान कुछ और लिखा जायगा।

इस घाट पर किंवदन्ती के अनुसार पाँच तथाकथित नदियाँ हैं। इनका नामोल्लेख होता है प्रातःकाल से पूर्व—

> किरणा धूतपापा च पुण्यतोया सरस्वती।
> गङ्गा च यमुना चैव पञ्चनद्यः पुनन्तु माम्॥

पुनश्च—

> कार्तिकेऽहं करिष्यामि प्रातःस्नानं जनार्दन।
> प्रीत्यर्थं तव देवेश दामोदर मया सह॥
> ध्यात्वा नत्वा इहागत्य जलेऽस्मिन् स्नातुमुद्यतः।
> त्वत्प्रसादात्पापं मे दामोदर। विनश्यतु॥
> नित्ये नैमित्तिके कृत्ये कार्तिके पापनाशने।
> गृहाणार्घ्यं मया दत्तं दानवेन्द्रनिषूदन॥

अधिक विस्तार में न जाकर अब आगे लिखा जा रहा है। यद्यपि भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्', तथापि स्नान की दृष्टि से यह मास सामान्य है। पौषमास भी इसी प्रकार का है। यद्यपि मलमास के कारण जब पूस में खिचड़ी मेषसंक्रान्ति पड़ जाती है, तब उस दिन या उस तिथि से भी अनेक लोग माघ-स्नान आरम्भ कर देते हैं।

प्रयाग के संगम पर उसी समय से कल्पवास और माघ-स्नान प्रारम्भ हो जाता है। इस मास में खिचड़ी, तिलवा आदि के दान का विशिष्ट माहात्म्य है।

काशी में प्रयागघाट पर इस स्नान की विशेष महिमा है। यह प्रयागघाट शीतलाघाट के पास है। काली जी के मन्दिर की ओर से जो सड़क गङ्गा जी की ओर जाती है, वही सीधे सीढ़ियाँ उतर कर प्रयागघाट चली जाती है। वहीं सीढ़ियों के ऊपर-ऊपर चढ़ते समय दाहिनी ओर बन्दीदेवी का मन्दिर है। उसी में प्रयागेश्वर महादेव का माघभर दर्शनार्थी दर्शन करते हैं।

माघस्नान के सम्बन्ध में संस्कृत-भाषा की जनश्रुति स्मरणीय है—

माघमासे रटन्त्यापः किञ्चिदभ्युदिते रवौ।
ब्रह्मघ्नं वा सुरापं वा कम्पन्तं हि पुनीमहि ॥

'कम्पन्तम्' इस पद का अर्थ है—काँपते हुए। जो 'कम्' अर्थात् जल में कूदता है—उसे महापातक से भी छुटकारा मिल जाता है। 'कं पतन्तम्' भी पाठान्तर है।

माघ में विशेषरूप से गङ्गास्नान या कहीं भी स्नान से पूर्व अधस्तात् अंकित श्लोकों का पाठ करना चाहिए—

कुरुक्षेत्रं गया-गङ्गा-प्रभास-पुष्कराणि च।
तीर्थान्येतानि नामानि स्नानकाले भवन्त्विह ॥
गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे, सिन्धु, कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥
धर्मद्रवेति विख्याते पापं मे हर जाह्नवि ॥
जाह्नवी सर्वतः पुण्या ब्रह्महत्यापहारिणी।
वाराणस्यां विशेषेण गङ्गा चोत्तरवाहिनी ॥
गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥

प्रयाग तीर्थराज है। वहाँ तीन दिन भी त्रिवेणीसंगम के स्नान का वही फल है, जो सहस्र अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होता है।

परन्तु काशी (वाराणसी) के प्रयागघाट में भी उसी भाँति वही पुण्य और उसी फल की प्राप्ति वर्णित है। यथा—

काश्यां दशाश्वमेधे ये तपसि स्नान्ति मानवाः।
दशाश्वमेधजनितं फलं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥

माघमास में वसन्तपञ्चमी भी पड़ती है। माघकृष्ण ३० को कुम्भपर्व होता है। प्रयागराज और वाराणसी में उस दिन विशेष स्नान होता है। अर्धकुम्भी और महाकुम्भ में प्रयागराज के संगम-स्नान का धार्मिक उत्सव, विश्व का सबसे बड़ा जनभीड़ है। माघ में ही षट्तिला एकादशी मा० कृ० एकादशी को होती है। उस दिन काशी में अनेक श्रद्धावान् विधिपूर्वक षट्तिला मनाते हैं। तदनुसार उस दिन—(१) तिलस्नान, (२) तिल का उबटन लगाना, (३) तिलहवन, (४) तिलतर्पण, (५) तिलभोजन और (६) तिल अथवा तिलवा दान करने से पाप नष्ट होते हैं—

तिलस्नायी तिलोद्वर्ती तिलहोमी तिलोदकी ।
तिलभुक् तिलदाता च षट्तिला पापनाशिनी ॥

माघपूर्णिमा को 'रविदास'-जयन्ती होती है । कन्दवाँ-ग्राम (पञ्चक्रोशी यात्रा का पहला विश्राम-स्थान) में उनकी जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनायी जाती है । काशी के राजघाट पर रविदास का स्मारकरूप बड़ा विशाल मन्दिर है । वहाँ भक्तगण गङ्गास्नान के बाद रविदास की स्थापित प्रतिमा का दर्शन करते हैं ।

गङ्गास्नान की दृष्टि से फाल्गुन मास में शिवरात्रि पर भारत के कोने-कोने से विश्वनाथ-भक्त काशी आते हैं । गङ्गास्नान, विश्वनाथादि-दर्शन, ज्योतिर्लिङ्गादि का दर्शन करते हैं । इसका वर्णन 'काशीयात्रा' में हो चुका है । इसी प्रकार 'रंगभरी एकादशी' (फा० शु० ११) का वर्णन भी वहीं देखें । चैत्रकृष्ण त्रयोदशी को वारुणी-पर्व पर गङ्गा-वरना के संगम पर स्नान होता है । इसका उल्लेख भी हो चुका है ।

संक्षेप में काशीयात्रा के परिशिष्ट के रूप में काशी में गङ्गास्नान के विषय में इतना ही यहाँ दिया गया है । अनेक प्रमुख बातें वा स्नान-पर्व छूट गये होंगे । कुछ पर्व जानबूझ कर त्वरा और विस्तारभय से नहीं लिखे गये । इसमें जो त्रुटियाँ हो सकती हैं, तदर्थ क्षमा-प्रार्थना के साथ काशी-मर्मज्ञ विद्वानों और काशीवासी-विषयविज्ञों को प्रणाम करता हूँ । आशा करता हूँ, उनके द्वारा अगले संस्करण के परिष्कारार्थ सुझाव प्राप्त होंगे ।

विनीत

करुणापति त्रिपाठी—सम्पादक

विषयानुक्रमणिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सम्पादकीयं निवेदनम्	अ–ऊ
उपोद्घातः	१–५४
भूमिका (प्रथमसंस्करणस्य, हिन्दी-भाषामयी)	१–९
काशीयात्रा (प्रथमसंस्करणस्य, हिन्दी-भाषामयी)	१–५७
विन्ध्यवर्धनवर्णनम्	१
विन्ध्येन नारदपूजनवर्णनम्	३१
विन्ध्यचिन्तनवर्णनम्	३८
सत्यलोकवर्णनम्	४३
सूर्यगत्यवरोधवर्णनम्	४७
ब्रह्मणा देवसान्त्वनवर्णनम्	५७
अगस्त्याश्रमवर्णनम्	७२
अगस्त्याश्रमे पशूनां परस्परमवैरत्ववर्णनम्	७८
काशीवासफलवर्णनम्	८९
पतिव्रताख्यानवर्णनम्	९८
नारीदोषवर्णनम्	१०४
विधवाकर्तव्यवर्णनम्	११२
बृहस्पतिना विन्ध्यवृद्धिनिषेधाय प्रार्थनकरणम्	११७
अगस्त्यप्रस्थानवर्णनम्	१२१
काशीमाहात्म्यवर्णनम्	१२८
अगस्त्येन महालक्ष्मीदर्शनम्	१४४
लक्ष्मीस्तोत्रमाहात्म्यवर्णनम्	१५१
तीर्थाध्यायवर्णनम्	१५३
अगस्त्येन तीर्थवर्णनम्	१५६
तीर्थे पापप्रशमनवर्णनम्	१६३
सप्तपुरीवर्णने शिवशर्मविप्रकथानकवर्णनम्	१६८
विप्रेण प्रयागगमनवर्णनम्	१७६
विप्रेण काशीगमनवर्णनम्	१८२
विप्रेण मायापुरीगमनम्	१९४
यमलोकवर्णनम्	२००
शिवशर्म-धर्मराजसंवादवर्णनम्	२०७

नरकवर्णनम्	२११
यमेनाष्टोत्तरशतनाममाहात्म्यवर्णनम्	२२०
अप्सरःसूर्यलोकवर्णनम्	२२६
अप्सरसां कृत्यवर्णनम्	२२९
गायत्रीमहत्त्ववर्णनम्	२३६
सूर्यलोकवर्णनम्	२४०
इन्द्राग्निलोकवर्णनम्	२४७
अग्न्युपासनवर्णनम्	२५३
विश्वानराख्यानवर्णनम्	२५६
विश्वानरेण काशीस्थलिङ्गमहिमवर्णनम्	२६३
विश्वानरकृताभिलाषाष्टकस्तोत्रवर्णनम्	२६९
वह्निलोकवर्णने विश्वानरपुत्राख्यानवर्णनम्	२७५
नारदेन मात्रापित्रोर्महत्त्ववर्णनम्	२८४
शुचिस्मत्या पुत्रविषये चिन्ताकरणम्	२९३
गृहपतिना काशीगमनवर्णनम्	३०२
गृहपतिसमीपे शिवागमनवर्णनम्	३०९
निर्ऋतिवरुणलोकवर्णने पिङ्गाक्षाख्यानवर्णनम्	३१३
वरुणलोकनिवासप्रदकर्मवर्णनम्	३२३
वरुणकथानकवर्णनम्	३२६
गन्धवत्यलकावर्णनम्	३३४
अलकाधिपपूर्वभववृत्तान्तवर्णनम्	३४१
दीक्षितेन पुत्रदुर्वृत्तश्रवणवर्णनम्	३४७
यज्ञदत्तपुत्रानयनाय शिवपार्षदागमनम्	३५६
कुबेराय शिववरदानवर्णनम्	३६६
सोमलोकवर्णनम्	३७०
चन्द्रेश्वरमाहात्म्यवर्णनम्	३७७
नक्षत्रबुधलोकयोर्वर्णनम्	३८५
बुधेश्वरमाहात्म्यवर्णनम्	३९६
शुक्रलोकवर्णनम्	४०२
शुक्रेण मृतसञ्जीविनीविद्याप्राप्तिवर्णनम्	४०५
अन्धकेन दैत्यप्रोत्साहनवर्णनम्	४११
शुक्रस्य वाराणस्यां तपश्चर्यावर्णनम्	४१८
शुक्रोदये शुभकार्यकरणवर्णनम्	४२८
भौमगुरुशनिलोकवर्णनम्	

आङ्गिरसकृतशिवस्तुतिवर्णनम्	४३८
शनिलोकाख्यानवर्णनम्	४४६
संज्ञां प्रति सूर्योक्तिविवरणम्	४५३
सप्तर्षिलोकवर्णनम्	४५९
ध्रुवलोकवर्णने ध्रुवोपदेशवर्णनम्	४६६
ध्रुवं प्रति सुरुच्याऽऽक्रोशवाक्यवर्णनम्	४६८
सुनीत्या ध्रुवं प्रति राज्यप्राप्त्युपायवर्णनम्	४७२
ध्रुवस्य तपोवनगमनवर्णनम्	४८०
ध्रुवं प्रति सप्तर्षिवाक्यवर्णनम्	४८६
ध्रुवाख्याने भगवद्दर्शनवर्णनम्	४९३
इन्द्रेण ध्रुवसमीपे भूतालिप्रेषणम्	५०१
देवैर्ब्रह्मसमीपे ध्रुवतपःप्रभाववर्णनम्	५१०
ध्रुवकृतभगवत्स्तुतिवर्णनम्	५१५
ध्रुवस्तुतिफलवर्णनम्	५३६
ध्रुवेश्वरमाहात्म्यवर्णनम्	५४५
ब्रह्मकृतकाशीप्रशंसावर्णनम्	५४७
शिवशर्मणा सत्यलोकगमनम्	५५२
ब्रह्मणा प्रयागमहिमवर्णनम्	५६०
वाराणसीपापकरणदोषवर्णनम्	५६७
लोकपरिस्थितिवर्णनम्	५७२
गणाभ्यां महेशकृताभिषेकवर्णनम्	५८१
शिवशर्मनिर्वाणप्रापणवर्णनम्	५८७
शिवशर्मणो भाविजन्मवृत्तान्तवर्णनम्	५९५
शिवशर्मणो निर्वाणप्राप्तिवर्णनम्	६०४
स्कन्दागस्त्यदर्शनवर्णनम्	६०६
अगस्त्यकृतस्कन्दस्तुतिवर्णनम्	६०८
स्कन्देन शिवकथितवाराणसीमाहात्म्यवर्णनम्	६१९
श्लोकपादानुक्रमणिका	६२५

महर्षिव्यासप्रणीतः
श्रीस्कन्दमहापुराणान्तर्गतः

काशीखण्डः

[प्रथमो भागः]

श्रीमन्महर्षिव्यासविरचिते

स्कन्दमहापुराणे

काशीखण्डः

प्रथमोऽध्यायः

तं मन्महे महेशानं महेशानप्रियार्भकम् ।
गणेशानं करिगणेशाननमनामयम् ।। १ ।।

रामानन्दी टीका

।। श्रीगणेशाय नमः । श्रीपरमात्मने नमः ।।

सच्चिदानन्दसन्दोहं भक्तैकामोदमन्दिरम् ।
सादरं प्रणुवे भक्त्या श्रीगोपीजनवल्लभम् ।। १ ।।

संहारखेदादिव यः स्वयं प्रभुः
श्रितो विमुक्तं भगवान् सहोमया ।
दिशत्यभीक्ष्णं परमात्मतारकं
भजे तमानन्दवने तनुत्यजाम् ।। २ ।।

माधवं गिरिजां ढुण्ढिं भैरवं दण्डनायकम् ।
मणिकर्णीं गुहां काशीमुदक्स्रोतोवहां नुमः ।। ३ ।।

नारायणी टीका

विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिञ्च भैरवम् ।
वन्दे काशीं गुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम् ।।१।

प्रणमत करिपतिवदनं शुभसदनं महाप्रत्यूहकदनम् ।
सिद्धिबुद्धिहृन्मदनं भक्तेष्टदमेकरदनम् ।।२।

यत्सत्तावलेशमात्रमखिलब्रह्माण्डभाण्डोदरं
मिथ्याप्येतदतीव सत्यसदृशं विज्ञायतेऽज्ञानिभिः ।
यद्गत्वा न निवर्ततेऽमृतपदं यत्सेवयापद्यते
सोमः सोमधरोऽवतान्निजजनाञ्छ्रीविश्वनाथो विभुः ।।३।

अद्वैताब्जविकासकैकतरणिं हार्दान्धकारच्छिदं
शान्त्यादेर्निलयं दयैकशरणं वैराग्यवन्मूर्तिकम् ।
हृत्कान्तारमहाटवीसुविलसत्कामेभपञ्चाननं
श्रीरामेन्द्रवनाभिधं गुरुमहो भक्त्या नमामस्तराम् ॥ ४ ।

यत्पादाम्बुरुहध्यानाद्‌धार्दं मे गलितं तमः ।
परमं तं गुरुं भक्त्या श्रीदेवेन्द्रवनं नुमः ॥ ५ ।

व्यासोक्ते स्कान्दसंज्ञेऽयं पुराणे काशिकाह्वयः ।
खण्डो यस्तस्य टीकेयं रामानन्देन रच्यते ॥ ६ ।

श्रीवासुदेवाभिधभूसुरेन्द्रगुणैकरत्नामलसत्त्ववार्द्धेः ।
वाक्याग्रहेणाहमिह प्रवृत्तः क्षन्तव्यमस्मच्च[1]पलं कृतीन्द्रैः ॥ ७ ।

अध्यायानां शतं प्रोक्तं व्यासेनात्र तदादितः ।
विन्ध्यनारदसंवादो वर्ण्यतेऽतिमनोहरः ॥ ८ ।

तत्रादौ तावच्चिकीर्षितस्य पुराणस्य निष्प्रत्यूहसमाप्तिप्रचयाभ्यां नानेतिहास-पुराणशास्त्रप्रबन्धसम्बन्धाविष्कृतलीलावतारो भगवान् द्वैपायनो विघ्नाधिराजं पूजयति । तं मन्मह इति । तत्र सर्वनाम्नस्तावदौत्सर्गिकं प्रसिद्धार्थत्वम् । यथाहुः—सर्वनामप्रसिद्धार्थं प्रसाध्यार्थविधान[2]कृदिति' । न च यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीत्यत्र व्यभिचारः, वचनानित्यत्वपूर्वत्वादिति न्यायेन तदर्थस्य तत्रान्यतोऽलब्धत्त्वात् प्रसिद्धार्थत्वं सर्वनाम्नो बलादपलप्यते । अत्र तु तदपवादाभावे पुनरुत्सर्गस्य स्थितिरेवेत्यभिप्रेत्य प्रसिद्धार्थमाह । तमिति । तं प्रसिद्धं पारमेश्वरं रूपं मन्महे ध्यायामः चिन्तयाम इत्यर्थः । मन्मह इति मनु अवबोधन इत्यस्मात्तनादेर्धातोर्लट्डुत्तमपुरुषबहुवचनं लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोरित्युकारलोपः । सर्वनाम्ना परामृष्टं विशेष्यं दर्शयति । **करिगणेशाननमिति** । करः शुण्डादण्डो विद्यते येषां ते करिणो हस्तिन इति यावत् । गणाः समूहाः करीणां गणाः करिगणास्तेषामीशान ईश्वरः श्रेष्ठ इत्यर्थः । तस्येवाननं तस्याननमिवाननं यस्य, स तथा ताम् ।

एवं हि पाद्मे श्रूयते चक्रेश्वरमाहात्म्यप्रसङ्गे "विघ्नाधिराजे जाते तदवलोकनाय

हे ढुण्ढिराज मणिकर्णि सुरापगेऽन्न-
पूर्णे गुहेऽम्ब गुह भैरव दण्डपाणे ।
काशि ग्रहेश्वर रमापतिविश्वनाथौ
कार्या स्वपादरजसा मम वाक्पवित्रा ॥४।
श्रीचन्द्रशेखरमहं स्वगुरुं पितृव्यं
तातं रमापतिमथो निजमातरञ्च ।
लक्ष्मीपतिं स्वकसहोदरमग्रजातं
विद्यापतिं समभिवन्द्य लिखामि भाषाम् ॥५।

१. भावप्रधाननिर्देशाच्चापलमित्यर्थः;

२. विधातकृदित्यपि क्वचित्पाठः ।

ब्रह्मादयो मिलिता अभूवन्, शनैश्चरस्तु नागतोऽभूत्। ततोऽम्बिकायां रुष्टायामागते च तस्मिन् गणेशस्य मौलिरपतत्। ततो महादेवेन हस्तिवृन्देन्द्रशिरश्छित्वा योजितमिति"। कदाचिद् गात्रोद्वर्तनं कृत्वा तज्जनितमलेन गणेशप्रतिकृतिं विधाय जीवञ्च तस्यां सञ्चार्य यावन्मया स्नायते, तावदत्र कोऽप्यागन्तुं न देय इति गौरी तं व्याजहार। ततश्च तस्मिन् द्वारि स्थिते कुतश्चिदागतो महेशस्तेन प्रतिरुद्धोऽन्तःपुरं प्रवेष्टुमलभमानः क्रुद्धः सन् बहु-युद्धं कृत्वा पश्चात्तस्य मौलिमुज्जहार। पश्चाच्छोकरोषाभ्यामाविष्टायां पार्वत्यां करिगणेन्द्र-शिरश्छित्त्वा योजितमिति च भविष्ये। गजीभूय क्रीडतोर्भगवतोर्जातत्वाद्वा गजानन इति च पुराणान्तरम्।

तथाहि—गजासुरः किल लीलया स्वर्गमाक्रम्य देवान् व्याजहार—हे देवाः! मया सार्द्धं युद्ध्यध्वम्, यद्वा त्रिदिवं विहाय पलायध्वमथवा करं प्रयच्छतेति। ततो देवैः कः करो देव इत्युक्ते तेनोक्तं स्वकर्णौ धृत्वा स्वशिरोधूननं स्वशिरःकुट्टनञ्च मदग्रे कर्तव्य-मिति। ततो देवा ब्रह्माणं प्रति तदुक्तं न्यवेदयन्। कथं तस्यासुराधमस्याग्रेऽस्माभिरेवं कर्तव्यमिति? ततो ब्रह्मा विष्णुश्च विश्वनाथं गत्वा तदेतत्सर्वं विज्ञापितवन्तौ। तत ईश्वरेण गजीभूय क्रीडतोरावयोर्गजाननः पुत्रो जातोऽस्ति, तेन स मारणीय इत्युक्त्वा गणेशमाहूय तत्सर्वं निवेद्य त्वमपि गजाननः, सोऽपि तादृश इति त्वमेव तस्य प्रतियोद्धे-त्यादि प्रोत्साह्य त्वयैव हन्तव्य इत्युक्तेन गणेशेनोक्तम्, तदा मया एवेदानीमपि गणेशास्याग्रे श्रीसार्वभौमभट्टाचार्या दाक्षिणात्याश्च स्वकर्णौ धृत्वा शिरोधूननं शिरःकुट्टनं च कुर्वन्तीति।

उक्तञ्च—

विनायकं वन्दकमस्तकाहतिसन्नादसंघुष्टसमस्तविष्टपम्।
नमामि नित्यं प्रणतार्तिनाशनं कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्॥ इति।

कदाचिदीश्वरं द्रष्टुं कैलासं गतेन भार्गवेण रामेण गणेशप्रतिरुद्धेनाभ्यन्तरं गन्तुमलभमानेन तज्जनितप्रचण्डकोपानले गणेशस्य हस्तात् परशुं बलात्कारेण गृहीत्वा गणेशस्य शिरोऽच्छेदि। ततो ज्ञाताशेषवृत्तान्तेनेश्वरेण रामायाभ्यधायि त्वमद्यारभ्यानेन परशुना परशुरामो भाविष्यसीति गजेन्द्रस्य शिरच्छित्वा गणेशस्य मौलौ योजितमिति पौराणिकाः। क्रियाशक्तिमत्सूत्रात्मत्वाद्बलाधिक्यमाह। **गणेशानमिति**। नन्दिभृङ्गि-प्रमुखा गणास्तेषां तेषु वा ईशानमीश्वरं नियन्तारमिति यावत्। गणश्चासावीशानश्च तं वेत्यर्थः। योनितोऽपि श्रैष्ठ्यमाह। महांश्चासावीशानश्चेति महेशानो महेश्वर इत्यर्थः, तस्य प्रिया वल्लभा उमा चिद्रूपा शक्तिस्तस्या अर्भकस्तयोर्वाऽर्भको महेशान-प्रियार्भक इति वा। प्रियश्चासावर्भकश्चेति प्रियार्भकः। यद्वा प्रसिद्धत्वे हेतुमाह। **महेशानप्रियार्भकमिति**।

काशीखण्डे मनोज्ञे सहृदयहृदयैः पेयवाक्याम्बुराशौ
गङ्गास्तोत्रादिवीचौ विधिहरिगिरिजेशोक्तिपूतप्रतीरे।
शक्यो भाषानुवादः प्रचलितवचसा सेतुरूपो न बद्धुं[1]
व्याजेनैतेन शम्भोर्गुणकथनधिया साहसं मेऽस्त्वनिन्द्यम्॥६।

१. कर्तुम्।

ननु परमात्मनः सर्वात्मत्वादन्येषामपि तदीयानां रूपाणां भूयसां भावादिदमेव पारमेश्वरं रूपं कस्मादादावनुस्मर्यते तत्राह। **महेशानमिति**। विरोधिलक्षणया पुण्यजनो राक्षस इतिवन्महान्तोऽत्राकारप्रश्लेषाद्वाऽहमान्तो हिंस्रस्वभावा विघ्नाः श्रेयोविघातकत्वात्ते च ते स्वकार्ये प्रभुत्वादीशाश्च तानानयति चेष्टयति प्रवर्त्तयतीति, तथा तम्। अथवा न विद्यते मह उत्सवो येभ्यः, तेऽमहाविघ्नास्तेषामीशानं विघ्नप्रोत्सारणायैव विघ्नानामधिष्ठातारमिति यावत्। तत्प्राप्तिस्तु प्राणिनां स्वदोषवशादिति भावः। महांश्चासावीशानश्चेति वा महत्त्वं चात्र विघ्नाधिष्ठातृत्वेनैव। एतदिहाकूतम्। सर्वात्मकोऽपि परमात्मा विघ्नाधिराजोपाधिरेव विघ्नान् जरीहर्त्ति, तदुक्तम्—

स जयति सिन्धुरवदनो देवो यत्पादपङ्कजस्मरणम्।
वासरमणिरिव तमसां राशिं नाशयति विघ्नानाम्॥ इति।

महोदये च पुराणारम्भे विघ्नानां सम्भवात् तन्निरासाय युक्तं परस्य प्रकृतदेवतात्मकस्यैवानुसन्धानमिति भावः। यद्वा ननु—'कृष्णद्वैपायनं विद्धि साक्षान्नारायणं प्रभुम्। को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्।' इति वैष्णवाद्युक्तेर्व्यासस्येश्वरत्वावगमाद्विघ्ना एव न सम्भाव्यन्ते। अतः कथं तन्निवृत्त्यर्थं गणेशानुस्मरणमित्याशङ्कायामाह। **महेशानमिति**। महांश्चासावीशानश्चेति महेशानस्तम्। अत्रापि महत्त्वं ब्रह्मादिनियन्तृत्वेनैव बोद्धव्यम्। तथा चायमर्थः सम्पद्यते—महतां ब्रह्मादीनामीशानं नियन्तारम्। अपूजितं सन्तं तत्कार्याणां प्रतिबद्धारमसिद्धिप्रदमित्यर्थः। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

आरम्भाः फलिनः प्रसन्नहृदयो यश्चेत्तिरश्चामपि
नो चेद्विश्वसृजोऽप्यलं विफलतामायान्त्युपायोद्यमाः।
विश्वैश्वर्यमतो निरङ्कुशमभूद्यस्यैव विश्वप्रभोः
सोऽयं विश्वहिते रतो विजयते विघ्नेश्वरो विश्वकृत्॥

अत्रापि च वक्ष्यति—'जय सृष्टिकृतां वन्द्य त्वद्दुष्टदृष्टिविशिखैर्न्निहितान्निहन्मि। दैत्यान् पुरान्धकजलन्धरमुख्यकांश्च कस्यास्ति शक्तिरिह यस्त्वदृतेऽपि तुच्छम्॥ वाञ्छेद्विधातुमिह सिद्धिदकार्यजातम्' इत्यादि। इदमत्रतत्त्वम्। गणेशव्यासादीनामीश्वरत्वाविशेषेऽपि सेव्यसेवकत्वं बाध्यबाधकत्वञ्च यथोमेशरमेशयोर्यथा वा रामपरशुरामयोरिति। तदुक्तं वैष्णवे—सर्वं विष्णुमयं जगदित्युपक्रम्य तथाप्यनेकरूपस्य तस्य रूपाण्यहर्निशं बाध्यबाधकतां यान्ति कल्लोला इव सागर इति।

नन्वसिद्धमहेशानत्वं गणेशस्य शनैश्चरावलोकमात्रेण शिरःपाताद्यवगमादित्याशङ्क्याहानामयमिति। आमयो रोगस्तेन तापत्रयं लक्ष्यते। ततश्चायमर्थः। न विद्यते आमयः, तापत्रयं यस्य यस्मादिति वा, स तथा तम्।

नेत्रर्तुनिधिभूवर्षे[1] श्रीगङ्गासप्तमीतिथौ।
गुरुपुष्यसमायोगे काश्यां प्रारभ्यते मया॥७॥

१. वैक्रमसंवत् १९६२ वर्षे।

अयं भावः। न शिरःपातादिकमनीश्वरत्वे कारणमवश्यं भाविनोऽर्थस्येश्वरस्यापि दुष्परिहरत्वात्। तदुक्तम्—

अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥इति।

यद्वा शिरःपातादिकं तु लीलामात्रम्, यथा निकुम्भपरिघप्रहारेण मोहः श्रीकृष्णस्य, यथा चेन्द्रजित्प्रयुक्तनागपाशबन्धनं श्रीदाशरथेर्यथा वा बलेरध्वरे याञ्चा श्रीविष्णोरिति। तदुक्तं हरिवंशे—

नूनमात्मेच्छया कृष्णस्तथा चक्रे सुरोत्तमः।
को हि शक्तो महात्मानं युद्धे मोहयितुं हरिम्॥

भागवते च :—

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरो तीर्थंवतस्त्रिलोक्याम्।
क्वाहो कथं दा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम्॥ इति।

श्रुतौ च विष्णोः शिरः प्रचिच्छिदतुरिति। यद्वा ग्रन्थारम्भे मंगलाय पञ्चायतनदेवतानुसन्धानमनुविधत्ते। **तमिति**। तं प्रसिद्धम्। अत्राऽकारप्रश्लेषात् अः वासुदेवश्चासौ महेशानश्च तं मन्महे ध्यायाम इति सर्वत्र। तत्र अमित्युक्ते 'अक्षराणामकारोऽस्मि' इति भगवद्वचनादकाराक्षरे गच्छति तद्वारणाय महेशानमित्युक्तम्। तावत्युक्ते विश्वनाथे गच्छति तद्वारणाय 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इति वचनादमित्युक्तम्। **महेशानप्रियार्भकम्**। विश्वनाथभवानीगणेशेति द्वन्द्वैकवद्भावेन त्रयं निर्दिष्टम्। तत्रार्भकमित्युक्ते शाखविशाखादावतिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणाय गणेशानमित्युक्तम्। तथापि स्वामिकार्तिकेये गच्छति तद्वारणाय करिगणेशाननमिति। अत्र समासनिष्ठस्यार्भकपदस्य विशेष्यत्वं छान्दसम्।

तत् कथ्यतां महाभाग यदि विष्णुकथाश्रयम्।
अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्॥ इति।

तथा—

प्राचीनबर्हिर्भगवान् पातालतलचारिणः।
समुद्रतनया या तु कृतदारोऽभवत् प्रभुः॥

इत्यादिवद्बोद्धव्यम्।

अनामयम्, न विद्यते आमयो रोगमात्रं यस्मात्तं सर्वरोगनाशकं सूर्यं विरञ्चिनारायणशङ्करात्मकम्। आरोग्यं भास्करादिच्छेदिति वचनादित्यर्थः ॥१॥

विद्वद्रमापतेस्सूनुर्नारायणपतिर्द्विजः।
भाषानुवादं तनुते काशीखण्डे यथामति ॥८॥

श्रीमहादेव पार्वती के पुत्र, गजेन्द्रमुख, त्रिविधतापरहित, उस सुप्रसिद्ध, महाप्रभु गणाधिराज का हम सब ध्यान करते हैं ॥१॥

भूमिष्ठापि न यात्र भूस्त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधस्थापि या
या बद्धा भुवि मुक्तिदा स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तवः।
या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे सुरैः सेव्यते
सा काशी त्रिपुरारिराजनगरी पायादपायाज्जगत् ॥२॥

एवं विघ्नाधिराजं प्रपूज्य जगन्निःश्रेयसमाशासानः पुराणार्थश्रियभूतम- विमुक्तं प्रस्तौति। भूमिष्ठेति। सा काशी अपायाज्जगत्पायादित्यन्वयः। सेति प्रसिद्धेत्यर्थः। प्रसिद्धत्वञ्चास्याः सोऽविमुक्ते उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इत्याद्यया श्रुत्या बोद्धव्यम्। अविमुक्तं काशीत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वग्रे वक्ष्यति। **काशीति**। अनाख्येयं स्वप्रकाशं चैतन्यं प्रकाशतेऽस्यां इति काशी। तथा च वक्ष्यति—

काशतेऽत्र यतो ज्योतिस्तदनाख्येयमीश्वरः।
अतो नामापरं चास्तु काशीति प्रथितं प्रभो ॥

यद्वा काशन्ते राजन्ते स्वप्रकाशतयाऽस्यांतनुत्यागमात्रेण प्राणिन इति काशी। एतदप्युक्तमत्रैव।

कीटाः पतङ्गा मशकाश्च वृक्षा जले स्थले ये विचरन्ति जीवाः।
मण्डूकमत्स्याः कृमयोऽपि काश्यां त्यक्त्वा शरीरं शिवमाप्नुवन्ति ॥ इत्यादि।

अत एवोक्तं अपायाज्जगत्पायादिति। अपगतोऽयनमयो ज्ञानम्। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति न्यायाद्यस्मिन्नित्यपयमज्ञानं तात्कर्यम्, तस्मात्। गच्छति जन्मादिषड्भाव- विकारान् प्राप्नोति। सर्वे गत्यर्थाः प्राप्त्यर्था इति न्यायाज्जगत्समष्टिव्यष्टिजीवजात- मित्यर्थः। पायान्मोचयत्वित्यर्थः। यद्वा सर्वाभ्योऽयोध्यादिपुरीभ्योऽधिकतया काशते राजत इति काशी। वक्ष्यति हि—

अन्यानि पुण्यक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि वै।
काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा कल्पकोटिभिः ॥ इति।

अधिकत्वे जगन्मोचकत्वे च हेतुं वदन् विरोधाभासालङ्कारलक्षणैश्चतुर्भिर्विशेषणै- र्विशिनष्टि। **भूमिष्ठेत्यादि**! यस्यां मृतां जन्तव इत्यन्तेन। भूमिष्ठापि न यात्र भूरिति विरोधाभासः सर्वत्र स्पष्ट एव। भूमौ तिष्ठतीति भूमिष्ठा। अम्बाम्बगोभूमिसव्येत्यादिना षत्वम्। भूमिष्ठत्वेन भूम्यवयवत्वेनायोध्यादिक्षेत्रवत्प्रतीयमानापि या काशी अत्र भूमौ

जो भूतल में विराजमान रहने पर भी स्वयं भूमि नहीं है, जो अधोभाग में स्थित होने पर भी स्वर्ग के ऊपर है, जो स्वयं भूमण्डल में बद्ध होने पर भी मुक्ति का दान करती है; फिर जिसमें मृत होनेवाले प्राणिमात्र अमृतपदके अधिकारी हो जाते हैं एवं जिसे त्रैलोक्य पावनी गंगा के तीरपर देवगण सदेव सेवते रहते हैं, वही त्रिपुरा- न्तक की राजधानी श्रीकाशी अज्ञानरूप विपत्ति से जगत् की रक्षा करे ॥ २।

भूर्न्न भवति भूम्यधिकरणिका भूर्न्न भवति भूमौ न तिष्ठतीति यावत्। अन्यैवेयं काचिद्-भूरित्यर्थः, ईश्वरस्य त्रिशूलाग्रे स्थितत्वात्। वक्ष्यति च—

क्षेत्रमेतत्त्रिशूलाग्रे शूलिनस्तिष्ठति द्विज।
अन्तरिक्षे न भूमिष्ठं नेक्षन्ते मूढबुद्धयः॥

भूर्लोके न च संलग्नमन्तरिक्षे ममालयम्।
विमूढास्तं न पश्यन्ति मुक्ताः पश्यन्ति चेतसा॥ इत्यादि।

त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधस्थापि येति। अधस्तिष्ठतीत्यधस्था भुवर्लोकादीनां षण्णां मध्यस्थापि या काशी त्रिदिवतोऽप्युच्चैस्त्रिदिवतोऽप्युपरि तिष्ठतीत्यर्थः। प्रलयसमये एव त्रिशूलाग्रेणोर्ध्वीकृत्य विश्वनाथेन धृतत्वात्। तत्र दैनन्दिनप्रलये त्रिदिवतः स्वर्लोका-दित्येव। प्राकृतप्रलये तु त्रयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा दीव्यन्ति क्रीडन्ति यस्मिन्निति त्रिदिवं ब्रह्माण्डम्, तस्मादिति व्याख्येयम्। तथा च वक्ष्यति—

अहो जनानां जडता विहाय काशी यदन्यत्र नयन्ति चेतः।
परिस्फुरद्गाङ्गजलाभिरामां कामारिशूलाग्रधृतां लयेऽपि॥

महासंवर्तसंवृत्ततापाद्विश्वेशपालिताम्।
स्वर्धुन्याहारयष्ट्येव राजितां कण्ठभूमिषु॥

सनत्कुमारसंहितायाञ्च—

गते परार्द्धद्वितये विलीने जगत्यशेषे मयि देवि सर्वे।
रक्षन्ति सर्वैर्विविधायुधौघैर्वाराणसीं काशितसूक्ष्मसिद्धिम्॥ इति।

ननु दैनन्दिनप्रलये त्रिशूलाग्रे महेशेनोर्ध्वीकृत्य धृतत्वात् कथञ्चित् काशी तिष्ठतु नाम, प्राकृते तु प्रलये प्रकृतिकार्यमात्रस्य सर्वस्य विलयात् कथं तिष्ठेत् कुतस्तराङ्गणाः कुतस्तमां त्रिशूलमिति? किञ्च धर्तुर्विश्वनाथस्याप्यभावः श्रूयते। तथा चोक्तवान् वासिष्ठे भगवान् रामः—

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् ह्रियते हरिरप्यजः।
भवोऽप्यभावमायाति कैवास्था मादृशे जने॥ इति।

तस्मात् तदेतत्सर्वमर्थवादमात्रमिति।

न भूर्लोके न च संलग्नं तत्क्षेत्रं त्वन्तरिक्षगम्।
अयोगिनो न वीक्षन्ते पश्यन्त्येव च योगिनः॥

अविमुक्तमिदं क्षेत्रमपि ब्रह्माण्डमध्यगम्।
ब्रह्माण्डमध्ये न भवेत् पञ्चक्रोशप्रमाणतः॥

यथा यथा हि वर्द्धेत जलमेकार्णवस्य च।
तथा तथोन्नयेदीशस्तत्क्षेत्रं प्रलयादपि॥

क्षेत्रमेतत्त्रिशूलाग्रे शूलिनस्तिष्ठति द्विजाः।
अन्तरिक्षे न भूमिष्ठं नेक्षन्ते मूढबुद्धयः॥

यावन्तो भास्वतः स्पर्शाद्भासन्ते सैकताकणाः।
तावन्तो द्रुहिणा जग्मुर्नैत्येषा मणिकर्णिका॥
तामसीं प्रकृतिं प्राप्य कालो भूत्वा चराचरम्।
ग्रसामि लीलया देवि काशीं रक्षामि यत्नतः॥
सा माणिकर्णिकेतीयं नाभिगाम्भीर्यभूमिका।
ब्रह्माण्डगोलकं सर्वं यस्यामेति लयोदरम्॥
न यदा भूमिवलयं न यदापां समुद्भवः।
तदा विहर्तुमीशेन क्षेत्रमेतद्विनिर्मितम्॥
अभावः कल्प्यते मूढैर्यदा च शिवयोस्तयोः।
क्षेत्रस्यास्य तदाभावः कल्प्यो निर्वाणकारिणा॥

इत्याद्यभ्यादर्शनात्।

अभ्यासे हि अर्थस्य भूयस्त्वं दूरतस्तूपचरितार्थत्वम्। यथा अहो रमणीया रमणीया लक्ष्मीरिति।

पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः।
तैरर्जितानि पुण्यानि तद्वदेव भवन्ति हि॥
समस्तकर्मनिर्मूलसाधनानि नराधमः।
पुराणान्यर्थवादेन मृतो नरकमश्नुते॥
यावद्ब्रह्मा सृजत्येतज्जगत्स्थावरजङ्गमम्।
तावत्स पच्यते पापी नरकान्तेषु सन्ततम्॥
अहो हि वाक्ये चतुरक्षरे द्वे पुण्यस्य पापस्य निदानभूते।
उच्चारणादेव नृणां मुनीन्द्रा नारायणश्चेति तथार्थवादः॥
पुराणेषु द्विजश्रेष्ठाः सर्वधर्मप्रवक्तृषु।
प्रवदन्त्यर्थवादत्वं ये ते नरकभाजनाः॥

इत्यादीनाञ्च भूयसामर्थवादवक्तृनिन्दापराणां बृहन्नारदीये दर्शनात्। शैवे च—

वेदाः प्रतिष्ठिता देवि पुराणे नात्रसंशयः।
पुराणमयन्यथाकृत्वा तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्॥
सुशान्तोऽसुदान्तोऽपि न गतिं प्राप्नुयात्क्वचित्। इत्यादि।

अत्रापि च वक्ष्यति—

उदाहरन्ति ये मूढाः कुतर्कबलदर्पिताः।
काश्यां सर्वार्थवादोऽयं ते विड्कीटा युगे युगे॥ इत्यादि।

तर्हि युक्तिविरोधस्य का गतिरिरिति चेत्, यैव गतिः, सैव गतिरिति ब्रूमः। नहि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणात्मा भगवान् वराकेण युक्तिविरोधेनास्माभिरनुयोक्तव्यः। तथा च श्रुतिः 'नैषा मतिस्तर्केणापनेयेति'।

ननु ग्रावाणः प्लवन्ते यजमानः प्रस्तर इत्यादीनां वेदवाक्यानामप्यर्थवादो दृश्यते, तद्वदत्रापि भविष्यतीति चेद् दृश्यतां नाम, पुराणानां तदपवादस्योक्तत्वादिति। किञ्च प्राकृतप्रलये ब्रह्माण्डतदन्तर्वर्त्तिनां लयेन भवितव्यम् न च काशी ब्रह्माण्डगा। तथा चात्रैव वक्ष्यति दर्शितमेव तत्पूर्वम्।

अविमुक्तमिदं क्षेत्रमपि ब्रह्माण्डमध्यगम्।
ब्रह्माण्डमध्येन भवेत् पञ्चक्रोशप्रमाणतः॥
यथा यथा हि वर्द्धेत जलमेकार्णवस्य च।
तथा तथोन्नयेदीशस्तत्क्षेत्रं प्रलयादपि॥ इत्यादि।

अतो ब्रह्माण्डाद्बहिः स्थितायाः काश्याः कुतो नाशावकाशो भुशुण्डवत्। तथा च वासिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डाख्येन भुशुण्डवाक्यम्—

ब्रह्माण्डपारमारभ्य तत्त्वान्ते विमले पदे।
सुषुप्तावस्थया तावत्तिष्ठामि प्रलये सति॥

यावत्पुनः कमलजः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति।
तत्प्रविश्य ब्रह्माण्डं तिष्ठामि विहगालये॥ इति।

श्लोकद्वयस्यायमर्थः—प्रलये प्राकृतप्रलये सति ब्रह्माण्डस्य पारं बहिर्मार्गमासाद्य तत्त्वान्ते ब्रह्माण्डावरणभूतानामप्तेजोवाय्वाकाशाहङ्कारमहत्प्रकृतिरूपाणां सप्तानामन्ते विमले पदे सुषुप्तावस्थया समाध्यवस्थया तावत्तिष्ठामि, यावत्कमलजः पुनः सृष्टिकर्मणि तिष्ठति। तदा पुनः सृष्टौ ब्रह्माण्डं प्रविश्य विहगालये तिष्ठामि। अन्यथा ब्रह्माण्डमावरणानि च भित्त्वा लिङ्गशरीरेण वैकुण्ठं गतानामपि विदेहकैवल्यप्रसङ्गात्। यत्त्वत्र ब्रह्माण्डपारमासाद्येत्यत्र महाप्रलयसम्पत्ताविति पाठं प्रकल्प्य महाप्रलयसम्पत्तावित्यादि-चिरजीवित्वातिरेकार्थवादः।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

इत्याद्यागमाज्जीवन्मुक्तानामधिकारिणां महाप्रलये विदेहमुक्त्यवगमादिति विद्यारण्यश्रीचरणैरुक्तम्, तत्, न, तेषामागमानां ब्रह्माण्डान्तरावस्थितजीवन्मुक्तविषयत्वाद्ब्राह्माण्डबहिर्गतानां तदभावात्। एतेन—

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमोज्योतिरभून्न चान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यादुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्मपुमांस्तदासीत्॥ इति।

'तर्ह्येदमव्याकृतमासीत्' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां विरोधाभावोऽपि व्याख्यातः। विशेषतो विरोधाभावं अग्रे व्याख्यास्यामः।

यत्तु दैनन्दिनेऽथ प्रलये त्रिशूलकोटौ समुत्क्षिप्य पुरीं हरः स्वाम्।
विभर्ति संवर्तमहास्थिभूषणस्ततो हि काशी कलिकालवर्जिता॥ इति।

तत्तु न प्राकृतप्रलयव्यावृत्त्यर्थम्, अप्यर्थेनाथशब्देन महाप्रलयस्य समुच्चीयमानत्वात्। अत एव संवर्त्तमहाहिभूषण इति विशेषणम्। अन्यथा महापदघटितस्यैतस्याथिशब्दस्य वैयर्थ्यापातात्। कलिकालवर्जितत्वे वास्य तात्पर्यम्। किञ्च प्राकृते प्रलये प्राकृतानां प्रकृत्यधीनानामेव लयेन भवितव्यम्, न च काश्यादिकं प्राकृतम्; किन्त्वचिन्त्यशुद्धसत्त्वात्मकमेवेश्वरेच्छया व्यक्तीभावमापन्नं श्रीकृष्णशरीरवत्। न चासिद्धो दृष्टान्तः। नराकृतिपरं ब्रह्मेत्यादिबहुतरवचनविरोधात् तेषामर्थान्तरकल्पनायां कारणाभावाद् भक्तानुग्रहार्थं ब्रह्मण एव स्वाधीनया मायया देहाकारतोपपत्तेश्च।

तथा च स्कान्दे स्वामिकार्तिकेयवाक्यम्—

कैवल्यं यत् परं ब्रह्म निराकारमगोचरम्।
तच्च मूर्त्या परिणतं भक्तानां भक्तिहेतुतः॥ इति।

विष्णुपुराणे च—

नाकारणात् कारणाद्वा कारणाकारणान्न च।
शरीरग्रहणं व्यापिन् धर्मत्राणाय ते परम्॥ इति।

अत एवोक्तं श्रीधरस्वामिना—जीवस्यानाद्यविद्यया मिथ्याभूतदेहसम्बन्धः, ईश्वरस्य तु चिद्घनलीलाविग्रहाविर्भाव इति महान् विशेष इति। तथा च महतां वचनं 'उपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्' इति।

किञ्च कृष्णशरीरस्य जगत्कारणत्वात् तन्नाशे दाहे वा जगतोऽपि नाशदाहप्रसङ्गात् कृष्णशरीरस्य जगत्कारणत्वं चित्सुखाचार्येण ब्रह्मस्तुतौ तनुभूतमयस्येत्यत्र तनुभिः सूक्ष्मरूपैराब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं भूतैर्व्याप्तस्य कारणशरीरस्येत्युक्तत्वात्। अत एव तन्न पाञ्चभौतिकम्, तेषां तत एवोत्पत्तेः। न च शरीरत्वात् पाञ्चभौतिकत्वमनुमेयम्। तत्र स्वकर्मजन्यत्वस्योपाधित्वात्। न च पुत्रादिकर्मजन्यशरीरे व्यभिचारः। **'आत्मा वै जायते पुत्रः'**, **'अर्द्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी'** इति श्रुतेस्तत्रापि स्वकर्मजन्यत्वसत्वात्।

न च धर्तुरभावो ब्रह्मविष्णुशङ्करभावमापन्नस्यैवेक्षणमात्रेण धारकत्वात्। स सेतुर्विधृतिरितरेषां लोकानामसम्भेदायेति श्रुतेः। न च ब्रह्मादिदेहानामन्तर्द्धानवत्काश्यादिशरीराणामप्यन्तर्द्धाने न भवितव्यमिति वाच्यम्, ईश्वरेच्छायाः स्वतन्त्रत्वात् ब्रह्मादिदेहान्तर्द्धानायापि काशीगणास्त्रिशूलं च रक्षणीयमित्येतादृश्या अपीच्छायाः सिसृक्षादिवत् सम्भवात्। न च ब्रह्मादिदेहानामप्यन्तर्द्धानमस्ति, तेषां देहानामप्रलीयमानत्वात्। तथा चोक्तम्—'पञ्चात्मकस्य विष्णोरहमेवाग्र' इति साधारणलक्षणात्मके पद्ये कैवल्यदीपिकाकारेण। नापि साकारेषु चतुर्ष्वव्याप्तिस्तेषामाकारातिरोहितत्वादिति।

न चैककालीनाः सर्वे परमाणवः समग्रोपादेयप्रबन्धशून्याः, आरम्भकत्वात्, नष्टपवनारम्भकपरमाणुवदित्यादिनैयायिकादिसमयसिद्धप्रलयसाधकानुमानात् काश्यादिदेहानामप्यन्तर्द्धाने न भवितव्यमिति वाच्यम्, नरशिरःकपालानुमानवत् स्मृत्या तस्य बाधितविषयत्वादिति सन्तोष्टव्यमलमतिविस्तरेण। सनत्कुमारसंहितादिवचनानुसारेणैतद्व्याकृतमस्माभिरतः स्वसिद्धान्तरोषकषायीकृतनयनैर्नैयायिकादिभिः शिरःकुट्टनं न विधेयमिति, पद्यानां यच्छब्दानां सेत्यनेनान्वयः।

या बद्धा भुवि मुक्तिदेति। या काशी भुवि बद्धापि भूमण्डले बद्धत्वेन प्रतीयमानापि मुक्तिदा भवतीति पूर्वस्यापेरनुषङ्गः। मनुष्यत्वेन प्रतीयमानोऽपि दाशरथिर्यथा मुक्तिद इत्यभिप्रायः। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे, येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति, तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेदित्यादिश्रुतेः। न चात्र भूमिष्ठेत्यनेन पुनरुक्तिर्विरोधाभासभेदेनार्थभेदोपलम्भात्।

अत एव **स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तव** इति। यस्यां काश्यां मृता जन्तवः प्राणिनः, अमृतं कैवल्यं स्युः कैवल्यभाजो भवन्तीत्यर्थः। यद्वा केन प्रकारेण मुक्तिदा स्यादिति पृच्छायामाह–स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तव इति। यद्वाऽतिसङ्गं वारयति स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तव इति। अथवा ये भुवि बद्धाः स्वभूमौ सम्बद्धाः कृतवसतय इत्यर्थः। तेषां मुक्तिदा जीवन्मुक्तिदेत्यर्थः। अत्राध्याहृत्य योजना सोढव्या। तथा चोक्तं पाद्मे—

काश्यां तिष्ठन्ति ये केचित्तान् पश्यन्ति सुरोत्तमाः।
चतुर्भुजस्त्रिनयनान् गङ्गोद्भासितमूर्द्धजान्॥ इति।

अत्रापि च वक्ष्यति—

ये वसन्ति सदा काश्यामपञ्चत्वविनिश्चयाः।
जीवन्मुक्तास्तु ते ज्ञेया वन्द्याः पूज्यास्त एव हि॥ इति।

एवं जीवन्मुक्तिमभिधाय विदेहमुक्तिमाह। स्युरमृतमिति। **समानमन्यत्।** स्युरमृता इति क्वचित्पाठस्तदा म्रियन्त इति मृता अमृताः। मरणमित्युपलक्षणम्, जन्मादिषड्भावविकाररहिता भवन्तीत्यर्थः। गङ्गाश्रितत्वाच्चास्याः श्रेष्ठत्वमाह।

या नित्यं **त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे** इति। त्रीणि च तानि जगन्ति चेति त्रिजगन्ति, तानि पवित्रयतीति त्रिजगत्पवित्रा गङ्गा। तदुक्तं भागवते—

यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गलदिग्वितानम्।
मन्दाकिनी दिवि च भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम्॥ इति।

तटं तीरं वर्ततेऽस्या इति तटिनी, त्रिजगत्पवित्रा चासौ तटिनी च त्रिजगत्पवित्रतटिनी गङ्गा, तस्यास्तीरे या काशी वर्तते। त्रिजगत्पवित्रतटिन्या गङ्गया नित्यमाश्रियतेत्यर्थः। एवं हि श्रूयते सनत्कुमारसंहितायाम्—

यत्सम्पर्कात् पवित्रत्वं गङ्गा यात्येव सर्वतः।
पूर्वं विनिःसृता देवि मम मौलिमहालयात्॥

अत्रागत्य पुनर्देवि गङ्गा पुण्यतमाभवत्। पवित्रमद्य स्वयमेव गङ्गा पुनश्च्युता विष्णुपदात् ततोऽपि। ब्रह्मादिलोकादपि मूर्ध्नि शम्भोर्निपातनाद् भूतिसु पाण्डुराङ्गा॥ उन्मथ्य मार्गञ्च भगीरथस्य काशीं प्रविश्याथ विमुक्तमन्तः'॥ इत्यादि।

पारावारविहारेण विश्लेषशङ्कां वारयति। **नित्यमिति**। ब्रह्मादिभिः सेव्यत्वादपि श्रेष्ठतमाह। **सुरैः सेव्यत** इति। येत्यनुषञ्जनीयं नित्यमिति च। कादाचित्कसेवां वारयति। नित्यमिति। या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे सुरैः सेव्यत इत्येकं वाक्यम्। अयमभिप्रायः—अस्माभिः सेव्यमानापीयं सुरनदी त्रिजगत्पुनानाऽपि स्वर्गालयापि केनापि सुखनिमित्तेन काशीमधितिष्ठत्यतोऽसौ सान्द्रानन्दखनिरिति निश्चित्य देवैर्नित्यं सेव्यत इति।

अधिष्ठातृद्वारापि श्रैष्ठ्यमाह। **त्रिपुरारिराजनगरीति**। त्रयाणां पुराणां स्वर्णरूप्यलौहनिर्मितानां अरिस्त्रिपुरारिः। अथवा स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरलक्षणानां त्रयाणां पुराणां वृत्त्या रूढः सन्नरिस्त्रिपुरारिः, स चासौ स्वयं राजत इति त्रिपुरारिराजस्तस्य नगरी त्रिपुरारिराजनगरी। त्रिपुरारेः राजधानीति वा। अथवैवं गणेशोपाधिं भगवन्तं स्तुत्वाऽशेषविशेषाश्रयभूतां प्रत्यग्दृशिं स्तौति।

भूमिष्ठेति। पूर्ववदेवान्वयः। तत्र काशते स्वप्रकाशतया राजत इति काशी, प्रत्यक्चैतन्यम्। 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः, इति श्रुतेरित्येतावान्विशेषः।

ननु पञ्चक्रोशावच्छिन्नाया भुवः काशीत्वेन प्रसिद्धेः कथं प्रत्यग्दृशि परतया सा व्याक्रियते, तत्राह। भूमिष्ठापि न यात्र भूरिति। भूमिशब्दोऽत्र भावप्रधानः। तथा चायमर्थः—भूमिष्ठापि भूमित्वेन स्थितापि प्रतीतापि या काशी अत्र तत्त्वनिरूपणदशायां भूर्न भवति, स्वप्रकाशप्रत्यग्ब्रह्मरूपत्वात्। यथा देहित्वेन प्रतीयमानोऽपि श्रीकृष्णो देही न भवति, तद्वदित्यर्थः। 'अस्थूलमणु अथात आदेशो नेति नेति' इत्यादिश्रुतेः। वक्ष्यति चात्रापि—

> अविमुक्तं महाक्षेत्रं पञ्चक्रोशपरीमितम्।
> ज्योतिर्लिङ्गं हि तत् क्षेत्रं परं विश्वेश्वराभिधम्॥

तथा पाद्मे च—

> यल्लिङ्गं दृष्टवन्तौ तौ नारायणपितामहौ।
> तदेव लोके वेदे च काशीति परिगीयते॥ इति।

एवं भूमिप्रतीतेरभावमुक्त्वा परिच्छिन्नप्रतीतेरप्यभावमाह। **त्रिदिवतोऽप्युच्चैरधस्थापि येति**। अतित्रयं समुच्चयार्थम्। या काशी भुवर्लोकादीनां षण्णामधःस्थापि त्रिदिवतोऽप्युच्चैस्त्रयो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा दीव्यन्ति क्रीडन्ति यस्मिन् इति त्रिदिवं ब्रह्माण्डम्, तस्मादप्युच्चैरुपरि सर्वव्यापिकेत्यर्थः, सत्यज्ञानान्तब्रह्मरूपत्वात्। यथा देवक्या उदरस्थत्वेन प्रतीयमानोऽपि श्रीकृष्णस्तत्स्थो न भवति; किन्तु सर्वव्यापकस्तद्वदित्यर्थः। स भूमिं विश्वतो स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि श्रुतेः।

ननु तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति श्रुत्या चैतन्यस्य कार्ये प्रवेशश्रवणात् परिपूर्णस्य च प्रवेशासम्भवात् कथमस्य परिपूर्णत्वमित्याशङ्कायामाह। **या बद्धा भुवीति**। भुवीत्यनेन भूतभौतिकमुपलक्ष्यते। ततश्चायमर्थः। या काशी भुवि भूतभौतिके कार्ये प्रपञ्चे बद्धा

प्रविष्टेत्यर्थः, प्रागेव कारणतया विद्यमानत्वात्। तदुक्तं सदृष्टान्तं भागवते—'यथेमेऽविकृताभावास्तथा ते विकृतैस्सह' इत्यादिना। प्रवेशश्रवणन्त्वौपचारिकम्। तथा चोक्तं बृहदारण्यकभाष्ये भगवत्पादैः—'कार्यस्थस्योपलभ्यत्वमेव प्रवेशः' इति। भागवते च—

स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम्।
तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे॥ इति।

द्विविधो हि परः पुरुषार्थः सर्वानर्थनिवृत्तिः, परमानन्दावाप्तिश्च। तत्र चितेः सर्वानर्थनिवृत्तिरूपतामाह। मुक्तिदेति। मुक्तिमाध्यात्मिकादितापत्रयोच्छित्तिं ददाति प्रयच्छतीति मुक्तिदा। या हि सर्वानर्थानन्येषां निवर्तयति, सा सुतरां सर्वानर्थविनिर्मुक्ता भवति। यथा लोके योऽन्यानधनिनो धनिनः सम्पादयति, स तेभ्योऽतिशयेन धनीति गम्यते, तद्वदिति।

परमानन्दरूपतामाह। **स्युरमृतं यस्यां मृता जन्तव** इति। यस्यां प्रत्यक्चेतन्यलक्षणायां काश्यां मनननिदिध्यासनाङ्गकश्रवणजनितब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारेण मृताः। त्यक्तप्राणेन्द्रियदेहा सन्तो जन्तवः प्राणिनोऽमृतं कैवल्यं परमानन्दसुखमिति यावत्। 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्' इत्युक्तेः स्युर्भवेयुः। यस्याः प्रत्यग्दृशेस्तादात्म्यज्ञानेन जीवाः परमानन्दस्वरूपा भवन्तीत्यर्थः। 'तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्मि स एष परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादिश्रुतेः। एवम्भूता [प्रत्यग्दृशिरेवाज्ञानतत्कार्ययोर्हन्त्रीत्यत्र सदाचारं दर्शयंस्तां विशिनष्टि—या नित्यं त्रिजगत्पवित्रतटिनीतीरे सुरैः सेव्यत इति।

त्रिजगत्पवित्रा गङ्गा तटिन्योऽन्या गौतमीप्रमुखाः, तासां तीरे या काशी सुरैरित्यसुरादीनामुपलक्षणम्। सुरासुरैरिन्द्रविरोचनप्रभृतिभिर्ब्रह्मचर्यादिपुरःसरं श्रवणमनननिदिध्यासनाद्युपायैः सेव्यते चिन्त्यते भव्यत इत्यर्थः। 'इन्द्रो हावै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनो सुराणां तौ सन्दिहानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुस्तौह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः' इत्यादिश्रुतेः।

ननु प्रत्यग्दृशिरज्ञानं तत्कार्यं च हन्तीत्यनुपपन्नम्, तस्या अज्ञानाश्रयत्वविषयत्वोपलम्भात्। अन्यथा तदयोगात् संसारप्रतीतेरभावप्रसङ्गाच्चेत्याशङ्क्य स्वरूपसत्त्वेन यद्यपि तयोरनिर्वर्तिका; अपि तु साधिकैव; तथापि तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्त्याभिव्यक्ता सती प्रत्यग्दृशिरज्ञानं तत्कार्यं च हन्तीत्यभिप्रेत्य प्रत्यग्दृशिं विशिनष्टि।

त्रिपुरारिराजनगरीति। त्रयाणां पुराणां स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणां योऽरिराजः शत्रुराजस्तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग् बोधः, स एवाभिव्यक्तिस्थानत्वेन नगरमिव नगरमाश्रयो यस्याः सा तथा साऽपायाज्जगत्पायादिति। तथा चोक्तं वार्तिके सुरेश्वराचार्यैः—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्यासहकार्येण नाभूदस्ति भविष्यतीति॥ २।

नामस्तस्मै महेशाय यस्य सन्ध्यात्रयच्छलात् ।
यातायातं प्रकुर्वन्ति त्रिजगत्पतयोऽनिशम् ॥३॥

श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपीति न्यायात् प्रपञ्चितं मङ्गलं विघ्न-निरासद्वारा चिकीर्षितस्य पुराणस्य निष्प्रत्यूहपरिसमाप्तिप्रचयाभ्यामलमिति मत्वा पुनः सवितृरूपापन्नजगत्सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृब्रह्मनमस्कारलक्षणं मङ्गलमाचरति ।

नमस्तस्मै इति । तस्मै प्रसिद्धायापरिमितगुणायेति यावत् । महेशाय महांश्चासावीशश्चेति महेशः सूर्यः । 'अविचिन्त्यवपुः श्रेष्ठो महायोगी महेश्वरः" इति भविष्यपुराणान्तर्गतसूर्यसहस्रनामोक्तेः । तस्मै नमोऽस्तु । करोमीति वा शेषः । महेशत्वमेव दर्शयति । यस्येति । यस्य महेशस्य सूर्यस्य सन्ध्यात्रयच्छलात् सन्ध्यात्रयस्य प्रातर्मध्याह्नसायंलक्षणस्य च्छलाद् व्याजात् कापट्यादित्यर्थः । अहोरात्रादीनां तत्र कल्पितत्वात् । तदुक्तं भागवते —तरणाविवाहनी इति । त्रिजगत्पतयो ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रादयोऽनिशं यातायातं प्रकुर्वन्ति, निरन्तरमावृत्त्या आविर्भावतिरोभावमासाद्य सृष्ट्यादिकं रचयन्तीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते—

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।
वर्त्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥ इति ।

सूर्यगत्या हि अहरादीनां सृष्ट्यादिकं भवतीति प्रसिद्धं लोके शास्त्रे च । तथा च श्रुतिः—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ इति ।

स्मृतिश्च—

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥ इति ।

अथवा नमस्तस्मै महेशायेत्यनेनान्तर्यामित्वेन परमात्मैव स्तूयते । तदा महांश्चासावीशश्चेति महेश ईश्वरस्तस्मै । तथा पूर्वमध्यापरत्वसाम्यात् सन्ध्यात्रयं सृष्टिस्थितिप्रलयरूपं तच्छलाद् यातायातं गमनागमनं कुर्वन्तीति व्याख्येयम् । अन्यत् समानम् । अथवा पूर्वमपायाज्जगन्मोचकतया प्रत्यग्दृशि स्तुत्वा पुनः सृष्ट्यादिहेतुमायाश्रयत्वेन स्तौति । नमस्तस्मै महेशायेति । अत्र च ध्यानं ध्या सम्यग् ध्यासं ध्यातस्या अत्तृभक्षकं विरोधीति सन्ध्यात्तृ । अयते गच्छति स्वकार्यं व्याप्नोतीत्ययम् । सन्ध्यात्तृ च तदयञ्चेति सन्ध्यात्रयमज्ञानं तच्छलादिति च्छलयतीति च्छलम् सन्ध्यात्रयञ्च तच्छलञ्चेति सन्ध्यात्रयच्छलम्, तस्मादिति व्याख्येयम् । अन्यत् समानमिति ॥ ३ ।

जिस परमात्मा के सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप सन्ध्यात्रय के व्याज से त्रैलोक्यपति ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र निरन्तर गमनागमन करते रहते हैं, उस महेश्वर भगवान् को नमस्कार है ॥ ३ ।

अष्टादशपुराणानां कर्त्ता सत्यवतीसुतः ।
सूताग्रे कथयामास कथां पापापनोदिनीम् ॥४॥
कदाचिन्नारदः श्रीमान् स्नात्वा श्रीनर्मदाम्भसि ।
श्रीमोङ्कारमभ्यर्च्य सर्वदं सर्वदेहिनाम् ॥५॥

एवं मङ्गलमारचय्य श्रोतृप्ररोचनार्थं चिकीर्षितपुराणस्येश्वरकर्तृतां दर्शयन्नुपोद्घातसङ्गतिमाह । **अष्टादशपुराणानामिति** । सत्यवतीसुतो व्यासः सूताग्रे कथां कथयामासेति सम्बन्धः । सूतस्याऽग्रे, सूतो रोमहर्षणाख्यस्तस्याग्रे ।

रोमहर्षणनामानं महाबुद्धिं महामुनिम् ।
सूतं जग्राह शिष्यमितिहासपुराणयोः ॥

इति वैष्णवोक्तेः । सूतो नाम ब्राह्मण्यां क्षत्रियादुत्पन्नः । तदुक्तम्—'ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूत इत्यभिधीयते' इति । कथम्भूतो व्यासः ? अष्टादशपुराणानां कर्त्ता । अष्टादशपुराणानि ब्राह्मादीनि । तदुक्तं वैष्णवे—

ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं स्मृतम् ।
तथाऽन्यं नारदीयञ्च मार्कण्डेयञ्च सप्तमम् ॥
आग्नेयमष्टमं प्रोक्तं भविष्यं नवमं तथा ।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैङ्गमेकादशं स्मृतम् ॥
वाराहं द्वादशञ्चैव स्कान्दञ्चात्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनञ्च कौर्मं पञ्चदशं स्मृतम् ॥
मात्स्यञ्च गारुडञ्चैव ब्रह्माण्डञ्च ततःपरम् ।

तेषां कर्त्तेति । कर्त्तेति तृच्प्रत्ययान्तं रूपम् । अतोऽनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययास्त्रिष्वपि कालेषु भवन्तीति न्यायाद् आसमाप्तेर्वर्त्तमानत्वाच्चातीतवर्तमानभविष्यत्पुराणानां कर्तृत्वमविरुद्धमिति भावः । कथम्भूतां कथाम् ? पापापनोदिनीम् । पापानि महापातकोपपातकसङ्करीकरणापात्रीकरणमलिनीकरणजातिभ्रंशकरादीन्यपनोदितु शीलं यस्याः सा, तथा तामिति ॥४॥

यदर्थमुपोद्घात आरचितः, तां कथामाह । **कदाचिदिति** । एकदा नारदो विष्णोर्नरांशाज्जातं यन्नारं जलं मणिकर्णिकास्थम्, तत् पितृभ्यो दत्तवानिति नारदः । तदुक्तं सनत्कुमारसंहितायाम्—

अष्टादश पुराणों के रचयिता, सत्यवतीनन्दन व्यास सूत के सम्मुख समस्त पातक-हारिणी (काशीखण्ड की) कथा को कहने लगे ॥४॥

व्यास जी बोले—

एक बार श्रीमान् नारद ऋषि ने निर्मल नर्मदा के जल में स्नानकर समस्त देहधारियों को सर्वस्व देने वाले (अमरकण्टक क्षेत्र के अधिष्ठाता) श्रीमान् ओङ्कारेश्वर भगवान् का पूजन किया ॥५॥

व्यास उवाच—

व्रजन् विलोकयाञ्चक्रे पुरो विन्ध्यं धराधरम् ।
संसारतापसंहारि रेवावारिपरिष्कृतम् ॥६॥
द्वैरूप्येणापि कुर्वन्तं स्थावरेण चरेण च ।
साभिख्येन यथार्थाख्यामुच्चैर्वसुमतीमिमाम् ॥७॥

याभ्यः पराद्ध्र्यः पितृणां न तृप्तिस्ता दत्तवांस्त्वं पितृणां पुरैव ।
नाम्ना ततस्त्वं पितृभक्तवर्यं नारं ददासीति हि नारदोऽसि ॥

विन्ध्यं विन्ध्यनामानं पुरोऽग्रे विलोकयाञ्चक्रे, ददर्शेत्यग्रिमेणान्वयः । कथम्भूतः? श्रीमान् ब्रह्मवर्चसवान् । किं कुर्वन् । श्रीनर्मदाम्भसि श्रीयुक्ते निर्मले रेवाया अम्भसि स्नात्वा । नार्मदेऽम्भसि इति क्वचित् । श्रीर्गौरी । शङ्करो भगवान् विष्णुर्लक्ष्मीर्गौरी-द्विजोत्तमेति वैष्णवोक्तेः, सा वर्त्तते यस्यासौ श्रीमान्, श्रीमांश्चासावोङ्कारस्तं गौरीसहित-मोङ्काराख्यमीश्वरं अमरकण्टकक्षेत्राधिष्ठातारमिति यावत् । अभ्यर्च्य पूजयित्वा ॥५॥

व्रजन् गच्छन् । लिङ्गविशेषणत्वाच्छ्रीमदिति पृथक् पदं वा । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् । कथम्भूतम्? सर्वमिति । सर्वदेहिनामशेषप्राणिनां धर्मार्थकाममोक्ष-पूरकमित्यर्थः । विन्ध्यं विशिनष्टि धराधरमित्याद्यक्षरचतुष्टयाधिकसार्द्धत्रिशताश्लोकैः । कथं भूतं विन्ध्यम् । धराधरं धरां पृथ्वीं धरतीति धराधरस्तं पर्वतमिति यावत् । पुनः कथं भूतम् । संसारे तापं संसारतापमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकलक्षणं संहर्तुं शीलं यस्य तत्तथा, तच्च तद्रेवावारि नर्मदाजलं च तेन परिष्कृतमाश्रितं सेवितं रेवातीरस्थ-मिति यावत् ।

यद्वा परिष्कृतं दर्शनादेव पावयितृ पवित्रतममित्यर्थः । तदुक्तम्—

त्रिभिः सारस्वतं तोयं सप्ताहेन च यामुनम् ।
सद्यः पुनाति गाङ्गेयं दर्शनादेव नार्मदम् ॥ इति ।६।

पुनः कथम्भूतम् । द्विरूपमेव द्वैरूप्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । तेन द्वैरूप्येण द्विरूपेण अपिश्चार्थे समुच्चयवाची । इमां वसुमतीं यथार्थाख्यां यथा सदृशो बाधितोऽर्थो यस्याः सा, यथार्था आख्या यस्याः सा, यथार्थाख्या, तामेवं विशिष्टामुच्चैरतिशयेन कुर्वन्तं सम्पादयन्तमिति । किं तद्द्वैरूप्यमिति पृच्छायामाह । स्थावरणे चरेण चेति । स्थावरेण स्वस्मिन्नुत्पन्नरत्न-प्रवालादिनेत्यर्थः । चरेण स्वशृङ्गे निरन्तरं क्रीडितुमागतेन वस्वग्न्यादिनेत्यर्थः । वस्वग्निरश्मिरत्नधनानि वसुशब्दवाच्यानि विद्यन्ते यस्याः सा वसुमतीति हि तस्या यथार्थाख्याम् । यदाहामरः—'देवभेदेऽनले रश्मौ वसु रत्ने धनेऽपि च' इति ।

पूजन के अनन्तर चलते हुए सन्मुख ही संसार-संताप-संहारक नर्मदा के जल से परिष्कृत, विन्ध्यनामक पर्वत को वे देखने लगे ॥ ६ ॥

वह पर्वत शोभासम्पन्न स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के अपने वसुमय स्वरूप से इस पृथिवी के वसुन्धरा नाम को वास्तव में सार्थक कर रहा था ॥७॥

रसालयं रसालैस्तैरशोकैः शोकहारिणम् ।
तालैस्तमालहिन्तालैः शालैः सर्वत्र शालितम् ॥ ८ ।
खपुरैः खपुराकारं श्रीफलं श्रीफलैः किल ।
गुरुश्रियं त्वगुरुभिः कपिपिङ्गं कपित्थकैः ॥ ६ ।

अत एव वक्ष्यति चात्रापि । तुच्छश्रियः स्वर्गभूमीः परिहायागतैरिव नानासुरनिकायैश्च विष्वग् भोगेच्छयोषितमिति । अत एवोक्तमुच्चैरिति । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् । कथं भूतेन स्थावरेण जङ्गमेन साभिख्येन ? अभिख्या शोभा । 'अभिख्या नाम शोभयोः' इत्यमरः । तथा सह वर्तत इति सभिख्यं तेन ॥ ७ ॥

पुनः कथं भूतम् । **रसालयमिति** । तैः प्रसिद्धैः रसालैराम्रैः । आम्रश्चूतो रसालोऽसावित्यमरः । रसालयं षण्णां रसानामालयमाश्रयमित्यर्थः । पुनः कथं भूतम् ? काकाक्षिन्यायेन तच्छब्दस्योभयत्र सम्बन्धात् तैः प्रसिद्धैरशोकैर्वञ्जुलैः । 'वञ्जुलोऽशोकः' इत्यमरः । शोकहारिणं शोकाङ्गारविपच्यमानं शोकं हर्तुं शीलं यस्य स शोकहारी तं शोकहारिणम् । न विद्यते शोको यैस्तेऽशोका इत्यशोकपदव्युत्पत्तिस्तैः शोकहारित्वं युक्तमिति भावः । तदुक्तम्—

अशोककलिकाश्चाष्टौ ये पिबन्ति पुनर्वसौ ।
चैत्रे मासि सिताष्टम्यां न ते शोकमवाप्नुयुः ॥ इति ।

पुनः कथं भूतम् । सर्वत्र समन्ततः शालितं शोभितम् । कैः । तालैस्तृणराजैः । तृणराजाह्वयस्ताल इत्यमरः, तथा तमालैः कालस्कन्धैः । कालस्कन्धस्तमालः स्यादित्यमरः । तथा हिन्तालस्तृणद्रुमविशेषैः । **'खर्जूरः केतकी ताली कर्ज्जूरी च तृणद्रुमाः'** इत्यमरः । तद्विशेषैः । तथा सालैः सर्ज्जैः । साले तु 'सर्जकार्श्याश्वकर्णिका' इत्यमरः ॥८॥

पुनः कथं भूतम् । खपुरैः पूगैः गुवाकैरिति यावत् । 'घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरः' इत्यमरः । खमाकाशं पूरयतीति खपुरः । ह्रस्वत्वमार्षम् । खपुर आकार आकृतिर्यस्य स खपुराकारस्तम् । अत्युच्छ्रितैः पूगवृक्षैराकाशं छादयन्तमित्यर्थः । यद्वा खपुरं आकाशगृहं तद्वदाकारो यस्य स खपुराकारस्तम् । अत्युच्छ्रितैः पूगवृक्षैराकाशगृहमिव शोभमानमित्यर्थः । पुनः कथं भूतम् । श्रीफलैर्बिल्वैः । 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि' इत्यमरः । श्रियं शोभां फलयति इति श्रीफलस्तम् । फल निष्पत्ताविति धातुः । श्रीफलैर्वृक्षैरत्यन्तशोभां सम्पादयन्तमित्यर्थः ;

वह रसाल (आम) के वृक्षों से रसालय, अशोकों से शोकहारी और ताल, तमाल, हिंताल और सालों से सर्वत्र शोभायमान हो रहा था ॥८।

बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे सुपारी के पेड़ों से आकाश को ढाँपे लेता-सा बेलों से श्रीफल-सा सुशोभित, अगरके वृक्षों से बड़ा सुगन्धित एवं कैतों से बानर-सा पिङ्गलवर्ण हो रहा था ॥९।

वनश्रियः कुचाकारैः लकुचैश्च मनोहरम् ।
सुधाफलसमारम्भि रम्भाभिः परिभासितम् ॥१०॥

सुरङ्गैश्चापि नारङ्गै रङ्गमण्डपवच्छ्रियः ।
वानीरैश्चापि जम्बीरैर्बीजपूरैः प्रपूरितम् ॥११॥

यद्वा श्रीफलैर्वृक्षैः कृत्वा श्रीफलं श्रियायुक्तानि फलानि अर्थतो नामतश्च यत्र स तथा तम् । बिल्ववृक्षाणां श्रीफलाख्यैर्लोकप्रसिद्धैः प्रपूरितमित्यर्थः । किलेत्युत्प्रेक्षायां प्रसिद्धौ वा । पुनः कथं भूतम् । अगुरुभिः कालागुरुभिः । 'कालागुर्वगुरु स्यात्' इत्यमरः । गुर्वी महती श्रीः सौगन्ध्यसम्पत्तिः शोभासम्पत्तिर्वा यस्य स तथा तम् । तुशब्दश्चार्थः समुच्चयवाची।पुनः कथम्भूतम्। कपित्थैः दधित्थैः। 'अथ कापित्थे स्युर्दधित्थग्राहिमन्यथाः' इत्यमरः । कपिपिङ्गं वानरवत्पिङ्गलम् । 'कडारः कपिशः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः । यद्वा कपिपिङ्गं श्रेष्ठपिङ्गम् । कपिर्वराहः श्रेष्ठश्चेति वचनात् ॥९॥

पुनः कथं भूतम् ? **लकुचैः** लिकुचैः । लकुचो 'लिकुचो डहुः' इत्यमरः । मनोहरं सुन्दरम् । बकुलैरिति क्वचित्पाठः । कथम्भूतैः । वनश्रीर्वनलक्ष्मीर्वनदेवीति यावत् । तस्याः कुचाकारैः स्तनाकारैः । चकारः समुच्चये । पुनः कथं भूतम् । सुधाऽमृतं तत्सदृशानि यानि फलानि, तैः समारम्भः सम्बन्धो वर्तते यासां तास्तथा ताश्च ता रम्भाश्च कदल्यः । 'कदली वारणबुसारम्भा' इत्यमरः । ताभिः परिभासितं प्रकाशितम् ॥१०॥

पुनः कथम्भूतम् । सुरङ्गैश्चेति । नारङ्गैर्नागरङ्गैः । गकारलोप आर्षः । ऐरावतैरित्येतत् । **'ऐरावतो नागरङ्गो नादेयी भूमि जम्बुका:'** इत्यमरः । प्रकृत्यन्तरं वा 'नारङ्गः पिप्पलीरसे यमजप्राणिनिबिडे नागरङ्गद्रुमेऽपि च' इति **मेदिनीकारः ।** श्रियो लक्ष्म्यारङ्गमण्डपमिव । नृत्यस्थलमिव रङ्गमण्डपवच्छ्रियमिति । पाठे रङ्गमण्डपस्येव श्रीः शोभा यस्य तमित्यर्थः । कथं भूतैः नारङ्गैः । सुरङ्गैः शोभनो रागो रङ्गो हर्षो वा येभ्यः रक्तवर्णो येषामिति वा ते सुरङ्गास्तैः । पुनः कथं भूतम् । वानीरैर्वेतसैः । 'अथ वेतसे रथाभ्रपुष्पविदुलश्वेतवानीरवञ्जुलः' इत्यमरः । समुच्चयवाची चशब्दः सर्वत्र सम्बध्यते । जम्बीरैः समीरणैः । 'समीरमरुबकः प्रस्थपुष्पफणिज्जकः जम्बीरः' इत्यमरः । बीजपूरैः फलपूरैः । 'फलपूरो वीजपूरः' इत्यमरः । प्रपूरितं व्याप्तमिति यावत् । प्रपूरकैरिति पाठे प्रपूरकैरेतैश्च श्रियो रङ्गमण्डपवदिति पूर्वेणैवान्वयः ॥ ११ ।

वह पर्वत वन देवी के कुचाकार लकुचों (लकुटों) से मनोहर तथा अमृत समान फलवाले केलों से परिभासित हो रहा था ॥१०॥

वह पर्वत सुन्दर रंगीली नारंगियों से शोभा के रंगमण्डप-सा, बेंत, नीबू औ बिजौरा आदि से परिपूर्ण था ॥ ११ ।

अनिलालोलकङ्कोलवल्लीहल्लीसकायितम् ।
लवलीजवलीलाभिर्लास्यलीलालयं किल ॥१२॥
मन्दान्दोलितकर्पूरकदलोदलसंज्ञया ।
विश्रमाय श्रमापन्नानाहूयन्तमिवाध्वगान् ॥१३॥

अनिलेति। पुनः कथं भूतमिव। अनिलेनालोलाश्चपलायाः कङ्कोलवल्लयः कङ्कोलनाम्न्यो लताः। 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः। ताभिर्हल्लीसकायितम्, हल्लीसकं नाम एकस्य पुंसो बह्वीभिः स्त्रीभिः सह क्रीडनं नारीणां मण्डली नृत्यबन्धो वा। तदुक्तम्—'नारीणां मण्डली नृत्यबन्धे हललोसकं विदुः' इति। एषैव रासक्रीडा। तल्लक्षणमिदम्—

पृथुं सुवृत्तं मसृणं वितस्तिमात्रोन्नतं कौविनिखन्यशङ्कुम्।
आक्रम्य पद्भ्यामितरेतरं तु हस्तैर्भ्रमोऽयं खलु रासगोष्ठी॥ इति।

तद्वदाचरितम्। नारीस्थानीयाभिर्गोपीस्थानीयाभिर्वानिलालोकङ्कोलवल्लीभिः सह हल्लीसकं पुरुषोत्तमादौ फागु इति प्रसिद्धं नृत्यं कुर्वन्तमिवेत्यर्थः।

अथवा अशोकापरपर्यायस्य कङ्केलिशब्दस्य कङ्कोलशब्देनाभिधानम्। कङ्कोल-ककोशफलापरपर्यायस्य शब्दस्य वा। उभयत्रार्षत्वात् साधुत्वम्। 'मञ्जुलोऽशोकः कङ्केलिर्दोहदप्रियः' इति रत्नमाला। अथ कोलकं कङ्कोलकं कोशफलमित्यमरः। सुकाशितमिति क्वचित् पाठः, स चिन्त्यः, क्यङ् प्रत्ययान्तं रूपमिदम्।

पुनः कथं भूतम्। लवली वल्ली। लवलीवल्लिदोर्वल्लीत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। तस्या या लवलीला अल्पक्रीडामृदुपवनान्दोलनरूपास्ताभिर्लास्यलीलालयम्। लास्यं नृत्यम्। 'लास्यं नृत्यं च नर्तनम्' इत्यमरः। तदेव लीला तस्या आलयं स्थानम्। किलेति प्रसिद्धौ। यद्वा लवल्यो वृक्षभेदाः लवा[1] वल्लीति गौडे प्रसिद्धाः। 'मुक्ताफलं तु कर्पूरे मौक्ति लवली फले' इति विश्वप्रकाशः॥१२॥

पुनः कथं भूतम्। अध्वगानाहूयन्तमिवाकारयन्तमिव। कथं भूतानध्वगान्। श्रमापन्नान् मार्गजनितं क्लेशं प्राप्तानित्यर्थः। किमर्थमित्याकाङ्क्षायामाह। विश्रमाय श्रमाभावायेत्यर्थः। कया मन्दान्दोलितानि यानि कर्पूरकदलीदलानि सुरभिरम्भापत्राणि। पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमानित्यमरः। अथवा मन्दं यथा स्यात्, तथा आन्दोलितायाः प्रकम्पितायाः कर्पूरकदल्यः, कर्पूरनाम्न्यः कर्पूरोत्पादिन्यो वा कदल्यः, तासां दलानि तत्संज्ञया तद्व्याजेन तत्सङ्केतेनेति वा॥ १३।

वायु से कंपित कङ्कोल (गहुआ फल) लता से रासक्रीडा-सा करता हुआ वह विन्ध्य, लवली (लवा) लतिकाओं की छोटी-छोटी लीलाओं से नृत्य करता हुआ शोभायमान हो रहा था॥१२॥

वह पर्वत कुछ-कुछ हिलते हुए कपूरीकेलों के पत्तों से संकेत करके थके हुए पथिकों को मानो विश्राम करने के लिए बुला रहा है॥ १३।

१. 'लवलीति प्रसिद्धा' इत्यपि क्वचित् पाठः।

पुन्नागमिव पुन्नागपल्लवैः करपल्लवैः ।
कलयन्तमिवालोलैर्मल्लिकास्तबकस्तनम ॥१४॥
विदीर्णदाडिमैः स्वान्तं दर्शयन्तं तु रागवत् ।
माधवीं धवरूपेण श्लिष्यन्तमिव कानने ॥१५॥
उदुम्बरैरम्बरगैरनन्तफलमालितैः ।
ब्रह्माण्डकोटीर्बिभ्रन्तमनन्तमिव सर्वतः ॥१६॥

पुनश्च कथम्भूतमिव। पुन्नागपल्लवैः पुन्नागस्य देववल्लभस्य। 'पुन्नागे पुरुषस्तुङ्गः केसरो देववल्लभः' इत्यमरः। पल्लवैः किसलयैः। पल्लवोऽस्त्री किसलयमित्यमरः। पुन्नागमिव पुङ्गजमिव। यद्वा पुमांश्चासौ नागश्चेति पुन्नागः, पुरुषश्रेष्ठ इत्यर्थः। सिंहशार्दूलनागाद्याः पुंसि श्रेष्ठार्थवाचका इत्युक्तेः, तमिव। पुनः कथं भूतमिव। मल्लिकाया मालतीति गौडे प्रसिद्धायास्तबको मल्लिकास्तबकः। स्तबको गुच्छः। गुच्छस्तु स्तबक इत्यमरः। स एव स्तनस्तं करपल्लवैः कररूपाः पल्लवाः करपल्लवाः, तैः कलयन्तमिव मर्दयन्तमिव स्पर्शयन्तमिव वा वृक्षानिति शेषः। कल धातोश्चुरादित्वात् स्पर्शन्तमिव वार्थः। कथं भूतैः, करपल्लवैरालोलैश्चञ्चलैः। विदीर्णेति। पुनः कथं भूतम्। स्वान्तं स्वस्य अन्तं स्वान्तं मुखमध्यमित्यर्थः। दर्शयन्तम्। कथं भूतम्। रागवत् रागयुक्तम्। स्वान्तं मन इति वा। 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः॥ १४।

विदीर्णेति। पुनः कथं भूतम्। स्वान्तं स्वस्य अन्तं स्वान्तम्, मुखमध्यमित्यर्थः। दर्शयन्तम्। कथं भूतम्। रागवत् रागयुक्तम्। स्वान्तं मन इति वा। 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। कैर्विदीर्णदाडिमैः स्फुटितकरकैः। समौ करकदाडिमावित्यमरः। तुः समुच्चये। रागिवदिति क्वचित्। पुनः कथं भूतमिव। माधवीं वासन्तीं लतां धवरूपेण कान्तरूपेण कानने वने श्लिष्यन्तमिवालिङ्गन्तमिव 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता' इत्यमरः॥ १५।

पुनः कथं भूतमिव। उदुम्बरैरिति। सर्वतो ब्रह्माण्डकोटीर्बिभ्रन्तमिव धारयन्तमिवेति यावत्। कैरुदुम्बरैर्जन्तुफलैः। 'उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः' इत्यमरः।

फिर वह नागरिक मनसा चंचल नागकेसर के पल्लवरूप अपने करपल्लवों से बेला की (मल्लिका पुष्प की) कलियों के गुच्छारूपी स्तन को मानों स्पर्श कर रहा है॥ १४।

वह पर्वत फटे हुए अनार-फलों से ही अपने अनुराग भरे हृदय को दिखाता हुआ (सुनसान) जङ्गल में स्वामीरूप से माधवी लता को (नायिकारूपी माधवी को) लिपटा रहा है॥ १५।

विन्ध्याचल, अनन्त फल की माला को पहने हुए गगनस्पर्शी गूलर वृक्षों के द्वारा, चारों ओर से करोड़ों ब्रह्माण्डों को धारण किये हुए अनन्त भगवान् के समान भासमान हो रहा है॥ १६।

पनसैर्वनैनासाभैः शुकनासैः पलाशकैः ।
पलाशनाद्विरहिणां पत्रत्यक्तैरिवावृतम् ॥१७॥
कदम्बवादिनो नीपान् दृष्ट्वा कण्टकितैरिव ।
समन्ततो भ्राजमानं कदम्बककदम्बकैः ॥१८॥

कथं भूतैः । अम्बरगैः अत्युच्छ्रितैरित्यर्थः । अगवरैरिति पाठे मखाङ्गत्वादेव वृक्षश्रेष्ठत्वं ज्ञातव्यम् । पुनः कथम्भूतैः । अनन्तफलमालितैरपरिमितफलसञ्जातमालैरित्यर्थः । कमिव । अनन्तमिव । इव शब्दस्य काकाक्षिन्यायेनोभयत्र सम्बन्धः । तमो महदहङ्कार-खचराग्निभूसंवेष्टिताऽविगणितब्रह्माण्डपरमाणुपरिभ्रमणवाताध्वरोमविवरं परमात्मानमि-वेत्यर्थः ॥ १६ ॥

पनसैरिति । पुनः कथं भूतम् । कैः पनसैः कण्टकिफलैः । 'पनसः कण्टकिफलम्' इत्यमरः । कथं भूतैः वननासाभैः ? वनस्य नासा नासिका, तद्वदाभा येषां ते तथा तैर्वन-देवीनां नासापुटैरिवेत्युत्प्रेक्षा । वननागाभैरिति पाठेऽरण्यगजसदृशैः स्थूलैरित्यर्थः । तथा पलाशकैः किंशुकैः । 'पलाशे किंशुकः पर्णो वातपोतः, इत्यमरः । कथं भूतैः शुकनासैः, शुकस्य पक्षिणो नासेव नासिका येषां ते, तथा तैः । शुकनासिकाया रक्तवक्त्रत्वात् पलाशकुसुमस्यापि तथात्वात्तत्साम्यम् ।

यद्वा शुकनासैरङ्कुराकारैः स्वपुष्पैर्विरहिणां पलाशनादिति व्यधिकरणे वा तृतीया । अथवा शुकनासैः श्योनाकवृक्षैरित्यर्थः । 'श्योनाकशुकनासर्क्षदीर्घवृन्तकुटंनटाः' इत्यमरः । पुनः कथं भूतैः । भर्तृभिः सह स्त्रीभिर्वा विरहो विश्लेषो येषां जनानां ते विरहिणस्तेषां पलाशनात् पलस्यामिषस्य मांसस्येति यावत् । अधः स्वरूपयोरस्त्रीतलं स्याच्चामिषे पलमित्यमरः । अशनाद्भोजनान्नाशनादित्यर्थः । पत्रत्यक्तैः पत्राणि त्यक्तानि यैस्ते तथा । यद्वा पत्रैस्त्यक्ताः पत्रत्यक्तास्तैरित्यर्थः ।

अयं भावः—'यो ददाति परं दुःखं ध्रुवं दुःखं स विन्दतीति' न्यायात् परेषां मांसादनात् स्वयमपि गतपत्रैरिवेत्युत्प्रेक्ष्यत इति । पात्रत्यक्तैरिति वा पाठः । तत्र पात्र-मरणिः ॥ १७ ।

कदम्बेति । पुनः कथं भूतम् ? कदम्बकानां प्रियकाणाम् । 'नीपप्रियककदम्बास्तु हलिप्रियः' इत्यमरः । कदम्बकाः समूहास्तैः सर्वतो भ्राजमानं राजमानम् । कैरिव ? कण्टकितैरिव उद्गतरोमाञ्चैरिवेत्यर्थः । किं कृत्वा ? कदम्बवादिनो नीपान् दृष्ट्वा ।

वनस्थली की नासिका के तुल्य कटहलों से और विरहियों के मांस-खाने (जी दुखाने) के कारण जिनके पत्ते भी झड़ गये हैं, ऐसे सुग्गों के ठोर-सदृश पलाश-वृक्षों से वह घिरा हुआ है ॥ १७ ।

अपने को कदम्ब कहनेवाले नीपवृक्षों के देखने से ही जिनके रोंगटे खड़े हो उठे हैं, ऐसे बहुतेरे कदम्बों से वह चतुर्दिक शोभा सम्पन्न हो रहा है ॥ १८ ।

नमेरुभिश्च मेरूच्चशिखरैरिव राजितम् ।
राजादनैश्च मदनैः सदनैरिव कामिनाम् ॥१९॥
तटे तटे पटुवटैरुच्चैः पटकुटीवृतम् ।
कुटजस्तबकैर्भान्तमधिष्ठितबकैरिव ॥२०॥

अयमर्थः—स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधास्तावद्धलिप्रियः, नीपाः कदम्बाश्च । तेषां नीपा-दारत्वेनोत्प्रेक्ष्यन्ते । कं ग्राम्यसुखं ददातीति **कदं कलत्रम्**, तदतिशयेन दितुं शीलं येषां ते कदम्बवादिनः । बकारस्य परतः श्रवणं छान्दसं विभक्तेर्लोपाभावश्च । तान् कदम्बवादिनो नीपान् । दारान् दृष्ट्वेत्यर्थः । यद्वाऽकदम्बा एव वयं कदम्बा इति वक्तुं शीलं येषां ते कदम्वादिनस्तान् नीपान् दृष्ट्वा । क्रोधेनोत्पुलकिता भवन्ति प्राणिनस्तद्वदित्यर्थः । कदम्बपातिनो शृङ्गानिति क्वचित् ॥ १८ ।

नमेरुभिरिति । पुनः कथं भूतम् । विराजितम् । कैर्नमेरुभी रुद्राक्षवृक्षैः । तथा चोक्तं कुमारे—'दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामं पुरः शुक्रमिव प्रयाणे । प्राणेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश' । नमेरुशाखं रुद्राक्षशाखम् । व्याख्यातञ्च तथा तट्टीकाकृद्धिः । कथं भूतैः मेरूच्चशिखरैर्मेरूच्चानि यानि शिखराणि शृङ्गाणि तैरिवेत्युत्प्रेक्षा । चकारः समुच्चये । राजादनैः प्रियालैः । 'राजादनः प्रियालः स्यात् सन्नककद्रुर्धनुष्पटः' इत्यमरः । समुच्चये चकारः । मदनैर्धत्तूरैः । उन्मत्तः कितवो धूर्तो धत्तूरः कनकाह्वयः । मातुलो मदनश्चेत्यमरः । कथं भूतैः । कामिनां सदनैरिवेत्युत्प्रेक्षा । मदनसदनैरिति पाठे राजादनैरित्यस्य विशेषणम् ॥ १९ ।

तटे तटे इत्यादि । कथं भूतम् । उच्चैः पटकुटीवृतम् । उच्चैः महतीभिः पटकुटीभिर्वस्त्रगृहैर्वृतमावृतमिव द्रवशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः । कैः, तटे तटे उच्चोच्चप्रदेशे पटुवटैः पटवो मनोहराश्च ते वटा न्यग्रोधाश्च । 'न्यग्रोधो बहुपादवटः' इत्यमरः । तैः पटुवटैरित्यस्य वा विशेषणमुच्चैरिति । पुनः कथं भूतम् । कुटजानां शक्राख्यानां वृक्षाणाम् । जबोऽथ कुटजः शक्रो वत्सको गिरिमल्लिकेत्यमरः । स्तबका गुच्छास्तैर्भान्तं शोभमानम् । कैरिव ? अधिष्ठिता अधिश्रिताश्च ते बकाः कह्वाः । 'अथ बकः कह्वः' इत्यमरः । तैरिव ॥ २० ।

सुमेरु पर्वतके ऊँचे शृङ्गों के समान रुद्राक्ष वृक्ष, प्यारमेवा और धतूर (मदनवृक्ष) इत्यादि से तो वह कामीलोगों के मन्दिर की तरह विराजित है ॥ १९ ।

कहीं कहीं पर तो वह बड़े-बड़े बरगद के पेड़ों से ऐसा घिरा हुआ है, मानों तम्बू लगा हुआ है और कौरैया के गुच्छों से ऐसा दिखाई पड़ रहा है, मानों बैठे हुए बगुला शोभा पा रहे हैं ॥ २० ।

करमर्दकैः करीरैश्च करञ्जैश्च करम्बकैः ।
सहस्रकरवद्भान्तमर्थिप्रत्युद्गतैः करैः ॥२१॥
नीराजितमिवोद्दीपैराजचम्पककोरकैः ।
सपुष्पशाल्मलीभिश्च जितपद्माकरश्रियम् ॥२२॥
क्वचिच्चलदलैरुच्चैः क्वचित्काञ्चनकेतकैः ।
कृतमालैर्नक्तमालैः शोभमान क्वथित् क्वचित् ॥२३॥

करमर्दैरिति। पुनः कथं भूतम्। अर्थिप्रत्युदगतैः करैः। अर्थिनो याचकान् प्रति उद्गतैरूर्ध्वीकृत्य धृतैराकारणार्थं करैर्हस्तैः सहस्रकरवद्भान्तम्। अनेकहस्तमिव स्फुरन्तमिवेत्यर्थः। कैः करमर्दैः कृष्णपाककलैः। 'कृष्णपाकफलाविग्नसुषेणाः करमर्दकः' इत्यमरः। तथा करीरैः क्रकरैः। करीरे तु क्रकरग्रन्थिलावुभावित्यमरः। तथा करञ्जैः चिरिबिल्वैः। 'चिरिबिल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जकः' इत्यमरः। तथा करम्बकैः कलम्बैः। करम्बकः कलम्बः स्यात् तैलपायिकमेव चेति धरणिः॥ २१।

नीराजितमिव। पुनः कथं भूतम्? 'चम्पकश्चाम्पेयः भण्डिलोऽप्यथ चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः। चम्पक एव राजचम्पकस्तस्य कोरकैः कलिकाभि-र्गन्धफलीभिरिति यावत्। क्षारको जालकं क्लीबे कलिका कोरकः पुमानित्यमरः। कीदृशैः? उद्दीपैः उत्कृष्टकान्तिभिः तैर्नीराजितं नीराजनामात्तिक्यं प्रापितमिव। पुनः कथं भूतम्। जितपद्माकरश्रियम्। जिता अभिभूताः पद्मानामाकरा उत्पत्तिस्थानानि पद्माकराः सरोवरादयस्तेषां श्रीः शोभा येन तथा तम्। कैः सपुष्पशाल्मलीभिः। पुष्पेण सह वर्तंत इति सपुष्पाः, ताश्च ताः शालमल्यश्च पिच्छिलाः। पिच्छिला पूरणी मोचा स्थिरायुः शाल्मलीद्वयोरित्यमरः, तास्तथाभिः। समुच्चये चकारः॥ २२।

क्वचिदिति। पुनः कथं भूतम्? क्वचित् शोभमानम्। कैः चलदलैर-श्वत्थैः। 'वोधिद्रुमचलदलः पिप्पलः कुञ्जराशन अश्वत्थः' इत्यमरः। तथा क्वचित् काञ्चनकेतकैः स्वर्णकेतकीभिः। तथा क्वचित् कृतमालैः आरग्वधैः। 'आरग्वधे राजवृक्षशम्याकचतुरङ्गुलाः। आरेवतव्याधिघातकृतमालसुवर्णकाः' इत्यमरः। तथा क्वचिन्नक्तमालैः करञ्जैश्च। उपमाभेदान्न करञ्जैरित्यनेन पुनरुक्तिः॥ २३।

वह पर्वत करौंदा करीर (टेंटी), करञ्ज और कुलम्ब के वृक्षों द्वारा याचकों के लिए मानों सहस्रकर बनकर अपने हाथों को उठाए हुए है॥ २१।

राजचम्पक की (पीली) कलियों से तो मानों उत्तम दीपों द्वारा उसकी आरती हो रही है। फिर वह पुष्पों से लदे हुए सेमरों से पद्माकरों (सरोवरों) की शोभा को भी जीते लेता है॥ २२।

वह पर्वत कहीं तो ऊँचे-ऊँचे पीपल के वृक्षों से, कहीं पर सुवर्ण केतकी और कहीं-कहीं मालाबद्ध नक्तमालाओं से बहुत ही शोभायमान हो रहा है॥ २३।

कर्कन्धुबन्धुजीवैश्च पुत्रजीवैर्विराजितम् ।
सतिन्दुकेङ्गुदीभिश्च करुणैः करुणालयम् ॥२४॥
गलन्मधूककुसुमैर्धरारूपधरं हरम् ।
स्वहस्तमुक्तमुक्ताभिरर्चयन्तमिवानिशम् ॥२५॥

कर्कन्ध्विति। पुनः कथं भूतम्? विराजितम्। कैः कर्कन्धवो बदर्यः। कर्कन्धुर्बदरीकोलिरित्यमरः। बन्धुजीवा रक्तकाश्च। 'रक्तकास्तु बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः। चः समुच्चये। पुत्रजीवा जीवपुत्राः। जीवा[1] पोता इति गौडे प्रसिद्धाः। अङ्गुल्या जपसंख्यानमेकमेवमुदाहृतम्। रिष्टयाष्टगुणं विद्यात् पुत्रजीवैर्दशाधिकमिति शास्त्रप्रसिद्धाश्च उभयप्रकृतिका वा। पुत्रजीवा इति च, तैः। तिन्दुकाः शितिसारकाः। 'तिन्दुकः स्फूर्जकः कालस्कन्धश्च शितिसारकः' इत्यमरः। तैः सह या इङ्गुद्यस्तापसतरवः। अथ द्वयोः इङ्गुदी तापसतरुरित्यमरः। तैश्च विराजितमिति पूर्वेणान्वयः। पुनः कथं भूतम्? करुणैर्वृक्षभेदैः। 'तरुणः स्वान्नवे यूनि कुन्दपुष्पोपवृन्दयोः। करुणो वृक्षभेदे स्याद् रसे च करुणावीतीति' धरणिः। तेषामालयमाश्रयम्। यद्वा करुणैः वरुणावद्भिः स्वस्मिन् तिष्ठद्भिः करुणालयं दयाया अधिष्ठानमित्यर्थः। अर्शाद्यच् ॥ २४॥

गलदिति। पुनः कथं भूतमिव। अनिशं सततम्। 'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः। हरं महेशमर्चयन्तं पूजयन्तमिव। कथं भूतं हरम्। धरारूपधरं धराया रूपं धरतीति धरारूपधरस्तम्। सर्वात्मकत्वात् सा पृथिव्यभवदिति श्रुतेश्च। अत्र वक्ष्यमाणसूर्येन्दुवाय्वग्निपयोवकाशपृथिव्यात्माष्टमूर्तित्वाद् वैष्णवोक्तसूर्याम्महीवायुवह्न्याकाशयजमानचन्द्राष्टमूर्तित्वाद् धरारूपधरमिति।

सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च।
दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात् ॥

इति वैष्णववचनम्। कैः। गलन्मधूककुसुमैर्गलन्ति च तानि मधूककुसुमानि च तानि, तथा तैः। उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यत इति न्यायाद् रूपकतामाह—स्वहस्तमुक्तमुक्ताभिर्गलन्मधूककुसुमान्येव स्रंसद्गुडपुष्पाण्येव स्वहस्तमुक्तमुक्ताः पर्वतकरत्यक्तमौक्तिकानि ताभिरित्यर्थः ॥२५॥

यों ही वैर, दुपहरिया और पतरजीवा आदि से विराजित वह पर्वत तेन्दुआ, इंगुआ और करना आदि के पौधों से करुणा का स्थान बना रहा है॥ २४॥

वह विन्ध्य झरते हुए महुआ के फूलों (अंडो) से धरारूपधारी महादेव अर्थात् पार्थिवेश्वर की रात्रि-दिन अपने हाथों से चढ़ाई हुई मोतियों के द्वारा मानो पूजा कर रहा है॥२५॥

---

१. जियापोता इत्यपि पाठः।

सर्जार्जुनाञ्जनैर्बीजैर्व्यजनैर्वीज्यमानवत् ।
नारिकेलैः सखर्जूरैर्धृतच्छत्रमिवाम्बरे ॥२६॥
अमन्दैः पिचुमन्दैश्च मन्दारैः कोविदारकैः ।
पाटलातिन्तिणीघोण्टाशाखोटैः करहाटकैः ॥२७॥

सर्जेति। पुनः कथमिव। वीज्यमानवद् वीज्यमानमिव व्यजनमारुतैः सेव्यमानमिव। कैः सर्जार्जुनाञ्जनैः। शालसर्जयोरवान्तर्भेदः। अत एव शालैः सर्वत्र शालितमित्यनेनापौनरुक्त्यम्, उपमाभेदेन वा। सर्जः शालः। अर्जुनो नदीसर्जः। नदीसर्जो वीरतरुरिन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुन इत्यमरः। अञ्जनः शिग्रुः शोभाञ्जनोऽञ्जन इत्युत्पलिनी। बीजैस्तरुविशेषैः। 'बीजरेतसि तत्त्वे च हेतावङ्कुरकारणे। बीजस्तरुविशेषे च तथा व्यजनमारुतः' इति विश्वप्रकाशः। सर्जार्जुनासनैरिति क्वचित् पाठः। तत्रासनः पीतसालः। अथ पीतसालके सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवका इत्यमरः। एतैरेकव्यजनैस्तालवृन्तैरित्यर्थः। व्यजनं तालवृन्तकमित्यमरः। पुनः कमिव। अम्बरे आकाशे धृतं छत्रं यस्मै येनेति वा स धृतच्छत्रस्तमिव। कैर्नारिकेलैर्लाङ्गलिभिः। नारिकेरस्तु-लाङ्गलीत्यमरः। कथं भूतैः। सखर्जूरैः खर्जूरास्तृणविशेषास्तैः सहितैः ॥२६॥

अमन्दैरिति। पिचुमन्दैर्निम्बैः। पिचुमन्दश्च निम्बेऽथेत्यमरः। चः समुच्चये। मन्दारैः पारिजातकैः। 'पारिभद्रे निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः' इत्यमरः। कोविदारैश्चमरिकैः। 'कोविदारे चमरिकः कुद्दालो युगपत्रकः' इत्यमरः। कथं भूतैः। अमन्दैः शोभमानैरिति सर्वेषां विशेषणम्। पाटलेत्यादितृतीयान्तपदानामपि धृतच्छत्रमित्यनेनैवान्वयः। तत्र पाटलापटिलः। अथ द्वयोः पाटलिः पाटला मोघा काचस्थाली फलेरुहा। कृष्णवृन्ताकुबेराक्षीत्यमरः। तिन्तिणी चिञ्चा। तिन्तिणी चिञ्चाम्लिकेत्यमरः। घोण्टा बदरम्। बदरं घोण्टेत्यमरः। कर्कन्धुघोण्टयोरवान्तरभेदः प्रकृतिभेदो वा। अत एव कर्कन्ध्वित्यनेनापौनरुक्त्यम्। शाखोटः पिशाचवृक्षः। शाखोटो मल्लिका त्रिपुटामतेति धरणिः। बहुवचनान्तैर्वा एतैरिति। करहाटकैः पिण्डीतकैः। 'पिण्डीतको मरुबकः श्वसनः करहाटकः। शल्यञ्च मदनः' इत्यमरः ॥२७॥

साखू, सहिजना, अर्जुन और बीज इत्यादि मानों उसे पंखा झल रहे हैं एवं नारियल और खजूर इत्यादि वृक्ष मानों आकाश में छाता लगाए हुए हैं ॥२६॥

सुन्दर नीव, परजाता, कचनार, पाण्डर (पाटल गुलाब), इमली झरवैरिया, शाखोट, मैनफल से सुशोभित है ॥२७॥

उद्दण्डैश्चापि शेहुण्डैरेरण्डैर्गुडपुष्पकैः ।
बकुलैस्तिलकैश्चैव तिलकाङ्कितमस्तकम् ॥२८।
अक्षैः प्लक्षैः शल्लकोभिर्देवदारुहरिद्रुमैः ।
सदाफलसदापुष्पवृक्षवल्लोविराजितम् ॥२९।
एलालवङ्गमरिचकुलुञ्जनवनावृतम् ।
जम्ब्वाम्रातकभल्लातशेलुश्रीपर्णिवर्णितम् ॥३०।

उद्दण्डैरिति। पुनः कथं भूतमिव। उद्दण्डैर्बहुलैः अनेकैरिति सर्वेषां विशेषणम्। शेहुण्डैः शीहुण्डैः। ईकारस्यैकार आर्षः। वज्रद्रुभिः। अथ शोहुण्डो वज्रद्रुःस्नुक् स्नुही गुडेत्यमरः। 'एरण्डैरुरुबूकैः। एरण्ड उरुबूकश्च रुचकश्चित्रकश्च सः' इत्यमरः। गुडपुष्पैः मधूकैः। मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमावित्यमरः। बकुलैः केसरैः। अथ केसरे बकुल इत्यमरः। पुनः कथं भूतमिव। तिलकेन ललाटस्थगोपीचन्दनाद्येन अङ्कितं चिह्नितं मस्तकं यस्य, स तथा तमिव। इव शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः। कैः तिलकैः? क्षुरकैः। तिलकः क्षुरकः श्रीमानित्यमरः। चः समुच्चये ॥२८।

अक्षैरिति। पुनः कथं भूतम्? विराजितम्। कैः। अक्षैर्बिभीतकैः त्रिलिङ्गस्तु बिभीतकः। 'अक्षद्रुमः कर्षफलो भूतावासः कलिद्रुमः' इत्यमरः। प्लक्षैः कर्कटीभिः। देवदारवः शक्रपादपाः। शक्रपादपः पारिभद्रकः। भद्रदारु द्रुकिलिमं पीतदारु च दारु च। पूतिकाष्ठं च सप्त स्युर्देवदारुणीत्यमरः। हरिद्रुमाः पीतद्रवः। अथ पीतद्रुः कालकेयकहरिद्रुमा इत्यमरः। ते च ते च तैर्देवदारुहरिद्रुमैर्विराजितमिति। समासस्थमपि विराजितपदं पृथग्योजनीयम्। यद्वा अक्षादिभिः सह सदाफलानि पुष्पाणि च यासां वृक्षवल्लीनां ताभिर्विराजितमिति ॥ २९ ॥

एलेति। पुनः कथं भूतम्? एला पृथ्वीका। पृथ्वीका चन्द्रवालालानिष्कुटिर्बहुलेत्यमरः। लवङ्गानि लवङ्गलताकुसुमानि देवकुसुमानि चेत्येतत्। यदाह जयदेवः— 'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' इति। लवङ्गं देवकुसुमं श्रीसंज्ञमित्यमरः। मरीचानि कोलिकानि च। 'अथ वेल्लजं मरिचं कोलकं कृष्णभूषणं धर्मपत्तनम्' इत्यमरः। 'कुलञ्जनाश्च कुद्दाला वेतसा इति वा। कुलञ्जनस्तु कुद्दालः कोविदारोऽपि स स्मृतः' इति **रत्नमाला**। 'कुलञ्जनो वेतसे स्याद् वहुपुत्रः कुलञ्जनः' इति च **हारावली**। तेषां वनैरावृतं व्याप्तम्।

बड़े-बड़े सेहुण्ड, रेंड़, महुआ, मौलसिरी और तिलक के वृक्षों से तो वह स्पष्ट ही माथे पर तिलक लगाये हुए सा जान पड़ रहा है ॥२८।

वह पर्वत बहेड़ा, पाकड़, सलई, देवदारु, हरदो इत्यादि तया अन्यान्य सदा फल-फूल देने वाले वृक्षों और लताओं से हरा-भरा है ॥ २९ ।

वह पहाड़ इलायची, लवंग, मरिच, और कुलंजन इत्यादि के वनों से घिरे रहने पर भी जामुन, अमड़ा, भेलावाँ, लसोढ़ा और खंभारी आदि से रंग-विरंगा हो रहा है ॥ ३० ।

शाकशङ्खवनै रम्यं चन्दनै रक्तचन्दनैः ।
हरीतकीकणिकारधात्रीवनविभूषणम् ॥३१॥
द्राक्षावल्ली-नागवल्ली-कणावल्ली-शतावृतम् ।
मल्लिकायूथिकाकुन्दमदयन्तीसुगन्धिनम् ॥३२॥

पुनः कथं भूतम् । जम्ब्वश्च वृक्षविशेषाः यासां फलं जम्बू इति प्रसिद्धम् । फले जम्ब्वा जम्बूस्त्री जम्बुजाम्बरमित्यमरः । 'जम्बूः सुमेरुहरितिद्वीपद्रुमविशेषयोरिति च' विश्वः । 'आम्रातकाः पीतनाः द्वौ पीतनकपीतनौ आम्रातकः' इत्यमरः । भल्लाताश्च भल्लातका वीरवृक्षा इति यावत् । वीरवृक्षोऽरुष्करोऽग्निमुखीभल्लातकीत्रिष्वित्यमरः । शेलवः श्लेष्मातकाः । 'शेलुः श्लेष्मातकः पीत उद्दालो बहुवारकः' इत्यमरः । श्रीपर्ण्यश्च गम्भार्यः । 'गम्भारी सर्वतोभद्रा काश्मरी मधुपर्णिका । श्रीवर्णी भद्रपर्णी च काश्मर्यश्च' इत्यमरः । तैर्वर्णितं कथितं लक्षितमित्यर्थः ॥ ३० ।

शाकेति । पुनं कथं भूतम् । शाकाः पत्रपुष्पाद्याः, शाकाख्यं पत्रपुष्पादीत्यमरः । अन्तः खरस्पर्शानि बहिर्मृदुस्पर्शानि पत्राणि येषां ते शाकवृक्षा इति वा । शङ्खाश्च शुक्तयः । शुक्तिः शङ्खः खुरः कोलदलं नखमित्यमरः, तेषां वनैः । चन्दनैश्च गन्धसारैः । गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियामित्यमरः । रक्तचन्दनैश्च तिलपर्णीभिः । तिलपर्णी तु पत्राङ्गरञ्जनं रक्तचन्दनं कुचन्दनमित्यमरः । रम्यं सुन्दरम् । पुनः कथं भूतम् । हरीतक्यश्चाभयाः । अभयात्वव्यथापथ्या वयस्थः पूतनामृता । हरीतकी हैमवती चेतकी श्रेयसी शिवेत्यमरः । कर्णिकाराः द्रुमोत्पलाः । अथ द्रुमोत्पलः कर्णिकारः परिव्याध इत्यमरः । धात्र्यश्चामलक्यः । धात्री स्यादुपमाताऽपि क्षितिरप्यामलक्यपीत्यमरः । तासां वनैः वनमेव वा भूषणं शोभा यस्य वनानि वा भूषयति, स तथा तम् ॥ ३१ ।

द्राक्षेति । पुनः कथं भूतम् । द्राक्षावल्ल्यश्च मृद्वीकावल्ल्यः । मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति चेत्यमरः । नागवल्यश्च ताम्बूलवल्ल्यः । ताम्बूलवल्ली नागवल्ल्यपीत्यमरः । कणावल्ल्यश्च जीरकवल्ल्यः । जीरको जरणो जाजीकणेत्यमरः । यद्वा कणावल्ल्यः पिप्पलीलताः । 'कृष्णोपकुल्या वैदेही मागधी चपला कणा । उषणा पिप्पली शौण्डी कोला' इत्यमरः । तासां शतैरावृतम् । पुनः कथं भूतम् । मल्लिकाश्च तृणशून्यानि । तृणशून्यं तु मल्लिकेत्यमरः । यूथिकाश्च मागध्यः । अथ मागधी कणिका यूथिकाऽम्बष्ठेत्यमरः । कुन्दानि च माघ्यानि । माघ्यं कुन्दमित्यमरः । मदयन्त्यश्च ज्योतिष्मत्यः । 'मदयन्ती मादयन्ती पिन्या ज्योतिष्मती मता' इति धरणिः । ताभिः सुगन्धो वर्तते यस्य स तथा तम् । सुगन्धितमिति क्वचित् ॥३२।

साग, शंख, चन्दन और रक्तचन्दनों से परम रमणीक विन्ध्य हरैं, कठचम्पा और आंवलों के वनों से विभूषित हो रहा है ॥ ३१ ।

वह दाख (अंगुर), ताम्बूल और पीपल इत्यादि लताओं से आवृत एवं बेला (बेईल), जुही (जूही) कुन्द और मदयन्ती आदि से सुगन्ध-सम्पन्न हो रहा है ॥३२।

भ्रमरभ्रमरमालाभिर्मालतीभिरलङ्कृतम् ।
अलिच्छलादागतं कृष्णं गोपीरन्तुमनेकशः ॥३३॥
नानामृगगणाकीर्णं नानापक्षिविनादितम् ।
नानासरित्सरःस्रोतःपल्वलैः परिवृतम् ॥३४॥
तुच्छश्रियः स्वर्गभूमिः परिहायागतैरिव ।
नानासुरनिकायैश्च विष्वग्भोगेच्छयोषितम् ॥३५॥

भ्रमद्भ्रमरेति। पुनः कथं भूतम्? मालतीभिर्जातीभिरलङ्कृतम्। कथं भूताभिः? भ्रमतां भ्रमराणां मालाः समूहा यासु, तास्तथा ताभिः। अत एव अलिच्छलेन भ्रमरव्याजेनानेकशो बहुरूपं विधाय गोपीगोपाङ्गनाः क्रीडितुमागतं कृष्णमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥३३॥

नानेति। पुनः कथं भूतम्? विविधमृगसमूहैर्व्याप्तम्। पुनः कथं भूतम्। विचित्रविहगैः शब्दितम्। पुनः कथम्भूतम्। परितः सर्वतो वृतमावृतम्। नानाऽनेकानि यानि सरितां सरसाञ्च स्रोतांसि पल्वलानि च अल्पोदकजलाशयास्तैः। अत्र सरसां स्रोतस्त्वं नाम निर्झरत्वमेव ॥ ३४॥

तुच्छश्रिय इति। पुनः 'कथं भूतम्? विविधदेवनिकायैर्विष्वक् समन्ततो भोगेषु सर्वभोगेष्वित्यर्थः। विश्वग्भोगानां वा इच्छया उषितमध्युषितमाश्रितमिति यावत्। आश्रयणे हेतु वदन् कारणगर्भयोत्प्रेक्षया सुरनिकायान् विशिनष्टि। तुच्छा श्रीः शोभा यासां तास्तथाविधाः स्वर्गभूमीः स्वर्गस्थानानि परिहाय परित्यज्यागतैरिवेति। अयं भावः—स्वर्गभुवामपुण्यहेतुत्वाच्छ्रियोऽपि तथात्वेनापुण्यहेतुत्वात् तत्प्रतियोगित्वाच्च विन्ध्यस्य तच्छ्रियश्च नानासुरनिकायानामध्युषितत्वमिति। तदुक्तम्— आर्यावर्तपुण्यभूमिः मध्यं विन्ध्यहिमालयोरिति। इहापि च संसारतापसंहरिरेनःरिपरिष्कृतमित्यादि ॥३५॥

मालती के फूलों पर भ्रमणशील भ्रमरपक्तियों से गोपियों के साथ क्रीड़ा करने के लिये भ्रमर के छल से आये हुए श्रीकृष्ण की तरह वह अलङ्कृत हो रहा था ॥३३॥

विन्ध्याचल भाँति-भाँति के मृगगणों से भरपूर, (भरा हुआ), नाना जाति के पक्षियों के कूजन से प्रतिध्वनित और बहुतेरी (अनेकानेक) नदी, सरोवर, झरनों और तलैयों से आवृत है ॥३४॥

अनेकानेक देवगण (इस पर्वत की अपेक्षा) तुच्छ सौन्दर्यवाली स्वर्गभूमि को छोड़कर मानो पूर्णभोग करने की इच्छा से उस पर्वत पर आकर वास कर रहे हैं ॥३५॥

उत्सृजन्तमिवार्घ्यं वै पत्रपुष्पैरितस्ततः ।
केकिकेकारवैर्दूरात् कुर्वन्तं स्वागतं किल ॥३६।
अथ सूर्यशताभासं नभसि द्योतिताम्बरम् ।
नारदं दृष्टवान् शैलो दूरात् प्रत्युज्जगाम तम् ॥३७।
ब्रह्मसूनुवपुस्तेजो दूरीकृतदरीतमाः ।
तमागच्छन्तमालोक्य मानसं तमवज्जहौ ॥३८।
ब्रह्मतेजः समुद्भूतसाध्वसः साधु सत्क्रियः ।
कठिनोऽपि परित्यज्य धत्ते मृदुलतां किल ॥३९।

उत्सृजन्तमिति । पुनः कथं भूतमिव । इतस्ततः सर्वत्र पत्रपुष्पैः पतद्भिरिति शेषः । पतत्पुष्पैरिति वा पाठः । अर्घ्यमुत्सृजन्तमिव प्रयच्छन्तमिव आत्मानं प्रति अध्वगान् वा प्रति । पुनः कथं भूतमिव । केकामयूरस्य ध्वनिः । केका वाणी मयूरस्येत्यमरः । सा वर्तते यस्य स तथा तस्य केकिनो मयूरस्य केकारवैः केकाशब्दैर्दूरान्नारदमन्यान् वाऽध्वगान् प्रति स्वागतं सुष्ठु आगतमागमनं कृतमिति कुर्वन्तं किल कुर्वन्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शाब्देनैव पूर्यत इति न्यायात् केकिशब्दः प्रयुक्तः ॥ ३६ ।

एवं नारदस्य विन्ध्यदर्शनमुक्त्वा विन्ध्यस्यापि नारददर्शनमाह । अथेति । अथ नारदेन स्वस्य दर्शनानन्तरं नभसि शैलो नारदं ददर्श । दूराद् दूरत एव तं प्रत्युज्जगाम चेत्यन्वयः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मसून्विति । हिरण्यगर्भतनयशरीरकान्त्या विनाशितगुहातिमिरो मानसं तमो हृत्स्थमज्ञानमुज्जहौ त्यक्तवान् ॥ ३८ ।

ब्रह्मतेज इति । ब्रह्मणो नारदस्य तेजसः प्रभावात् समुत्पन्नं साध्वसं संभ्रमो यस्य स तथा । साधु यथा स्यात् तथा सती सन्मार्गगा क्रिया यस्य साधूनामिव

वह पहाड़ इधर उधर झरते हुए पत्र और पुष्पों से मानो अर्घ्य देता और मयूरों के केकारव से तो वह मानो दूर ही से (नारद का) स्वागत कर रहा है ॥ ३६ ।

तदनन्तर वह विन्ध्याचल सैकड़ों सूर्य के समान कान्तिमान् उज्ज्वलिताम्बर नारद ऋषि को आकाशपथ में देखकर दूर हो से उनकी अगवानी करने के लिये चल पड़ा ॥ ३७ ।

ब्रह्मा के पुत्र नारद ऋषि के शारीरिक तेज से अपनी कन्दराओं के अन्धकार के दूर होते ही उनको आते हुए देखकर उस पर्वत ने अपने मानसिक अन्धकार को भी दूर ही त्याग दिया ॥ ३८ ।

नारद के ब्रह्मतेज के प्रभाव से संभ्रमयुक्त होने पर भी सज्जन सत्कार में तत्पर उस पाषाणस्वभाव पर्वत ने अपनी (नैसर्गिक, प्राकृतिक) कठिनता (कठोरता) को त्यागकर कोमलता को धारण कर लिया ॥ ३९ ।

दृष्ट्वा मृदुलतां तस्य द्वैरूप्येऽपि स नारदः ।
मुमुदे सुतरां सन्तः प्रश्रयग्राह्यमानसाः ॥४०॥
गृहानायन्तमालोक्य गुरुं वाऽगुरुमेव वा ।
योऽगुरुर्नम्रतां धत्ते स गुरुर्न गुरुर्गुरुः ॥४१॥
तं प्रत्युच्चैःशिराः सोऽपि विनम्रतरकन्धरः ।
शैलस्त्विलामिलन्मौलिः प्रणनाम महामुनिम् ॥४२॥
तमुत्थाप्य कराग्राभ्यामाशीर्भिरभिनन्द्य च ।
तदुद्दिष्टासनं भेजे मनसोऽपि समुच्छ्रितम् ॥४३॥

वा सती क्रिया यस्य स तथा । कठिनोऽपि पाषाणस्वभावोऽपि परित्यज्य, काठिन्यमिति शेषः । मृदुलतां कोमलताम् । किलेति निश्चितम् । कापट्यमकृत्वेत्येतत् । धत्ते आधत्त ॥ ३९ ।

दृष्ट्वेति । द्विरूपमेव द्वैरूप्यं तस्मिन् उभयरूपेऽपि इत्यर्थः । सुतरामतिशयेन । युक्तमेवैतदित्याह । सन्त इति । प्रश्रयेण विनयेन ग्राह्यमायत्तं मानसमन्तःकरणं येषां ते तथा ॥ ४० ।

गृहानिति ।अगुरुरिति पदच्छेदः । गुरुरत्र गुरुतरो महान् वा ॥ ४१ ।

तं प्रतीति । उच्चैरूर्ध्वं शिरो यस्य स उच्चैःशिराः । अपिः भिन्नक्रमे । स शैलः उच्चैःशिरा अपि विनम्रतरकन्धरोऽतिप्रणतग्रीवः सन् तमाह महामुनिं प्रति प्रणनामेत्यन्वयः । प्रकृत्युच्चैरिति क्वचित् । महांश्चासौ मुनिश्चेति महामुनिस्तम् । तत्र महत्त्वमप्रतिहतेच्छत्वनिवृतत्वसर्वतत्वज्ञत्वादित्वम् । तदुक्तम्—

निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ।
ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः ॥ इति ।

तुशब्दो भक्तिश्रद्धावद्योती । तदवद्योतकमाह । इलायां पृथिव्यां मिलति पततिमौलिर्मस्तकं यस्य स तथोक्तः ॥ ४२ ।

अभिनन्द्य समर्धयित्वा ॥ ४३ ।

तब तो देवर्षि नारद भी उसके दोनों रूपों (अर्थात् पर्वतरूप तथा मूर्ति अथवा सहज कठोरता और नारददर्शनजन्य स्थिति) में कोमलता को देखकर बहुत ही आनन्दित हुए; क्योंकि साधुओं का चित्त तो विनय के वशीभूत होता ही है ॥४०॥

जो कोई स्वयं बड़ा होने पर भी स्वगृहागत बड़े अथवा छोटे को देखकर नम्रता करता है, वही महान् समझा जाता है, केवल बड़ा होने पर ही बडप्पन नहीं होता ॥४१॥

वह गिरिवर अत्यन्त उन्नत शिखर होने पर भी प्रणतकन्धर हो, भूतल पर माथा टेककर उस महामुनि को प्रणाम करने लगा ॥ ४२ ।

तब तो नारद ऋषि ने भी उसे अपने हाथों से उठाया तथा आशीर्वादों से अभिनन्दित कर विन्ध्य द्वारा दिये हुए मन से भी ऊँचे सिंहासन पर विराजे ॥ ४३ ।

सदध्ना मधुनाज्येन नीरार्द्राक्षतदूर्वया।
तिलैः कुशैः प्रसूनैस्तमष्टाङ्गार्घ्यैरपूजयत् ॥४४।
गृहीतार्घ्यं किल श्रान्तं पादसंवाहनादिभिः।
गतश्रममथालोक्य बभाषेऽवनतो गिरिः ॥४५।
अद्य सद्यः परिहृतं त्वदङ्घ्रिरजसा रजः।
त्वदङ्गसङ्गिमहसा सहसाऽऽन्तरं तमः ॥४६।
सफलर्द्धिरहं चाद्य सुदिवाद्य च मे मुने।
प्राक्कृतैः सुकृतैरद्य फलितं मे चिरार्जितैः ॥४७।
धराधरत्वं कुलिषु मान्यं मेऽद्य भविष्यति।
इति श्रुत्वा तदा किञ्चिदुच्छ्वस्य स्थितवान् मुनिः ॥४८।

नीरेण जलेनार्द्राः प्रक्षलिता इत्यर्थः। ते च ते अक्षताश्चेति नीरार्द्राक्षतास्तैः सह दूर्वयेति ॥ ४४।

अद्येति। रजो रजःस्वभावो गुणो वा। महसा तेजसा। अपिर्भिन्नक्रमे। अन्तरे अन्तःकरणे भवतीत्यान्तरमज्ञानम्, तदपि परिहृतमित्यर्थः ॥ ४६।

सफलेति। सुकृतैः पुण्यैः कर्तृभिः फलितमफलि ॥ ४७।

धराधरत्वमिति। कुलिषु पर्वतेषु मान्यं मानयोग्यं पूजार्हमित्येतत्। किञ्चिदुच्छ्वस्य किञ्चिद्यथा स्यात्तथोच्छ्वासं मुक्त्वा ॥४८।

तदनन्तर विन्ध्य ने दधि, मधु, घृत, जल से भोदे (आर्द्र) अक्षत, दूब, तिल, कुश और पुष्प इन अष्टाङ्ग अर्घ्य से उनकी पूजा की ॥ ४४।

मुनिराज के अर्घ्य-ग्रहण कर लेने पर, विन्ध्य ने थके हुए नारद को पाँव दबाने आदि सेवाओं से श्रमरहित देखकर नम्रतापूर्वक (यह) कहा ॥ ४५।

हे मुने! आपके चरणरज से मेरा रजोगुण तो दूर हो ही गया, पर आपके शारीरिक तेज से मेरा आन्तरिक तम भी तुरन्त जाता रहा ॥ ४६।

हे मुनिनाथ! आज मेरी समृद्धि सफल हुई। अहा! आज मेरा कैस सुदिन है, जो मेरे चिरकाल के उपार्जित प्राक्तन पुण्य आज फलीभूत हुए ॥ ४७।

आज से पर्वतों में मेरा भी धराधरत्व (भू-धरत्व) मानयोग्य हो गया। यह बात सुनकर नारद मुनि उस घड़ी कुछ ऊँची (ठण्ढी) श्वास लेकर चुप रह गये ॥४८।

पुनरूचे कुलिवरः सम्भ्रमापन्नमानसः ।
उच्छ्वासकारणं ब्रह्मन् ब्रूहि सर्वार्थकोविद ।।४९।
अदृष्टं तव नो दृष्टं यदिष्टं विष्टपत्रये ।
अनुक्रोशोऽत्र मयि चेदुच्यतां प्रणतोऽस्म्यहम् ।।५०।
त्वदागमनजानन्दसन्दोहैर्मेदुरारवः ।
अनं न वक्तुमसक्तत्थाप्येकं वदाम्यहम् ।।५१।
धराधरणसामर्थ्यं मेर्वादौ पूर्वपूरुषैः ।
वर्ण्यंते समुदायात्तदहमेको दधे धराम् ।।५२।

कुलीवरः पर्वतेषु श्रेष्ठः। मुनिवरमिति क्वचित्पाठः। सम्भ्रमापन्नमानसः भयप्राप्तान्तःकरणः ।।४९।

अदृष्टमिति। विष्टपत्रये भुवनत्रये यदिष्टमभिलषितं तत् तवादृष्टमिति न दृष्टं पुराणैरिति शेषः। यद्वा नोऽस्माकमदृष्टं गोचर इत्यर्थः। अनुक्रोशो दया ।।५०।

त्वदिति। मेदुरो मन्थरः। आनन्दगद्गद आरवः, आरावः शब्दो यस्य मम सोऽहमसक्तद्वक्तुं न समर्थः; तथाऽप्येकं कथयामीत्यर्थः। मेदुरारावत्वे हेतुमाह—त्वदिति। मे दुरो दर इति क्वचित्पाठः ।।५१।

धरेति। मेर्वादौ धराधरणसामर्थ्यं पूर्वपूरुषैः यद्वर्ण्यते, तत् तेषां समुदायादेकीभावादहमेकः केवलोऽन्यनिरपेक्षो धरां दधे, इति स्वस्योत्कर्षोक्तिः ।।५२।

तब तो उस गिरि-श्रेष्ठ ने सम्भ्रान्तचित्त होकर फिर कहा—हे सर्वार्थविज्ञ ब्रह्मन्! आप इस उसांस लेने का कारण बताइए ।।४९।

त्रैलोक्य भर में जो कुछ प्रार्थनीय है, वह सब तो आपका देखा ही हुआ है, कोई भी वस्तु आपके लिए अदृष्ट नहीं है। मैं आपके पैरों पड़ता हूँ, यदि मुझपर आपकी कृपा है, तो इस बात को कह दीजिए ।।५०।

आपके आगमन-जनित आनन्द-सन्दोह से गद्गद स्वर होने के कारण यद्यपि मैं सब बातें नहीं कह सकता, पर एक बात को कहे बिना नहीं रहा जाता ।।५१।

(यह जो) पूर्वपुरुष लोग सुमेरु इत्यादि के विषय में पृथिवी के धारण करने का सामर्थ्य वर्णन करते हैं, यह बात उन सबों के समुदाय से है; पर मैं अकेला ही इस धरा को धारण कर सकता हूँ ।।५२।

गौरीगुरुत्वाद्धिमवानादिपत्याच्च भूभृताम् ।
सम्बन्धित्वात् पशुपतेः स एको मान्यभृत्सताम् ॥५३।
नमेरुः स्वर्णपूर्णत्वाद्रत्नसानुदयाऽथवा ।
सुरसद्मतया वापि क्वापि मान्यो मतो मम ॥५४।
परंशतं न किं शैला इलाकलनकेलयः ।
इह सन्ति सतां मान्या मान्यास्ते तु स्वभूमिषु ॥५५।
मन्देहदेहसन्देहादुदयैकदयाश्रितः ।
निषधो नौषधिधरोऽप्यस्तोऽप्यस्तमितप्रभः ॥५६।

एवं सामान्येन विनिन्द्य प्रत्येकं विनिन्दति। **गौरीगुरुत्वादिति।** गुरुरत्र पिता। आदिपत्यादादिपतित्वात्। आधिपत्यादिति क्वचित्पाठः। यदाह कालिदासः—'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति। सम्बन्धित्वात् श्वशुरत्वात्। राजादिगुणरहितत्वात् स्वतो मान्यो न भवति, गौरीपितृत्वादिपतित्वादिहेतुभिः स एको मान्य इति वक्रोक्त्या निन्दा। नाधिपत्याच्चेति पाठे साक्षादपि खण्डमण्डलाधिपत्यवन्मुख्याधिपत्याभावादिति। मान्यभृत्सतां शिष्टानां माननाधारी। मान्यभूतः सतामिति क्वचित्पाठः ॥५३।

ननु स एक एव मान्य इति कथमुच्यते स्वर्णपूर्णत्वादिना सुमेरोरपि मान्यत्वादित्यत आह। **नमेरुरिति।** तस्याल्पसारत्वादिति भावः ॥५४।

परमिति। शतात् परं परंशतम्। परःशतमिति पाठे शतात् परं परःशतं असंख्यातमित्यर्थः। इलाकलनकेलयः पृथ्वीधरणलीलाः ॥५५।

मन्देहेति। मन्देहा राक्षसाः, तेषां देहसन्देहाद् देहनाशं प्राप्यालोच्य उदयैकदयाश्रितः उदयः उदयगिरिः, स च एक दयाश्रितश्च एषां मन्देहानां सूर्योदये जीवनलक्षणां दयामाश्रितश्च सः। मन्देहा नाम राक्षसा ब्रह्मणः शापाद् रात्रौ म्रियन्ते,

---

रहा एक हिमालय, वह भी शिष्ट लोगों का मान्य है; क्यों कि वह पार्वती का पिता, पर्वतों का राजा और महादेव का सम्बन्धी श्वसुर है ॥५३।

पर सुवर्ण से पूर्ण अथवा रत्नशिखर, किं वा देवताओं का निवासस्थान होने पर भी सुमेरु को तो मैं कुछ भी नहीं मानता ॥५४।

इस संसार में क्या सैकड़ों ही पृथिवी के धारण की लीला करने वाले पर्वत सज्जनों के मान्य नहीं हैं ? पर वे सब अपने ही अपने स्थानों पर माननीय हैं ॥ ५५ ।

मन्देह नामक राक्षसों के देह का सन्देह ही कर देने से उदयाचल (एक) दया का आश्रित बना है, और निषध पर्वत तो ओषधियों से रहित ही है, एवं अस्ताचल की प्रभा अस्तमित ही रहती है ॥५६।

नीलश्च नीलीनिलयो मन्दरो मन्दलोचनः ।
सर्पालयः समलयो रायं नावैति रैवतः ॥५७॥
हेमकूटत्रिकूटाद्याः कूटोत्तरपदास्तु ते ।
किष्किन्धक्रौञ्चसह्याद्या भारसह्या न ते भुवः ॥५८॥
इति विन्ध्यवचः श्रुत्वा नारदो चिन्तयद्धृदि ।
अखर्वगर्वसंसर्गो न महत्त्वाय कल्पते ॥५९॥

सूर्योदये उदयपर्वते पुनर्जीवन्तीति वैष्णवादौ प्रसिद्धम् । उदये क्व दयाश्रिता इति पाठे स्पष्ट एवार्थः । निर्गता ओषधयो औषधयो वा यस्मादसौ निषधः । ओकारौकारेकराणामश्रवणमार्षम् । एवमुत्तरत्रापि यथायथं साधुत्वमात्रत्वमवसेयम् । तदुक्तम्—

पदज्ञैर्नीतिनिर्बन्धः कर्तव्यो मुनिभाषणे ।
अर्थस्मरणतात्पर्यान्नाद्रियन्ते हि लक्षणम् ॥

किञ्च—

यान्युज्जहार माहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात् ।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥

इत्यादि ॥ ५६ ।

नीलश्चेति । नीली नीलिमा गुणस्तस्य निलयः अन्धकाराश्रय इत्यर्थः । अर्श आद्यच् प्रत्ययेन तथा प्रतीतेः । मन्दरो मन्दलोचनः मन्दप्रकाशः । मन्दं रोचत इति मन्दलोचनः । रायं धनम् ॥५७॥

हेमकूट इति । कूटः कूट इति शब्द उत्तरपदं येषां ते तथा । एवार्थे तुशब्दः । कूटोतरपदा एव त इत्यर्थः । किष्किन्धेति । आदिपदेन न मैनाकादयो गृह्यन्ते, क्षुद्रत्वात् तेषामिति भावः ॥ ५८ ।

इति अखर्वगर्वससंर्गो महाभिमानसंश्लेष इत्यर्थः ॥ ५९ ।

नीलगिरि नीली (लील) का निलय है, मन्दर का प्रकाश मन्द है, मलयाचल सर्पों का ही आलय है और रैवतक पर्वत तो धन को कुछ समझता ही नहीं ॥५७॥

फिर हेमकूट, त्रिकूट इत्यादि पर्वतों के उत्तर पद में कूट (झूठ) ही हैं, रहे (बचे) किष्किन्ध, क्रौंच एवं सह्य इत्यादि, तो वे सब भूमि के भार सहने योग्य ही नहीं हैं ॥ ५८ ।

इस प्रकार से विन्ध्य का वचन सुनकर नारद ऋषि अपने मन में ...ीं हो सकती ॥ ५९ ।

श्रीशैलमुख्याः किं शैला नेह सन्त्यमलश्रियः ।
येषां शिखरमात्रादिदर्शनं मुक्तये सताम् ॥६०॥
अद्यास्य बलमालोक्यमिति ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनिः ।
सत्यमुक्तं हि भवता गिरिसारं विवृण्वता ॥६१॥
परं शैलेषु शैलेन्द्रो मेरुस्त्वामवमन्यते ।
मया निःश्वसितस्थं तत्त्वयि चापि निवेदितम् ॥६२॥
अथवा मद्विधानां हि केयं चिन्ता महात्मनाम् ।
स्वस्त्यस्तु तुभ्यमित्युक्त्वा ययौ स व्योमवर्त्मनि ॥६३॥

श्रीशैलेति । श्रीशैलो मुख्यः प्रधानो येषाम् । मन्दरमधुसूदनो गौडे प्रसिद्धः । मन्दरादीनां ते तथा । तदुक्तम्—

वीरचन्दनयोर्मध्ये मन्दरो नाम पर्वतः ।
यस्यारोहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत् ॥ इत्यादि ।

अत्रापि च वक्ष्यति—

श्रीशैलशिखरं श्रीमदिदं तद्यद्विलोकनात् ।
पुनर्भवो मनुष्याणां भवेऽत्र न भवेत् क्वचित् ॥ इति ।

आदिपदेन सानुमात्रादीनि गृह्यन्ते ॥ ६० ।

आलोक्यं ज्ञातव्यम् । सत्यमिति । गिरिसारं पर्वतानां सामर्थ्यं विवृण्वता दर्शयता उपहासपरो हि शब्दः ॥ ६१ ।

अथवेति । महात्मनामुदारचित्तानाम् । अथवा महति ब्रह्मणि आत्मा येषाम्, ते तथा तेषाम् । हि शब्दोऽरुची ॥ ६३ ।

क्या इसी भूमि पर निर्मल शोभावाले श्रीशैल प्रभृति पर्वत नहीं हैं, जिनके शिखरमात्र का दर्शन सज्जनों की मुक्ति का कारण होता है ॥ ६० ।

आज इस पर्वत का भी बल देख लेना चाहिए, ऐसा ही विचार कर नारद मुनि कहने लगे—पर्वतों का सामर्थ्य दिखलाते हुए तुमने जो कुछ कहा है, वह तो ठीक ही है ॥ ६१ ।

पर समस्त पर्वतों में शैलेन्द्र सुमेरु ही तुम्हारा अपमान करता है। इसी पर मैंने श्वास लिया था, यह तुम से भी मैंने निवेदन कर दिया ॥ ६२ ।

अथवा मुझ साधु लोगों को इन बातों की कौन चिन्ता है ? (इन बातों से हम विरक्त लोगों को क्या मतलब ?) तुम्हारा स्वस्ति हो, तुम्हारा भला हो—ऐसा कहकर वे आकाशमार्ग में चले गये ॥ ६३ ।

गते मुनौ निनिन्दस्वमतीवोद्विग्नमानसः ।
चिन्तामवाप महतीं विन्ध्यो वन्ध्यमनोरथः ॥६४।

विन्ध्य उवाच—

धिग्जीवितं[1] शास्त्रकलोज्झितस्य
धिग्जीवितं चोद्यमवर्जितस्य ।
धिग्जीवितं ज्ञातिपराजितस्य
धिग्जीवितं व्यर्थमनोरथस्य ॥६५।

कथं भुनक्ति स दिवा कथं रात्रौ स्वपित्यहो ।
रहः शर्म कथं तस्य यस्याभिभवनं रिपोः ॥६६।
अहो दवाग्निदवथुस्तथा मां न स बाधते ।
बाधते तु यथा चित्ते चिन्तासन्तापसन्ततिः ॥६७।

गत इति । वन्ध्यमनोरथो व्यर्थाभिलाषः ॥ ६४ ।

धिगिति । कलालेशो विद्या वा ॥ ६५ ।

कथमिति । दिवा दिवसे । भुनक्ति भुङ्क्ते । रह इति ग्राम्यधर्मोक्तिः । अथवा रहः शर्म एकान्तवासजन्यं सुखम् ॥ ६६ ।

अहो इति । दवाग्निदवथुर्वनाग्निकम्पः । बाधते तु बाधत एव । पादपूरणे वा तुशब्दः । तुह्यिचस्मह्वैपादपूरण इत्यमरः । एवमन्यत्रापि ॥ ६७ ।

नारद मुनि के चले जाने पर अत्यन्त उद्विग्न चित्त, वन्ध्यमनोरथ वह विन्ध्य बड़ी चिन्ता को प्राप्त होकर अपने को धिक्कारने लगा ॥ ६४ ।

विन्ध्य ने कहा—शास्त्रकला के ज्ञान से हीन जन के जीवन को धिक्कार है, निरुद्यम होकर जीते रहने को धिक्कार है, जाति-भाइयों से पराजित होकर जीनेवाले को धिक्कार है एवं व्यर्थ मनोरथवाले के जीने को भी धिक्कार है ॥ ६५ ।

अहो ! (भला) वह कैसे दिन में खाता और रात में सोता एवं एकान्त में सुख से रहता है ? जो शत्रु से पराजित हो जाता है ॥ ६६ ।

वह दावानल की ज्वाला भी मुझे वैसी पीड़ा नहीं दे सकती, जैसी कि चित्त में चिन्ता-सन्ताप का समूह बाधा दे रहा है ॥ ६७ ।

---

१. पुस्तकान्तरेषु तृतीयचतुर्थचरणयोर्व्यत्ययेन पाठः ।

युक्तमुक्तं पुराविद्भिश्चिन्तामूर्तिः सुदारुणा।
न भेषजैर्लङ्घनैर्वा न चान्यैरुपशाम्यति ॥६८॥
चिन्ताज्वरो मनुष्याणां क्षुधां निन्द्रां बलं हरेत्।
रूपमुत्साहबुद्धि श्रीर्जीवितं च न संशयः ॥६९॥
ज्वरो व्यतीते षडहे जीर्णज्वर इहोच्यते।
असौ चिन्ताज्वरस्तीव्रः प्रत्यहं नवतां व्रजेत् ॥७०॥
धन्यो धन्वन्तरिर्नात्र चरकश्चरतीह न।
नासत्यावपि नाऽसत्यावत्र चिन्ताज्वरे किल ॥७१॥
किं करोमि क्व गच्छामि कथं मेरुं जयाम्यहम्।
उत्प्लुत्य तस्य शिरशि पतामि न पताम्यतः ॥७२॥

चिन्ताज्वर इति। उत्साहबुद्धि उत्साहेन सहितां बुद्धिम्। उत्साहबुद्धिः श्रीरिति वा पाठः ॥ ६९॥

ज्वर इति। नवतां तरुणताम् ॥ ७०॥

धन्य इति। चरकश्चरकाचार्यं आयुर्वेदप्रवर्तकः। इह चिन्ताज्वरे। न चरति, न प्रभवतीत्यर्थः। नासत्यौ अश्विनीकुमारावपि नासत्यौ न आ ईषदपि समर्थौ। यथार्थावित्यर्थः। नशब्दो निषेधे। अभावे नह्यनोनेत्यमरः ॥ ७१॥

जयोपायं विमृशति। **किं करोमीति**। जयोपायं विनिश्चित्य स्वयमेव स्वात्मानमाह। अत इतः स्थानात् तस्य शिरस्युत्प्लुत्योत्फालं कृत्वा पतामीति। स्वयमेव निराकरोति। न पतामीति ॥ ७२॥

पुराने लोगों ने यह बहुत ही ठीक कहा है कि चिन्ता की मूर्ति बड़ी ही भयावनी है; क्योंकि औषध, लंघन अथवा अन्य उपायों से भी उसकी शान्ति नहीं होती ॥ ६८॥

यह चिन्तारूपी ज्वर निःसन्देह मनुष्यों की क्षुधा, निन्द्रा, बल, रूप, उत्साह, बुद्धि, शोभा और जीवन को भी हर लेता है ॥ ६९॥

छः दिन बीत जाने पर ज्वर को जीर्ण ज्वर कहा जाता है; किन्तु यह तीव्र चिन्ताज्वर प्रतिदिन नया ही हुआ करता है ॥ ७०॥

इस चिन्ता ज्वर के विषय में धन्वन्तरि भी धन्यवाद नहीं पाते, (इसे दूर करने में समर्थ नहीं होते), इसमें चरकाचार्य भी नहीं चल सकते (कूच कर पाते) एवं अश्विनीकुमार भी (इसे दूर करने में) असमर्थ ही हो जाते हैं ॥ ७१॥

क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्यों कर कैसे सुमेरु को जीत लूँ ? मैं तो उछल (फांद) कर उसके शिखर पर कूद पड़ता, पर इसी कारण से नहीं कूद सकता कि ॥७२॥

शक्रं कोपयता पूर्वमस्मद्गोत्रेण केनचित् ।
पक्षहीनः कृतो यत्र धिगपक्षस्य चेष्टितम् ॥७३॥
अथवा स कथं मेरुस्तयोच्चैः स्पर्द्धते मया ।
भूमेर्भारभृतः प्रायो भवन्ति भ्रान्तिभूमयः ॥७४॥
अलीकवाक्त्वमथवा संभाव्यं नारदे कथम् ।
ब्रह्मचारिणि वेदज्ञे सत्यलोकनिवासिनि ॥७५॥
युक्तायुक्तविचारोऽथ मादृशे नोपयुज्यते ।
पराक्रमेष्वशक्तानां विचारं गाहते मनः ॥७६॥

किमित्याकाङ्क्षायामाह । शक्रं कोपयतेति । यत्र जये । यस्माद्वाऽपक्षस्य मम चेष्टितं धिक् । धिगित्यधिक्षेपे । धिग्गर्हितमित्यर्थः ॥ ७३ ।

मेरोः स्पर्द्धां स्वस्मिन् विघटयति । अथवेति । स्पर्धायां कारणाभावादित्यर्थः । पुनः स्पर्धां सम्भावयति । भूमिभारभृत इति । महाभारं दधानाः प्रायः प्रायशो भ्रान्तिभूमयोऽज्ञानाश्रया भवन्तीत्यर्थः । भूमभर्मेति पाठे बहुस्वर्णानि बहुधनानि दधत इत्यर्थः । 'तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्मकर्बुरम्' इत्यमरः ॥ ७४ ।

स्पर्धायां हेत्वन्तरमुद्भावयति । अलीकवाक्त्वमिति । अलीकवाक्त्वासम्भवे हेतुं वदन् नारदं विशिनष्टि । ब्रह्मेति । ब्रह्मणि परमात्मनि श्रवणमननपूर्वकं चरितुं शीलं यस्य, स तथा तस्मिन् । अत एव वेदनं वेदः, स्वप्रकाशश्चिदात्मा, तं जानातीति तथा तस्मिन् । अत एव सत्यः कालत्रयाबाध्यः परमात्मा, स एव लोक्यते मुमुक्षुभिः प्राप्यत इति लोकस्तस्मिन् निवसितुमद्वैतब्रह्मात्मैक्यानुभवेन स्थातुं शीलं यस्य, स तथा तस्मिन् । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् ॥ ७५ ।

अतो नारदस्यालीकवाक्त्वं युक्तमयुक्तं वाऽयं विचारो वा मयि नोपयुज्यत इत्याह । युक्ताऽयुक्तेति । तर्हि किमुपयुज्यते ? उद्यम एवेत्याह । पराक्रमेष्वेति ॥७६।

पूर्व काल में मेरे ही गोत्रवालों ने इन्द्र को क्रोधित करके हम लोगों के पक्ष कटवा दिये हैं, अतएव मुझ पक्षहीन के अभिलाष को धिक्कार है ॥ ७३ ।

अथवा वह सुमेरु ही ऊँचा होने से क्यों मुझ से डाह करता है ? (हाँ ठीक है) प्रायः भूमि के बोझ को ढोने वाले भ्रान्ति से भरे ही रहते हैं ॥ ७४ ।

नहीं तो सत्य लोक निवासी, ब्रह्मचारी, वेदज्ञाता, नारद ऋषि के विषय में झूठ बोलने की सम्भावना भला कैसे की जा सकती है ॥ ७५ ।

फिर युक्तायुक्त का विचार मेरे जैसों को नहीं शोभता; क्योंकि जो पराक्रम में असमर्थ हैं; उन्हीं का मन विचार में गोता खाता रहता है ॥७६॥

अथवा चिन्तनैरेतैः किं व्यर्थैर्विश्वकारकम् ।
विश्वेशं शरणं यायां स मे बुद्धिं प्रदास्यति ॥७७॥
अनाथनाथः सर्वेषां विश्वनाथो हि गीयते ।
क्षणं मनसि सञ्चित्य भवेदित्थमसंशयम् ॥७८॥
एतदेव करिष्यामि नेष्टं कालविलम्बनम् ।
विचक्षणैरुपेक्ष्यौ न वर्द्धमानौ परामयौ ॥७९॥
मेरुं प्रदक्षिणीकुर्यान्नित्यमेव दिवाकरः ।
सग्रहर्क्षगणो नूनं मन्यमानो बलाधिकम् ॥८०॥
इति निश्चित्य विन्ध्याद्रिर्ववृधे स मृधेक्षणः ।
अनन्तगगनस्यान्तं कुर्वद्भिः शिखरैरिव ॥८१॥
कैश्चित्सार्धं विरोधो न कर्तव्यः केनचित् क्वचित् ।
कर्तव्यश्चेत् प्रयत्नेन यथा नोपहसेज्जनः ॥८२॥

करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः । फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितम् ॥ इति न्यायादुद्यमो नैकान्तिकफल इति हृदि निधायाह । **अथवेति** ॥७७॥

अन्तर्यामिप्रेरितो निश्चयं विदधाति । **क्षणमिति** श्लोकेन ॥७८॥

कालाविलम्बने हेतुमाह । **विचक्षणैरिति** । परामयौ शत्रुरोगौ ॥ ७९ ।

इति निश्चित्येति । स विन्ध्य इत्येवं निश्चित्य ववृधे इत्यन्वयः । मृधेक्षणः मृधे सङ्ग्रामे स्पर्धायामित्येत् ईक्षणं दर्शनं अभिनिवेशो यस्य, स तथा । समृधेक्षण इत्येकपदपाठे सम्यक् ऋध् स[1]मृधः, सम्यग्वृद्धिरिति यावत् । तत्रैषणा इच्छा यस्य स तथा ॥८१॥

सम्यग्वृद्धीच्छयाऽभिवृद्धौ परामर्शपूर्वकं हेतुमाह **कैश्चिदिति** ॥८२॥

अथवा इन सब व्यर्थ चिन्तनों का कौन सा फल है ? मैं विश्व के कर्ता भगवान् विश्वनाथ के ही शरणागत क्यों न होऊँ ? वे ही मुझे बुद्धि देंगे ॥७७॥

क्योंकि विश्वनाथ ही सब अनाथों के नाथ कहे जाते हैं। विन्ध्य ने क्षणभर विचार कर मन में ऐसा ही निश्चय कर लिया कि ॥७८॥

"मैं यही करूँगा"। काल का निरुद्देश्य यापन अच्छा नहीं है; क्योंकि बुद्धिमानों को बढ़ते हुए शत्रु और रोग की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥७९॥

ग्रह और नक्षत्रगणों के सहित भगवान् सूर्य अवश्य सुमेरु को अधिक बलशाली मान कर ही नित्य प्रदक्षिणा करते हैं ॥८०॥

सुमेरु पर क्रुद्ध वह विन्ध्याचल इस प्रकार से निश्चय कर, असीम गगनपथ का अन्त कर देनेवाले अपने शिखरों से बढ़ने लगा ॥८१॥

कहीं भी किसी के साथ किसी को विरोध नहीं करना चाहिए और यदि करना ही पड़े, तो ऐसा प्रयत्न करे, जिसमें कोई उपहास न कर सके ॥८२॥

---

१. अत्र जस्त्वाभावो विचारणीयः ।

निरुद्धब्राध्नमध्वानं कृतकृत्य इवाद्रिराट् ।
स्वस्थोऽभवद्भवाधीना प्राणिनां हि भविष्यता ॥८३॥
यमद्य यमकर्ताऽसौ दक्षिणं प्रक्रमिष्यति ।
स कुलीनः स च श्रीमान् स महान् महितः स च ॥८४॥
यावत् स्वशक्तिं शक्तोऽपि न दर्शयति कर्हिचित् ।
तावत् स लङ्घ्यः सर्वेषां ज्वलनो दारुगो यथा ॥८५॥
इति चिन्तामहाभारं त्यक्त्वा तस्थौ स्थिरोद्यमः ।
आकाङ्क्षमाणस्तरणेरुदयं ब्राह्मणो यथा ॥८६॥

॥ इति श्रीस्कन्दमहापुराणे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे विन्ध्यवर्धनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

निरुद्धेति व्यासोक्तिः । अत्र अनन्तगगनस्यान्तं कुर्वद्भिरिव शिखरैर्ववृध इति वचनात् । निरुध्य ब्रध्नमध्वानं कृतकृत्य इव स्वस्थोऽभवदित्युक्तेश्च दक्षिणोत्तर-मार्गयोरवरोधोऽवगम्यते । अत एवाग्रे वक्ष्यति ।

क्रमन्तः सर्वमर्वन्तो हेलया हेलिकस्य खम् ।
न शेकुरग्रतो गन्तुं ततोऽनूरुर्व्यजिज्ञपत् ॥

ननु प्रबलतरे वैरिणि सति सुस्थताऽयुक्तेत्यत आह । भवाधीनेति । भवत्यस्मा-दिति भवोऽदृष्टम्, तदधीना तदायत्तेत्यर्थः । भव ईश्वरस्तदधीना वा ॥८३॥

ननु सूर्यमार्गाविरोधे कथं कृतकृत्यता ? तत्राह । यमद्येति । यमकर्ता सूर्यः । महितः पूजितः ॥ ८४ ॥

ननु शक्तस्य परानुपद्राव्य स्वसामर्थ्यदर्शनेन किं तत्राह । यावदिति । सामर्थ्यादर्शने लङ्घने दृष्टान्तो ज्वलन इति । दारुगः काष्ठगः ॥ ८५ ॥

॥ इति श्रीकाशीखण्डे श्रीरामानन्दकृतायां टीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥

इसके अनन्तर वह महापर्वत सूर्यनारायण के मार्ग को रोककर कृतकृत्य की नाईं स्वस्थ-चित हो गया; क्योंकि प्राणियों का होनहार सर्वथा ईश्वर के ही अधीन रहता है ॥ ८३ ।

आज यमराज के पिता सूर्यदेव जिसके दाहिने ओर से घूमकर चले जावेंगे, वही (सब पर्वतों में) कुलीन, श्रीमान्, महान् और पूजित होगा ॥ ८४ ।

समर्थ भी जबलों (जबतक) कहीं पर अपनी शक्ति को नहीं दिखलाता, तबलों (तब-तक) काष्ठ के अन्तर्गत अग्नि के समान वह सभी से लंघ्य (दब्बू, जेय) बना रहता है ॥८५।

इस भाँति से चिन्ता के बड़े भार के (पार) उतर कर, स्थिर संकल्प हो, वह विन्ध्यगिरि ब्राह्मण के समान भगवान् भास्कर के उदय की प्रतीक्षा करता हुआ (दृढ़तापूर्वक) खड़ा रहा ॥ ८६ ।

आदिशक्ति विन्ध्येश्वरी बसहिं निरन्तर यत्र ।
सो विन्ध्याचल शक्ति निज कस न दिखावहिं तत्र ॥

॥ इति श्रीस्कन्दमहापुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे नारायणपति-त्रिपाठिकृतायां भाषाटीकायां विन्ध्यपर्वतवृद्धिवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

❀

अथ द्वितीयोऽध्यायः

व्यास उवाच—

> **सूर्य आत्मास्य जगतस्तस्थुषस्तमसो रिपुः।**
> **उदियायोदयगिरौ शुचिप्रसृमरैः करैः ॥ १ ॥**
> **संवर्द्धयन् सतां धर्मान् न्यक्कुर्वन् तामसीं स्थितिम्।**
> **पद्मिनीं बोधयंस्त्विष्टां रात्रौ मुकुलिताननाम् ॥ २ ॥**

द्वितीये तरणेर्यानिनिरोधो निमिषद्दृशाम्।
सत्यलोकस्य सम्प्राप्तिः प्रभावश्च निगद्यते ॥

विन्ध्यावरोधेन सूर्यगमननिरोधं वक्तुमादौ तावत्तस्योदयमाह। **सूर्य आत्मेति।** सूर्य उदयगिरौ। अत्र उदयगिरिरस्तगिरिरिति च ज्योतिःशास्त्रप्रक्रियया ब्रह्मसिद्धान्तशिरोमण्याद्युक्त्या ज्ञेयः। तत्र हि पातालादुद्गच्छन् सूर्यो यत्र यैर्दृश्यते, स तेषामुदयाचलः। भूमेः पातालं गच्छन् यत्रादृश्यो भवति, सोऽस्ताचलः। तथा **पुराण**प्रक्रियायाञ्च—

यैर्यत्र दृश्यते भास्वान् स तेषामुदयः स्मृतः।
यत्र चादर्शनं याति तत्रैवास्तमनं विदुः ॥
नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः।
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः ॥

इत्युक्तत्वात् प्रथमदर्शनोपलक्षितः प्रदेश **उदयगिरिः**। प्रथमादर्शनोपलक्षितः प्रदेशोऽ**स्तगिरि**रिति। उदियाय उदगाद् उदित इति यावदित्यन्वयः।

किम्भूतः? जङ्गमस्य स्थावरस्य चात्मा फलरूपः। **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** (तै० उ० २।८।५) इति श्रुतेः। फलरूपत्वे हेतुमाह। **तमसो रिपुरिति।** तमसोऽज्ञानस्य तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तः सन् रिपुर्नाशक इत्यर्थः। प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम्। किं कुर्वन्? शुचिप्रसृमरैः शुचयश्च ते पवित्र्यहेतुत्वात् प्रसृमराश्च प्रसरणशीलाः, तैः करै रश्मिभिः ॥ १ ॥

सतां सन्मार्गवर्तिनां धर्मान् वैदिकी क्रियाः संवर्धयन्, तमस इयं तामसी

व्यास जी बोले—

इस स्थावर और जंगम (चर और अचर) जगत् के आत्मा अन्धकार के शत्रु सूर्यदेव अपने पवित्र फैलते हुए किरणों से ॥ १ ॥

सन्मार्गगामियों के धर्मों को बढ़ाते, तामसी स्थिति को (और तामसी वृत्ति को भी) दूर भगाते, रात्रि में मुकुलित-मुखी अपनी प्यारी कमलिनी को प्रफुल्लित करते हुए ॥ २ ॥

हव्यं कव्यं भूतबलिं देवादीनां प्रवर्त्तयन् ।
प्राह्णापराह्णमध्याह्नक्रियाकालं विजृम्भयन् ।। ३ ।

असतां हृदि वक्त्रेषु निर्दिशन् तमसः स्थितिम् ।
यामिनीकालकलितं जगदुज्जीवयन् पुनः ।। ४ ।

यस्मिन्नभ्युदिते जातः सम्यक् पुण्यजनोदयः ।
अहो परोपकरणं सद्यः फलति नेति चेत् ।। ५ ।

तमोगुणयुक्तानां तामसानां इयं तामसी, तां तामसीं स्थितिं निष्ठां न्यक्कुर्वन् इति। इष्टामभिप्रेताम्। अभिप्रेतत्वं चास्याः करे धृतत्वात्। तुश्चार्थे समुच्चयवाची, बोधयन्श्चेत्यर्थः ॥ २।

हव्यं देवेभ्यो देयम्। कव्यं पितृभ्यो देयम्। भूतबलिं भूतेभ्यो देयम्। विजृम्भयन् कुर्वन्निति ॥ ३।

असतामिति। तमसस्तमोगुणस्य। यामिनी रात्रिः, सैव कालस्तेन कलितं गिलितम् ॥ ४।

यस्मिन्निति। पुण्यजनोदयः, पुण्यजना मन्देहाख्या राक्षसाः। 'यातुधानः पुण्यजनो नैर्ऋतो यातुरक्षसी' इत्यमरः। सूर्योदयात् पूर्वं तेषामुत्पत्तेः। पुण्यजना धार्मिका लोका इति वा। तेषामुदय उत्कर्षः। अनुदित इति पाठे पुण्यजनाः सामान्यराक्षसाः। उदयास्तमने दिनरात्रित्वेन निरूपयन् परोपकारस्य सद्यः फलवत्त्वमाह। अहो इति। अहो इत्याश्चर्ये ॥ ५।

देवता आदि के हव्य, (पितरों को देय) कव्य और भूत-बलि आदि के कर्मों को प्रवर्तित कराते, पूर्वाह्ण, अपराह्ण और मध्याह्न-प्रभृति-क्रिया-काल को प्रकट करते हुए ॥ ३।

दुष्ट लोगों के हृदय और मुखों में अन्धकार को रहने का स्थान बतलाते हुए, निशाकाल के द्वारा कवलित जगत् को फिर से जीवन-दान करते हुए, उदयाचल पर उदित हुए ॥ ४।

सूर्य के उदय होने से ही समस्त धार्मिक जनों का भी पूर्ण उदय हो जाता है। अहा ! (देखो) परोपकार तुरन्त ही फलने लगता है, यदि ऐसा न होता तो ॥ ५।

सायमस्तमितः प्रातः कथं जीवेद्रविः पुनः ।
सानुरागकरस्पर्शैः प्राचीमाश्वास्य खण्डिताम् ।। ६ ।

यामं भुङ्क्त्वा तथाग्नेयीं ज्वलन्तीं विरहादिव ।
लवङ्गैलामृगमदचन्द्रचन्दनचर्चिताम् ।। ७ ।

सायमिति । प्राचीं पूर्वां दिशमाश्वास्य सान्त्वयित्वा, तथाग्नेयीं दिश नाथः दक्षिणां दिशं प्रति प्रस्थितवान् प्रयाणं कृतवानिति षष्ठेनान्वयः । आश्वास्येत्यनेनाकाङ्क्षितं हेतुमाह । **सानुरागेति** । अनुरागोऽनूरुकिरणः, तेन सार्धं वर्त्तमाना ये करा रश्मयः, तेषां स्पर्शास्तैः । कथं भूतां प्राचीम् ? खण्डितां प्रातःकाले प्राप्तात्मनाथाम् । तदुक्तम्—

निद्राकषायमुकुलीकृतचारुनेत्रो
नारीनखव्रणचयेन च चर्चिताङ्गः ।
यस्याः कुतोऽपि पतिरेति गृहे प्रभाते
सा खण्डितेति कथिता कविभिः पुराणैः ॥ इति ।

तत्र नितरां द्राति स्वकार्यं व्याप्नोति इति निद्रा अविद्या, सैव कषायः, तत्त्वज्ञानमन्तरेण दुस्त्यजत्वात् ते मुकुलीकृतमाच्छादितं चारुनेत्रमुत्तमज्ञानं यस्य, स निद्राकषायमुकुलीकृतचारुनेत्रः । तथा मन्देहानां राक्षसानां नारीनखनामानो नारीनखतुल्या वा ये बाणास्तैर्यो व्रणचयः क्षतसमुदायस्तेन चर्चितानि चिह्नितानि अङ्गानि यस्येत्येतदपि विशेषणद्वयं सूर्यपक्षे योजनीयम् ॥ ६ ।

ननु प्रणयकोपितायाः कान्तायाः सानुरागकरस्पर्शमात्रेण किं तत्राह । **यामं भुङ्क्त्वेति** । यामं प्रहरमात्रं च भुङ्क्त्वा । भोगोऽत्र तस्यास्तम आद्युत्सारणेन पालनमेव । आग्नेय्या विशेषणं विरहादिति । विरहाद् विरहजन्यखेदादित्यर्थः । ज्वलन्तीमग्निवत्प्रस्फुरन्तीम् । अत एवोक्तमाग्नेयीमिति । उभयोर्वा विशेषणम् । पक्षान्तरे व्याख्यानं स्पष्टम् । इदानीं दक्षिणां दिशं विशेषयन् स्त्रीसाम्यार्थानि विशेषणान्याह । लवङ्गैलामृगमदेत्यादिचतुर्भिः । चन्द्रः कर्पूरः । अथ कर्पूरमस्त्रियाम् घनसारश्चन्द्रसंज्ञः इत्यमरः ॥ ७ ।

जो सूर्य सायंकाल में अस्तमित हो जाता है, फिर वह (प्रातः काल में) क्यों कर जीवित (उदित) हो सकता है ? अनन्तर वे खण्डिता नायिका पूर्वदिशा को अनुराग से भरे हुए अपने करस्पर्श से आश्वासित कर ॥ ६ ।

मानो विरहानल से ही जलती हुई अग्निदिशा को (आग्नेय कोण में) प्रहर-भर सम्भोग कर लवङ्ग, इलायची, कस्तूरी, कर्पूर और चन्दन से चर्चितांगी ॥ ७ ।

ताम्बूलीरागरक्तौष्ठीं द्राक्षास्तबकसुस्तनीम् ।
लवलीवल्लिदोर्वल्लीं कङ्कोलीपल्लवाङ्गुलिम् ।। ८ ।

मलयानिलनिःश्वासां क्षीरोदकवराम्बराम् ।
त्रिकूटस्वर्णरत्नाङ्गीं सुवेलाऽद्रिनितम्बिनीम् ।। ९ ।

कावेरीगौतमीजङ्घां चोलचोलांशुकावृताम् ।
सह्यदर्दुरवक्षोजां कान्तीकाञ्चीविभूषणाम् ।। १० ।

ताम्बूलीति । ताम्बूली नागवल्ल्याख्या लता । द्राक्षा मृद्वीका । स्तबको गुच्छः । सुस्तनीमित्यत्र स्तनशब्देन स्तनाग्रं लक्ष्यते । सह्यदर्दुरवक्षोजामित्यनेन स्तनयोर्वक्ष्यमाणत्वात् । लवली वल्लिर्लवलीलता, सैव दोर्वल्ली बाहुलता यस्याः, सा तथा ताम् । कङ्कोली अशोकस्तस्याः पल्लवाः किसलयान्येवाङ्गुलयो यस्याः, सा तथा ताम् ॥ ८ ।

त्रिकूटस्थानि यानि स्वर्णरत्नानि, तान्यङ्गेषु यस्याः, सा, तथा ताम् । रक्ताङ्गीमिति पाठे त्रिकूटस्वर्णे रक्तानि रञ्जितानि भूषितान्यङ्गानि यस्यास्ताम् । सुवेलश्चासावद्रिश्चेति सुवेलाद्रिः, स एव नितम्बः स्त्रीकट्याः पश्चाद्भागः, स वर्तते यस्याः, सा तथा ताम् ॥ ९ ।

कावेरीति । जङ्घा प्रसृता जानुनोरधोभाग इति यावद् । चोलचोलौ देशविशेषौ तावेवांशुकम् । यद्वा चोलदेश एव चोलः कूर्पासकः कञ्चुकीति यावत् । **'चोलः कूर्पासकोऽस्त्रियाम्'** इत्यमरः । यद्वा भामा सत्यभामेतिवन्निचोल एव चोलः प्रच्छदपटः । निचोलः प्रच्छदपट इत्यमरः । तेनावृतां कान्तीपुर्येव काञ्ची मेखला । **'स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची'** इत्यमरः । सैव तया वा विभूषणं यस्याः सा तथा ताम् । काञ्चीति क्वचित्पाठः । **'काञ्ची स्यान्मेखला दाम्नि प्रभेदे नगरस्य च'** इति **मेदिनीकारः** ॥ १० ।

ताम्बूली लताओं के राग से लाल अधरोष्ठवाली, अंगूरों के (दाखों के) गुच्छारूप सुन्दर कुचाग्र से युक्त, लवलीलतारूप हस्तवल्ली से विराजित, अशोकपल्लव के समान अंगुलियों से भूषित ॥ ८ ।

मलयाचल के वायुरूप श्वास को लेती हुई, क्षीरसमुद्र को वस्त्र-सदृश पहिने, त्रिकूटपर्वत के सुवर्ण और रत्नों को अपने अङ्गों पर धारण किये सुबेल गिरिरूप नितम्ब से शोभित ॥ ९ ।

कावेरी और गोदावरीरूप जंघा से सुसज्जित चोलदेशरूप चोलियों से आवृत, सह्य और दर्दुर (पर्वत) रूप वक्षोज से अलङ्कृत एवं काञ्चीपुरीरूपी करधनी से विभूषित ॥ १० ।

सुकोमलमहाराष्ट्री वाग्विलासमनोहराम् ।
अद्यापि न महालक्ष्मीर्यां विमुञ्चति सद्गुणाम् ।। ११ ।
सुदक्षदक्षिणामाशामाशानाथः प्रतस्थिवान् ।
क्रमन्तः सर्वमर्वन्तो हेलया हेलिकस्य खम् ।। १२ ।
न शेकुरग्रतो गन्तुं ततोऽनूरुर्व्यजिज्ञपत् ।। १३ ।

अनूरुरुवाच—

भानोर्मानोन्नतो विन्ध्यो निरुद्ध्य गगनं स्थितः ।
स्पर्धते मेरुणा प्रेप्सुस्त्वद्दत्तां तु प्रदक्षिणाम् ।। १४ ।

सुकोमलेति । वाग्विलासो वाक्यविशेषो वा चातुर्यमिति यावत् । यां दक्षिणां दिशम् । महालक्ष्मीः कोलापुराधिष्ठात्री ।। ११ ।

सुदक्षेति । सुदक्षा चासौ दक्षिणा चेति सुदक्षदक्षिणा, ताम् । सुदक्षता चास्याः श्राद्धादिकर्मणि प्रशस्तत्वात् । हे सुदक्षेति सूतसम्बोधनं वा । **क्रमन्त इति** । हेलिकस्य सूर्यस्य । रश्मतेर्लश्रुतिरिति वचनात् । हे आकाशे, रिङ्गति गच्छतीति व्युत्पत्तेः । हेलिकश्चित्रभानुश्चेति सूर्यनामसप्ततिमध्ये वक्ष्यमाणत्वाच्च । क्रमेण सर्वं खमाकाशं क्रमन्तो गच्छन्तोऽर्वन्तोऽश्वा अग्रे गन्तुं यदा न शेकुः, तदा तदनन्तरमिति वा अनूरुः सूर्यरथयन्ता । 'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुडाग्रजः' **इत्यमरः** । व्यजिज्ञपत् विज्ञापयामास सूर्यमिति शेषः । क्रमन्तोच्चैर्हयास्तस्येति पाठः । तदा सन्धिरार्षः ।। १२ ।

विज्ञापनमेवाह । **भानो** इति एतज्ज्ञानं चास्यापृष्टेन तेन कथनादनुमानात् सर्वज्ञत्वाद्वेति बोद्धव्यम् ।। १४ ।

अत्यन्त कोमल महाराष्ट्र-रमणियों के वाग्विलास से (परम) मनोहारिणी, सद्गुणशालिनी अद्यावधि (कोलापुराधीश्वरी) महालक्ष्मी की अधिष्ठानभूमि ।। ११ ।

सुचतुरा दक्षिण दिशा की ओर (जब) दिगङ्गनाओं के स्वामी सूर्यदेव जाने लगे, (तब) उनके घोड़े समस्त आकाश-मण्डल को खेल ही खेल में लाँघते हुए ।। १२ ।

जब आगे जाने के लिए नहीं बढ़ सके, तब (इतने में सूर्य के सारथी) अनूरु ने निवेदन किया ।। १३ ।

अनूरु बोले—

हे भानुदेव ! हे सूर्य, विन्ध्याचल मान (अभिमान) से उन्नत हो, गगनमार्ग को छेककर खड़ा है और आपकी दी हुई प्रदक्षिणा पाने की इच्छा से सुमेरु के साथ स्पर्धा कर रहा है ।। १४ ।

अनूरुवाक्यमाकर्ण्य सविता हृद्यचिन्तयत् ।
अहो गगनमार्गोऽपि रुद्ध्यते चातिविस्मयः ।।१५।

व्यास उवाच—

सूरः शूरोऽपि किं कुर्यात् प्रान्तरे वर्त्मनि स्थितः ।
त्वरावानपि को रुद्धं मार्गमेको विलङ्घयेत् ।।१६।
राहुबाहुग्रहव्यग्रो यः क्षणं नावतिष्ठति ।
शून्यमार्गे निरुद्धः स किं करोतु विधिर्बली ।।१७।
योजनानां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने ।
यो जनस्य निमेषार्धाद्याति सोऽपि चिरं स्थितः ।।१८।

अनूरुवाक्यमिति । अतिशयितो विस्मयो यस्य स सविता हृद्यचिन्तयदित्यन्वयः । अत्र विस्मय इति क्वचित्पाठः । पुनरर्थे चशब्दः ॥१५।

सूर इति । सूरः सूर्यः शूरोऽपि समर्थोऽपि किं कुर्यात् ? अशूरेण हतः शूर एकेनापि शतं हतमिति न्यायादित्यर्थः । एकोऽसहायः ॥१६।

राहुबाहग्रहव्यग्र इति । उह्यते कण्ठाधःक्रियते भुक्तं पीतं चानेनेति बाहुर्मुखम् । विधुन्तुदमुखग्रहणेनाकुलित इत्यर्थः । उक्तञ्च—'भानुर्विधुन्तुदमुखाकुलितैकपार्श्वः पार्श्वान्तरेण जगतां तिमिरं निहन्ति' इति । यद्वा हस्तिरूपधारिणो राहोर्बाहुग्रहेण कराकर्षणेन व्यग्र आकुल इति व्याख्येयम् । राहुर्हस्तीभूत्वा सूर्याचन्द्रमसौ ग्रसतीति श्रुतेः । अवतिष्ठति अवतिष्ठते । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् । विधिर्ब्रह्मा ईश्वरोऽदृष्टं वा ॥१७॥

योजनानामिति । जनस्य मनुष्यस्य योजनानां क्रोशचतुष्टयानां सहस्रे द्वे इत्याद्यन्वयः । यः सूर्यः ॥१८॥

अनूरु के उक्त वचन को सुनकर सूर्य अपने मन में विचार करने लगे कि अहो ! आकाशमार्ग भी अवरुद्ध किया जा रहा है, यह तो अत्यन्त विस्मयकारी है ॥१५।

व्यास जी ने कहा—

समर्थ होने पर भी बीच मार्ग में खड़े होकर सूर्य क्या करें ? बड़ा शीघ्रकारी होने पर भी किसी के द्वारा अकेले ही रुँधे हुए मार्ग को कैसे लाँघा जा सकता है ? ॥१६।

जो सूर्य राहु के बाहुग्रस्त होने पर व्यग्र होकर भी क्षणमात्र नहीं ठहरते, (आज) शून्य मार्ग में रोक लिये जाने पर वे क्या करें ? (कुछ कर पाने में असमर्थ हैं; क्योंकि) विधि ही बलवान् है ॥१७।

जो सूर्य दो सहस्र दो सौ दो योजन, जन के अर्धनिमेष में (आधे पल में) चले जाते हैं, (आज) उनको भी बहुत बिलम्ब तक ठहरना पड़ा ॥१८।

गते बहुतिथे काले प्राच्यौदीच्या भृशार्दिताः ।
चण्डरश्मेः करव्रातपातसन्तापतापिताः ॥ १९ ।
पाश्चात्या दाक्षिणात्याश्च निद्रामुद्रितलोचनाः ।
शयिता एव वीक्षन्ते सतारग्रहमम्बरम् ॥ २० ।
अहो नाहस्कराभावान्निशा नैवाऽनिशाकरात् ।
अस्तङ्गतर्क्षान्नभसः कः कालस्त्वेष नेक्ष्यते ॥ २१ ।

पाश्चात्या इति । सतारेति तारा अश्विन्यादिव्यतिरिक्तानि नक्षत्राणि, नक्षत्रमात्राणि वा ग्रहा मङ्गलादयस्तैः सार्धमम्बरमिति ॥ २० ।

पूर्वादिदिग्भवानां प्रजानां व्याकुलतामाह । **अहो इति** । अयमर्थः । एष कः कालः किं दिनं किं वा रात्रिर्नेक्ष्यते, न लक्ष्यत इत्यर्थः । ननु दिनं भविष्यति सूर्यस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह । अहो नाहस्कराभावादिति । अयं कालो अहर्दिनं न भवति, कुतोऽहस्कराभावात् । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । सूर्योदयमारभ्य प्रहरचतुष्टयं हि अहरित्युच्यते, तस्य चातीतत्वात्, पश्चात् सूर्यस्याहस्कर्तृत्वाभावादिति भावः । तर्हि निशा भविष्यति, तत्राह । निशा नैवानिशाकरादिति, चन्द्राभावादित्यर्थः ।

ननु चन्द्राभावेऽपि अमावास्यादौ निशा दृश्यते, तत्राह । अस्तङ्गतर्क्षान्नभस इति । अस्तमदर्शनं गतानि प्राप्तानि ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्मिन्, तस्माद् नभस आकाशाद्धेतोरित्यर्थः । प्राच्यौदीच्यव्याकुलतायामित्थं व्याख्यातम् । पाश्चात्यदाक्षिणात्यव्याकुलतायां ग्रन्थार्थोऽतिरोहित एव । न चास्मिन् पक्षे शयिता एव वीक्षन्ते, सतारग्रहमम्बरमित्यनेन विरोधः । अस्तङ्गतं गतं गमनं येषां तान्यस्तङ्गतानि ऋक्षाणि यस्मिन्, तदस्तङ्गतर्क्षम्, तस्मान्नभस इति व्याख्यानात् । ऐकपद्यपाठे छन्दोभङ्ग आर्षः । एतदुक्तं भवति । चन्द्रसूर्ययोर्गतौ स्तम्भितायां सत्यां ततः प्राग्गतानां ग्रहर्क्षताराणामपि सञ्चाराभावेन रात्रिलक्षणाभावाद्रात्रिर्न भवतीत्यर्थः । न च निरस्तंतद्द्वीपवर्तितरवि-

---

बहुत समय बीत जाने पर पूर्व और उत्तर देश के निवासी लोग प्रचण्ड मार्तण्ड के किरणजालों के गिरते रहने के सन्ताप से व्याकुल होकर बहुत ही घबड़ाने लगे ॥ १९ ।

और पश्चिम तथा दक्षिण के रहने वाले निद्रा से आँखें मूँदे हुए सोते ही सोते तारा-ग्रहों के साथ (बहुत लम्बी रात हो जाने के कारण) आकाश की ओर देखने लगे ॥ २० ।

(और यह सोचने लगे कि) सूर्य के न रहने से यह दिन नहीं है, और रात्रि भी नहीं हो सकती है; क्योंकि चन्द्र भी नहीं है, फिर आकाश में बहुतेरे नक्षत्रों के अस्त हो जाने से यह कौन-सा काल है ? कुछ भी समझ में नहीं आता ॥ २१ ।

ब्रह्माण्डं किमकाण्डे वै लयमेष्यति तत्कथम् ।
परापतन्ति नाद्यापि पारावारा इतस्ततः ॥ २२ ॥
स्वाहास्वधावषट्कारवर्जिते जगतीतले ।
पञ्चयज्ञक्रियालोपाच्चकम्पे भुवनत्रयम् ॥ २३ ॥
सूर्योदयात् प्रवर्तन्ते यज्ञाद्याः सकलाः क्रियाः ।
ताभिर्यज्ञभुजां तृप्तिः सविता तत्र कारणम् ॥ २४ ॥
चित्रगुप्तादयः सर्वे कालं जानन्ति सूर्यतः ।
स्थितिसर्गविसर्गाणां कारणं केवलं रविः ॥ २५ ॥

रश्मिजालः कालविशेषो रात्रिरिति रात्रेर्लक्षणस्य सद्भावात् पाश्चात्त्यदाक्षिणात्त्यानां रात्रिर्भविष्यतीति वाच्यम्, यदा एतदित्यादिविशेषणवैयर्थ्येन लक्षणस्याकिञ्चित्करत्वादिति भावः ॥ २१ ॥

ब्रह्माण्डमिति । अकाण्डेऽनवसरे । काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिष्वित्यमरः । परापतन्ति यातायातं कुर्वन्ति । परं परतीरम् । अवारं अर्वाक्तीरम् । पारावार-परार्वाची तीरे इति वचनात् । तत्र भवास्तत्सम्बन्धिन्यो वा पारावाराः, प्रजा इति शेषः ॥ २२ ॥

पञ्चयज्ञेति । देवयज्ञ-पितृयज्ञ-भूतयज्ञ-ब्रह्मयज्ञ मनुष्ययज्ञा इति पञ्च, तेषामनुष्ठानाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

सविता तत्र कारणमिति । अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । 'आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ २४ ॥

विसर्गोऽत्र संहारः । कारणं केवलमिति । अभिन्ननिमित्तोपादानमित्यर्थः । तदुक्तम्-

---

क्या विना अवसर ही यह ब्रह्माण्ड लय हो जायेगा ? नहीं, यदि ऐसा होता तो अबतक ये सब प्रलयार्णव इधर-उधर से (बढ़-बढ़कर) ब्रह्माण्ड से ब्रह्माण्ड को बहा डालते ॥ २२ ॥

(उस वेला में) स्वाहा-स्वधा-वषट्कार से रहित इस पृथिवी मण्डल पर पञ्च-यज्ञों की क्रियाओं के लोप हो जाने से तीनों ही काँपने लगे ॥ २३ ॥

सूर्य के उदय होने से ही यज्ञादिक समस्त क्रियाएँ प्रारम्भ होती हैं और उन्हीं क्रियाओं के द्वारा यज्ञभोजी देवताओं की तृप्ति होती है । अतएव इन सबके कारण सूर्यनारायण ही हैं ॥ २४ ॥

चित्रगुप्त आदि सभी लोग सूर्य से ही समय का निर्णय करते हैं । इसलिए सूर्य ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के एकमात्र कारण है ॥ २५ ॥

तत्सूर्यस्य गतिस्तम्भात् स्तम्भितं भुवनत्रयम् ।
यद्यत्र तत्स्थितं तत्र चित्रन्यस्तमिवाखिलम् ॥ २६ ।
एकतस्तिमिरान्नैशादेकतस्तु दिवातपात् ।
बहूनां प्रलयो जातः कांदिशीकमभूज्जगत् ।। २७ ।।
इति व्याकुलिते लोके सुरासुरनरोरगे ।
आः किमेतदकाण्डेऽभूद्रुरुदुर्दुद्रुवुः प्रजाः ।। २८ ।

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥ इति॥२५।

स्तम्भितत्वमेव दर्शयति । **यद्यत्र** तत्स्थितं तत्रेति ॥ २६ ।

कांदिशीकं भयेन द्रुतम् । 'कांदिशीको भयद्रुतः' **इत्यमरः** ॥ २७ ।

लोके भुवने । लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः । सुरनरोरगे सुराधिष्ठातृदेवता वरुणात्मजा वारुणी, तस्याः परिग्रहात् सुरा देवास्तस्या अपरिग्रहादसुरा दैतेयाः । तदुक्तं बालकाण्डे रामायणे—

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन ।
उत्पपात महावीर्या वाञ्छमाना परिग्रहम् ॥
दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम् ।
अदितेस्तु सुता वीरा जगृहुस्तमनिन्दिताम् ॥
तेनाभवन् सुरा देवा दैतायाश्चासुरास्ततः । इति ।

सुरासुरैः सह नरोरगा यस्मिन् स तथा तस्मिन् । एतच्चान्येषामुपलक्षणम् । यत्तु भागवते विपर्ययश्रवणम्, तच्च कल्पभेदाभिप्रायेण । आः पीडायाम् । आस्तु स्याव् कोपपीडयोरित्यमरः । दुद्रुवुश्च सर्वे देवाः ॥ २८ ।

(तब) उन्हीं सूर्य की गति रुक जाने से समग्र त्रैलोक्य स्तम्भित हो गया, सभी कोई जो जहाँ था, सो वहीं पर चित्रलिखित-सा रह गया ॥ २६ ।

एक ओर रात्रि का घोर अन्धकार और दूसरी ओर दिन का प्रचण्ड घाम इन दोनों के कारण कितनों का ही प्रलय हो गया । (सारा) संसार भय से व्याकुल होकर घबड़ा उठा ॥ २७ ।

इस प्रकार से सुर-असुर, नर-नाग सभी लोगों के अत्यन्त व्यग्र हो जाने पर 'ओह ! अनायास ही यह क्या हो गया ?' कहते हुए प्रजागण (हाय ! हाय ! कर) रोने और इधर-उधर भागने लगे ॥ २८ ।

ततः सर्वे समालोक्य ब्रह्माणं शरणं ययुः ।
स्तुवन्तो विविधैः स्तोत्रै रक्ष रक्षेति चाब्रुवन् ॥ २९ ।

देवा ऊचुः—

नमो हिरण्यरूपाय ब्रह्मणे ब्रह्मरूपिणे ।
अविज्ञातस्वरूपाय कैवल्यायामृताय च ॥ ३० ।
यन्न देवा विजानन्ति मनो यत्रापि कुण्ठितम् ।
न यत्र वाक् प्रसरति नमस्तस्मै चिदात्मने ॥ ३१ ॥

त्रैलोक्यरक्षणार्थाय सगुणागुणभेदतः ।
स्तुवन्ति सत्यलोकेशं गीर्वाणा भयशङ्किताः ॥
नमो हिरण्यगर्भायेत्याद्यैर्द्वादशभिः शुभैः ।
पद्यैः प्रसन्नगम्भीरैः श्रोतृपापापनोदनैः ॥

तत्रादावाधिदैविकविराड्हिरण्यगर्भान्तर्यामिरूपेण स्तुवन्ति । तत्र **ब्रह्मरूपिणे** विराडात्मने नम इत्यन्वयः । तपस्तप्त्वाऽसृजद्यन्तु स स्वयं पुरुषो विराडिति **मनुः**। हिरण्यगर्भाय हिरण्यरूपं ब्रह्माण्डं गर्भे यस्य स, तथा तस्मै ब्रह्मणे पूर्णाय अन्तर्यामिणे इत्यर्थः । तदुक्तम्—

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूत्रसूष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलदृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥ इति ।

सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः । सगुणं स्तुत्वा निर्गुणं स्तुवन्ति । **अविज्ञातस्वरूपाय** अविज्ञातं प्रत्यक्षाद्यगम्यं स्वरूपं यस्य, स तथा तस्मै । **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** इति श्रुतेः । कैवल्याय मोक्षस्वरूपाय । कथं भूताय कैवल्याय ? अमृतायानन्दरूपाय । आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितमिति श्रुतेः ॥ ३० ।

अविज्ञातस्वरूपत्वे हेतुमाह । **यं न देवा** विजानन्ति इति । तस्मै चिदात्मने

इसके अनन्तर देवता लोग यह सब देखकर ब्रह्मा के शरणागत हुए और "रक्ष रक्ष" (रक्षा करो, रक्षा करो, ऐसा) कहते हुए अनेक स्तोत्रों से उनकी स्तुति करने लगे ॥ २९ ।

देवताओं ने कहा—

विराट्स्वरूप, हिरण्यगर्भरूप, अविज्ञातस्वरूप, मोक्षरूप एवं आनन्दस्वरूप **ब्रह्मदेव को नमस्कार है ॥ ३० ।**

जिसे देवता लोग भी भली-भाँति से नहीं जान सकते एवं मन भी जिसके विषय में कुण्ठित हो जाता है, अथवा जहाँ पर वाणी भी नहीं (पहुँच) फैल सकती है (जिसका वर्णन करने या परिचय देने में वाणी असमर्थ है), ऐसे चैतन्य-घन को नमस्कार है ॥ ३१ ।

योगिनो यं हृदाकाशे प्रणिधानेन निश्चलाः ।
ज्योतीरूपं प्रपश्यन्ति तस्मै श्रीब्रह्मणे नमः ।। ३२ ।
कालात् पराय कालाय स्वेच्छया पुरुषाय च ।
गुणत्रयस्वरूपाय नमः प्रकृतिरूपिणे ।। ३३ ।

नम इत्यन्वयः । तस्मै कस्मै इत्याकाङ्क्षायामाह । यत्र देवा इति । देवा इन्द्रियाणि तदधिष्ठातारो वा । मनो यत्रापि कुण्ठितं उपलप्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यवत्प्रतिहतसामर्थ्यम् । न यत्र वाक् प्रसरति, प्रबोधयितुं वागपि न समर्था भवतीत्यर्थः । तस्मै अपरिमित-गुणगरिम्णे प्रसिद्धाय वा चिदात्मने चैतन्यघनाय नमोऽस्तु (नमस्कुर्मः) इति वा शेषः । स वेत्ति विश्वं न तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् । **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तै० उ० २।४) इत्यादि श्रुतेः ॥ ३१ ।

तर्हि प्रमाणाभावाच्छशश्रृङ्गवन्नास्ति तदित्याशङ्क्याहुः । **योगिनो यमिति** । तस्मै श्रीब्रह्मणे नम इत्यन्वयः । तस्मै कस्मा इत्याकाङ्क्षायामाहुः **योगिन** इति । हृदेवा-काशो हृदाकाशः, तस्मिन् आकाशवच्छुद्धेऽन्तःकरण इत्यर्थः । प्रणिधानेन एकाग्रतया निदिध्यासनेनेति यावत् । ज्योतिः स्वप्रकाशं रूपं स्वरूपं यस्य तत्तथा प्रपश्यन्ति । स्वप्रकाशसच्चिदानन्दरूपेणैवावतिष्ठन्त इत्यर्थः । श्रीः सावित्री स्रष्टा विष्णुरियं सृष्टि-रिति पराशरोक्तेः, सृज्यतेऽनया सृष्टिहेतुत्वाद्वा सृष्टिः सावित्री, तत्सहिताय ब्रह्मणे सत्य-लोकाधिष्ठात्रे । यद्वा श्रयन्त्येतां योगिन इति श्रीर्ब्रह्मविद्या, तत्स्वरूपाय ब्रह्मणे परमात्मने नम इति ॥ ३२ ।

कालादिति । कालान्निमेषादिद्विपरार्धान्तात् पराय भिन्नाय । मायया कालाय तच्चेष्टारूपत्वात् कालस्य । तदुक्तं भागवते—योऽयं कालस्तस्य ते व्यक्तबन्धो चेष्टामाहु-रिति, यद्वा अविद्यात्मनोः सम्बन्धः कालस्तद्रूपाय । यद्वा कालयति नाशयति कालादीन् सर्वानिति कालस्तस्मै । स कालकालः कालमूषिकभक्षकः कालायते नमः इत्यादिश्रुति-स्मृतिभ्यः । स्वेच्छया स्वस्येच्छया ईक्षणलक्षणया पुरुषाय जीवाय । 'स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय', 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति श्रुतेः । यद्वा स्वीयानां भक्तानामिच्छया

योगी लोग (चित्त की) एकाग्रता से निश्चल होकर आकाशसम शुद्ध अन्तःकरण में जिसका ज्योतिस्वरूप देखते हैं (दर्शन करते हैं, साक्षात्कार करते हैं), उस श्रीमान् ब्रह्मदेव को प्रणाम है ॥ ३२ ।

जो काल से भिन्न होने पर भी कालस्वरूप हैं, जो अपनी इच्छा के अनुसार ही पुरुष हो जाते हैं अथवा तीनों गुणों की मूर्ति प्रकृतिस्वरूप हैं, उन्हीं को नमस्कार है ॥ ३३ ।

विष्णवे सत्त्वरूपाय रजोरूपाय वेधसे ।
तमसे रुद्ररूपाय स्थितिसर्गान्तकारिणे ।। ३४ ।
नमो बुद्धिस्वरूपाय त्रिधाहङ्कृतये नमः ।
पञ्चतन्मात्ररूपाय पञ्चकर्मेन्द्रियात्मने ।। ३५ ।
नमो मनःस्वरूपाय पञ्चबुद्धीन्द्रियात्मने ।
क्षित्यादिपञ्चरूपाय नमस्ते विषयात्मने ।। ३६ ।

पुरुषाय पूर्षु शरीरेषु शेत इति तथा तस्मै । मत्स्यकूर्माद्यवतारायेत्यर्थः । **'नवद्वारे पुरे शेते पुरुषस्तेन चोच्यते'** इति स्मृतेः । यद्वा स्वेच्छया स्वातन्त्र्येणैव पुरुषाय पुरुषाख्यावताराय । तदुक्तं भागवते—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः ।। इति ।

यद्वा स्वेच्छया पूर्वमपि पुरुषु कार्येषु स्थितत्वात् पुरुषः, तस्मै । तथा च श्रुतिः—पूर्वमेवाहमिहासमिति । तत्पुरुषस्य पुरुषत्वमित्यलमति विस्तरेण । प्रधानत्वेन नमस्यन्ति । **गुणत्रयेति** । गुणत्रयं सत्त्वरजस्तम उपलक्षणम् । प्रकृतिः प्रधानम् ।। ३३ ।

गुणत्रयोपाधिविष्णवब्जयोनिरुद्ररूपेण नमन्ति । **विष्णव** इति । नम इत्यनुषञ्जनीयम् ।। ३४ ।

महत्तत्त्वादित्रयोविंशतितत्त्वभेदेन प्रणमन्ति । **नमो बुद्धि** स्वरूपायेत्यादिना । बुद्धिस्वरूपाय महत्तत्त्वाय । त्रिधाहङ्कृतये वैकारिकतैजसतामसाहङ्काराय । पञ्चतन्मात्ररूपाय शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्ररूपात्मने । पञ्चकर्मेन्द्रियात्मने पायूपस्थहस्तपादवागात्मने ।। ३५ ।

नम इति । मनःस्वरूपायान्तःकरणरूपाय । पञ्चबुद्धीन्द्रियात्मने श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासात्मने । क्षित्यादिपञ्चरूपाय पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशरूपाय । विषयात्मने स्थूलविषयरूपाय पञ्चीकृतात्मन इति यावत् ।। ३६ ।

जो सत्त्वगुण के आश्रय से विष्णुरूप होकर पालन और रजोगुण के अवलम्बन से ब्रह्मारूप हो सृष्टि एवं तमोगुण को धारण कर रुद्ररूप से संसार का संहार करते हैं, उन्हीं को प्रणाम है ।। ३४ ।

बुद्धिस्वरूप वैकारिक-तैजस-तामस-त्रिविध अहंकार के रूप, (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) पंचतन्मात्रस्वरूप, (गुद-उपस्थ-हस्त-पाद-वचन) पंचकर्मेन्द्रियों के रूप आपको प्रणाम है ।। ३५ ।

मनःस्वरूप, (कर्ण-त्वचा-नेत्र-जिह्वा-नासिका आदि) पाँचों बुद्धि के इन्द्रियों के रूप (पंचज्ञानेन्द्रियरूप), (पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश) पंच भूतस्वरूप एवं स्थूल विषयात्मक ब्रह्मा को नमस्कार है ।। ३६ ।

नमो ब्रह्माण्डरूपाय तदन्तर्वर्तिने नमः ।
अर्वाचीनपराचीनविश्वरूपाय ते नमः ॥ ३७ ॥
अनित्यनित्यरूपाय सदसत्पतये नमः ।
समस्तभक्तकृपया स्वेच्छाविष्कृतविग्रह ॥ ३८ ॥
तव निःश्वसितं वेदास्तव स्वेदोऽखिलं जगत् ।
विश्वाभूतानि ते पादः शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ॥ ३९ ॥

समष्टिव्यष्टिप्रबन्धभेदेन प्रणमन्ति । नम इत्यादिना । ब्रह्माण्डरूपाय समष्ट्यात्मकविराड्रूपाय कारणरूपायेत्यर्थः । तदन्तर्वर्तिने भूतभौतिकव्यष्टिरूपाय कार्यरूपायेत्यर्थः । अर्वाचीनेति । अर्वाचीनमिदानीन्तनम्, ततः पराचीनं पूर्वकालीनम्, एतद्रूपं यद्विश्वं जगद्रूपाय ते तुभ्यं नम इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अनित्येति । आगमापाय्यनित्यं कालत्रयाबाध्यं नित्यम्, तद्रूपाय, सत्स्थूलम्, असत्सूक्ष्मं कार्यकारणे वा सदसती, तयोः पतये नियन्त्रे नम इति । कृपालुतां दर्शयन्तः स्तुवन्ति । समस्तेति । समस्तशब्दश्चतुर्विधविषयः । 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इति भगवद्वचनात् । नवविधविषयो वा भक्तेः नवभिराश्रितमिति मुक्ताफलकारवचनात् । विग्रहः शरीरम् ॥ ३८ ॥

शास्त्रयोनित्वेन स्तुवन्ति । तव निःश्वासितं वेदा इति । निःश्वासवदनायासेन वेदानामाविर्भावाद् वेदा निःश्वसितमित्युपचारः । 'निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इति श्रुतेः । 'शास्त्रयोनित्वात्' (वे० सू० १।१।३) इति व्याससूत्राच्च । तव स्वेदोऽखिलं जगदिति । तवेश्वरस्य । स्वेदशब्देनात्राप्सु निसृष्टं वीर्यं शक्तिविशेष उच्यते, तज्जातत्वादशेषस्य जगतः । यद्वा स्वेदशब्देनात्रापञ्चीकृतं जलतत्त्वमुच्यते, तच्च भूम्यादिचतुष्टयस्योपलक्षणम्, तत्परिणामत्वादशेषस्य भूतभौतिकप्रपञ्चस्य । तदुक्तं हरिवंशे—

ततः स्वयंभूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥

जो स्वयं ब्रह्माण्डस्वरूप होने पर भी मध्यवर्ति-कार्यरूप हैं, उनको प्रणाम है, उनको बारम्बार नमस्कार है ॥ ३७ ॥

अनित्य और नित्य-स्वरूप तथा सत् और असत् के एकमात्र पति आपको प्रणाम है। हे समस्त भक्तों पर कृपाकर स्वेच्छानुसार शरीर धारण करने वाले ॥ ३८ ॥

तुम्हारा निःश्वास ही वेद है, तुम्हारे ही स्वेदजल (पसीने) (पंचीकृत अप्तत्त्व से) से यह समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है। समग्र भूतगण तुम्हारे पदतल हैं और स्वर्ग तुम्हारे ही मस्तक से उत्पन्न हुआ है ॥ ३९ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं लोमानि च वनस्पतिः ।
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यस्तव प्रभो ।। ४० ।
त्वमेव सर्वं त्वयि देव सर्वं स्तोता स्तुतिः स्तव्य इह त्वमेव ।
ईश त्वयाऽऽवास्यमिदं हि सर्वं नमोऽस्तु भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।४१ ।
इति स्तुत्वा विधिं देवा निपेतुर्दण्डवत् क्षितौ ।
परितुष्टस्तदा ब्रह्मा प्रत्युवाच दिवौकसः ।। ४२ ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।। इति ।

इति पुरुषसूक्तेन च स्तुन्ति । **विश्वेति** । तत्र पदोऽस्य विश्वाभूतानीत्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः । विश्वाभूतानि ते पाद इति ।। ३९ ।

मायावच्छिन्नैकदेश इत्यर्थः । विश्वा इति, '**शेश्छन्दसि बहुलम्**' इति शेर्लोपः । शीर्ष्णो द्यौः समवर्ततेत्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः । **शीर्ष्णं** इति । नाभ्या आसीदन्तरिक्षमित्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः । **नाभ्या** इति । अन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकः । लोमानि इति । पुष्पं विना फलवान् वनस्पतिः । चन्द्रमा मनसो जात इत्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः । **चन्द्रमा** इति । **चक्षोः** सूर्यो अजायतेत्यस्याः श्रुतेरर्थमाहुः । **चक्षोः सूर्यं** इति । चक्षोश्चक्षुष इत्यर्थः ।। ४० ।

उपसंहरन्ति । **त्वमेव** सर्वमिति । अत्रोपासनार्थं सर्वप्रपञ्चरूपत्वं ब्रह्मणो विधीयते । योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिति वेत्यादिवद्बाधे सामानाधिकरण्यं वा । अधिष्ठान्तरं वारयति । त्वयि देव ! सर्वमिति । देव ! हे स्वप्रकाश ! नन्वहं चेत् सर्वं कथं भवद्भिः स्तोतृभिः स्तवेनाहं स्तूयेत, तत्राहुः । **स्तोतेति** । औपाधिकभेदमादाय स्तोत्रादिव्यवहार इत्यर्थः । किं बहुना ईशा ईश्वरेण त्वया इदं सर्वं जगदावास्यं वासनीयं सम्बद्धं ग्रथितं तन्तुनेव पट इति । यद्वा आवास्यं सत्ताचैतन्याभ्यां संव्याप्य इदं परिदृश्यमानं सर्वमिति ।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' इति श्रुतेः ।। ४१ ।

तुम्हारी नाभि से आकाश की उत्पत्ति है और तुम्हारे ही लोम से वनस्पति हुए हैं। हे प्रभो ! तुम्हारे ही मन से चन्द्रमा और नेत्रों से सूर्य उत्पन्न हुए हैं ।। ४० ।

हे देव ! तुम्हीं सब कुछ हो, और यह सब कुछ तुम्हारे ही अन्तर्गत है। इस संसार में स्तुतिकर्ता, स्तोत्र और स्तुत्य भी एक मात्र तुम्हीं हो । हे नाथ ! यह समग्र लोक तुम्हीं से वासित है, (परिव्याप्त है, परिवृत है), अतएव आपको बार-बार नमस्कार है ।। ४१ ।

इस प्रकार से ब्राह्मा की स्तुति कर देवगण भूतल पर दण्डवत् लोट गये, तब ब्रह्मा जी ने सन्तुष्ट होकर देवताओं से कहा ।। ४२ ।

ब्रह्मोवाच—

यथार्थयाऽनया स्तुत्या तुष्टोऽस्मि प्रणताः सुराः ।
उत्तिष्ठत प्रसन्नोऽस्मि वृणुध्वं वरमुत्तमम् ।। ४३ ।
यः स्तोष्यत्यनया स्तुत्या श्रद्धावान् प्रत्यहं शुचिः ।
मां वा हरं वा विष्णुं वा तस्य तुष्टाः सदा वयम् ।। ४४ ।
दास्यामः सकलान् कामान् पुत्रान पौत्रान् पशून् वसु ।
सौभाग्यमायुरारोग्यं निर्भयत्वं रणे जयम् ।। ४५ ।
ऐहिकामुष्मिकान् भोगानपवर्गं तथाऽक्षयम् ।
यद्यदिष्टतमं तस्य तत्तत्सर्वं भविष्यति ।। ४६ ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पठितव्यः स्तवोत्तमः ।
अभीष्टद इति ख्यातः स्तवोऽयं सर्वसिद्धिदः ।। ४७ ।

यथार्थयेति । यथार्थया यथा सदृशोऽबाधितोऽर्थो यस्याः, सा तथा तया ।। ४३ ।

ऐहिकेति । अपवर्गं मोक्षम् । सालोक्यादिव्यावृत्त्यर्थमक्षयमिति विशेषणम् । सायुज्यमित्यर्थः ।। ४६ ।

तस्मादिति । यतोऽभीष्टद इति ख्यातः, अत एव सर्वसिद्धिदः । सर्वेषां सिद्धिद इति वा ।। ४७ ।

ब्रह्मा जी बोले—

हे विनीत देवगण ! तुम लोगों की इस यथार्थस्तुति से मैं बड़ा संतुष्ट हूँ । तुम लोग उठ जाओ । मैं प्रसन्न हूँ । अतः अभिलषित वर माँगो ।। ४३ ।

जो कोई पवित्र होकर श्रद्धापूर्वक इस स्तोत्र से प्रतिदिन मेरी, महादेव जी की, किं वा विष्णु जी की स्तुति करेगा, हम सब लोग उस पर सदैव संतुष्ट रहेंगे ।। ४४ ।

और उसको, उसके सब मनोरथ (पूर्ण होंगे) पुत्र, पौत्र, पशु, धन, सौभाग्य, आयुष्य, निर्भयत्व और संग्राम में विजय की उसे प्राप्ति होगी ।। ४५ ।

वह स्तुतिकर्ता, लौकिक, पारमार्थिक भोग, अक्षय मोक्ष एवं जो-जो उसका इष्टतम होगा, उन सबको प्राप्त करेगा ।। ४६ ।

अतएव सब प्रयत्नों से इस उत्तम स्तोत्र का पाठ करना चाहिए । यह सर्वसिद्धिप्रद स्तोत्र अभीष्टद नाम से प्रसिद्ध होगा ।। ४७ ।

पुनः प्रोवाच तान् वेधाः प्रणिपत्योत्थितान् सुरान् ।
स्वस्थास्तिष्ठत भो यूयं किमत्रापि समाकुलाः ।। ४८ ।
एते वेदा मूर्तिधरा इमा विद्यास्तथाऽखिलाः ।
सदक्षिणा अमी यज्ञाः सत्यं धर्मस्तपो दमः ।। ४९ ।
ब्रह्मचर्यमिदं चैषा करुणा भारती त्वियम् ।
श्रुतिस्मृतीतिहासार्थचरितार्था अमी जनाः ।। ५० ।

अत्रापि सत्याख्ये मम लोकेऽपीत्यर्थः ।। ४८ ।

सत्यलोकस्थानां व्याकुलताभावं दर्शयति । **एते वेदा मूर्तिधरा** इत्यादिना। करुणाभारती त्वियमित्यन्तं मूर्तिधरा इत्यनुषञ्जनीयम् । अखिलाः शिक्षाकल्पज्योतिषश्छन्दोनिरुक्तव्याकरणमीमांसान्यायपुराणधर्मशास्त्रायुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्वार्थशास्त्राश्चतुर्दश। यज्ञास्त्वग्निष्टोमादयः । सत्यं यथार्थभाषणम् । धर्मोऽदृष्टम् । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि। दमो विषयेभ्यो बहिरिन्द्रियनिवृत्तिरिन्द्रियमात्रनिवृत्तिर्वा ।। ४९ ।

ब्रह्मचर्यमिति । ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गमैथुनपरित्यागः । तदुक्तम्—

दर्शनं स्पर्शनं केलिः स्मरणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेव प्रकीर्तितम् ।। इति ।

करुणा हितैषिणी । इदानीं सर्वेभ्यः काश्याः श्रैष्ठ्यं वक्तुं कर्मादिभिः प्राप्तस्वलोकान् दर्शयति । **श्रुतिस्मृतीति** । श्रुतिस्मृतीतिहासानामर्थेषु चरितः कृतोऽर्थः पुरुषार्थः, पुरुषकारोऽनुष्ठानं यैस्ते तथा। इतिहासो महाभारतादिः । श्रुतिस्मृतिपुराणानामिति क्वचित् पाठः । व्याख्यान्तरं स्पष्टम् ।। ५० ।

देवताओं के प्रणाम कर उठ खड़े होने पर ब्रह्मा जी ने उनसे फिर कहा कि तुम लोग अब स्वस्थ होकर बैठो । यहाँ पर भी क्यों घबड़ाए हुए हो ? ।। ४८ ।

(देखो) ये मूर्तिमान चारों वेद हैं, ये सब चौदहों विद्याएँ हैं, ये दक्षिणा से पूर्ण (अग्निष्टोमादिक) यज्ञ हैं, यह सत्य है, यह धर्म है, यह तपस्या है, यह दम है ।। ४९ ।

यह ब्रह्मचर्य है, यह करुणा है, यह भारती हैं, ये सब श्रुति-स्मृति और पुराणों के अर्थ से कृतार्थ जन (गण) हैं ।। ५० ।

नेह क्रोधो न मात्सर्यं लोभः कामोऽधृतिर्भयम् ।
हिंसा कुटिलता गर्वो निन्दाऽसूयाऽशुचिः क्वचित् ॥ ५१ ।
ये ब्राह्मणा ब्रह्मरतास्तपोनिष्ठास्तपोधनाः ।
मासोपवासषण्मासचातुर्मास्यादिसद्व्रताः ॥ ५२ ।
पातिव्रत्यरता नार्यो ये चान्ये ब्रह्मचारिणः ।
ते चामी पश्यत सुरा ये षण्ढाः परयोषिति ॥ ५३ ।
मातापित्रोरमी भक्ता अमी गोग्रहणे हताः ।
व्रते दाने जपे यज्ञे स्वाध्याये द्विजतर्पणे ॥ ५४ ।

नेह। **क्रोधः** पराभिभवेच्छा। **मात्सर्यं** परगुणासहिष्णुता। प्राप्तेऽर्थेऽप्रार्थना **लोभः**। अप्राप्तेऽर्थे प्रार्थना **कामः**। यद्वा लोभोऽर्थमात्रविषयः। कामः स्त्र्यादिविषयः। **अधृतिरधारणं** देहाद्यवसादे सत्यनुत्तम्भनम्। **भयं** भीः। **हिंसा** कायवाङ्मनोभिः प्राणिमात्रपीडा। **कुटिलता** अनृजुता वक्रतेति यावत्। **गर्वो**ऽभिमानः। **निन्दा** परापवादः। **असूया** गुणेषु दोषाविष्करणम्। **अशुचिरपवित्रः** ॥ ५१ ।

ब्रह्मरता वेदरताः। तपोधना अकिञ्चना विरक्ता इत्यर्थः ॥ ५२ ।

पातिव्रत्यरताः पतिव्रताया भावः पातिव्रत्यम्, तत्र रताः तद्धर्मयोगिन्य इति अर्थः। षण्ढाः नपुंसकाः। 'तृतीया प्रकृतिः षण्ढः क्लीबः पण्डो नपुंसकः' **इत्यमरः**। जितेन्द्रिया इत्यर्थः ॥ ५३ ।

गोग्रहणे हताः, गवां रक्षणे त्यक्तप्राणा इत्यर्थः ॥ ५४ ।

यहाँ पर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, अधीनता, (परवशता) भय, हिंसा, कुटिलता, अहंकार, निन्दा, असूया और अपवित्रता कहीं भी नहीं है ॥ ५१ ।

ये ब्राह्मणगण वेदाध्यायी, तपोनिष्ठ, तपोधन और एक मास, षण्मास (छह मास) एवं चातुर्मास्यादिक उत्तम व्रतों को करते हैं ॥ ५२ ।

तथा जो पतिव्रताधर्म का पालन करनेवाली स्त्रियाँ हैं और जो दूसरे ब्रह्मचारी लोग हैं, किं वा जो परायी स्त्रियों के लिए नपुंसक बने रहते हैं, हे देवगण ! देखो ये सब वे ही लोग हैं ॥ ५३ ।

ये लोग माता-पिता के भक्त हैं, ये सब गाय-गोहार में प्राण देनेवाले हैं और ये लोग व्रत, दान, जप, यज्ञ, स्वाध्याय, ब्राह्मण-तर्पण, भोजन ॥ ५४ ।

तीर्थे तपस्युपकृतौ सदाचारादिकर्मणि।
फलाभिलाषिणीबुद्धिर्न येषां ते जना अमी ॥ ५५॥
गायत्रीजाप्यनिरता अग्निहोत्रपरायणाः।
द्विमुखीगोप्रदातारः[१] कपिलादानतत्पराः ॥ ५६॥
निःस्पृहाः सोमपा ये वै द्विजपादोदपाश्च ये।
मृताः सारस्वते तीर्थे द्विजशुश्रूषकाश्च ये ॥ ५७॥
प्रतिग्रहसमर्था हि ये प्रतिग्रहवर्जिताः।
त एते मत्प्रिया विप्रास्त्यक्ततीर्थप्रतिग्रहाः ॥ ५८॥

गायत्रीति। द्विमुखी प्रसूयमाना गौः। तदुक्तम्—

यावद्वत्सस्य पादौ द्वौ मुखं योन्यां च दृश्यते।
तावद्गौः पृथिवी ज्ञेया यावद्गर्भं न मुञ्चति ॥ इति।

पृथिवी ज्ञेया पृथिवीतुल्या। समग्रायाः पृथिव्या दानेन यादृशं पुण्यं भवति, तादृशमस्या दानेनेत्यर्थः। शुक्ला सर्वशरीरे विशेषतः पादेषु च शुक्लवर्णा कपिला। तदुक्तम्—

सर्वतः शुक्लवर्णा या पादेषु च विशेषतः।
कपिला सा तु विज्ञेया सर्वपापप्रणाशिनी ॥

देशविशेषे पिङ्गलवर्णा कपिलेति प्रसिद्धः ॥ ५६॥

द्विजपादोदपाः ब्राह्मणानां चरणोदकपातारः। **सारस्वते** तीर्थे प्रभासे पृथूदके वा ॥ ५७॥

तीर्थयात्रा, तपस्या, परोपकार एवं सदाचार आदि सत्कर्मों में जिनकी बुद्धि कुछ फल पाने की अभिलाषा नहीं रखती, वे ही लोग हैं ॥ ५५॥

गायत्री के जप करने में तत्पर, अग्निहोत्र में दृढ़नियम, दो मुही अर्थात् प्रसव करती हुई गौओं के दाता, कपिला के दानकर्त्ता ॥ ५६॥

स्पृहा-रहित, सोमपानकर्त्ता, ब्राह्मणों के चरणोदक पीनेवाले, सारस्वत (प्रभास आदि) तीर्थ में मरे हुए, ब्राह्मणगण के शुश्रूषक ॥ ५७॥

दान लेने में समर्थ होने पर भी दान से पराङ्मुख और तीर्थ-प्रतिग्रह से दूर रहनेवाले ये सब ब्राह्मण मेरे बड़े ही प्यारे हैं ॥ ५८॥

---

१. पुंवद्भावाभाव आर्षः।

प्रयागे माघमासो यैरुषः स्नातोऽमलात्मभिः ।
मकरस्थे रवौ शुद्धास्ते इमे सूर्यवर्चसः ॥ ५९ ॥
वाराणस्यां पाञ्चनदे त्र्यहं स्नातास्तु कार्तिके ।
अमिते शुद्धवपुषः पुण्यभाजोऽतिनिर्मलाः ॥ ६० ॥
स्नात्वा तु मणिकर्णिक्यां प्रीणिता ब्राह्मणा धनैः ।
त एते सर्वभोगाढ्याः कल्पं स्थास्यन्ति मत्पुरे ॥ ६१ ॥
ततः काशीं समासाद्य तेन पुण्येन नोदिताः ।
विश्वेश्वरप्रसादेन मोक्षमेष्यन्त्यसंशयम् ॥ ६२ ॥
अविमुक्ते कृतं कर्म यदल्पमपि मानवैः ।
श्रेयोरूपं तद्विपाको मोक्षं जन्मान्तरेष्वपि ॥ ६३ ॥

उषसि स्नानः प्रातःस्नानेन नीतः समापित इति यावत् ॥ ५९ ॥

पञ्चनदमेव पाञ्चनदम् । स्वार्थेऽण् । पञ्चनद इति वा पाठः ॥ ६० ॥

कल्पं द्विपरार्धम् ॥ ६१ ॥

तद्विपाकस्तस्य कर्मणो विपाकः फलम् । किं तदाह ? मोक्षमिति । नपुंसकत्वमार्षम् । मोक्ष इत्येव वा पाठः ॥ ६३ ॥

जिन लोगों ने शुद्ध हृदय होकर माघमास अर्थात् सूर्य के मकर-राशि में जाने पर तीर्थराज प्रयाग में प्रातःकाल स्नान किया है, ये सब वे ही सूर्यसम तेजस्वी, पवित्र जन हैं ॥ ५९ ॥

वाराणसीपुरी के पंचनद (पंचगंगा) तीर्थ में जिन लोगों ने कार्तिक मास में तीन दिन भी स्नान किया है, ये सब परम निर्मल, पवित्र शरीर, वे ही पुण्यभागी जन हैं ॥ ६० ॥

जो लोग मणिकर्णिका में नहाकर बहुत-सा धन दानकर ब्राह्मणों को प्रसन्न कर सके हैं, ये सब वे ही लोग समस्त भोगों से पूर्ण रहकर कल्पभर मेरे लोक में वास करेंगे ॥ ६१ ॥

तदनन्तर उसी पुण्य के प्रभाव से (फिर) काशी में प्राप्त होकर विश्वेश्वर की दया से अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होंगे ॥ ६२ ॥

(कारण) जो मनुष्य अविमुक्त क्षेत्र में थोड़ा-सा भी सत्कर्म करते हैं, उनका पका हुआ फल दूसरे जन्म में मोक्ष ही होता है ॥ ६३ ॥

अहो वैश्वेश्वरे क्षेत्रे मरणादपि नो भयम् ।
यत्र सर्वे प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ।। ६४ ।
ब्राह्मणेभ्यः कुरुक्षेत्रे यैर्दत्तं वसु निर्मलम् ।
निर्मलाङ्गास्त एते वै तिष्ठन्ति मम सन्निधौ ।। ६५ ।
पितामहं समासाद्य गयायां यैः पितामहाः ।
तर्पिता ब्राह्मणमुखे तेषामेते पितामहाः ।। ६६ ।
न स्नानेन न दानेन न जपेन न पूजया ।
मल्लोकः प्राप्यते देवाः प्राप्यते द्विजतर्पणात् ।। ६७ ।
सोपस्कराणि वेश्मानि मुसलोलूखलादिभिः ।
यैर्दत्तानि सशय्यानि तेषां हर्म्याण्यमूनि वै ।। ६८ ।
ब्रह्मशालां कारयन्ति वेदमध्यापयन्ति च ।
विद्यादानञ्च ये कुर्युः पुराण[1] श्रावयन्ति च ।। ६९ ।

सोपस्कराणि गृहोपकरणसहितानि सभूषणानीति वा ॥ ६८ ।
ब्रह्मशाला वेदाध्ययननिमित्तं गृहम् । पुराणमिति वा पाठः ॥ ६९ ।

अहा ! विश्वनाथ की नगरी में मरने का कोई डर ही नहीं है; क्योंकि वहाँ पर तो सभी लोग मृत्यु को अपने प्यारे पाहुन (अतिथि) की नाईं जोहते ही रहते हैं ।

अहो ! शंभु के नगर में मरनहुते डर नाहिं ।
प्यारे पाहुन से जहाँ मृत्युहि जोहत चाहिं ॥ ६४ ।

जिन लोगों ने कुरुक्षेत्र में शुद्ध धन-दान किया है, ये सब निर्मल शरीरवाले वे ही लोग मेरे समीप में विराजमान हैं ॥ ६५ ।

गया-तीर्थ के पितामहेश्वर में पहुँच कर जिन्होंने ब्राह्मण के मुख में (ब्रह्मक्षेत्र में) अपने पितामहों को तृप्त कर दिया है, ये सब उन्हीं के पितामह (पुरुखे) लोग हैं ॥ ६६ ।

हे देवगण ! यह मेरा लोक न तो स्नान से, न दान से, न जप से और न पूजा ही से प्राप्त हो सकता है, (तब) यदि मिलता है, तो केवल ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करनेसे ही ॥ ६७ ।

जिन लोगों ने मुसल, ओखरी और शय्या इत्यादि गृहस्थी की सामग्रियों सहित गृहों का दान किया है, ये सब उन्हीं की अटारियाँ हैं ॥ ६८ ।

जो लोग पाठशाला बनवाते, वेद पढ़वाते, विद्याओं का दान करते, पुराण की कथा सुनवाते ॥ ६९ ।

१. अत्र मलपाठो नोपलब्धः ।

पुराणानि च ये दद्युः पुस्तकानि ददत्यपि ।
धर्मशास्त्राणि ये दद्युस्तेषां वासोऽत्र मे पुरे ।। ७० ।

यज्ञार्थंञ्च विवाहार्थं व्रतार्थं ब्राह्मणाय वै ।
अखण्डं वासु ये दद्युस्तेऽत्र स्युर्वसुवर्चसः ।। ७१ ।

आरोग्यशालां यः कुर्याद्वैद्यपोषणतत्परः ।
आकल्पमत्र वसति सर्वभोगसमन्वितः ।। ७२ ।

मुक्तीकुर्वन्ति तीर्थानि ये दुष्टावरोधतः ।
ममावरोधे[1] ते मान्या औरसास्तनया इव ।। ७३ ।

विष्णोर्वा मम वा शम्भोर्ब्राह्मणा एव सुप्रियाः ।
तेषां मूर्त्या वयं साक्षाद्विचरामो महीतले ।। ७४ ।

अखण्डं वसु समग्रं धनम् । वसुवर्चसः अग्निवर्चसः ॥ ७१ ।

पुराणों का दान, धर्मशास्त्रों का दान अथवा अन्य पुस्तकों का दान करते हैं, यहां पर मेरे पुर में, वे ही लोग वास करते हैं ॥ ७० ।

जो कि ब्राह्मण को यज्ञ के अर्थ, विवाह के निमित्त अथवा व्रत-विधान के लिए धन देते हैं, वे यहां पर अग्नि के समान तेजस्वी बने रहते हैं ॥ ७१ ।

जो कोई वैद्य को जीवन-वृत्ति देकर आरोग्यशाला (अस्पताल) स्थापित करता है, वह सब भोगों से भरपूर होकर कल्पभर यहाँ पर वास करता है ॥ ७२ ।

जो लोग (कर आदि) दुष्ट रुकावटों से अथवा दुष्टों के कुशासन से तीर्थों को छुड़ा देते हैं, मुक्ति दिला देते हैं, वे यहाँ पर मेरे अन्तःपुर में औरस पुत्र के समान माननीय होते हैं ॥ ७३ ।

ब्राह्मण ही विष्णु के, शिव के और मेरे बड़े प्यारे हैं; (क्योंकि) उन्हीं की मूर्ति द्वारा हम सब महीतल पर साक्षात् विचरण करते हैं ॥ ७४ ।

---

१. अन्तःपुरे ।

ब्राह्मणाश्चैव गावश्च कुलमेकं द्विधाकृतम् ।
एकत्र मन्त्रास्तिष्ठन्ति हविरेकत्र तिष्ठति ॥ ७५ ॥

ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थं निर्मितं सार्वभौमिकम् ।
येषां वाक्योदकेनैव शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः ॥ ७६ ॥

गावः पवित्रमतुलं गावो मङ्गलमुत्तमम् ।
यासां खुरोत्थियो रेणुर्गङ्गावारिसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

शृङ्गाग्रे सर्वतीर्थानि खुराग्रे सर्वपर्वताः ।
शृङ्गयोरन्तरे यस्याः साक्षाद्गौरी महेश्वरी ॥ ७८ ॥

दीयमानां च गां दृष्ट्वा नृत्यन्ति प्रपितामहाः ।
प्रीयन्ते ऋषयः सर्वे तुष्यामो दैवतैः सह ॥ ७९ ॥

एकं कुलम्, एकः फलसाधनसमुदायः ॥ ७५ ॥

महेश्वरी ब्रह्मादीनां नियन्त्री । गौरीमहेश्वराविति वा पाठः ॥ ७८ ॥

ब्राह्मण और गौ—ये दोनों एक ही कुल के दो भाग किये गये हैं; (क्योंकि) एक में तो मन्त्रों की स्थिति है और दूसरे में हवि (घी) रहता है ।

एक हि कुल की शाख दो, ब्राह्मण औरहु गाय ।
रहैं एक में मन्त्र सब, अनतहि हवि ठहराय ॥ ७५ ॥

ब्राह्मण लोग ही सार्वभौमिक जंगम तीर्थ बनाये गये हैं, कारण, उन्हीं लोगों के वचनरूप जल से मलिनजन शुद्ध होते हैं ॥ ७६ ॥

गायें परम पवित्र होती हैं, गायों के समान कोई उत्तम मंगल नहीं है; क्योंकि उनके खुर की उड़ी हुई धूलि गंगाजल के समान (पवित्र) होती है ॥ ७७ ॥

उनके शृंग पर समग्र तीर्थ, खुर के अग्रभाग में समस्त पर्वत, और दोनों सींगों के बीच में साक्षात् महेश्वरी गौरी वास करती हैं ॥ ७८ ॥

गौ का दान होते देखकर दाता के पितरगण हर्ष से नाचने लगते हैं, ऋषि लोग प्रसन्न हो जाते हैं और सब देवताओं के साथ हम लोग भी सन्तुष्ट होते हैं ॥ ७९ ॥

रोरूयन्ते च पापानि दारिद्र्यं व्याधिभिः सह ।
धात्र्यः[1] सर्वस्य लोकस्य गावो मातेव सर्वथा ।। ८० ।
गवां स्तुत्वा नमस्कृत्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणाम् ।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ।। ८१ ।
या लक्ष्मीः सर्वभूतानां या देवेषु व्यवस्थिता ।
येन रूपेण सा देवी मम[2] पापं व्यपोहतु ।। ८२ ।
विष्णोर्वक्षसि या लक्ष्मीः स्वाहा चैव विभावसोः ।
स्वधा या पितृमुख्यानां सा धेनुर्वरदा सदा ।। ८३ ।
गोमयं यमुना साक्षाद् गोमूत्रं नर्मदा शुभा ।
गङ्गा क्षीरं तु यासां वै किं पवित्रमतः परम् ।। ८४ ।
गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।
यस्मात्तस्माच्छिवं मे स्यादिह लोके परत्र च ।। ८५ ।

विभावसोरग्नेः ॥ ८३ ।

परम दरिद्रता और व्याधियों के सहित पापगण रोने (अत्यन्त रोदन करने) लगते हैं। सब लोगों का पालन करने वाली गायें सर्वथा माता के ही समान हैं ॥ ८० ।

जो कोई गौओं की स्तुति, प्रणाम, प्रदक्षिणा करता है, उसे सप्तद्वीपा वसुन्धरा की प्रदक्षिणा करने का फल मिल जाता है ॥ ८१ ।

जो सब भूतों की लक्ष्मी है और जिसकी व्यवस्था (गिनती) देवताओं में की गयी है, वह धेनुरूपा देवी मेरे पापों को दूर करे ॥ ८२ ।

जो लक्ष्मी विष्णु के वक्षस्थल पर रहती है, जो अग्नि देव की स्वाहा है एवं जो पितृप्रधानों की स्वधारूपा है, वही धेनु (हम लोगों को) सदेव वरदान करे ॥ ८३ ।

जिनका गोमय (गोबर) साक्षात् यमुना है, मूत्र पवित्र नर्मदा के समान है एवं जिनका दुग्ध गंगा के सदृश है, उनसे बढ़कर और क्या पवित्र हो सकता है ? ॥ ८४ ।

जिस कारण से गौओं के अंगों में चौदहों भुवन वास करते हैं, उसी कारण से (गौओं के द्वारा) इस लोक और परलोक में मेरा कल्याण हो ॥ ८५ ।

---

१. पोषयित्र्यः । २. दातुः पापं व्यपोहतोति पुस्तकान्तरे पाठः ।

इति मन्त्रं समुच्चार्य धेनुर्वा धेनुमेव वा ।
यो दद्याद्द्विजवर्याय स सर्वेभ्यो विशिष्यते ॥ ८६ ।
मया च विष्णुना सार्धं शिवेन च महर्षिभिः ।
विचार्य गोगुणान्नित्यं प्रार्थनेति विधीयते ॥ ८७ ।
गावो मे पुरतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥ ८८ ।
नीराजयति योऽङ्गानि गवां पुच्छेन भाग्यवान् ।
अलक्ष्मीः कलहो रोगास्तस्याङ्गाद्यान्ति दूरतः ॥ ८९ ।
गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः ।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही ॥ ९० ।
मम लोकात् परो लोको वैकुण्ठ इति गीयते ।
तस्योपरिष्टात् कौमार उमालोकस्ततः परम् ॥ ९१ ।

नीराजयति प्रोञ्छति मार्जयतीत्यर्थः । अङ्गानि स्वाङ्गानि ॥ ८९ ।

जो कोई इस मन्त्र का उच्चारण करके अनेक अथवा एक भी गोदान (गौ का दान) उत्तम ब्राह्मण को कर देता है, वह सब लोगों में विशेष समझा जाता है ॥ ८६ ।

मैं, विष्णु, शिव और महर्षियों के सहित गौओं के गुणों को विचार कर नित्य ही यह प्रार्थना करता रहता हूँ ॥ ८७ ।

गायें मेरे सन्मुख रहें, गायें मेरे पीछे रहें, गायें मेरे हृदय में रहे और मैं गौओं ही के बीच में वास करूँ ॥ ८८ ।

जो भाग्यवान् गौओं की पूँछ से अपने शरीर को पोंछता है (मार्जित करता है), उसके अंगों से दरिद्रता, कलह और रोग दूर हो जाते हैं ॥ ८९ ।

गौ, ब्राह्मण, वेद, सती स्त्री, सत्यवादी पुरुष, निर्लोभी और दानशील, इन्हीं सातों के भरोसे पृथिवी थमी रहती है ॥ ९० ।

मेरे इस लोक के ऊपर जो लोक है, वह वैकुण्ठ कहा जाता है। उसके ऊपर कुमार लोक है। उसके भी ऊपर उमा लोक है ॥ ९१ ।

शिवलोकस्तदुपरि गोलोकस्तत्समीपतः ।
गोमातरः सुशीलाद्यास्तत्र सन्ति शिवप्रियाः ॥ ९२ ।
गवां शुश्रूषका ये च गोप्रदाये च मानवाः ।
एषामन्यतमे लोके ते स्युः सर्वसमृद्धयः ॥ ९३ ।
यत्र क्षीरवहा नद्यो यत्र पायसकर्दमाः ।
न जरा बाधते यत्र तत्र गच्छन्ति गोप्रदाः ॥ ९४ ।
श्रुति-स्मृति-पुराणज्ञा ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ।
तदुक्ताचारचरणा इतरे नामधारकाः ॥ ९५ ।
श्रुतिस्मृती तु नेत्रे द्वे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
श्रुति-स्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना ॥ ९६ ।
पुराणहीनाद्धृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ ।
श्रुतिस्मृत्युदितो धर्मः पुराणे परिगीयते[1] ॥ ९७ ।

एषां सत्यलोकादि गोलोकान्तानाम् ॥ ९३ ।

उसके उपरान्त शिवलोक है । उसके पास में गोलोक है । वहाँ पर जो सुशीला आदि गोमाताएँ हैं । वे महादेव को बहुत ही प्रिय हैं ॥ ९२ ॥

गौओं की सेवा करनेवालों तथा गौओं के दाता मनुष्य इन्हीं लोकों के मध्य से किसी एक लोक में सब समृद्धियों से परिपूर्ण होकर वास करते हैं ॥ ९३ ।

जहाँ पर दूध की धारा बहानेवाली नदियाँ हैं और जहाँ पायस (खोआ) का कीचड़ बना रहता है, फिर जहाँ पर जरा (बुढ़ापा) कुछ बाधा नहीं दे सकती । गोदान करनेवाले लोग वहाँ पर ही जाते हैं ॥ ९४ ।

श्रुति, स्मृति और पुराण के अभिज्ञ तथा तदनुसार आचार-निर्वाह करनेवाले ही यथार्थ ब्राह्मण कहे जाते हैं और दूसरे तो केवल नाममात्र के ब्राह्मण हैं ॥ ९५ ।

वेद और धर्मशास्त्र—ये दोनों तो नेत्र और पुराण हृदय कहलाता है । अतएव जो ब्राह्मण श्रुति-स्मृति से हीन होता है, वह अन्धा और जो एक से रहित हो वह काना है ॥ ९६ ।

पर पुराण से अनभिज्ञ हृदयशून्य जन से काने और अन्धे दोनों ही अच्छे हैं, (कारण) श्रुति-स्मृति दोनों के कथित धर्म पुराणों में कहे जाते हैं ॥ ९७ ।

---

१. 'परिपठ्यते' इत्यपि क्वचित्पाठः ।

तद्ब्राह्मणाय[1] गौर्देया सर्वत्र सुखमिच्छता ।
न देया द्विजमात्राय दातारं सोऽप्यधो नयेत् ॥ ९८ ।
यस्य धर्मेऽस्ति जिज्ञासा यस्य पापाद् भयं महत् ।
श्रोतव्यानि पुराणानि धर्ममूलानि तेन वै ॥ ९९ ।
चतुर्दशसु विद्यासु पुराणं दीप उत्तमः ।
अन्धोऽपि न तदालोकात्संसाराब्धौ क्वचित्पतेत् ॥ १०० ।
श्रोतव्यानि पुराणानि वस्तव्यं जाह्नवी तटे ।
तर्पणीया द्विजा नित्यं मम लोकेप्सुभिः सदा ॥ १०१ ।
इत्युद्देशान्मया ख्याता [2]सत्यलोकव्यवस्थितिः ।
अभयं यद् भयार्तानां न भेतव्यं च हे सुराः ॥ १०२ ।
स्पर्धते मेरुणा विन्ध्यो ब्रध्नाध्वपरिरोधकृत् ।
तदर्थमागता यूयं तदुपायं दिशामि वः ॥ १०३ ।

उपसंहरति । इत्युद्देशादिति । उद्देशात् संक्षेपात् । भयार्तानां भीतिपीडितानां यदभयम्, तद्व्याख्यानमित्यर्थः ॥ १०२ ।

एवं काशीप्रकर्षपुरःसरान् धर्मानुक्त्वा देवागमनकारणं स्वयमेव वर्णयन् सूर्यमार्गपरिरोधाभावोपायं प्रतिजानीते । स्पर्धत इति ॥ १०३ ।

अतएव सर्वत्र सुखाभिलाषी, जन को उचित है कि ऐसे ही श्रुति-स्मृति-पुराणज्ञ (पूर्वोक्त) उत्तम ब्राह्मण को गोदान करें, नामधारी द्विज को गायें नहीं देनी चाहिएं; क्योंकि ऐसा करने से दाता की भी अधोगति होती है ॥ ९८ ।

जिसकी इच्छा धर्म जानने की हो किंवा जिसे पाप से बड़ा डर लगता हो, उसे सब धर्मों की जड़ पुराणों को अवश्य सुनना चाहिए ॥ ९९ ।

चतुर्दश विद्याओं में पुराण ही सर्वोत्तम दीपक हैं; क्योंकि उनके प्रकाश से अन्धा भी संसाररूपी समुद्र में कभी नहीं गिरने पाता ॥ १०० ।

जो लोग मेरे लोक की प्राप्ति चाहते हों, उनको पुराणों का श्रवण, गङ्गा के तट पर वास और ब्राह्मणों को सन्तुष्ट अवश्य करना चाहिए ॥ १०१ ।

हे देवगण ! यह तो मैंने प्रसङ्गवश इस सत्यलोक की व्यवस्था कह सुनायी, यह तो भयातुर लोगों के लिए एक निर्भय स्थान है, अब तुम लोग कुछ भी मत डरो ॥ १०२ ।

विन्ध्यपर्वत सुमेरु से स्पर्द्धा करके सूर्य का मार्ग रोके हुए है, उसी के लिए तुम लोग आये हो । अतः मैं उसका उपाय तुम सबको बतला देता हूँ ॥ १०३ ।

---

१. स श्रुतिस्मृतिपुराणज्ञो यो ब्राह्मणस्तस्मै । २. लोकस्य च स्थितिरित्यपि क्वचित्पाठः ।

ब्रह्मोवाच—

अस्त्यगस्त्यस्तप्यमानस्तप उग्रं महातपाः ।
मैत्रावरुणिराधाय चित्तं विश्वेश्वरे विभौ ॥ १०४ ।
अविमुक्ते महाक्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिहेतुके ।
तारकस्योपदेशार्थं विश्वेशाधिष्ठिते स्वयम् ॥ १०५ ।
याचध्वं तत्र गत्वा तं स वः कार्यं विधास्यति ।
तेनैकदा विना लोका वातापील्वलभक्षणात् ॥ १०६ ।

अस्तीति । मित्रावरुणयोरपत्यं मैत्रावरुणिः । उर्वशीदर्शनात् स्कन्नं रेतस्ताभ्यां कुम्भे निषिक्तम्, तस्मादगस्त्यो जज्ञे । तथा च श्रुतिः—कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानमिति । तत्र मैत्रावरुणिरित्युक्ते वसिष्ठेऽपि गच्छति, तद्वारणार्थमगस्त्य इत्युक्तम् । तावत्युक्ते अङ्गानि निष्क्रियाणि गात्राणि स्त्यायति सङ्घातयतीत्यगस्त्यः, अगस्त्यनामा वा कश्चित्तत्रातिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणार्थमुक्तं मैत्रावरुणिरित ॥ १०४ ।

तारकस्य प्रणवस्य षडक्षरश्रीराममन्त्रराजस्य वा ॥ १०५ ।

वो युष्माकम् । कथमृषिमात्रस्य तादृग् दुर्घटकार्यकरणसामर्थ्यमित्याशङ्कायामाह । तेनैकदेति । वातापील्वलभक्षणाद् इल्वलस्य सम्बन्धी वातापिर्वातापील्वलः राजदन्तादित्वात्पूर्वनिपातः । तस्य भक्षणात् । तथा चोक्तम्—वातापिर्भक्षितो येन समुद्रः शोषितः पुरा । यद्वा वातापिश्च इल्वलश्च तयोर्भक्षणात् । तत्र वातापेर्भक्षणं शरीरतः, इल्वलस्य भक्षणं त्वर्थतः । मनुष्यान् भक्षयिष्यन्ति ह्यर्थतो न शरीरत इत्यादौ धननाशेऽपि भक्षण शब्दप्रयोगात् । यद्वा भ्रातुर्भक्षणात् सोऽपि भक्षित इति तथोक्तम् । यद्वा वातापील्वलभक्षणात् तयोर्मारणादित्यर्थः ।

तदुक्तं रामायणे अरण्यकाण्डे—

अगस्त्येन ततः क्रोधादागत्य भ्रातुराश्रमम् ।
अनुभूयैकदा श्राद्धं भक्षितः स निशाचरः ॥
ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्वा हस्तावसेचनम् ।
भ्रातरं निष्क्रमेत्युच्चैरिल्वलः सोऽभ्यभाषत ॥

ब्रह्मा ने कहा—

जहां पर भगवान् विश्वेश्वर तारक-मन्त्र का उपदेश करने को स्वयं विराजमान रहते हैं, सब किसी की मुक्ति के एकमात्र कारण, उसी अविमुक्त महाक्षेत्र में मित्रावरुण के पुत्र परम तपस्वी अगस्त्यमुनि विश्वेश्वर में चित्त लगा कर घोर तपस्या कर रहे हैं ॥ १०४-१०५ ।

वहां जाकर उनसे प्रार्थना करो । वे ही तुम लोगों के कार्य को सिद्ध करेंगे । एक बार वातापी और इल्वल नामक राक्षसों का भक्षण कर, वे समस्त लोकों की रक्षा कर चुके हैं ॥ १०६ ।

अतिमित्रं तत्र तेजो मित्रावरुणजे मुनौ ।
तदा प्रभृति लोकेषु [2]कोऽगस्त्यान्नैव बिभ्यति ॥ १०७ ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे वेधास्तेऽपि प्रमुदिताननाः ।
देवाः परस्परं प्रोचुरहो धन्यतमा वयम् ॥ १०८ ।
प्रसङ्गतोऽपि द्रष्टव्यौ काशीकाशीपती शिवौ ।
अहो अहोभिर्बहुभिः फलितो नो मनोरथः ॥ १०९ ।
उत्फुल्लपद्मनयना निर्मिताः सुकृतार्थिनः ।
तावेव चरणौ धन्यौ काशीमभिप्रयायिनौ ॥ ११० ।

तं तथाहूयमानन्तु राक्षसं मेषरूपिणम् ।
अब्रवीत्प्रहसञ्छ्रीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥
कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ।
भ्रातुस्ते मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ॥
तस्यैतद्वचनं श्रुत्वा भ्रातुर्मरणशङ्कितः ।
प्रधर्षयितुमारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः ॥
अभ्यद्रवदगस्त्यन्तु मुनिना दीप्ततेजसा ।
चक्षुषा दीप्तकल्पेन निर्दग्धः स पपात ह ॥

न चैवं सति रामायण-भारतयोः परस्परविरोधः, कल्पभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः । तथान्यत्रापि ॥ १०६ ।

अतिमित्रं सूर्यमतिक्रम्य वर्तत इति तत्तेजस्तथा ॥ ७ ।

उत्फुल्लपद्मनयनाः सुराः काशीं समाययुरिति तृतीयेनान्वयः । उत्फुल्लपद्मानीव नयनानि येषां ते तथा । कथम्भूताः, निर्मिताः निःशेषेण मितं काशीकाशीपती द्रष्टव्यावित्यादि चिन्तितं यैः, ते तथा । काशीगमने कृतसम्यङ्निश्चया इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । **तावेवेति** ॥ ११० ।

वहाँ पर मित्रावरुण-नन्दन अगस्त्य मुनि में सूर्य से भी अधिक तेज है । तभी से लोक में अगस्त्य मुनि से कौन नहीं भय खाता है ? ॥ १०७ ।

इतना कहकर ब्रह्मा जी अन्तर्धान हो गये और वे सब देवता लोग प्रसन्न मुख होकर परस्पर कहने लगे कि, अहो ! हम लोग परम धन्य हैं ॥ १०८ ।

वे (देवगण) प्रसङ्ग वश काशी और काशीपति, महादेव-पार्वती का दर्शन पा जावेंगे—"अहो ! बहुत दिनों पर हम सबका मनोरथ सफल हुआ ॥ १०९ ।

वे ही चरण धन्य हैं, जो काशी के लिए प्रस्थान करते हैं । आज हम लोगों ने ब्रह्मा जी की कही हुई इस कथा को सुना है, बस इसी के श्रवण करने का यह पुण्य है,

---

१. अत्र के इत्यपेक्षितमिति भाति ॥

येयं कथा श्रुताऽस्माभिर्वेधसा समुदीरिता ।।
तस्याः श्रवणजात्पुण्यात्प्राप्नुमस्त्वद्य काशिकाम् ।। १११ ।
एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्राप्यते पुण्यगौरवात् ।
एवं वदन्तो हृष्टास्याः सुराः काशीं समाययुः ।। ११२ ।

व्यास उवाच—

इदं पुण्यतमाख्यानं ये श्रोष्यन्तीह मानवाः ।
विधूय सर्वपापानि पुत्रदारसमान्विताः ।। ११३ ।
इह वंशं परिस्थाप्य भुक्त्वा सर्वसुखानि च ।
सत्यलोके चिरं स्थित्वा ततो यास्यन्ति शाश्वतम् ।। ११४ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे सत्यलोकवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।

प्राप्नुयुः प्राप्स्यामः ।। १११ ।
श्रोतृप्ररोचनार्थमाह इदमिति ।। ११३ ।
शाश्वतं कैवल्यम् ।। ११४ ।।

जो काशी को चल रहे हैं । जब बहुत भारी पुण्य रहता है, तभी एक कर्म से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं ।" इस प्रकार से काशी यात्रा के लिए दृढ़ संकल्प हो विकसित नयन-कमल, प्रसन्न-वदन, सुकृतार्थी देवगण परस्पर (आपस में) बात-चीत करते हुए काशी में जा पहुँचे ।। ११०-११२ ।।

व्यास जी ने कहा—

इस परम पवित्र कथा को जो मनुष्य सुनेंगे, वे इस लोक में समस्त सुखों को भोग, अपना वंश स्थापित कर, स्त्री-पुत्र के सहित समग्र पापों से छुटकारा पाकर, अन्त में चिरकाल पर्यन्त सत्यलोक में निवासकर, तदनन्तर शाश्वत (परम) पद को प्राप्त होंगे ।। ११३-११४ ।।

करहिं सत्य यहि लोक जे, तप जप व्रत उपवास ।
गोदानादिक ते लहहिं, सत्यलोक में वास ।। १ ।।

।। इति श्रीस्कन्दमहापुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां सत्यलोकवर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २ ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

सूत उवाच—

भगवन् भूतभव्येश सर्वज्ञानमहानिधे ।
अवाप्य काशीं गीर्वाणैः किमकारि वदाच्युत ॥ १ ।
अधीत्येमां कथां दिव्यां न तृप्तिमधियाम्यहम् ।
शेवधिस्तपसां देवैरगस्तिः प्रार्थितः कथम् ॥ २ ।
कथं विन्ध्योऽप्यवाप स्वां प्रकृतिं तादृगुन्नतः ।
तव वागमृताम्भोधौ मनो मे स्नातुमुत्सुकम् ॥ ३ ।
इति कृत्स्नं समाकर्ण्य व्यासः पाराशरो मुनिः ।
श्रद्धावते स्वशिष्याय वक्तुं समुपचक्रमे ॥ ४ ।

अगस्तेराश्रमपदे देवतानां समागमः ।
तस्य चाश्रममाहात्म्यं तृतीयेऽध्याय ईर्यते ॥

एवं वदन्तो हृष्टास्याः सुराः काशीं समाययुरित्युक्तं तत्र पृच्छति । **भगवन्निति**। अच्युत निर्विकार हे विष्णो[1] इति वा ॥ १ ।

न तृप्तिमधियामि अलं प्रत्ययं नाधिगच्छामि। तपसां शेवधिर्निधिः । यथा पद्मादिनिधिर्धननानामाश्रयः, तथा तपासामाश्रयः खनिरित्यर्थः ॥ २ ।

वागमृताम्भोधौ वाक्सुधासमुद्रे । उत्सुकमुत्कण्ठितम् ॥ ३ ।

कृत्स्नं समग्रम् । प्रश्नमिति वा पाठः । समुपचक्रमे उपक्रान्तवान् ॥ ४ ।

(देवताओं का अगस्त्य के आश्रम पर जाना)

सूत जी ने कहा—

"हे भगवन् ! आप भूत और भव्य के स्वामी, समस्त ज्ञानों के परमनिधि एवं साक्षात् अच्युतरूप हैं। देवताओं ने काशी में पहुँच कर क्या किया ? आप उसे कहें ॥ १ ।

इस दिव्य कथा के श्रवण करने से तो मेरी तृप्ति नहीं होती । देवताओं ने तपोनिधि अगस्त्य मुनि से क्यों प्रार्थना की ? ॥ २ ।

फिर वैसा ऊँचा विन्ध्याचल ही किस प्रकार से अपने पूर्वभाव को प्राप्त हुआ ? मेरा चित्त आपके वचनामृतरूपी समुद्र में स्नान करने को व्याकुल हो रहा है" ॥ ३ ।

पराशर मुनि के पुत्र भगवान् वेदव्यास इस प्रकार के सब (प्रश्नों) को सुनकर अपने परम श्रद्धाशील शिष्य सूत जी से (उत्तर) कहने लगे ॥ ४ ।

---

१. व्याससम्बोधनम् ।

पाराशर उवाच—

शृणु सूत महाबुद्धे भक्तिश्रद्धासमन्वितः ।
शुकवैशम्पायनाद्याः शृण्वन्त्वेते च बालकाः ॥ ५ ।
ततो वाराणसीं प्राप्य गीर्वाणाः समहर्षयः ।
अविलम्बं प्रथमतो मणिकर्ण्यां विधानतः ॥ ६ ।
सचैलमभिमज्ज्याथ कृतसन्ध्यादिसत्क्रियाः ।
सन्तर्प्य तर्प्यादिपि न् कुशगन्धतिलोदकैः ॥ ७ ।
तीर्थवासार्थिनः सर्वान् सन्तर्प्य च पृथक् पृथक् ।
रत्नैर्हिरण्यवासोभिरश्वाभरणधेनुभिः ॥ ८ ।

संसाराङ्गारे विपच्यमानान् संसारिणोऽज्ञान् करुणया शोचतीति शुकः । तदुक्तं भागवते—'संसारिणां करुणया ह पुराणगुह्यमिति' । यद्वा शुकवन्मनोज्ञं वचनं वक्तीति शुकः ।

तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते व्यासं प्रति भगवद्वचनम्—व्यास! त्वदीयतनयः शुकवन्मनोज्ञं ब्रूते वचः, भवतु तच्छुक एव नाम्ना ।

हर्म्ये न वत्स्यति तवापि न माययाऽसौ ।
स्पृष्टो यतो मम कथा हृदि मास्य शोकम् ॥ इति ।

तथा विगतं नामोच्चारणादेव शम्पायाः शतह्लदाया अयनं पतनं यस्य, स विशम्पायनः, स एव वैशम्पायनः । स्वार्थे तद्धितः । उक्तञ्च—

शम्पां शतह्लदामाहुरयनं पतनं यतः ।
विगतं पतनं यस्माद्वैशम्पायन इत्युत ॥ इति ।

तौ शुक-वैशम्पायनावाद्यौ येषां ते तथा । आद्यपदेन जातूकर्ण्यजैमिनिपैलसुमन्तूनां संग्रहः । शृण्वन्त्वन्ये महर्षय इति क्वचित्पाठः ॥ ५ ।

तर्प्यास्तर्पणीयाश्च ते आदिपितरस्तांस्तर्प्यादिपितॄन् सन्तर्प्य । तर्प्यान्देवपितॄनिति पाठेऽक्षराधिक्यमार्षम् । सन्तर्प्य विधिवद्दिव्यपितॄन् कुशतिलोदकैरिति क्वचित्पाठः ॥ ७ ।

रत्नैरित्यादिसप्रदक्षिणैरित्यन्तानां तृतीयान्तानां तीर्थवासार्थिनः सर्वान् सन्तर्प्य चेत्यनेनान्वयः । चकाराद्देवादीनामपि ॥ ८ ।

व्यास जी ने कहा—

"हे महाबुद्धे ! सूत ! तुम भक्ति और श्रद्धा से परिपूर्ण होकर (इसे) श्रवण करो और शुकदेव और वैशम्पायन आदि ये सब लड़के भी सुनें ॥ ५ ।

"तदनन्तर देवता लोग महर्षियों के साथ वाराणसी पुरी में पहुँचकर, पहले झटपट मणिकर्णिका में विधिपूर्वक सचैल स्नान करने के उपरान्त सन्ध्यादिक नित्य-कर्मों को कर, कुश, गन्ध, तिल और जल से देव-पितरों का तर्पण करके रत्न, सुवर्ण, वस्त्र, आवरण, घोड़ा, गौ, सोने-चाँदी के चित्र-विचित्र वर्तन, अमृत के समान स्वादिष्ट

विचित्रैश्च तथा पात्रैः स्वर्णरौप्यादिनिर्मितैः ।
अमृतस्वादुपक्वान्नैः पायसैश्च सशर्करैः ॥ ९ ।
सगोरसैरन्नदानैर्धान्यदानैरनेकधा ।
गन्धचन्दनकर्पूरैस्ताम्बूलैश्चारुचामरैः ॥ १० ।
सतूलैर्मृदुपर्य्यङ्कैर्दीपिकादर्पणासनैः ।
शिविकादासदासीभिर्विमानैः पशुभिर्गृहैः ॥ ११ ।
चित्रध्वजपताकाभिरुल्लोचैश्चन्द्रचारुभिः ।
वर्षाशनप्रदानैश्च गृहोपस्करसंयुतैः ॥ १२ ।
उपानत्पादुकाभिश्च यतिनश्च तपस्विनः ।
योग्यैः पटदुकूलैश्च विविधैश्चित्ररल्लकैः ॥ १३ ।
दण्डैः कमण्डलुयुतैरजिनैर्मृगसम्भवैः ।
कौपीनैरुच्चमञ्चैश्च परिचारककाञ्चनैः ॥ १४ ।

अमत्रैः पात्रैः। पात्रामत्रं च भाजनमित्यमरः ॥ ९ ।

मृदुपर्य्यङ्कैः कोमलखट्वाभिः। मृदुत्वे हेतुमाह। सतूलैर्हंसतूलिकाभिः सहितैरित्यर्थः। यद्वा मृदुपर्य्यङ्कैः सूत्रादिनिर्मितपर्य्यङ्कैः। शिविका नरयानम्। विमाने रथैः ॥ ११ ।

उल्लोचैश्चन्द्रातपैर्वितानैरिति यावत्। '**अस्त्री वितानमुल्लोचः**' इत्यमरः ॥ १२।

उपानत्पादुकाभिश्च, चर्मनिर्मिता उपानहः, काष्ठनिर्मिताः पादुकास्ताभिश्च। च शब्दाः समुच्चयार्थाः। पटदुकूलैर्नूतनक्षौमैः। क्षौमं दुकूलमित्यमरः। पट्टदुकूलैरिति क्वचित्पाठः, स चिन्त्यः। चित्ररल्लकैश्चित्रकम्बलैः। समौ रल्लककम्बलावित्यमरः ॥ १३।

अजिनैर्मृगचर्मभिः। उच्चमञ्चैरुन्नतकाष्ठनिर्मितखट्वादिकैः। परिचारककाञ्चनैः शुश्रूषकाणां देयैः स्वर्णैः। परिचारिकेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १४।

पकवान, मिश्री मिली हुई खोवा की मिठाईयाँ, गोरस के सहित अन्न, अनेक प्रकार के धान्य, गन्ध, चन्दन, कपूर, ताम्बूल, सुन्दर चामर, तोशक के साथ पलंग, दीयठ, दर्पण, आसन (बिछौना), पालकी, दास-दासी, विमान (तामजान), पशु, गृह, चित्र, ध्वजा, पताका, चन्द्र के समान सुन्दर चंदवा, गृहस्थी की सामग्रियों के साथ वर्षभर के भोजन की वस्तुएं, जूता (पनही) और खड़ाऊँ इत्यादि समस्त वस्तुओं के दान से समस्त तीर्थवासियों को पृथक्-पृथक् संतुष्ट कर, संन्यासी और तपस्वी लोगों को भी यथायोग्य पटवस्त्र, विविध भाँति के कम्बल, दण्ड, कमण्डलु, मृगछाला, कोपीन, ऊँची चौकी एवं सेवकों के वेतनार्थ सुवर्ण, मठ, विद्यार्थियों के लिए अन्न, अतिथियों के हेतु बहुत धन, पुस्तकों की ढ़ेर, लेखकों की जीवन-वृत्ति एवं बहुत से औषधालय, अनेक सदावर्त्त, गर्मी

मठैर्विद्यार्थिनामन्नैरतिथ्यर्थं महाधनैः ।
महापुस्तकसम्भारैर्लेखकानाञ्च जीवनैः ॥ १५ ॥
बहुधौषधदानैश्च सत्रदानैरनेकशः ।
ग्रीष्मे प्रपार्थद्रविणैर्हेमन्तेऽग्निष्टिकेन्धनैः ॥ १६ ॥
छत्राच्छादनिकाद्यर्थे वर्षाकालोचितैर्बहु ।
रात्रौ पाठप्रदीपैश्च पादाभ्यञ्जनकादिभिः ॥ १७ ॥
पुराणपाठकांश्चापि प्रतिदेवालयं धनैः ।
देवालये नृत्यगीतकरणार्थैरनेकशः ॥ १८ ॥
देवालयसुधाकार्यैर्जीर्णोद्धारैरनेकधा ।
चित्रलेखनमूल्यैश्च रङ्गमालादिमण्डनैः ॥ १९ ॥
नीराजनैर्गुग्गुलुभिर्दशाङ्गादिसुधूपकैः ।
कर्पूरवर्त्तिकाद्यैश्च देवार्चार्थैरनेकशः ॥ २० ॥

महापुस्तकसम्भारैरनेकैः पुस्तकसमूहैः । नानापुस्तकसामग्रीभिरिति वा ॥१५॥
सत्रदानैर्वस्त्रदानैर्यज्ञदानैर्धनदानैरिति वा । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने धनेऽपि च' इत्यमरः । हेमन्तेऽग्निष्टिकेन्धनैः शिशिरर्तौ शीतापनोदाय लोहमृदादिनिर्मितान्यग्न्याधारपात्राणि अग्निष्टिकास्ताश्च तास्वग्निकरणार्थानीन्धनानि काष्ठानि च तैः ॥ १६ ॥

आच्छादनिकं छदिर्गृहादिकम् ॥ १७ ॥

देवालयसुधाकार्यैः देवप्रसादचूर्णदानैः। रङ्गमालादिमण्डनैः, रङ्गमाला रङ्गसमूहाः, आदिशब्देन सम्मार्जनादीनि गृह्यन्ते। तैर्यानि मण्डनानि, तान्येव वा मण्डनानि, तैः। मण्डलैरिति पाठे मण्डलं सर्वतोभद्रादि ॥ १९ ॥

नीराजनैः आरार्तिकैः बहुवर्तियुक्तदीपैरित्यर्थः । तदुक्तं विष्णुभक्तिरहस्ये—

बहुवर्तिसमायुक्तं ज्वलन्तं केशवोपरि ।
कुर्यादारार्तिकं यस्तु कल्पकोटिदिवं वसेत् ॥ इति ।

में पौसरा के लिए धन, जाड़ा में अंगीठी और इन्धन आदि के लिए द्रव्य, वर्षा ऋतु के योग्य (छाता,) छावनी और छप्पर, रात्रि में पढ़ने के लिए दीपक एवं पाँव की लतरी इत्यादि के व्यय से सन्तुष्ट कर प्रत्येक देव-मन्दिरों में पुराण बाँचने वालों को प्रचुर धन से सन्तोषित कर, देवालयों में अनेक भाँति के नृत्य-गीतादिक की व्यवस्था कर, बहुतेरे देवस्थानों को चूने से छुहवा कर, अनेकों का जीर्णोद्धार कराकर, कहीं पर चित्रकारी लिखने का मूल्य देकर और रंगमाला आदि से सजावट कराकर, आरती, गुग्गुल इत्यादि दशांग, धूप, कर्पूर, वत्ती एवं अनेक भाँति की देव-पूजन की सामग्रियाँ, पञ्चामृत

पञ्चामृतानां स्नपनैः सुगन्धस्नपनैरपि ।
देवार्थं मुखवासैश्च देवोद्यानैरनेकशः ॥ २१ ।
महापूजार्थमाल्यादिगुम्फनार्थैस्त्रिकालतः ।
शङ्खभेरीमृदङ्गादिवाद्यनादैः शिवालये ॥ २२ ।
घण्टागडुककुम्भादिस्नानोपस्करभाजनैः ।
श्वेतैर्मार्जनवस्त्रैश्च सुगन्धैर्यक्षकर्दमैः ॥ २३ ।
जपहोमैः स्तोत्रपाठैः शिवनामोच्चभाषणैः ।
रासक्रीडादिसंयुक्तैश्चलनैः सप्रदक्षिणैः ॥ २४ ।

आरार्तिकैरिति वा पाठः । **दशाङ्गादिसुधूपकैरिति—**

षड्भागकुष्ठो द्विगुणो गुडश्च लाक्षात्रयं पञ्चनखस्य भागाः ।
हरीतकीसर्जरसश्च मांसं भागत्रयं चैव तु शैलजस्य ॥
घनस्य चत्वारि पुरस्य चैको दशाङ्गधूपः कथितो मुनीन्द्रैः ॥

इत्यनेनोक्तो दशाङ्गधूप आदिर्येषां ते च ते सुधूपाश्च तैः । **कर्पूरवर्तिकाद्यैरिति** । कर्पूरं वर्तिका यस्य स कर्पूरवर्तिकः, आदौ भव आद्यः, कर्पूरवर्तिको दीप आद्यो येषां ते दीपास्तथा तैः । कर्पूरवर्तिकार्थैरिति क्वचित्पाठः । देवार्चार्थैर्देवपूजानिमित्तेधनैः ॥ २० ।

पञ्चामृतानां स्नपनैर्घृतदुग्धदधिमधुशर्कराणां स्नानैः ॥ २१ ।

गुम्फनार्थैः ग्रन्थनार्थद्रविणैः । 'गुम्फनं ग्रन्थसन्दर्भे दर्पे गुम्फनमिष्यते' इति **मेदिनीकारः** ॥ २२ ।

गडुकं भृङ्गारम् अङ्गुलीयकं वा । 'गडुकं त्वङ्गुलीयकम्' **इत्युत्पलिनी** । मड्डुकेति पाठे मड्डुको वाद्यभेदः । तथा च माघे—'जग्मुर्जलानि जलमड्डुकवाद्यवल्गु वलद्घनस्तनतटस्खलितानि मन्दम्' इति । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिण्डिमझर्झराः' इति चामरः । यक्षकर्दमैः कर्पूरागुरुकस्तूरीकंकोलैः । 'कर्पूरागुरुकस्तूरीकंकोलैर्यक्षकर्दमः' इत्यमरः ॥ २३ ।

और सुगन्धित जलों से स्नान, देवताओं के हेतु मुखवास एवं पूजार्थ पुष्प-वाटिका, त्रिकाल की महापूजा में माला आदि गूँथने के लिए धन-दान, शिवालय में शङ्ख, नगाड़ा, मृदङ्ग इत्यादि बाजे, घंटा, गडुआ, घड़ा इत्यादि स्नान के उपयुक्त पात्र, श्वेत रंग के स्वच्छ पोछने के वस्त्र, सुगन्धित यक्षकर्दम, जो कपूर, कस्तूरी, अगर और कङ्कोल से बनता है, जप, होम, स्तोत्रपाठ, उच्च स्वर से महादेव का नामोच्चरण एवं रासक्रीड़ा (रुद्र-ताण्डव) के सहित चलने और प्रदक्षिणा इत्यादि विविध भाँति के क्रिया-कलापों में पांच रात्रि का वास और बहुतेरी तीर्थ-यात्राओं को पूरा कर भगवान् विश्वनाथ को

एवमादिभिरुद्दण्डैः क्रियाकाण्डैरनेकशः ।
पञ्चरात्रमुषित्वा तु कृत्वा तीर्थान्यनेकशः ॥ २५ ॥
दीनानाथांश्च सन्तर्प्य नत्वा विश्वेश्वरं विभुम् ।
ब्रह्मचर्यादिनियमैस्तीर्थमेवं प्रसाध्य च ॥ २६ ॥
पुनः पुनर्विश्वनाथं दृष्ट्वा स्तुत्वा प्रणम्य च ।
जग्मुः परोपकारार्थमगस्तिर्यत्र तिष्ठति ॥ २७ ॥
स्वनाम्ना लिङ्गमास्थाप्य कुण्डं कृत्वा तदग्रतः ।
शतरुद्रियसूक्तेन जपन्निश्चलमानसः ॥ २८ ॥
तं दृष्ट्वा दूरतो देवा द्वितीयमिव भास्करम् ।
ज्वलज्ज्वलनसंकाशैरङ्गैः सर्वत्र सोज्ज्वलम् ॥ २९ ॥

उपसंहरति । एवमादिभिरिति । उद्दण्डैर्नानाप्रकारैः क्रियाकाण्डैः कर्मकाण्डप्रतिपादितैः कर्मभिरित्यर्थः । यद्वा क्रियाकाण्डैः क्रियासमूहैरित्यर्थः । पञ्चरात्रमुषित्वेति । पञ्चरात्रेण यावान् कालो भवति, तावन्तं कालं स्थित्वेत्यर्थः । यद्वा काश्यां रात्रिदिनविभागस्य दिविष्ठचन्द्रसूर्याभ्यां विनैवेश्वरेण कृतत्वाद्यथाश्रुत एवार्थः । ताभ्यां दिनरात्रिविभागप्रतीतिस्तु भूम्यां काशी तिष्ठतीति प्रतीतिवद्भ्रान्तैव । अत एव विन्ध्योन्नतेः सर्वस्मिन् जगति भयद्रुतेऽपि काशीस्थानां भयद्रवणाद्यभावाद्द्वागमनतीर्थवासार्थिसन्तर्पणादिकं च सर्वं सङ्गच्छते ।

तथा चात्रैव स्मृत्यर्थापत्तिः—

क्षुब्धेषु तेषु वीरेषु चकम्पे भुवनत्रयम् ।
दुर्वाससश्च कोपाग्निज्वालाभिर्व्याकुलीकृतम् ॥
तदा विविशतुः काश्यां सूर्याचन्द्रमसावपि ।
न गणैरकृतानुज्ञौ तत्तेजः शमितप्रभौ ॥ इति ।

अनेकश आवृत्यावृत्य बहुवारानित्यर्थः ॥ २५ ।

अगस्तिरिति । अगस्तिः स्यादगस्त्यश्चेति द्विरूपकोशादिकारान्तोऽपि ॥ २७ ।

तं दृष्ट्वेति । प्रथमतस्तमगस्त्यं दूरतो दृष्ट्वा पश्चाद् गीर्वाणा देवा मुनेरुटजं प्राङ्गणं ददृशुरिति द्विसप्ततितमश्लोकेनान्वयः ॥ २९ ।

प्रणाम एवं दीन और अनाथ लोगों को दान कर ब्रह्मचर्य्यादिक नियमों से तीर्थ-विधि का साधन कर, बारम्बार विश्वेश्वर का दर्शन स्तोत्र-पाठ एवं प्रणाम करके वे सब (देवता) लोग परोपकार के लिए वहाँ गये, जहाँ पर अगस्त्य मुनि अपने नामानुसार (अगस्तीश्वर) शिवलिंग की स्थापना कर और उसके आगे (अगस्त्य) कुण्ड बनाकर दृढ़-चित्त हो शतरुद्रीय सूक्त का जप करते हुए विराजमान थे ॥ ६-२८ ।

साक्षात्किं वाडवाग्निर्वा मूर्त्या वै तप्यते तपः ।
स्थाणुवन्निश्चलतरं निर्मलं सन्मनो यथा ।। ३० ।
अथवा सर्वतेजांसि श्रित्वेमां ब्राह्मणीं तनुम् ।
शीलयन्ति परं धाम शान्तं शान्तपदाप्तये ।। ३१ ।
तपनस्तप्यतेऽत्यर्थं दहनोऽपि हि दह्यते ।
यत्तीव्रतपसाद्यापि चपलाऽचपलाऽभवत् ।। ३२ ।
यस्याश्रमेऽत्र दृश्यन्ते हिंस्रा अपि समन्ततः ।
सत्त्वरूपा अमी सत्त्वास्त्यक्त्वा वैरं स्वभावजम् ।। ३३ ।
शुण्डादण्डेन करटिः सिंहं कण्डूयतेऽभयः ।
अष्टापदाङ्के स्वपिति केसरी केसरोद्भटः ।। ३४ ।

आगाम्यर्धत्रिशच्छ्लोकस्थितेति शब्दपरामृष्टं कर्माहुः । साक्षादित्यादि । तत्र त्रयेण मुनेरुत्प्रेक्षा । अवशिष्टेनाश्रमपशुपक्ष्यादिवर्णनमिति विवेक्तव्यम् । सतां मनः सन्मनः ॥ ३० ।

चपला विद्युत् । 'तडित्सौदामिनीविद्युच्चञ्चलाचपला अपि' इत्यमरः । अचपला स्थिरेति यावत् ॥ ३२ ।

हिंस्राः क्रूराः । सत्त्वरूपाः सात्त्विकाः सत्त्वगुणप्रधाना इत्यर्थः । स्वभावजं साहजिकम् ॥ ३३ ।

करटः प्रशस्तगण्डोऽस्यास्तीति करटिः हस्ती । छान्दसत्वात्साधुत्वम् । 'काकेभगण्डौ करटौ गजगण्डकटीकटौ' इति द्वादशसाहस्री । 'करटो गजगण्डे स्यात् कुसुम्भे निन्द्यजीवने' इति मेदिनीकारः । अष्टापदः शरभः । 'अष्टापदं स्यात्कनके सारीणां

देवता लोग दूर से ही दूसरे सूर्य के समान तथा धधकती अग्नि की ज्वाला की तरह अंगों से उज्ज्वल देखकर यह सोचने लगे कि क्या यह साक्षात् वडवानल मूर्ति धारण कर के तपस्या कर रहा है जो ठूंठे पेड़ की तरह अत्यन्त स्थिर है, जैसे सज्जनों का मन निर्मल होता है ॥ २९-३० ।

अथवा सब तेज इस ब्राह्मण-शरीर का आश्रयण कर शान्तपद (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए प्रशान्त परम धाम का ध्यान कर रहे हैं ॥ ३१ ।

अहा ! इनकी तपस्या के तेज से सूर्य भी बड़े सन्तापित और अग्निदेव दग्ध हो रहे हैं; फिर बिचारी विद्युत् ने तो अपनी चपलता ही छोड़ दी है ॥ ३२ ।

यहाँ पर इनके आश्रम के चारों ओर घातक जन्तु भी अपने स्वाभाविक वैर को भूल कर सत्त्वगुण से परिपूर्ण दीखते हैं ॥ ३३ ।

(देखो) हाथी निर्भय होकर अपने सूँड़ से सिंह को खुजला रहा है, और सिंह भी अपने केसरों (अयालों) को फटकार कर शरभ (अष्टापद) की गोद में सो रहा है ॥ ३४ ।

सूकरस्तब्धरोमापि विहाय निजयूथकम् ।
चरेद्वनशुनां मध्ये मुस्तान्यस्तेक्षणो बली ॥ ३५ ।

भूदारोऽपि न भूदारं तथा कुर्याद्यथाऽन्यतः ।
सर्वा लिङ्गमयी काशी यतस्तद्भीतियन्त्रितः ॥ ३६ ।

क्रोडीकृत्य क्रोडपोतं तरक्षुः क्रीडयत्यहो ।
शार्दूलबालानुत्सार्य शार्दूलीमेणपोतकः ॥ ३७ ।

फलकेऽपि च । अष्टापदं च शरभे चन्द्रमण्यां च मर्कटः' इति च विश्वप्रकाशः । तस्याङ्के क्रोडे केसरी सिंहः । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः । कीदृशः केसराद्भटः केसरैः स्कन्धस्थैर्लोमविशेषैः । 'किञ्जल्के केसरः पुष्पपशुरोमविशेषयोः' इति मेदिनीकारः । उद्भट उन्नद्धः ॥ ३४ ।

सूकरो वराहः । स्तब्धरोमेति तस्य विशेणम् । अतिक्रूरतया स्तब्धानि उन्नतानि रोमाणि यस्य स तथाविधोऽपि इत्यतो न पौनरुक्त्यम् । वनश्वानोऽत्र व्याघ्राः अरण्यभवाः श्वान इति वा । मुस्तासु कुरुविल्लेषु । 'कुरुविल्लो मेघनामा मुस्तामुस्तकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । मोथा इति प्रसिद्धासु न्यस्ते दत्ते ईक्षके नेत्रे येन स तथा ॥ ३५ ।

भूदार इति सार्धम् । भुवं पृथ्वीं दारयतीति भूदारः, सूकरः, तथाविधोऽपि । यथान्यत्र भूविदारं करोति, तथात्र न करोतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । सर्वा लिङ्गमयीति ॥ ३६ ।

क्रोडपोतं सूकरशावकम् । 'वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः । दंष्ट्री घोणी स्तब्धरोमा क्रोडो भूदार इत्यपि' इत्यमरः । तरक्षुर्मृगादनः । तरक्षुस्तु मृगादन इत्यमरः । शार्दूलबालान् व्याघ्रशावकान् उत्सार्य दूरीकृत्य शार्दूलीं व्याघ्रीं एणपोतको हरिणबालकः । दयायां कः ॥ ३७ ।

खड़े रोम वाला शूकर बलवान् होने पर भी मोथा घास की ओर ताकता हुआ अपने यूथ को छोड़कर बनैले कुत्तों के बीच में विचरण कर रहा है ॥ ३५ ।

वह भूदार होने पर भी वहाँ की भूमि को, जैसा कि और स्थानों में खोदता है, नहीं खोद रहा है; क्योंकि काशी की सब भूमि लिङ्गरूप है । बस इसी भय से वह जकड़ा हुआ है ॥ ३६ ।

तेन्दुआ सूकर के बच्चों को गोद में लेकर खिला रहा है । (वह) हरिण का बच्चा बाघ के बच्चों को हटाकर पूँछ हिला-हिला कर अपने फेनैले मुँह से बाघिन का दूध पी रहा है । (वानर) अपनी अँगुलियों से बीन-बीन कर बड़े रोओं वाले सोते हुए भालू के जूओं को देख-देखकर दाँत के अग्रभाग से खा रहा है । ये सब लालमुख और काले

चलत्पुच्छोऽथ पिबति फेनिलेनाननेन वै ।
स्वपन्तं लोमशं भल्लं वानरश्चलदङ्गुलिः ॥ ३८ ।
यूकां संवीक्ष्य वीक्ष्यैव भक्षयेद्दन्तकोटिभिः ।
गोलाङ्गूलारक्तमुखा नीलाङ्गा यूथनायकाः ॥ ३९ ।
जातिस्वभावमात्सर्यं त्यक्त्वैकत्र रमन्ति च ।
शशाः क्रीडन्ति च वृकैस्तैः पृष्ठलुण्ठनैर्मुहुः ॥ ४० ।
आखुश्चाखुभुजः कर्णं कण्डूयेत चलाननः ।
मयूरपुच्छपुटगो निद्रात्योतुः सुखाधिकम् ॥ ४१ ।

चलत्पुच्छं यस्य स तथा। पिबति पय इति शेषः। पिबतिरत्र द्विकर्मकः। लक्षणया वा शार्दूल्याः स्तनं पिबतीत्यर्थः। फेनिलेन फेनयुक्तेन। स्वपन्तं शयानं भल्लुं ऋक्षम्। 'अथ भल्लुके ऋक्षाच्छभल्लभल्लूकाः' इत्यमरः॥ कथम्भूतम्? लोमशं बहुलोमयुक्तम्॥ ३८।

यूका लिक्षाः। 'यूका लिक्षा कीटभेदा लाक्षा तु स्याद्रुमामये' इति मालती। समुपसर्गस्य वीक्ष्येत्यनेनाग्रेऽपि सम्बन्धः। दन्तकोटिभिर्दन्ताग्रैर्भक्षयेत्। अत्र साहजिकवैराभावस्य विवक्षितत्वाद्यूकाभक्षणं न दोषावहम्। यद्वा मृतानामेव यूकानां भक्षणमत्र विवक्षितम्। अत एव संवीक्ष्य वीक्ष्येत्युक्तम्। अथवा लक्षणयाङ्गुलीभिर्विचार्य संवीक्ष्य दन्तकोटिभिर्दूरीकरोतीत्यर्थः। अथवा वानरजातिस्वभावत्वाद् भक्षयेदिवेत्यर्थः। गोलाङ्गूलाः कपिविशेषास्तेषां विशेषणं रक्तमुखाः, नीलाङ्गा इति च स्वतन्त्रा वा॥ ३९।

शशा मृगविशेषाः। तैः प्रसिद्धैः। ते इति पाठेऽपि स एवार्थः। पृष्ठलुण्ठनैः पृष्ठसंघर्षणैः॥ ४०।

आखुभुजो मार्जारस्य। ओतुर्बिडालः। 'ओतुर्बिडालो मार्जारो वृषदंशक-आखुभुग्' इत्यमरः॥ ४१।

देह वाले पोंछ के यूथनायक लंगूर-जाति सुलभ अपनी स्वाभाविक मत्सरता को त्याग कर एक ही स्थान पर क्रीड़ा कर रहे हैं। शशकगण (खरहे) हुंडारों (भेड़िये) की पीठ पर बार-बार लोट कर खेल रहे हैं॥ ३७-४०।

चूहा भी मुंह हिलाता हुआ बिलार के कानों को खुजला रहा है। (फिर) बिड़ाल भी मोर की पूंछ के पुट में बड़े सुख से सो रहा है॥ ४१।

स्वकण्ठं घर्षयत्येव केकिकण्ठे भुजङ्गमः ।
भुजङ्गमफटापृष्ठे नकुलः स्वकुलोचितम् ।। ४२ ।
वैरं परित्यज्य लुठेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य लीलया ।
आलोक्य मूषकं सर्पश्चरन्तं वदनाग्रतः ।। ४३ ।
क्षुधान्धोऽपि न गृह्णाति सोऽपि तस्माद्बिभेति नो ।
प्रसूयमानां हरिणीं दृष्ट्वा कारुण्यपूर्णदृक् ।। ४४ ।
तद्दृष्टिपातं मुञ्चन् वै व्याघ्रो दूरं व्रजत्यहो ।
व्याघ्री व्याघ्रस्य चरितं मृगी मृगविचेष्टितम् ।
उभे कथयतोऽन्योन्यं सख्याविव मुदान्विते ।। ४५ ।
दृष्ट्वाप्युद्दण्डकोदण्डं शबरं शम्बरो मृगः ।
धृष्टो न वर्त्म त्यजपि सोऽपि कण्डूयतेऽपि तम् ।। ४६ ।

केकिकण्ठे मयूरग्रीवायाम् । फटा फणा । फटायान्तु फणाद्वयोरित्यमरः ।। ४२ ।।

लुठेत् क्रीडेत् । उत्प्लुत्योत्प्लुत्य उत्फाल्योत्फाल्य । लीलयाऽवज्ञया भयमगणित्वेति यावत् ।। ४३ ।।

क्षुधा बुभुक्षयार्त्तः पीडित इति यावत् । क्षुधान्ध इति पाठेऽपि स एवार्थः । कारुण्यपूर्णदृक् करुणाव्याप्तज्ञानः ।।४४। अहो इत्याश्चर्ये हर्षे वा ।।४५।

उद्दण्डकोदण्डं स्यूर्जितचापम् । 'अथास्त्रियौ धनुश्चापौ धन्वशराशनकोदण्ड-कार्मुकम्' इत्यमरः । शबरं भिल्लम् । शम्बरो नाम्ना । धृष्टो दृप्तो निर्लज्जो वा । सः शबरो मृगादनोऽपीत्यर्थः ।।४६।

वह साँप मोर के गले पर अपना गला रगड़ रहा है। नेउर भी अपने कुलोचित (सनातन) बैर को भुलाकर सर्प के फन पर खेल से उछल-कूदकर लोट रहा है। सर्प भी क्षुधान्ध होकर मुख के आगे घूमते हुए चूहे को देखने पर भी नहीं पकड़ता है और वह चूहा भी उससे कुछ नहीं डरता है। प्रसव करती हुई हरिनी को देखकर बाघ दया-दृष्टि से उसके दृष्टिपथ को, छोड़ता हुआ दूर चला जा रहा है। अहा ! बाघिन तो बाघ के चरित्र को और मृगी मृग की चेष्टा को परस्पर सखियों की भाँति दोनों प्रसन्नतापूर्वक कह रहीं हैं ।। ४२-४५ ।

ढीठ शंबर मृग बहुत बड़े धनुष को लिए हुए शबर (व्याध) को देखकर भी मार्ग से नहीं हटता और वह व्याध भी उसका स्पर्श कर रहा है ।। ४६ ।

रोहितोऽरण्यमहिषमुद्घर्षति निराकुलः ।
चमरी शबरी केशैः संमिमीते स्वबालधिम् ॥ ४७ ।
गवयः शल्यकश्चायमुभावेकत्र तिष्ठतः ।
तीव्रमात्सर्यमुत्सृज्य मुनितेजो नियन्त्रितौ ॥ ४८ ।
हुण्डौ च मुण्डयुद्धाय न सज्जेते जयैषिणौ ।
एणशावं शृगालोऽपि मृदु स्पृशति पाणिना ॥ ४९ ।

रोहितो मृगगावान्तरजातिभेदः । 'कृष्णसाररुरुन्यङ्कुरङ्कुशम्बररोहिषाः । गोकर्णपृषतैणर्ष्यरोहिताश्चमरो मृगाः' इत्यमरः। उद्घर्षति संस्पृशति संलुण्ठति, न गणयतीत्यर्थः। उद्घर्षतीति पाठः। निराकुलो निश्शङ्कः। चमरी चमरस्य मृगविशेषस्य पत्नी। शबरी शबराङ्गना चाण्डलविशेषस्त्री। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दाम्लेच्छजातयः' इत्यमरः। तस्याः केशैः स्वबालधिं, स्वीयबालहस्तम्। केशवल्लाङ्गूलमिति यावत्। 'बालहस्तस्तु बालधिः' इत्यमरः। संमिमीते परिमिनोति ॥४७॥

गवयो मृगविशेषः। 'गन्धर्वः शरभो रामः सृमरो गवयः शशः। इत्यादयो मृगेन्द्राद्याः' इत्यमरः। शल्यकः श्वावित्। शल्य एव शल्यकः। स्वार्थे कः। 'श्वावित्तु शल्यः' इत्यमरः ॥४८॥

हुमिति शब्दं कृत्वा युद्धाय डीयेते इति **हुण्डौ मेषौ**, तौ मुण्डयुद्धाय न सज्जेते, न प्रवर्त्तेते। यद्वा हुण्डौ तीक्ष्णोद्यमौ जन्तुविशेषौ। 'हुण्डस्तीक्ष्णोद्यमो हुण्डा वह्निघोषे तु कीर्त्तिताः' इति **रत्नमाला**। यद्वा हुण्डौ मदपूर्णौ मल्लौ। 'हुण्डा स्याज्जलहस्तिन्यां मदिराजलहस्तयोः। नलिन्यां शूरयोषायां हुण्डः स्यान्मदनिर्भरः' इति **विश्वप्रकाशः**। 'मल्लयोर्मुण्डयुद्धन्तु शिरः शीर्ष्णोरसोरसौ' इति **भागवते** प्रसिद्धम्। हुण्डौ हुण्डाराविति केचित्। जयैषिणौ जयकाङ्क्षिणौ। मृदु यथा स्यात् ॥४९॥

रोहित मृग निराकुल होकर बनैले भैंसे से टकरा रहा है। फिर वह चमरी मृगी (सुरहागाय) शबरी की चोरी से अपनी पूँछ का मिलान कर रही है ॥ ४७ ।

(देखो) गवयमृग (गवा) और साही दोनों ही अपने बहुत बड़े डाह को छोड़, मुनिराज के तेज से बद्ध होकर एक ही स्थान पर बैठे हुए हैं ॥ ४८ ॥

मेढ़े (हुंडार) मुंड-युद्ध में जीत चाहते हुए भी सुसज्जित नहीं होते हैं। सियार भी हरिण के बच्चे को हाथ से धीरे-धीरे सहला रहा है ॥ ४९ ॥

तृण्वन्ति तृणगुल्मादीन् श्वापदास्त्वापदास्पदम् ।
लोकद्वये दुःखदं हि धिक् तन्मांसस्य भक्षणम् ।। ५० ।
यः स्वार्थं मांसपचनं कुरुते पापमोहितः ।
यावन्त्यस्य तु रोमाणि तावत् स नरके वसेत् ।। ५१ ।
परप्राणैस्तु ये प्राणान् स्वान् पुष्णन्ति हि दुर्धियः ।
आकल्पं नरकान् भुक्त्वा ते भुज्यन्तेऽत्र तैः पुनः ।। ५२ ।
जातु मांसं न भोक्तव्यं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
भोक्तव्यं तर्हि भोक्तव्यं स्वमांसं नेतरस्य च ।। ५३ ।

तृण्वन्ति भक्षयन्ति । तृणु अदने इति धातुः । तृणगुल्मादीन् तृणानि च गुल्मानि च तान्यादीनि येषां तान् । श्वापदा व्याघ्रादयः । शुनामापदो येभ्यस्ते श्वापदा इति व्युत्पत्तिपुरस्कारेण पुंसिश्वापदसर्पयोरित्यादिदर्शनाददन्तत्वेन निपातनात् । [1]पाठान्तरे सुष्ठु आपद् येभ्यः, ते तथा इति व्याख्येयम् । किमिति मांसभक्षणं विहाय तृणादीनदन्ति तत्राह । आपदास्पदम्, आपदाम् आस्पदं स्थानम् । कुतो यतो लोकद्वये दुःखदं यन्मांसस्य भक्षणम्, तद्धिगस्त्वित्यर्थः । आपदां पदमिति क्वचित्पाठः । तत्र पदं स्थानम् ॥५०॥

लोकद्वयदुःखदत्वमेव प्रपञ्चयति । **यः स्वार्थमिति** ॥५१॥

आकल्पं कल्पपर्यन्तम् । कल्पोऽत्र ब्रह्मणो दिनम्, तैरिति । येषां प्राणैर्देहेन्द्रियादिभिः स्वप्राणान् स्वदेहेन्द्रियादीन् ये पुष्णन्ति पालयन्ति, ते अमुत्र तैर्भुज्यन्त इत्यर्थः । तथा च मनुः—

सर्मां स्वादयिता पुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः । इति ॥ ५२ ॥

मांस-भोजन को धिक्कार है। वह इस लोक और परलोक में भी दुःखदायक एवं समस्त आपत्तियों का आस्पद है, (बस) इसी विचार से व्याघ्र इत्यादि श्वापद जन्तु भी घास-पात को खा रहे हैं ॥ ५० ॥

जो कोई पाप से मोहित होकर अपने लिये मांस पकाता है, वह उस पशु के देह में जितने रोएँ हैं, उतने ही (वर्ष) नरक में निवास करता है ॥ ५१ ॥

जो दुर्बुद्धि लोग दूसरों के प्राण से अपने प्राण का पोषण करना चाहते हैं, वे सब कल्प भर नरकों को भोग-भोगकर फिर यहीं पर उन (मारे गये जीवों) से खाये जाते हैं ॥ ५२ ॥

प्राण के कण्ठगत होने पर भी कदापि मांस-भोजन नहीं करना चाहिए। यदि खाना ही है, तो अपना ही मांस भक्षण करना उचित है, दूसरे का नहीं ॥ ५३ ॥

१. स्वापदा इत्येवंरूपे ।

वरमेते श्वापदा वै मैत्रावरुणिसेवया ।
येषां न हिंसने बुद्धिर्न तु हिंसापरा नराः ।। ५४ ।
बकोऽपि पल्वले मत्स्यान्नाशनात्यग्रेचरानपि ।
न महान्तोऽप्यमहतो मत्स्या मत्स्यानदन्ति वै ।। ५५ ।
एकतः सर्वमांसानि मत्स्यसांसं तथैकतः ।
स्मृतिः स्मृतेति किन्त्वेभिरतो मत्स्याञ्जहत्यमी ।। ५६ ।
श्येनोऽपि वर्तिकां दृष्ट्वा भवत्येष पराङ्मुखः ।
चित्रमत्रापि मधुपा भ्रमन्ति मलिनाशयाः ।। ५७ ।

वरं श्रेष्ठाः ।।५४।

बकः कङ्वः । पल्वलेऽल्पोदके सरसि । 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः' इत्यमरः । अमहतोऽणीयसः ।।५५।

एभिर्बकादिभिः । किं स्मृतेति विमर्शः । तत्र स्मृतैवेति निश्चित्य तत्र हेतुमाह । अत इति । यतो मत्स्यान् जहति, अतः स्मृतिः स्मृतैवेत्यर्थः। अथवा किं स्मृतेति काकूक्त्या स्मृतैवेति । अतोऽतः कारणाद् मत्स्यान् जहति त्यजन्तीति ।।५६।

श्येनः पत्री । 'पत्री श्येनः' इत्यमरः । वर्तिकां वर्तकाख्यं पक्षिविशेषं वनचटकामिनि यावत् । नाववाण्टयीति गौडे प्रसिद्धम् । 'वर्तका वर्तिकादयः' इत्यमरः । चित्रमित्यर्धमुत्तरश्लोकान्वयि ।।५७।

मित्रावरुणि के पुत्र अगस्त्य जी के सेवन से ये सब श्वापद ही बहुत अच्छे हैं; क्योंकि इनकी बुद्धि हिंसा करने से विमुख हो गयी है; न कि वे मनुष्य, जो हिंसा ही में लगे रहते हैं ।। ५४ ।।

बकुला भी गड़हे में सामने ही घूमती हुई मछलियों को नहीं खाता है और न तो बड़े-बड़े मच्छ ही छोटी-छोटी मछलियों को खाते हैं ।। ५५ ।।

"एक ओर सब जीवों के मांस और दूसरी ओर मत्स्य का मांस" यह बात जो धर्मशास्त्र में कही गयी है, वह इन सब बकुलों को स्मरण है, इससे वे मछलियों का खाना छोड़ दिये हैं ।। ५६ ।।

वह बाज पक्षी भी बटेर को देखकर पराङ्मुख हो बैठा है, पर बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यहाँ पर भी मलिन आशय वाले मधुप (भौंरे) लोग भ्रमण कर रहे हैं ।। ५७ ।।

सुचिरं नरकान् भुक्त्वा मदिरापानलम्पटाः ।
मधुपा एव जायन्ते भ्रान्तिभाजः पुनः पुनः ॥ ५८ ।
अत एव पुराणेषु गाथेति परिगीयते ।
स्फुटार्थात्र पुराणज्ञैर्ज्ञात्वा तत्त्वं पिनाकिनः ॥ ५९ ।
क्व मांसं क्व शिवे भक्तिः क्व मद्यं क्व शिवार्चनम् ।
मद्यमांसरतानां च दूरे तिष्ठति शङ्करः ॥ ६० ।
विना शिवप्रसादं हि भ्रान्तिः क्वापि न नश्यति ।
अत एव भ्रमन्त्येते भ्रमराः शिववर्जिताः ॥ ६१ ।

सुचिरमिति । सुचिरं नरकान् भुक्त्वाऽत्रापि काश्यामपि मलिनाशया मलिनान्तःकरणाः सन्तो भ्रमन्ति, अहो एतच्चित्रमिति । तत्र हेतुमाह **मदिरेति** । मद्यपानासक्ता अभीक्ष्णमज्ञानमाश्रयन्तो मधुपा एव भवन्तीत्यर्थः । वमन्ति मधुनासयेति क्वचित्पाठस्तदायमर्थः । नरकजन्यं दुःखमस्माकमितःपरं मा स्यादिति खेदेन पीतमपि मधुनासया नासारन्ध्रेण वमन्ति, त्यजन्तीति । अन्यत्पूर्ववत् ॥५८॥

हेतुमेव साधयन्ते । **अत एवेति** । पुराणज्ञैः पुराणो विश्वेशः, तज्ज्ञैरिति वक्ष्यमाणा गाथा पद्यं परिगीयते इत्यन्वयः । स्फुटार्था स्पष्टार्था । विश्वेश्वरस्वरूपज्ञतामेवाहुः । **ज्ञात्वेति** । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् ॥५९॥

गाथामेव पठति । **क्व मांसमिति** । हृदि स्थितोऽपीति शेषः ॥६०॥

विनेति । प्रसादो नाम मामयं जानात्वित्येवंरूपोऽनुग्रहः । शिववर्जिताः शिवतत्त्वज्ञानरहिताः ॥६१॥

जो लोग मदिरा-पान-लम्पट (आदती) होते हैं, वे सब बहुत दिनों तक नरक भोगकर वारम्वार भ्रान्तिशील मधुप ही होते रहते हैं ॥ ५८ ॥

इसीलिए सभी पुराणों में यह गाथा (कहावत) कही जाती है, जिसे पुराण के पण्डितों ने महादेव का तत्त्व विचार कर स्पष्टार्थ कर दिया है कि कहाँ मांस-भोजन और कहाँ शिव में भक्ति ? कहाँ मद्यपान और कहाँ शिव का पूजन ? (क्योंकि) महादेव तो मद्य-मांस के सेवन करनेवालों से दूर ही रहते हैं ॥ ५९-६० ॥

महादेव के प्रसाद विना किसी प्रकार से भ्रान्ति नष्ट नहीं हो सकती, इसी कारण से ये सब भौंरे शिव के तत्त्वज्ञान से शून्य होकर घूम रहे हैं ॥ ६१ ॥

इत्याश्रमचरान् दृष्ट्वा तिर्यञ्चोऽपि मुनीनिव ।
अबोधि विबुधैरित्थं प्रभावः क्षेत्रजस्त्वयम् ॥ ६२ ।
यतो विश्वेश्वरेणैते तिर्यञ्चोऽप्यत्र वासिनः ।
निधनावसरे मोच्यास्तारकस्योपदेशतः ॥ ६३ ।
ज्ञात्वा क्षेत्रस्य माहात्म्यं यो वसेत् कृतनिश्चयः ।
तं तारयति विश्वेशो जीवन्तमथवा मृतम् ॥ ६४ ।
अविमुक्तरहस्यज्ञा मुच्यन्ते ज्ञानिनो नराः ।
अज्ञानिनोऽपि तिर्यञ्चो मुच्यन्ते गतकिल्बिषाः[1] ॥ ६५
इत्याश्चर्यपरा देवा यावद्यान्त्याश्रमं मुनेः ।
तावत् पक्षिकुलं दृष्ट्वा भृशं मुमुदिरे पुनः ॥ ६६ ।

तिरोऽञ्चतीति तिर्यञ्चः । द्वितीयास्थाने प्रथमा । पश्वादीनित्यर्थः । तिरश्च इति वा पाठः । अबोधि ज्ञातः । तुरेवार्थे । अयं प्रभावः क्षेत्रज एव ॥६२।

ज्ञात्वेति । एवार्थेन तुशब्देन तारयतीत्यनेन सम्बन्धः । तारयत्येवेत्यर्थः ॥६४।

अविमुक्तेति । तिर्यञ्चोऽप्येते मुच्यन्त एवेत्यर्थः ॥६५।

पक्षिकुलं पक्षिसमूहम् ॥६६।

इस भ्रान्ति से आश्रमवासी पशु-पक्षियों को मुनियों के समान देखकर, देवताओं ने समझ लिया कि यह क्षेत्र-जनित प्रभाव है ॥ ६२ ॥

(क्योंकि) यहाँ के रहनेवाले पशु-पक्षी इत्यादि जीवों को भी मरण के अवसर पर भगवान् विश्वेश्वर तारकमन्त्र के उपदेश से मुक्त कर देते हैं ॥ ६३ ॥

जो कोई क्षेत्र की महिमा को समझ कर दृढ़ संकल्प होकर यहाँ पर निवास करता है, भगवान् विश्वेश्वर उसे जीते ही अथवा मृत होने पर तार देते हैं ॥ ६४ ॥

ज्ञानी मनुष्य अविमुक्त क्षेत्र के रहस्य को जान लेने पर जैसे मुक्त होते हैं; तिर्यग्-योनि वाले जीव लोग भी काशी के माहात्म्य को विना जाने ही यहाँ पर शरीर-त्याग करने से निष्पाप होकर वैसी ही मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं ॥ ६५ ॥

देवता लोग इस प्रकार से आश्चर्यान्वित होते हुए अगस्त्य-मुनि के आश्रम पर जबतक पहुँचे, इसी बीच पक्षिगण को देख कर मुनिवर बहुत ही प्रसन्न हुए (देखे कि)

---

१. ते त्वकल्मषा इत्यपि पाठः ।

सारसो लक्ष्मणाकण्ठे कण्ठमाधाय निश्चलः ।
मन्यामहे न निद्राति ध्यायेद्विश्वेश्वरं किल ।। ६७ ।
कण्डूयमाना वरटा स्वचञ्चुपुटकोटिभिः ।
हंसं कामयमानन्तु वारयेत् पक्षधूननैः ।। ६८ ।
निरुध्यमाना चक्रेण चक्री क्रेङ्कितभाषणैः ।
वदतीति किमत्रापि कामिता कामिनां वर ! ।। ६९ ।
कलकण्ठः किलोत्कण्ठं मञ्जु गुञ्जति कुञ्जगः ।
ध्यानस्थः श्रोष्यति मुनिः पारावत्येति वार्यते ।। ७० ।

सारसः पुष्कराह्वः । 'पुष्कराह्वस्तु सारसः' इत्यमरः । लक्ष्मणाकण्ठे योषिद्ग्रीवायाम् । मन्यामह इति देवानामुक्तिः । उत्तरत्राप्येतस्य यथासम्भवं सम्बन्धो ज्ञेयः ।।६७।

वरटा हंसस्य भार्या । 'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' इत्यमरः । स्वचञ्चुपुटकोटिभिः, स्वस्य चञ्चुः स्वत्रोटिरित्यर्थः । 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्य पुटं युगलम्, तस्य कोटिभिरग्रभागैः । चञ्चुपुटस्य द्वित्वेऽपि तदग्रावयवानां बहुत्वाद् बहुवचनम् । कण्डूयमाना कण्डूतिं कुर्वाणा हंसं कामयमानं प्रार्थयन्तं पक्षधूननैः पक्षयोश्चलनैर्वारयेदित्यर्थः ।।६८।

निरुध्यमानेति । चक्रेण चक्रवाकेन । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इत्यमरः । क्रेङ्कितभाषणैश्चक्रवाकजातिशब्दैश्चक्री चक्रवाकी रत्यर्थं निरुध्यमाना व्रियमाणा सती हे कामिनां वर श्रेष्ठेति सोपहासोक्तिः । अत्रापि आनन्दकानने, तत्राप्यन्तर्गृहे, तत्राप्यगस्त्यस्याश्रम इत्यपिशब्दार्थः । कामिता कामभाव इति वक्तीत्यर्थः ।।६९।

कलकण्ठ इति । कलो मधुरध्वनिः कण्ठो यस्याऽसौ कलकण्ठः, कलरवः पारावत इति यावत् । उत्कण्ठमूर्ध्वग्रीवं मञ्जु मनोहरं यथा भवति, तथा कुञ्जगोलतादिपिहितोदरस्थः सन् गुञ्जति, अव्यक्तं शब्दं करोति, सपारावत्या पारावतपत्न्या वार्यते । गुञ्जन्निकुञ्जग इति क्वचित्पाठः । किलेत्युत्प्रेक्षायाम् । वार्यत इव । इति निश्चिते प्रसिद्धे वा । कैः पक्षधूननैरित्यनुषञ्जनीयम् । किमिति वार्यते ? तत्राह—ध्यानस्थो मुनिरगस्त्यः श्रोष्यतीति हेतोरित्यर्थः ।।७०।

सारस-पक्षी सारसी के गले पर गला रखकर ऐसा निश्चल हो गया है, जैसे जान पड़ता है कि सोता नहीं, वरन् विश्वनाथ का ध्यान कर रहा है ।। ६६-६७ ।।

हंसी अपने चोंच के अग्रभाग से खुजला कर कामाभिलाषी हंस को पक्षों के फटकार से निवारण कर (फटकार बता) रही है ।। ६८ ।।

चकई चकवा द्वारा छेंक लेने पर मानों अपनी झंक्रितभाषा में कह रही है कि, "हे कामुकश्रेष्ठ ! क्या यहाँ भी काम-वासना लगी ही है ?" ।। ६९ ।।

कुञ्ज में बैठा हुआ कपोत कंठ उठा कर, मनोहर गूँज रहा है, पर कपोती (ध्यान स्थित मुनि सुन लेंगे) बस इसी कारण से निवारण कर रही है ।। ७० ।।

केकी केकां परित्यज्य मौनं तिष्ठति तद्भयात् ।
चकोरश्चन्द्रिकाभोक्ता नक्तव्रतमिवास्थितः ॥ ७१ ॥
पठन्ती सारिका सारं शुकं सम्बोधयत्यहो ।
अपारावारसंसारसिन्धुपारप्रदः शिवः ॥ ७२ ॥
कोकिलः कोमलालापैः कलयन् किल काकलीम् ।
कलिकालौ कलयतः काशिस्थान्नेति भाषते ॥ ७३ ॥

केकी मयूरः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक् । शिखाबलः शिखी केकी मेघनादानुलास्यपि' इत्यमरः । केकां मयूरध्वनिम् । तद्भयादगस्त्यभयात् । चकोरः पक्षिविशेषः ।'तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः । तित्तिरिः कुक्कुभो लावो जीवं जीवश्चकोरकः' इत्यमरः । चन्द्रिका कौमुदी । 'चन्द्रिकाकौमुदीज्योत्स्ना' इत्यमरः । नक्तव्रतं रात्रिभोजनम् ॥७१॥

पठन्तीति । सारिका पक्षिविशेषः शालिक इति प्रसिद्धः । सारं परमार्थं पठन्ती शुकं कीरम् । कीरशुकौ समावित्यमरः । सम्बोधयति । किं तत्सारं कथं वा सम्बोधयति, तत्राह । अहो इति । अहो हे शुक, 'अपारावारसंसारसिन्धुपारप्रदः शिवः' इति । पारं परतीरम्, अवारमर्वाचीनं तीरम् । पारावारे परार्वाचीतीरे इति वचनात् । न विद्येते पारावारे यस्यासावपारावारः, स चासौ संसार एव सिन्धुः समुद्रः । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्य पारं समाप्तिं प्रददातीति, स तथा । यद्वा अपारावारः संसारसमुद्रो येषाम्, तान् जीवान् पारयति मुक्तिप्रदानात् समाप्तकर्मणः करोतीति । यद्वा पारतीरसमाप्ताविति चौरादिकात् पारधातोरपारावारसंसारपारः परमात्मा, तं प्रददातीति तथा । आत्मप्रदः शिव इति सारम्, भो शुक, इति सम्बोधयति इत्यर्थः । अपारपारेति क्वचित्पाठः । तत्र अनन्तपार इत्यर्थः ॥७२॥

कोकिल इति । कोकिलो वनप्रियः । 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिकः' इत्यपीत्यमरः । काकलीं सूक्ष्मध्वनिं मधुरध्वनिं वा । 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्फुटा' इत्यमरः । कलयन्नुच्चारयन् । कलिकालौ कलिश्च कालश्च, तौ काशीस्थान्न कलयतः, न मारयत इति वदतीत्यर्थः ॥७३॥

मयूर भी उसी (ध्यानभंग के भय से) अपना कूकना छोड़कर चुप ही बैठा है और चकोर तो चन्द्रिका-भोजी होकर भी मानो नक्तव्रत कर रहा है ॥ ७१ ॥

अहो ! सारिका (मैना) भी इसी सार-वचन को पढ़ती हुई सुग्गे को समझा रही है कि "जिस संसार-सागर का पारावार नहीं है, उसके पार उतारने वाले (एक) महादेव ही हैं" ॥ ७२ ॥

कोकिल भी कुहूकता हुआ अपने आलापों से यही कह रहा है कि, "कलि और काल काशीवासियों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते" ॥ ७३ ॥

मृगाणां पक्षिणामित्थं दृष्ट्वा चेष्टां त्रिविष्टपम् ।
अकाण्डपातसङ्कष्टं निनिन्दुस्त्रिदशा बहु ॥ ७४ ।
वरमेते पक्षिमृगाः पशवः काशिवासिनः ।
येषां न पुनरावृत्तिर्न देवा न पुनर्भवाः ॥ ७५ ।
काशीस्थैः पतितैस्तुल्या न वयं स्वर्गिणः क्वचित् ।
काश्यां पाताद् भयं नास्ति स्वर्गे पाताद्भयं महत् ॥ ७६ ।
वरं काशीपुरीवासो मासोपवसनादिभिः ।
विचित्रच्छत्रसञ्छायं राज्यं नान्यत्र नीरिपुः ॥ ७७ ।

मृगाणामिति । अकाण्डपातसंकष्टम्, अकाण्डेऽनवसरे हिरण्यकशिपुप्रमुखैः पाताद् भ्रंशात् सम्यक् कष्टं दुःखं यस्मिन् तत्तथा । बहु यथा भवति तथा ॥७४॥

वरमिति । वरं श्रेष्ठा इत्यर्थः । ननु भवन्तोऽप्यमरत्वात् पुनरावृत्य भावेन श्रेष्ठा एवेति स्वयमाशङ्क्य स्वयमेव निराकुर्वन्ति । न देवा न पुनर्भवा इति । देवा वयं पुनर्भवाः पुनर्भवो जन्म येषाम्, पुनर्भवन्ति इति वा पुनर्भवा इति न; अपि तु पुनर्भवा एव '**द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः**' इति न्यायात् । अमरत्वादिश्रवणं त्वापेक्षिकम्; अतो वयं तुच्छा एवेत्यर्थः । यद्वा देवा वयं न इति प्रथमनकारेण सम्बन्धमारचय्य पश्चाद्धेत्वन्वेषणायां न न पुनर्भवा इति सम्बन्धनीयम् । न देवा ये पुनर्भवा इति पाठस्त्वतिरोहितार्थः, स पुनर्भवा इति च ॥७५॥

नीरिपुः । निर्गता रिपवो यस्माद्यस्मिन्निति वा तद्राज्यं तथा ॥७७॥

देवता लोग (वहाँ के) पशु-पक्षियों की भी ऐसी चेष्टा देखकर असमय च्युत होने के संकट से भरे हुए स्वर्ग की बड़ी निन्दा करने लगे ॥ ७४ ॥

देवताओं की अपेक्षा ये सब काशीवासी पशु-पक्षी-मृग और मृगगण बहुत अच्छे हैं; क्योंकि इनका पुनर्जन्म नहीं होता, पर देवताओं को तो पुनर्जन्म का दुःख भोगना ही पड़ता है ॥ ७५ ॥

हम लोग स्वर्गवासी होने पर भी काशीवासी पतितों की बराबरी कभी नहीं कर सकते, कारण, काशी में पतन होने का भय नहीं है; पर स्वर्ग में पतन का बड़ा डर बना रहता है ॥ ७६ ॥

दूसरे स्थान पर विचित्र छत्र की छाया में निष्कंटक राज्य भोग करने से काशीपुरी में मासभर उपवास करके भी रहना पड़े, तो बहुत उत्तम है ॥ ७७ ॥

शशकैर्मशकैः काश्यां यत्पदं हेलयाप्यते।
तत्पदं नाप्यतेऽन्यत्र योगयुक्त्यापि योगिभिः ॥ ७८ ॥
वरं वाराणसी रङ्को निश्शङ्को यो यमादपि।
न वयं त्रिदशां येषां गिरितोऽपीदृशी दशा ॥ ७९ ॥
ब्रह्मणो दिवसाष्टांशे पदमैन्द्रं विनश्यति।
सलोकपालं सार्कञ्च सचन्द्रग्रहतारकम् ॥ ८० ॥
परार्धद्वयनाशेऽपि काशीस्थो यो न नश्यति।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन काश्यां श्रेयः समाचरेत् ॥ ८१ ॥

योगयुक्त्यापि। योगोऽष्टाङ्गादिः। युक्तिर्युजनमनुष्ठानमिति यावत्। योगस्य युक्तिर्योगयुक्तिस्तयापीत्यर्थः ॥७८॥

गिरितो विन्ध्यात्। ईदृशी दशा नाशदशा। यज्ञादेरभावेनाप्यायनाभावादित्यभिप्रायः ॥७९॥

ब्रह्मण इति। ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य दिवसस्य दिनस्याष्टांशेऽष्टभागे घटिकाचतुष्टये स्थिते सायंकाल इति यावत्। ऐन्द्रं पदं त्रैलोक्यम्। सलोकपालं लोकाश्च तत्पालाश्च, तैः सह वर्तमानम् ॥८०॥

परार्धद्वयेति। परार्धं ब्रह्मणः स्वमानेन पञ्चाशद्वर्षम्। परार्धद्वयं शतवर्षम्, तस्य नाशेऽपि प्राकृतप्रलयेऽपि। अपिः समुच्चयार्थः। यः काशीस्थः सन् विनश्यति। यावज्जीवं कस्याप्युपद्रवस्याभावात्। यथावसरे शरीरपाते च सान्द्रानन्दावबोधब्रह्मत्वेनोपस्थानात्। अत एव विन्ध्योन्नतेः सर्वस्मिन् जगति भयद्रुतेऽपि काशीस्थानां भयद्रवणाद्यभावाद्देवागमनं तीर्थवासार्थिसन्तर्पणं पञ्चरात्रमुषित्वा इत्यादिकं च सर्वं संगच्छत इति पूर्वमेव सकारणमुक्तम्। यत्त्विदानीमन्यथा दृश्यते, तत्प्राणिनां पापोपचयाद्विश्वेशप्रातिकूल्याच्च। तथा चात्रैवोक्तम्—'कलौ विघ्ना भविष्यन्ति काश्यां निवसतां किल', 'ये पापशीलाश्च

(क्योंकि) काशी में शशक किं वा मशक को भी जो पद अनायास ही मिल जाता है, अन्यत्र अष्टाङ्ग योग साधने वाले योगियों को भी वह नहीं प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

काशीवासी रंक भी (हम लोगों से) बहुत अच्छे हैं; क्योंकि वह तो यमराज से निःशंक रहता है, पर हम तो त्रिदश कहला कर भी एक पर्वत के कारण इस दुर्दशा को भोग रहे हैं ॥ ७९ ॥

ब्रह्मा जी के एक प्रहर में, लोकपाल, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और ताराओं के सहित इन्द्र का पद विनष्ट हो जाता है ॥ ८० ॥

पर ब्रह्मा के सौ वर्ष बीत जाने पर भी काशीवासी जीव का विनाश नहीं होता, अतएव सब प्रकार के प्रयत्नों को उठाकर काशी में उत्तम कर्म का ही आचरण करे ॥ ८१ ॥

यत्सुखं काशिवासेऽत्र न तद्ब्रह्माण्डमण्डपे ।
अस्ति चेत्तत्कथं सर्वे काशीवासाभिलाषुकाः ॥ ८२ ।
जन्मान्तरसहस्रेषु यत्पुण्यं समुपार्जितम् ।
तत्पुण्यपरिवर्तेन काश्यां वासोऽत्र लभ्यते ॥ ८३ ।
लब्धोऽपि सिद्धिं नो यायाद्यदि क्रुध्येत्त्रिलोचनः ।
तस्माद्विश्वेश्वरं नित्यं शरण्यं शरणं व्रजेत् ॥ ८४ ।
धर्मार्थकाममोक्षाख्यं पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
अखण्डं हि यथा काश्यां न तथान्यत्र कुत्रचित् ॥ ८५ ।
आलस्येनापि यो यायाद् गृहाद्विश्वेश्वरालयम् ।
अश्वमेधाधिको धर्मस्तस्य स्याच्च पदे पदे ॥ ८६ ।

शठाश्च मूर्खाः कुर्वन्ति पापान्यविशङ्कमार्ये । तेषामनन्तं भवतीह दुःखमाचन्द्रतारं न हि संशयोऽत्र', 'लब्धोऽपि सिद्धिं नो यायाद्यदि क्रुद्ध्येत्त्रिलोचनः' इत्यादि ॥८१॥

विपक्षे बाधकमाह । **अस्ति चेदिति** । काशीवासाभिलाषुकाः काशीवासाभीप्सवः ॥ ८२ ।

तत्पुण्येति । तच्च तत्पुण्यं चेति तत्पुण्यम्, तस्य परिवर्तेन व्यत्ययेन विनिमयेनेत्यर्थः ॥ ८३ ।

शरणं रक्षितारम् । तं त्यक्त्वा क्वापि न गच्छेदिति भावः ॥ ८४ ॥

अखण्डं समग्रं पूर्णमिति यावत् ॥ ८५ ॥

काशीवास करने में जो सुख यहाँ पर होता है, वह समस्त ब्रह्माण्ड-मण्डप में कहीं भी नहीं है, यदि चेत् कहीं होता तो क्यों सभी लोग काशीवास की अभिलाषा करते ?

कतहुँ न सो ब्रह्माण्ड भरि, जो सुख काशीवास ।
जो होता तो क्यों सबै, चाहत करि करि आस ॥ ८२ ॥

सहस्र जन्म के उपार्जित पुण्यराशि के परिवर्तन (बदले) से इस काशीपुरी में निवास करने को मिलता है ॥ ८३ ।

फिर काशी में वास हो जाने पर भी यदि भगवान् त्रिलोचन अप्रसन्न हो जावें, तो सिद्धि नहीं मिल सकती, अतएव सर्वदेव शरणागत-वत्सल श्रीविश्वेश्वर के शरण में जाकर रहे ॥ ८४ ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों ही पुरुषार्थ पूरे-पूरे जैसे काशी में हैं, वैसे और कहीं भी नहीं मिल सकते ॥ ८५ ॥

आलस्य करके भी जो कोई अपने घर से विश्वनाथ के मन्दिर तक जावे, उसे पद-पद में अश्वमेध यज्ञ से अधिक पुण्य प्राप्त होता है ॥ ८६ ॥

यः स्नात्वोत्तरवाहिन्यां याति विश्वेशदर्शने ।
श्रद्धया परया तस्य श्रेयसोऽन्तो न विद्यते ।। ८७ ।
स्वर्धुनीदर्शनात्स्पर्शात् स्नानादाचमनादपि ।
सन्ध्योपासनतो जप्यात्तर्पणाद्देव पूजनात् ।। ८८ ।
पञ्चतीर्थावलोकाच्च ततो विश्वेश्वरेक्षणात् ।
श्रद्धास्पर्शनपूजाभ्यां धूपदीपादिदानतः ।। ८९ ।
प्रदक्षिणैः स्तोत्रजपैर्नमस्कारैस्तु नर्त्तनैः ।
देव देव महादेव शम्भो शिव शिवेति च ।। ९० ।
धूर्जटे नीलकण्ठेश पिनाकिन् शशिशेखर ।
त्रिशूलपाणे विश्वेश रक्ष रक्षेति भाषणैः ।। ९१ ।

स्वर्धुनीदर्शनादित्यारभ्य पञ्चम्यन्तानां पदानां तृतीयान्तानां च धर्मः स्यादुत्तरोत्तर इत्यग्रिमेण सम्बन्धः ॥८८।

पञ्चतीर्थावलोकनात् । कपालमोचन-पापमोचन-ऋणमोचन-कुलस्तम्भवैतरण्यावलोकनात् । यद्वा वरुणासम्भेदासिसंभेदपञ्चनददशाश्वमेधमणिकर्णिकाऽवलोकनात् । यद्वा आदित्यद्रौपदीविष्णुदण्डपाणिमहेश्वरढुण्ढिविनायकज्ञानवापीनन्दिकेशतारकेशमहाकालेश--पुनर्दण्डपाण्यवलोकनात् । तथा चात्रैव वदिष्यति—

आदित्यं द्रौपदीं विष्णुं दण्डपाणिं महेश्वरम् ।
नमस्कृत्य ततो गच्छेद्द्रष्टुं ढुण्ढिविनायकम् ॥
ज्ञानवापीमुपस्पृश्य नन्दिकेशं ततोऽर्चयेत् ।
तारकेशं ततोऽभ्यर्च्य महाकालेश्वरं ततः ।
पश्येत्पुनर्दण्डपाणिमित्येषा पञ्चतीर्थिका ॥

चकारादन्येषामपि । उत्तरोत्तरमित्येषा पञ्चतीर्थिकेति पारिभाषिकपञ्चतीर्थविधानात् । यद्वा आदित्यादिमहेश्वरान्तमेकम्, ढुण्ढिविनायकमेकम्, ज्ञानवाप्येकम्, नन्दिकेशादित्रयमेकम्, पुनर्दण्डपाणिमेकम्, एवं पञ्चतीर्थिका । चकारादन्येषामपि ॥८९।

पर जो मनुष्य उत्तरवाहिनी गंगा में स्नान कर बड़ी श्रद्धा से विश्वेश्वर के दर्शन को जाता है, उसके पुण्य का अन्त ही नहीं है ॥ ८७ ।

स्वर्धुनी (गंगा) के दर्शन, स्पर्शन, स्नान, आचमन, सन्ध्योपासन, जप, तर्पण, देवपूजन, पञ्चतीर्थ का दर्शन, तदनन्तर विश्वेश्वर का दर्शन, श्रद्धापूर्वक स्पर्शन, पूजन, धूप-दीप इत्यादि के दान, प्रदक्षिणा, स्तोत्रपाठ, जप, नमस्कार, नर्तन, तथा देवदेव ! महादेव ! शम्भो ! शिव ! शिव ! धूर्जटे ! नीलकण्ठ ! ईश ! पिनाकिन् ! शशिशेखर ! त्रिशूलपाणे ! विश्वेश्वर ! रक्षा करो, रक्षा करो—ऐसे कथन, फिर मुक्ति-मण्डप में आधे

मुक्तिमण्डपिकायां च निमेषार्धोपवेशनात् ।
तत्र धर्मकथालापात् पुराणश्रवणादपि ।। ९२ ।
नित्यादिकर्मकरणात्तथाऽतिथिसमर्चनैः ।
परोपकरणाद्यैश्च धर्मः स्यादुत्तरोत्तरः ।। ९३ ।
शुक्लपक्षे यथा चन्द्रः कलया कलयैधते ।
एवं काश्यां निवसतां धर्मराशिः पदे पदे ।। ९४ ।
श्रद्धाबीजो विप्रपादाम्बुसिक्तः
शाखाविद्यास्ताश्चतस्रो दशापि ।
पुष्पाण्यर्था द्वे फले स्थूलसूक्ष्मे
मोक्षः कामो धर्मवृक्षोऽयमीड्यः ।। ९५ ।

उत्तरोत्तर उपर्युपरि श्रेष्ठो वा । 'उपर्युदीच्यश्रेष्ठेष्वप्युत्तरः स्यात्' इत्यमरः । प्रतिदिनं वर्धमान इत्यर्थः ।।९३।

धर्मवृद्धि सदृष्टान्तमाह । **शुक्लपक्ष** इति । पदे पदे क्षणे क्षणे ।।९४।

वृक्षरूपेण धर्मं स्तौति । **श्रद्धेति**। अयं श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रतिपादितो धर्मवृक्ष ईड्यः, स्तुत्यः सेव्य इति तावदित्यन्वयः । कथम्भूतः ? श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिर्बीजं यस्य सः । पुनः कथम्भूतः? ब्राह्मणचरणजलैः सिक्तो मीढः क्षरित इति यावत्। पुनः कथम्भूतः? यस्य धर्मवृक्षस्य ताः प्रसिद्धाश्चतस्रो दशचतुर्दशसंख्याकाः शिक्षाकल्पज्योतिश्छन्दोनिरुक्त-व्याकरणऋग्यजुःसामाथर्वमीमांसान्यायपुराणधर्मशास्त्रलक्षणाः, अपिशब्दादायुर्वेदधनुर्वेद-गान्धर्ववेदार्थशास्त्रलक्षणाश्च शाखाः स्कन्धा यस्य सः । तदुक्तं वैष्णवे—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ।।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थन्तु विद्या ह्यष्टादशैव तु ।।इति।

निमेष भर भी बैठना, तथा वहाँ पर धर्मकथा की चर्चा, पुराण-श्रवण, अन्यान्य नित्य-कर्मों का अनुष्ठान, अतिथि-पूजन एवं परोपकार इत्यादि के करने से उत्तरोत्तर धर्म होता है ।। ८८-९३ ।

जैसे शुक्ल-पक्ष में चन्द्रमा कला-कला बढ़ता है, उसी प्रकार से काशी में रहने वालों की धर्मराशि भी पग-पग में बढ़ा करती है ।। ९४ ।

धर्मरूपी वृक्ष सब लोगों को सेवनीय है। इस धर्म-वृक्ष का बीज श्रद्धा है और वह ब्राह्मणों के चरणोदक से सींचा गया है, इसी की शाखा में चतुर्दश विद्याएँ प्रसिद्ध हैं, इसके पुष्प न्यायपूर्वक उपार्जित धन है एवं इस वृक्ष के स्थूल और सूक्ष्म, काम तथा मोक्ष दोनों ही फल हैं ।। ९५ ।

सर्वार्थनामत्र दात्री भवानी
सर्वान् कामान् पूरयेदत्र ढुण्ढिः।
सर्वान् जन्तून् मोचयेदन्तकाले
विश्वेशोऽत्र श्रोत्रमन्त्रोपदेशात् ॥ ९६ ।
काश्यां धर्मस्तच्चतुष्पादरूपः
काश्यामर्थः सोऽप्यनेकप्रकारः ।
काश्यां कामः सर्वसौख्यैकभूमिः
काश्यां श्रेयस्तत्तु किं नात्र यच्च ॥ ९७ ।
विश्वेश्वरो यत्र न तत्र चित्रं
धर्मार्थकामामृतरूपरूपः ।
स्वरूपरूपः स हि विश्वरूप-
स्तस्मान्न काशीसदृशी त्रिलोकी ॥ ९८ ।

पुनः कीदृशः ? यस्य धर्मवृक्षस्यार्था न्यायोपार्जितधनानि पुष्पाणि कुसुमानि, सः । पुनः कथम्भूतः ? यस्य धर्मवृक्षस्य स्थूलसूक्ष्मे द्वे फले, सः । के ते तत्राह । **मोक्षः काम** इति । सूक्ष्मं फलं मोक्षः, स्थूलं फलं काम इत्यर्थः ॥९५।

ढुण्ढिर्विघ्नाधिराजः । मन्त्रशब्दः प्रणवविषयः, षडक्षररामम[illegible]विषयो वा ॥९६।

काश्यां धर्म इति । स चासौ चतुष्पादरूपश्चेति तथा सम्पूर्ण इत्यर्थः । ते च पादाः सत्यं तपोदयादानमिति । श्रेयः कैवल्यम् ॥९७।

नैतच्चित्रमित्याह । **विश्वेश्वर** इति । धर्मश्चार्थश्च कामश्चामृतं कैवल्यं च तानि तथा तद्रूपेषु तेष्वस्ति भाति प्रियत्वेन रूप स्वरूपं यस्य सः । तदुक्तम्—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यर्थपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥ इति ।

इस काशीधाम में सब अर्थों को पूर्ण करनेवाली भवानी श्री अन्नपूर्णा हैं। समस्त कामनाओं को सिद्ध करनेवाले ढुण्ढिराज गणेश हैं एवं भगवान् विश्वनाथ अन्त समय में सब जन्तुओं को कान में मन्त्र देकर (भव-बन्धन) से मुक्त कर देते हैं ॥ ९६ ।

काशी में धर्म अपने चारों पैरों से खड़ा है, अर्थ भी काशी में अनेक प्रकार से वर्तमान है, फिर काशी में काम तो समस्त सौख्यों का एकमात्र आश्रय ही रहा है। वस्तुतः ऐसी कौन-सी श्रेयस्कर वस्तु है, जो काशी में नहीं है ॥ ९७ ।

भला जहाँ पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को देने के लिए ही मूर्तिमान् होकर भगवान् विश्वेश्वर स्वयं विद्यमान हैं, वहाँ पर आश्चर्य की क्या बात है ? क्योंकि वे विश्वनाथ अखण्ड सच्चिदानन्द साक्षात् विश्वरूप हैं। इसी से त्रैलोक्य भर काशी के समान नहीं है ॥ ९८ ।

इति ब्रुवाणा-गीर्वाणा ददृशुस्तूटजं मुनेः ।
होमधूपसुगन्धाढ्यं वटुभिर्बहुभिर्वृतम् ॥ ९९ ।
श्यामाकाञ्जलियाच्ञार्थमृषिकन्यानुयायिभिः ।
धृतोपग्रहदर्भास्यैर्मृगशावैरलङ्कृतम् ॥ १०० ।

यद्वा धर्मार्थकामामृतानां भक्तेभ्यो रूपाय निरूपणाय दानाय रूपं शरीरं लीला-विग्रहो यस्य सः । तर्हि शरीरसम्बन्धात् प्राप्ता संसारिता, तत्राह । स्वरूपरूपः स्वरूपमखण्डसच्चिदानन्दलक्षणं रूपं स्वरूपं यस्य सः ।

ननु तस्य प्रपञ्चेन सह भेदप्रतीतेः कथमखण्डसच्चिदानन्दात्मकत्वम्, तत्राह । **स हि विश्वरूप** इति । हि यस्मात् विश्वं रूपं यस्य स, विश्वं रूप्यते प्रतीयते यस्मिन् रज्ज्वामिव सर्प इति वा सः । जडाजडप्रपञ्चस्य तत्राध्यस्तत्वान्न तेन भेदावहत्वमध्यस्तेन सर्पेणेव रज्ज्वाः । तथा च श्रुतिः—'**इदं सर्वं यदयमात्मा, आत्मैवेदं सर्वम्, ब्रह्मैवेदं सर्वम्**' इत्यादिः (नृ०उ० ७।४) । अरूपरूप इति पाठे वस्तुलोऽरूपरूपो मायया विश्वरूपः । त्रिलोकरूपः स हि विश्वरूप इति क्वचित्पाठः । प्रकृतमुपसंहरति । तस्मान्न **काशोति** ॥९८।

ददृशुस्त्वित । तुशब्दः संभ्रमावद्योतकः । न केवलं मुनेरुटजं ददृशुः, पर्णशालाऽङ्गणं पर्णशाला पर्णकुटी, तस्या अङ्गणं प्राङ्गणं वीक्ष्य सन्नेमुश्चेत्यग्रेणान्वयः । भक्तिश्रद्धातिशयावद्योतकः समुशब्दः । उटजं विशिनष्टि । अक्षरत्रितयाधिकैर्होमधूमेति त्रिभिः ॥९९।

कथं भूतैर्वटुभिर्मृगशावैर्वा ? **ऋषिकन्यानुयायिभिः**, ऋषिकन्या अनुयातुमनुगन्तुं शीलं येषां ते, तथा तैः । ऋषिकन्यानुयानं किमर्थमिति पृच्छायामाह । **श्यामाकाञ्जलियाच्ञार्थं** श्यामाकाख्यान्नप्रस्थयाच्ञार्थमित्यर्थः । कथम्भूतैर्मृगशावैः ? धृतोपग्रहदर्भास्यैर्वृता उपग्रहरूपा दर्भाः कुशाः । 'अस्त्री कुशं कुथो दर्भः पवित्रम्' इत्यमरः । आस्ये येषां तथा तैः ॥१००।

देवता लोग यों ही बात-चीत करते हुए, होम और धूप की सुगन्ध से परिपूर्ण और बहुतेरे (वेदाध्यायो) बटुकों से भरी हुई अगस्त्य-मुनि की पर्णशाला को देखने लगे ॥ ९९ ।

तदनन्तर सांवा की अँजुरी पाने के लिए मुख में उपग्रहरूप कुश को लेकर ऋषि-कन्याओं के पीछे-पीछे घूमते हुए अनेक मृग-शावकों से अलंकृत एवं वृक्ष की शाखा में लटकते हुए और देव-वल्कल के कौपीनों से मानों विघ्नरूपी मृगों को फाँसने

सार्द्रवल्कलकौपीनैर्वृक्षशाखावलम्बिभिः ।
बद्धुं विघ्नमृगान् दिक्षु वागुराभिरिवावृतम् ॥ १०१ ।
पतिव्रताशिरोरत्नलोपामुद्राङ्घ्रिमुद्रया ।
मुद्रितं वीक्ष्य सन्नेमुः पर्णशालाङ्गणं सुराः ॥ १०२ ।
विसर्जितसमाधिं च धृतकर्णाक्षमालिकम् ।
अधिष्ठितबृसीपृष्ठं परमेष्ठिवदुत्कटम् ॥ १०३ ।
पुरोऽगस्त्यं समालोक्य सर्वे देवाः सवासवाः ।
प्रहृष्टवदनाः प्रोचुः प्रोच्चैर्जय जयेति च ॥ १०४ ।
मुनिरुत्थाय तान् सर्वानुपावेश्य यथोचितम् ।
आशीर्भिरभिनन्द्याथ पप्रच्छागमकारणम् ॥ १०५ ।

सार्द्रवल्कलान्येव कौपीनानि तैरावृतमित्यन्वयः । कथम्भूतैर्वृक्षशाखाऽवलम्बिभिः तरुस्कन्धाश्रयिभिः । कैरिव विघ्ना एव मृगास्तान् बद्धुं धर्तुं वागुराभिर्मृगबन्धनीभिरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥१०१॥

पतिव्रतानां शिरोरत्नं शिरोधार्या या लोपामुद्रा, तस्या अङ्घ्री एव मुद्रा मुद्रिका, तया मुद्रितं चिह्नितम् ॥१०२॥

धृता कर्णे अक्षमालिका जपमालिका येन, स तथा तम् । अधिष्ठितमाश्रितं बृस्याः। 'यतीनामासनं बृसी' इत्यमरः । पृष्ठमुपरिभागो येन, स तथा तम् । परमेष्ठिवदुत्कटं हिरण्यगर्भवच्छ्रेष्ठम् ॥१०३॥

एवम्भूतमगस्त्यं पुरोऽग्रतः समालोक्य प्रोच्चैर्यथा स्यात्तथा । जय जयेति चेति चकारोऽनुक्तसमुच्चये । प्रथमतः प्रणम्य, पश्चाज्जय जयेति प्रोचुरित्यर्थः । अथवा पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं पर्णशालाऽङ्गणं वीक्ष्यागस्त्यं सन्नेमुर्जय जयेति च प्रोचुरित्येव वा योजना । जय सर्वोत्कर्षमाविष्कुरु । वीप्सादरार्था ॥१०४॥

अभिनन्द्य वर्धयित्वा हर्षयित्वेति यावत् ॥१०५॥

के लिए सब दिशाओं में जालों से घिरे हुए, अथ च पतिव्रताओं की मुकुटमणि लोपामुद्रा देवी की चरणरूपी मुद्रा से मुद्रित उस पर्णकुटी के उत्तम आँगम को देखते ही प्रणाम करने लगे ॥ १००-१०२ ।

(इसके) अनन्तर समाधि का विसर्जन कर, सुमिरनी को कान के ऊपर धारण कर, योगासन पर विराजमान, साक्षात् ब्रह्मा के समानं श्रेष्ठ (तम) मुनिवर अगस्त्य को सन्मुख देख, इन्द्रादिक समस्त देवगण प्रसन्न वदन हो बड़े ऊँचे स्वर से "जय हो, जय हो" ऐसा कहने लगे ॥ १०३-१०४ ।

तब ऋषिराज ने उठकर सभी देवताओं को यथोचित स्थान पर बैठाया, आशीर्वादों से अभिनन्दित किया, तत्पश्चात् आगमन का कारण पूछने लगे ॥ १०५ ।

व्यास उवाच—

इदं पुण्यतमाख्यानं श्रुत्वा भक्तिसमन्वितः ।
पठित्वा पाठयित्वा च व्रतश्रद्धावतां पुरः ॥ १०६ ॥
विधूय सर्वपापानि ज्ञात्वाऽज्ञात्वा कृतान्यपि ।
हंसवर्णेन यानेन गच्छेच्छिवपुरं ध्रुवम् ॥ १०७ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे अगस्त्याश्रमवर्णनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रोत्रादीनां फलमाह । इदमित्यादिना ॥१०६॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

व्यास जी ने कहा—

भक्तिपूर्वक इस परम पवित्र कथा के सुनने से अथवा व्रतनिष्ठ श्रद्धाशील लोगों के आगे पढ़ने से, किं वा पढ़वाने से, मनुष्य ज्ञानकृत और अज्ञानकृत समस्त पापों को दूर हटाकर हंसवर्ण यान (विमान) पर चढ़कर, अवश्य ही शिवपुर को जाता है ॥ १०६-१०७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां देवानामगस्त्याश्रमगमनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

सूत उवाच—

मुनिपृष्टास्तदा देवा भगवंस्ते किमब्रुवन् ।
सर्वलोकहितार्थाय तदाख्याहि महामुने ।। १ ।

व्यास उवाच—

अगस्तिवचनं श्रुत्वा बहुमानपुरस्सरम् ।
धिषणाधिपतेरास्यं विबुधा व्यालुलोकिरे ।। २ ।

वाक्पतिरुवाच—

शृण्वगस्ते महाभाग देवागमनकारणम् ।
धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि मान्योऽसि महतामपि ।। ३ ।

पतिव्रताशिरोरत्नलोपामुद्रानुवर्णनम् ।
चतुर्थे वर्ण्यते शेषपापराशिप्रणाशनम् ।।१।
मुनिरुत्थाय तान् सर्वानुपवेश्य यथोचितम् ।
आशीर्भिरभिनन्द्याथ पप्रच्छागमकारणम् ।।२।

इत्युक्तम्, तत्र पृच्छति । **मुनिपृष्टा** इति ।।१।

अगस्तीति । अगस्तिरगस्त्य इत्यनर्थान्तरम् । धिषणाधिपतेर्बृहस्पतेः । व्यालुलोकिरेऽपश्यन् । देवानां बहूनां मध्ये एकेन वक्तव्ये यो मान्यो मान्येष्वपि बहुषु यो गुरुर्गुरुष्वपि यः सर्वशास्त्रार्थदर्शी, तेष्वपि यो वक्ता, तेन वक्तव्यम् । अत एवम्भूतत्वाद् बृहस्पतेस्तदास्यं देवा व्यालुलोकिरे-इत्यर्थः ।। लोकृ-लोचृ-दर्शने इति धातुः ।।२।

देवागमनकारणानुवादपूर्वकमगस्तिं स्तौति । **शृण्विति** त्रिभिः ।।३।

(पतिव्रता का आख्यान)

सूत जी बोले—

हे भगवन् ! अगस्त्य मुनि के ऐसे पूछने पर सब लोगों के हितार्थ उन देवताओं ने तब क्या कहा ? हे महामुने ! उसका वर्णन कीजिये ।। १ ।

श्रीवेदव्यास जी ने कहा—

देवता लोग अगस्त्य की बात सुनकर बड़े आदर के साथ बृहस्पति जी के मुख की ओर देखने लगे ।। २ ।

बृहस्पति जी कहने लगे—

हे महाभाग अगस्त्य ! देवताओं के आने का कारण श्रवण करो, हे मुने ! तुम धन्य हो, तुम कृतकृत्य हो एवं बड़े लोगों के भी तुम्हीं माननीय हो ।। ३ ।

प्रत्याश्रमं प्रतिनगं प्रत्यरण्यं तपोधनाः ।
किं न सन्ति मुनिश्रेष्ठ काचिदन्यैव ते स्थितिः ॥ ४ ।
तपो लक्ष्मीस्त्वयीहास्ति ब्राह्मं तेजस्त्वयि स्थिरम् ।
पुण्यलक्ष्मीस्त्वयि परा त्वय्यौदार्यं मनस्त्वयि ॥ ५ ।
पतिव्रतेयं कल्याणी लोपामुद्रा सधर्मिणी ।
तवाङ्गच्छायया तुल्या यत्कथा पुण्यकारिणी ॥ ६ ।
पतिव्रतास्वरुन्धत्या सावित्र्याप्यनसूयया ।
शाण्डिल्यया च सत्या च लक्ष्म्या च शतरूपया ॥ ७ ।
मेनया च सुनीत्या च संज्ञया स्वाहया तथा ।
यथैषा वर्ण्यते श्रेष्ठा न तथाऽन्येति निश्चितम् ॥ ८ ।

प्रत्याश्रममिति । आश्रममाश्रमं प्रति प्रत्याश्रमम् । एवमुत्तरत्रापि । नगं पर्वतम् । शैलवृक्षौ नगावित्यमरः । स्थितिर्मर्यादा ॥४।

तप इति । ब्राह्मं तेजो वेदवर्चसम् । उदारस्य भाव औदार्यं दातृत्वं महत्वं च । उदारोदातृमहतोरिति वचनादित्यर्थः । मन आत्मविषयमननाद्यन्मनस्तदित्यर्थः ॥५।

लोपामुद्रां स्तौति । **पतिव्रतेय**मित्यारभ्य इदमेव व्रतमित्यतः प्राक्तनग्रन्थेन । सधर्मिणी पत्नी । 'पत्नी पाणिगृहीता च द्वितीया च सहधर्मिणी' इत्यमरः ॥ ६ ।

अरुन्धत्यादिभिः सहकर्त्रीभिर्वा यथैषा लोपामुद्रा श्रेष्ठा वर्ण्यते, तथाऽन्या काऽपि नेति निश्चितमित्यन्वयः । **अरुन्धती** वसिष्ठस्य पत्नी, **सावित्री** ब्रह्मणः, **अनुसूयाऽत्रेः**, **शाण्डिली** कौशिकब्राह्मणपत्नी, पतिव्रताशिरोमणिः अग्निमाता च सतीश्वरपत्नी दक्षदुहिता, **लक्ष्मीर्विष्णोः**, **शतरूपा** स्वायम्भुवस्य मनोः ॥७।

मेना हिमवतः, **सुनीति**र्ध्रुवजननी उत्तानपादस्य भार्या, **संज्ञा** विवस्वतः, **स्वाहा** अग्नेरिति ॥८।

हे मुनिवर ! प्रत्येक आश्रम, प्रति पर्वत और प्रति वन में क्या तपोधन लोग नहीं हैं ? पर तुम्हारी मर्यादा कुछ और ही (निराली) है ॥ ४ ।

तुम पर तपोलक्ष्मी और ब्रह्मतेज स्थिररूप से विराजमान है, पुण्यश्री भी उत्कृष्टरूप से तुम पर शोभित है, फिर उदारता और मनस्विता भी तुम्हीं में वर्तमान है ॥ ५ ।

जिसकी कथा से लोक में पुण्य मिलता है, वही तुम्हारी सहधर्मिणी कल्याणी यह पतिव्रता लोपामुद्रा तुम्हारे शरीर की छाया के समान तुम्हारे साथ हैं ॥ ६ ।

अरुन्धती, सावित्री, अनुसूया, शाण्डिल्या, सती, लक्ष्मी, शतरूपा, मेनका, सुनीति, संज्ञा और स्वाहा इत्यादि पतिव्रताओं में, जैसी की यह लोपामुद्रा श्रेष्ठ कही जाती हैं, वैसी दूसरी कोई भी नहीं है । यह बात निश्चित है ॥ ७-८ ।

भुङ्क्ते भुक्ते त्वयि मुने तिष्ठति त्वयि तिष्ठति।
विनिद्रिते च निद्राति प्रथमं प्रतिबुध्यते ॥ ९।
अनलङ्कृतमात्मानं तव नो दर्शयेत् क्वचित्।
कार्यार्थं प्रोषिते क्वापि सर्वमण्डनवर्जिता ॥ १०।
न च ते नाम गृह्णीयात्तवायुष्यविवृद्धये।
पुरुषान्तरनामापि न गृह्णाति कदाचन ॥ ११
आक्रुष्टाऽपि न चाक्रोशेत्ताडिताऽपि प्रसीदति।
इदं कुरु कृतं स्वामिन् मन्यतामिति वक्ति च ॥ १२।
आहूता गृहकार्याणि त्यक्त्वा गच्छति सत्वरम्।
किमर्थं व्याहृता नाथ सप्रसादो विधीयताम् ॥ १३।

तादृक्पतिव्रतात्वमेवाह। भुङ्क्त इत्यादिना। प्रथमं प्रतिबुद्ध्यते, तव प्रबोधादिति शेषः ॥९॥

क्वापि कस्मिश्चिद्देशान्तरे काले वा प्रोषिते देशान्तरं गते त्वयि सकलभूषणरहिता भवति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका। इति ॥ १०।

आगत्य च किमर्थं व्याहृतेत्यादि वक्ति चेति पूर्वक्रियाया अनुषङ्गः ॥१३॥

हे मुने! तुम्हारे भोजन कर लेने पर वे भोजन करती हैं, तुम्हारे बैठ जाने पर बैठती हैं, फिर तुम्हारे सो जाने पर वह सोती और तुमसे पहिले ही जाग उठती हैं ॥ ९।

अलंकार आदि को विना पहिने तुम्हारे सामने नहीं होतीं। कार्यवश तुम्हारे चले जाने पर कभी अपना शृङ्गार नहीं करतीं ॥ १०।

तुम्हारे आयुष्य बढ़ने की इच्छा से तुम्हारा नाम नहीं लेतीं और दूसरे पुरुष का तो नाम कभी लेती ही नहीं ॥ ११।

क्रुद्ध होकर गाली देने पर भी तुम्हारा उत्तर नहीं देतीं और क्या मार देने पर भी प्रसन्न ही रहती हैं। "यह काम करो" तुम्हारे ऐसा कहने पर, "हे स्वामिन्! उसे किया हुआ ही समझिये" ऐसा कहती हैं ॥ १२।

तुम्हारे बुलाने पर घर के सब काम-काज छोड़ कर तुरन्त (दौड़ती हुई) चली आती हैं और कहती हैं कि "नाथ दासी को किस लिए पुकारा है? आज्ञा देकर अनुगृहीत कीजिये" ॥ १३।

न चिरं तिष्ठति द्वारि न द्वारमुपसेवते ।
अदापितं त्वया किञ्चित् कस्मैचिन्न ददात्यपि ॥ १४ ॥
पूजोपकरणं सर्वमनुक्ता साधयेत् स्वयम् ।
नियमोदकबर्हींषि पत्रपुष्पाक्षतादिकम् ॥ १५ ॥
प्रतीक्षमाणावसरं यथाकालोचितं हि यत् ।
तदुपस्थापयेत्सर्वमनुद्विग्नातिहृष्टवत् ॥ १६ ॥
सेवते भर्तुरुच्छिष्टमिष्टमन्नं फलादिकम् ।
महाप्रसाद इत्युक्त्वा पतिदत्तं प्रतीच्छति ॥ १७ ॥
अविभज्य न चाश्नीयाद्देवपित्रातिथिष्वपि ।
परिचारकवर्गेषु गोषु भिक्षुकुलेषु च ॥ १८ ॥
संयतोपस्करादक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।
कुर्यात्त्वयाननुज्ञाता नोपवासव्रतादिकम् ॥ १९ ॥

न द्वारमुपसेवते शयनादिनेति शेषः ॥१४॥

प्रतीच्छति गृह्णाति ॥१७॥

संयतोपस्करा सुनिर्णिक्तालङ्कारा ॥१९॥

न तो बहुत विलम्ब तक द्वार पर ठहरती और बैठती ही हैं; फिर तुम्हारे दिलाये विना किसी को कुछ नहीं देतीं ॥ १४ ।

तुम्हारे कहने के विना ही पूजा की समग्र सामग्री स्वयं जुटाये रहती हैं। नियमोदक, कुश, पत्र, पुष्प और अक्षतादिक, जिसकी जब आवश्यकता पड़ती है, तदनुसार अवसर जोहती हुई स्थिरतापूर्वक प्रसन्न-चित्त से उसे उपस्थित कर देती हैं ॥ १५-१६ ।

वे भर्ता के जूँठन मिठाई, अन्न और फलादि का सेवन करतीं एवं स्वामी की दी हुई वस्तु को महाप्रसाद कहकर ले लेती हैं ॥ १७ ।

देवता, पितर, अतिथि, सेवकवर्ग, गो और भिखारियों को दिये विना वह (कभी) भोजन नहीं करतीं ॥ १८ ।

लोपामुद्रा गृहस्थी की सामग्री और भूषणादि को सुसज्जित रखती एवं दक्षतापूर्वक प्रसन्न होकर व्यय नहीं बढ़ातीं और तुम्हारी आज्ञा पाये विना उपवास और व्रत इत्यादि कभी नहीं करती हैं ॥ १९ ।

दूरतो वर्जयेदेषा समाजोत्सवदर्शनम् ।
न गच्छेत्तीर्थयात्रादि विवाहप्रेक्षणादिषु ॥ २० ।
सुखसुप्तं सुखासीनं रममाणं यदृच्छया ।
आन्तरेष्वपि कार्येषु पतिं नोत्थापयेत्क्वचित् ॥ २१ ।
स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रन्तु स्वमुखं नैव दर्शयेत् ।
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत्स्नाता न शुद्धितः ॥ २२ ।
सुस्नाता भर्तृवदनमीक्षतेऽन्यस्य न क्वचित् ।
अथवा मनसि ध्यात्वा पतिं भानुं विलोकयेत् ॥ २३ ।
हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा ।
कूर्पासकं च ताम्बूलं माङ्गल्याभरणं शुभम् ॥ २४ ।
केशसंस्कारकबरीकरकर्णादिभूषणम् ।
भर्त्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेन्न पतिव्रता ॥ २५ ।

समाजोत्सवदर्शनं समाजश्च उत्सवश्च तयोर्दर्शनम् । दर्शनाभावमुक्त्वा गमनाभावमावेदयति । न गच्छेदिति ॥२०॥

आन्तरेषु अन्तरङ्गेषु रहस्येष्विति यावत् ॥२१॥

अथवेति । भर्तरि क्वापि गत इति शेषः ॥२३॥

कूर्पासकं चोलं कञ्चुकीति प्रसिद्धम् ॥२४॥ न **दूरयेत्** न त्यजेत् ॥२५॥

समाज और उत्सव का देखना तो दूर ही से त्याग देती हैं, फिर तीर्थयात्रा, किं वा विवाहादिक देखने के लिए भी कभी नहीं जातीं ॥ २० ।

जब कि पति (तुम) सुख से सोते अथवा सुख से बैठे, किं वा स्वेच्छानुसार किसी प्रकार के विहार में आसक्त रहे, तब अन्तरंग कार्य होने पर भी कभी नहीं उठतीं ॥२१॥

रजस्वला होने पर तीन दिन तक अपना मुख नहीं दिखलातीं और जबतक स्नान करके शुद्ध नहीं हो लेतीं, तबतक नहीं बोलतीं ॥ २२ ।

ऋतु-स्नान के अनन्तर अपने स्वामी का ही मुख देखती हैं, कदापि दूसरे किसी का मुख नहीं देखतीं । (दैवात् पति के कहीं चले जाने पर) मन ही मन स्वामी का ध्यान करती हुई सूर्य का दर्शन कर लेतीं हैं ॥ २३ ।

भर्ता के दीर्घ आयुष्य की कामना से ही यह पतिव्रता हरदी, केसर, सिन्दूर, काजल, चोलिया, ताम्बूल, उत्तम सौभाग्य के भूषण, केशों का झारना, चोटी का बाँधना, हाथ और कान आदि में गहनों का पहनना इन सबको कभी नहीं त्यागतीं ॥ २४-२५ ।

न रजक्या न हैतुक्या तथा श्रमणया न च।
न च दुर्भगया क्वापि सखित्वं कुरुते सती ॥ २६।
भर्तृविद्वेषिणीं नारीं नैषा सम्भाषते क्वचित्।
नैकाकिनी क्वचिद्भूयान्न नग्ना स्नाति च क्वचित् ॥ २७।
नोलूखले न मुसले न वर्द्धन्यां दृषद्यपि।
न यन्त्रके न देहल्यां सती चोपविशेत् क्वचित् ॥ २८।
विना व्यवायसमयं प्रागल्भ्यं न क्वचिच्चरेत्।
यत्र यत्र रुचिर्भर्त्तुस्तत्र प्रेमवती सदा ॥ २९।
इदमेव व्रतं स्त्रीणामयमेव परो वृषः।
इयमेका देवपूजा भर्त्तुर्वाक्यं न लङ्घयेत् ॥ ३०।

रजक्या वस्त्रनिर्णेजकपत्न्या उदक्यया वा।

प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी।
तृतीये रजकी प्रोक्ता चतुर्थेऽहनि शुद्धयति ॥ इति वचनात्।

यावद्रजोऽनुवर्त्तते, तावत्तया सखित्वं नाचरेदित्यर्थः। हैतुक्या सत्कर्मसुहेतुभिः सन्देहमापादयन्त्या। तदुक्तम्—'सन्देहकृद्धेतुभिर्यः सत्कर्मसु स हैतुकः' इति। श्रमणया पाषण्डमार्गकृताभ्यासया कापालिक्येत्यर्थः। यद्वा श्रमणया परिव्राजिकया बौद्धपत्न्येत्यर्थः। दुर्भगया भाग्यहीनया प्राकृतयेत्यर्थः ॥२६॥

वर्धन्यां सम्मार्जन्याम्। दृषदि पेषिण्याम्। अपिः समुच्चये। यन्त्रके गोधूमादिचूर्णशिलायाम्। देहल्यां गृहावग्रहण्याम्। 'गृहावगृहणी देहली' इत्यमरः। गृहद्वाराद्बहिरुभयत्रोच्चभूम्यामित्यर्थः ॥२८॥

प्रसङ्गात् स्त्रीधर्मानाह। इदमेवेत्यादिना ॥३०॥

यह सती, रजकी, सत्कर्म के विरुद्ध तर्क करने वाली, पाखण्डिनी और दुर्भगा स्त्रियों से कभी सखीभाव नहीं रखतीं ॥ २६।

पति से विद्वेष रखनेवाली स्त्री से तो वह कभी बात-चीत तक नहीं करतीं, न कभी अकेली रहतीं और न नग्न होकर कभी नहाती हैं ॥ २७।

यह साध्वी कभी ओखली, मूसल, बढ़नी (झाड़ू), सील, जाँवा और डेवढ़ी इत्यादि पर नहीं बैठतीं ॥ २८।

संभोग-समय को छोड़ कर कभी ढिठाई नहीं करतीं और जिस-जिस बात में पति की रुचि रहती है, यह सदैव उसे ही प्रेम से चाहती हैं ॥ २९।

स्त्रियों का एकमात्र यही व्रत, यही परम धर्म और यही देवता-पूजन है, जो वह पति के वचन का उल्लङ्घन न करे ॥ ३०।

क्लीबं वा दुरवस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव वा ।
सुस्थितं दुःस्थितं वापि पतिमेकं न लङ्घयेत् ॥ ३१ ।
हृष्टा हृष्टे विषण्णास्या विषण्णास्ये प्रिये सदा ।
एकरूपा भवेत् पुण्या सम्पत्सु च विपत्सु च ॥ ३२ ।
सर्पिर्लवणतैलादिक्षयेऽपि च पतिव्रता ।
पतिं नास्तीति न ब्रूयादायासेषु न योजयेत् ॥ ३३ ।
तीर्थस्नानार्थिनी नारी पतिपादोदकं पिबेत् ।
शङ्करादपि विष्णोर्वा पतिरेकोऽधिकः स्त्रियः ॥ ३४ ।
व्रतोपवासनियमं पतिमुल्लङ्घ्य या चरेत् ।
आयुष्यं हरते भर्त्तुर्मृता निरयमृच्छति ॥ ३५ ।
उक्ता प्रत्युत्तरं दद्याद्या नारी क्रोधतत्परा ।
सरमा जायते ग्रामे शृगाली निर्जने वने ॥ ३६ ।

क्लीवं वीर्यहीनम् ॥३१। सरमा शुनी । 'सरमा शुनी' इत्यमरः ॥३६।

'एक धरम एक व्रतनेमा, काय-वचन-मन पति पद प्रेमा' (त० रा०)। क्लीव (हिजड़ा) दुरवस्था को प्राप्त, रोगग्रस्त, वृद्ध एवं सुस्त व दुःखस्थ—पति चाहे कैसा भी क्यों न हो, पर स्त्री उसका कदापि उल्लङ्घन न करे ॥ ३१ ।

वृद्ध रोगवश जड धनहीना, अंध बधिर क्रोधी अतिदीना ।
ऐसेहु पति कर किय अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥

स्वामी के हर्षित रहने पर प्रसन्न और विषण्णमुख होने पर विषादित होने वाली सती रमणी सम्पत्ति और विपत्ति में सदैव एकरूप बनी रहती है ॥ ३२ ।

घी, नमक, तेल—इत्यादि के चुक जाने पर भी पतिव्रता नारी, "नहीं है" ऐसा कहकर पति को आयास के कामों में नहीं लगाती ॥ ३३ ।

स्त्री जब तीर्थ-स्नान की इच्छा करे, तो पति के चरणों को धोकर उसी जल को पी लेवे; क्योंकि स्त्री-जाति के लिए महादेव और विष्णु से भी बढ़कर केवल स्वामी ही होता है ॥ ३४ ।

जो स्त्री पति की बात टाल कर व्रत अथवा उपवास आदि का नियम कर लेती है, वह अपने पति का आयुष्य हरती और अन्त में नरक-गामिनी होती है ॥ ३५ ।

जो नारी स्वामी के कुछ कटुवचन कहने पर क्रोधवश उसका उत्तर दे बैठती है, वह फिर गाँव में कुतिया अथवा निर्जन वन में सियारिन होती है ॥ ३६ ।

स्त्रीणां हि परमश्चैको नियमः समुदाहृतः ।
अभ्यर्च्य चरणौ भर्त्तुर्भोक्तव्यं कृतनिश्चयम् ॥ ३७ ।
उच्चासनं न सेवेत न व्रजेत्परवेश्मसु ।
न त्रपाकरवाक्यानि वक्तव्यानि कदाचन ॥ ३८ ।
अपवादो न वक्तव्यः कलहं दूरतस्त्यजेत् ।
गुरूणां सन्निधौ क्वापि नोच्चैर्ब्रूयान्न वा हसेत् ॥ ३९ ।
या भर्त्तारं परित्यज्य रहश्चरति दुर्मतिः ।
उलूकी जायते क्रूरा वृक्षकोटरशायिनी ॥ ४० ।
ताडिता ताडितुं चेच्छेत्सा व्याघ्री वृषदंशिका ।
कटाक्षयति याऽन्यं वै केकराक्षी तु सा भवेत् ॥ ४१ ।
या भर्त्तारं परित्यज्य मिष्टमश्नाति केवलम् ।
ग्रामे वा सूकरी भूयाद्वल्गुर्वापि स्वविड्भुजा ॥ ४२ ।

रहो ग्राम्यधर्मं चरति आचरति । जारेण सार्धमिति शेषः । उलूकी पेचिका । 'उलूकस्तु वायसारातिपेचकौ' इत्यमरः ॥४०।

वृषदंशिका मार्जारी च । व्याघ्री वृषदंशिकेत्येकं पदं वा । केकराक्षी तिर्यङ्नेत्रा-वक्रनयनेति यावत् ॥४१।

वल्गुर्नामोर्ध्वचरणोऽधःशिरावृक्षावलम्बी पक्षिविशेषः । स्वविड्भुजा स्वविष्ठा-भक्षिणी । वल्गुली वेति पाठे स एवार्थः ॥४२।

स्त्रियों के लिए सबसे बड़ा एक यही नियम कहा गया है, जो वे दृढ़ संकल्पपूर्वक पति के चरणों की सेवा करके, तब भोजन करें ॥ ३७ ।

स्त्री के लिए ऊँचे आसन पर बैठना, पराये के घर पर जाना, अथवा लज्जा उपजाने वाली बातों को कहना, सर्वथा अनुचित है ॥ ३८ ।

कभी किसी को अपवाद नहीं लगाना चाहिए और कलह को तो दूर ही से त्याग देना उचित है। बड़े लोगों के पास ऊँचे स्वर से बोलना अथवा हँसना भी नहीं चाहिए ॥ ३९ ।

जो दुर्बुद्धि कामिनी स्वामी को छोड़ कर कुकर्म कराती है, वह दूसरे जन्म में पेड़ के कोटर में सोने वाली दुष्ट उलूकी होती है ॥ ४० ।

जो स्त्री स्वामी के मार देने पर उसे भी मारने की इच्छा करती है, वह बाधिन अथवा बिलारी (मादा बिल्ला) होती है और जो पर पुरुष पर कटाक्ष करती है, वह केकराक्षी (ऐंची-तानी) होती है ॥ ४१ ।

जो नारी स्वामी को छोड़कर अकेले अपने ही मिष्ठान्न खाती है, वह ग्राम्य-शूकरी अथवा अपनी विष्ठा खानेवाली चमगादड़ होती है ॥ ४२ ।

या त्वंकृत्वा प्रियं ब्रूते मूका सा जायते खलु ।
या सपत्नीं सदेर्ष्येत दुर्भगा सा पुनः पुनः ॥ ४३ ।

दृष्टिं विलुप्य भर्तुर्या कञ्चिदन्यं समीक्षते ।
काणा च विमुखी चापि कुरूपा चापि जायते ॥ ४४ ।

बाह्यादायान्तमालोक्य त्वरिता च जलाशनैः ।
ताम्बूलैर्व्यजनैश्चैव पादसंवाहनादिभिः ॥ ४५ ।

तथैव चाटुवचनैः खेदसन्नोदनैः परैः ।
या प्रियं प्रीणयेत् प्रीता त्रिलोकी प्रीणिता तया ॥ ४६ ।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा ॥ ४७ ।

त्वङ्कृत्य त्वङ्कारं कृत्वा । हुङ्कृत्येति क्वचित्पाठः ॥४३॥

विलुप्य वस्त्रादिनाच्छाद्य व्यवधायेत्येतत् । भर्तृसम्बन्धिनीं दृष्टिं त्यक्त्वेति वा ॥४४॥ बाह्याद् गृहबाह्यप्रदेशात् ॥४५॥ खेदसन्नोदनैर्दुःखापनोदनकर्तृभिः परैरन्यैः। परैः श्रेष्ठैर्वा ॥४६॥

जो कोई भर्ता (पति)को तू कहकर रेरी मारती है, वह अवश्य ही गूंगी होती है और जो सौत से सदैव डाह किया करती है, वह बारम्बार दुर्भगा होती है ॥ ४३ ।

जो कि पति की दृष्टि बचाकर पर पुरुष की ओर ताकती है, वह पर जन्म में कानी, कुमुखी और कुरूपा होती है ॥ ४४ ।

जो नारी पति को बाहर से आता हुआ देखकर प्रेमपूर्वक तुरत जल, आसन, ताम्बूल, पंखा आदि वस्तुएँ तथा पाँव दाबना इत्यादि सेवा, खेद दूर करने वाले मधुर वचनों से यथासमय प्रसन्न करती है, वह समस्त त्रैलोक्य को प्रसन्न कर चुकी होती है ॥ ४५-४६ ।

पिता, भ्राता और पुत्र—ये सब परिमित सुख को देने वाले होते हैं, अतएव अपरिमित सुख के दाता भर्त्ता की सदैव पूजा करे ।

"मातु पिता भ्राता हितकारी । मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भरता वैदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥" (तु. रा.)

माता पिता सुत पिता, परिमित सुख सब देही ।
देत अपरिमित सुख पती, सब विधि सेवै तेही ॥ ४७ ।

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य [1]पतिमेकं समर्चयेत् ॥ ४८ ।
जीवहीनो यथा देहः क्षणादशुचितां व्रजेत्।
भर्तृहीना तथा योषित् सुस्नाताप्यशुचिः सदा ॥ ४९ ।
अमङ्गलेभ्यः सर्वेभ्यो विधवा त्यक्तमङ्गला।
विधवा दर्शनात्सिद्धिः क्वापि जातु न जायते ॥ ५० ।
विहाय मातरं चैकां सर्वामङ्गलवर्जिताम्।
तदाशिषमपि प्राज्ञस्त्यजेदाशीविषोपमाम् ॥ ५१ ।
कन्याविवाहसमये वाचयेयुरिति द्विजाः।
भर्त्तुः सहचरो भूयाज्जीवतोऽजीवतोऽपि वा ॥ ५२ ।
भर्ता सदानुयातव्यो देहवच्छायया स्त्रिया।
चन्द्रमाज्योत्स्नया यद्वद्विद्युत्वान् विद्युता यथा ॥ ५३ ।

तदाशिषमित्यत्र तच्छब्दो मातृव्यतिरिक्तरण्डाविषयः।

संन्यस्ताऽखिलकर्माऽपि पितुर्वन्द्यो हि मस्करी।
सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः॥

इत्यत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्। **आशीविषोपमां** सर्पोपमाम्। 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गो हि भुजङ्गमः। आशीविषो विषधरश्चक्री व्यालः सरीसृपः' इत्यमरः ॥५१।

भर्तेति। स्त्रिया जीवन्मृतो वा भर्ताऽनुयातव्योऽनुगन्तव्य इत्यर्थः। अत्रानुगुणं दृष्टान्तत्रयमाह। देहवदिति पादत्रयेण। विद्युत्वान् मेघः ॥५३।

स्त्रियों का भर्त्ता ही देवता, गुरु, धर्म, तीर्थ, और व्रत इत्यादि सब कुछ है। अतएव सब किसी को छोड़कर एक मात्र स्वामी का सेवन करना चाहिए ॥ ४८ ।

जिस भाँति से जीव से अलग होते ही तुरन्त शरीर अपवित्र हो जाता है, वैसे ही भर्त्ता से हीन स्त्री भी चाहे स्नान कर लिए हुए हो; पर सदैव अशुद्ध ही रहती है ॥४९।

समस्त अमङ्गलों से बढ़कर अमङ्गल मूर्ति विधवा स्त्री ही होती है; (क्योंकि) किसी कार्य के प्रारम्भ में यदि विधवा दिखाई पड़ जाय, तो चाहे कहीं पर हो, फिर वह काम कभी सिद्ध नहीं होता ॥ ५० ।

पण्डितजन, सब अमङ्गलों से रहित एकमात्र माता को छोड़कर, और विधवाओं के आशीर्वाद को भी, सर्प के समान जानकर परित्याग देवें ॥ ५१ ।

कन्याओं के विवाह की वेला में द्विज लोग यही (आशीर्वाद) पढ़ते हैं कि पति के जीते जी अथवा मर जाने पर भी (तुम) सहचरी बनी रहो ॥ ५२ ।

जिस प्रकार से परछाँही देह की, जैसे चन्द्रिका चन्द्रमा की और जिस भाँति बिजली मेघ की सहचरी होती है, स्त्री को भी वैसे ही पति की सदैव अनुगामिनी होनी चाहिए ॥ ५३ ।

---

१. सर्वदा पतिमर्चयेदित्यपि पाठः।

अनुव्रजति भर्तारं गृहात् पितृवनं मुदा।
पदे पदेऽश्वमेधस्य फलं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ ५४ ।
व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
एवमुत्क्रम्य दूतेभ्यः पतिं स्वर्गं नयेत्सती ॥ ५५ ।
यमदूताः पलायन्ते सतीमालोक्य दूरतः।
अपि दुष्कृतकर्माणं समुत्सृज्य च तत्पतिम् ॥ ५६ ।
न तथा बिभीमो वह्नेर्न तथा विद्युतो यथा।
आपतन्तीं समालोक्य वयं दूताः पतिव्रताम् ॥ ५७ ।
तपनस्तप्यतेऽत्यन्तं दहनोऽपि च दह्यते।
कम्पन्ते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः ॥ ५८ ।

पतिमनुव्रजन्त्यगुच्छन्ती चिताऽऽरोहार्थमिति शेषः। पितृवनं श्मशानम्। मुदेति बलात्कारेण मनं वार्यते ॥५४॥

पतिव्रतामाहात्म्यमाह। व्यालग्राहीत्यारभ्य शीलभङ्गेनेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। व्यालं सर्पं ग्रहीतुं शीलं यस्य स व्यालग्राही, मनुष्यः पक्षिविशेषो वा। उत्क्रम्य मोचयित्वा ॥५५॥

न बिभीमः भयं न प्राप्नुमः ॥ ५७। दह्यत इति कर्मकर्तर्यात्मनेपदम्। महस्तेजः ॥५८॥

जो नारी पतिदेव के साथ सह-मरण के उद्देश्य से अर्थात् सती होने की इच्छा से हर्षपूर्वक घर से श्मशानपर्यन्त स्वामी का अनुगमन करती है, उसे पद-पद में निस्सन्देह अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ।

व्यालग्राही (मदारी) जैसे बलपूर्वक सांप को बिल से खींच लेता है, उसी भाँति पतिव्रता भी यमराज के दूतों से छीन कर अपने प्राणनाथ को स्वर्ग में ले जाती है ॥५५॥

यमकिंकर लोग सती स्त्री को देखते ही उसके घोर पापी पति को भी छोड़कर दूर भाग जाते हैं ॥ ५६ ।

"हम सब यमदूत लोग पतिव्रता को आती हुई देखकर जैसा भय खाते हैं, वैसा तो अग्नि अथवा विद्युत् से भी नहीं डरते"—यम के दूत यही कहा करते हैं ॥ ५७ ।

पतिव्रता के तेज को देखकर तपनदेव (सूर्य) तापित और दहन (अग्नि) भी दग्ध होने लगता है एवं (उसके आगे) सभी प्रकार के तेज काँपने लग जाते हैं ॥ ५८ ।

यावत्स्वलोमसंख्याऽस्ति तावत्कोट्ययुतानि च ।
भर्त्रा स्वर्गसुखं भुङ्क्ते रममाणा पतिव्रता ।। ५९ ।
धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः ।
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता ।। ६० ।
पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्त्रयस्त्रयः ।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते ।। ६१ ।
शीलभङ्गेन दुर्वृत्ताः पातयन्ति कुलत्रयम् ।
पितुर्मातुस्तथा पत्युरिहामुत्र च दुःखिताः ।। ६२ ।
पतिव्रतायाश्चरणो यत्र यत्र स्पृशेद्भुवम् ।
तत्रेति भूमिर्मन्येत नात्र भारोऽस्ति पावनी ।। ६३ ।

भर्त्रा सह रममाणा भर्त्रा कर्त्रा क्रीडमाना इति वा । उक्तञ्च—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ।। इति।५९।।

के ते धन्यास्तत्राह । येषां गेहे **पतिव्रतेति** ।।६०। विकर्मस्थां निन्दति । शीलभङ्गेनेत्येकेन ।।६२।

पुनरपि पतिव्रताया माहात्म्यमाह । पतिव्रताया इत्यष्टभिः । पतिव्रतायाश्चरणो यत्र यत्र भुवं भूप्रदेशं स्पृशेत् स्पृशति, तत्रेत्यत्र वीप्सा बोद्धव्या । तत्र तत्र भूमिरिति मन्यते । किं तत्तदाह । नात्र मम भारोऽस्ति; किन्त्वनेन पादस्पर्शेनाहं पावनी पावित्र्य-कर्त्री पवित्रेति वा ।।६३।

पतिव्रता अपने शरीर में जितने रोम हैं, उतने अयुत कोटि वर्ष तक पति के साथ विहार करती हुई स्वर्ग का सुख भोग करती है ।। ५९ ।

इस संसार में धन्य वह माता और धन्य वह पिता एवं परम धन्य वह श्रीमान् पति है, जिसके घर में पतिव्रता विराजमान रहती है ।। ६० ।

पिता के वंश के और माता के वंश के एवं पति के वंश के तीन-तीन पुरुष (पीढ़ी) पतिव्रता के पुण्यबल से स्वर्ग का सुख भोग करते हैं ।। ६१ ।

दुश्चरित्र नारी अपने शील-भंग के दोष से पिता के, माता के और पति के—तीनों ही कुलों को अपवित्र कर देती है और स्वयं भी इस लोक में और परलोक में दुःख ही भोगती है ।। ६२ ।

भूमि पर जहां-जहां पतिव्रता के चरण पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ पृथिवी अपने को पवित्र और भार-रहित समझती है ।। ६३ ।

बिभ्यत्पतिव्रतास्पर्शं कुरुते भानुमानपि ।
सोमो गन्धवहश्चापि स्वपावित्र्याय नान्यथा ॥ ६४ ।
आपः पतिव्रतास्पर्शमभिलष्यन्ति सर्वदा ।
अद्य जाड्यविनाशो नो जातास्त्वद्यान्यपावनाः ॥ ६५ ।
गृहे गृहे न किं नार्यो रूपलावण्यगर्विताः ।
परं विश्वेशभक्त्यैव लभ्यते स्त्री पतिव्रता ॥ ६६ ।
भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च ।
भार्या धर्मफलावाप्त्यै भार्या सन्तानवृद्धये ॥ ६७ ।
परलोकस्त्वयं लोको जीयते भार्यया द्वयम् ।
देवपित्रतिथीज्यादि नाभार्यः कर्म चार्हति ॥ ६८ ।

बिभ्यद् भयं कुर्वाणः । अर्थात्पापेभ्य इति त्रयाणां विशेषणम् ॥६४॥

जाड्यं जडत्वम्, अज्ञानं वा । तुशब्दोऽवधारणार्थः । अन्यपावना अन्येषां पावनकर्त्र्यः ॥६५॥

एवं भूता तु भार्या दुर्लभेत्याह । **गृहे गृहे** इति । रूपला॰ गर्विताः । रूपमंङ्गसौष्ठवम्, लावण्यं कान्तिः, ताभ्यां गर्विताः ॥६६-६७॥

परे इति । भार्यया द्वयं जीयत इति सामान्येनान्वयः । पश्चात् किं तद्द्वयमित्याकाङ्क्षायामाह । परलोकोऽयं लोक इति । देवपित्रतिथीज्यादिकर्मेत्यन्वयः ॥६८॥

सूर्य, चन्द्र, वायु भी डरते ही डरते पतिव्रता का स्पर्श केवल अपने को पवित्र करने की इच्छा से करते हैं और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है ॥ ६४ ।

जल भी सदैव पतिव्रता के शरीर को चाहा करते हैं, कि "आज हमारी जड़ता दूर हुई और आज हम लोग भी दूसरों को पवित्र करने योग्य हो गए" ॥ ६५ ।

रूप और लावण्य से गर्विता स्त्रियाँ ता घर-घर में हैं; पर पतिव्रता नारी विश्वेश्वर की भक्ति से ही मिल सकती है ॥ ६६ ।

भार्या ही गृहस्थ होने की मूल है और सब सुखों का मूल भी भार्या ही है। फिर समस्त धर्मों के फल मिलने का कारण एक भार्या ही होती है एवं भार्या के ही द्वारा वंश की भी वृद्धि हो सकती है ॥ ६७ ।

एकमात्र भार्या की ही सहायता से यह लोक और परलोक दोनों ही जीते जाते हैं, (क्योंकि) भार्याहीन गृहस्थ देवकार्य, पितृकार्य और अतिथि-सत्कारादि कोई भी कर्म करने का अधिकारी नहीं हो सकता है ॥ ६८ ।

गृहस्थः स हि विज्ञेयो यस्य गेहे पतिव्रता ।
ग्रसतेऽन्या प्रतिपदं राक्षस्या जरयाऽथवा ॥ ६९ ।
यथा गङ्गावगाहेन शरीरं पावनं भवेत् ।
तथा पतिव्रता दृष्ट्या शुभया पावनं भवेत् ॥ ७० ।
अनुयाति न भर्तारं यदि दैवात्कथञ्चन ।
तत्रापि शीलं संरक्ष्यं शीलभङ्गात्पतत्यधः ॥ ७१ ।
तद्वैगुण्यादपि स्वर्गात्पतिः पतति नान्यथा ।
तस्याः पिता च माता च भ्रातृवर्गस्तथैव च ॥ ७२ ।
पत्यौ मृते च या योषिद्वैधव्यं पालयेत्क्वचित् ।
सा पुनः प्राप्य भर्तारं स्वर्गभोगान् समश्नुते ॥ ७३ ।

अन्याऽपतिव्रता । प्रतिपदं प्रतिक्षणम् । प्रतिदिनमिति क्वचित्पाठः । जरैव राक्षसी, तया जरया राक्षस्या, ग्रस्यत इति शेषः । अथवेति पक्षान्तरे । यथेति पाठे जरानाम्न्या राक्षस्या वा यथेति दृष्टान्तत्वेन व्याख्येयम् ॥६९-७०॥

सभर्तृकाणां पतिव्रतानां धर्मानुक्त्वाऽभर्तृकानां धर्मान् वक्तुमुपक्रमते । **अनुयाति न भर्तारमिति** । शीलं पातिव्रत्यं स्वभावं सद्वृत्तं वा । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः ॥७१॥

तद्वैगुण्यात् शीलवैगुण्याद् भार्यावैगुण्याद्वा । तथा चोक्तम्— 'पतत्यर्धंशरीरेण यस्य भार्या सुरां पिबेत्' इति । तस्याः पित्रादयोऽपि तथैव पतन्तीत्याह । **तस्या इति** ॥७२॥

भर्तृविहीनायाः पतिव्रताया उभयलोककष्टशङ्कां शातयति । **पत्याविति** ॥७३॥

जिसके घर में पतिव्रता नारी वर्तमान है, वास्तव में वहीं गृहस्थ है और नहीं तो दूसरी स्त्री जरा राक्षसी की नाईं पग-पग पर पति को ग्रसा करती है ॥ ६९ ।

गङ्गा-स्नान करने से शरीर जैसे पवित्र होता है, उसी भाँति पतिव्रता की शुभ-दृष्टि पड़ जाने से भी देह पावन हो जाता है ॥ ७० ।

स्त्री यदि दैवात् किसी कारण से पति के साथ सती नहीं हो सके, तो भी उसे शुद्ध रीति से अपने शील की रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि चरित्र के भ्रष्ट हो जाने से तो वह परम पतित हो जाती है ॥ ७१ ।

(फिर वह अकेली ही नहीं पतित होती; वरन्) उसी के दोष से उसका पति, पिता, माता और भ्रातृवर्ग भी स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ७२ ।

परन्तु पति के मर जाने पर जो नारी यथार्थ रीति से वैधव्य-व्रत का पालन करती है, वह पुनः परलोक में पति के साथ स्वर्ग के सुखों को भोगती है ॥ ७३ ।

विधवाकबरीबन्धो भर्तृबन्धाय जायते ।
शिरसो वपनं तस्मात्कार्यं विधवया सदा ॥ ७४ ।
एकाहारः सदा कार्यो न द्वितीयः कदाचन ।
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पक्षव्रतमथाऽपि वा ॥ ७५ ।
मासोपवासं वा कुर्याच्चान्द्रायणमथाऽपि वा ।
कृच्छ्रं पराकं वा कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा ॥ ७६ ।
यवान्नैर्वा फलाहारैः शाकाहारैः पयोव्रतैः ।
प्राणयात्रां प्रकुर्वीत यावत् प्राणः स्वयं व्रजेत् ॥ ७७ ।

विधवेति । विधवाया यः कबरीबन्धः, कबरीकेशवेशः । 'कबरीकेशवेशः' इत्यमरः । तस्या बन्धो व्यसनम् । बन्धकं व्यसनमित्यमरः । स भर्तृबन्धाय भर्तृव्यसनाय नरकाय जायत इत्यर्थः ॥७४-७५।

चान्द्रायणमथापि वेति । चान्द्रायणपराककृच्छ्रतप्तकृच्छ्राणां स्वरूपं च पराशरसंहितायामुक्तम्—

एकैकं वर्द्धयेद्ग्रासं शुक्ले कृष्णे तु ह्रासयेत् ।
अमावास्यां न भुञ्जीत एष चान्द्रायणो विधिः ॥
कुक्कुटस्याण्डमात्रन्तु ग्रासन्तु परिकल्पयेत् ।
अन्यथा भावदोषेण न धर्मो न च शुद्ध्यति ॥
यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणोदनः ॥
त्र्यहमुष्णं पिबेदापस्त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत् ।
त्र्यहमुष्णं घृतं पीत्वा वायुभक्ष्यो दिनत्रयम् ॥
षट्पलन्तु पिबेदापस्त्रिपलन्तु पयः पिबेत् ।
पलमेकं पिबेत्सर्पिस्तप्तकृच्छ्रं प्रकीर्तितम् ॥ इति ७६-७७।

विधवा स्त्री के चोटी बाँधने से भर्ता को बँधना पड़ता है, इसलिए उसे सर्वदा शिर के बाल मुड़वा देने चाहिए ॥ ७४ ।

विधवा को रात-दिन में सदैव एक ही बार भोजन करना उचित है, दुबारा कभी नहीं खाना चाहिए । विधवा नारी त्रिरात्र, पंचरात्र अथवा पक्षव्रत, मासोपवास, चान्द्रायण, प्राजापत्य, पराक एवं तप्तकृच्छ्र इत्यादि व्रतों को करती रहे ॥ ७५-७६ ।

जबतक प्राण आप से आप नहीं निकल जावे, तबतक यव इत्यादि अन्न, फलाहार, शाक (साग) भक्षण, किं वा दुग्ध पान भर करके जीवन-यात्रा का निर्वाह करे ॥ ७७ ।

पर्यङ्कशायिनी नारी विधवा पातयेत् पतिम् ।
तस्माद् भूशयनं कार्यं पतिसौख्यसमीहया ॥ ७८ ।
न चाङ्गोद्वर्तनं कार्यं स्त्रिया विधवया क्वचित् ।
गन्धद्रव्यस्य संयोगो नैव कार्यस्तया पुनः ॥ ७९ ।
तर्पणं प्रत्यहं कार्यं भर्तुः कुशतिलोदकैः ।
तत्पितुस्तत्पितुश्चापि नामगोत्रादिपूर्वकम् ॥ ८० ।
विष्णोस्तु पूजनं कार्यं पतिबुद्ध्या न चान्यथा ।
पतिमेव सदा ध्यायेद्विष्णुरूपधरं हरिम् ॥ ८१ ।
यद्यदिष्टतमं लोके यच्च पत्युः समीहितम् ।
तत्तद्गुणवते देयं पतिप्रीणनकाम्यया ॥ ८२ ।
वैशाखे कार्तिके माघे विशेषनियमांश्चरेत् ।
स्नानं दानं तीर्थयात्रां विष्णोर्नामग्रहं मुहुः ॥ ८३ ।
वैशाखे जलकुम्भाश्च कार्तिके घृतदीपकाः ।
माघे धान्यतिलोत्सर्गः स्वर्गलोके विशिष्यते ॥ ८४ ।

पर्यङ्केति । अत्रापि च वक्ष्यति । पर्यङ्कशायिनी खट्वाशायिनी । ताच्छील्यप्रयोगात् कदाचित् कथञ्चिच्छयने दोषो नास्तीति ध्वनितम् ॥७८॥

पलँग पर सोने वाली विधवा पति को पतित कर देती है, इसलिए पति के सुखाभिलाष से उसे भूतल पर ही सोना चाहिए ॥ ७८ ।

विधवा को कभी अपने शरीर में (तेल) उबटन अथवा किसी प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥ ७९ ।

वह प्रतिदिन अपने पति का तथा उसके पिता और पितामह का नाम-गोत्र कहकर कुश-तिल-यव से तर्पण करे ॥ ८० ।

फिर केवल पति-बुद्धि से विष्णु भगवान् की पूजा करे और विष्णुरूपी हरि को पतिदेव ही समझकर ध्यान करे ॥८१।

संसार में जो-जो वस्तु अपने को प्रिय हों, किं वा जिसे उसका स्वामी चाहता रहा हो, उन सब द्रव्यों को पति के ही प्रीति-हित गुणशाली ब्राह्मण को दान करे ॥८२।

विधवा नारी वैशाख, कार्तिक और माघ मास में कुछ विशेष नियमों को धारण करे, अर्थात् स्नान, दान, तीर्थयात्रा और बारम्बार विष्णु का नामोच्चारण करे ॥ ८३ ।

वैशाख (मास) में जल से पूर्ण घड़ों का दान, कार्तिक में (देवालयों पर) घृत के दीप-दान एवं माघ-मास में धान्य और तिलों का दान करने से स्वर्गलोक में विशेष सुखलाभ होता है ॥ ८४ ।

प्रपा कार्या च वैशाखे देवे देया गलन्तिका ।
उपानद्व्यजनं छत्रं सूक्ष्मवासांसि चन्दनम् ॥ ८५ ।
सकर्पूरं च ताम्बूलं पुष्पदानं तथैव च ।
जलपात्राण्यनेकानि तथा पुष्पगृहाणि च ॥ ८६ ।
पानानि च विचित्राणि द्राक्षारम्भाफलानि च ।
देयानि द्विजमुख्येभ्यः पतिर्मे प्रीयतामिति ॥ ८७ ।
ऊर्जे यवान्नमश्नीयादेकान्नमथवा पुनः ।
वृन्ताकं सूरणं चैव शुकशिम्बी च वर्जयेत् ॥ ८८ ।
कार्तिके वर्जयेत्तैलं कार्तिके वर्जयेन्मधु ।
कार्तिके वर्जयेत्कांस्यं कार्तिके चापि सन्धितम् ॥ ८९ ।
कार्तिके मौननियमे घण्टां चारु प्रदापयेत् ।
पत्रभोजी कांस्यपात्रं घृतपूर्णं प्रयच्छति ॥ ९० ।

प्रपा जलशाला । 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यमरः । **गलन्तिका** देवोपरि दीयमाना कुम्भस्था जलधारा ॥८५॥ **द्राक्षा** मृद्वीका ॥८७॥

ऊर्जे कार्तिके । **वृन्ताकं** प्रसिद्धम् । **सूरणमर्शोघ्नम्** । **शुकशिंबि** शुकनासाकारा शिबिः, शुकशिबिः, तां निष्पावमिति यावत् । शुकशिबीमिति पाठे दीर्घाकारां मृदुं शिबीमित्यर्थः । **वापिशब्दौ** समुच्चयवाचिनौ ॥८८॥

सन्धितं सन्धानं बिल्वामलकादीनाम् । चुक्रसन्धितमिति पाठे चुक्रं च सन्धितञ्च चुक्रेण वृक्षाम्लेन अम्लेन वा । 'चुक्रं वृक्षाम्ले चाङ्गेर्यां स्त्रीपुंस्यम्लेऽम्लवेतस' इति मेदिनीकारः ॥८९॥ **प्रयच्छति** प्रयच्छेत् ॥९०॥

विधवा स्त्री वैशाख मास में पौसरा, देवताओं के ऊपर जलधरी, जूता, पंखा, छाता, सूक्ष्म (महीन) वस्त्र, चन्दन, कर्पूरयुक्त ताम्बूल, फूल, भाँति-भाँति के जलपात्र, पुष्पमण्डल, विचित्र रसादिक, पानीय वस्तु एवं दाख (अंगूर) और केला आदि फल—केवल इसी इच्छा से उत्तम ब्राह्मणों को दान करें कि "मेरे प्राणपति प्रसन्न होवें" ॥ ८५-८७ ।

वह कार्तिक मास में जव अथवा कोई भी एक अन्न का भोजन करे एवं भण्टा, सूरन और सेम (बोड़ा आदि) की तरकारी नहीं खाए ॥ ८८ ।

कार्त्तिक में तेल को त्याग देवे, कार्तिक मास भर मधु (शहद) नहीं खाए, कार्तिक मास में कांस्य (कांसा-फूल) के पात्रों का व्यवहार न करे एवं कार्तिक में अचार भोजन न करे ॥ ८९ ।

यदि कार्तिक-मास में मौन-व्रत का नियम करे, तो उत्तम घण्टा दान देवे और जो कोई पतरी पर खाता हो, उसे घृतपूर्ण कांस्य का पात्र देना उचित है ॥ ९० ।

भूमिशय्या व्रते देया शय्याश्लक्ष्णा सतूलिका ।
फलत्यागे फलं देयं रसत्यागे च तद्रसम् ॥ ९१ ।
धान्यत्यागे च तद्धान्यमथवा शालयः स्मृताः ।
धेनूर्दद्यात्प्रयत्नेन सालङ्कारा: सकाञ्चना: ॥ ९२ ।
एकतः सर्वदानानि दीपदानं तथैकतः ।
कार्तिके दीपदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ९३ ।
किञ्चिदभ्युदिते सूर्ये माघस्नानं समाचरेत् ।
यथाशक्त्या च नियमान् माघस्नायी समाचरेत् ॥ ९४ ।
पक्वान्नैर्भोजयेद्विप्रान् यतिनोऽपि तपस्विनः ।
लड्डुकैः फेणिकाभिश्च वटकेण्डरिकादिभिः ॥ ९५ ।
घृतपक्वैः समरिचैः शुचिकर्पूरवासितैः ।
गर्भे शर्करया पूर्णैर्नेत्रानन्दैः सुगन्धिभिः ॥ ९६ ।
शुष्केन्धनानां भारांश्च दद्याच्छीतापनुत्तये ।
कञ्चुकं तूलगर्भं च तूलिकां सूपवीतिकाम् ॥ ९७ ।

किञ्चिदभ्युदिते अरुणोदय इत्यर्थः । यथाशक्त्या यथाशक्ति ॥९४॥
वटकेति । इण्डरिकमिण्डरीति पुरुषोत्तमेऽत्यन्तं प्रसिद्धम् । आदिपदेन पूरिकाघर्घरीमण्डकादयो गृह्यन्ते ॥ ९५ । घृतपक्वैरिति गर्भे शर्करया पूर्णैरिति यथासम्भवं बोद्धव्यम् ॥९६॥ कञ्चुकशब्देनात्र पुरुषपरिधेयं शीतत्राणवस्त्रं गृह्यते । सूपवीतिकाम् शोभनप्रावरणिकाम् ॥९७॥

भूमि-शयन-व्रत करने पर अत्यंत कोमल तोषक-सहित शय्यादान करे, फल छोड़ने पर फल, और रस त्याग देने पर वही रस (अन्त में) दान करे ॥ ९१ ।

यों ही जो धान्य त्यागे हों, वही धान्य अथवा शालिधान्य (चावल) देवे, फिर बड़े प्रयत्न से अलंकार और सुवर्ण के सहित धेनु (गौ) का दान (अवश्य) करे ॥ ९२ ।

एक ओर सब दान और दूसरी ओर दीप-दान, कार्तिक मास में कोई भी दान दीप-दान के षोडशांश को नहीं पहुँच सकता ॥ ९३ ।

सूर्य के कुछ उदय होने तक माघ-मास में स्नान कर डाले एवं माघ नहाने वाले यथाशक्ति सब नियमों का पालन करे ॥ ९४ ।

ब्राह्मण, संन्यासी और तपस्वी लोगों को पकान्न, लड्डु, फेनी, बड़ा, इडरिका इत्यादि, घृपपक्क मरिच-पूरित शुद्ध कर्पूर से वासित, गर्भ के भीतर शक्कर से भरे हुए, नयन-सुखद, सुगन्धित द्रव्यों को भोजन कराए ॥ ९५-९६ ।

शीत दूर करने के लिए सूखे इन्धनों के बोझे, रूई भरे हुए पहिनने के कपड़े, दुपट्टे के सहित तोषक, मँजीठ के रंगे हुए सुन्दर वस्त्र, रूई भरी हुई रजाई, जायफल

मञ्जिष्ठारक्तवासांसि तथा तूलवतीं पटीम् ।
जातीफललवङ्गैश्च ताम्बूलानि बहून्यपि । ९८ ।
कम्बलानि विचित्राणि निर्वातानि गृहाणि च ।
मृदुलाः पादरक्षाश्च सगन्धयुद्वर्तनानि च ॥ ९९ ।
घृतकम्बलपूजाभिर्महास्नानपुरस्सरम् ।
कृष्णागुरुप्रभृतिभिर्गर्भागारे प्रधूपनैः ॥ १०० ।
स्थूलवर्तिप्रदीपैश्च नैवेद्यैर्विविधैस्तथा ।
भर्तृस्वरूपो भगवान् प्रीयतामिति चोच्चरेत् ॥ १०१ ।
एवंविधैश्च विधवा विविधैर्नियमैर्व्रतैः ।
वैशाखान् कार्तिकान् माघानेवमेवातिवाहयेत् ॥ १०२ ।
नाधिरोहेदनड्वाहं प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
कञ्चुकं न परीदध्याद्वासो न विकृतं न्यसेत् ॥ १०३ ।
अपृष्ट्वा तु सुतान् किञ्चिन्न कुर्याद्भर्तृतत्परा ।
एवं चर्यापरा नित्यं विधवाऽपि शुभा मता ॥ १०४ ।

मञ्जिष्ठारक्तवासांसि मञ्जिष्ठया रक्तवस्त्राणि ॥९८।

घृतकम्बलपूजाभिः घृतनिर्मितकम्बलपूजाभिर्बदरिकाश्रमे श्रीनारायणे प्रसिद्धाभिः। कर्मधारयो द्वन्द्वो वा। गर्भागारेऽगारस्य गर्भं गर्भागारम्, तस्मिन् देवालयमध्ये इत्यर्थः ॥१००।

अनड्वाहं वलीवर्दम्। विकृतं विशेषेण कृतं चित्रमित्यर्थः। न्यसेद् वसेदित्यर्थः। वसेदित्येव वा पाठः ॥१०३।

और लवंग डाले हुए बहुत से ताम्बूल, विचित्र कम्बल, निर्वातगृह, कोमल पदत्राण एवं सुगन्धित उबटन इत्यादि दान करे ॥ ९७-९९ ।

फिर महास्नान की विधि को कर (बदरीनारायण के आश्रम में प्रसिद्ध) घृत-निर्मित कम्वल पूजाओं से तथा कालागुरु इत्यादि के द्वारा देवालयों के भीतर धूपदान करने से, मोटी बत्ती के दीपों का दान और भाँति-भाँति के नैवेद्यों से "पतिरूपी भगवान् प्रसन्न होवें" ऐसा कहे ॥ १००-१०१ ।

इस प्रकार के विविध नियम और व्रतादिक के द्वारा विधवा नारी वैशाख, कार्तिक और माघ महीनों को बिताए ॥ १०२ ।

प्राणों के कण्ठ में लग जाने पर भी बैल पर न चढ़े एवं चोली अथवा रंग-

पतिव्रता विधवा पुत्रों से बिना पूछे कुछ भी न करे, इस प्रकार के आचारों को कर वाली विधवा-स्त्री भी उत्तम समझी जाती है ॥ १०४ ।

एवं धर्मसमायुक्ता विधवाऽपि पतिव्रता।
पतिलोकानवाप्नोति न भवेत् क्वापि दुःखभाक् ॥ १०५।
न गङ्गया तया भेदो या नारी पतिदेवता।
उमाशिवसमा साक्षात् तस्मात्तां पूजयेद्बुधः ॥ १०६।

बृहस्पतिरुवाच—

गङ्गास्नानफलं त्वेतद्यज्जातं तव दर्शनम्।
लोपामुद्रे महामातर्भर्तृपादाम्बुजेक्षणे ॥ १०७।
इति स्तुत्वा महाभागां राजपुत्रीं पतिव्रताम्।
प्रणम्य च गुरुः प्राह मुनिं सर्वार्थकोविदः ॥ १०८।
प्रणवस्त्वं श्रुतिरियं क्षमैषा त्वं स्वयं तपः।
सत्क्रियेयं फलं त्वं हि धन्योऽसीति महामुने ॥ १०९।

उपसंहरति। **एवं धर्मेति** ॥१०५॥

लोपामुद्रां स्तौति। **गङ्गेति**। तव दर्शनं यज्जातमेतद् गङ्गास्नानफलं जातमिति सम्बन्धः। तुशब्दोऽवधारणे। जातमेवेत्यर्थः ॥१०६॥

प्रणतिपूर्वकं सभार्यमगस्त्यं स्तौति। **प्रणम्य चेति**। काकाक्षिन्यायेन प्रणम्येत्यस्योभयत्र सम्बन्धः। चकारः समुच्चये सम्भ्रमे वा ॥१०८॥

इस प्रकार से धर्मानुष्ठान में तत्पर रहने वाली विधवा भी पतिव्रता ही होती है, वह कभी दुःख-भागिनी नहीं होती और अन्त में पति के लोक में चली जाती है ॥ १०५।

जो नारी पति-देवता है, उसमें और गंगा में कुछ भी भेद नहीं रहता। वह तो साक्षात् शिव-पार्वती के समान हो जाती है। अतएव विज्ञजनों को उचित है कि उसका पूजन करें ॥ १०६।

बृहस्पति जी (फिर) कहने लगे—

हे लोपामुद्रे! महामातः! तुम पति के चरणारविन्दों को ही देखती रहती हो, हे देवि, आज तुम्हारा दर्शन हो जाने से गंगा-स्नान करने का फल मिल गया ॥ १०७।

सर्वार्थ विशारद देवगुरु इस प्रकार से परम पतिदेवता महाभागा राजपुत्री लोपामुद्रा की स्तुति (बड़ाई) कर प्रणाम के अनन्तर फिर अगस्त्य-मुनि से कहने लगे ॥ १०८।

हे महामुने! तुम प्रणवरूप और यह (लोपामुद्रा) श्रुतिरूप है, तुम साक्षात् तप और यह क्षमा है एवं यही सत्क्रिया, और तुम फल हो, सुतरां तुम्ही परम धन्य हो ॥ १०९।

इदं पातिव्रतं तेजो ब्रह्मतेजो भवान् परम् ।
तत्राऽप्येतत्तपस्तेजः किमसाध्यतमं तव ।। ११० ।
तव नाविदितं किञ्चित्तथापि च वदाम्यहम् ।
यदर्थमागता देवास्तन्मुनेऽत्र निशामय ।। १११ ।
अयं शतमखः श्रीमान् वृत्रहा कुलिशायुधः ।
सिद्ध्यष्टकं हि यद्द्वारि दृक् प्रसादं समीक्षते ।। ११२ ।
यस्य पुर्याः परिसरे कामधेनुव्रजश्चरेत् ।
यत्पौराः कल्पवृक्षाणां नित्यं छाया सुशेरते ।। ११३ ।
यद्रथ्यासु च तिष्ठन्ति ते चिन्तामणिकर्कराः ।
अयमग्निर्जगद्योनिर्धर्मराजस्त्वयं पुनः ।। ११४ ।

कार्यं विज्ञापयितुं तस्य किमप्यसाध्यं नास्तीत्याह । **इदमिति** । तेजो विशेषणत्वात् षण्ढत्वम् । इयमिति वा पाठः । पतिव्रताया इदं पातिव्रतम् ।।११०। कार्यं निवेदयितुं परिपाटीं रचयति । **तवेति** ।।१११।

के ते देवा इति पृच्छायां प्राधान्येनाष्टलोकपालान्निर्दिशति । **अयमित्यादिना** । अयमिति भ्रूचालनेन निर्दिशति । दृक्प्रसादं नेत्रावलोकप्रसादम् । प्रतोक्षते तवेति शेषः ।।११२। कामधेनुव्रजः कामधेनुसमूहः ।।११३। चिन्तामणिकर्कराः, चिन्तामणय एवातिसुलभत्वेन कर्कराः क्षुद्रपाषाणाः ।।११४।

यह तो साक्षात् पातिव्रत्य तेज है और तुम स्वयं ब्रह्म तेज हो। उस पर भी यह (उग्र) तपस्या का तेज भला तुम्हें क्या असाध्य हो सकता है ? ।।११०।

यद्यपि तुमसे तो कुछ भी छिपा नहीं है; तथापि मैं निवेदन कर देता हूँ कि हे मुनिवर! ये सब देवता लोग जिस कार्यहेतु यहाँ आए हुए हैं, उसे श्रवण करो ।।१११।

ये सौ अश्वमेधों के कर्त्ता और वृत्रासुर के निहन्ता श्रीमान् इन्द्रदेव हैं। इनका आयुध वज्र है, इन्हीं के द्वार पर अणिमादिक आठों सिद्धियाँ (इनके) ताक देने की कृपा को जोहती रहती हैं ।। ११२ ।

इन्हीं की (अमरावती) नगरी के घेरे में कामधेनुओं का झुण्ड चरता है, जिसके पुरवासी लोग नित्य ही कल्पवृक्ष की छाया में सुख से शयन करते हैं ।। ११३ ।

इन्हीं के पुर में सड़कों पर प्रसिद्ध चिन्तामणि नामक रत्नों का कंकड़ पीटा जाता है, फिर ये जगत् भर के योनिरूप अग्निदेव हैं, और ये धर्मराज हैं ।। ११४ ।

निर्ऋतिर्वरुणो वायुः श्रीदरुद्रादयस्त्वमी ।
आराध्यन्ते च चारित्रैः सर्वकामार्थमीश्वराः ॥ ११५ ।
समभ्यर्थयितारोऽमी त्वं याच्यस्तु जगत्कृते ।
वाङ्मात्रोद्यमसाध्यं तत् तव विश्वोपकारकम् ॥ ११६ ।
कश्चिच्छैलो विन्ध्यनामा भानुर्मार्गविरोधकः ।
बर्धितः स्पर्धया मेरोस्तद्वृद्धित्वं निवारय ॥ ११७ ।
ये च स्वभावकठिना ये च मार्गविरोधकाः ।
ये स्पर्धया वृद्धिमन्तस्तद्वृद्धिर्वर्धिताऽशुभा ॥ ११८ ।
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यमविचार्य महामुनिः ।
क्षणं मुनिः समाधाय तथेति प्रत्युवाच ह ॥ ११९ ।

श्रीदो धनेशः । रुद्र ईश एतौ आदी येषां ते तथा । अमी इति अङ्गुल्या निर्दिशति । तुशब्दः पादपूरणार्थः ॥११५॥ **याच्य** एतैरिति शेषः । न च तद्याच्ञापूरणं तवासाध्यमित्याह । **वाङ्मात्रेति** ॥११६॥ एवं परिपाटीं कृत्वा साक्षाद्देवकार्यं निर्दिशति । **कश्चिदिति** ॥११७॥

ननु सन्मार्गवर्तिनस्तस्य कथं वृद्धिर्निवार्येत्यत आह । **ये चेति** । वर्धितमशुभं यया, सा तथा ॥११८॥ गुरोर्बृहस्पतेः । **तथेति** । तद्वृद्धिनिवारणं कर्तव्यमित्येवं रूपं प्रत्युत्तरं दत्तवानित्यर्थः । तत्प्रतीति पाठे तद्वचः प्रत्युत्तरं दत्तवान् ॥११९॥

यों ही सब निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और रुद्र प्रभृति देवगण हैं, जो समस्त कामनाओं की सिद्धि के लिए लोक में समर्थ होने ही से आराधित किए हैं ॥११५ ।

ये सब लोग जगत् के उपकारार्थ आपके पास प्रार्थना करने आए हैं और वह संसार भर का हित-कार्य केवल आपके वचनमात्र उद्यम से साध्य है ॥ ११६ ।

किसी एक विन्ध्यनाम के पर्वत ने, सुमेरु गिरि से डाहकर (स्पर्द्धा कर) अपनी वृद्धि से सूर्यनारायण का मार्ग रोक दिया है । अतः आप उसका बढ़वा बन्द करा दीजिए ॥ ११७ ।

जो लोग स्वभाव से ही कठिन हैं, अथवा मार्ग के अवरोधक हो गये हैं, किं वा डाहवश बढ़ना चाहते हैं, उन सबकी वृद्धि को बढ़ने देना अच्छा नहीं होता ॥ ११८ ।

बृहस्पति के वचन को सुनकर उन महामुनि अगस्त्य ने बिना कुछ सोचे-विचारे ही क्षणमात्र मौन रहने के उपरान्त "तथास्तु" कह दिया ॥ ११९ ।

साधयिष्यामि वः कार्यं विसर्ज्येति दिवौकसः ।
पुनश्चिन्तापरो भूत्वाऽगस्तिर्ध्यानपरोऽभवत् ।। १२० ।

वेदव्यास उवाच—

इमं पतिव्रताऽध्यायं श्रुत्वा स्त्रीपुरुषोऽपि वा ।
पापकञ्चुकमुत्सृज्य शक्रलोकं प्रयास्यति ।। १२१ ।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे पतिव्रताख्यानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

किं तत्प्रत्युत्तरं तदाह । **साधयिष्यामीति** । अन्यस्मिन् पक्षे विसर्ज्येति पृथग्वाक्यम् ।।१२०।

एतदध्यायश्रवणफलमाह । **इममिति** । पापकञ्चुकं पापमेव कञ्चुको निर्मोकः, तम् । 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । अयम्भावः—यथा सर्पो ज्वरजीर्णां त्वचं मुञ्चति, एवं पुण्यज्वरजीर्णं पापकञ्कुकं त्यक्त्वेति ।।१२१।

इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

"मैं आप लोगों के कार्य को साधूंगा" यह कहकर अगस्त्य ऋषि ने देवताओं को विसर्जित (विदा) किया और स्वयं चिन्ता में मग्न होकर फिर ध्यानस्थ हो गए ।। १२० ।

वेदव्यास जी ने कहा—

इस पतिव्रताध्याय को जो स्त्री अथवा पुरुष सुनेगा, वह पापरूपी कंचुक (केंचुली) को छोड़कर इन्द्रलोक में चला जायेगा ।। १२१ ।

करहिं पतिव्रत जे जग माहीं । पति समेत ते सुरपुर जाहीं ।
होइ लोक में जस अरु नामा । अन्तकाल पावहिं परधामा ।। १ ।।
जदपि अपावनि नारि, करहिं पतिव्रत जे कठिन ।
निज पितरनको तारि, पतियुत भोगहिं स्वर्गसुख ।। २ ।।

।। इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां पतिव्रताख्यानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४ ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

पाराशर उवाच—

ततो ध्यानेन विश्वेशमालोक्य स मुनीश्वरः ।
सूत प्रोवाच तां पुण्यां लोपामुद्रामिदं वचः ॥ १ ।
अयि पश्य वरारोहे किमेतत्समुपस्थितम् ।
क्व तत्कार्यं क्व च वयं मुनिमार्गानुसारिणः ॥ २ ।
येन गोत्रभिदा गोत्रा विपक्षा हेलया कृताः ।
भवेत् कुण्ठितसामर्थ्यः स कथं गिरिमात्रके ॥ ३ ।
कल्पवृक्षोऽङ्गणे यस्य कुलिशं यस्य चायुधम् ।
सिद्ध्यष्टकं हि यद्द्वारि स सिद्ध्यै प्रार्थयेद्द्विजम् ॥ ४ ।

पञ्चमे वर्ण्यते देवैरिन्द्राद्यैः स्वार्थसाधकैः ।
अगस्त्यस्य सभार्यस्य प्रस्थानमविमुक्ततः ॥१॥

अगस्तिर्ध्यानपरोऽभवदित्युक्तम्, ततः परं किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह। तत इति। सूत हे लोमहर्षण ॥१॥ अयीति सम्बोधने। वरारोहे श्रेष्ठजघने। अपीति क्वचित्पाठः ॥२॥

गोत्रभिदा इन्द्रेण। विपक्षा विगतपत्राः। 'गरुत्पक्षच्छदाः पतत्रञ्च तनूरुहम्' इत्यमरः ॥३॥ **कुलिशं** वज्रम्। 'ह्लादिनो वज्रमस्त्री स्यात् कुलिशं भिदुरं पविः' इत्यमरः। सिद्ध्यष्टकमणिमादिकं पद्मादिकं वा ॥४॥

(अगस्त्य का प्रस्थान)

वेदव्यास जी ने कहा—

हे सूत ! इसके अनन्तर मुनीश्वर अगस्त्य ध्यान के द्वारा विश्वेश्वर का दर्शन कर उस पवित्र लोपामुद्रा के प्रति यह वचन कहने लगे ॥ १ ।

अयि वरारोहे ! देखो, यह क्या उपस्थित हुआ ? कहाँ तो वह कार्य्य और कहाँ मुनि-मार्गानुसारी हम लोग ? ॥ २ ।

जिस गिरिभेत्ता इन्द्र ने खेल से समस्त पर्वतों का पङ्ख काट डाला था, आज वह केवल एक विन्ध्य-पर्वत का दमन करने में क्यों कुंठित-सामर्थ्य होने लगा (हो रहा है) ? ॥ ३ ।

जिसके आँगन में कल्पवृक्ष है, जिसका अस्त्र वज्र है और जिसके द्वार पर आठों सिद्धियाँ विराजमान हैं, वही इन्द्र ब्राह्मण के प्रति अपनी कार्यसिद्धि के लिए प्रार्थना करे ? ॥ ४ ।

क्रियन्ते व्याकुलाः शैला अहो दावाग्निनाऽपि ये ।
तद्वृद्धिस्तम्भने शक्तिः क्व गता साऽऽशुशुक्षणेः ॥ ५ ।
नियन्ता सर्वभूतानां योऽसौ दण्डधरः प्रभुः ।
स किं दण्डयितुं नालमेकं तं ग्रासमात्रकम् ॥ ६ ।
आदित्या वसवो रुद्रास्तुषिताः समरुद्गणाः ।
विश्वेदेवास्तथा दस्रौ ये चान्येऽपि दिवौकसः ॥ ७ ।
येषां दृक्पातमात्रेण पतन्ति भुवनान्यपि ।
ते किं समर्था नो कान्ते नगवृद्धिनिषेधने ॥ ८ ।
आज्ञातं कारणं तच्च स्मृतं वाक्यं सुभाषितम् ।
काशीमुद्दिश्य यद्गीतं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ९ ।

दावाग्निना वनवह्निना प्रलयवह्निना वा व्याकुलीक्रियन्त एव । दावाग्निनाऽपि इत्यपिशब्दार्थोऽवधारणम् । ये शैला इत्यन्वयः । **तद्वृद्धिस्तम्भने** तेषां शैलानां वृद्धिनिवारणे । आशुशुक्षणेः वह्नेः ॥५।

दण्डधरो यमः । ग्रावमात्रके पर्वतैकमात्रे । 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः । मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारण इति च ॥६।

आदित्या विष्णुशक्राद्या द्वादश । **वसव** आपध्रुवाद्या अष्टौ । **रुद्रा** अजैकपादाद्या एकादश । **तुषिताः** षट्त्रिंशत् । **मरुतः** पूतात्मप्रमुखा एकोनपञ्चाशत् । **विश्वेदेवा** विष्कम्भुप्रभृतयो दश । **दस्रौ** अश्विनीसुतौ ॥७-८॥

समर्थैरपि देवैर्विन्ध्यनिवारणे स्वस्मिन् प्रार्थिते हेतुं निर्धारयति । **आज्ञातमिति** । आ इति स्मृतिद्योतकमव्ययम् । स्मृतमनुवदति । यद्वा आ इति सान्तः पीडायां खेदे इति यावत् । 'आस्तु स्यात् कोपपीडयोः' इत्यमरः ॥९।

बड़ा आश्चर्य है ! जिस दावानल के योग से अशेष शैल सदा व्याकुल किए जाते हैं, (आज) विन्ध्य की वृद्धि रोकने में पावक की वह शक्ति कहाँ चली गई ? ॥ ५ ।

समस्त भूतों के नियन्ता, जो दण्डधर प्रभु (यमराज) हैं, क्या वह भी एकमात्र पर्वत को दण्ड देने में समर्थ नहीं हैं ? ॥ ६ ।

आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, तुषितगण, मरुद्गण, विश्वेदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार और अन्यान्य देवगण—जिनके दृष्टिपात मात्र से चौदहों भुवन पतित होते हैं, हे कान्ते ! क्या वे लोग इस पर्वत की वृद्धि-निवारण में समर्थ नहीं हैं ? ॥ ७-८ ।

हाँ, कारण समझ में आया । काशी के उद्देश से तत्त्वदर्शी मुनियों ने जो कहा है, वह सुन्दर बात मुझे स्मरण हो आई ॥ ९ ।

अविमुक्तं न मोक्तव्यं सर्वथैव मुमुक्षुभिः ।
किन्तु विघ्ना भविष्यन्ति काश्यां निवसतां सताम् ॥ १० ॥
उपस्थितोऽयं कल्याणि सोऽन्तरायो महानिह ।
न शक्यतेऽन्यथा कर्तुं विश्वेशो विमुखो यतः ॥ ११ ॥
काशीद्विजाशीर्भिरहो यदाप्ता कस्तां मुमुक्षुर्यदि वा मुमुक्षुः ।
ग्रासं करस्थं स विसृज्य हृद्यं स्वकूर्परं लेढि विमूढचेताः ॥ १२ ॥

वाक्यमेव निर्दिशति । अविमुक्तमिति । सतामित्यनेन श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपीति न्यायसूचनपूर्वकमसतां विघ्ना न भविष्यन्तीति ध्वनितम् । तत्कस्मात्तेषामीश्वरेणाधोनिनीषितत्वात् । तमसाधुकर्म कारयति, यमधो निनीषतीति श्रुतेः ।

अशनं वसनं वासः काश्यां येषाममार्गतः ।
कीकटेन (मगधेन) समा काशी सत्यं सत्यं खगेश्वर' ॥

इत्यादिगरुडपुराणादिवचनदर्शनाच्च ॥१०॥ अन्तरायो विघ्नः ॥११॥

काशीतो गन्तव्यमिति कृतनिश्चयः सन् 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (श्रीमद्भगवद्गोता) इति न्यायेन अन्यान् जिगमिषून् वारयन् काशीं स्तौति । काशी द्विजाशीर्भिरित्याद्येकोनविंशतया श्लोकैः । काशीद्विजाशीर्भिरित्यस्यायमर्थः । अहो इत्याश्चर्ये खेदे वा । यदि यदा काशीद्विजाशीर्भिः ब्राह्मणाशीर्वादैः प्राप्ता लब्धा, तदा ताम् । यदित्यव्ययम् । यद् यो मुमुक्षुरज्ञानतत्कार्यान्मोक्तुमिच्छुः सन् मुमुक्षुस्त्यक्तुमिच्छुर्भवति, स को न कोऽप्यत्यन्तमूढबुद्धिरित्यर्थः ।

यद्वा अक इत्यकारप्रश्लेषः । न विद्यते कं सुखं यस्य, स तथा प्रत्यग्ब्रह्मानन्दरहित इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह । वेत्युपमायाम् । 'उपमायां वितर्के वा' इत्यमरः । वा यथा ग्रासं कवलं करस्थं हस्तस्थं हृद्यं हृदे हितं तृप्तिकरमित्यर्थः । विसृज्य त्यक्त्वा । कूर्परं कफोणिम् । 'स्यात्कफोणिस्तु कूर्परः' इत्यमरः । लेढि आस्वादयति, विमूढचेता मूढबुद्धिस्तद्वदित्यर्थः । अत्र वायच्छब्दयोर्व्यवहितान्वयकल्पना सोढव्या ।

"मुमुक्षुगण कदापि काशी का परित्याग न करें; परन्तु वहाँ निवास करने वाले सज्जनों को अनेक विघ्न प्राप्त होते रहेंगे" ॥ १० ॥

(यहीं मुनि-वाक्य है) हे कल्याणि ! मेरे काशीवास में यह बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है । इसे मैं अन्यथा नहीं कर सकता; क्योंकि विश्वेश्वर ही विमुख हो गए हैं ॥ ११ ॥

ब्राह्मणगण के आशीर्वाद से जब काशी प्राप्त हुई, तब भला कौन मोक्षाभिलाषी उसका परित्याग करना चाहेगा ? अहो ! वह विमूढ़-बुद्धि अपने करस्थित मनोहर ग्रास को फेंककर केवल हाथ चाटना चाहता है ? ॥ १२ ॥

१—गङ्गाप्यङ्गारवाहिनीति पाठान्तरम् ।

अहो जना बालिशवत्किमेतां काशीं त्यजेयुः सुकृतैकराशिम्।
शालूककन्दः प्रतिमज्जनं किं लभेत तद्वत्सुलभा किमेषा ॥ १३ ॥
भवान्तरावर्जितपुण्यराशिं कृच्छ्रं महद्भिर्हृद्यवगम्य काशीम्।
प्राप्याऽपि किं मूढधियोऽन्यतो वै यियासवो दुर्गतिमुद्यियासवः ॥ १४ ॥

यद्वा यदा द्विजाशीर्भिः काशीप्राप्ता लब्धा, तदा तां मुमुक्षुरमुमुक्षुर्वा संसाराद्विरक्तोऽविरक्तो वा यद्यस्त्यजेत् परित्यजेत्, इत्यग्रिमश्लोकस्थक्रियावचनं विपरिणमय्यानुषङ्गः स को न कोऽपीत्यर्थः। सोऽक इति वा। शेषं पूर्ववत्।

यदि वै मुमुक्षुरिति पाठे अव्ययत्वाद् वैशब्द उपमानार्थः समुच्चयार्थो वा द्रष्टव्यः। समुच्चयपक्षे परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि वत्यर्थं गमयन्ति इति न्यायादुपमानार्थो द्रष्टव्यः। यद्वा यदिव अमुमुक्षुरिति च्छेदः। तत्र यो विमूढचेता इव तां मुमुक्षुः सोऽमुमुक्षुः, संसारान्मोक्षमनिच्छुरित्यर्थः। शेषं तुल्यम् ॥१२॥

अहो जना इति। अस्यायमर्थः—अहो इति खेदे। बालिशवन्मूर्खवत्। किं पृच्छायाम्। एतां काशीं त्यजेयुः किं किमर्थं त्यजेयुरिति पृच्छामीत्यर्थः। जुगुप्सने वा। एतां काशीं त्यजेयुः किम् ? काशीं त्यजेयुरिति यदेतज्जुगुप्सितमित्यर्थः। किं पृच्छायां जुगुप्सन इत्यमरः। त्यजेयुस्त्यक्त्वा गच्छेयुः। सुकृतानामेको मुख्यो राशिर्यस्यां सा तथा तां सुकृतैकपुञ्जरूपां वा।

ननु काशीं त्यक्त्वा गतेऽपि पुनरागमनं भविष्यति नेत्याह। **शालूककन्द** इति। शालूकशब्देनात्र शालूकिनः सौगन्धिकादयो लक्ष्यन्ते। तेषां कन्दो मूलम्। 'शालूकमेषां कन्दः स्यात्' इत्यमरः। यद्वा शालूकं जलतृणावान्तरं तस्य कन्दो मूलमित्यर्थः। स किं प्रतिमज्जनं लभेत प्राप्नुयाद्। तद्वत्तथा त्यक्त्वा गमने प्रतिवारं किमेषा सुलभा सुप्राप्या? अपि तु सुलभा नैवेत्यर्थः।

इदमत्र तात्पर्यम्—अतिनिकृष्टोऽपि शालूककन्दः प्रतिमज्जनं न प्राप्नोति, किं पुनर्वक्तव्यमेषा ब्रह्माण्डेऽपि दुर्लभा सायुज्यैकोपायभूता प्रतिवारं त्यक्त्वा गते सति न प्राप्येत्यतो न त्यक्तव्येति ॥१३॥

भवान्तरेति। **अस्यायमर्थः**—भवान्तराय संसारान्तराय आवर्जित आ समन्ताद्वर्जितो दूरीकृतः श्रीमहेशार्पितः पुण्यराशिः पुण्यपुञ्जोऽर्थात् पुण्यकर्तृभिर्यस्यां सा तथा ताम्। तस्यां क्रियमाणः पुण्यसञ्चयो जन्मान्तराय न भवतीत्यर्थः। वक्ष्यति च। **'ऊषरः पुण्यपापानां धन्या वाराणसी पुरी'** इति।

अहो ! लोग पुण्यराशि स्वरूप इस काशी को मूर्खों के सदृश किस प्रकार से त्याग दे सकते हैं ? क्या प्रत्येक गोता लगाने में कमलकन्द हाथ लगता है ? वैसे ही क्या यह काशी भी प्रतिवार सुलभ है ? ॥ १३ ॥

तब भी जन्मान्तर के सञ्चित पुण्य-पुञ्ज की मूर्ति वाराणसी का तत्त्व अवगत होने पर तथा परम कष्ट से उस काशी को प्राप्त करके मोहवश दुर्गति-लाभ के हेतु अन्यत्र जाने की इच्छा कौन करे ? ॥ १४ ॥

क्व काशिका विश्वपदप्रकाशिका क्व कार्यमन्यत्परितोऽतिदु:खम् ।
तत्पण्डितोऽन्यत्र कुत: प्रयाति किं याति कूष्माण्डफलं ह्यजास्ये ।। १५ ।

यद्वा भवान्तरे भवस्वरूपे विश्वनाथे-इत्यर्थ: । अन्तरशब्दस्य स्वरूपवाच्यत्वं रात्रौ स्वप्नान्तरे ब्रह्मन् मया दृष्टौ हराच्युतावित्यादिहरिवंशादौ प्रसिद्धम् । आवर्जित: अर्पित: पुण्यानां राशिर्यस्यां सा तथा ताम् । अत्रत्यैर्जनै: पुण्यराशिरपि विश्वेश्वरे अर्प्यते, क्षुद्रफलाशया तदनुष्ठानं तत्त्यागश्च दूर इति भाव: ।

यद्वा भवान्तं भवस्यान्तम् । अन्तशब्दस्य स्वरूपवाचित्वात् । राति ददातीति भवान्तरा अविद्या, तया वर्जिता: पुण्यराशय: पुण्यपुञ्जा: पुण्यानां वा राशिर्येषाम्, ते तथा सुकृतिन इति वा यस्यां स तथोक्ता ताम् । अविद्याविनाशकत्वात्तेषामिति भाव: । यद्वा भवान्तरेषु आर्वाजितानि सम्पादितानि पुण्यानि, तेषां राशिं राशिभूताम्, अनेकजन्मान्तर्राजितसुकृतैकपुण्यामित्यर्थ: ।

एवम्भूतां काशीं वै प्रसिद्धां शास्त्रविद्वज्जनमुखादवगम्य ज्ञात्वा पश्चान्महद्भि: कृच्छ्रैर्वर्त्मश्रमशौल्किकतस्करजनितविविधैर्दु:खै: प्राप्याऽपि मूढधियो लुप्तविवेका: सन्तो दुर्गतिमुद्यियासवो दु:खं प्राप्तुमिच्छवोऽन्यत्र किं यियासवो गन्तुमिच्छव: स्यु:; अपि तु न स्युरेवेत्यर्थ: । कृच्छ्रैर्महद्भिर्विनिमय्य काशीमिति पाठे कृच्छ्रै: कष्टसाध्यैर्महद्भि: पुण्यैर्विनिमय्य परिवर्त्य प्राप्याऽपीति व्याख्येयम् ।।१४।

क्व काशिकेति । अस्यायमर्थ:—काशिका क्व कुत्र ? काशिकात्वमेव व्युत्पादयति । **विश्वपदप्रकाशिकेति** । विश्वस्य प्रपञ्चस्य पदं स्थानमधिष्ठानमिति । यद्वा विश्वस्य पदं त्राणं यस्मात् सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनेति विश्वपदं परमात्मा । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर: । विश्वं च तत्पद्यते ज्ञायत इति पदं चेति वा विश्वपदम् । **"सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था"** इति न्यायात् । सर्वथाऽपि विश्वपदं परं ब्रह्म, तस्य प्रकाशिकाऽभिव्यञ्जिका स्फोरिकेति यावत् ।

क्व कार्यं क्रियत इति कार्यं व्यापारमात्रम् । कथम्भूतम् ? अन्यत्काशीस्थित्यनुकूलातिरिक्तम् । पुन: कीदृशम् ? परितोऽतिदु:खं परित इह लोके परलोके च । यद्वा परित: सर्वदा साधनकाले फलकाले चातिदु:खं यस्मिंस्तत्तथा । अतितुच्छमिति क्वचित् पाठ: । एतादृशं कार्यं क्व कुत्र ? तत्तस्माद्य: पण्डितो भवति, सोऽन्यत्र कुत: प्रयाति, कथं गच्छति, न गच्छत्येवेत्यर्थ: ।

विदुषोऽविमुक्तं विहायान्यत्र गत्यसम्भावनायां दृष्टान्तमाह । किं याति कूष्माण्डफलं ह्यजास्य इति । कूष्माण्डकर्कारुलताविशेष: । 'कूष्माण्डकस्तु कर्कारु:' इत्यमर: । तस्य फलं कूष्माण्डफलमजस्य च्छागस्य मुखे किं याति प्रविशतीति, न यात्येवेत्यर्थ: ।

परमात्मा के पद को दिखला देनेवाली काशी कहाँ, और सभी तरह से दु:ख देनेवाले दूसरे प्रकार के कार्य कहाँ ? तब पण्डितजन काशी को त्यागकर अन्यत्र क्यों जाएँगे ? क्या कोंहड़े का फल कभी बकरे के मुख में प्रविष्ट हो सकता है ? ।। १५ ।

काशीं प्रकाशीकृतपुण्यराशिं हा शीघ्रनाशी विसृजेन्नरः किम् ।
नूनं स्वनूनं सुकृतं तदीयं मदीयमेवं विवृणोति चेतः ॥ १६ ।

किं मातीति पाठे स एवार्थः। यथा कूष्माण्डफलस्याजमुखे प्रवेशो न सम्भवति, तथा विदुषः काशीं विहाय गमनमपीति भावः।

यद्वा ननु प्राप्ताऽपि काशी त्यक्ता कैश्चिद्दृश्यते तत्राह। किं यातीति। अजावदल्पभाग्यस्य मुखे किं प्रविशति ? शेषं समानम् ॥१५।

काशीमिति। अस्यायमर्थः—हा इति विषादे। 'हा विषादाशुगतिषु' इत्यमरः। नरो मर्त्यः काशीं किं विसृजेदित्यर्थः। ननु तीर्थपर्यटनादिपुण्योपचयार्थं गच्छेदित्याशङ्क्य काशीं विशिनष्टि। **प्रकाशीकृतपुण्यराशिमिति**। प्रकाशीकृतः प्रकटीकृतः पुण्यानां राशिः पुञ्जो यस्यामर्थाद्विश्वेश्वरेण शास्त्रेण वेति सा तथा ताम्। अन्यतीर्थादीनां क्षुद्रपुण्यहेतुत्वात् काश्याश्च क्षणे क्षणे पुण्यराशेर्निमित्तत्वात्।

तथा च वक्ष्यति—

प्रयागे माघमासे तु सम्यक् स्नातस्य यत्फलम्।
तत्फलं कोटिगुणितं वाराणस्यां क्षणे क्षणे ॥ इत्यादीनि।

न तदर्थं काशीं विहायाऽन्यत्र गमनमिति भावः। ननु समुच्चये को विरोध इति न्यायेन तीर्थपर्यटनादिपुण्यानि सम्पाद्य पुनरत्रायास्यतीत्याशङ्क्य नरं विशिनष्टि। **शीघ्रनाशीति**। शीघ्रं नाशोऽस्यास्तीति शीघ्रनाशी। मरणस्यातिनियतत्वात् तथा न कार्यमिति भावः। शीघ्रनाशीमिति पाठे काश्या विशेषणम्। शीघ्रं संसारं चञ्चलस्वभावत्वान्नाशयतीति शीघ्रनाशी, तामित्यर्थः।

अज्ञानं काशीं विहाय गन्तुमयोग्येऽपि अन्यत्र गमने कारणमपीत्याह। **नूनमिति**। नूनं निश्चितम् एवं तर्क्यत इति वा। 'नूनं तर्केऽर्थनिश्चये' इत्यमरः। तदीयं तस्य काशीं विहाय गन्तुरिदं तदीयं तत्सम्बन्धि यत्सुकृतम्, तत्स्वनूनं सुष्ठु यथा भवति अनु पश्चात्। 'पश्चात्सादृश्ययोरनुः' इत्यमरः। ऊनं नूनं क्षीणमित्येवं मदीयं चेतोऽन्तःकरणं विवृणोति विचारयति तर्कयतीत्यर्थः।

एतदुक्तं भवति—पूर्वं काशीप्रापकसुकृतेन काशीप्राप्तेदानीं सुकृते पूर्णे सुकृतस्य क्षीणत्वात् काशीं विसृजतीति। सुनूनमिति पाठो वा। तत्रापि सु सुष्ठु, नु पृच्छायाम्, ऊनं क्षीणमिति। 'नु पृच्छायां विकल्पे च' इत्यमरः। सुलूनमिति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥१६।

अति नश्वर मनुष्य परम पुण्य प्रकाशिका इस काशिका का क्यों परित्याग करता है ? मेरे चित्त में यही आता है कि अवश्य ही उसके पुण्य का क्षय हो गया ॥ १६ ।

नरो न रोगी यदिहाविहाय सहायभूतां सकलस्य जन्तोः ।
काशीमनाशीः सुकृतैकराशिमन्यत्र यातुं यततां न चान्यः ॥ १७ ।
वित्रस्तपापां त्रिदशैर्दुरापां गङ्गा सदापां भवपाशशापाम् ।
शिवाविमुक्तामममृतैकशुक्तिं मुक्ता विमुक्तां न परित्यजन्ति ॥ १८ ।

नरो न रोगीति । अस्यायमर्थः—अन्यत्र यातुं गन्तुं काशीत इत्यर्थाद् यततां यत्नं कुर्वतां जनानां मध्ये यदि यदा हेति हर्षे यद्यदा इह जगतीति वा, काशीमविहाय योऽनाशीर्भवति न विद्यते आशिषः कामा यस्य, स तथा । इन्द्रियचाञ्चल्यं परित्यज्य मोक्षैकपरो भवतीत्यर्थः । स नरो न रोगी संसाराख्यरोगवान्न भवतीत्यर्थः । न चान्यः काशीं विहायाऽन्यत्र यातुं यत्नवान् यः, स नरो रोगी न च; किन्तु रोग्येव । किं वक्तव्यं वाराणसीं विहाय योऽन्यत्र गतः, स रोगी भवतीति भावः ।

काशीं विशिनष्टि । सहायभूतां सकलस्य जन्तोरिति । जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्ज-लक्षणस्य प्राणिमात्रस्य धर्मार्थकाममोक्षेषु साहाय्यकर्त्रीमित्यर्थः । ननु कथमस्या एतादृशं सामर्थ्यं तत्राह । **सुकृतैकराशिमिति** । सुकृतं च अः वासुदेवाख्यो मोक्षश्च । **'अकारो वासुदेवः स्यात्'** इति कोशात् । सुकृतौ पुण्यकैवल्ये, तयोरेको मुख्यो राशिः पुञ्जो यस्यां सा तथा तद्राशिरूपा वा ताम् । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् ।

यद्वा यदिहेत्यनन्तरोकारो निषेधे यततामित्यनेन सम्बध्यते । तथा चायमर्थः—'यः काशीं विहाय विहातुमयततां न यतते । काशीस्थित्यनुकूलमेव चेष्टत इत्यर्थः, स नरो न रोगी भवति । अन्यत् पूर्ववत् । किन्त्वस्मिन्पक्षे व्यवहितयोजनालङ्कारव्यत्ययकल्पना च सोढव्या । यद्वा यद्यदा इह संसारे । यद्वा यदि यदा ह इति पादपूरणे । नरो न रोगी प्राणान्तिकरोगवान्न भवति, तदा आ ईषत् कदाचित् काशीं विहाय काशीस्थित्यनुकूल-योगक्षेमार्थं—अन्यत्र यातुं यततां यत्नं करोतु । हा इति खेदे वा । न चान्यः प्राणान्ति-करोगीत्यर्थः । कथम्भूतां काशीम् ? **अनाशीः** सुकृतैकराशिं निष्कामपुण्यैकपुञ्जामित्यर्थः, शेषं पूर्ववत् ॥१७।

वित्रस्तपापामिति । अस्यायमर्थः—मुक्ता जीवन्मुक्ता विमुक्तां काशीं न परित्य-जन्तीत्यन्वयः । कायवाङ्मनोभिर्यावज्जीवमिति परेरर्थः । तत्र हेतुगर्भाणि विशेषणान्याह । **वित्रस्ता** विध्वस्ता पापा पापहेतुत्वादविद्या । यद्वा वित्रस्तानि पापानि कायवाङ्मनो-जन्यानि दशविधानि यया सा, तथा ताम् । त्रिदशैर्ब्रह्मादिभिर्दुरापामप्राप्याम् । गङ्गेव स ब्रह्म, तदेवापो जलानि, यस्यां सा, तथा ताम् ।

जिसको अन्यत्र निवास की प्रवृत्ति नहीं होती, वही मनुष्य समस्त जन्तुओं की सहायभूता सुकृतैक-राशि काशी से जाने का प्रयत्न नहीं करता और जो कोई इस काशी का त्याग नहीं करता, वहीं संसार-रोग से मुक्तिलाभ करता है, दूसरे नहीं ॥ १७।

पाप-विनाशिनी देवगणों को भी दुर्लभ, सतत-गङ्गा-संगता, संसारपाशच्छेदिनी, शिव-पार्वती से अविमुक्त, त्रिभुवन से अतीत, मोक्षजननी, काशीपुरी को मुक्त पुरुषगण कभी परित्याग नहीं करते ॥ १८।

हं हो किमंहो निचिताः प्रलब्धा बंहीयसायासभरेण काशीम् ।
प्रभूतपुण्यद्रविणैकपण्यां प्राप्याऽपि हित्वा क्व च गन्तुमुद्यताः ॥ १९ ॥
अहो जनानां जडता विहाय काशीं यदन्यत्र नयन्ति चेतः ।
परिस्फुरद्गाङ्गजलाभिरामां कामारिशूलाग्रधृतां लयेऽपि ॥ २० ॥

योऽसौ निरञ्जनो देवश्चित्स्वरूपी जनार्दनः ।
स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नात्र संशयः ॥ इति वचनात् ॥

गङ्गायाः सत्य आ समन्तात् आपो यस्यामिति वा । भवः संसारः, स एव पाशो बन्धनरज्जुः, तस्य शापां शस्त्रीं छेत्त्रीमित्यर्थः । भवपाशपाशामिति पाठे भवपाशस्य पाशां प्रतिबन्धिकां नाशिकामित्यर्थः ।

सर्वत्र हेतुमाह । शिवाविमुक्तां महादेवेन पार्वतीपरमेश्वराभ्यां वा अत्यक्तामित्यर्थः । तथा च हरिवंशे उमां प्रति ईश्वरवचनम्—'**नाहं वेश्म विमोक्ष्यामि अविमुक्तं हि मे गृहम्**' इत्यादि । अमृतस्य कैवल्यमुक्ताफलस्य एकां मुख्यां शुक्तिम् । 'मुक्ता स्फोटः स्त्रियां शुक्तिः' इत्यमरः । विमुक्तां ब्रह्माण्डासम्बद्धां कैवल्यरूपां वा । विमुक्तश्च विमुच्यत इति श्रुतेः । मुक्ताविमुक्ता इति पाठे मुक्ता अविमुक्ताश्च न परित्यजन्तीत्यर्थः ॥१८॥

हं हो किमंह इति । अस्यायमर्थः—हं हो भो जनाः, यूयमंहो निचिता अंहोभिरघैर्निचिता व्याप्ताः किम् ? अपि तु व्याप्ता एव । 'अंहो दुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः । अत एव प्रलब्धाः वञ्चिताः सुकृतेन विधात्रा वेति शेषः । किमित्याकाङ्क्षायामाह । बंहीयसा महीयसा । महीयसेति वा पाठः । आयासभरेण दूरदेशागमदुर्गाध्वशौल्किकतस्करादिजनितश्रमस्य खेदस्य भरेण पूरेण काशीं प्राप्याऽपि । अस्याः प्राप्तेः सम्भावनैव नास्ति, तथापि केनचिद् भाग्योदयेन नातिमहता श्रमेण प्राप्याऽपीत्यपिशब्दार्थः । क्व च कुत्रचिद् गन्तुमुद्युक्ता यतः, कथं भूतां काशीम् ? प्रभूतपुण्यद्रविणैकपण्यामिति । प्रभूतानि बहूनि पुण्यानि, तैरेवैकैः केवलैः पण्यां क्रेयां प्राप्यामित्यर्थः ॥१९॥

अहो इति । जडता अज्ञता । लयेऽपि स्थितिसमयेऽपीत्यपिशब्दार्थः । स्पष्टमन्यत् ॥२०॥

हे मनुष्यगण ! तुम लोग निश्चय ही पाप-पुञ्ज से परिपूर्ण होकर वञ्चित हुए हो। बड़े पुण्यधन से लभ्य इस काशी को अतिप्रयत्न से पाकर फिर भी कहाँ जाने को उद्यत होते हो ? ॥ १९ ।

ओह ! लोगों की कैसी मूर्खता है कि वे सब पवित्र गंगा के जल से मनोहर और प्रलयकाल में भी महादेव के त्रिशूलाग्रभाग पर स्थित, इस काशी को त्यागते हुए अन्यत्र जाने की अभिलाषा करते हैं ॥ २० ।

२ रे भवे शोकजलैकपूर्णे पापे स्म लोकाः पतिताब्धिमध्ये ।
विद्राणनिर्वाणविरोधिपापां काशीं परित्यज्य तरिं किमर्थम् ॥ २१ ।
न सत्पथेनापि न योगयुक्त्या दानैर्न वा नैव तपोभिरुग्रैः ।
काशी द्विजाशीर्भिरहो सुलभ्या किं वा प्रसादेन च विश्वभर्तुः ॥ २२ ।
धर्मस्तु सम्पत्तिभरैः किलोह्यतेऽत्यर्थो हि कामैर्बहुदानभोगकैः ।
अत्यत्र सर्वं स च मोक्ष एकः काश्यां न चान्यत्र तथा यथाऽत्र ॥ २३ ।

कथं भूते भवे । अब्धिमध्ये समुद्रमध्यबहुस्तरे इत्यर्थः । पतिताब्धिमध्य इत्यत्र सन्धिरार्षः । पतथेति पाठस्तु स्पष्टार्थः । शोकजलेन एकेन मुख्येन केवलेन वा पूर्णे व्याप्ते । पापे पापरूपे पापहेतुत्वाद्वा पापे । विद्राणानि विद्रावितानि निर्वाणविरोधीनि पापानि यया, सा तथा ताम् । पुनः कथम्भूताम् ? तरिं नावम् । भवार्णवोत्तारणनौस्वरूपामित्यर्थः । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः ॥२१।

न सत्पथेनेति । अस्यायमर्थः—सत्पथादिना काशी न सुलभ्या किम्; किन्तु द्विजाशीर्भिर्यो विश्वेश्वरस्यानुग्रहः, तेनैवेति । एवार्थे वाशब्दः । स्वतन्त्रा वोभयोः । अतो विश्वेश्वरस्यानुग्रहाभावादन्यत्र यान्तीति भावः । सत्पथेन सदाचारेण वेदोक्तकर्मानुष्ठानेनेति यावत् । योगयुक्त्या योगोऽष्टाङ्गादिः, तस्य युक्तिर्युञ्जनम्, तेन योगाभ्यासेनेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥२२।

ननु पुरुषार्थचतुष्टयस्यान्यत्रापि विद्यमानत्वात् किमिति काशी न त्याज्येत्याग्रहस्तत्राह । **धर्मस्त्विति** । अस्यायमर्थः—तुशब्दः आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । अन्यत्र सम्पत्तिभरैरर्थसमूहैर्यो धर्म उह्यते प्राप्यते । तथाऽन्यत्र बहुदानभोगकैर्बहुदानानां भोगकैराभोगैर्विस्तारैरर्थभरैः कृत्वा कामैः सह योऽर्थ उह्यते, तथाऽन्यत्र यो मोक्ष उह्यते, तत्सर्वमर्थादिकम्, स च मोक्ष एको मुख्यः सायुज्याख्य इत्यर्थः । अत्र काश्यां यथा, तथाऽन्यत्र न चेति योजना ॥२३।

हे मानवजन ! मोक्षपद के विरोधी पापों को दूर करनेवाली काशीरूपी नौका को छोड़कर शोकरूपी जल से भरे हुए इस पापमय संसार में क्यों गिरते हो ? ॥ २१ ।

देव-विहित कर्मों के आचरण अथवा योगाभ्यास, किं वा दान और उग्र तपस्या इत्यादि से भी काशी-धाम की प्राप्ति नहीं होती । केवल ब्राह्मणगण के आशिर्वाद अथवा विश्वनाथ के प्रसाद मात्र से वह सुलभ हो सकती है ॥ २२ ।

किसी स्थान में प्रचुर धन व्यय करके धर्मलाभ होता है और कहीं पर बहुतेरे दान-भोगों के द्वारा अर्थ और काम की प्राप्ति भी हो सकती है । चाहे किसी स्थान में ये सब पाये जायँ; परन्तु यह एक मोक्ष, जैसा काशी में है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं प्राप्त होता (यहाँ सायुज्य मोक्ष प्राप्त होता है ।) ॥ २३ ॥

क्षेत्रं पवित्रं हि यथाऽविमुक्तं नान्यत्तथा यच्छ्रुतिभिः प्रयुक्तम् ।
न धर्मशास्त्रैर्न च तैः पुराणैस्तस्माच्छरण्यं हि सदाऽविमुक्तम् ॥ २४ ।
स होवाचेति जाबालिरारुणोऽसिरिडा मता ।
वरणापिङ्गलानाडी तदन्तस्त्वविमुक्तकम् ॥ २५ ।
सा सुषुम्ना परा नाडी त्रयं वाराणसी त्वसौ ।
तदत्रोत्क्रमणे सर्वजन्तूनां हि श्रुतौ हरः ॥ २६ ।

काश्यां यथा धर्मादिकम्, तथाऽन्यत्र नेत्यत्र हेतुमाह । क्षेत्रं पवित्रमिति । अस्यायमर्थः—हि यस्मात् यथाऽविमुक्तं क्षेत्रं पवित्रं पवित्रयत्यविद्या, तत् कार्यान् मोचयतीति तथा तथा नान्यत् । अन्यत्र क्षेत्रान्तरं तथा नेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह । यच्छ्रुतिभिः प्रयुक्तम्, यद्यस्माच्छ्रुतिभिर्वेदैरेव प्रयुक्तं सर्वक्षेत्रेभ्योऽविमुक्तमधिकं प्रतिपादितमित्यर्थः । श्रुतिभिः प्रयुक्तमित्यन्यस्य व्यावृत्तिमाह । न च धर्मशास्त्रैरिति । उपसंहरिति । **तस्मादिति** । शरण्यं शरणाय हितम् । सदा यावज्जीवम् ।।२४।

श्रुतिप्रयुक्तत्वमेवाह । **स होवाचेति** सार्धद्वाभ्याम् । तत्र प्रथनेन सार्धेनाविमुक्तस्य स्वरूपमुच्यते, द्वितीयेन क्षेत्रान्तरेभ्यश्चाधिक्यमिति विभागः । स होवाचेत्यस्यायमर्थः—स प्रसिद्धो जाबालिर्जाबालाया अपत्यं जाबालिः, आरुणे हे आरुणे इति शिष्यं सम्बोध्य उवाचेत्यन्वयः । किमुवाच तदाह । **असिरिडा मतेति** । इडा नाडीति शेषः । असिर्नाम नदी, वरुणापि नद्येव, तदन्तस्तयोर्मध्य इत्यर्थः । अविमुक्तकं काशी । स्वार्थे कः । सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति श्रुतेः ।।२५।

किं तदविमुक्तं तत्राह । **सा सुषुम्नेति** । अविमुक्तस्यैव सुषुम्नाशब्देनोच्यमानस्य सेति स्त्रीलिङ्गेन परामर्शः । ननु का वै वरणा, का च नाशीति ? सर्वानिन्द्रियकृतान् वारयति, तेन वरणा भवति, सर्वानिन्द्रियकृतान पापान् नाशयति, तेन नाशी भवतीत्याथर्वणश्रुतौ नाशीति श्रूयते, अत्र त्वसिरतः श्रुतिविरोधात् पुराणस्याप्रामाण्यमिति चेत्, तन्न, अस्यति सर्वाणि पापानि क्षयति नाशयतीत्यर्थैक्योपपत्तेः । नामविकल्पो वा । एतत्त्रयमसौ वाराणसीत्यङ्गुल्या निर्दिश्यते ।

श्रुति-स्मृति-पुराणादि के अनुशासनानुसार इस अविमुक्त क्षेत्र के समान पवित्र स्थान दूसरा नहीं है । अतएव अविमुक्त के ही शरणागत होना, यही परम पुरुषार्थ है (कर्त्तव्य है) ।। २४ ।

जगत्प्रसिद्ध जाबालि ऋषि ने कहा है, हे आरुणे ! असी नदी इडानाड़ी और वरुणा नदी पिङ्गला नाड़ी कही गई है । इन्हीं दोनों के मध्य में वह अविमुक्त क्षेत्र काशी है ।। २५ ।

"यही काशी सुषुम्ना नाड़ी है । इन्हीं तीनों नाड़ियों की यह वाराणसी है । इसी वाराणसी में समस्त जीवों के प्राण-प्रयाण के समय में भगवान् विश्वेश्वर कान में

तारकं ब्रह्म व्याचष्टे तेन ब्रह्म भवन्ति हि ।
एवं श्लोको भवत्येष आहुर्वै वेदवादिनः ॥ २७ ।
भगवानन्तकालेऽत्र तारकस्योपदेशतः ।
अविमुक्ते स्थितान् जन्तून् मोचयेन्नात्र संशयः ॥ २८ ।

शरणे त्वियं पुरीति च स्थलत्रये[1] पाठान्तरेऽयमर्थः । शीर्यते नश्यतीति शरणम्, शरीरम्, तस्मिन् शरणे शरीरेऽध्यात्मेऽसिरिडेत्यादिपूर्ववत् । अधिदैवे तु पुनरियं पुरी वाराणसीति विशेषः ।

अयम्भावः—अध्यात्मे तावदिडापिङ्गलासुषुम्नेत्येतत्त्रयमविमुक्तं वाराणसी । आधिदैवेऽसिवरणाविमुक्तमित्येतत्त्रयं वाराणसी अविमुक्तमिति । श्रुतौ दक्षिणे कर्णे । मुमुक्षोर्दक्षिणे कर्णे इति श्रुतेः ॥२६।

काशीस्थानि भूतमात्राण्यन्तकाले भगवान् मोचयतीत्यत्र ब्रह्मविदां सम्मतिमाह । **एवं श्लोक** इति । एवमुक्तार्थप्रतिपादक एष वक्ष्यमाणश्लोकः पद्यं भवतीति वेदवादिनो वेदनं वेदः, स्वप्रकाशश्चिदात्मा, तद्वादिनः परमार्थनिरूपका आहुरुक्तवन्त इत्यर्थः ॥२७।

श्लोकं दर्शयति **भगवानिति** । भगवान् श्रीरुद्रस्तारकस्य प्रणवस्य श्रीरामषडक्षरमन्त्रराजस्य वा । तथा चाथर्वणश्रुतौ श्रीरामवाक्यं विश्वेश्वरं प्रति—अथ स होवाच श्रीरामः—

क्षेत्रेऽत्र तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः ।
कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा ॥
अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये ।
अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु ॥
क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव ।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
त्वत्तो वा ब्रह्मणो वाऽपि ये लभन्ते षडक्षरम् ।
जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते ॥
मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्याऽपि वा स्वयम् ।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥२८। इति

तारक-ब्रह्म का उपदेश करते हैं, उसी से जीवगण ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं" ऐसा यह एक श्लोक (मसल) है, जिसे वेदवादीगण कहते हैं ॥ २६-२७ ।

इस काशिकाक्षेत्र में भगवान् भूतभावन अन्तकाल में तारक-मन्त्र का उपदेश देकर अविमुक्त क्षेत्र में स्थित जन्तुओं को मुक्ति देते हैं । इसमें सन्देह नहीं है ॥ २८ ।

---

१. स होवाचेति पूर्वश्लोकार्धे जाबालिरारुणे इत्यत्र जाबालिः शरीरे इति, द्वितीयश्लोकपूर्वार्धे त्रयमित्यस्य स्थाने त्वियमिति, त्वसावित्यस्य स्थाने पुरी चेत्यर्थः ।

नाविमुक्तसमं क्षेत्रं नाविमुक्तसमा गतिः ।
नाविमुक्तसमं लिङ्गं सत्यं सत्यं पुनः पुनः ।। २९ ।
अविमुक्तं परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम् ।
मुक्तिं करतलात् मुक्त्वा सोऽन्यां सिद्धिं गवेषयेत् ।। ३० ।
इत्थं सुनिश्चित्य मुनिर्महात्मा क्षेत्रप्रभावं श्रुतितः पुराणात् ।
श्रीविश्वनाथेन समं न लिङ्गं पुरी न काशी सदृशी त्रिकोट्याम् ।। ३१ ।
श्रीकालराजञ्च ततः प्रणम्य विज्ञापयामास मुनीशवर्यः ।
आपृच्छनायाहमिहागतोऽस्मि श्रीकाशिपुर्यास्तु यतः प्रभुस्त्वम् ।। ३२ ।

गतिराश्रयः ।।२९। अन्यां क्षुद्राम् । गवेषयेदन्वेषयेत्प्रार्थयेदित्यर्थः ।।३०। इत्थमिति व्यासोक्तिः । पुराणाच्च पुरातनाद्वेदादिति वा ।।३१।

श्रीकालराजं श्रीकालभैरवम् । आपृच्छनायाऽन्यत्र गन्तुमाज्ञायाचनाय । काशीश्वरात्प्रार्थ्येति चेत्, तत्राह । यतस्त्वमेव काशीपुर्याः प्रभुरीश्वर इति । तथा च पञ्चक्रोशयात्रामाहात्म्ये पार्वतीं प्रति विश्वेश्वरवचनम्—

अस्मिन् क्षेत्रे क्षणं काश्यां स्वातन्त्र्यं न हि मे सदा ।
श्रीकालभैरवः काश्यां स एव प्रभुरुच्यते ।।

ब्रह्मवैवर्त्ते च—

मयाऽपि सततं यत्र कालराजाद्धि बिभ्यता ।
स्थीयते सावधानेन काश्यामानन्दभोगिना ।। इति ।।३२।

अविमुक्त के तुल्य दूसरा क्षेत्र नहीं है । अविमुक्त के समान न अन्यत्र कहीं गति ही है। अविमुक्तेश्वर के सदृश दूसरा शिवलिंग भी नहीं है । यह बात बारम्बार सत्य ही सत्य है ।। २९ ।

अविमुक्त को त्याग कर जो अन्यत्र निवास करना चाहता है, वह अपने करतल से मुक्ति को फेंककर दूसरी किसी सिद्धि का अन्वेषण (खोज) करता है ।। ३० ।

महात्मा मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्य ऋषि ने वेद, पुराण आदि के द्वारा श्रीमद्विश्वनाथ के सदृश शिवलिंग और काशी के समान पुरी त्रैलोक्य में दूसरी नहीं है—इस क्षेत्र का यह (अद्‌भुत) महात्म्य निश्चय करके बताया ।। ३१ ।

तदनन्तर कालभैरव के समीप जाकर उन्होंने प्रणामपूर्वक विज्ञापित किया कि हे कालराज ! आप इस काशीपुरी के स्वामी हैं। इसी हेतु आपसे मैं यहाँ पूछने आया हूँ ।। ३२ ।

हा कालराज प्रतिभूतमत्र प्रत्यष्टमि प्रत्यवनीसुतार्कम् ।
नाराधये मूलफलप्रसूनैः किं मय्यनागस्यपराधदृक् स्याः ॥ ३३ ।

हा कालभैरव भवानभितो भयार्तान्
मा भैष्ट चेति भणनैः स्वकरं प्रसार्य ।
मूर्त्ति विधाय विकटां कटुपापभोक्त्रीं
वाराणसीस्थितजनान् परिपाति किं न ॥ ३४ ।

हे यक्षराज रजनीकर चारुमूर्ते
श्रीपूर्णभद्र सुतनायक दण्डपाणे ।
त्वं वै तपोजनितदुःखमवैषि सर्वं
किं मां बहिर्नयसि काशिनिवासिरक्षिन् ॥ ३५ ।

काशीत्यागखेदाद्विलपति । हा कालराजेति । हा कष्टे । हे कालराज प्रतिभूतम्, भूता चतुर्दशी, भूतां भूतां प्रतिभूतं प्रतिचतुर्दशीत्यर्थः । प्रत्यष्टमि अष्टमीमष्टमीं प्रति प्रत्यष्टमि । प्रत्यवनीसुतार्कम्, अवनीसुतो मङ्गलोऽर्क सूर्यः, ताभ्यां तयोर्वा सरे लक्ष्येते । अवनीसुतार्कौ प्रति प्रत्यवनीसुतार्कम्, प्रतिमङ्गलवासरं प्रतिरविवासरमित्यर्थः । मूलफलपुष्पैः किमहं नाराधये, आराधनं किं न कृतवानस्मि; अपितु कृतवानेव । अतोऽनागसि अपराधशून्ये मयि अपराधदृक् अपराधे दृक् दृष्टिर्यस्य स तथाभूतः, किं स्याः भवेः । काकाक्षिन्यायेन किं शब्दस्योभयत्राऽपि अन्वयः । केन दोषेण काशीतो मां निष्कासयसीत्यर्थः ॥३३।

भणनैः शब्दैः । विकटां भयङ्कराम् । कटुपापभोक्त्री तीव्रपापनाशिनीम् । विकटोत्कटपापभोक्त्रीमिति क्वचित्पाठः । न परिपाति किम् ? अपि तु परिपात्येवेत्यर्थः ॥३४।

एवं श्रीकालभैरवाग्रतो विलप्य श्रीदण्डपाणेरग्रतो विलपति । **हे यक्षेति** । नायक हे श्रेष्ठ ॥३५।

कालराज ! मैं ने (तो) प्रति चतुर्दशी, प्रति अष्टमी, प्रति मंगलवार और प्रति रविवार को फल-मूल-पुष्प आदि से क्या आपकी आराधना नहीं की ? मैं तो अपनी ओर से निरपराध हूँ, तब भी मुझे क्यों आप अपराधी स्थिर करते हैं ? ॥ ३३ ।

हाय हाय हे कालभैरव ! आप उत्कृष्ट पापनाशिनी विकटमूर्ति को धारण करके— "मत डरो" ऐसा कहते हुए अपना हाथ फैलाकर काशीवासी भयार्त जीवगण की सर्वतोभाव से क्या रक्षा नहीं करते ? ॥ ३४ ।

तदनन्तर वे दण्डपाणि (भैरव) के सामने विलाप करने लगे— हे यक्षराज ! हे चन्द्रसमान सुन्दर शरीरवाले ! हे पूर्णभद्रनन्दन ! हे नायक ! हे काशिवासिरक्षक ! हे दण्डपाणे ! आप तो समस्त समस्याओं के क्लेशों को जानते ही हैं । तब फिर मुझे (काशी) से बाहर क्यों निकालते हैं ? ॥ ३५ ।

त्वमन्नदस्त्वं किल जीवदाता त्वं ज्ञानदस्त्वं किल मोक्षदोऽपि ।
त्वमन्त्यभूषां कुरुषे जनानां जटाकलापैरुरगेन्द्रहारैः ॥ ३६ ।
गणौ त्वदीयौ किल सम्भ्रमोद्भ्रमावत्रस्थवृत्तान्तविचारकोविदौ ।
सम्भ्रान्तिमुत्पाद्य परामसाधून् क्षेत्रात् क्षणं दूरयतस्त्वमुष्मात् ॥ ३७ ।
शृणु प्रभो ढुण्ढिविनायक त्वं वाचं मदीयान्तु रटाम्यनाथवत् ।
त्वत्स्थाः समस्ताः किल विघ्नपूगाः किमत्र दुर्वृत्तवदास्थितोऽहम् ॥ ३८ ।
शृण्वन्त्वमी पञ्चविनायकाश्च चिन्तामणिश्चापि कपर्दिनामा ।
आशागजाख्यौ च विनायकौ तौ शृणोत्वसौ सिद्धिविनायकश्च ॥ ३९ ।

अन्नदः चतुर्विधान्नदः । अत एव जीवदाता । अन्त्यभूषां मर्त्यदेहत्यागावसरभूषाम् ॥ ३६ ।

सम्भ्रांति सम्मोहमुद्वेगं वा । अमुष्मात्क्षेत्रादित्यन्वयः । दूरयतो मनुष्यानिति क्वचित्पाठः ॥३७

श्रीगणेशं प्रार्थयति । **शृण्विति** । शृणुष्व भो इति पाठान्तरे आत्मनेपदमार्षम् । रटामि प्रलपामि । विघ्नैस्त्वं दूरीक्रियसे किं मया शक्यमित्यत आह । त्वत्स्था इति । त्वयि तिष्ठन्तीति त्वत्स्थास्त्वत्प्रेर्यास्त्वदधीना इत्यर्थः।समस्ताः समग्राः।त्वच्छासनस्था इति क्वचित्पाठः । **विघ्नपूगा** विघ्नसमूहाः । अतस्तैः किमर्थं मां बहिर्निष्कासयसीत्यभिप्रायः ।

ननु दुर्वृत्तस्य विघ्नसमूहैर्मया अन्येन वा क्रियमाणं निष्कासनं युक्तमेवेत्यत आह । **किमत्रेति** । दुर्वृत्तवत् । किमत्राविमुक्तेऽहमास्थितः स्थितोऽस्मि; अपि तु नैवेत्यर्थः ॥३८।

मोदादिपञ्चविनायकांश्चिन्तामण्यादींश्च प्रार्थयति । **शृण्वन्त्वमी**-इति । अमी **मोद-प्रमोदामोद-सुमोद-दुर्मोदाः** । चिन्तामण्यादय एव वा पञ्च । आशागजा इत्याख्या ययोस्तावशागजाख्यौ । तौ प्रसिद्धौ । आशागजाघोरविनायकाविति पाठे गजश्च घोरश्च

हे देव ! आप ही काशिवासियों के अन्नदाता, प्राणदाता, ज्ञानदाता, और मोक्षदाता भी हैं और आप ही भुजगेन्द्रहार और जटा-कलाप इत्यादि से लोगों के अन्तिम कालोपयुक्तभूषण को (सजा) देते हैं ॥ ३६ ।

आपके संभ्रम और उद्भ्रम नामक दोनों गण, यहाँ के निवासी लोगों के समस्त वृत्तान्त के जानने में विशारद हैं, वे ही लोग बड़ा मोह उत्पादन करके दुर्जनों को क्षणमात्र में इस मुक्ति-क्षेत्र से बाहर कर देते हैं ॥ ३७ ।

(इसके अनन्तर उन्होंने) ढुण्ढिराज गणेश के प्रति विलाप करना प्रारम्भ किया । हे प्रभो ढुण्ढिविनायक ! मेरी बात आप सुन लें । मैं अनाथ की नाईं विलाप कर रहा हूँ । समस्त विघ्न आपके ही शासनाधीन हैं । पापी लोग ही विघ्न से परिभूत होते हैं । तो क्या मैं भी यहाँ दुर्वृत्तों के ही सदृश अवस्थित हूँ ? ॥ ३८ ।

चिन्तामणि-विनायक, कपर्दी-विनायक, आशाविनायक, गजविनायक और सिद्ध-विनायक ये पाँचों विनायक मेरी प्रार्थना सुनें ॥ ३९ ।

परापवादो न मया किलोक्तः परापकारोऽपि मया कृतो न ।
परस्वबुद्धिः परदारबुद्धिः कृता मया नात्र क एष पाकः ॥ ४० ।
गङ्गा त्रिकालं परिसेविता मया श्रीविश्वनाथोऽपि सदा विलोकितः ।
यात्राः कृतास्ताः प्रतिपर्व सर्वतः कोऽयं विपाको मम विघ्नहेतुः ॥ ४१ ।
मातर्विशालाक्षि भवानि मङ्गले ज्येष्ठेशिसौभाग्यविधानसुन्दरि ।
विश्वे विधे विश्वभुजे नमोऽस्तु ते श्रीचित्रघण्टे विकटे च दुर्गिके ॥४२।

गजाघोरौ। देवताद्वन्द्वे चेति दीर्घः। तौ च तौ विनायकौ च तथा तावित्यर्थः। किन्त्वस्मिन् पक्षे चिन्तामणिरिति कपर्दिनो विशेषणम्। भक्तानां चिन्तामणिरिव चिन्तामणिः सर्वार्थपूरक इत्यर्थः ॥३९।

श्रोतव्यमाह ॥ **परापवाद** इति ॥ एष काशीत्यागलक्षणः पाकः फलं कः कस्मात् पापाज्जात इत्यर्थः ॥४०।

ननु निषिद्धाचरणाभावेऽपि विहितांकरणप्रत्यवायात् काशीत्याग इत्यत आह। गङ्गेति। सदा प्रत्यहं सर्वदा वा ध्यानादिना परिसेविता। त्ववगाहितेति क्वचित्पाठः। विशेषेण पापिनो नरकेषु पाचयति विशेषेण पाकः पचनं वाऽस्मादिति विपाकोऽत्राधर्मः। ॥४१।

विशालाक्ष्याद्या देवताः प्रार्थयति। **मातरिति**। हे ज्येष्ठेशि ज्येष्ठा चासौ ईशी चेति ज्येष्ठेशि, ज्येष्ठया सह ईशीति वा। तत्र ज्येष्ठा गौरी, अलक्ष्मीरिति केचित्। ईशी ईशाना, तस्याः सम्बोधने हे ज्येष्ठे, हे ईशि-इत्यर्थः। ज्येष्ठेसि इति पाठेऽकारप्रश्लेषः। अस्या नद्या अधिष्ठात्री देवताऽसो, तस्याः सम्बोधने हे असीति। ज्येष्ठेन्नेति पाठेऽप्यकारप्रश्लेषः। तदान्नसौभाग्ययोर्विधाने सम्पादने सुन्दरि योग्ये दक्षे इति ज्येष्ठाया विशेषणम्। चकारादन्यासां काशीस्थदेवतानां संग्रहः ॥४२।

मैंने न कभी किसी की निन्दा की और न किसी का अपकार ही किया। परद्रव्य और परस्त्री की ओर भी कभी मेरी मति नहीं हुई। तो फिर यह किस कर्म का विपाक (फल) उपस्थित हुआ है ? ॥ ४० ।

मैं ने जो त्रिकाल गङ्गा-स्नान किया, सर्वदेव श्रीविश्वनाथ का दर्शन किया और प्रत्येक पर्व पर सब प्रकार की यात्राएँ भी करता रहा। तब फिर मुझे विघ्न हेतु यह विपाक क्यों उपस्थित हुआ ? ॥ ४१ ।

(तदनन्तर काशीस्थ देवियों को सम्बोधित कर उन्होंने कहा—) हे मातः ! विशालाक्षि ! हे भवानि ! हे मंगले, हे समस्त सौभाग्यविधायिनि सुन्दरी ! ज्येष्ठेसि ! हे विश्वे ! हे विधे ! हे विश्वभुजे ! हे चित्रघण्टे ! हे विकटे ! हे दुर्गे ! तथा अन्यान्य देविगण ! आप लोगों को नमस्कार है ॥ ४२ ।

साक्षिण्य एताः किल काशिदेवताः शृण्वन्तु न स्वार्थमहं व्रजाम्यतः।
अभ्यर्थितो देवगणैः करोमि किं परोपकाराय न किं विधीयते ॥ ४३।

दधीचिरस्थीनि न किं पुरा ददौ
जगत्त्रयं किं न ददेऽर्थिने बलिः।
दत्तः स्म किं नो मधुकैटभौ शिरो
बभूव ताक्ष्योऽपि च विष्णुवाहनम् ॥ ४४।

आपृच्छ्य सर्वान् समुनीन् मुनीश्वरः
सबालवृद्धानपि तत्र वासिनः।
तृणानि वृक्षांश्च लताः समस्ताः
पुरीं परिक्रम्य च निर्ययौ च ॥ ४५।

किं तत्प्रार्थ्यं तदाह। न स्वार्थमिति। अतोऽविमुक्तात्। ननु स्वप्रयोजनं चेत्, नास्ति किमिति तर्हि गच्छसि, तत्राह। अभ्यर्थित-इति। नन्वभ्यर्थितेनापि किं काशी त्याज्या ? तत्राह। परोपकारायेति ॥४३॥

परोपकारार्थमकर्तव्यमपि क्रियत इत्यत्र दृष्टान्तमाह। दधीचिरिति। यद्वा काशीतो व्रजने हेतुद्वयम्—अभ्यर्थनापरोपकारश्च, तत्रोभयत्राकरणीयस्यापि करणे दृष्टान्तमाह। दधीचिरिति। उक्तञ्च—

त्वचं कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि किं न देयं महात्मनाम्। इति ॥

अर्थिने विष्णवे दत्तः। स्मेत्यत्राप्यस्यान्वयः। शेषपादे स इति क्वचित्पाठः, स चिन्त्यः। सताक्ष्यं इति वा सम्बन्धः। तत्राद्यो दृष्टान्तः प्रार्थनोपकारयोः, अवशिष्टं त्रयन्तु प्रार्थनामात्रे इति भेदः ॥४४॥

उपसंहरति। आपृच्छ्येति। व्यासोक्तिरियम्। पुरी परिक्रम्य च क्षेत्रं प्रदक्षिणीकृत्य। तथा च वक्ष्यति कालराजाऽध्यायेऽत्रैव। अतः प्रदक्षिणीकृत्य पूजनीया पुरी त्वियमिति। वामनपुराणे प्रह्लादतीर्थयात्रायाम्—

काशीस्थ जो-जो देवगण यहाँ साक्षी के रूप में उपस्थित हैं, वे सब सुनें, मैं स्वार्थवश होकर काशी से कहीं अन्यत्र नहीं जाता हूँ। देवगण से प्राथित होने पर मैं क्या करूँ, परोपकार के लिए क्या नहीं किया जाता ? ॥ ४३।

पूर्वकाल में दधीचि मुनि ने दूसरे के उपकारार्थ अपना अस्थि प्रदान किया था। दानवेन्द्र बलि ने याचक को त्रैलोक्य दे डाला। मधुकैटभ नामक दोनों असुरों ने भी अपना मस्तक कटवा दिया और पक्षिराज गरुड भी विष्णु भगवान् के वाहन हुए ॥ ४४।

इसके अनन्तर मुनीश्वर अगस्त्य ने समस्त काशी-निवासी मुनिगण तथा बाल-वृद्ध-जन और अशेष तृण-वृक्ष-लता इत्यादि से बिदा ली और काशीपुरी की प्रदक्षिणा करके वहाँ से बाहर निकले ॥ ४५।

प्रोषितस्य परितोऽपि लक्षणैर्नीचवर्त्म परिवर्तिनोऽपि वा।
चन्द्रमौलिमवलोक्य यास्यतः कस्य सिद्धिरिह नो परिस्फुरेत् ॥ ४६ ।
वरं हि काश्यां तृणवृक्षगुल्मकाश्चरन्ति पापं न चरन्ति नान्यतः।
वयं चराणां प्रथमा धिगस्तु नो वाराणसीं हाद्य विहाय गच्छतः ॥ ४७ ।
असिं ह्युपस्पृश्य पुनः पुनर्मुनिः प्रासादमालाः परितो विलोकयन्।
उवाच नेत्रे सरले प्रपश्यतं काशीं युवां क्व क्व पुरी त्वियं बत ॥४८ ।

प्रदक्षिणीकृत्य पुरीं पूज्याविमुक्तकेशवौ।
लोलं दिवाकरं दृष्ट्वा ततो मधुपुरीं ययौ॥ इति ॥

चकारादन्तर्गृहयात्रां विधायेत्यर्थः। अन्तिमश्चकारः समुच्चयार्थं आह चेति समुच्चिनोति। निर्ययौ बहिरिति क्वचित्पाठः ॥४५।

यदाह तन्निर्दिशति श्लोकद्वयेन। **प्रोषितस्येति**। चन्द्रमौलिं चन्द्रशेखरमवलोक्य यास्यतो गच्छत इह संसारे कस्य जनस्य सिद्धिर्यमर्थमुद्दिश्य गच्छति, तस्यार्थस्य सिद्धिर्न परिस्फुरेन्नोल्लसेत्, न भवेत्; अपि तु स्फुरेदेवेत्यन्वयः। पुरः स्फुरेदिति क्वचित्पाठः। कथम्भूतस्य? परितो लक्षणैः सर्वप्रकारैर्लक्षणैः सल्लक्षणैः शकुनादिलक्षणैर्वा प्रोषितस्य प्रदग्धस्य रहितस्येति यावत्। प्रपूर्वस्य उष दाहे इत्यस्य रूपम्। प्रोज्झितस्येति क्वचित्पाठः। पुनः कथम्भूतस्य? नीचवर्त्मनि असन्मार्गे परिवर्तितुं शीलं यस्य, स तथा तस्यापीत्यर्थः। वा शब्दश्चार्थे समुच्चयवाची ॥४६।

गुल्मो गुच्छः। पापं न चरन्ति अन्यत्रापि न चरन्ति न यान्तीत्यर्थः। वयं चराणां जङ्गमानां प्रथमाः प्रथमोत्पन्ना ब्राह्मणाः श्रेष्ठा इत्यर्थः। एवं भूतानपि अस्मान् धिगस्तु। कीदृशानस्मान्? हा कष्टे। वाराणसीं विहाय गच्छतोऽन्यत्र गमनं कुर्वतः। गच्छत इत्यत्र याम इति क्वचित्पाठः, स न छन्दोभङ्गभिया कक्षीकर्तव्यः ॥४७।

असिमिति व्यासोक्तिः। उपस्पृश्याचम्य स्नात्वा च। हिशब्दात् सङ्गमेश्वरं प्रपूज्य वा। प्रासादमालाः प्रासादसमूहान्। किमुवाच तदाह। हे नेत्रे हे चक्षुषी! कथंभूते? सरले स्निग्धे प्रसन्ने इति यावत्। काशीं प्रपश्यतं प्रकर्षेणावलोकयतम्। यतो युवां क्व इयं पुरी काशी क्व कुत्र? बतेति खेदे। पुनर्मेलनन्तु दुर्घटमिति तुशब्दस्यार्थः ॥४८।

सकल शुभलक्षण-रहित नीच पथवर्ती भी कोई मनुष्य चन्द्रशेखर का दर्शन करके यात्रा करे तो अवश्य ही अभीष्ट सिद्धि का लाभ प्राप्त होता है ॥ ४६ ।

काशी में तृण-गुल्म-वृक्ष होना भी बहुत उत्तम है; क्योंकि न तो वे पाप करते हैं, न ही बाहर ही जाते हैं; परन्तु हाय! जंगम जीवों में सर्वोत्तम होकर भी हम (ब्राह्मण) लोगों को धिक्कार है, जो हम सब काशी का परित्याग करके अन्यत्र चले जा रहे हैं ॥४७।

बारम्बार असी नदी के जल का स्पर्श करते हुए और काशीपुरी की बड़ी-बड़ी अटारियों की मालाएँ देखते हुए अगस्त्य ऋषि ने अपने नेत्रों के प्रति कहा—हे मेरे दोनों सरल नयन! तुम इस काशीपुरी को अच्छी प्रकार से देख लो। हाय! इसके अनन्तर कहाँ तुम और कहाँ यह काशी नगरी रहेगी? ॥ ४८ ।

स्वैरं हसन्त्वद्य विधाय तालिकां मिथः करेणापि करं प्रगृह्य ।
सीमाचराभूतगणा व्रजाम्यहं विहाय काशीं सुकृतैकराशिम् ॥ ४९ ।
इत्थं विलप्य बहुशः स मुनिस्त्वगस्त्य-
स्तत्क्रौञ्चयुग्मवदहो अबलासहायः ।
मूर्च्छामवाप महतीं विरहीव जल्पन्
हा काशि काशि पुनरेहि च देहि दृष्टिम् ॥५०।

स्वैरमिति । व्रजाम्यहमहं गच्छामि । व्रजत्यसाविति क्वचित्पाठः ॥४९।

इत्थमिति । सोऽगस्त्यो मुनिर्मननशीलोऽपि बहुश इत्थं विलप्य मूर्च्छामवापेत्यन्वयः । किं कुर्वन् ? हा इति खेदे । हे काशि हे काशि पुनरेहि दृष्टिं दर्शनञ्च देहीति जल्पन् । हा क्वासीति क्वचित्पाठः । कीदृशीं दृष्टिम् ? महतीं महत्तरां मुक्त्येकसाधनमित्यर्थः । यद्वा मूर्च्छां विशिनष्टि । **महतीमिति** । महत्त्वं द्योतयन् अगस्त्यं विशिनष्टि । अबलासहाय इति । अयम्भावः—अन्योऽपि विरही कान्ताविरहादेव मूर्छां प्राप्नोति, अयं त्वबलासहायोऽपि, अतो महतीमचिकित्स्यामित्यर्थः । बहुजल्पने दृष्टान्तस्तत्क्रौञ्चयुग्मवदिति । तच्च तत्क्रौञ्चयुग्मं क्रुङ्युग्मं च तत्तथा तद्वदिति क्रुङ्क्रौञ्चोऽथेत्यमरः ।

तच्छब्दोऽयं प्रसिद्धार्थाभिधायकः । प्रसिद्धत्वञ्चास्य यत्क्रौञ्चमिथुनादित्यादि रामायणादौ बोद्धव्यम् । यथा च तत्र निषादेन शरेण विद्धं भूमौ पतितं क्रौञ्चं दृष्ट्वा क्रौञ्ची अत्यार्त्तस्वरं विललाप, तथा काशीविरहाख्येन व्याधेन स्वोद्भूतेन शोकाख्येन शरेण पीडितं भूमौ पतितं भर्तारं दृष्ट्वा लोपामुद्रा (अपि) विललापेत्यर्थः । तथा च रामायणे—

ततः स तमसातीरे विचरन्तमभीतवत् ।
ददर्श क्रौञ्चयोस्तत्र मिथुनं चारुदर्शनम् ॥

तस्माच्च मिथुनादेकमागत्यानुपलक्षितः ।
जघान बद्धानुशयो निषादो मुनिसन्निधौ ॥

तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले ।
दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरावार्ता करुणं खे परिभ्रमेत् ॥ इति ।

मूर्छाप्राप्तौ दृष्टान्तमाह । विरहीवेति ॥५०।

आज इस काशी के सीमाचारी भूतगण बार-बार ताली बजाकर और हाथ से हाथ मिलाकर यथेष्ट हास्य करें । मैं तो सुकृतैकराशि काशी को छोड़कर जा ही रहा हूँ ॥ ४९ ।

अहो ! पत्नी के सहित वे अगस्त्य मुनि इस प्रकार से क्रौंच पक्षी के विरही जोड़े के सदृश बहुत विलाप करते हुए "हे काशि ! हे काशि ! फिर आओ दर्शन दो" । इत्यादि लोपामुद्रासहित विलाप करते हुए महती मूर्च्छा को प्राप्त हो गए ॥ ५० ।

स्थित्वा क्षणं शिव शिवेति शिवेति चोक्त्वा
या वः प्रियेति कठिना हि दिवौकसस्ते ।
किं न स्मरेस्त्रिजगतीसुखदानदक्षं
त्र्यक्षं प्रहित्य मदनं यदकारि तैस्तु ॥ ५१ ।

यावद्व्रजेत्त्रिचतुराणि पदानि खेदात्
स्वेदोदबिन्दुकणिकाञ्चितभालदेशः ।
प्रत्युद्गमाऽकरणतः किल मे विनाश-
स्तावद्धराभयभरादिव सञ्चुकोच ॥ ५२ ।

तपोयानमिवारुह्य निमेषार्धेन वै मुनिः ।
अग्रे ददर्श तं विन्ध्यं रुद्धाम्बरमथोन्नतम् ॥ ५३ ।

स्थित्वेति व्यासोक्तिः । यावो गच्छावः इत्युवाचेति शेषः । कठिनतां स्मारयति । **किं न स्मरेरिति** । त्र्यक्षं प्रहित्य त्रिलोचनमुद्दिश्य मदनं प्रस्थाप्य । प्रहृत्येति पाठे कामद्वारा तद्बाणैर्विद्धा मदनं प्रति यदकारीति व्याख्येयम्, तैर्देवैः ॥५१।

यावदिति । खेदात्त्रिचतुराणि पदानि यावन्मुनिर्गच्छेत्, तावद्धरा पृथिवी भयभरादिव भयमेव भरो भयभरस्तस्मादिव सञ्चुकोच सङ्कुचितासीदित्यन्वयः। कथम्भूतः? प्रस्वेदादकसीकरैरञ्चितः पूजितः शोभितो भालदेशो यस्य सः। कस्मात् सञ्चुकोच, तत्राह, **प्रत्युद्गमेति** ।

अयम्भावः—एतावद्दिनं तावदयं काश्यां स्थितवान्, अधुना मय्यागतस्याभ्युत्थानाद्यकरणान्मम नाशो भविष्यतीति भयभरादिव पृथ्वी संकुचिता बभूवेति । तथा च मनुः—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयतिः ।
अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यत ॥ इति ॥

भरभयादिवेति क्वचित्पाठः ॥५२।

क्षण भर मूर्च्छित रहने के बाद मूर्च्छा-भंग होने पर अगस्त्य ऋषि "शिव-शिव-शिव" ऐसा कहते हुए बोले, हे प्रिये ! चलो चलें (देखो) ये देवगण बड़े ही कठिन हैं, त्रिभुवन के सुखदाता कामदेव को त्र्यम्बक भगवान् के पास भेजकर जो कुछ इन लोगों ने किया; क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? ॥ ५१ ।

खेद से निर्गत स्वेद (पसीना) जल-बिन्दु की कणिकाओं से भालदेश को व्याप्त करते हुए अगस्त्य मुनि ने तीन-चार पग मात्र ही गमन किया था कि "इनकी अगवानी न करने से मेरा विनाश हो जायेगा" ऐसा मानकर इसी भय से आर्त होकर पृथिवी संकुचित हो गई ॥ ५२ ।

मुनि ने तपरूपी यान पर चढ़कर आधे निमेष में ही आकाश-मण्डल के मार्ग को रोके हुए समुन्नत विन्ध्यगिरि को अपने आगे देखा ॥ ५३ ।

चकम्पे चाचलस्तूर्णं दृष्ट्वा वाग्रस्थितं मुनिम् ।
तमगस्त्यं सपत्नीकं वातापील्वलवैरिणम् ॥ ५४ ।
तपःक्रोधसमुत्थाभ्यां काशीविरहजन्मना ।
प्रलयानलवत्तीव्रं ज्वलन्तं त्रिभिरग्निभिः ॥ ५५ ।
गिरिः खर्वतरो भूत्वा विविक्षुरवनीमिव ।
आज्ञाप्रसादः क्रियतां किंकरोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ५६ ।

अगस्त्य उवाच—

विन्ध्य साधुरसि प्राज्ञ मां च जानासि तत्त्वतः ।
पुनरागमनं चेन्मे तावत् खर्वतरो भव ॥ ५७ ।
इत्युक्त्वा दक्षिणामाशां सनाथामकरोन्मुनिः ।
निजैश्चरणविन्यासैस्तया साध्व्या तपोनिधिः ॥ ५८ ।
गते तस्मिन् मुनिवरे वेपमानस्तदा गिरिः ।
पश्यत्युत्कण्ठमिव च गतश्चेत्साध्वभूत्ततः ॥ ५९ ।

चकम्पे च स्वेदरोमोद्‌गमादिकं च दधाविति चकारस्यार्थः ।।५४।

तप इति । पुनः कथम्भूतम् ? त्रिभिरग्निभिर्ज्वलन्तम् । के तेऽग्नयस्तानाह। तप इति । काशीविरहाज्जन्म यस्य तेनाग्निना ।।५५। साधुरसि प्राज्ञेति चोपहासः। चेद्यावत् ।।५७।

उत्कण्ठमूर्ध्वग्रीवं यथा स्यात्तथा पश्यति अपश्यत् । पश्येदिति क्वचित्पाठः। किमिति पश्यति तत्राह । **गतश्चेदिति** ।। चेद्यदि । ततस्तदा । उत्कण्ठ इव, चाहाद्वेत्य-

---

वह विन्ध्यपर्वत भी वातापी और इल्वल के विनाशक अगस्त मुनि को सहधर्मिणी के सहित सन्मुखवर्ती देखकर तुरन्त काँप उठा ॥ ५४ ।

तप, क्रोध और काशी के विरह से उत्पन्न हुए त्रिविध अग्नियें से प्रलयानल के समान तीव्र जाज्वल्यमान अगस्त्य भगवान् को देखा ॥ ५५ ।

अत्यन्त छोटा (वामन) होकर, प्रणत होकर, मानों भूमि में प्रवेश करने की इच्छा करता हुआ वह पर्वत बोला—"मैं किंकर हूँ। मुझे आज्ञा देकर अनुगृहीत कीजिए" ॥ ५६ ।

अगस्त्य ऋषि ने कहा—"हे विज्ञ विन्ध्य ! तुम सज्जन हो और मुझे भी भली-भाँति जानते हो। जबतक मैं फिर लौट कर न आऊँ, तबतक यों ही झुके (छोटे बने पड़े) रहो ॥ ५७ ।

तपोनिधान अगस्त्य मुनि ने ऐसा कहकर उस पतिव्रता के साथ अपने चरण-विन्यासों से दक्षिण दिशा को सनाथ किया, दक्षिण की ओर चल गए ॥ ५८ ।

मुनिवर के चले जाने पर वह कम्पायमान शैल अत्यन्त उत्कण्ठित के समान देखने लगा कि यदि ऋषि चले गए हों, तभी कुशल है ॥ ५९ ।

अद्य जातः पुनरहं न शप्तो यदगस्तिना ।
न मया सदृशो धन्य इति मेने स वै गिरिः ॥ ६० ।
अरुणोऽपि च तत्काले कालज्ञोऽश्वानकालयत् ।
जगत्स्वास्थ्यमवापोच्चैः पूर्ववद्भानुसञ्चरैः ॥ ६१ ।
अद्य श्वो वा परश्वो वाऽप्यागमिष्यति वै मुनिः ।
इति चिन्तामहाभारैर्गिरिराक्रान्तवत् स्थितः ॥ ६२ ।
नाद्यापि मुनिरायाति नाद्यापि गिरिरेधते ।
यथा खलजनानां हि मनोरथमहीरुहः ॥ ६३ ।
विवर्धिषति यो नीचः परासूयां समुद्वहन् ।
दूरे तद्वृद्धिवार्ताऽऽस्तां प्राग्वृद्धेरपि संशयः ॥ ६४ ।
मनोरथा न सिद्ध्येयुः सिद्धा नश्यन्त्यपि ध्रुवम् ।
खलानां तेन कुशलि विश्वं विश्वेशरक्षितम् ॥ ६५ ।

न्यत्र पाठः । यद्यस्मात् ॥५९-६०। अकालयत् अचालयत् प्रेरयामासेति यावत् ॥६१। एधते वर्धते । मनोरथ एव महीरुहो वृक्षः ॥६३।

अस्तु तावद्विन्ध्यस्यागन्तुकी वृद्धिः, प्राग्वृद्धिरपि संशयितेति दृष्टान्तेनाह । विवर्धिषतीति । विवर्धिषति वर्धितुमिच्छति ॥६४।

पूर्वं संशयमात्रमुक्तमिदानीं प्राक्सिद्धा मनोरथा नश्यन्तीत्येवेत्याह । मनोरथा इति । फलितमाह । तेनेति । तेन खलानां मनोरथनाशनेन । विश्वेशेनागस्त्यरूपेण रक्षितं पालितम् ॥६५।

'ऋषि ने जो मुझे शाप नहीं दिया, आज मेरा पुनर्जन्म हुआ । मेरे सदृश कोई धन्य नहीं है'—उस गिरि ने ऐसा ही निश्चय किया ॥ ६० ।

उसी समय कालज्ञ सूर्य के सारथि अरुण ने घोड़ों को चलाया (हाँका) और पूर्ववत् सूर्यदेव की किरणों के संचार से जगत् स्वास्थ्य को प्राप्त हुआ ॥ ६१ ।

आज, कल या परसों मुनि निश्चय ही आएगें, इसी प्रकार की चिन्ता के भार से दबा हुआ मानों वह विन्ध्याचल स्थिर भाव से बैठा रहा ॥ ६२ ।

न तो आजतक मुनिवर (दक्षिण दिशा से) लौटे हैं और न आज तक वह पर्वत बढ़ा ही है—वैसे ही जैसे दुर्जनों का मनोरथरूपी वृक्ष नहीं बढ़ने पाता ॥ ६३ ।

जो नीच दूसरों से डाह करके अपनी वृद्धि करने की इच्छा करता है, उसकी वृद्धि की बात तो दूर रही, पूर्व (सम्पादित) वृद्धि के (बंचे) रहने में संदेह है ॥ ६४ ।

खलगण के मनोरथ (पहिले तो) सिद्ध ही नहीं होते, दैवात् सिद्धि को प्राप्त हुए तो निश्चय ही विनष्ट हो जाते हैं । इसी से विश्वेश्वर से पालित इस विश्व का कुशल (होता) है ॥ ६५ ।

विधवानां स्तना यद्वद्धृद्येव विलयन्ति च ।
उन्नम्योन्नम्य तत्रोच्चैस्तद्वत्खलमनोरथाः ॥ ६६ ।
भवेत्कूलङ्कषा यद्वदल्पवर्षेण कन्नदी ।
खलर्धिरल्पवर्षेण तद्वत्स्यात् स्वकुलङ्कषा ॥ ६७ ।
अविज्ञायाऽन्यसामर्थ्यं स्वसामर्थ्यं प्रदर्शयेत् ।
उपहासमवाप्नोति तथैवायमिहाचलः ॥ ६८ ।

व्यास उवाच—

गोदावरीतटं रम्यं विचरन्नपि वै मुनिः ।
न तत्याज च तं तापं काशीविरहजं परम् ॥ ६९ ।
उदीची दिक् स्पृशमपि स मुनिर्मातरिश्वनम् ।
प्रसार्य बाहू संश्लिष्य काश्याः पृच्छेदनामयम् ॥ ७० ।

पूर्वोक्तमर्थं सदृष्टान्तं कथयन् प्रकृतं निगमयति । विधवानामिति त्रयेण । यथा विगतभर्तृकाणां कुचा उच्चैर्यथा स्यात्तथा हृदि वर्धित्वा, तत्रैव हृदि विलयन्ति विलीयन्त एव, न स्वेषां परेषां वोपकाराय भवन्ति, तथा खलानां मनोरथा इत्यर्थः ॥६६॥

यथा कन्नदी कुत्सिता नदी अल्पवृष्ट्या कूलङ्कषा स्वतीरभञ्जिका भवति, तथा खलस्याल्पवर्षेणाल्पकामवृष्ट्या या ऋद्धिः समृद्धिः सम्पत्तिरिति यावत सा स्वकूलङ्कषा स्वकुलनाशिका भवतीत्यर्थः । कुन्नदीति क्वचित्पाठः, स चिन्त्यः ॥६७॥

योऽन्यसामर्थ्यमविज्ञाय स्वसामर्थ्यं दर्शयति, स यथोपहासं प्राप्नोति, तथाऽयं विन्ध्योऽपीत्यर्थः ॥६८॥

उदीचीं दिशं स्पृशतीत्युदीचीदिक्स्पृक्, तम् । उदीचीदिक्चरमिति क्वचित्पाठः । मातरिश्वनं वायुम् । ह्रस्वश्छान्दसः । पृच्छेत् पृच्छति ॥७०॥

(बाल) विधवा के स्तन जिस प्रकार उठकर भी फिर हृदय में ही विलीन हो जाते हैं, वैसे ही दुष्टों के मनोरथ भी हृदय में उठकर वहीं ध्वस्त हो जाते हैं ॥ ६६ ।

जैसे कुत्सित नदियाँ थोड़ी ही वृष्टि से कूलंकषा (कगार तोड़ने वाली) हो जाती हैं, वैसे ही असज्जन की सम्पत्ति भी कुछ ही वर्षों में अपने कुल का नाश कर डालती है ॥ ६७ ।

जो कोई दूसरे के सामर्थ्य को विना समझे ही अपनी शक्ति दिखलाने लगता है, उसी के सदृश यह विंध्यगिरि भी केवल उपहास के योग्य बन गया ॥ ६८ ।

वेदव्यास जी ने कहा—

रमणीय गोदावरी के तट पर विचरण करते रहने पर अगस्त्य मुनि का काशी-विरह से उत्पन्न सन्ताप शान्त नहीं हो सका ॥ ६९ ।

वे ऋषि उत्तर दिशा से बहने वाली वायु का भी हाथ फैलाकर आलिंगन करते हुए काशी का मंगल पूछते रहते हैं ॥ ७० ।

लोपामुद्रेन सामुद्रा कापीह जगतीतले ।
वाराणस्याः प्रदृश्येत तत्कर्ता न यतो विधिः ।। ७१ ।
क्वचित्तिष्ठन् क्वचिज्जल्पन् क्वचिद्धावन् क्वचित्स्खलन् ।
क्वचिच्चोपविशंश्चेति बभ्रामेतस्ततो मुनिः ।। ७२ ।
ततो व्रजन् ददर्शाऽग्रे पुण्यराशिस्तपोधनः ।
चञ्चच्चन्द्रशताभासां भाग्यवानिव सुश्रियम् ।। ७३ ।

हे लोपामुद्रे वाराणस्याः सा प्रसिद्धा मुद्रा मुदं हर्षं रातीति मुद्रा, रचनापरिपाटिकापि निरुपमा। कापीति क्वचित्। यद्वा मुद्रा मुद्रिका, लिङ्गं चिह्नमिति यावत्। इह ब्रह्माण्डमध्ये जगतीतले कुत्रापि न दृश्यते। यतस्तस्याः कर्ता विधिर्ब्रह्मा नेत्यर्थः। तथा च वक्ष्यति ब्रह्मा स्वयमेव—

मया सृष्टानि विप्रेन्द्र भुवनानि चतुर्दश।
अस्याः पुर्या विनिर्माता स्वयं विश्वेश्वरः प्रभुः ॥इति॥७१।

तत इति। ततस्तदनन्तरं तत्र गोदावरीतीरप्रदेशे व्रजंस्तपोधनोऽगस्त्यो महालक्ष्मीं सुचिरं यथा स्यात्तथास्थितां ददृशे ददर्शेति तृतीयेनान्वयः। कथम्भूताम्? चञ्चच्चन्द्रशताभासां चञ्चदुच्छलद्यच्चन्द्रशतम्, तस्येवासमन्ततो भासो दीप्तिर्यस्याः, सा तथा, ताम्। कां क इव? सुश्रियं शोभनां लक्ष्मीं भाग्यवानिव। पुण्यवान् यथा पश्यति, तथेत्यर्थः।

अथवैवं योजना—ततस्तदनन्तरं तपोधनोऽगस्त्योऽग्रे प्रथमतः सुश्रियं शोभनप्रभां श्रीः गात्रतेजः समूहमित्यर्थः, ददर्श, पश्चात्तत्र तस्यां सुश्रियां दृष्टायां सत्यामाधारभूतायां वा अगस्त्यो महालक्ष्मीं ददर्शेति। शेषं पूर्ववत्। पाठान्तरे[1] स्वीयां स्वेष्टदेवतां श्रियमिति व्याख्येयम्। ॥७३।

हे लोपामुद्रे ! काशी—जैसी रचना-परिपाटी तो और कहीं भी भूतल में दृष्टिगोचर नहीं होती। फिर हो कैसे? जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा की सृष्टि में तो वह सिरजी ही नहीं गई है ॥७१।

अगस्त्य ऋषि काशी के वियोग में कहीं ठहरते, कहीं आप ही आप कुछ कहते, कहीं-कहीं दौड़ते, कहीं लड़खड़ाते और कहीं पर बैठते हुए इधर-उधर भ्रमण करते रहे ॥ ७२।

तदनन्तर भाग्यवान् को जैसे सुसमृद्धि का दर्शन हो जाय, उसी प्रकार से पुण्यराशि तपोनिधि अगस्त्य ऋषि को भ्रमण करते-करते उदित होते हुए शरच्चन्द्र के समान भासमान महालक्ष्मी आगे ही दिखलाई पड़ीं ॥ ७३।

---

१. स्वश्रियमित्येवंरूपे।

विजित्य भानुना भानुं दिवापि समुदित्वराम् ।
निर्वापयन्तीमिव तां स्वचेतस्तापसन्ततिम् ॥ ७४ ।
तत्रागस्त्यो महालक्ष्मीं ददृशे सुचिरं स्थिताम् ॥ ७५ ।
रात्रावब्जेषु सङ्कोचो दर्शेष्वब्जः क्वचिद्व्रजेत् ।
क्षीरोदे मन्दरत्रासात्तदत्राध्युषितामिव ॥ ७६ ।
यदारभ्य दधारैनां माधवो मानतः किल ।
तदारभ्य स्थितां नूनं सपत्नीर्ष्यावशादिव ॥ ७७ ।

विजित्येति । पुनः कथम्भूताम् ? भानुना दीधित्या । 'भानुः करो मरीचिः स्त्री-पुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । भानुं सूर्यं विजित्य विशेषेण जित्वा समुदित्वरां सम्यगुदयन्तीं सम्यक्प्रकाशमानामित्यर्थः । तां दैत्याख्वजनितां स्वतेजस्तापसन्ततिं स्वमनस्तापपरम्परां निर्वापयन्तीं निराकर्तुं प्रवर्तमानामिवेत्युत्प्रेक्षा । निर्वापयितुमिच्छामि दैत्यास्त्रैस्तापितां तनुमित्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । अगस्त्यपरो वा स्वशब्दस्तदा तां काशी-वियोगजां स्वचेतस्तापसन्ततिमिति व्याख्येयम् ॥७४॥

रात्राविति । तत्तस्मात् कारणात्तत्र कोलापुरेऽध्युषितां स्थितामिवेति पुनरुत्प्रेक्षा। तस्मात्कस्मात् ? क्षीरोदे पितुर्गृहे मन्दरस्य पर्वतस्याऽमृतोत्पत्त्यर्थं कृतमन्थानदण्डस्य त्रासात्तज्जनितशब्दत्रासात्तच्चूर्णनत्रासाद्वेत्यर्थः ।

ननु तथापि पद्मालयत्वात्पद्मे स्थास्यति । तत्राह । **रात्राविति** । रात्रौ रात्रिविषये पद्मेषु संकोचो मुद्रीभावो यतः । ननु तर्हि चन्द्रमसि स्थास्यति तत्राह । **दर्शेष्विति** । **दर्शेष्वमावास्यासु** अब्जः चन्द्रः क्वचिद्व्रजेद् अदृश्यतां गच्छेदित्यर्थः । 'अब्जो जैवातृकः सोमः' इत्यमरः । अतस्तादृक् स्थानान्तराभावात्तत्राध्युषितामिवेत्युत्प्रेक्षा ॥७६॥

यदारभ्येति । यदित्यव्ययम्, तथा तदित्यपि । यद् यं कालमारभ्य एनां लक्ष्मीं मानतः सम्मानतो वक्षसि दधार भार्यात्वेन स्वीकृतवान् । तत्र मानं सूचयन् दधारेत्यने-नाकाङ्क्षितं कर्तारमाह । **माधव इति** । मा लक्ष्मीः, तस्या धवो भर्तेत्यर्थः । तत्रं काल-मारभ्य नूनं निश्चितं स्थिताम् । सपत्नी सरस्वती ।

निज किरणों से सूर्य को जीतकर दिन में ही उदय होती हुई (चन्द्र-सी) अपने (अगस्त्य के) चित्त के ताप-समूह को बुझाती हुई सुचिर स्थित महालक्ष्मी को अगस्त्य ऋषि ने वहाँ देखा ॥ ७४-७५ ।

रात्रि में कमल संकुचित हो जाते हैं और अमावस्या-तिथि में चन्द्रमा भी कहीं चला जाता है । क्षीरोद समुद्र में मन्दर-मंथन का भय बना रहता है, इन्हीं कारणों से अपने इन पूर्वोक्त स्थानों को त्याग कर मानों महालक्ष्मी यहाँ पर निवास करती हैं ॥ ७६ ।

जिस समय से माधव ने पृथिवी को धारण किया, तब से मानवती होकर लक्ष्मी मानो सपत्नी (सौत = सरस्वती ?) के प्रति ईर्ष्यावश यहाँ पर निवास करने लगीं ॥ ७७।

त्रैलोक्यं कोलरूपेण त्रासयन्तं महासुरम् ।
विनिहत्य स्थितां तत्र रम्ये कोलापुरे पुरे ॥ ७८ ।
सम्प्राप्याऽथ महालक्ष्मीं मुनिवर्यः प्रणम्य च ।
तुष्टाव वाग्भिरिष्टाभिरिष्टदां हृष्टमानसः ॥ ७९ ।

अगस्तिरुवाच—

मातर्नमामि कमले कमलायताक्षि
श्रीविष्णुहृत्कमलवासिनि विश्वमातः ।
क्षीरोदजे कमलकोमलगर्भगौरि
लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये ॥ ८० ।

नारायणमहं वन्दे गरुडो यस्य वाहनम् ।
शङ्खचक्रगदाहस्ते यस्य भार्या सरस्वती ॥ इति वचनात् ।

'प्रोत्प्लुष्टाज्ञानकूटे हरिनिजदयिते देवि संसारसारे' इति सरस्वतीस्तोत्रे पाद्मवचनाच्च । धरणिर्वा । यदाऽभूद्भार्गवो रामः, तदाऽभूद्धरणी त्वियमिति वैष्णवोक्तेः । 'श्रिया शातकुम्भद्युतिस्निग्धकान्त्या धरण्या च दूर्वादलश्यामलाङ्ग्या कलत्रद्वयेनामुना तोषिताय त्रिलोकीगृहस्थाय विष्णो नमस्ते' इति भगवत्पादीयवचनाच्च । तस्या ईर्ष्यावशादिव पैशुन्यवशादिवेत्यर्थः । मानतो वक्षसि धृताया अपि सपत्न्योरीर्ष्यावशत्वं तयोर्भगवता मुखदंष्ट्राग्रयोर्धृतत्वादुन्नेयम् । इलामिति पाठे ऋजुरेवार्थः । इलां पृथ्वीं वाराहरूपेण दधार ॥७७।

त्रैलोक्यमिति । कोलरूपेण सूकरशरीरेण । विनिहत्येति । यद्यपि मङ्गलभूभृतैव सोऽसुरो घातितः । तथा चोक्तं लक्ष्मीव्रते भविष्ये इन्द्रं प्रति नारदेन—'**भल्लेन सोऽवधीत् क्रोडं वज्रेणाद्रिं यथा भवान्**' इति । स मङ्गलः (मङ्गलो नाम राजा) । तथापि कल्पभेदाभिप्रायेणैतदुक्तमित्यविरोधः । कोलापुरे कोलापुरनाम्नि मङ्गलाख्यस्य राज्ञो मङ्गलपुरमेव कोलापुरम् । एतदप्युक्तं लक्ष्मीव्रते भविष्ये—

चोलदेवी श्रियः शापात् कोलास्या यत्र साऽभवत् ।
कोलापुरमिति ख्यातं क्षितौ तन्मङ्गलं पुरम् । इति ॥७८।
पद्यैश्चित्रपदार्थौघैरष्टभिः श्रवणाऽमृतैः ।
महामुनिर्महालक्ष्मीं तुष्टाव जगदम्बिकाम् ॥

मातर्नमामीति । हे मातः नमामि त्वामित्यर्थात् । हे कमले हे कमलायताक्षि हे

सूकररूप से त्रैलोक्य के भयङ्कर महासुर का विनाश करके महालक्ष्मी इसी सुन्दर कोल्हापुर नामक नगर में अधिष्ठान करती हैं ॥ ७८ ।

तदनन्तर उसी महालक्ष्मी के निकट हृष्ट-चित्त से उपस्थित होकर मुनिवर्य्य अगस्त ऋषि अभीष्ट फल देनेवाली लोकमाता को प्रणाम कर इष्ट वचनावली से (स्तुति से लक्ष्मी को) सन्तुष्ट करने लगे ॥ ७९ ।

अगस्त्य मुनि बोले—

हे कमल-सदृश विशालनेत्रे ! श्रीविष्णु हृदयकमलवासिनि ! जगज्जननि ! मातः कमले ! मैं तुमको प्रणाम करता हूँ । हे क्षीरोदजे ! कोमल-कमल-गर्भ-समान गौरवर्णे ! प्रणतशरण्ये ! लक्ष्मि ! आप सदा प्रसन्न होवें ॥ ८० ।

त्वं श्रीरुपेन्द्रसदने मदनैकमात-
ज्योत्स्नासि चन्द्रमसि चन्द्रमनोहरास्ये ।
सूर्ये प्रभासि च जगत्त्रितये प्रभासि
लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये ॥ ८१ ।

त्वं जातवेदसि सदा दहनात्मशक्ति-
र्वेधास्त्वया जगदिदं विविधं विदध्यात् ।
विश्वम्भरोऽपि बिभृयादखिलं भवत्या
लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये ॥ ८२ ।

श्रीविष्णुहृत्कमलवासिनि श्रीनारायणहृदयपद्मे वसितुं शीलं यस्यास्तत्सम्बोधनं तथा। तदुक्तं वैष्णवे—'विष्णोर्वक्षःस्थलाश्रये' इति । हे विश्वमातः, हे क्षीरोदजे, हे कमलकोमलगर्भगौरि, हे लक्ष्मि, सततं नमतां शरण्ये आश्रययोग्ये प्रसीद प्रसन्ना भव, प्रसादं कुर्विति ॥८०।

निखिलप्रपञ्चस्य तत्पारतन्त्र्यं वदन् परदेवतात्वेन स्तौति । त्वं श्रीरिति सार्धेन । महेन्द्रसदने त्वं श्रीः सम्पत्तिः शोभा वा, तद्धेतुरित्यर्थः । लक्ष्मीर्वा । पुनश्च पद्मादुद्भूता यदादित्योऽभवद्धरिरिति वैष्णवोक्तेः । हे मदनैकमातः कामैकप्रसूः प्रद्युम्नैकहेतोः हे रुक्मिणीत्यर्थः । तदुक्तं वैष्णवे—'रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति । ज्योत्स्ना कान्तिरसि । चन्द्रमसि हे चन्द्रमनोहरास्ये सूर्ये प्रभाऽसि । चः समुच्चये । किं बहुना । जगत्त्रितये या प्रभा, सा त्वमसि । तथा च श्रुतिः—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ इति ।
हे लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्य इति ॥८१।

त्वमिति । त्वं जातवेदसि वह्नौ सदा दहनात्मशक्तिर्दाहस्वरूपा शक्तिः । वेधा ब्रह्मा त्वयाऽभिन्ननिमित्तोपादानभूतया इदं जगद् विविधं विदध्यात्, विदधाति करोतीत्यर्थः । विश्वम्भरः श्रीविष्णुरपि बिभृयात्, पालतेद् रक्षतीत्यर्थः । अखिलं जगद् भवत्या त्वया । हे लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये इति ॥८२।

हे मदनमातः ! विष्णु के सदन में आप ही श्री हैं । हे चन्द्रसुन्दरमुखि ! आप ही चन्द्रमा में ज्योत्स्ना, (चन्द्रिका) हैं, सूर्य-मण्डल में प्रभा और त्रैलोक्य में शोभा हैं। हे प्रणतपालिनि ! लक्ष्मि ! आप सर्वदा प्रसन्न होवें ॥ ८१ ।

हे देवि ! आप ही अग्नि में दाहिका शक्ति हैं, ब्रह्मा आपकी ही साधकता से इस विचित्र जगत्सृष्टि को रचते हैं और विश्वम्भर भी आपके ही साहाय्य से समस्त संसार का पालन करते हैं । हे शरणार्तिहरे लक्ष्मि ! आप प्रसन्न होवें ॥ ८२ ।

त्वत्त्यक्तमेतदमले हरते हरोऽपि
त्वं पासि हंसि विदधासि परावरासि ।
ईड्यो बभूव हरिरप्यमले त्वदाप्त्या
लक्ष्मि प्रसीद सततं नमतां शरण्ये ॥ ८३ ।

शूरः स एव स गुणी स बुधः स धन्यो
मान्यः स एव कुलशीलकलाकलापैः ।
एकः शुचिः स हि पुमान् सकलेऽपि लोके
यत्रापतेत्तव शुभे करुणाकटाक्षः ॥ ८४ ।

त्वदिति । हे अमले त्वत्त्यक्तं त्वयाऽनधिष्ठितमेतज्जगच्छ्रीरुद्रोऽपि संहरति । अतः त्वत्पारतन्त्र्यात् सर्वस्य त्वमेव पासि हंसि विदधासि करोषि चेति । ननु तर्हि स्रष्टृसृज्यादिभेदस्य सत्त्वादद्वैतं गतमेव तत्राह । **परावरासि** । यद्वा पूर्वं निमित्तकारणतामुक्त्वा इदानीमुपादानकारणतामाह । परावरासि कार्यकारणरूपा स्थूलसूक्ष्मरूपा परे अव्याकृतादयोऽवरे निकृष्टा यस्या इति वाऽसि । त्वद्रूपं त्वधीनं च सर्वमिति भावः ।

पुनः सगुणां स्तौति । हे अमले हरिरपि ईड्यः स्तुत्यस्त्वदाप्त्या त्वत्प्राप्त्या बभूव । यद्वा अज्ञानं तत्कार्यं च हरतीति हरिः, तथाविधोऽपि वाङ्मनसयोरगोचरोऽपि त्वादाप्त्या त्वदीक्षया त्वयि चिदाभासप्रदानेनेत्यर्थः । **'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** इति श्रुतेः । भक्तानामीड्यः स्तुत्यो बभूव । अयम्भावः—भगवतस्त्वदीक्षणाभावे सृष्टयादेरसम्भवाज्जीवानां पुरुषार्थचतुष्टयं न सिद्धयेत्, त्वदीक्षया पुनः सृष्ट्यादेः सम्भवाद् भगवतः स्तुत्यादिना तच्चतुष्टयं सिद्धयतीति भावः । हे लक्ष्मि प्रसीद सततां नमतां शरण्ये इति ॥८३।

शूर इति । हे शुभे यत्र पुरुषे तव करुणाकटाक्षः आपतेत्, स एव शूरः, स समर्थः, स गुणी, स बुधः, स धन्यो धनाय योग्यः कलाविद्याकुलशीलकलानां कलापैः समूहैः स एव मान्यः पूज्यः, सकलेऽपि लोके, स एको मुख्यः शुचिः, स एव हि पुमान् । तदुक्तं वैष्णवे—

स श्लाघ्यः स गुणी स धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् ।
स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥ इति । ८४ ।

हे अमले ! आपके इस जगत् को त्याग देने पर ही रुद्रदेव भी इसका संहार करते हैं, अतएव आपही सृष्टि-स्थिति-विनाश करने वाली हैं । आपही कार्य-कारण-रूपा हैं । हे लक्ष्मि ! आपही को पाकर नारायण भी पूजनीय हुए हैं, हे शरणागतवत्सले ! आप निरन्तर प्रसन्न रहें ॥ ८३ ।

हे शुभे ! जिस व्यक्ति पर आपका करुणा-कटाक्ष पड़ जावे, सकल लोक में वही शूर, वही गुणवान्, वही पण्डित, वही धन्य, वही मान्य, वही पवित्र और कुल-शील-कला-कलाप के द्वारा वही पुरुष है ॥ ८४ ।

यस्मिन् वसेः क्षणमहो पुरुषे गजेऽश्वे
स्त्रैणे तृणे सरसि देवकुले गृहेऽन्ने ।
रत्ने पतत्त्रिणि पशौ शयने धरायां
सश्रीकमेव सकले तदिहास्ति नान्यत् ॥ ८५ ।

त्वत्स्पृष्टमेव सकलं शुचितां लभेत
त्वत्त्यक्तमेव सकलं त्वशुचीह लक्ष्मि ।
त्वन्नाम यत्र च सुमङ्गलमेव तत्र
श्रीविष्णुपत्नि कमले कमलालयेऽपि ॥ ८६ ।

लक्ष्मीं श्रियञ्च कमलां कमलालयाञ्च
पद्मां रमां नलिनयुग्मकराञ्च माञ्च ।
क्षीरोदजाममृतकुम्भकरामिराञ्च
विष्णुप्रियामिति सदा जपतां क्व दुःखम् ॥८७।

यस्मिन्निति । अहो हे लक्ष्मि यस्मिंस्त्वं क्षणं क्षणमात्रं वसेः, वससि सकले इह जगति, तदेवास्ति नान्यदित्यन्वयः। तदेवास्तीति कुतस्तत्राह। सश्रीकं त्वदधिष्ठितमित्यर्थः। यद्वा अन्यदपि यत्सश्रीकं तदेवास्ति। यद्वा यस्मिन् वससि, सश्रीकं तदेवास्तीति। यस्मिन् कस्मिन्नित्याकाङ्क्षायामाह। पुरुष इत्यादि। पुरुषे यस्मिन् कस्मिंश्चिदित्यर्थः। एवं गजेऽश्वे स्त्रैणे स्त्रीसमूहे तृणे सरसि देवकुले देवगृहेऽन्ने रत्ने पतत्त्रिणि पक्षिणि पशौ शयने धरायामिति। सकले हे सर्वस्वरूपे इति वा। कमले इति वा पाठः ॥८५॥

त्वत्स्पृष्टमिति । हे लक्ष्मि इह जगति त्वत् स्पृष्टं त्वयाऽधिष्ठितमेव सकलं वस्त्वित्यर्थाच्छुचितां लभते। त्वत्त्यक्तमेव सकलं तु पुनरशुचि। हे श्रीविष्णुपत्नि हे कमले कमलालये। अपिः समुच्चये। अतीति पाठे सुमङ्गलामित्यस्योपर्यतिशब्दो नेतव्यः। यत्र च त्वन्नामातिसुमङ्गलमेव, तत्रेति ॥८६॥

लक्ष्मीमिति । इति सदा जपतां क्व दुःखम् ? न कुत्रापि दुःखमित्यर्थः। इति शब्दपरामृष्टमीप्सिततमं दर्शयति। लक्ष्मीं श्रियं कमलां कमलालयां पद्मां रमां नलिन-

---

हे सर्वस्वरूपे ! आप जहाँ पर क्षणमात्र भी रह जाती हैं, पुरुष, गज, अश्व, स्त्री-समूह, तृण, सरोवर, देवकुल, गृह, रत्न, अन्न, पक्षी, पशु, शय्या और भूमि—ये सब सश्रीक हो जाते हैं और नहीं तो दूसरे लोग श्रीमान् नहीं हो सकते ॥८५।

हे लक्ष्मि ! आप के छू देने से ही समस्त वस्तुएँ इस संसार में पवित्रता को प्राप्त होती हैं और जिसे आप छोड़ देती हैं, वे ही द्रव्य अशुद्ध हो जाते हैं। हे विष्णुपत्नि ! कमलालये ! कमले ! जिस स्थान में आपका नाम है, वहीं पर सुमंगल विराजमान है ॥ ८६ ।

लक्ष्मी, श्री, कमला, कमलालया, पद्मा, रमा, नलिन-युग्मकरा, मा, क्षीरोदजा, अमृतकुम्भकरा, इरा, (इन्दिरा) और विष्णु-प्रिया इन द्वादश नामों को जपनेवालों को दुःख कहाँ है ? ॥ ८७ ।

इति स्तुत्वा भगवतीं महालक्ष्मीं हरिप्रियाम् ।
प्रणनाम सपत्नीकः साष्टाङ्गं दण्डवन्मुनिः ॥ ८८ ।

श्रीरुवाच—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रन्ते मित्रावरुणसम्भव ।
पतिव्रते त्वमुत्तिष्ठ लोपामुद्रे शुभव्रते ॥ ८९ ।
स्तुत्याऽनया प्रसन्नाहं व्रियतां यद्धृदीप्सितम् ।
राजपुत्रि महाभागे त्वमिहोपविशामले ॥ ९० ।
त्वदङ्गलक्षणैरेभिः सुपवित्रैश्च ते व्रतैः ।
निर्वापयितुमिच्छामि दैत्यास्त्रैस्तापितां तनुम् ॥ ९१ ।
इत्युक्त्वा मुनिपत्नीं तां समालिङ्ग्य हरिप्रिया ।
अलञ्चकार च प्रीत्या बहुसौभाग्यमण्डनैः ॥ ९२ ।

युग्मकरां कमलद्वयहस्तां मां क्षीरोदजाममृतकुम्भकरामिराम् । अमृतकुम्भकरोन्दिरामिति पाठे कर्मधारयः । शिवामिति क्वचित् । **विष्णुप्रियामिति** । पञ्च च शब्दाः समुच्चयार्थाः ॥ ८७ ।

साष्टाङ्गम् । अष्टभिर्हस्तपादजानूरःशिरोदृङ्मनोवचोभिरङ्गैः सहितं यथा भवति, तथा । तदुक्तम्—

दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥ ८८ ।

राजपुत्रि वैदर्भराजकन्ये ॥९०।

त्वदङ्गलक्षणैः त्वदङ्गे वर्तन्ते यानि लक्षणानि सल्लक्षणानि पातिव्रत्यादिसंसूचकानि, तैरेभिः प्रत्यक्षसिद्धैः । दैत्यास्त्रैः सूकररूपदैत्यस्यायुधैः ॥९१।

बहूनि सौभाग्यानि येभ्यः, तानि च तानि मण्डनानि भूषणानि च, तैः ॥९२।

इस प्रकार से सपत्नीक अगस्त्य ऋषि ने ही प्रिया भगवती महालक्ष्मी की स्तुति करके साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया ॥ ८८ ।

लक्ष्मी जी ने कहा—

हे मित्रावरुणपुत्र अगस्त्य, उठो, उठो, तुम्हारा कल्याण होवे, शुभव्रते ! पतिव्रते ! लोपामुद्रे, तुम भी उठो ॥८९ ।

इस स्तुति से मैं प्रसन्न हूँ, जो हृदय का अभीष्ट हो, उसे प्रार्थना करो (वर माँगो) । हे महाभागे ! पतिव्रते ! पवित्रे, राजपुत्रि ! तुम यहाँ पर बैठ जाओ ॥ ९० ।

पातिव्रत्यादि-सूचक तुम्हारे इन अङ्ग-लक्षणों से और परम पवित्र व्रतों से असुरास्त्र से सन्तापित इस शरीर को शीतल किया चाहती हूँ ॥ ९१ ।

विष्णुप्रिया लक्ष्मी ऐसा कह, उस मुनिपत्नी का आलिङ्गन कर, प्रीतिपूर्वक अनेक सौभाग्यप्रद आभूषणों से अलंकृत करने लगीं ॥ ९२ ।

पुनराह मुने जाने तव हृत्तापकारणम् ।
सचेतनं दुनोत्येव काशीविश्लेषजोऽनलः ॥ ९३ ।
यदा स देवो विश्वेशो मन्दरं गतवान् पुरा ।
तदा काशीवियोगेन जाता तस्येदृशी दशा ॥ ९४ ।
तत्प्रवृत्तिं पुनर्ज्ञातुं ब्रह्माणं केशवं गणान् ।
गणेश्वरश्च देवांश्च प्रेषयामास शूलधृक् ॥ ९५ ।
ते च काशीगुणान् सर्वे विचार्य च पुनः पुनः ।
व्रजन्त्यद्यापि न क्वापि तादृगस्ति क्व वा पुरी ॥ ९६ ।
इति श्रुत्वाऽथ स मुनिः प्रत्युवाच श्रियं ततः ।
प्रणिपत्य महाभागो भक्तिगर्भमिदं वचः ॥ ९७ ।
यदि देयो वरो मह्यं वरयोग्योऽस्म्यहं यदि ।
तदा वाराणसीप्राप्तिः पुनरस्त्वेष मे वरः ॥ ९८ ।

दुनोति व्यथते ॥९३॥ देवान् सूर्यादीन् द्वादशादित्यभेदेन बहुवचनम् । देवीरिति पाठे मातृगणमित्यर्थः ॥९५॥

हे मुने ! तुम्हारे हृदय-सन्ताप के कारण को मैं जानती हूँ । काशी का विरहानल सचेतन (प्राणि) मात्र को व्यथित करता ही है ॥ ९३ ।

पूर्वकाल में जब देवदेव विश्वेश्वर मन्दराचल को गए थे, तो उस समय काशी के वियोग से उनकी भी ऐसी ही दशा हो गई थी ॥ ९४ ।

शूलपाणि ने पुनः काशी के वृत्तान्त जानने के लिए क्रमशः ब्रह्मा, केशव, प्रमथगण, गणेश और अन्य देवताओं को प्रेषित किया था ॥ ९५ ।

ये सब देवगण बारंबार काशी के गुणों का विचार कर आजतक वहाँ से फिर कहीं नहीं गए, (वस्तुतः) वैसी नगरी और कहाँ है ? ॥ ९६ ।

इन बातों को सुनकर महाभाग अगस्त्य ने प्रणामकर भक्तिपूर्वक महालक्ष्मी के प्रति कहा कि यदि आप मुझे वर देना चाहती हैं और यदि मैं भी वरदान के योग्य हूँ, तो मुझे पुनः वाराणसी की प्राप्ति हो, यही वर दीजिए ॥ ९७-९८ ।

ये पठिष्यन्ति च स्तोत्रं त्वद्भक्त्या मत्कृतं सदा।
तेषां कदाचित् सन्तापो माऽस्तु माऽस्तु दरिद्रता ॥ ९९ ।
माऽस्तु चेष्टवियोगश्च माऽस्तु सम्पत्तिसंक्षयः।
सर्वत्र विजयश्चास्तु विच्छेदो माऽस्तु सन्ततेः ॥ १०० ।

श्रीरुवाच—

एवमस्तु मुने सर्वं यत्त्वया परिभाषितम्।
एतत्स्तोत्रस्य पठनं मम सान्निध्यकारणम् ॥ १०१ ।
अलक्ष्मीः कालकर्णी च तद्गेहे न विशेत्क्वचित्।
गजाश्वपशुशान्त्यर्थमेतत्स्तोत्रं सदा जपेत् ॥ १०२ ।
बालग्रहाभिभूतानां बालानां शान्तिकृत्परम्।
भूर्जपत्रे लिखित्वा तु बध्नीयात्कण्ठदेशतः ॥ १०३ ।
इदं बीजरहस्यं मे रक्षणीयं प्रयत्नतः।
श्रद्धाहीने न दातव्यं न देयं चाशुचौ क्वचित् ॥ १०४ ।

सन्ततेर्वंशस्य ॥१००। कालकर्णी राक्षसीविशेषः काकविष्ठा वा ॥१०२। भूर्जपत्रे चर्मपत्रे ॥१०३। इदमिति। बीजरहस्यं बीजं श्रीबीजं ततोऽपि रहस्यं गोप्यम्, अतिमहत्तरमित्यर्थः ॥१०४।

जो कोई मत्कृत आपके इस स्तोत्र को भक्तिपूर्वक पढ़ेगा, उन लोगों को कभी संताप, दरिद्रता, प्रिय-वियोग और संपत्तिक्षय न होगा। सर्वत्र उन लोगों को विजय-लाभ होगा और कभी वंश-विच्छेद न होगा ॥ ९९-१०० ।

लक्ष्मी जी बोलीं—

हे मुने ! जो कुछ तुमने कहा, वह सब होगा। इस स्तोत्र का पाठ करने से मैं सन्निहित होऊँगी ॥ १०१ ।

जिस घर में यह स्तोत्र पढ़ा जाएगा, वहाँ दरिद्रता और कालकर्णी कभी प्रवेश न करेगी। हाथी, घोड़ा और पशु आदि के शान्त्यर्थ सर्वदा इस स्तोत्र को पढ़ना चाहिए ॥ १०२ ।

यह स्तोत्र भोजपत्र पर लिखकर कण्ठदेश में पहिना देने से बालग्रहों से ग्रस्त बालकों के लिए परम शान्तिकारक होता है ॥ १०३ ।

यह मेरा बीज-रहस्य यत्नपूर्वक रक्षणीय है। श्रद्धाहीन जन को यह स्तोत्र कभी न दिया जाय और न अशुचि व्यक्तियों को दिया जाय ॥ १०४ ।

अन्यच्च शृणु विप्रेन्द्र भविष्ये द्वापरे भवान् ।
एकोनत्रिंशके ब्रह्मन् सत्यं व्यासो भविष्यति ॥ १०५ ।
तदा वाराणसीं प्राप्य सिद्धिं प्राप्स्यस्यभीप्सिताम् ।
व्यस्य वेदान् पुराणानि धर्मान्समुपदिश्य च ॥ १०६ ।
हितं च ते वदाम्येकं साम्प्रतं तत्समाचर ।
पश्य किञ्चिदितो गत्वा स्कन्दमग्रेस्थितं प्रभुम् ॥ १०७ ।
वाराणस्या रहस्यं च यथावच्छिवभाषितम् ।
तव तुष्टिकरं ब्रह्मन् कथयिष्यति षण्मुखः ॥ १०८ ।
इति लब्ध्वा वरं सोऽथ महालक्ष्मीं प्रणम्य च ।
ययावगस्तिर्यत्रास्ति कुमारः शिखिवाहनः ॥ १०९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डेऽगस्त्यप्रस्थानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ।

हे विप्रेन्द्र ! और सुनो, भावी उनतीसवें द्वापर युग में तुम निश्चय ही व्यास होगे ॥ १०५ ।

तब वेदों का विभाग और पुराण-धर्मशास्त्रों का उपदेश करके तथा वाराणसी में रहते हुए अपनी अभीप्सित (इच्छित) सिद्धि का लाभ करोगे ॥ १०६ ।

सम्प्रति तुम्हारे हित की एक बात कहती हूँ, उसे सुनो, करो। यहाँ से कुछ (थोड़ा) आगे चलकर कार्तिकेय भगवान् को देखोगे ॥ १०७ ।

हे ब्रह्मन् ! वे षण्मुख प्रभु यथावत् शिवभाषित वाराणसी का रहस्य कहेंगे, जिससे तुम्हारा सन्तोष हो जायगा ॥ १०८ ।

अगस्त्य ऋषि ने इस प्रकार वरदान पाकर महालक्ष्मी को प्रणाम करके जहाँ पर मयूरवाहन कुमार निवास करते हैं, वहाँ की यात्रा की ॥ १०९ ।

लखि अगस्त्य को आवते, विन्ध्याचल तजि गर्व ।
करि विनती चरनन पर्यो, भयो दीर्घ ते खर्व ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां अगस्त्यप्रस्थानवर्णनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

पाराशर्य उवाच—

श्रृणु सूत महाभाग कथां श्रुतिसहोदराम्।
यां वै हृदि निधायेह पुरुषः पुरुषार्थभाक् ॥ १ ।

ततः श्रीदर्शनानन्दसुधाधाराधुनीं मुनिः।
अवगाह्य सपत्नीकः परां मुदमवाप सः ॥ २ ।

वह्निकुण्डसमुद्भूत सूत निर्मलमानस।
श्रृणुष्वैकं पुराविद्भिर्भाषितं यत्सुभाषितम् ॥ ३ ।

षष्ठे तीर्थप्रशंसाञ्च भार्यया नोदितो मुनिः।
कथयामास कात्स्न्येन मानसादिविभागतः ॥

श्रोतारं प्रोत्साहयति । श्रृण्विति । श्रुतिसहोदरां वेदतुल्यां श्रुतिसहमुदरं यस्याः, ...तथा तां श्रुतिगर्भामित्यर्थः । श्रुतिमनोहरामिति वा पाठः । वै निश्चये ॥ १ ।

श्रीदर्शनानन्द एव सुधाधाराधुनी अमृतसम्पातनदी, ताम् ॥ २ ।

वह्निकुण्डेति । द्रौपदीधृष्टद्युम्नयोरग्निकुण्डसमुत्पन्नयोर्द्रुपदभार्यायां द्रुपदाज्जात-त्ववदग्निकुण्डसमुत्पन्नस्यापि रोमहर्षणस्य ब्राह्मण्यां क्षत्रियाज्जातत्वमविरुद्धम् । यद्वा वह्निकुण्डसमुद्भूतवैन्यस्य यज्ञाग्निकुण्डात्समुत्पन्नः।

त्वं हि स्वायम्भुवे यज्ञे सुत्याहे वितते सति।
सम्भूतः संहितां वक्तुं स्वांशेन पुरुषोत्तमः।
तस्य ते सर्वरोमाणि वचसा हृषितानि च।
द्वैपायनस्य तु भवांस्ततोऽसौ रोमहर्षणः ॥

(तीर्थप्रकरण)

वेदव्यास जी बोले—

हे महाभाग सूत ! श्रवणमनोहारिणी कथा सुनो, जिसे मन में रखकर मनुष्य संसार में समस्त पुरुषार्थ का भागी होता है ॥ १ ।

सहधर्मिणी सहित अगस्त्य ऋषि महालक्ष्मी के दर्शनानन्दरूप अमृतधारावाहिनी नदी में स्नान करके परम हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २ ।

हे अग्निकुण्डसम्भूत ! निर्मलहृदय ! सूत ! पुराणतत्त्व के वेत्ताओं की कही हुई एक कथा सुनो ॥ ३ ।

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे ॥ ४।

तीर्थस्नानैर्न सा शुद्धिर्बहुदानैर्न तत्फलम्।
तपोभिरुग्रैस्तन्नाप्यमुपकृत्या यदाप्यते ॥ ५।

परोपकृत्या यो धर्मो धर्मो दानादिसम्भवः।
एकत्र तुलितौ धात्रा तत्र पूर्वोऽभवद्गुरुः ॥ ६।

परिनिर्मथ्य वाग्जालं निर्णीतमिदमेव हि।
नोपकारात्परो धर्मो नापकारादघं परम् ॥ ७।

उपकर्तुरगस्त्यस्य जातमेतन्निदर्शनम्।
क्व तादृक्काशिजं दुःखं क्व तादृक् श्रीमुखेक्षणम् ॥ ८ ॥

इति कूर्मोक्तेः। स्वायम्भुवे स्वयम्भुवा ब्रह्मणा प्रवर्तिते। **स्वांशेन कलया।** वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः। सुत्यायामभवत्सूत इति वायूक्तेश्च। ब्रह्मण्यां क्षत्रियाज्जातः सूत इत्यभिधीयते। तत्साधर्म्यादसावपि तथा। तथा हि—तत्र हि पृथोर्यज्ञे बार्हस्पत्यं हविरैन्द्रेण हविषा सम्पृक्तमभिभूतं च ऐन्द्रश्चरुर्मारुतेन हविषा ततः सूत-मागधौ जाताविति पौराणिकी कथा। अत एव तस्य पुराणादिप्रवचनमविरुद्धमिति। कल्पभेदकल्पना तु न चारुतरा। प्रतिलोमजत्वात् प्रतिसम्पराभावात् प्रतिलोमजं शरीरं विहाय शरीरान्तरं यज्ञाग्निकुण्डे लोमहर्षणो वसिष्ठागस्त्याविव साधयामासेति महाभारत-टीकायामिति केचित् ॥ ३-८।

जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार जागरूक रहता है, उनकी आपदाएं विनष्ट हो जाती हैं और पद-पद पर सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ४।

उपकार से जो पवित्रता और फल प्राप्त होता है, वह शुद्धि तीर्थस्नान से नहीं होती और न वह फल ही बड़े दान अथवा उग्र तपस्या के द्वारा पाया जाता है ॥ ५।

परोपकाररूप धर्म और दानादि से उत्पन्न धर्म को विधाता ने जब एकत्र करके तौला, तब पहला ही (उपकार) धर्म भारी हुआ ॥ ६।

समस्त (शास्त्रीय) वाग्जाल का मंथन करके केवल यही निश्चय किया गया है कि परोपकार से बड़ा कोई धर्म नहीं होता और परापकार से बढ़कर कोई पाप नहीं होता ॥ ७।

(देखो) उपकारपरायण अगस्त्य मुनि ही इसके उदाहरण हैं। कहाँ तो वह काशी के वियोग का दुःख और कहाँ (साक्षात्) लक्ष्मी के मुख का दर्शन ॥ ८।

करिकर्णाग्रचपलं जीवितं विविधं वसु ।
तस्मात्परोपकरणं कार्यमेकं विपश्चिता ॥ ९ ।
यल्लक्ष्मीनाममात्राप्त्या नरो नो माति कुत्रचित् ।
साक्षात्समीक्ष्य तां लक्ष्मीं कृतकृत्योऽभवन्मुनिः ॥ १० ।
गच्छन् यदृच्छया सोऽथ दूराच्छ्रीशैलमैक्षत ।
यत्र साक्षान्निवसति देवः श्रीत्रिपुरान्तकः ॥ ११ ।
उवाच वचनं पत्नीं तदा प्रीतमना मुनिः ।
इह स्थितैव पश्य त्वं कान्ते कान्ततरं परम् ॥ १२ ।
श्रीशैलशिखरं श्रीमदिदं तद्यद्विलोकनात् ।
पुनर्भवो मनुष्याणां भवेऽत्र न भवेत् क्वचित् ॥ १३ ।
गिरिश्चतुरशीत्यायं योजनानां हि विस्तृतः ।
सर्वलिङ्गमयो यस्मादतः कुर्यात्प्रदक्षिणम् ॥ १४ ।

करिकर्णाग्रचपलं हस्तिकर्णाग्रचपलम् ॥ ९ ।

यल्लक्ष्मीति । या चासौ लक्ष्मीश्चेति यल्लक्ष्मीस्तस्या नाममात्राप्त्या नाममात्रोच्चारणेन नरो यः कश्चिदपि नो माति, न परिमिनोति महत्तरो भवतीत्यर्थः । कृतकृत्यो भवेन्नर इति क्वचित्पाठः ॥ १० ।

ऐक्षत दृष्टवान् ॥ ११ ।

जीवन और नाना प्रकार का धन हस्तिकर्ण के अग्रभाग के सदृश चंचल है। अतः बुद्धिमान् को केवल परोपकार ही करना चाहिए ॥ ९ ।

जिस लक्ष्मी के केवल नाम की ही प्राप्ति से सामान्य मनुष्य भी जगत् में अतुलनीय हो जाता है, अगस्त्य ऋषि उसी महालक्ष्मी का प्रत्यक्ष दर्शन करके कृतकृत्य हो गये (यह कहना बाहुल्यमात्र है) ॥ १० ।

इसके अनन्तर स्वेच्छा से विचरण करते हुए मुनिवर ने दूर से ही श्रीशैल को देखा, जहाँ पर साक्षात् श्रीत्रिपुरान्तक (तारकान्तक) देव निवास करते हैं ॥ ११ ।

प्रसन्नचित्त मुनि ने अपनी पत्नी से कहा—

हे कान्ते ! तुम यहीं स्थित होकर अत्यन्त मनोहर शोभायुक्त श्रीशैल के शिखर को देखो, जिसके दर्शन करने से इस संसार में मनुष्यों को पुनर्जन्मधारण नहीं करना पड़ता ॥ १२-१३ ।

यह पर्वत चौरासी योजन विस्तृत है, यह समस्त पर्वत शिवलिंगमय है, इसलिए इसकी प्रदक्षिणा करनी चाहिए ॥ १४ ।

लोपामुद्रोवाच—

किञ्चिद्विज्ञप्तुमिच्छामि यद्याज्ञा स्वामिनो भवेत् ।
ब्रूते हि याऽननुज्ञाता पत्या सा पतिता भवेत् ॥ १५ ।

अगस्त्य उवाच—

किं वक्तुकामा देवि त्वं ब्रूहि तत्त्वमशङ्किता ।
न त्वादृशीनां वाक्यं हि पत्युः खेदाय जायते ॥ १६ ।
ततः प्रपच्छ सा देवी प्रणम्य मुनिमानता ।
सर्वेषां च हितार्थाय स्वसन्देहापनुत्तये ॥ १७ ।

लोपामुद्रोवाच—

श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते ।
इदमेव हि सत्यं चेत् किमर्थं काशिरिष्यते ॥ १८ ।

अगस्तिरुवाच—

आकर्णय वरारोहे सत्यं पृष्टं त्वयाऽमले ।
निर्णीतमसकृच्चैतन्मुनिभिस्तत्त्वचिन्तकैः ॥ १९ ।

पत्या अननुज्ञाता भर्त्राऽदत्ताऽभ्यनुज्ञेत्यर्थः ॥ १५ ।

इष्यते वाञ्छयते स्वामिनेति शेषः ॥ १८ ।

वरारोहे वरौ श्रेष्ठौ आरोहौ जघने यस्याः, सा, तथा तस्याः सम्बोधनं हे श्रेष्ठजघने इत्यर्थः ॥ १९ ।

लोपामुद्रा बोलीं—

हे नाथ ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं कुछ पूछना चाहती हूँ; क्योंकि जो स्त्री पति-आज्ञा के बिना बोलती है, वह पतिता है ॥ १५ ।

अगस्त्य ऋषि ने कहा—

हे देवि ! क्या कहना चाहती हो ? तुम निःशंक होकर कहो, तुम्हारी जैसी स्त्रियों की बात से पति को (कभी) खेद नहीं होता ॥ १६ ।

तदनन्तर लोपामुद्रा देवी ने मुनिवर को प्रणाम करके सब लोगों के हितार्थ और अपने सन्देह को दूर करने के लिये अति नम्रतापूर्वक प्रश्न किया ॥ १७ ।

लोपामुद्रा ने कहा—

श्रीशैल शिखर के दर्शन से पुनर्जन्म नहीं होता—यदि यह सत्य है, तो (फिर) काशीवास की इच्छा क्यों की जाती है ? ॥ १८ ।

अगस्त्य ऋषि बोले—

हे सुन्दरि ! तुमने बहुत ही ठीक पूछा, हे निर्मले, इस विषय में तत्त्वचिंतक मुनियों ने बारम्बार जो निर्णय किया है, उसे सुनो। मुक्ति के अनेक स्थान हैं, उस

मुक्तिस्थानान्यनेकानि कुतस्तत्रापि निर्णयः।
तानि ते कथयाम्यत्र दत्तचित्ता भव क्षणम् ॥ २० ।
प्रथमं तीर्थराजन्तु प्रयागाख्यं सुविश्रुतम् ।
कामिकं सर्वतीर्थानां धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥ २१ ।
नैमिषञ्च कुरुक्षेत्रं गङ्गाद्वारमवन्तिका ।
अयोध्या मथुरा चैव द्वारकाऽप्यमरावती ॥ २२ ।
सरस्वती सिन्धुसङ्गो गङ्गासागरसङ्गमः ।
कान्ती च त्र्यम्बकञ्चापि सप्तगोदावरीतटम् ॥ २३ ।
कालञ्जरं प्रभासश्च तथा बदरिकाश्रमः ।
महालयस्तथोङ्कारक्षेत्रं वै पौरुषोत्तमम् ॥ २४ ।

सर्वतीर्थानां कामिकं कामाय हितम् । संवत्सरार्जितपापनाशकामनाविषयत्वात् ॥२१।

गङ्गाद्वारं मायापुरी । **अमरावती** गङ्गा, पुरीविशेषो वा । अमरावती वाऽमरावतीति द्वारकाया वा विशेषणम् ॥ २२ ।

सिन्धुर्नदी तस्या सङ्गः सङ्गमः । सागरेणेति शेषः । कान्तीपुरी । काञ्चीति क्वचित् पाठः । त्र्यम्बकं ब्रह्मगिरिर्महाराष्ट्रेषु प्रसिद्धो यतो गौतमी निःसृता । सप्तगोदावरीतटम् आन्ध्रप्रदेशे प्रसिद्धम् ॥ २३ ।

महालयो महास्थानं गौडे प्रसिद्धम् । ॐकारोऽमरकण्टकम् । महालय इति ॐकारस्य विशेषणम् । वै प्रसिद्धम् ॥ २४ ।

गोकर्णेति गोकर्णो नाम तीर्थविशेषो द्रविडेषु प्रसिद्धः । भृगुकच्छभृगुतुङ्गौ गुर्जरदेशे प्रसिद्धौ । यस्मिस्तीर्थे धारया जलं स्रवति, तद्धारातीर्थं द्राविडे कुमारधारेति प्रसिद्धम् । यद्वा धारा नाम तीर्थविशेषः । तदुक्तं वनपर्वणि—

सम्बन्ध में भी उन लोगों ने जो स्थिर कर रखा है, उन सबको मैं कहता हूँ, क्षणमात्र दत्तचित्त हो ॥ १९-२० ॥

प्रथम तो परम प्रसिद्ध तीर्थराज प्रयाग है, जो समस्त तीर्थों में कामनापूरक और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के दाता हैं ॥ २१ ।

नैमिषारण्य, कुरुक्षेत्र, गंगा-हरद्वार, अवन्ती, अयोध्या, मथुरा, द्वारका, गंगा, सरस्वती, सिन्धु-संगमस्थल, गंगासागर-संगम, काञ्ची, ब्रह्मगिरि, सप्तगोदावरी, कालंजर, प्रभास, बदरिकाश्रम, महालय, अमरकण्टक, जगन्नाथपुरी, गोकर्ण, भृगुकच्छ, भृगुतुंग,

गोकर्णो भृगुकच्छश्च भृगुतुङ्गश्च पुष्करम् ।
श्रीपर्वतादितीर्थानि धारातीर्थं तथैव च ॥ २५ ।
मानसान्यपि तीर्थानि सत्यादीनि च वै प्रिये ।
एतानि मुक्तिदान्येव नात्र कार्या विचारणा ॥ २६ ।
गया तीर्थञ्च यत्प्रोक्तं तत्पितॄणां हि मुक्तिदम् ।
पितामहानामृणतो मुक्तास्तत्तनया अपि ॥ २७ ।

सधर्मिण्युवाच—

मानसान्यपि तीर्थानि यान्युक्तानि महामते ।
कानि कानि च तानीह ह्येतदाख्यातुमर्हसि ॥ २८ ।

धारा नाम महाप्राज्ञ सर्वपापप्रणाशिनी ।
तत्र स्नात्वा नरव्याघ्र न शोचित नरः क्वचित् ॥ इति ।
धारातीर्थं युद्धमिति केचित् ॥ २५ ।

मानसानि मनःसम्भवानि मानसानि, ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणानि ज्ञानानि । बहुवचनन्तु सगुणनिर्गुणभेदाभिप्रायेण । कथम्भूतानि तीर्थानि ? अविद्यातत्कार्ययोर्नाशकानीति यावत् । ऋषिजुष्टजलानीति वा । निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरावित्यमरः । **ज्ञानानामपि निर्मलत्वसाधर्म्याज्जलत्वम्** । 'सलिल एको द्रष्टेति च' श्रुतिः । सत्यादिशब्देनार्जवदयादीनि गृह्यन्ते । हि निश्चितमवधारणार्थो वा ॥ २६ ।

पितामहानामित्युपलक्षणम्, पित्रादीनामित्यर्थः । मुक्तास्तत्र श्राद्धकर्तार इति शेषः । **तत्तनया** इत्यत्र तच्छब्देन श्राद्धकर्तारो गृह्यन्ते । येषां पितॄणां मुक्तिदम् तेषां तनया अपि मुक्ता इति वाऽन्वयः ॥ २७ ।

सधर्मिण्युवाचेति । सधर्मिणी पत्नी । सस्त्रीको धर्ममाचरेदिति वचनात्तस्या

पुष्कर, श्रीपर्वत, धारातीर्थ इत्यादि बाह्यतीर्थ और सत्यादिक मानस तीर्थ हैं। हे प्रिये ! ये सब तीर्थ मोक्षप्रद हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥ २२-२६ ।

(शास्त्रों) में जो गया नामक तीर्थ बताया गया है, वह पितरों को मुक्ति देने वाला है । (वहाँ पर श्राद्ध करके) पितृ-पितामह के ऋण से उनके पुत्र-पौत्र भी मुक्त होते हैं ॥ २७ ।

ऋषि पत्नी ने कहा—

महामते ! जो-जो मानस-तीर्थ कहे गये हैं, वे सब कौन-कौन हैं ? उन्हें भी बताने की कृपा कीजिए ॥ २८ ।

अगस्त्य उवाच—

श्रृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममाऽनघे।
येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम् ॥ २९॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थमार्जवमेव च ॥ ३०॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थञ्च प्रियवादिता ॥ ३१॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ॥ ३२॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः ॥ ३३॥

अपि तज्ज्ञानापेक्षत्वात् सर्वमिणीत्युक्तम्। चकारात् सत्यादीनि च कानि कानि-इति बोद्धव्यम् ॥ २८-२९।

मानसानि तीर्थानि श्रृण्विति प्रतिज्ञाय सूचीकटाहन्यायेन तानि विहाय सत्यादीनि तीर्थान्याह। **सत्यमित्यारभ्य** ज्ञानपूत इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। तत्र सत्यं यथार्थभाषणम्। आक्रुष्टे ताडिते वा सहनं **क्षमा**। **इन्द्रियनिग्रहो** निषिद्धविषयेभ्योऽत्यन्त-मन्तःकरणनिवृत्तिः। सर्वभूतदया प्राणिमात्रेष्वनुकम्पा। **आर्जवमवक्रत्वम्** ॥ ३०।

दानमर्थिषु **मुक्तहस्तता**। **दमो** निषिद्धविषयेभ्यो बाह्येन्द्रियाणां सर्वथा निवृत्तिः। **सन्तोषो** यदृच्छया लाभेनाऽलंबुद्धिः। ब्रह्मचर्यं यथा यस्य विहितमष्टाङ्गमैथुनपरित्यागादि। **प्रियवादिता** मधुरभाषिता ॥ ३१।

ज्ञानं धर्माऽधर्मविषयं आत्माऽनात्मविवेको वा। धृतिर्देहेन्द्रियाणामवसादे सत्यु-त्तम्भनम्। **तपः** कृच्छ्रचान्द्रायणादि। **विशुद्धिर्विषयातिसङ्गराहित्यम्** ॥ ३२।

परत्वमेवान्वयव्यतिरेकमुखेन दर्शयति। न जलाप्लुतेति त्रयेण। **दमस्नातः**, दम्यन्ते इन्द्रियाण्यनेनेति दमं मनः, तत्र स्नातः प्रतिषिद्धविषयेभ्योऽत्यन्तमनोनिग्रहरूपविशुद्धिमा-

---

अगस्त्य मुनि बोले –

हे अनघे! समस्त मानस-तीर्थों को कहता हूँ, श्रवण करो—जिनमें स्नान करके मनुष्य परम गति को प्राप्त होता है ॥ २९।

सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, समस्त भूतों पर दया, आर्जव, ऋजुता, दान, दम (निषिद्ध विषयों से बाह्येन्द्रियों की सर्वथा निवृत्ति), संतोष, ब्रह्मचर्य्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धैर्य और तपस्या प्रभृति प्रत्येक तीर्थ हैं और मन की परम शुद्धि ही तीर्थों का भी तीर्थ है ॥ ३०-३२।

केवल जल में डुबकी लगाने का नाम स्नान नहीं है। जो बाह्येन्द्रियों का दमनरूप स्नान करता है, वही स्नान है, जिसका हृदय निर्मल है, वही पवित्र है ॥ ३३।

यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः ।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥ ३४ ।
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः ।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः ॥ ३५ ।
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः ।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनो मलाः ॥ ३६ ।
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते ।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम् ॥ ३७ ।
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुद्धयति ।
शतशोऽथ जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाऽशुचिः ॥ ३८ ।

नित्यर्थः । अत एव शुचिः रागादिरहितः । अत एव शुद्धमनो मलो विगतविषयातिसंरागः । श्रद्धा शुद्धमनोमल इति क्वचित्पाठः । शुद्धाऽशुद्धमनोमल इत्यन्यत्र ॥ ३३-३५ ।

शरीरमलत्यागान्निर्मलत्वाऽभावे दृष्टान्तमाह । जायन्त इति । जलमोको येषां ते तथा ॥ ३६ ।

अज्ञातमलनैर्मल्ययोस्त्यागादेयतयोरयोगात्तयोः स्वरूपमाह । विषयेष्विति ॥ ३७।

वक्षोऽन्तर्गतमन्तःकरणं विषयाऽभिरागखचितं तीर्थाऽवगाहनान्न शुद्धयतीति सदृष्टान्तमाह । चित्तमिति । बहिर्जलैर्धौतं सुराधिकरणं भाण्डम्, अत एवापवित्रम् ॥३८।

जो व्यक्ति लोभी, निन्दक, झूठा, दाम्भिक और विषयान्ध है, वह सब तीर्थों में नहाने पर भी पापी और मलिन ही बना रहता है ॥ ३४ ।

मनुष्य केवल शरीर की मैल धोकर शुद्ध नहीं होता । जब मन के मल को त्याग देता है, तभी यथार्थ निर्मल होता है ॥ ३५ ।

जोंक जल में ही उत्पन्न होती और जल में ही मर जाती है; परन्तु वे तो स्वर्ग नहीं जातीं; क्योंकि उनकी चित्तशुद्धि नहीं होती ॥ ३६ ।

विषयों में अत्यन्त अनुराग का ही नाम मानस मल है, और विषय का विराग ही मन की निर्मलता कही गई है ॥ ३७ ।

चित्त अन्तर्गत वस्तु है । उसके दोषयुक्त रहने या दुष्ट होने पर तीर्थस्नान से उसकी शुद्धि नहीं होती । सैकडों बार जल से धोए गये मद्यपात्र की नाईं (सर्वदा) अपवित्र ही बना रहता है ॥ ३८ ।

दानमिज्यातपःशौचं तीर्थसेवा श्रुतं तथा।
सर्वाण्येतानि तीर्थानि यदि भावो न निर्मलः ॥ ३९ ॥

निगृहीतेन्द्रियग्रामो [1]यत्रैव च वसेन्नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च ॥ ४० ॥

ज्ञानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥ ४१ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धं मनो विशुद्धेः परतीर्थत्वमुपसंहरति। दानमिति द्वाभ्याम्। इज्या यागः। शौचं मृज्जलाभ्याम्। तीर्थसेवा तीर्थाटनम्। श्रुतं श्रवणम्। सर्वाण्येतानीत्यादीनि सर्वाणीत्यर्थः। अतीर्थानि पवित्रत्वासाधकानि। भावोऽन्तःकरणं निर्मलः शुद्धो यदि चेन्नेत्यर्थः। [1]पाठान्तरे भावो यदि निर्मल एव, तदेव तानि तीर्थानीति ॥ ३९ ॥

बहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्तीति न्यायात् पुष्कराणीति बहुवचनेन गङ्गादीनि गृह्यन्ते ॥ ४० ॥

एवं विस्तरेण सत्यादीनि तीर्थान्युक्त्वा मानसतीर्थान्याह। ज्ञानपूत इति। अस्याऽयमर्थः—यः स्नाति अवगाहते, स परमां गतिं परमां निर्वृत्तिं याति प्राप्नोतीत्यन्वयः। क्व मानसे मनसि भवं मानसं ब्रह्मात्मज्ञानलक्षणं तस्मिन्। कथम्भूते तीर्थे? ऋषिभिर्जुष्टे जले इव सेविते। यद्वा तीर्थमिव तीर्थमविद्या तत्कार्ययोर्विनाशकत्वात् तस्मिन्। पुनः कथम्भूते ? ज्ञानपूते ज्ञानं च तत्पूतं चेति ज्ञानपूतं स्वप्रकाशासंगमित्यर्थः। यद्वा ज्ञानेन पूतं ज्ञानपूतं तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थबुद्धिवृत्त्या निवृत्ताऽशेषविरोध्यंशमित्यर्थः। तस्मिन्। ध्यानपूत इति क्वचित्पाठः। तत्र विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीय प्रत्ययो ध्यानम्, तेन पूतमिति व्याख्येयम्। पुनः कथम्भूते ? ज्ञानजले ज्ञानं च तज्जलं स्वच्छं च ज्ञानजलम्। सलिल एको द्रष्टेति श्रुतेः। ज्ञानमेव जलं यस्मिन्-इति वा। पुनः कथम्भूते ? रागद्वेषमलापहे रागद्वेषमलानपहन्तीति, तथा तस्मिन्। तथा च भागवते वेदव्यासस्य स्मरणम्—

ज्ञानह्रदे ध्यानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम् ॥
आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यह्रदा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राऽभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ इति।

दान, यज्ञ, तपस्या, शौच, तीर्थसेवा और (धर्मकथा) श्रवण, ये सभी मनोभाव शुद्ध न होने से क्या तीर्थ हो सकते हैं ? ॥ ३९ ॥

जितेन्द्रिय पुरुष चाहे जहाँ रहे, उसके लिए वहीं पर कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्कर इत्यादि तीर्थ वर्तमान हैं ॥ ४० ॥

ध्यान से पवित्र, रागद्वेषरूप मल को दूर करनेवाले, ज्ञान-जल से पूर्ण मानस-तीर्थों में जो स्नान करता है, वही परम गति को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

१. तदेव तानि तीर्थानि यदि भावोऽस्ति निर्मल इत्येवंरूपे।

एतत्ते कथितं देवि मानसं तीर्थलक्षणम् ।
भौमानामपि तीर्थानां पुण्यत्वे कारणं शृणु ॥ ४२ ।
यथा शरीरस्योद्देशाः केचिन्मेध्यतमाः स्मृताः ।
तथा पृथिव्यामुद्देशाः केचित्पुण्यतमाः स्मृताः ॥ ४३ ।
प्रभावाददद्भुताद्भूमेः सलिलस्य च तेजसा ।
परिग्रहान्मुनीनाञ्च तीर्थानां पुण्यता स्मृता ॥ ४४ ।
तस्माद्भौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः ।
उभयेष्वपि यः स्नाति स याति परमां गतिम् ॥ ४५ ।
अनुपोष्य त्रिरात्राणि तीर्थान्यनभिगम्य च ।
अदत्वा काञ्चनं गाश्च दरिद्रो नाम जायते ॥ ४६ ।

भगवच्छङ्कराचार्यस्य च—

यस्मिन् वेदाश्च देवाश्च पवित्रं कृत्स्नमेकताम् ।
व्रजेत्तन्मानसं तीर्थं यस्मिन् स्नात्वाऽमृतो भवेत् ॥ इति ।

एकवचनमेकजीवाऽभिप्रायं जात्यभिप्रायं वा ॥ ४१ ।

यथेति । उद्देशा उत्कृष्टा देशा अवयवाः ॥ ४३ ।

मानसेषु चेति चकारात् सत्यादिषु च । उभयेष्वपीत्यपिशब्दात्तेष्वपि ॥ ४५ ।

यस्येति । यस्य हस्तादि सुसंयतं स्यात्, स तीर्थफलमश्नुत इत्यन्वयः । तत्र हस्तसंयमः प्रतिग्रहपरपीडनादिनिवृत्तिः । पादसंयमो दृष्टिपूते प्रदेशे पादप्रक्षेपादिः ।

हे देवि ! तुमसे मैंने इन सब मानस-तीर्थों का लक्षण कहा । अब भौम-तीर्थों की पवित्रता के कारण सुनो ॥ ४२ ।

जैसे शरीर के अंश परम पवित्र होते हैं, उसी प्रकार पृथिवी के भी कोई-कोई प्रदेश अति पुण्यमय हैं ॥ ४३ ।

भूमि के विचित्र प्रभाव, जल के तेज और मुनिगण के निवासादि परिग्रह में ही सब तीर्थों की पुण्यता के कारण हैं ॥ ४४ ।

अतएव जो कोई भौम-तीर्थ और मानस-तीर्थ—इन दोनों में स्नान करता है, वह परमोत्तम गति को प्राप्त होता है ॥ ४५ ।

जो मनुष्य तीन रात्रि उपवास व्रत, तीर्थयात्रा, सुवर्णदान और गोदान नहीं करता, वह जन्मान्तर में दरिद्र होता है ॥ ४६ ।

अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैरिष्ट्वा विपुलदक्षिणैः ।
न तत्फलमवाप्नोति तीर्थाभिगमनेन यत् ।। ४७ ।
यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ।। ४८ ।
प्रतिग्रहादुपावृत्तः सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते ।। ४९ ।
अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
विमुक्तः सर्वसङ्गैर्यः स तीर्थफलमश्नुते ।। ५० ।
अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः ।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते ।। ५१ ।
तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रद्दधानः समाहितः ।
कृतपापो विशुद्ध्येत किं पुनः शुद्धकर्मकृत् ।। ५२ ।

मनः संयमोऽनिष्टचिन्तनाऽभावः । विद्यामन्त्रोपासनादिलक्षणा । तपः स्वधर्मादच्युतिः । कीर्तिः परैः साधुतया वर्णनम् । एतत्त्रितयञ्च यस्य स्यादिति ।। ४८-४९ ।

दम्भो धर्मध्वजित्वम्, न विद्यते दम्भो यस्य स तथा । स्वार्थे कः । अदाम्भिक इति क्वचित्पाठः ।। ५०-५१ ।

तीर्थान्यनुसरन् **धीर इति** । धीरः धर्माधर्षो विद्वान् ।। ५२ ।

तीर्थसेवन से जो फल प्राप्त होता है, प्रचुर दक्षिणा देकर, अग्निष्टोमादिक यज्ञ करने पर भी वह फल नहीं मिलता ।। ४७ ।

जिसके हाथ, पाँव, मन सुसंगत, (स्थिर) रहते हैं, जो विद्या, तपस्या और कीर्ति से युक्त होता है, वही तीर्थ-फल का भोग करता है ।। ४८ ।

जो दान लेने से निवृत्त रहता है, जो येन-केन प्रकारेण संतुष्ट हो जाता है, अहंकार नहीं करता, वही मनुष्य तीर्थ-फलभागी होता है ।। ४९ ।

दम्भ से हीन, कर्मप्रवृत्ति से रहित, लघु-भोजन से संतुष्ट, जीतेन्द्रिय और सम्पूर्ण संगतियों से विमुक्त हो जाता है, वह तीर्थफल का भोक्ता है ।। ५० ।

जो क्रोधी नहीं है, जिसकी बुद्धि शुद्ध है, जो सत्यवादी, दृढ़व्रत और अपने ही समान सब भूतों पर समदर्शी है, वही (यथार्थ) तीर्थफल को भोगता है ।। ५१ ।

जो धीरता, श्रद्धा और एकाग्रता के साथ तीर्थ-पर्यटन करता है, वह पापी भी हो तो विशुद्ध हो जाता है । पुण्यवान् का कहना ही क्या है ? ।। ५२ ।

तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत् कुदेशे नैव जायते ।
न दुःखी स्यात् स्वर्गभाक् च मोक्षोपायश्च विन्दति ॥ ५३ ।
अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः ।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः ॥ ५४ ।
तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना सञ्चरन्ति ये ।
सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गभागिनः ॥ ५५ ।
तीर्थयात्रां चिकीर्षुः प्राग्विधायोपोषणं गृहे ।
गणेशं च पितॄन् विप्रान् साधूञ्छक्त्या प्रपूज्य च ॥ ५६ ।
कृतपारणको हृष्टो गच्छेन्नियमधृक् पुनः ।
आगत्याऽभ्यर्च्य च पितॄन् यथोक्तफलभाग्भवेत् ॥ ५७ ।

तिर्यग्योनिमिति । तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत्तीर्थान्यनुसरन्नित्येव ॥ ५३ ।

अश्रद्दधान इति । **अश्रद्दधानः** श्रद्धामकुर्वाणः । **पापात्मा** बैडालव्रतिकः। **नास्तिकः** पाखण्डः । **अच्छिन्नसंशयः** न छिन्नो न नष्टः संशयो यस्य स तथा संशयात्मेत्यर्थः। **हेतुनिष्ठो** हैतुकः । तदुक्तं गीतायाम्—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ इति ।

वैष्णवे च—

पाखण्डिनो विकर्मस्थान् बैडालव्रतमास्थितान् ।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणाऽपि नार्चयेत् ॥ इति ।

तीर्थसेवी मनुष्य पशु-पक्षी इत्यादि योनियों में जन्म नहीं पाता, कुदेश में उत्पन्न नहीं होता और दुःखभागी नहीं होता, वरन् स्वर्गलाभ और मोक्षोपाय की प्राप्ति करता है ॥ ५३ ।

श्रद्धाहीन, स्वभावतः पापपरायण, नास्तिक, संदिग्धचित्त और हेतुवादी ये पाँच प्रकार के लोग (कभी) तीर्थफल के भागी नहीं होते ॥ ५४ ।

जो लोग शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि समस्त द्वन्द्वों को सहकर, यथोक्त विधि से तीर्थयात्रा करते हैं, वे ही धीर नर स्वर्गलोक के भोक्ता होते हैं ॥ ५५ ।

तीर्थयात्राभिलाषी मनुष्य पूर्वदिन गृह में उपवास करने के पश्चात् गणेश-पूजन, पितृ-श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन, साधु-सेवन को यथाशक्ति करे; फिर पारण कर नियमधारण-पूर्वक हृष्टचित्त से यात्रा करे। लौटने पर पुनः श्राद्ध करे—तब तीर्थ का सम्पूर्ण फल-भागी होता है ॥ ५६-५७ ।

न परीक्ष्यो द्विजस्तीर्थेऽप्यन्नार्थी भोज्य एव च।
सक्तुभिः पिण्डदानञ्च चरुणा पायसेन च ॥ ५८ ।
कर्तव्यमृषिभिर्दृष्टं पिण्याकेन गुडेन च।
श्राद्धं तत्र प्रकर्तव्यमर्घ्यावाहनवर्जितम् ॥ ५९ ।
अकालेऽप्यथवा काले तीर्थे श्राद्धञ्च तर्पणम् ।
अविलम्बेन कर्तव्यं नैव विघ्नं समाचरेत् ॥ ६० ।
तीर्थं प्राप्य प्रसङ्गेन स्नानं तीर्थे समाचरेत् ।
स्नानजं फलमाप्नोति तीर्थयात्राश्रितं न च ॥ ६१ ।
नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत् ।
यथोक्तफलदं तीर्थं भवेच्छ्रद्धात्मनां नृणाम् ॥ ६२ ।
षोडशांशं स लभते यः परार्थञ्च गच्छति ।
अर्धं तीर्थफलं तस्य यः प्रसङ्गेन गच्छति ॥ ६३ ।

बैडालव्रतिकादीनाञ्चेदं लक्षणम्—

यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुराध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम् ॥
भ्रष्टः स्वधर्मात् पाखण्डो विकर्मस्थो निषिद्धकृत् ।
सन्देहकृद्धेतुभिर्यः सत्कर्मसु सहैतुकः ॥ इत्यादि ॥ ५४ ।

मण्डरहितं भक्तं चरुः ॥ ५८ । पिण्याकमत्र तिलपिष्टम् ॥ ५९ । प्रसङ्गेन कार्यान्तराण्युद्दिश्येत्यर्थः ॥ ६३ ।

तीर्थ में ब्राह्मण की परीक्षा न करे । जो अन्नार्थी हो, उसे भोजन करावे। सत्तू, माड़ से रहित भात अथवा पायस (खोवा) का पिण्डदान करे ॥ ५८ ।

गुड़ और पिसे हुए तिल का भी पिण्डदान ऋषि-सम्मत है। तीर्थ में अर्घ्य और आवाहन से रहित श्राद्ध अवश्य करे ॥ ५९ ।

शास्त्र-विहित काल हो, चाहे अविहित काल हो; परन्तु तीर्थ में पहुँचने के साथ ही श्राद्ध और तर्पण कर डाले । विलम्ब से विघ्न न होने पाये ॥ ६० ।

किसी प्रयोजनवश भी तीर्थ में पहुँच जाय, तो भी तीर्थस्नान कर ले। इससे स्नानजन्य फल प्राप्त होता है; किन्तु तीर्थ-यात्रा का फल मिलता ॥ ६१ ।

तीर्थ में जाने से पापियों के भी पाप का शमन हो जाता है; परन्तु श्रद्धापूर्वक यात्रा करनेवाले मनुष्य को तो यथोक्त फल की प्राप्ति होती ही है ॥ ६२ ।

जो दूसरे के लिए तीर्थ-गमन करता है, वह (पुण्य के) सोलहवें भाग को पाता है और जो किसी कार्यवश जाता है, उसे आधा फल प्राप्त होता है ॥ ६३ ।

कुशप्रतिकृतिं कृत्वा तीर्थवारिणि मज्जयेत् ।
मज्जयेच्च यमुद्दिश्य सोऽष्टमांशं लभेत वै ॥ ६४ ।
तीर्थोपवासः कर्तव्यः शिरसो मुण्डनन्तथा ।
शिरोगतानि पापानि यान्ति मुण्डनतो यतः ॥ ६५ ।
यदह्नि तीर्थप्राप्तिः स्यात् ततोऽह्नः पूर्ववासरे ।
उपवासस्तु कर्तव्यः प्राप्ताह्नि श्राद्धदो भवेत् ॥ ६६ ।
तीर्थप्रसङ्गात्तीर्थाङ्गमप्युक्तं त्वत्पुरो मया ।
स्वर्गसाधनमेवैतन्मोक्षोपायश्च वै भवेत् ॥ ६७ ।
काशी कान्ती च मायाख्या त्वयोध्या द्वारवत्यपि ।
मथुराऽवन्तिका चैताः सप्तपुर्योऽत्र मोक्षदाः ॥ ६८ ।
श्रीशैलो मोक्षदः सर्वः केदारोऽपि ततोऽधिकः ।
श्रीशैलाच्चापि केदारात् प्रयागं मोक्षदं परम् ॥ ६९ ।

कुशप्रतिकृतिमिति जीवतां दूरदेशस्थानां मृतानान्तु तर्पणादिना कृतार्थत्वात् ॥ ६४ ।

श्राद्धद इति । श्राद्धादि कृत्वा पारणं कुर्यादित्यर्थः ॥ ६६ ।

सर्वतश्चतुरशीतियोजनपरिमितः ॥ ६९ ।

जिसकी कुश की प्रतिमूर्ति बनाकर तीर्थ-सलिल में डुबाए, उसे भी अष्टमांश फल मिलता है ॥ ६४ ।

तीर्थ में जाकर उपवास और शिर का मुण्डन कराना चाहिए; क्योंकि मस्तक मुड़वा देने से शिरोगत सब पाप दूर हो जाते हैं ॥ ६५ ।

जिस दिन तीर्थ में पहुँचना हो, उसके (पहले ही) दिन में उपवास कर ले और उस दिन श्राद्ध करे ॥ ६६ ।

तीर्थ के प्रसंग से तीर्थयात्रा का अङ्गकार्य्य भी मैंने तुम्हारे सम्मुख बता दिया। यही स्वर्ग-साधन और मोक्ष का उपाय है ॥ ६७ ।

काशी, काञ्ची, मायापुरी, अयोध्या, द्वारावती, मथुरा और अवन्तिका, ये ही सातों नगरियाँ संसार में मोक्ष देनेवाली हैं ॥ ६८ ।

फिर समस्त श्रीशैल मोक्षप्रद है, केदार (क्षेत्र) उससे भी अधिक है, श्रीशैल और केदार से भी विशेष मुक्तिदायक प्रयाग है ॥ ६९ ।

प्रयागादपि तीर्थाग्र्यादविमुक्तं विशिष्यते ।
यथाऽविमुक्ते निर्वाणं न तथा क्वाप्यसंशयम् ॥ ७० ।
अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि काशीप्राप्तिकराणि च ।
काशीं प्राप्याऽपि मुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः ॥ ७१ ।
अत्रार्थे कथयिष्येहमितिहासं पुरातनम् ।
यथा विष्णुगणैरुक्तं द्विजाय शिवशर्मणे ॥ ७२ ।
तीर्थाध्यायमिमं श्रुत्वा नरो नियतमानसः ।
श्रावयित्वा द्विजांश्चापि श्रद्धाभक्तिसमन्वितान् ॥ ७३ ।
क्षत्रियान् धर्मनिरतान् वैश्यान् सन्मार्गवर्तिनः ।
शूद्रान् द्विजेषु भक्तांश्च निष्पापो जायते द्विजः ॥ ७४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे तीर्थाध्यायो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ।

प्राप्यापि मुच्येत । अपिरेवार्थे । मुच्येतैवेत्यर्थः । विमुच्येतेति वा पाठः ॥ ७१ ।
गणैरिति द्विवचनस्थाने बहुवचनं छान्दसं पूजार्थं वा ॥ ७२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ।

तीर्थराज प्रयाग से भी अतिविशिष्ट अविमुक्त क्षेत्र है। जैसो (सायुज्यादि) मुक्ति अविमुक्तक्षेत्र में मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। यह निश्चित तथ्य है। और सब दूसरे मुक्तिक्षेत्र काशी की ही प्राप्ति कराते हैं। काशी की प्राप्ति होने से ही निर्वाण-पद मिलता है, अन्यथा करोड़ों तीर्थ-सेवन से भी नहीं प्राप्त होता ॥ ७०-७१ ।

इस विषय में विष्णु के गणों ने जो शिवशर्मा द्विज से कहा था, वही पुरातन इतिहास कहता हूँ ॥ ७२ ।

जो मनुष्य इस तीर्थाध्याय को सावधान-चित्त से सुनता है, अथवा जो ब्राह्मण श्रद्धा-भक्ति से युक्त विप्रों को, धर्मपरायण क्षत्रियों को, सत्पथवर्ती वैश्यों को और द्विजातिभक्त शूद्रों को भी सुनाता है, वह निष्पाप हो जाता है ॥ ७३-७४ ।

लोपामुद्रा से कही, श्रीअगस्त्य मुनिराय ।
तीरथयात्रा की विधि, सब प्रकार समुझाय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां तीर्थप्रकरणवर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

अगस्तिरुवाच—

मथुरायां द्विजः कश्चिदभूद् भूदेवसत्तमः ।
तस्य पुत्रो महातेजाः शिवशर्मेति विश्रुतः ॥ १ ।
अधीत्य वेदान् विधिवदर्थं विज्ञाय तत्त्वतः ।
पठित्वा धर्मशास्त्राणि पुराणान्यधिगम्य च ॥ २ ।
अङ्गान्यभ्यस्य तर्कांश्च परिलोड्य समन्ततः ।
मीमांसाद्वयमालोक्य धनुर्वेदं विगाह्य च ॥ ३ ।
आयुर्वेदं विचार्यापि नाट्यवेदे कृतश्रमः ।
अर्थशास्त्राण्यनेकानि प्राप्याश्वगजचेष्टितम् ॥ ४ ।

काश्ययोध्या द्वारका च मायाकान्त्यावन्तिका ।
मथुरा च प्रशस्यन्ते पुरः सप्तात्र सप्तमे ॥ १ ॥

अत्रार्थे कथयिष्येऽहमितिहासं पुरातनमित्युक्तमेवेतिहासं सन्दर्शयति । **मथुराया-मिति** । अधीत्य वेदानित्यादीनां द्वितीयान्तपदघटितानां ल्यबन्तानां चिन्तामवाप महतीं शिवशर्माद्विजोत्तम इति षष्ठेनान्वयः । अर्थं वेदानामिति शेषः ॥ २ ।

अङ्गानि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतींषि । तर्कान्न्यायादीन् । **धर्म-ब्रह्मलक्षणे मीमांसे द्वे** ॥ ३ ।

नाट्यवेदे गान्धर्ववेदे भरतादिमुनिप्रणीतनृत्यगीतादिविषये । **अर्थशास्त्राणि** औशनसबार्हस्पत्यादीनि । अश्वगजचेष्टितं घोटकहस्तिचेष्टाप्रतिपादकं शास्त्रमित्यर्थः ॥४।

(सप्तपुरी–वर्णन)

अगस्त्य ऋषि बोले—

मथुरापुरी में ब्राह्मणों में उत्तम कोई एक ब्राह्मण था, जिसका पुत्र महातेजस्वी शिवशर्मा नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ १ ।

वेदाध्ययन कर उनके तत्त्वार्थ को जान, धर्मशास्त्रों को पढ़, पुराणों को समझ, वेद के छहों अंगों का अभ्यास कर, तर्कशास्त्र को मथ, पूर्व-उत्तर दोनों मीमांसाओं की आलोचना कर, यजुर्वेद का विलोडन, आयुर्वेद का विचार, नाट्य (गान्धर्व) वेद में परिश्रम कर, अनेक अर्थशास्त्रों की प्राप्ति (के साथ ही) अश्व, गज-चेष्टाओं का

कलासु च कृताभ्यासो मन्त्रशास्त्रविचक्षणः ।
भाषाश्च नानादेशानां लिपीर्ज्ञात्वा विदेशजाः ।। ५ ।

अर्थानुपार्ज्य धर्मेण भुक्त्वा भोगान् यदृच्छया ।
उत्पाद्य पुत्रान् सुगुणांस्तेभ्यो ह्यर्थं विभज्य च ।। ६ ।

यौवनं गत्वरं ज्ञात्वा जरां दृष्ट्वा श्रितां श्रुतिम् ।
चिन्तामवाप महतीं शिवशर्मा द्विजोत्तमः ।। ७ ।

पठतो मे गतः कालस्तथोपार्जयतो धनम् ।
नाराधितो महेशानः कर्मनिर्मूलनक्षमः ।। ८ ।

न मया तोषितो विष्णुः सर्वपापहरो हरिः ।
सर्वकामप्रदो नृणां गणेशो नार्चितो मया ।। ९ ।

कलासु चतुःषष्टिकलानां मध्ये उक्तावशिष्टासु । मन्त्रशास्त्रं गारुडादिशास्त्रमागमशास्त्रं वा । लिपिर्लिबिः । 'लिपिर्लिबिरुभे स्त्रियौ' इत्यमरः । अक्षराणीत्यर्थः ।। ५-६ ।

लोके: कथितां श्रुतिं श्रवणेन्द्रियं श्रितां प्राप्तां जरां दृष्ट्वा ज्ञात्वा ।। ७ ।

अभिज्ञान करके, चौसठों कलाओं में निपुणता, मन्त्रशास्त्र में विलक्षणता, अनेक देशों की भाषाओं का और विदेशीय लेखों का ज्ञान सम्पादन करने के उपरान्त धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन कर, यथेष्ट भोगों को भोग, सुन्दर, गुणशाली पुत्रों का उत्पादन कर और उन सबको धन वितरित कर, यौवन की अस्थिरता का विचार कर लोक-प्रसिद्ध कर्णसमीप श्वेत केशरूप वृद्धता को देखकर द्विजोत्तम शिवशर्मा को बड़ी चिन्ता हुई ।

श्रवण समीप भये सितकेशा ।
मनहुँ चौथपन, अस उपदेशा ।। २-७ ।

वह चिन्ता करने लगा—पढ़ते-पढ़ते और धनोपार्जन करते-करते मेरा समय (काल) बीत गया; पर कर्मों का क्षय करनेवाले महेश्वर की आराधना नहीं हो सकी ।। ८ ।

समस्त पापों को हरनेवाले सर्वव्यापी हरि को मैंने संतुष्ट नहीं किया । मनुष्यों के सर्वार्थसिद्धिप्रद गणेश की भी पूजा नहीं की ।। ९ ।

तमस्तोमहरः सूर्यो नार्चितो वै मया क्वचित् ।
महामाया जगद्धात्री न ध्याता भवबन्धहृत् ॥ १० ।
न प्रीणिता मया देवा यज्ञैः सर्वैः समृद्धिदाः ।
तुलसीवनशुश्रूषा न कृता पापशान्तये ॥ ११ ।
न मया तर्पिता विप्रा मृष्टान्नैर्मधुरै रसैः ।
इहापि च परत्रापि विपदामनुतारकाः ॥ १२ ।
बहुपुष्पफलोपेताः सुच्छायाः स्निग्धपल्लवाः ।
पथि नारोपिता वृक्षा इहामुत्र फलप्रदाः ॥ १३ ।
दुकूलैः स्वानुकूलैश्च चोलैः प्रत्यङ्गभूषणैः ।
नालङ्कृताः सुवासिन्य इहामुत्र सुवासदाः ॥ १४ ।

तमस्तोमहरोऽज्ञानपूगहरोऽन्धकारसमूहहरो वा । भवबन्धहृत् संसारबन्धनहन्त्री । भवबन्धकृदिति पाठे अभक्तानां संसारबन्धनकर्त्री ॥ १० ।

चोलैः कूर्पासकैः कञ्चुकैरिति यावत् । ऊढाऽनूढा वा पितृगृहे स्थिताः सयौवनाः सुवासिन्यश्चिरण्ट्य इति यावत् । 'चिरण्टी तु सुवासिनी' इत्यमरः । 'सुवासिन्यां **चिरण्टी स्याद्द्वितीयवयसि स्त्रियामिति च'** रुद्रः ॥ १४ ।

अन्धकार के समूह का विनाश करनेवाले सूर्यदेव को भी मैंने अर्चित नहीं किया । संसार-बन्धन विमोचिनी महामाया जगद्धात्री का भी ध्यान नहीं किया ॥ १० ।

समृद्धिदाता देवतागण को भी समस्त यज्ञों के द्वारा तृप्त नहीं किया । पापों के शान्त्यर्थ तुलसी वन की भी सेवा नहीं की ॥ ११ ।

यहाँ पर लोक में भी विपत्तियों से पार लगानेवाले ब्राह्मणों को मिष्ठान्न और मधुर रसों से मैंने सन्तुष्ट नहीं किया ॥ १२ ।

बहुतेरे पुष्प-फल से सम्पन्न, स्निग्ध पल्लव, सुन्दर छायायुक्त वृक्षों की पंक्ति भी मार्ग में नहीं लगाई, जो इस लोक और परलोक उभयत्र बड़े फल को देती है ॥ १३ ।

मैं इस काल और परकाल में सुन्दर वास देनेवाली (निज पितृ-गृह-स्थित युवती कन्या), उसकी सुवासिनियों को मनोनुकूल दुकूल (वस्त्र), चोलियाँ और प्रत्यंग भूषणादिकों से अलंकृत नहीं कर सका ॥ १४ ।

द्विजाय नोर्वरा दत्ता यमलोकनिवारिणी।
सुवर्णं न सुवर्णाय दत्तं दुरितहृत्परम् ॥ १५ ।
नालङ्कृता सवत्सा गौः पात्राय प्रतिपादिता।
इह पापापहन्त्र्याशु सप्तजन्मसुखावहा ॥ १६ ।
ऋणापनुत्तये मातुः कारितो न जलाशयः।
नातिथिस्तोषितः क्वापि स्वर्गमार्गप्रदर्शकः ॥ १७ ।
छत्रोपानत्कुण्डिकाश्च नाध्वगाय समर्पिताः।
यास्यतः संयमिन्यां हि स्वर्गमार्गसुखप्रदाः ॥ १८ ।
न च कन्याविवाहार्थं वसु क्वापि मयार्पितम्।
इह सौख्यसमृद्ध्यर्थं दिव्यकन्यार्पकं दिवि ॥ १९ ।
न वाजपेयावभृथे स्नातो लोभवशादहम्।
इह जन्मनि चान्यस्मिन् बहुमृष्टान्नपानदे ॥ २० ।

उर्वरा सर्वसस्याढ्या भूमिरिति शेषः। 'उर्वरा सर्वसस्याढ्या' इत्यमरः ॥ १५ ।
जलाशयः जलान्या शेरतेऽस्मिन्निति जलाशयो वापीकूपतडागादिः ॥ १७ ।
कुण्डिका कुण्डो कमण्डलुरित्यर्थः। 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः ॥ १८ ।

मैंने यमलोक हारिणी उर्वरा (उपजाऊ) भूमि ब्राह्मण को दान नहीं दी और न ही परम पापहारी सुवर्ण ही वर्णोत्तम (विप्र) को दिया ॥ १५ ।

मैं इस जन्म में शीघ्र पापहन्त्री सात जन्म सुख देनेवाली अलंकृता और वत्स के सहित गौ सत्पात्र को समर्पण नहीं कर सका ॥ १६ ।

फिर मातृ-ऋण से उद्धार होने के लिये जलाशय नहीं खुदवा सका और न स्वर्ग-मार्ग-प्रदर्शक अतिथि को ही सन्तुष्ट कर सका ॥ १७ ।

मैंने यमपुरी-यात्रा के अर्थ स्वर्गमात्र में सुखप्रद छाता, उपानत् (जूता), कमण्डलु (लोटा) आदि पथिकों को नहीं दिया ॥ १८ ।

यहाँ सुखप्राप्ति और परलोक में स्वर्गीय कन्या-लाभ के लिये मैंने कभी कन्या के विवाहार्थ धन भी नहीं अर्पण (दान) किया ॥ १९ ।

उभयत्र अत्यन्त मिष्टान्न देनेवाले वाजपेय यज्ञ के अवभृथ-स्नान को भी लोभवश मैं नहीं कर सका ॥ २० ।

न मया स्थापितं लिङ्गं कृत्वा देवालयं शुभम्।
यस्मिन् संस्थापिते लिङ्गे विश्वं संस्थापितं भवेत् ॥ २१।
विष्णोरायतनं नैव कृतं सर्वसमृद्धिदम्।
न च सूर्यगणेशानां प्रतिमाः कारिता मया ॥ २२।
न गौरी न महालक्ष्मीश्चित्रेऽपि परिलेखिते।
प्रतिमाकरणे चैषां न कुरूपो न दुर्भगः ॥ २३।
सुसूक्ष्माणि विचित्राणि नोज्ज्वलान्यम्बराण्यपि।
समर्पितानि विप्रेभ्यो दिव्याम्बरसमृद्धये ॥ २४।
न तिलाश्च घृतेनाक्ताः सुसमिद्धे हुताशने।
हुता वै मन्त्रपूताश्च सर्वपापापनुत्तये ॥ २५।
श्रीसूक्तं पावमानी च ब्राह्मणो मण्डलानि च।
जप्तं पुरुषसूक्तं न पापारिशतरुद्रियम् ॥ २६।

श्रीसूक्तं हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजामित्यादि। **पावमानो,** स्वादिष्ठयाम-दिष्ठयापवस्वसोमधारयेत्याद्या। **ब्राह्मणो** ब्राह्मणं अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परम इत्यादि। **मण्डलानि,** यदेतन्मण्डलं तपति, तन्मह इत्यादीनि ऋग्वेदे प्रसिद्धानि दशमण्डलानि इति वा। **पुरुषसूक्तं** सहस्रशीर्षेत्यादि। **शतरुद्रियम्,** अथातः शतरुद्रियं जुहोति अत्रैष सर्वोऽग्निसंस्कृत इत्यादि। पापारीति सर्वेषां विशेषणम् ॥ २६।

जिस लिङ्ग के स्थापन से समस्त विश्व के स्थापन का फल प्राप्त होता है, मैंने देवालय बनाकर उसमें शुभप्रद शिवलिंग की स्थापना भी नहीं की ॥ २१।

समग्र सम्पत्ति देनेवाला विष्णु का मन्दिर भी नहीं बनवाया और सूर्य, गणश की प्रतिमा का भी निर्माण नहीं कराया ॥ २२।

जिनकी मूर्ति बनाने से (बनवाने से) कुरूप और दुर्भाग्यशाली नहीं होना पड़ता है, ऐसी पार्वती और महालक्ष्मी को चित्रपट में भी नहीं लिखवाया ॥ २३।

ब्राह्मणों को दिव्य वस्त्र को प्राप्ति का हेतुभूत अति सूक्ष्म उज्ज्वल विचित्र वस्त्र भी दान नहीं दिया ॥ २४।

समग्र पापों के क्षयार्थ सुप्रसिद्ध हुताशन (अग्नि) में मन्त्र कथन से पवित्र घृत-संयुक्त तिल का हवन भी नहीं किया ॥ २५।

श्रीसूक्त, पवमानी मन्त्र, ब्राह्मण-मन्त्र, मण्डल-मन्त्र, पुरुषसूक्त और शतरुद्रीय— इन सब पापनाशक वेद-मन्त्रों को (गृहस्थ ब्राह्मण होकर भी) मैं नहीं जप सका ॥ २६।

अश्वत्थसेवा न कृता त्यक्त्वा चार्कं त्रयोदशीम् ।
सद्यः पापहरा सा हि न रात्रौ न भृगोर्दिने ।। २७ ।।
शयनीयं न चोत्सृष्टं मृदुलाञ्च प्रतूलिकाम् ।
दीपीदर्पणसंयुक्तं सर्वभोगसमृद्धिदम् ।। २८ ।
अजाश्वमहिषीमेषीदासीकृष्णाजिनं तिलाः ।
सकरम्भास्तोयकुम्भा नासनं मृदुपादुके ।। २९ ।
पादाभ्यङ्गं दीपदानं प्रपादानं विशेषतः ।
व्यजनं वस्त्रताम्बूलं तथान्यं मुखवासकृत् ।। ३० ।
नित्यश्राद्धं भूतबलिं तथाऽतिथिसमर्चनम् ।
विशन्त्यन्यानि दत्वा च प्रशस्यानि यमालये ।। ३१ ।

आर्कम्, अर्कदिनम् । **भृगोर्दिने**, शुक्रवासरे ।। २७ ।

प्रतूलिका, प्रकृष्टा तूलिका बहुमूल्येत्यर्थः । कीदृशी ? **दीपी** दीप्ता, उज्ज्वलेत्यर्थः । दर्पणेति शयनीयविशेषणम् । दीपदर्पणसंयुक्तामिति क्वचित्पाठः ।। २८ ।

सकरम्भा, दध्युपसिक्तसक्तुसहिताः । **'करम्भो दधिसक्तवः'** इत्यमरः । **मृदुपादुके** इति । छत्रोपानदित्यत्र नाध्वगाय समर्पिता इत्युक्तम्, इह तु साधारणेभ्य इत्यपौनरुक्त्यम् ।। २९ ।

वस्त्रताम्बूलमित्येकवद्भावः । तत्र वस्त्रं साधारणमन्यथा न सूक्ष्माणीत्यनेन पुनरुक्तेः । ताम्बूलं गुवाकादित्रितयम् । पादाभ्यङ्गं ब्राह्मणानामिति शेषः । अन्यल्लवङ्गादि । इत्यन्तानां न चोत्सृष्टमिति पूर्वक्रिययैव सम्बन्धः ।। ३० ।

नित्यश्राद्धमिति । नित्यश्राद्धादीनि दत्त्वा कृत्वाऽन्यानि च प्रशस्यानि द्रव्याणि दत्वा यमादीन्न पश्यन्ति यमालयेऽपि न विशन्तीत्यर्थः । कुतो यतस्ते पुण्यभाज इति ।

पीपलवृक्ष की सेवा भी, जो रविवार, शुक्रवार तथा त्रयोदशी और रात्रिभाग को छोड़कर सद्यः पापहरण करनेवाली है, उसे भी नहीं कर पाया ।। २७ ।

अपने भोजन की समृद्धियों को देनेवाली, मृदुल तोषक और दीवट, दर्पण से युक्त शय्या का भी दान नहीं कर सका ।। २८ ।

अज (बकरा), अश्व, भैंस, भेड़, दासी, काला मृगचर्म, तिल, दधियुक्त सत्तू, जलपूर्ण घट, आसन, कोमल पादुका, पादाभ्यङ्ग, दीपप्रज्ज्वालन, विशेष पौंसरा चलाना, पंखा, वस्त्र, ताम्बूल तथा अन्य मुख-सुगन्धि-सम्पादन वस्तु, नित्य-श्राद्ध, भूतबलि और अतिथि-पूजन इत्यादि तथा अन्य उत्तम दान—इन सब द्रव्यों के दान और कर्मों के अनुष्ठान करने से पुण्यभागी लोग यमपुरी में प्रवेश, यमराज और यम

न यमं यमदूतांश्च न यामीरपि यातनाः ।
पश्यन्ति ते पुण्यभाजो नैतच्चापि कृतं मया ॥ ३२ ।
कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि तथा नक्तव्रतानि च ।
शरीरशुद्धिकारीणि न कृतानि क्वचिन्मया ॥ ३३ ।
गवाह्निकञ्च नो दत्तं गोकण्डूतिर्न वै कृता ।
नोद्धृता पङ्कमग्ना गौर्गोलोकसुखदायिनी ॥ ३४ ।
नार्थिनः प्रार्थितैरर्थैः कृतार्था हि मया कृताः ।
देहि देहीति जल्पाको भविष्याम्यन्यजन्मनि ॥ ३५ ।
न वेदा न च शास्त्राणि नार्थो दारा न नो सुतः ।
न क्षेत्रं न च हर्म्यादि यायान्तमनुयास्यति ॥ ३६ ॥

यद्वा नित्यश्राद्धादीन्यन्यानि च द्रव्याणि दत्वा यमालये प्रशस्यानि सदनानि विशन्ति । यमं क्रोधाविष्टमित्यादि[1] पूर्ववत् । **यामीर्यमसम्बन्धिनीः** । फलितमाह । नैतदिति ॥३१–३२॥

कृच्छ्रेति । कृच्छ्रञ्च चान्द्रायणञ्च ते आदी येषामतिकृच्छ्रपराकादीनां तानि तथा । कृच्छ्रातिकृच्छ्रस्वरूपं चोक्तं पराशरसंहितायाम्—

न वाहं यतिकृच्छ्रः स्यात् पाणिपूरान्नभोजनम् ।
त्रिरात्रमुपवासः स्यादतिकृच्छ्रं तदुच्यते ॥ इति ॥ ३३ ॥

गवाह्निकं गवाम् अह्नि अह्नि देयमाह्निकम्, प्रतिदिवसदेयं गोग्रासमित्यर्थः । गवानीकमिति पाठे गोसमूहमित्यर्थः ॥ ३४ ।

प्रार्थितैर्याचितैः । प्राकृतैरिति पाठे साधारणैरपीत्यर्थः । देहि देहीति जल्पाकः देहि देहि प्रयच्छेति प्रार्थनाशीलः ॥ ३५–३६ ।

दूतों का दर्शन, तथा यम-यातना के भोगों को नहीं पाते—मुझे यह सब कुछ भी नहीं करते बन पड़ा ॥ २९-३२ ।

कृच्छ्र, चान्द्रायण और नक्तव्रत प्रभृति शरीर की शुद्धि करनेवाले व्रतों का भी मैंने अनुष्ठान नहीं किया ॥ ३३ ॥

मैंने न तो प्रतिदिन गो-ग्रास ही दिया और न ही गौ का शरीर ही खुजलाया, न गोलोक में सुखदायी गौ को पंक में से उद्धार ही किया ॥ ३४ ।

प्रार्थनानुसार अर्थ देकर मैंने अर्थियों को भी कृतार्थ नहीं किया, (हाय !) दूसरे जन्म में "दो-दो" ऐसा बकनेवाला (दीन भिक्षुक) होऊँगा ॥ ३५ ।

वेद, शास्त्र, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, (खेत), हर्म्य (महल) ये सब कोई भी परलोक यात्रा में मेरे साथी नहीं होंगे ॥ ३६ ।

---

१. न पश्यन्तीति ।

शिवशर्मेति सञ्चिन्त्य बुद्धिं सन्धाय सर्वतः।
निश्चिकाय मनस्येवं भवेत्क्षेमतरं मम ॥ ३७ ।
यावत्स्वस्थोऽस्ति मे देहो यावन्नेन्द्रियविक्लवः।
तावत्स्वश्रेयसां हेतुं तीर्थयात्रां करोम्यहम् ॥ ३८ ।
दिनानि पञ्चषाण्येवमतिवाह्य गृहे द्विजः।
शुभे तिथौ शुभे वारे शुभलग्नबले द्विजः ॥ ३९ ।
उपोष्य रजनीमेकां प्रातः श्राद्धं विधाय च।
गणेशान् ब्राह्मणान्नत्वा भुक्त्वा प्रस्थितवान् सुधीः ॥ ४० ।
इति निश्चित्य निर्वाणपदनिःश्रेणिकां पराम्।
सर्वेषामेव जन्तूनां तत्र संस्थितिकारिणाम् ॥ ४१ ।

शिवशर्मा इति, एवं प्रकारेण मम क्षेमतरं कल्याणतरं भवेत् स्यादिति निश्चिकाय निश्चितवानित्यर्थः। क्षेमकरमिति पाठे क्षेमकरं कर्मेत्यर्थः ॥ ३७ ।

तमेव निश्चयं दर्शयति। यावदिति ॥ ३८ ।

एवमेवं विचारयन्नित्यर्थः। पञ्चषाणि पञ्चषड्वासराणीत्यर्थः। लग्नबले लग्ने इत्यर्थः। स्वार्थे वलच् प्रत्ययः ॥ ३९-४० ।

इति निश्चित्येति। इति तीर्थपर्यटनमेव सर्वजन्तूनां निर्वाणपदनिःश्रेणिकां कैवल्यपदसोपानपरम्परामुत्कृष्टां निश्चित्य अवधार्य प्रस्थितवानिति पूर्वक्रिययैवान्वयः। कथम्भूतानाम्? तत्र संस्थिति कारिणां तत्र निर्वाणपदे तीर्थपर्यटने वा सम्यक् स्थितिं कर्तुं शीलं येषां ते, तथा तेषाम् ॥ ४१ ।

शिवशर्मा ने इस प्रकार चिन्तन कर समग्र विषयों से बुद्धि को बटोर (एकाग्र) मन से यही निश्चय किया कि "इसी विधि से मेरा बड़ा कल्याण होगा" ॥ ३७ ।

जब तक मेरा शरीर स्वस्थ है, जब लों (जब तक) इन्द्रियाँ असमर्थ नहीं हो जातीं, तब तक अपने मंगल हेतु जडरूपा तीर्थयात्रा को मैं कर लूँ ॥ ३८ ।

उस बुद्धिमान् ब्राह्मण ने यही स्थिरकर पाँच-छः दिन गृह में बिताने पर शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ लग्नबल में प्रस्थान किया ॥ ३९ ।

"तीर्थ-पर्य्यटन में न्यायपूर्वक व्यवहार करनेवाले सभी प्राणियों की मुक्ति-सोपान (सिढ़ी) परम्परा तीर्थयात्रा ही है" ऐसा पूर्व में ही निश्चय कर, यात्रा से पूर्व एक-रात्रि में उपवासी होकर, प्रातःकाल श्राद्धकर गणेशादि देवता और ब्राह्मणों की पूजन-प्रणामादि से संतुष्ट कर पारण के अनन्तर यात्रा प्रारम्भ की ॥ ४०-४१ ।

अथ पन्थानमाक्रम्य कियन्तमपि स द्विजः ।
मुहूर्तं पथि विश्रम्याचिन्तयत् प्राक् क्व याम्यहम् ।। ४२ ।
भुवि तीर्थान्यनेकानि लोलमायुश्चलं मनः ।
ततः सप्तपुरीर्यायां सर्वतीर्थानि तत्र यत् ।। ४३ ।
अयोध्याञ्च पुरीं गत्वा सरयूमवगाह्य च ।
तत्तत्तीर्थेषु अन्तर्प्य पितॄन् पिण्डप्रदानतः ।। ४४ ।
पञ्चरात्रमुषित्वा तु ब्राह्मणान् परिभोज्य च ।
प्रयागमगमद्विप्रस्तीर्थराजं सुहृष्टवत् ।। ४५ ।

अथेति । अचिन्तयत् आलोचितवान् । चिन्तयदिति क्वचित्पाठः, तत्राडभाव आर्षः ।। ४२ ।

भुवीति । ततंस्तस्मात्सप्त पुरीरयोध्याद्या मोक्षदातृत्वेन प्रसिद्धाः । तदुक्तम्—

अयोध्या मथुरा माया काशी कान्ती अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।। इति ।

यायां गच्छेयम् । आदाविति शेषः । यद्यतस्तत्र तासु सर्वतीर्थानीति ।। ४३ ।

इति निश्चित्य स विप्रः पुराऽयोध्यां गत्वा प्रयागमगमदिति द्वितीयश्लोकेनान्वयः । मथुरातो मध्ये प्रयागमुल्लङ्घ्याऽयोध्यायां गमनं मार्गशीर्षे निर्गतस्य प्रयागे माघस्नानानुरोधार्थमिति ज्ञातव्यम् । तथा चाग्रे वक्ष्यति । तत्र माघमुषित्वेति ।। ४४–४५ ।

इसके अनन्तर कुछ दूर चलकर मुहूर्तमात्र विश्राम करके वह ब्राह्मण सोचने लगा कि पहले कहाँ जाऊँ ? ।। ४२ ।

पृथ्वी पर अनेक तीर्थ हैं, आयुष्य भी अस्थिर है और मन परम चंचल है, तब फिर पहले सप्तपुरी की यात्रा करूँ; क्योंकि वहाँ पर समस्त तीर्थ वर्तमान रहते हैं ।। ४३ ।

इस विचार के अनुसार शिवशर्मा ने अयोध्यापुरी में पहुँचकर सरयू में स्नान किया । तदन्तर्गत प्रत्येक तीर्थ में तर्पण, पिण्डदान आदि करता हुआ पंचरात्र निवास तथा ब्राह्मण भोजनादि कर्म सुसम्पादन कर अति प्रसन्न चित्त से तीर्थराज प्रयाग में जा पहुँचा ।। ४४–४५ ।

सिताऽसिते सरिच्छ्रेष्ठे यत्रास्तां सुरदुर्लभे ।
यत्राप्लुतो नरः पापः परं ब्रह्माधिगच्छति ।। ४६ ।
क्षेत्रं प्रजापतेः पुण्यं सर्वेषामेव दुर्लभम् ।
लभ्यते पुण्यसम्भारैर्नान्यथाऽर्थस्य राशिभिः ।। ४७ ।
दमयन्तीं कलिं कालं कलिन्दतनयां शुभाम् ।
आगत्य मिलिता यत्र पुण्या स्वर्गतरङ्गिणी ।। ४८ ।
प्रकृष्टं सर्वयागेभ्यः प्रयागमिति गीयते ।
यज्वनां पुनरावृत्तिर्न प्रयागार्द्रवर्ष्मणाम् ।। ४९ ।
यत्र स्थितः स्वयं साक्षाच्छूलटङ्को महेश्वरः ।
तत्राप्लुतानां जन्तूनां मोक्षवर्त्मोपदेशकः ।। ५० ।

प्रयागं विशिनष्टि । **सिताऽसिते** इत्यादि काशीत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । सिताऽसिते गङ्गायमुनेस्तां भवतः । सुरदुर्लभे देवानामपि दुष्प्राप्ये, तदुक्तम्—

प्रयागं तीर्थराजानं गच्छध्वममरोत्तमाः ।
भवाम्भोजभवाम्भोजनयनानां सुदुर्लभम् ।। इति ।। ४६ ।

दमयन्तीं शमयन्तीम् । कलिकालं कलिं कालञ्च । कलिन्दतनयां कलिन्दः पर्वतः, तस्य तनयां ततो निःसृतामित्यर्थः ।। ४८ ।

प्रकृष्टमिति । यज्वनां यज्ञकर्तृणाम् । यज्विनामिति क्वचित्पाठः, स चिन्त्यः । प्रयागार्द्रवर्ष्मणां प्रयागेऽर्थाद्वेणीजलेनार्द्रं वर्ष्म शरीरं येषां ते तथा तेषाम् ।। ४९-५० ।

माघ मास में स्नान की इच्छा से पहले तीर्थराज को न जाकर शिवशर्मा अयोध्या ही गये, फिर प्रयाग लौटे । वहाँ पर देवगण-दुर्लभ सितासित (गंगा-यमुना) दोनों प्रधान नदियाँ विद्यमान हैं । मनुष्य उन नदियों में स्नानकर परम ब्रह्म को प्राप्त होता है ।। ४६ ।

वह प्रजापति का क्षेत्र सब किसी को दुर्लभ है । परम पुण्य-पुञ्ज से (वह तीर्थ) प्राप्त होता है, अन्यथा धनराशि व्यय करने पर भी तीर्थराज का समागम नहीं होता ।। ४७ ।

कलि और काल को दमन करती हुई शुभावहा कलिन्दजा यमुना में परम-पुण्य जला स्वर्गतरंगिणी गंगा जहाँ पर आकर मिली हैं, समस्त यागों (यज्ञों) से प्रकृष्ट होने से जो प्रयाग (यज्ञों से भी प्रकृष्ट)—ऐसा कहलाता है, उसी प्रयाग के जल में स्नान-रूप यज्ञ करनेवालों को पुनर्जन्म नहीं होता ।। ४८-४९ ।

जहाँ के अधिष्ठाता भगवान् शूलटंकेश्वर हैं—वहाँ स्नान करनेवाले जन्तुओं को

तत्राऽक्षय्यवटोऽप्यस्ति सप्तपातालमूलवान् ।
प्रलयेऽपि यमारुह्य मृकण्डतनयोऽवसत् ॥ ५१ ॥
हिरण्यगर्भो विज्ञेयः स साक्षाद्वटरूपधृक् ।
तत्समीपे द्विजान् भक्त्या सम्भोज्याक्षय्यपुण्यभाक् ॥ ५२ ॥
यत्र लक्ष्मीपतिः साक्षाद्वैकुण्ठादेत्य मानवान् ।
श्रीमाधवस्वरूपेण नयेद्विष्णोः परं पदम् ॥ ५३ ॥
श्रुतिभिः परिपठ्यते सिताऽसितसरिद्वरे ।
तत्राप्लुताङ्गा ह्यमृतं भवन्तीति विनिश्चितम् ॥ ५४ ॥
शिवलोकाद्ब्रह्मलोकादुमालोकवरात्पुनः ।
कुमारलोकाद्वैकुण्ठात् सत्यलोकात्समन्ततः ॥ ५५ ॥

यमारुह्येति कल्पभेदाऽभिप्रायम् । यद्वा यमारुह्येति भगवदुदरस्थितस्य वटस्येन भगवता सह वटस्याऽभेदविवक्षया तथेत्युक्तम् ॥ ५१–५२ ।

परं पदं कैवल्यम् ॥ ५३ ।

तत्र प्रमाणमाह । श्रुतिभिरपि । तथा च श्रुतयः—सिताऽसिते सरिते यत्र संगमे तत्राप्लुता सोदिवमुत्पतन्तीत्याद्याः ॥ ५४ ।

वराच्छ्रेष्ठात् ॥ ५५ । यत्प्रयागाऽनिलानपि यश्चासौ प्रयागश्चेति यत्प्रयागः,

---

(प्राणियों को) मोक्षमार्ग का उपदेश स्वयं देते हैं, वहीं पर अक्षयवट भी है, जिसकी जड़ें सप्त पाताल पर्यन्त गई हैं और प्रलयकाल में भी जिसके अवलम्बन से मार्कण्डेय ऋषि निवास करते हैं, उसे वटरूपधारी साक्षात् हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) ही जानना चाहिए और उसके समीप में ब्राह्मणों को भोजन कराने से अक्षय पुण्यलाभ होता है, वहाँ पर साक्षात् लक्ष्मीपति वैकुण्ठधाम से आकर मनुष्यों को श्रीमाधवस्वरूप से विष्णु के परमपद (मोक्ष) को पहुँचाते हैं ॥ ५०–५३ ।

जिस प्रयाग के सम्बन्ध में वेदों ने भी यह कहा है कि सितासित (श्वेत-श्याम, गंगा-यमुना) दोनों नदियाँ जहाँ पर मिली हैं, वहाँ अवगाहन करने से निश्चय ही अमृतपद (मुक्ति) प्राप्त होती है" ॥ ५४ ।

शिवलोक, ब्रह्मलोक, उमालोक, महर्लोक, स्वर्गलोक, भुवर्लोक, भूलोक, नागलोक, अधिक क्या (कहें) समस्त ब्रह्माण्ड के चतुर्दिक् से प्रत्येक भुवनवासीगण,

तपोजनमहर्भ्यश्च सर्वे स्वर्लोकवासिनः।
भुवो लोकाच्च भूर्लोकान्नागलोकात्तथाऽखिलात् ॥ ५६ ।
अचला हिमवन्मुख्याः कल्पवृक्षादयो नगाः।
स्नातुं माघे समायान्ति प्रयागमरुणोदये ॥ ५७ ।
दिगङ्गनाः प्रार्थयन्ति यत्प्रयागानिलानपि ।
तेऽपि नः पावयिष्यन्ति किं कुर्मः पङ्गवो वयम् ॥ ५८ ।
अश्वमेधादियागाश्च प्रयागस्य रजः पुनः।
तुलितं ब्रह्मणा पूर्वं न ते तद्रजसा समाः ॥ ५९ ।
मज्जागतानि पापानि बहुजन्मार्जितान्यपि ।
प्रयागनामश्रवणात् क्षीयन्तेऽतीव विह्वलम् ॥ ६० ।
धर्मतीर्थमिदं सम्यगर्थतीर्थमिदं परम् ।
कामिकं तीर्थमेतच्च मोक्षतीर्थमिदं ध्रुवम् ॥ ६१ ।

तत्स्पर्शिनो यस्य प्रयागस्य सम्बन्धिनो वायूनपीत्यर्थः। किमिति प्रार्थयन्ति तत्राह। तेऽपीति। स्वयमेव तत्र किमिति न यान्ति, तत्राह ॥ ५८–५९।

मज्जागतानि अस्थिस्नाय्वोरन्तर्वर्तिस्वच्छं जलं मज्जा। अथवा अस्थ्यन्तर्गतो धातुर्मज्जा, तद्गतानीत्यर्थः ॥ ६०। कामिकं कामाय हितम् ॥ ६१।

हिमालय प्रभृति पर्वत, और कल्पद्रुमादि वृक्षगण, माघ मास के अरुणोदय-काल में स्नान करने के लिये प्रयाग में समागत होते हैं ॥ ५५–५७।

दिवङ्गना-गण, प्रयाग वायुओं की भी प्रार्थना करती और कहती है—"वे प्रयाग के वायु आकर क्या हम सबों को पवित्र करेंगे? क्या करें हम लोग तो पङ्गु (लूली) हैं ॥ ५८।

अश्वमेधादिक यज्ञ और प्रयाग की धूलि को ब्रह्मा ने पूर्व में तोला था; परन्तु वे सब यज्ञ उस धूलि के बराबर नहीं हुए ॥ ५९।

बहुजन्म-संचित अस्थि के अन्तर्गत भी पाप-पुञ्ज प्रयाग का नाम सुनते ही अत्यन्त विह्वल होकर क्षय होने लगते हैं ॥ ६०।

यह प्रयाग ही धर्मतीर्थ, अर्थतीर्थ, कामतीर्थ और मोक्षतीर्थ है—इस विषय में सन्देह नहीं है ॥ ६१।

ब्रह्महत्यादिपापानि तावद् गर्जन्ति देहिषु ।
यावन्मज्जन्ति नो माघे प्रयागे पापहारिणि ।। ६२ ।
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
एतद्यत्पठ्यते वेदे तत्प्रयागं पुनः पुनः ।। ६३ ।
सरस्वती रजोरूपा तमोरूपा कलिन्दजा ।
सत्त्वरूपा च गङ्गाऽत्र नयन्ति ब्रह्मनिर्गुणम् ।। ६४ ।
इयं वेणी हि निःश्रेणी ब्रह्मणो वर्त्म यास्यतः ।
जन्तोर्विशुद्धदेहस्य श्रद्धाऽश्रद्धाप्लुतस्य च ।। ६५ ।

गर्जन्ति देहिन इति शेषः ।। ६२ ।

तद्विष्णोरिति । विष्णोस्तत्प्रसिद्धं परमं पदं सच्चिदानन्दलक्षणं सदा सूरयो विद्वांसः पश्यन्ति, ऐक्येनानुभवन्ति, एतद्यत्पुनः पुनर्वेदे पठ्यते कथ्यते । प्रयत इति क्वचित्पाठः । तत्प्रयागं तत्प्राप्त्युपायत्वादिति ।। ६३ ।

सरस्वती रजोरूपा रजोगुणोपाधिहिरण्यगर्भरूपा । तमोरूपा तमोगुणोपाधिरुद्ररूपा । सत्त्वरूपा सत्त्वगुणोपाधिविष्णुरूपेत्यर्थः ।। ६४ ।

इयं वेणी । गङ्गायमुनयोः सम्भेदः । निःश्रेणी सोपानपरम्परा । श्रद्धाऽश्रद्धाप्लुतस्यास्तिक्यबुद्ध्या नास्तिक्यबुद्ध्या वा स्नातस्य चकाराद् बलात् स्नापितस्यापीत्यर्थः ।। ६५ ।

ब्रह्म-हत्यादिक पाप भी तभी तक शरीरधारियों को ग्रसते रहते हैं, जब तक वे कलुष-विभंजक प्रयागजल में माघ-स्नान नहीं कर (पा)ते ।। ६२ ।

"विष्णु के उस परम पद को ज्ञानीगण सदा देखते हैं"। इस अभिप्राय का सूचक जो मन्त्र वेदों में बारम्बार पढ़ा जाता है, उसका तात्पर्य प्रयाग ही (से) है ।। ६३ ।

(क्यों न हो) रजोगुणरूपा सरस्वती, तमोगुणाधिका यमुना और सत्त्वगुणमयी गंगा—ये तीनों जहाँ निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त कराती हैं, वही त्रिवेणी चाहे श्रद्धापूर्वक अथवा अश्रद्धा से ही (क्यों न हो) एकबार गोता मार (लेने से) प्राणिमात्र को शुद्ध शरीर कर ब्रह्ममार्ग की प्राप्ति की सीढ़ी हो जाती हैं ।। ६४–६५ ।

काशीति काचिदबला भुवनेषु रूढा लोलार्ककेशवविलोलविलोचना च ।
तद्दोर्युगं च वरणासिरियं तदीया वेणीति याऽत्रगदिताऽक्षयशर्मभूमिः ॥६६।

अगस्तिरुवाच—

सुधर्मिणि गुणांस्तस्य कोऽत्र वर्णयितुं क्षमः ।
तीर्थराजप्रयागस्य तीर्थैः संसेवितस्य च ॥ ६७ ।

इदानीं प्रयागमारभ्य काश्याः सीमानं वदन् स्त्रीरूपाकारेण काशीं निरूपयति । काशीति । काशीति काचिदबलाऽस्तीति शेषः । काचिदनिर्वचनीयगुणगणेत्यर्थः । इयं याऽत्र प्रयागे गदिता कथिता वेणीत्वेनेति शेषः । सा तदीया काशी सम्बन्धिनी वेणी प्रवेणी प्रोषितभर्तृकादिभिर्या निबध्यत इत्यर्थः । **'वेणिप्रवेणी शीर्षण्यशिरस्यौ विशदे कचे'** इत्यमरः । कथम्भूता ? भुवनेषु लोकेषु रूढा प्रख्याता । लोलार्ककेशवावेव विलोले चञ्चले लोचने यस्याः, सा तथा । तस्या हस्तयुगलं च वरणानदी असिश्च । अक्षयशर्मभूमिः, अक्षयं यत्सुखं ब्रह्मानन्दैकलक्षणम्, तस्य भूमिरधिष्ठानम् । तथा च **वामनपुराणे** महेश्वरं प्रति हरेर्वचनम्—

महेश्वर शृणुष्वेमां मम वाचं कलस्वनाम् ।
ब्रह्महत्याक्षयकरीं शुभदां पुण्यवर्द्धनीम् ॥
योऽसौ प्राङ्मण्डले पुण्ये मदंशप्रभवोऽव्ययः ।
प्रयागे वसते नित्यं योगशायीति विश्रुतः ॥
चरणाद्दक्षिणात्तस्य विनिर्याता सरिद्वरा ।
विश्रुता वरणेत्येव सर्वपापहरा शुभा ॥
सव्यादन्याद्द्वितीया च असिरित्येव विश्रुता ।
ते उभे सरितां श्रेष्ठे लोकपूज्ये बभूवतुः ॥
तयोर्मध्ये तु यो देशस्तत् क्षेत्रं योगशायिनः ।
त्रैलोक्यप्रवरं तीर्थं सर्वपापप्रमोचनम् ॥
न तादृशोऽस्ति गगने भूम्यां न च रसातले ।
तत्रास्ति नगरी पुण्या ख्याता वाराणसी शुभा ॥
यस्यां हि भोगिनो नाशे प्रयान्ति भवतो लयम् ॥ इति ॥ ६६ ।

प्रयागमाहात्म्यमुपसंहरति । सुधर्मिणीति द्वयेन । शोभना धर्माः पातिव्रत्यादि-

---

काशी नाम्नी एक कोई स्त्री त्रैलोक्य में विदित है, जिसके लोलार्क और केशव दोनों चंचल नयन हैं, वरुणा और असी ये दोनों नदियाँ उसके बाहु-युगल हैं और यह त्रिवेणी जो कही गयी है, यही अक्षय सुखप्रदात्री उसकी वेणी (चोटी) है ॥ ६६ ।

अगस्त्य मुनि आगे कहने लगे—

हे सुधर्मिणि ! समस्त तीर्थों द्वारा संसेवित तीर्थराज प्रयाग की गुणावलि का

पापिनां यानि पापानि प्रसह्य क्षालितान्यहो ।
तच्छुद्धयै सेव्यते तीर्थैः प्रयागमधिकं ततः ।। ६८ ।

प्रयागस्य गुणान् ज्ञात्वा शिवशर्मा द्विजः सुधी ।
तत्र माघमुषित्वाऽथ प्राप वाराणसीं पुरीम् ।। ६९ ।

प्रवेश एव संवीक्ष्य सदेहलिविनायकम् ।
अन्वलिम्पत्ततो भक्त्या साज्यसिन्दूरकर्दमैः ।। ७० ।

निवेद्य मोदकान् पञ्च वञ्चयन्तं निजं जनम् ।
महोपसर्गवर्गेभ्यस्ततोऽन्तः क्षेत्रमाविशत् ।। ७१ ।

लक्षणा यस्याः सा । सधर्मिणीति क्वचित्पाठः ।। ६७ ।

तच्छुद्धयै तेषां पापानां शुद्धयै नाशाय ।। अहो हे कान्ते ।। ६८ ।

प्रवेशेति । क्षेत्रप्रवेशसमय एव स शिवशर्मा देहलिविनायकं वीक्ष्य प्रथमतः पञ्चमोदकान्निवेद्य, ततः पश्चात् साज्यसिन्दूरपङ्कैरन्वलिम्पल्लिप्तवानिति द्वयोरन्वयः । कथंभूतं विनायकम् ? महोपसर्गवर्गेभ्यो महाविघ्नसमूहेभ्यो निजं जनं भक्तं वञ्चयन्तं गोपायन्तमित्यर्थः ।। ७० ।

निवेद्येति पूर्वस्मिन् श्लोकेऽन्वयः ।। ७१ ।

संसार में कौन वर्णन कर सकता है ? ।। ६७ ।

पापी लोगों के निखिल पाप, जो दूसरे तीर्थों में बलात् प्रक्षालित होते हैं, विशेष करके इसीलिए सब तीर्थ अपने संचित पापों को दूर करने के लिये प्रयाग का सेवन करते हैं ।। ६८ ।

वह सुबुद्धि ब्राह्मण प्रयाग के (पूर्व उक्त) गुणों को विचारकर वहाँ माघ मासपर्यन्त निवासकर वाराणसी पुरी को प्राप्त हुआ ।। ६९ ।

काशी में प्रवेश करते ही उसने देहली विनायक (गणेश) का दर्शनकर भक्तिपूर्वक घृताक्त सिंदूर से उनको अनुलिप्त किया ।। ७० ।

बड़े-बड़े उपद्रववर्ग से अपने भक्तजनों की रक्षा करनेवाले गणेश को पाँच मोदक (लड्डू) निवेदन कर (पाँच मोदक का नैवेद्य लगाकर) तदनन्तर क्षेत्र के भीतर शिवशर्मा ने प्रवेश किया ।। ७१ ।

आगत्य दृष्ट्वा मणिकर्णिकायामुदग्वहां स्वर्गतरङ्गिणीं सः।
संक्षीणपुण्येतरपुण्यकर्मणां नृणां गणैः स्थाणुगणैरिवावृताम् ॥ ७२ ।
सचैलमाप्लुत्य जलेऽमलेऽविलम्बमालम्बितशुद्धबुद्धिः ।
सन्तर्प्य देवर्षिमनुष्यदिव्यपितॄन् पितॄन् स्वान् स हि कर्मकाण्डवित् ॥७३।
विधाय च द्राक् स हि पञ्चतीर्थिकां विश्वेशमाराध्य ततो यथास्वम् ।
पुनः पुनर्वीक्ष्य पुरीं पुरारेरिदं यमालोकि न वेति विस्मितः ॥ ७४ ।

आगत्येति। स शिवशर्मा मणिकर्णिकायामागत्य उदग्वहामुत्तरवाहिनीं स्वर्गतरङ्गिणीं स्वर्नदीं दृष्ट्वा विस्मितो बभूवेति शेष इति तृतीयश्लोकेनान्वयः। किमाकारो विस्मयस्तमाह—मया इदमविमुक्तमालोकि दृष्टं न वेति। कथम्भूतां स्वर्नदीम्? संक्षीणानि पुण्येतराणि पापानि पुण्यानि च कर्माणि येषां तेषां नृणां गणैरावृताम्। कैरिव? स्थाणुगणैरिव। स्थाणोः श्रीरुद्रस्य, ये गणाः रुद्ररूपा वा गणास्तैरिवेति ॥ ७२।

किं कृत्वा सचैलमाप्लुत्य सवस्त्रं निमज्ज्य। कुत्र? जले। कथम्भूते? न विद्यतेऽविद्यातत्कार्यलक्षणो मलो यस्मात्तस्मिन् मणिकर्णिक इत्यर्थः। तदुक्तम्—

यस्यामधोमज्जनमूर्ध्वगत्यै यत्पङ्कलेपो विमलत्वसिद्धयै।
यद्वारि संसारतरोः प्रशान्त्यै नमोऽस्तु तस्यै मणिकर्णिकायै ॥ इति।

हे अमले शुद्धान्तःकरणे! अमल इति पाठे निष्पाप इत्यर्थः। अविलम्बितं यथा स्यात्, आलम्बितशुद्धबुद्धिः आलम्बिता शुद्धा बुद्धिर्येन स तथा। पुनः किं कृत्वा? सन्तर्प्य प्रीणयित्वा। कान् देवान्? देवाश्च ब्रह्मादयः, ऋषयश्च मधुछन्द आदयः, मनुष्याश्च सनकादयः, दिव्यपितरश्च कव्यवाडादयस्तान् स्वान् पितॄंश्च स्वदेहजनकादीन्। पूर्वोक्तानुष्ठाने तस्य क्रियाकाण्डवेत्तृत्वं हेतुमाह। स हीति ॥ ७३।

हि यस्मात्। द्राग् झटिति। प्रागिनि क्वचित्पाठः। पुनः किं कृत्वा? पञ्चतीर्थिकां वरणासिसम्भेदपञ्चनदमणिकर्णिकादशाश्वमेधात्मिकां विधाय। एतेषु पञ्चसु स्नानादिकं कृत्वेत्यर्थः। आदित्यादिरूपां वा। यथा स्वं स्वं धनमनतिक्रम्य वित्तशाठ्यमकृत्वेति यावत्। विस्मयप्रकारमाह। इदं मयालोकि न वेति। इदमविमुक्तपुरं न वा ॥ ७४।

मणिकर्णिका पर आकर, उत्तर वाहिनी स्वर्गतरंगिणी को जो शिवगण के समान पाप और पुण्य कर्म से रहित लोगों से भरी हुई थी, उसे देखा ॥ ७२।

हे निर्मलचित्ते! गृहीत शुद्ध बुद्धि शिवशर्मा ने सचैल उस निर्मल (गंगा) जल में स्नान कर, देव, ऋषि, मनुष्य, दिव्य-पितर और निज पितृ-पितामहादि पितृगण का तर्पण किया, फिर वह कर्मकाण्डवेत्ता ब्राह्मण प्रथम पंचतीर्थी यात्रा और यथाविभव श्रीविश्वेश्वर की आराधना कर बारम्बार त्रिपुरान्तक भगवान् की राजधानी काशीपुरी को देख, "इस स्थान को मैंने कभी देखा है या नहीं" यही विचारता हुआ विस्मित होने लगा ॥ ७३-७४।

न स्वः पुरी सात्वनया पुरा समं समञ्जसापि प्रतिसाम्यमावहेत् ।
प्रबन्धभेदाद् व्यतिरिक्तपुस्तकप्रतिर्यथा सल्लिपिभेदभङ्गतः ॥ ७५ ।

पश्चादवलोकितमिति निर्धार्य काशीं वर्णयति । **न स्वः पुरीत्यष्टभिः** । सा स्वः पुरी अमरावती तु निश्चितमनया काश्याः पुर्याः समं सार्धं समञ्जसापि सम्यक् तत्त्वदृशा विचारेणापि अपिशब्दाद् व्यवहारदृशा विचारेणापि प्रतिसाम्यं समस्य भावः साम्यं साम्यं साम्यं प्रति प्रति साम्यं न आवहेत् नाप्नुयादित्यन्वयः । उभयदृशा विचारे साम्याभावप्रदर्शनार्थं वीप्सान्तर्गभितप्रतिसाम्यशब्दप्रयोगः ।

उभयदृशाविचारेण साम्याभावाय तन्त्रेण उभयनिष्ठहेतुमाह । **प्रबन्धभेदादिति** । प्रबन्धनं प्रबन्धो रचना, परिपाटी, तस्य भेदात् । अमरावती हि ब्रह्मणा प्रतिदिनं रच्यते, इयन्तु सकृदेवेति । तत्रापि सा ब्रह्मणा रच्यते, इयन्तु स्वयमीश्वरेण । सा च क्षुद्ररत्ननिचयखचिताल्पोत्सेधा चेयं चानर्घ्यरत्नप्रचयनिर्मिता गगनोत्सेधा च । अथवा प्रबन्धभेदात् प्रबन्धयोर्भेदात् । स्वः पुर्यां स्थितानां हि प्रकृष्टो बन्धः प्रबन्धः, पुनः पुनर्जन्ममरणादिरूपः संसारः स्यात्, काश्यां स्थितानां तु प्रगतो बन्धः प्रबन्धो भवेदित्येवं प्रबन्धयोर्भेदादित्यर्थः । अथवा प्रकृष्टो बन्धः प्रबन्धः, तस्य भेदाद् बाहुल्यादमरावतीस्थितानां प्रकृष्टो बन्धः प्रबन्धस्तस्य भेदाद् विदारणात् काशीस्थानामित्यर्थः । अमरावती काश्याः साम्यं नैव आवहेदित्यत्र दृष्टान्तमाह ।

व्यतिरिक्तपुस्तकेति । अयमर्थः—सर्वस्मादविद्यातत्कार्यादतिरिच्यत इत्यतिरिक्तं ब्रह्मविगतमतिरिक्तं प्रतिपाद्यत्वेन यत्र तद् व्यतिरिक्तम् अनात्मशास्त्रम्, तच्च तत्पुस्तकं चेति व्यतिरिक्तपुस्तकम्, तेन सह या प्रतिः प्रतिपुस्तिका वात्सायनादिप्रणीतिर्यामिप-जीव्यकामादिशास्त्रं प्रवृत्तम्,. तच्च तत्पुस्तकं किञ्चिदनात्मशास्त्रजातमित्यर्थः । सा यथा सद्ब्रह्म **'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'** (गी० १७।२३) इति स्मृतेस्तस्य लिपिस्तत्प्रतिपादिका लिपिर्यत्र तत्सल्लिपि अध्यात्मशास्त्रम्, तच्च तद्भिद्यत इति भेदो नानाप्रकारश्च तस्य भङ्गतो भङ्गेन खण्डेन भागेनेति यावत् । साम्यं नावहेत्तद्वदिति । सल्लिपिभेदभङ्गित इति पाठे सती सद्विषया चासौ लिपिश्चेति सल्लिपिस्तस्या भेदो नानात्वम्, तस्य भङ्गो भाग एकदेश इति यावत् । स वर्तते यस्य तेन शास्त्रेणेति व्याख्येयम् । उभयपक्षेऽपि तृतीयान्तात् तसिल् ।

वाराणसी को देखकर शिवशर्मा कहने लगा—क्या तत्त्व विचार, क्या व्यवहार, चाहे किसी भी प्रकार से हो, पर स्वर्गपुरी काशी की समता (बराबरी) नहीं कर सकती । करेगी कैसे ? स्वर्गपुरी तो विधाता की सृष्टि है, और काशी स्वयं ईश्वर की ही सृष्टि है । सामान्य मणिरत्नों से स्वर्ग की रचना हुई है और अत्यन्त बहुमूल्य रत्नावलियों से काशी का निर्माण हुआ है । स्वर्ग में नानाविध भव बन्धन हैं; पर काशी में वह सब कुछ भी नहीं है । तब फिर काशी की समता स्वर्गपुरी से कैसे की जाय ?

पयोऽपि यत्रत्यमचिन्त्यवैभवं दिवि स्थिता साधु [1]सुधाप्यते मुधा।
तथा प्रसूतेस्तु पयोधरे पयो न पीयते पीतमिदं यदि क्वचित् ॥ ७६ ।

अथवा सल्लिपिभेदभञ्जत इति तन्त्रेणोच्चरितत्वात् काशीनिष्ठद्वितीयहेतुपर-तयापि व्याकर्तव्यम्। सतो लिपिः सल्लिपिः, विधात्रा ललाटे लिखितेति यावत्। तदुक्तम्—

ललाटे लिखितं यत्र षष्ठीजागरवासरे।
नो हरिः शङ्करो ब्रह्मा ह्यन्यथा कर्तुमर्हति ॥ इति ।

चित्रगुप्तलिखिता वा तस्याभेदभञ्जतो विशेषभञ्जनात् प्रारब्धातिरिक्ताया लिपेर्नाशकत्वादित्यर्थः। सन् यो लिपिभेदस्तस्य भञ्जत इति वा। पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः। स्वस्त्वनयेति क्वचित्पाठः। स्वर्गतयेति क्वचित्, स चिन्त्यः। प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् ॥ ७५ ।

पयोऽपीति। यत्रत्यं यत्र काश्यां भवं यत्रत्यं काशीस्थमित्यर्थः। पयोऽप्यचिन्त्य-वैभवम्, अपिः समुच्चये। **'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि'** इत्यमरः। न केवलं स्थलम्, अचिन्त्यवैभवं जलमपीत्यर्थः। न चिन्त्यं तर्कयितुं योग्यं वैभवं कैवल्य-दानसामर्थ्यं यस्य तत्तथा। तथा चोक्तम्—**'गङ्गायाञ्च जले मोक्षो वाराणस्यां जले स्थले'** इति। अतो दिवि स्थिताया सुधाऽमृतं सा साधु यथा स्यान्मुधा व्यर्थम् आप्यते प्राप्यत इत्यर्थः। दिविस्थितैरिति पाठे आप्यते पीयत इत्यर्थः। उभयत्र हेतुमाह। इदं पयो यदि क्वचित् कदाचित् पीतं स्यात्, तदा प्रसूतेर्जनन्याः पयोधरे यत्पयः स्तन्यम्, तथा न पीयते। तु शब्दो यथाशब्दार्थे। पीतामृतैः पानानन्तरं जन्मलब्धा यथा पीयते, तथा नेत्यर्थः। प्रसूतोच्चपयोधर इति क्वचित्पाठः। तदा प्रकर्षेण सूत इति प्रसूता मातेति व्याख्येयम्। उच्चपयोधर इत्यनेनोच्चस्तनस्य कठिनत्वात् पाने दुःखाधिक्य-मिति सूचितम् ॥ ७६ ।

असत् शास्त्र और ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्र में जैसा भेद है, वैसा ही काशी और स्वर्ग में भी है। चित्रगुप्त की लिखी हुई ललाट की लिपि को भी काशी ही खण्डित करती है; क्योंकि यहाँ पुनर्जन्म नहीं होने पाता ॥ ७५ ।

इस काशी के जल की शक्ति भी अचिन्तनीय है। स्वर्ग में देवगण जिस अमृत का पान करते हैं, वह तो व्यर्थ ही है; क्योंकि काशी का जल एक बार भी पी लेने से फिर माता के स्तन का दुग्ध नहीं पीना पड़ता (अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता); किन्तु अमृतपान से तो यह फल नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ७६ ।

१. सुधामुधाप्यत इति क्वचित्पाठः ।

अनामयाश्चिन्तनयानयेशितुर्जना मनागत्र विना पिनाकिना ।
न कर्मसत्कर्मकृतोऽपि कुर्वतेऽनुकुर्वते शर्वगणांश्च सर्वतः ।। ७७ ।
न वर्ण्यते कैः किल काशिकेयं जन्तोः स्थितस्यात्र यतोऽन्तकाले ।
पचेलिमैः प्राकृतपुण्यभारैरोङ्कारमोङ्कारयतीन्दुमौलिः ।। ७८ ।
संसारिचिन्तामणिरत्र यस्मात्तं तारकं सज्जनकर्णिकायाम् ।
शिवोऽभिधत्ते सहसाऽन्तकाले तद्गीयतेऽसौ मणिकर्णिकेति ।। ७९ ।

अनामया इति। यत्र काश्यां जना लोकाः नयेशितुर्नीतिशास्त्रोपदेष्टुर्नीयते प्राप्यते सर्वोऽर्थोऽनेनेति नयो वेदस्तस्येशितुस्तत्प्रवर्त्तकस्य शास्त्रयोनेरिति वा चिन्तनया-शुभानुध्यानेनानामयास्त्रिविधतापरहिताः सत्कर्मकृतः सत्कर्मकुर्वाणा एव पिनाकिना विना विश्वेश्वरं विना कर्म मनागल्पमपि न कुर्वते; किन्तु विश्वनाथार्पणेनैव कुर्वन्तीत्यर्थः। अत एव सर्वतः सर्वप्रकारेण शर्वगणान् शर्वस्येश्वरस्य गणान्नन्दिभृङ्गिप्रमुखाननुकुर्वतेऽनुकुर्वन्तीति, तैस्तुल्या भवन्तीत्यर्थः। सर्वगणांश्चेति पाठेऽपि स एवार्थः। यद्वा सर्वे च ते गणाश्चार्थादीश्वरस्येति। न्यक्कुर्वत इति क्वचित्पाठः। तत्र तेषां गणानां सत्कर्माभावात् प्रत्युत निषिद्धाचरणाच्च न्यक्कुर्वते। तिरस्कुर्वत इवेति व्याख्येयम् ॥ ७७ ।

न वर्ण्यत इति। इयं काशिका। किलेति प्रसिद्धौ। कैर्न वर्ण्यते स्तूयते; अपि तु सर्वैरेवेत्यर्थः। तत्र हेतुमाह। यतो यस्मादन्तकाले पचेलिमैः फलदानोन्मुखैः प्राक्तनपुण्यभारैः प्राचीनपुण्यनिचयैर्हेतुभिरत्र स्थितस्य जन्तोः प्राणिमात्रस्य इन्दुमौलिश्चन्द्रशेखरः ओंकारं प्रणवम्, **ओंकारयति** स्वीकारयति उपदिशतीत्यर्थः ॥ ७८ ।

मणिकर्णिका नाम व्युत्पादयन् तस्या अतिश्रेष्ठतामाह। **संसारिचिन्तेति**। तत्तस्मादसौ मणिकर्णिकेति गीयत इत्यन्वयः। तस्मात्कस्मात् ? यस्मात् संसारिणां प्राणिनां चिन्तामणिरिव चिन्तामणिर्विश्वनाथः सर्वपुरुषार्थप्रदत्वाच्छिवः कल्याणरूपं तत्तारकं प्रसिद्धमोंकारं **षडक्षरं राममन्त्रराजं** वा अन्तकाले सज्जनकर्णिकायामत्र म्रियमाणस्य दक्षिणकर्णेऽभिधत्ते, कथयतीत्यर्थः। तत्र श्रुतिरुक्तैव। संसारचिन्तामणिरिति क्वचित्पाठः।

नीतिप्रवर्तक महादेव के चिंतन द्वारा त्रिविध ताप से रहित सत्कर्मकर्ता गण इस काशी में स्वल्प सत्कर्मों को भी विश्वेश्वर को विना समर्पण किये कोई कार्य नहीं करते, अतः वे सब लोग शिव के परिषद् नन्दी, भृंगी आदि के सदृश सद्यः (सर्वतोरूप से तत्काल) हो जाते हैं ॥ ७७ ।

फलदानोन्मुख प्राक्तन पुण्यभार के बल से इस काशी में स्थित प्राणियों को अन्तकाल में स्वयं चन्द्रशेखर महादेव 'प्रणव' का उपदेश करते हैं। अतएव इस काशी की महिमा कौन नहीं (जानता) करता ? ॥ ७८ ।

संसारियों के चिन्तामणिरूप भगवान् शिव मरणकाल में अत्रस्थ लोगों के

मुक्तिलक्ष्मीमहापीठमणिस्तच्चरणाब्जयोः ।
कर्णिकेयं ततः प्राहुर्यां जना मणिकर्णिकाम् ॥ ८० ॥
जरायुजाण्डजोद्भिज्जाः स्वेदजा ह्यत्र वासिनः ।
न समा मोक्षभाजस्ते त्रिदशैर्मुक्तिदुर्दशैः ॥ ८१ ॥

तदा सम्यक् सारः सरणं येषां ते, संसाराः, संसारिण इत्यर्थः। जीवानां संसारचिन्ता-मणिरित्यध्याहारो वा ॥ ७९ ॥

प्रकारान्तरेण मणिकर्णिकाशब्दव्युत्पत्तिमाह। **मुक्तिलक्ष्मीति**। ततो जना यां मणिकर्णिकां प्राहुः, साऽसावित्यध्याहृत्य योजना। ततः कुतः? यतो मुक्तिलक्ष्मी-र्मोक्षलक्ष्मीः, तस्या महापीठं महत्सिंहासनं महत्स्थानं वा तद्रूपो मणिः, सर्वोत्कृष्टत्वान्मणि-रिव मणिः। यद्वा मुक्तिलक्ष्म्या महापीठानि महास्थानान्ययोध्यादीनि मणिकर्णिकास्थलं विहाय काश्यां तानि तेषु मणिरिव मणिः सर्वोत्कृष्टा इयं स्थली। **सायुज्यमुक्तिर्मणि-कर्णिकायामित्युक्तेः**।

यद्वा मुक्तिलक्ष्मी महापीठेषु मणिरिव मणिः काशी। अन्यानि पुण्यक्षेत्राणि काशी प्राप्तिकराणीत्युक्तेः। सा च तस्यां मुक्तिलक्ष्मीमहापीठमणौ काश्यां वा तच्चरणा-ब्जयोस्तस्या मोक्षलक्ष्म्याश्चरणाब्जयोः पादपद्मयोः कर्णिका चेयं तेन मणिकर्णिकां प्राहु-रित्यर्थः। किन्त्वन्तिमपक्षे अध्याहृत्य योजना सोढव्या ॥ ८० ॥

जरायुजा मनुष्यादयः, **अण्डजाः** पक्ष्यादयः, **उद्भिज्जास्तरवः**, स्वेदजा मत्कुणा-दयोऽत्र वासिन एते त्रिदशैर्देवैः समा न भवन्ति; किन्तु तेभ्योऽधिका इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह। **मोक्षभाजस्त** इति। देवैः कीदृशैः? मुक्तिदुर्दशैर्मुक्तिर्दुर्दशा दुष्प्रापदशा येषां ते, तथा तैः ॥ ८१ ॥

कर्णिका (कान) में सहसा तारक ब्रह्म का उपदेश करते हैं। इसीलिए यह मणिकर्णिका कहलाती है ॥ ७९ ॥

यह स्थान मोक्ष-लक्ष्मी के महापीठ काशी में मणिस्वरूप है एवं मोक्ष-लक्ष्मी के चरण-कमल की कर्णिका है। अतः लोग इसे मणिकर्णिका कहते हैं ॥ ८० ॥

इस पुरी के निवासी जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज प्राणिगण भी देवताओं की अपेक्षा अच्छे हैं; क्योंकि इन सबों की मुक्ति हाथ पर रहती है और देवगण मुक्ति-लाभ से वंचित रहते हैं ॥ ८१ ॥

मम जन्म वृथा जातं दुर्वृत्तस्य जडात्मनः ।
नाद्य यावन्मयेक्षिष्ट काशिका मुक्तिकाशिका ।। ८२ ।
पुनः पुनश्च तत्क्षेत्रमतिथीकृत्य नेत्रयोः ।
विचित्रञ्च पवित्रञ्च तृप्तिं नाधिजगाम ह ।। ८३ ।
सप्तानाञ्च पुरीणां हि धुरीणामवयाम्यहम् ।
वाराणसीं सुनिर्वाणविश्राणनविचक्षणाम् ।। ८४ ।
तथापि न चतस्रोऽन्या मया दृग्गोचरी कृताः ।
तासां प्रभावं विज्ञायाप्यागमिष्याम्यहं पुनः ।। ८५ ।
तीर्थयात्रां प्रतिदिनं कुर्वन्नूनं सवत्सरम् ।
न प्राप सर्वतीर्थानि तीर्थं काश्यां तिले तिले ।। ८६ ।

काशीं दृष्ट्वा एतावान् कालो मम वृथा यात इत्यनुतपति । **मम जन्मेति**। यावन्मया काशिका नैक्षिष्ट, नैक्षि, नादर्शीति यावत्, तावन्मम जन्म वृथा जातमित्यन्वयः । कथम्भूतस्य ? दुर्वृत्तस्य दुश्चेष्टितस्य जडात्मनोऽज्ञस्य । काशिका कथम्भूता ? **मुक्तिकाशिका** कैवल्यप्रकाशिका ।। ८२ ।

पुनः पुनरिति व्यासोक्तिः । अतिथीकृत्य विषयीकृत्य । तृप्तिमलं बुद्धिम् ।। ८३ ।

काशीं प्राप्याप्यवन्त्याद्याश्चतस्रो द्रष्टुं विमृशति । सप्तानाञ्चेति द्वयेन । धुरीणां श्रेष्ठाम् । अवयामि जानामि । सुनिर्वाणविश्राणनविचक्षणां सुष्ठु निर्वाणं सायुज्यं कैवल्यमित्यर्थः । तस्य यद् विश्राणनं वितरणमर्थाज्जीवानां तत्र विचक्षणां निपुणां समर्थामित्यर्थः ।। ८४ ।

एवञ्चेत्तर्हि अलमन्यत्र गमनेनेति स्वयमाशङ्क्याह । **तथापीति** ।। ८५ ।

तिले तिले तिलपरिमितभूप्रदेशे तीर्थं यतोऽस्तीति शेषः ।। ८६ ।

मैं बड़ा दुष्कर्मा और जडबुद्धि हूँ । इतने दिनों तक मेरा जीवन व्यर्थ हो गया, जो मुक्ति-प्रकाशिका काशिका का दर्शन नहीं किया ।। ८२ ।

शिवशर्मा उस विचित्र पवित्र क्षेत्र को बार-बार नेत्र-गोचर करते रहने पर भी तृप्ति-लाभ नहीं कर सका ।। ८३ ।

उसने अपने चित्त में स्थिर किया कि यद्यपि सर्वोत्कृष्ट निर्वाणपद (मुक्ति) को देने वाली वाराणसी ही सातों पुरियों में परम श्रेष्ठ है, यह मैं जानता हूँ; परन्तु अन्य चार पुरियों को अब तक मैंने नहीं देखा, उन सबों का भी प्रभाव समझ कर तब फिर मैं यहाँ चला आऊँगा ।। ८४–८५ ।

वह ब्राह्मण एक वर्ष तक प्रतिदिन तीर्थ-यात्रा करते रहने पर भी काशी के समस्त तीर्थों में नहीं पहुँच सका; क्योंकि काशी में तिल-तिल पर तीर्थ विराजमान हैं ।।८६।

अगस्तिरुवाच—

जानन्नपि गुणान् देवि क्षेत्रस्यास्य परान् द्विजः ।
नानाप्रमाणैः प्रवणो निरगात् स तथाप्यहो ॥ ८७ ।
किं कुर्वन्ति हि शास्त्राणि सप्रमाणानि सुन्दरि ।
महामायां भवित्रीं तां को निवारयितुं क्षमः ॥ ८८ ।
कः समुच्चलितं चेतस्तोयं वासं प्रतीपयेत् ।
प्रोच्चस्थानस्थितमपि स्वभावो यच्चलस्तयोः ॥ ८९ ।
शिवशर्मा व्रजन् सोऽथ देशाद्देशान्तरं क्रमात् ।
महाकालपुरीं प्राप कलिकालविवर्जिताम् ॥ ९० ।

जानन्निति। स शिवशर्मा नानाप्रमाणैः क्षेत्रस्य गुणान् जानन्नपि निरगात् निर्गतः, काश्या इत्यर्थः। प्रमाणैः काश्या गुणज्ञाने हेतुमाह। **प्रणव इति**। अन्तर्निष्ठ इत्यर्थः ॥ ८७ ।

तत्र भवितव्यरूपां मायां हेतूकरोति किं कुर्वन्तीति ? हीति निश्चये ॥ ८८ ।

संक्षुभितचित्तस्यापि तत्र कारणत्वमाह। कः समुच्चलितमिति। कः पुरुषः प्रोच्चस्थानस्थितं प्रोत्कृष्टस्थानस्थितमपि चित्तं प्रतीपयेत् प्रतिकूलयेन्निवर्तयेदित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह। तोयं वेति। वेत्युपमायाम्। उभयत्र निवर्तनाभावे हेतुमाह। स्वभावो यच्चलस्तयोरिति। यद्यतः। चलश्चञ्चलः। स्वभावो वेति पाठे यत इत्यर्थे वाशब्दः ॥ ८९ ।

महाकालपुरीं महाकालस्य पुरीम्। कलिकालविवर्जितां कलिकालाभ्यामस्पृष्टाम् ॥ ९० ।

अगस्त्य मुनि बोले—

देवि ! लोपामुद्रे ! कैसा आश्चर्य है, शिवशर्मा अनेक प्रमाणों से काशी-क्षेत्र की महिमा जानकर और अन्तर्निष्ठ होने पर भी निकल ही गया ॥ ८७ ।

हे सुन्दरि ! सप्रमाण शास्त्र क्या करें, महामाया भवितव्यता का कौन निवारण कर सकता है ? ॥ ८८ ।

उच्चलित चित्त और जल को विपरीत पथ से कौन चला सकता है ? क्योंकि ऊँचे स्थान में स्थित होने पर भी उन दोनों का स्वभाव तो चंचल ही रहता है ॥ ८९ ।

तदनन्तर शिवशर्मा क्रमशः देश-देशान्तरों में भ्रमण करता हुआ, कलिकाल से

कल्पे कल्पेऽखिलं विश्वं कालयेद्यः स्वलीलया ।
तं कालं कलयित्वा यो महाकालोऽभवत् किल ।। ९१ ।
पापादवन्ती सा विश्वमवन्तीति निगद्यते ।
युगे युगेऽन्यनाम्नी सा कलावुज्जयिनीति च ।। ९२ ।
विपन्नो यत्र वै जन्तुः प्राप्यापि शवतां स्फुटम् ।
न पूतिगन्धमाप्नोति समुच्छूयति न क्वचित् ।। ९३ ।
यमदूता न यस्यां हि प्रविशन्ति कदाचन ।
परः कोटीनि लिङ्गानि तस्यां सन्ति पदे पदे ।। ९४ ।

महाकालनाम निर्वक्ति । **कल्पे कल्प इति** श्लोकेन । **कलयेत्** भक्षयेत् । कालयित्वा भक्षयित्वा । **'स कालकाल ईश्वरोऽग्रसत्'** इति श्रुतेः । **'कालमूषकभक्षकः'** इति स्मृतेश्च । तस्य पुरीमिति पूर्वेणैवान्वयः ।। ९१ ।

तस्या एव नामान्तरं निर्वक्ति । **पापादिति** । सा महाकालपुरी । कलौ तस्या नामान्तरमाह । **युगे युग इति** । **उज्जयिनीति** । कल्पे कल्पे इति क्वचित्पाठः । तदुक्तम्—

प्राक्कल्पे सुवर्णश्रृङ्गा द्वितीये च कुशस्थली ।
तृतीयेऽवन्तिनी प्रोक्ता चतुर्थे चामरावती ।।
पञ्चमे चूडामणिः प्रोक्ता षष्ठे पद्मावती स्मृता ।
सप्तमे चोज्जयिनी पुरीति ।। ९२ ।

न समुच्छ्रयति उच्छूनतां न गच्छतीत्यर्थः ।। ९३ ।

परः कोटिनि कोटिभ्यः पराणि असङ्ख्यातानीत्यर्थः ।। ९४ ।

रहित महाकालपुरी में जा पहुँचा, जो कल्प-कल्प में अपनी लीला से अखिल ब्रह्माण्ड को लय करता है, उस काल का भी लय करनेवाले महादेव का नाम महाकाल पड़ा है ।। ९०–९१ ।

पाप से परित्राण करने के कारण उस नगरी का नाम **अवन्ती** कहा जाता है । युग-युग में महाकालपुरी का नाम परिवर्तित होने (बदल जाने) से कलियुग में वह **उज्जयिनी** कहलाती है, जिस उज्जयिनी में प्राणी मृत्यु के अनन्तर शव (मुर्दा) होने पर भी न तो दुर्गंध को प्राप्त होता है और न ही सड़ता है तथा उसमें यमदूत कभी प्रवेश नहीं करते और वहाँ पर (उस पुरी में) करोड़ों शिवलिंग पद-पद पर विद्यमान हैं ।। ९२–९४ ।

हाटकेशो महाकालस्तारकेशस्तथैव च ।
एकं लिंगं त्रिधा भूत्वा त्रिलोकीं व्याप्य संस्थितम् ॥९५॥
ज्योतिः सिद्धवटे ज्योतिस्ते पश्यन्तीह ये द्विजाः ।
अथवा श्रीमहाकालद्रष्टारः पुण्यराशयः ॥ ९६ ॥
महाकालस्य तल्लिङ्गं यैर्दृष्टं कष्टिभिः क्वचित् ।
न स्पृष्टास्ते महापापैर्न दृष्टास्ते यमोद्भटैः ॥ ९७ ॥
महाकालपताकाग्रैः स्पृष्टपृष्ठास्तुरङ्गमाः ।
अरुणस्य कशाघातं क्षणं विश्रमयन्ति खे ॥ ९८ ॥

एकं लिङ्गमिति । एकं ज्योतिर्ज्योतिर्मयं लिङ्गमित्यग्रिमेण सम्बन्धः ॥ ९५ ।

सिद्धवटे ज्योतिरिति । इह अवन्त्यां ये द्विजास्त्रिवर्णास्ते सिद्धवटे ज्योतिर्ज्योतिर्लिङ्गं पश्यन्ति । सिद्धवटे यज्ज्योतिः, तज्ज्योतिः पश्यन्तीति वा । स्थिता इति क्वचित्पाठः, स चिन्त्यः । अथवेति । श्रीमहाकालस्य ये द्रष्टारोऽत एव पुण्यराशयस्ते सर्वेऽपि तज्ज्योतिर्लिङ्गं पश्यन्तीत्यन्वयः ॥ ९६ ।

कष्टिभिः कष्टवद्भिः संसाराङ्गारपच्यमानैरित्यर्थः । दृष्टिभिरिति क्वचित्पाठः ॥ ९७ ।

स्पृष्टपृष्ठाः स्पृष्टानि पृष्ठानि येषां ते तथा । स्पृष्टाः पृष्ठे इति क्वचित्पाठः । कशाघातं अश्वनोदिन्यास्ताडनजं दुःखं विश्रमयन्ति । महाकालप्रासादपताकाछायायां विश्रम्य नाशयन्तीत्यर्थः । एतेन प्रासादस्यात्युच्छ्रितत्वं ध्वनितम् ॥ ९८ ।

एक ही ज्योतिर्लिङ्ग हाटकेश, महाकाल और तारकेश्वर, इन तीन रूपों से त्रैलोक्य में व्याप्त होकर स्थित है। जो द्विजातिगण उस उज्जयिनी सिद्धवट में ज्योतिरूप ज्योतिर्लिंग अथवा श्रीमहाकाल का दर्शन करते हैं, वे पुण्यराशि परम ज्योति को देख लेते हैं ॥ ९५–९६ ।

जिन संसार के दुःखियों ने कभी महाकाल के उस लिंग का दर्शन कर लिया है, उन्हें न तो महापाप छूते हैं और न यमदूतगण ही ताकते हैं ॥ ९७ ।

आकाश में सूर्य-रथ के घोड़े महाकाल की पताका के अग्रभागों से अपनी पीठ के स्पर्श होने पर अरुण-सारथि के कशाघात के कष्ट (चाबुक की चोट) को क्षणमात्र में दूर कर लेते हैं ॥ ९८ ।

महाकाल महाकाल महाकालेति सन्ततम् ।
स्मरतः स्मरतो नित्यं स्मरकर्तृस्मरान्तकौ ॥ ९९ ॥
एवमाराध्य भूतेशं महाकालं ततो द्विजः ।
जगाम नगरीं कान्तीं कान्तां त्रिभुवनादपि ॥१००॥
लक्ष्मीकान्तः स्वयं साक्षाज्जन्तूंस्तत्र निवासितः ।
श्रीकान्तानेव कुरुते परत्रेह च निश्चितम् ॥१०१॥
दृष्ट्वा कान्तीं कान्तिमतीं कान्तिमद्भिर्निषेविताम् ।
कान्तिमानभवत् सोऽपि नाकान्तिस्तत्र कस्यचित् ॥१०२॥
तत्र कृत्यश्च यत्कृत्यं तत्कृत्वा सर्वकृत्यवित् ।
सप्तरात्रमुषित्वा तु ययौ द्वारवतीं पुरीम् ॥१०३॥

स्मरतश्चिन्तयतो ध्यायतो भक्तानिति यावत् । स्मरतः करुणार्द्रया दृशा पश्यत इत्यर्थः । स्मरकर्तृस्मरान्तकौ श्रीकृष्णमहेश्वरौ ॥ ९९-१०० ।

निवासिन इति तत्र गतानामुपलक्षणम् । श्रीकान्तान् लक्ष्मीपतीन् ॥ १०१ ।

कान्ती नाम्ना । कान्ती नाम निर्वक्ति । **कान्तिमतीमिति** । काञ्चीमिति क्वचित्पाठः ॥ १०२ ।

तत्रेति । तत्र यत्कृत्यं कर्तव्यं तत्कृत्यं कृत्वेति सम्बन्धः । यत्कृत्यं नैत्यकं तत्र कान्त्याञ्च यत्कृत्यं तत्सर्वं कृत्वेति वा ॥ १०३ ।

"महाकाल ! महाकाल ! महाकाल !" ऐसा निरन्तर स्मरण करनेवाले प्राणी को स्मर के पिता (विष्णु) और शत्रु शिव—ये दोनों हो स्मरण करते रहते हैं ॥९९ ।

शिवशर्मा ब्राह्मण इस (यथोक्त) विधि से भगवान् भूतभावन महाकाल की आराधना कर तदनन्तर त्रिभुवन कमनीया काञ्चीपुरी में जा पहुँचा ॥ १०० ।

वहाँ पर साक्षात् लक्ष्मीकान्त (विष्णु) निवासी लोगों को स्वयं यहाँ और परकाल में निश्चितरूप से श्रीकान्त ही बना देते हैं ॥ १०१ ।

कान्तिमान् लोगों द्वारा निषेवित परम कान्तिमती उस काञ्ची नगरी को देखकर शिवशर्मा भी कान्तिमान् हो गया; क्योंकि वहाँ कोई भी कान्तिहीन नहीं रहता ॥ १०२ ।

सर्व(धर्म)कर्मवेत्ता वह द्विज वहाँ पर जो कुछ कर्त्तव्य कर्म थे, उनको पूर्ण कर और सात दिन निवास करने के अनन्तर द्वारकापुरी की यात्रा को चला गया ॥ १०३ ।

चतुर्णामपि वर्गाणां यत्र द्वाराणि सर्वतः ।
अतो द्वारवतीत्युक्ता विद्वद्भिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०४ ।

अस्थीन्यपि च जन्तूनां यत्र चक्राङ्कितान्यहो ।
किं चित्रं तत्र यत्र स्युः शङ्खचक्राङ्कितैः करैः ॥ १०५ ।

अन्तकः शिक्षयत्येवं निजदूतान् मुहुर्मुहुः ।
ते त्याज्या यैर्द्वारवत्या नामापि परिगृह्यते ॥ १०६ ।

श्रीखण्डे क्व स आमोदः स्वर्णे वर्णः क्व तादृशः ।
तत्पावित्र्यं क्व वै तीर्थे तद्गोपीचन्दने यथा ॥ १०७ ।

द्वारवती नाम निर्वक्ति । चतुर्णामिति । वर्गाणां धर्मार्थकाममोक्षाणाम् । वर्णानामिति पाठे अपिशब्दादन्येषामपि ॥ १०४ ।

अहो आश्चर्ये । यत्र द्वारकायां जन्तूनां प्राणिमात्राणामस्थीन्यपि चक्राङ्कितानि भवन्ति, तत्र तस्यां शङ्खचक्राङ्कितैः शङ्खचक्राद्युपलक्षितैः करैर्जन्तव इति शेषः । विष्णुरूपाः स्युर्भवेयुरिति किं चित्रं न किञ्चित् । यत्रत्याः सर्वं प्राणिनो भगवत्सारूप्यभाज इत्यर्थः । तदुक्तम्—

संवत्सरञ्च षण्मासं मासं मासार्धमेव च ।
द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्यश्चतुर्भुजाः ॥ इति ॥ १०५-१०६ ।

तद्गोपीचन्दन इत्यत्र तच्छब्दो द्वारकाविषयः ॥ १०७ ।

तत्त्ववित् विद्वानों के द्वारा वह नगरी चतुर्वर्ग के द्वारा चारों ओर वर्तमान रहने से द्वारवती कही जाती है ॥ १०४ ।

अहो ! जहाँ पर जन्तुओं की अस्थियाँ भी चक्र-चिह्न से अंकित हैं, वहाँ के अधिवासी लोग यदि शंख, चक्रादि से चिह्नित कर-कमल हों, तो क्या आश्चर्य है ? ॥ १०५ ।

यमराज बारम्बार अपने दूतों को ऐसा सिखलाया करते हैं कि जो लोग द्वारवती का नाम भी लेते हों, उन्हें छोड़ देना ही उचित है ॥ १०६ ।

द्वारका के गोपीचन्दन में जो सुगन्ध है, श्रीखण्ड (चन्दन) में वह कहाँ है ? उसमें जो वर्ण (रंग) है, वह (भला) सुवर्ण में कहाँ मिल सकता है ? द्वारका के गोपीचन्दन में जो पवित्रता है, अन्य तीर्थों में उस प्रकार की कहाँ है ? ॥ १०७ ।

दूताः शृण्वन्तु यद्भालं गोपीचन्दनलाञ्छितम् ।
ज्वलदिङ्गलवत् सोऽपि दूरे त्याज्यः प्रयत्नतः ॥ १०८ ।
तुलस्यलङ्कृता ये ये तुलसीनामजापकाः ।
तुलसीवनपाला ये ते त्याज्या दूरतो भटाः ॥ १०९ ।
युगे युगे द्वारवत्या रत्नानि परितो मुषन् ।
अब्धी रत्नाकरोऽद्यापि लोकेषु परिगीयते ॥ ११० ।
द्वारवत्यां म्रियन्ते ये जन्तवः कालनोदिताः ।
चतुर्भुजाः स्युर्वैकुण्ठे ते पीताम्बरधारिणः ॥ १११ ।
तत्रापि सन्तर्प्य पितॄन् स सदेवर्षिमानवान् ।
तत्र तेषु च तीर्थेषु सस्नौ सर्वेष्वतन्द्रितः ॥ ११२ ।
ततो मायापुरीं प्राप्तो दुष्प्रापां पापकारिभिः ।
यत्र सा वैष्णवी माया मायापाशैर्न पाशयेत् ॥ ११३ ।

ज्वलदिङ्गवत् प्रदीप्ताग्निवत् । ज्वलदङ्गारवदिति क्वचित्पाठः ॥ १०८ । प्रसङ्गात्तुलस्या माहात्म्यमाह । तुलसीति ॥ १०९ । मुषन्नपहरन् ॥ ११० । स शिवशर्मा । अतन्द्रितोऽनलसः ॥ ११२ ।

मायापुरी नाम निर्वक्ति । **यत्र सेति** । मायापाशैरहङ्कारममकाररज्जुभिर्न पाशयेत्,

---

हे दूतगण ! सुनो, जिसका मस्तक गोपीचन्दन से चिह्नित हो, उसे जलते हुए अंगार के समान यत्नपूर्वक दूर ही से परित्याग कर दो ॥ १०८ ।

हे भट लोगों ! जो तुलसी से भूषित तुलसी के नाम जपने में तत्पर और तुलसी वन के रक्षक हों, उन्हें भी दूर से ही त्याग दो (प्रणाम करो) ॥ १०९ ।

समुद्र युग-युगों से द्वारका की रत्नावलियों का अपहरण करते-करते आज भी जगत् में रत्नाकर कहलाता है ॥ ११० ।

जो प्राणी कालवश द्वारका में मरते हैं, वे वैकुण्ठ में पीताम्बर पहिनकर चतुर्भुज (विष्णु) हो जाते हैं ॥ १११ ।

शिवशर्मा ने आलस्यरहित होकर द्वारका में और उसके प्रत्येक तीर्थों में स्नान कर देव-ऋषि और पितरों का तर्पण किया ॥ ११२ ।

तदनन्तर वह पापकारियों से दुष्प्राप मायापुरी में पहुँचा, जहाँ पर वैष्णवी-माया मायापाश से पुनः बन्धन में ही नहीं बांधती ॥ ११३ ।

केचिदूचुर्हरिद्वारं मोक्षद्वारन्ततः परे ।
गङ्गाद्वारञ्च केऽप्याहुः केचिन्मायापुरीं पुनः ।। ११४ ।
यतो विनिर्गता गङ्गा ख्याता भागीरथी भुवि ।
यन्नामोच्चारणात्पुंसां पापं याति सहस्रधा ।। ११५ ।
वैकुण्ठस्यैकसोपानं हरिद्वारं जगुर्जनाः ।
अत्राप्लुता नरा यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। ११६ ।
तीर्थोपवासकं कृत्वा निशाजागरणन्तथा ।
प्रातः स्नात्वा च गङ्गायां तर्प्यान् सन्तर्प्य सर्वतः ।। ११७ ।
यावत् स पारणं कर्तुमियेष द्विजसत्तमः ।
तावच्छीतज्वराक्रान्तश्चकम्पेऽत्यर्थमातुरः ।। ११८ ।

न बध्नाति प्राणिन इति शेषः ।। ११३-११४ ।

प्रसङ्गाद् गङ्गामाहात्म्यं वदन् काशीतराभ्यः पुरीभ्यस्तस्याः श्रैष्ठ्यमाह । यत इति द्वयेन । यद्वा गङ्गाद्वारं मोक्षद्वारं हरिद्वारमिति नामत्रयं निर्वक्ति । इत इति । यन्नामेत्यत्र यच्छब्दो गङ्गाविषयः ।। ११५ ।

वैकुण्ठस्यैकसोपानमित्यनेन मोक्षद्वारनाम्नोऽपि निर्वचनं अत्राप्लुता इत्यनेन वा ।। ११६ । तर्प्यान् तर्पणार्हान् ।। ११७ ।

इस स्थान को कोई-कोई **हरिद्वार** कहते हैं, दूसरे मोक्षद्वार बतलाते हैं, अन्य लोग गंगाद्वार कहते हैं, और कोई-कोई **मायापुरी** के नाम से पुकारते हैं ।। ११४ ।

गंगा इसी स्थल से निकल कर पृथिवी में भागीरथी नाम से प्रसिद्ध हुई हैं, जिनके केवल नाम लेने से ही पापराशि सहस्रधा विदीर्ण हो जाती है ।। ११५ ।

लोग इस हरिद्वार को वैकुण्ठ की अकेली सीढ़ी कहते हैं । यहां पर स्नान करने वाले मनुष्य [illegible]ष्णु के उस प्रसिद्ध परम पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।। ११६ ।

द्विजसत्तम शिवशर्मा ने वहाँ पर तीर्थोपवास और रात्रि का जागरण, प्रातःकाल गंगा में स्नान और तर्पणीय पितरादिकों का सम्पूर्णरूप से तर्पण कर, ज्यों ही पारण करना चाहा, त्यों ही शीतज्वर से आक्रान्त होकर वह बड़ी आतुरता से काँपने लगा ।। ११७-११८ ।

वैदेशिकस्तथैकाकी तथाऽतिज्वरपीडितः ।
चिन्तामवाप महतीं किमेतत् समुपस्थितम् ॥ ११९ ॥
चिन्तार्णवे निमग्नोऽभूत्त्यक्ताशो जीविते धने ।
सांयात्रिक इवाऽगाधे भिन्नपोतो महार्णवे ॥ १२० ॥
क्व क्षेत्रं क्व कलत्रं मे क्व पुत्राः क्व च तद्वसु ।
क्व तद्विचित्रं वै हर्म्यं क्व सा पुस्तकसम्भृतिः ॥ १२१ ॥
अद्यापि नायुः पर्याप्तं पलितं न तथा मयि ।
ज्वरोऽयं दारुणः प्राप्तः कालज्ञश्चातिदारुणः ॥ १२२ ॥
मृत्युर्मूर्ध्नि कृतावासो वासो दूरे व्यवस्थितः ।
अग्नौ गृहोपरि प्राप्ते कूपन्तु खनयेदिह ॥ १२३ ॥

सांयात्रिकः पोतवणिक् । भिन्नपोतो भग्ननौकः ॥ १२० । मरणकालीनमोहोत्थ-चिन्तामाह । क्व क्षेत्रमिति सार्धद्वयेन । पुस्तकसम्भृतिः पुस्तकसम्भारः । पुस्तकसमूह इति यावत् ॥ १२१ ।

पलितं जराशौक्ल्यम् । पलितं जरसा शौक्ल्यमित्यमरः । कालमवसरं जानातीति कालज्ञो मृत्युः । कः कालश्चेति वा पाठः ॥ १२२ ।

तीर्थाटनेन शुद्धान्तःकरणस्याविवेकनाशकं विवेकमाह । अग्नावित्येकेन । कूपन्तु पुनः खनयेत् । काक्वा न खनयेदित्यर्थः । कः खनयेदिति वा पाठः ॥ १२३ ।

एक तो अकेला विदेशी, दूसरे ज्वर से अत्यन्त पीड़ित होकर वह ब्राह्मण बड़ा ही चिन्तामग्न हो गया और विचारने लगा कि—यह क्या हुआ ? ॥ ११९ ।

अगाध महासमुद्र में पोत-भंग हो (जहाज टूटने) जाने से सांयात्रिक (जहाजी तिजारती) की नाईं (के समान) चिन्तार्णव में निमग्न होकर वहब्राह्मण जीवन और धन से निराश हो गया ॥ १२० ।

मेरा वह क्षेत्र (खेत), कलत्र, पुत्रगण और धन कहाँ है ? मेरा वह विचित्र हर्म्य (महल) भी कहाँ है ? और वह पुस्तकों का संसार भी कहाँ है ? ॥ १२१ ।

अब तक भी मेरी आयु पूरी नहीं हुई और न बाल ही पके हैं; परन्तु यह दारुण-ज्वर उपस्थित हो गया । मेरे लिए यह कैसा भयंकर समय है ? ॥ १२२ ।

मस्तक पर मृत्यु वास कर रही है और मेरा गृह यहाँ से अत्यन्त दूर है । जो हो घर में आग लगने पर क्या कुँआ खोदने से काम चल सकता है ? ॥ १२३ ।

किमेभिश्चिन्तनैर्व्यर्थैरतितापकरैर्मम ।
चिन्तयामि हृषीकेशं शिवदं शिवमेव च ॥ १२४ ॥
अथवा मुक्त्युपायो वै मयैकः सदनुष्ठितः ।
मुक्तिपुर्यस्तु सप्तैताः स्वनेत्रविषयीकृताः ॥ १२५ ॥
स्वर्गापवर्गयोरेकः साध्यो हि विदुषा ध्रुवम् ।
तयोरसाधने पश्चात् सन्तापेन च तप्यते ॥ १२६ ॥
अथवा चिन्तया किं मे त्वनया दुरवस्थया ।
रणे वा मरणं श्रेयस्तीर्थे वात्र यथा मम ॥ १२७ ॥
किमहं मन्दभागीव रथ्यां क्वापि म्रियेऽधुना ।
भागीरथ्यां म्रिये चाद्य का चिन्ता मम मूढवत् ॥ १२८ ॥

तस्मादेवं करिष्यामीत्याह । **चिन्तयामीति** ॥ १२४ ।

मुक्त्युपायस्य साधितत्वादपि चिन्ता व्यर्थेत्याह । **अथवेति** द्वयेन । एको मुख्यः । सश्चासावनुष्ठितश्चेति तथा सन् यथा भवति, तथानुष्ठित इति वा ॥ १२५ ।

सन्तापेन मनोदुःखेन चकाराद्रोगादिना च पश्चात्तापेन तप्यत इति पाठे अन्तिमकालीनतापेनेत्यर्थः । तयोर्मया साधितत्वान्न तापो युक्त इति भावः ॥ १२६ ।

मुक्त्युपायानुष्ठितत्वमङ्गीकृत्याऽप्याह । **अथवेति** । दुरवस्थयाऽनवस्थितया ॥ १२७ ।

रथ्यामिति **'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया'** (अष्टा० २।३।५), रथ्याया-

---

अत्यन्त संताप करनेवाले इन व्यर्थ चिन्तनों से मुझे कौन फल मिलेगा ? इस घड़ी में हृषीकेश और शिवप्रद महादेव का स्मरण करूँ, अथवा मैंने एक उत्तम मोक्ष के उपाय का अनुष्ठान किया, जो इन सातों मोक्षप्रदायिनी पुरियों का दर्शन कर लिया ॥ १२४-१२५ ।

विद्वान् लोग स्वर्ग और मुक्ति का साधन कर रखते हैं, इन दोनों का साधन नहीं करने से, पश्चात्ताप से संतप्त होना पड़ता है, अथवा मुझे इस व्यर्थ की धारावाहिनी चिन्ता से कौन प्रयोजन है ? यद्यपि संग्राम में मृत्यु श्रेयस्कर है; पर मेरे ऐसा तीर्थ में मृत्यु को प्राप्त करना तो बहुत ही अच्छा है ॥ १२६-१२७ ।

मैं आज मन्दभाग्यों-सा कहीं मार्ग में तो मरता ही नहीं हूँ; वरन् गंगा (की गोद) में मर रहा हूँ । तब फिर मूर्खों के सदृश क्यों चिन्ता करूँ ? ॥ १२८ ।

चर्मास्थिसञ्चयेनाहमनेन वपुषा ध्रुवम् :
प्राप्स्यामि निधनादत्र सिद्धिं नैःश्रेयसी ध्रुवम् ॥ १२९ ।
एवं चिन्तयतस्तस्य पीडाऽऽसीदतिदारुणा ।
कोटिवृश्चिकदष्टस्य याऽवस्था तामवाप सः ॥ १३० ।
स्मर्तव्यं विस्मृतं सर्वं क्वाहं कोऽहं न वेत्ति च ।
दिनानि सप्त सप्तेति स्थित्वा पञ्चत्वमागतः ॥ १३१ ।
तावद्वैकुण्ठभुवनाद् विमानं समुपस्थितम् ।
तार्क्ष्योपलक्षितो यत्र ध्वजश्चातिसमुच्छ्रितः ॥ १३२ ।
अधिष्ठितं सुकन्यानां स्वर्णकौशेयवाससाम् ।
चामरव्यग्रहस्तानां सहस्रेणातिविस्तृतम् ॥ १३३ ।

मित्यर्थः । म्रिये चेति चकारात् पुर्याञ्च ॥ १२८-१२९ ।

वृश्चिकः सविषकीटविशेषः ॥ १३० ।

सप्त सप्त चतुर्दशदिनानि स्थित्वा यावन्मरणं प्राप्तस्तावदित्यन्वयः । सप्त-पञ्चेति क्वचित्पाठः ॥ १३१-१३२ ।

अस्थि-चर्ममय इस शरीर के त्याग से मुझे अवश्य ही नैःश्रेयसी सिद्धि मिलेगी ॥ १२९ ।

इस प्रकार की चिन्ता से ग्रस्त शिवशर्मा को अतिदारुण दुःख उपस्थित हुआ। कोटि वृश्चिक दंशन (विच्छू मारने) से जो अवस्था होती है, शिवशर्मा उसी दशा को प्राप्त हुआ ॥ १३० ।

स्मरणीय सभी बातें भूल गया हूँ। मैं कहा हूँ ? कौन हूँ ? यह ज्ञान भी जाता रहा। चौदह दिन इसी प्रकार से रहने पर शिवशर्मा पंचत्व को प्राप्त हुआ ॥ १३१ ।

उसी समय वैकुण्ठ से अत्यन्त ऊँचा गरुडध्वज से चिह्नित किंकिणी-जाल से मण्डित अति विशाल विमान आकर उपस्थित हुआ ॥ १३२ ।

उस (दिव्य) विमान पर कौशेय वस्त्र को पहिनकर हाथ में चामर और पंखा को धारण किए हुए सहस्रों सुर-सुन्दरियों से युक्त पुण्यशील एवं सुशील ये दोनों ही

पुण्यशीलसुशीलाभ्यां गणाभ्यां च विराजितम् ।
चतुर्भुजाभ्यां स्वास्याभ्यां किङ्किणीजालमालितम् ॥ १३४ ॥
तद्विमानमथारुह्य पीतवासाश्चतुर्भुजः ।
अलञ्चक्रे नभो वर्त्म स द्विजो दिव्यभूषणः ॥ १३५ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सप्तपुरीवर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

किङ्किणीजालमालितं क्षुद्रघण्टिकासमूहेन सञ्जातमालमित्यर्थः ॥ १३४ ॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

विष्णु के पारिषद् प्रसन्नवदन, चतुर्बाहुरूप से विराजमान थे ॥ १३३–१३४ ॥

शिवशर्मा तुरन्त इस पार्थिव (भौतिक) देह को त्याग कर, उस विमान पर चढ़ गये तथा दिव्य भूषणों से भूषित हो, पीताम्बर पहिन, चतुर्भुजरूप से आकाशमार्ग को अलङ्कृत करने लगे ॥ १३५ ॥

बरनी सातों पुरिन के, मोक्ष-दान की बात ।
तेहि प्रसंग शिवशर्म की, कही कथा विख्यात ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे
भाषाटीकायां सप्तपुरीवर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

लोपामुद्रोवाच —

जीवितेश कथामेतां पुण्यां पुण्यपुरीश्रिताम् ।
न तृप्तिमधिगच्छामि श्रुत्वा त्वच्छ्रीमुखेरिताम् ॥ १ ।
मायापुर्यां मुक्तिपुर्यां शिवशर्मा द्विजोत्तमः ।
मृतोऽपि मोक्षं नैवाप ब्रूहि तत्कारणं विभो ॥ २ ।

अगस्त्य उवाच —

साक्षान्मोक्षो न चैतासु पुरीषु प्रियभाषिणि ।
पुरोद्दिश्यामुमेवार्थमितिहासो मया श्रुतः ॥ ३ ।

पिशाचगुह्यगन्धर्वविद्याधरप्रजाहृताम् ।
आख्यायन्तेऽष्टमे पञ्च लोकाः संयमिनीमुखाः ॥ १ ।

पूर्वाध्यायान्ते तद्विमानमारुह्येत्यनेन शिवशर्मणः सारूप्यमुक्तिरुक्ता, साऽघटमानेति तदुक्तायामाख्यायिकायामात्मनस्तृप्त्यभावमावेदयन्ती तत्कारणं पृच्छति । जीवितेशेति द्वयेन ॥ १ । **मोक्षं सायुज्यम्** ॥ २ ।

मोक्षः कैवल्यरूपः । अमुमेवार्थं मायापुर्यादिषु साक्षात् सायुज्यं नास्त्येवेत्येवं

(पिशाच-लोक से यमलोक-पर्यन्त वर्णन)

लोपामुद्रा बोलीं—

हे जीवितनाथ ! आप के श्रीमुख द्वारा कथित इस पुण्यपुरी विषयिणी पवित्र कथा को सुनकर मेरी उत्कण्ठा शान्त नहीं होती ॥ १ ।

हे प्रभो ! द्विजोत्तम शिवशर्मा मुक्तिदायिनी मायापुरी में प्राण त्याग करने पर भी मोक्ष को नहीं प्राप्त हुआ, इसका कारण कहिए ॥ २ ।

अगस्त्य मुनि कहने लगे—

प्रियवादिनि ! इन सब पुरियों में साक्षात् मोक्ष नहीं मिलता, इस विषय का (एक) प्राचीन इतिहास मेरा सुना हुआ है (वह बताता हूँ) । प्रिये ! (उस समय)

श्रृणु कान्ते विचित्रार्थां कथां पापप्रणाशिनीम् ।
पुण्यशीलसुशीलाभ्यां कथितां शिवशर्मणे ॥ ४ ॥

शिवशर्मोवाच —

अयि विष्णुगणौ पुण्यौ पुण्डरीकदलेक्षणौ ।
किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽहं प्रबद्धकरसम्पुटः ॥ ५ ॥
न नाम युवयोर्वेद्मि वेद्म्याकृत्या च किञ्चन ।
पुण्यशीलसुशीलाख्यौ युवां भवितुमर्हथः ॥ ६ ॥

गणावूचतुः—

भगवद्भक्तियुक्तानां किमज्ञातं भवादृशाम् ।
एतदेव हि नौ नाम यदुक्तं श्रीमता त्वया ॥ ७ ॥

लक्षणम् । इतिहास इतिहेत्यव्ययमुपदेशपारम्पर्याभिधायि, तस्याऽवस्थानमत्रेतीतिहासः पुरावृत्तम् । आर्षः । 'पूर्ववृत्तान्ताश्रया इतिहासाः' इति देवलस्मरणात् । धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् । पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षत इति वा ॥ ३-५ ।

आकृत्या आकारेण शोभयेति यावत् । चकाराद् भगवद्भक्त्या च । तथा च वक्ष्यतः । भगवद्भक्तियुक्तानां किमज्ञातमिति ॥ ६-७ ।

पुण्यशील और सुशील के द्वारा शिवशर्मा के प्रति कही गयी विचित्र अर्थ से युक्त पापप्रणाशिनी कथा को सुनो ॥ ३-४ ।

शिवशर्मा ने कहा—

हे कमलदललोचन पवित्र विष्णु के दोनों गण ! मैं हाथ जोड़कर कुछ पूछने की इच्छा करता हूँ ॥ ५ ।

साक्षात्सम्बन्ध से तो मैं आप लोगों का नाम नहीं जानता, पर आकृति के द्वारा ज्ञात होता है कि आप लोगों का नाम पुण्यशील और सुशील होने के योग्य है ॥ ६ ।

गणों ने कहा—

आप सदृश भगवद् भक्तजनों को क्या अविदित रह सकता है ? श्रीमान् (आप) ने जो कहा है, हम दोनों का वही नाम है ॥ ७ ।

यदन्यदपि ते चित्ते प्रष्टव्यं तदशङ्कितम् ।
संपृच्छस्व महाप्राज्ञ प्रीत्या तत्प्रब्रवावहे ।। ८ ।

इति श्रुत्वा स वचनं भगवद्गणभाषितम् ।
अतिप्रीतिकरं हृद्यं ततस्तौ प्रत्युवाच ह ।। ९ ।

दिव्यद्विज उवाच —

क एष लोकोऽल्पश्रीकः स्वल्पपुण्यजनाकृतिः ।
क इमे विकृताकारा ब्रूतमेतन्ममाग्रतः ।। १० ।

गणावूचतुः—

अयं पिशाचलोकोऽत्र वसन्ति पिशिताशनाः ।
दत्वाऽनुतापभाजो नो नो कृत्वा ददत्यपि ।। ११ ।

शिवं प्रसङ्गतोऽभ्यर्च्य सकृत्त्वशुचिचेतसः ।
अल्पपुण्याल्पलक्ष्मीकाः पिशाचास्त इमे सखे ।। १२ ।

दिव्यद्विजः शिवशर्मा । क एष इति । एष लोकः क इत्यन्वयः । अल्पश्रीकत्वे हेतुमाह । अपुण्यजनाकृतिरपुण्यजनानां पुण्यवर्जितानां जनानां आकृतयः शरीराणि, यस्मिन् स तथा । स्वल्पपुण्यजनाकृतिरिति क्वचित्पाठः ।। १० ।

पिशाचादयश्चत्वारो देवयोनिविशेषाः । विद्याधरेत्याद्यमरः ।। ११-१२ ।

हे महाप्राज्ञ ! आपको और भी जो कुछ पूछना हो, वह निःशंक होकर पूछिए, प्रीतिपूर्वक हम दोनों उसे कहेंगे ।। ८ ।

इस प्रकार भगवद् गणों द्वारा कथित हृदयंगम और प्रीतिकर वचन सुनकर (शिवशर्मा) उन दोनों से कहने लगा ।। ९ ।

दिव्य ब्राह्मण बोला—

यह अल्प शोभायुक्त क्षीण पुण्यजनों से पूर्णरूप कौन लोक है ? और विकृताकार ये सब कौन हैं ?, मेरे समक्ष यह सब बताइए ।। १० ।

गणों ने कहा—

यह पिशाच लोक है, यहाँ पर मांस-भोजी पिशाच लोग रहते हैं, जो दान करने पर पछताते हैं, और जो नहीं-नहीं करके दान भी देते हैं, फिर जो प्रसंगवश कहीं पर एक बार महादेव की पूजा अशुद्ध-चित्त से कर लेते हैं, हे सखे ! वे ही अल्प पुण्य, अल्प शोभा सम्पन्न, ये सब पिशाचगण हैं ।। ११-१२ ।

ततो गच्छन् ददर्शान्यं हृष्टपुष्टजनावृतम् ।
पिचण्डिलैः स्थूलवक्त्रैर्घनगम्भीरनिःस्वनैः ॥ १३ ॥
लोकैरध्युषितं लोकं श्यामलाङ्गैश्च लोमशैः ।
गणौ कथयतां कोऽयं को लोकः पुण्यतः कुतः ॥ १४ ॥

गणावूचतुः—

गुह्यकानामयं लोकस्त्वेते वै गुह्यकाः स्मृताः ।
न्यायेनोपार्ज्य वित्तानि गूहयन्ति च ये भुवि ॥ १५ ॥
स्वमार्गगा धनाढ्याश्च शूद्रप्रायाः कुटुम्बिनः ।
संविभज्य च भोक्तारः क्रोधासूयाविवर्जिताः ॥ १६ ॥
न तिथिं नैव वारञ्च सङ्क्रान्त्यादि न पर्व च ।
नाधर्मं न च धर्मञ्च विदन्त्येते सदा सुखाः ॥ १७ ॥

ततस्तदनन्तरं गच्छन् लोकं ददर्शेत्यन्वयः। कथम्भूतम् ? लोकैर्गुह्यकैरध्युषितमधिष्ठितम्। कथम्भूतैः ? पिचण्डिलैः पिचण्ड उदरम्। 'पिचण्डकुक्षीजठरोदरतुन्दम्' इत्यमरः। स वर्तते येषां ते पिचण्डिलाः। तुन्दादिभ्य इलच्चेति इलच् प्रत्ययः। तैः स्थूलोदरैरित्यर्थः ॥ १३–१४ ।

गूहयन्ति गर्तं कृत्वा स्थापयन्तीत्यर्थः। गूढयन्तीति। पाठे स एवार्थः ॥ १५ ।

स्वमार्गगा इत्यष्टानां स्पष्टोऽर्थः ॥ १६ ।

तदनन्तर शिवशर्मा ने जाते-जाते एक और लोक देखा, जो तोईंदल (तुन्दिल), बड़े मुख और गम्भीरनादी, श्यामलाङ्ग, लोम से व्याप्त हृष्ट-पुष्ट लोगों से भरा हुआ (उसके विषय में) पूछा, ये लोग कौन हैं ? इस लोक का क्या नाम है ? किस पुण्य (या कर्म से यह लोक) प्राप्त होता है ? ॥ १३–१४ ।

गणों ने कहा—

यह गुह्यक-लोक है और ये सब गुह्यक कहलाते हैं। जो लोग न्यायपूर्वक धन उपार्जन करके पृथ्वी में गाड़ देते हैं, अपने धर्ममार्ग में स्थित रहते, धन से परिपूर्ण रहते हुए भी शूद्रों-सा बरतते हैं; पर निज कुटुम्बियों में विभाजन करके भोजन करते और क्रोध, डाह से हीन रहते एवं तिथि-वार और संक्रान्ति आदि पर्व-दिन तथा धर्म, अधर्म, इन सबको कुछ नहीं जानते ॥ १५–१७ ।

एकमेव हि जानन्ति कुलपूज्यो हि यो द्विजः।
तस्मै गाः सम्प्रयच्छन्ति मन्यन्ते तद्वचः स्फुटम् ॥ १८ ।

संमृद्धिभाजो ह्यत्रापि तेन पुण्येन गुह्यकाः।
भुञ्जते स्वर्गसौख्यानि देववच्चाकुतोभयाः ॥ १९ ।

ततो विलोकयामास लोकं लोचनशर्मदम् ।
केऽमी जनास्त्वसौ लोकः किं नामा वदतां गणौ ॥ २० ।

गणावूचतुः—

गान्धर्वस्त्वेष लोकोऽमी गन्धर्वाश्च शुभव्रताः।
देवानां गायना ह्येते चारणाः स्तुतिपाठकाः ॥ २१ ।

गीतज्ञा अतिगीतेन तोषयन्ति नराधिपान् ।
स्तुवन्ति च धनाढ्यांश्च धनलोभेन मोहिताः ॥ २२ ।

राज्ञां प्रसादलब्धानि सुवासांसि धनान्यपि ।
द्रव्याण्यपि सुगन्धीनि कर्पूराण्यनेकशः ॥ २३ ।

सदा के सुखी ये सब केवल एक कुलपूज्य ब्राह्मण को जानते और उसे गोदान करते तथा उसी के वाक्य को प्रमाण मानते हैं ॥ १८ ।

उसी पुण्य के बल से यहाँ भी समृद्धिशाली होकर ये गुह्यकगण देवताओं की तरह निर्भयरूप से स्वर्ग का सुख भोगते हैं ॥ १९ ।

इसके अनन्तर शिवशर्मा ने नेत्रसुखप्रद एक स्थान को देखकर पूछा—हे गणों! ये कौन जन हैं और इस लोक का क्या नाम है ? ॥ २० ।

गणों ने कहा—

यह गन्धर्व-लोक है और इसमें गन्धर्वगण निवास करते हैं, जो उत्तम धर्माचारी देवों के गायक (गवैये), चारण, (कत्थक) और स्तुतिपाठक (वन्दीजन) हैं ॥ २१ ।

संगीत-निपुण ये सब (मनुष्य-योनि में) सुन्दर गीतों से राजाओं को संतुष्ट करते और धन-लोभ से मोहित होकर धनाढ्यों की स्तुति करते हैं ॥ २२ ।

राजाओं की प्रसन्नता से सुन्दर वस्त्र, धन और अनेक कर्पूरादिक सुगन्धित द्रव्यों को पाकर ब्राह्मणों को समर्पण करते और अहर्निश गीत ही गाते रहते हैं, साथ ही ये

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति गीतं गायन्त्यहर्निशम् ।
श्रुतावेव मनस्तेषां नाट्यशास्त्रकृतश्रमाः ।। २४ ।
तेन पुण्येन गान्धर्वो लोकस्त्वेषां विशिष्यते ।
ब्राह्मणास्तोषिता यद्वै गीतविद्यार्जितैर्धनैः ।। २५ ।
गीतविद्याप्रभावेण देवर्षिर्नारदो महान् ।
मान्यो वैष्णवलोके वै श्रीशम्भोश्चातिवल्लभः ।। २६ ।
तुम्बुरुर्नारदश्चोभौ देवानामतिदुर्लभौ ।
नादरूपोशिवः साक्षान्नादतत्त्वविदौ हि तौ ।। २७ ।
यदि गीतं क्वचिद्गीतं श्रीमद्धरिहरान्तिके ।
मोक्षस्तु तत्फलं प्राहुः सान्निध्यमथवा तयोः ।। २८ ।

श्रुतौ गान्धर्ववेदे इत्यर्थः । स्तुताविति क्वचित्पाठः । नाट्यशास्त्रकृतश्रमाश्च नाट्यशास्त्रेषु कृतः श्रमो यैस्ते तथा ।। २४ ।

तेन पुण्येनेति । गीतविद्यार्जितैर्धनैर्ब्राह्मणास्तोषिता इति यत् । वै प्रसिद्धम् । पुण्यमिति शेषः । तेन पुण्येनेति योजना ।। २५ ।

गीतविद्याऽभ्यासेन महत्त्वप्राप्तावुदाहरणमाहतुः । **गीतविद्येति** । यद्वा गीतविद्यायाः फलं प्रसिद्धमेवेत्याह । **गीतविद्येति** ।। २६ ।

तुम्बुर इत्यदन्तोऽपि क्वचित्पाठः । अतिदुर्लभौ बहुमान्यौ । तत्र गीतविद्यायाः शिवस्वरूपत्वं वदन् हेतुमाह । **नादरूपीति** । नादरूपी गीतरूपी षड्जादिस्वरूपीत्यर्थः ।। २७ ।

गीतविद्याया निष्कामसकामभेदेन फलद्वयमाह । **यदि गीतमिति** ।। २८ ।

सब नाट्यशास्त्र के स्वरों में ही चित्त लगाये रहते हैं ।। २३–२४ ।

गान-विद्या द्वारा उपार्जित धन से ब्राह्मणों को संतुष्ट करने के पुण्यवाले उन गन्धर्व लोगों का यह उत्तम गन्धर्व-लोक है ।। २५ ।

गीत-विद्या के ही प्रभाव से देव-ऋषि नारद वैष्णव-लोक में महामान्य और श्रीशम्भु के परमप्रिय हुए हैं ।। २६ ।

तुम्बुरु और नारद ये दोनों ही देवताओं के बड़े माननीय हैं; क्योंकि शिव तो साक्षात् नाद (स्वर) रूपी हैं, और ये दोनों नादतत्त्व के परम वेत्ता हैं ।। २७ ।

यदि श्रीमान् विष्णु और महादेव के समीप में कहीं गीत गाया तो उसका फल मोक्ष अथवा हरिहर का सन्निध्य ही होता है—ऐसा कहा है ।। २८ ।

गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ २९ ।
अस्मिँल्लोके सदाकालं स्मृतिरेषा प्रगीयते ।
तद्गीतमालया पूज्यौ देवौ हरिहरौ सदा ॥ ३० ।
इति शृण्वन् क्षणात् प्राप पुनरन्यन्मनोहरम् ।
शिवशर्माऽथ पप्रच्छ किं संज्ञं नगरं त्विदम् ॥ ३१ ।

गणावूचतुः—

असौ वैद्याधरो लोको नानाविद्याविशारदाः ।
एते विद्यार्थिनामन्नमुपानद्वस्त्रकम्बलम् ॥ ३२ ।
औषधान्यपि यच्छन्ति तत्पीडाशमनानि हि ।
नानाकलाः शिक्षयन्ति विद्यागर्वविवर्जिताः ॥ ३३ ।

द्वितीयं पक्षं स्पष्टयति । गीतज्ञ इति । रुद्रस्येति विष्णोरप्युपलक्षणम् ॥ २९ ।

सदाकालं सर्वकालम् । सदालोकमिति पाठे आलोकम् । स्पष्टं यथा स्यादित्यर्थः । एषा यदि गीतमित्यादिलक्षणा । फलितमाह । तद्गीतेति । तत्तस्माद् गीतमालया गीतनिकरेण । अथवा स्मृतिरेषेत्यनेन तद्गीतमालयेत्याद्येवोच्यते, तदा तच्छब्दः प्रसिद्धार्थः ॥ ३०-३१ ।

तत्पीडाशमनानि विद्यार्थिरोगनाशकानि । अन्यदपि यावदपेक्षितम् । अपि हिशब्दार्थः ॥ ३३ ।

(उत्तम) गायक यदि गीत के द्वारा परमपद को प्राप्त नहीं होता, तो भी रुद्रदेव का अनुचर होकर उन्हीं के साथ आनन्द-भोग करता है ॥ २९ ।

उस लोक में सदा से यह स्मृति (कहावत) कही जाती है कि गीत की ही मालाओं से हरिहर सदा पूजनीय हैं ॥ ३० ।

इस प्रकार से श्रवण करते हुए क्षणमात्र में एक दूसरे मनोहर स्थान में पहुँच कर फिर शिवशर्मा ने पूछा कि इस नगर की क्या संज्ञा है ? ॥ ३१ ।

विष्णुगण बोले —

यह विद्याधर लोक है । नाना विद्याओं के विशारद ये लोग विद्यार्थियों को अन्न, वस्त्र, कम्बल, उपानत्, (जूता) और उनकी पीड़ाओं को शान्त करनेवाली ओषधियाँ देते हैं, तथा विद्यागर्व से रहित होकर नाना प्रकार की कलाओं को सिखलाते हैं ॥ ३२-३३ ।

शिष्यं पुत्रेण पश्यन्ति वस्त्रताम्बूलभोजनैः।
अलङ्कृताश्च सत्कन्या धर्माद्वुद्वाहयन्ति च ॥ ३४ ।
अभिलाषधिया नित्यं पूजयन्तीष्टदेवताः।
एतैः पुण्यैर्वसन्तीह विद्याधरवरा इमे ॥ ३५ ।
यावदित्थं कथाश्चक्रुस्तावत् संयमिनीपतिः।
धर्मराजोऽभिसम्प्राप्तो देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ३६ ।
सौम्यमूर्तिर्विमानस्थो धर्मज्ञैः परिवारितः।
सेवाकर्मसु चतुरैर्भृत्यैस्त्रिचतुरैः सह ॥ ३७ ।

धर्मराज उवाच—

साधु साधु महाबुद्धे शिवशर्मन् द्विजोत्तम।
कुलोचितं ब्राह्मणानां भवता प्रतिपादितम् ॥ ३८ ।
वेदाभ्यासः कृतः पूर्वं गुरवश्चापि तोषिताः।
धर्मशास्त्रपुराणेषु दृष्टो धर्मस्त्वयाऽऽदृतः ॥ ३९ ।

धर्मात् धर्मनिमित्तात् धर्ममुद्दिश्येत्यर्थः ॥ ३४ । अभिलाषधिया कामवाञ्छया ॥ ३५ । चतुरैर्दक्षैः । सेवाकर्मसु सुष्ठु चतुरैरित्येकं पदं वा ॥ ३७-३८ । आदृतः आदरणीयः ॥ ३९ ।

शिष्य को पुत्र के समान देखते हैं। वस्त्र, ताम्बूल और भोजन आदि से अलङ्कृत कर धर्मपूर्वक (धर्मबुद्धि से) सत्कन्याओं का विवाह करवा देते हैं ॥ ३४ ।

कामना की सिद्धि के लिये नित्य ही अपने इष्ट देवताओं की पूजा करते हैं। इन्हीं सब पुण्यों से ये सब विद्याधर यहाँ पर निवास करते हैं ॥ ३५ ।

जब तक यह वार्तालाप हो ही रहा था, तब तक देवताओं के नगाड़े से (डंके से) शब्दायमान संयमिनीपुरी के अधिष्ठाता भगवान् धर्मराज (वहाँ पर) आ पहुँचे ॥ ३६ ।

वे सौम्य (शान्त) मूर्ति को धारण किये, धर्म के ज्ञाता और सेवाकर्म में बड़े ही चतुर तीन-चार भृत्यों के साथ विमान पर विराजमान थे ॥ ३७ ।

धर्मराज ने कहा—

हे महाबुद्धे ! द्विजोत्तम ! शिवशर्मन् ! साधु ! साधु ! (वाह-वाह) आपने ब्राह्मणों के कुलोचित कर्म का सम्पादन किया ॥ ३८ ।

पूर्व में वेदाभ्यास किया, गुरुगण को सन्तुष्ट किया; फिर शास्त्र और पुराणों में आदरणीय धर्मों का अवलोकन किया ॥ ३९ ।

क्षालितं मुक्तिपुर्यद्भिराशुगन्तृशरीरकम् ।
कोविदोऽस्ति भवानेव जीविते जीवितेतरे ।। ४० ।
कलेवरं पूतिगन्धि सदैवाशुचिभाजनम् ।
सुतीर्थपुण्यपण्येन सम्यग्विनिमितं त्वया ।। ४१ ।
अत एव हि पण्डित्यमाद्रियन्ते विचक्षणाः ।
अहःक्षेपं न क्षिपन्ति क्षणमेकं हि ते बुधाः ।। ४२ ।
निमेषान् पञ्चषान् मर्त्ये प्राणन्ति प्राणिनो ध्रुवम् ।
तत्रापि न प्रवर्तेयुरघकर्मणि गर्हिते ।। ४३ ।

क्षालितं शोधितम् । कोविदोऽपीत्यपिशब्दः समुच्चये । कोविदोऽस्तीति क्वचित्पाठः । **जीवितेतरे मरणे** ।। ४० ।

सुतीर्थमेव पण्यं विक्रेयं द्रव्यं तेन सम्यग् विनिमितं परिवर्तितम् । एतदुक्तं भवति । सुतीर्थगतपुण्यमादाय शरीरगतं शरीरलक्षणं वा पापं त्यक्तमित्यर्थः ।। ४१ ।

अत इति । पाण्डित्यं सदसद्विवेकबुद्धिमत्त्वम् । विचक्षणा विद्वांसः । के ते ? हिते पुरुषार्थे क्षणमेकं क्षणमात्रं यथा स्यात्तथा अहःक्षेपं दिनं व्यर्थतां न क्षिपन्ति, न नयन्तीत्यर्थः । अहः क्षपां न क्षिपन्ति क्षणमेकं हि ते मुधा इति क्वचित्पाठः । हि निश्चितम् । य एवंविधास्ते बुधा इति वा ।। ४२ ।

निमेषानिति । पञ्च वा षड् वा निमेषान् पक्ष्मोन्मेषोपलक्षितान् कालान् व्याप्य मर्त्ये मरणधर्मके शरीरे प्राणिनो जन्तवः प्राणन्ति प्राणनव्यापारं कुर्वन्ति, चेष्टन्त इत्यर्थः । अतस्तत्रापि पञ्चषट्सु निमेषेष्वपि अघकर्मणि पापकर्मणि, अत एव गर्हिते निन्दिते । अथ कर्मणीति वा पाठः । न प्रवर्तेयुः प्रवृत्तिं न कुर्युरित्यर्थः । तत्रापि चेति पाठे निन्दापरत्वेन व्याख्यातव्यम् ।। ४३ ।

शीघ्र विनश्वर कलेवर को मुक्ति-पुरियों के जल से धो दिया । अतएव आप ही जीवन और मरण दोनों के कोविद (ज्ञाता) हैं ।। ४० ।

सदैव दुर्गन्ध से भरे और अपवित्रता के पात्र शरीर को आपने सुन्दर तीर्थ के पुण्यरूपी विक्रेय-द्रव्य से परिवर्तित कर (बदल) लिया ।। ४१ ।

इसीलिए विद्वान् लोग पाण्डित्य का आदर करते हैं, और हित साधन में वे बुध लोग क्षणमात्र भी दिन को व्यर्थ नहीं जाने देते ।। ४२ ।

मर्त्यलोक में प्राणिगण पाँच-छः ही निमेष जीते हैं । यह ध्रुव है, उसमें भी गर्हित अघःकर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए ।। ४३ ।

स्थिरापायः सदा कायो न धनं निधनेऽवति ।
तन्मूढः प्रौढकार्ये किं न यतेत भवानिव ॥ ४४ ॥
सत्वरं गत्वरं चायुर्लोकः शोकसमाकुलः ।
तस्माद्धर्मे मतिः कार्या भवतेव सुधार्मिकैः ॥ ४५ ॥
सत्कर्मणो विपाकोऽयं तव वन्द्यौ ममाप्यहो ।
यदेतौ भगवद्भक्तौ सखित्वं भवतो गतौ ॥ ४६ ॥
ममाज्ञा दीयतां तस्मात् साहाय्यं करवाणि किम् ।
यत्कर्तव्यं मादृशैस्ते तत्कृतं भवतैव हि ॥ ४७ ॥
अद्य धन्यतरोऽस्मीह यद् दृष्टौ भगवद्गणौ ।
सेवा सदैव मे ज्ञाप्या श्रीमच्चरणसन्निधौ ॥ ४८ ॥

स्थिरापाय इति । स्थिरोऽपायो नाशो यस्य कायस्य, स स्थिरापायः । सदाकाय इति वा पाठः । तत्तस्मात् प्रौढकार्ये महत्कार्ये मोक्षैकप्रयोजने इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

सदिति । सत्कर्मणोऽयं विपाकः फलम् । किं तद्यदेतौ भवतः सखित्वं गतावित्यन्वयः ॥ ४६ ॥ किञ्चास्माभिः कर्तव्यमस्मत् कर्त्तव्यस्य त्वयैव कृतत्वादित्याह । यत्कर्तव्यमिति ॥ ४७ ॥

भगवद्गणयोर्दर्शनात् स्वस्यापि कृतार्थतामाह । अद्येति । श्रीमच्चरणसन्निधौ

शरीर तो सदैव निश्चितरूप से विनाशशील है और मरण में धन से कोई रक्षा नहीं हो सकती; तब फिर मूढ़बुद्धि लोग भी महत्कार्य अर्थात् मोक्ष-साधन में आपकी ही भाँति कैसे प्रयत्न कर सकते हैं ? ॥ ४४ ॥

आयुष्य तो शीघ्रता से बीती जा रही है और संसार भी शोक-सन्ताप से व्याकुल ही रहता है। अत एव धार्मिकों को धर्म में आप जैसी बुद्धि करनी चाहिए ॥ ४५ ॥

सत्कर्म का परिणाम (फल) यही है कि जो आपके और मेरे भी वन्दनीय ये दोनों भगवान् के भक्तगण आपके मित्रभाव को प्राप्त हो गये हैं ॥ ४६ ॥

अच्छा तो अब मुझे आज्ञा दीजिए कि मैं आपकी कौन सी सहायता करूँ ? क्योंकि मुझ जैसों को जो करना चाहिए, वह तो आप ने स्वयं ही कर रखा है ॥ ४७ ॥

आज मैं परम धन्य हूँ, जो यहाँ ये दोनों भगवद्गण दृष्टिगोचर हुए। श्रीमद्वैकुण्ठनाथ के चरणों में सदैव मेरी सेवा कहने योग्य है ॥ ४८ ॥

तत: प्रस्थापितस्ताभ्यां प्राविशत् स्वपुरीं यमः ।
अप्राक्षीच्च ततो विप्रस्तौ गणौ प्रस्थिते यमे ॥ ४९ ।

शिवशर्मोवाच—

साक्षादयं धर्मराजो ननु सौम्यतराऽऽकृतिः ।
धर्मण्येव वचांस्यस्य मनः प्रीतिकराणि च ॥ ५० ।
पुरी संयमनी सेयमतीव शुभलक्षणा ।
आकर्ण्य यस्य नामाऽपि पापिनोऽतीव बिभ्यति ॥ ५१ ।
यमरूपं वर्णयन्ति मर्त्यलोकेऽन्यथा जनाः ।
अन्यथाऽयं मया दृष्टो ब्रूतं तत्कारणं गणौ ॥ ५२ ।
केन पश्यन्त्यमुं लोकं निवसन्ति तथाऽत्र के ।
इदमेवास्य किं रूपं किञ्चाऽन्यच्च निवेद्यताम् ॥ ५३ ।

वैकुण्ठनाथसन्निधौ ॥ ४८ ।

अतिरम्यतरं यमं यमपुरं वा वीक्ष्य अतिविस्मयेन पृच्छति । **साक्षादिति**। अतिसौम्यतराकृतिः अतिशयेन शान्तस्वभाव इत्यर्थः ॥ ५० ।

विस्मयमेव स्फोटयति । **आकर्ण्येति** । बिभ्यति भीता भवन्ति ॥ ५१ ।

अन्यथाऽयं मया दृष्ट इत्यत्र इयञ्चान्यथा दृष्टेति बोद्धव्यम् ॥ ५२ । अन्यदपि प्रश्नत्रयमाह । **के नेति** ॥ ५३ ।

इसके अनन्तर उन दोनों गणों से बिदा होकर यमराज ने अपनी पुरी में प्रवेश किया और यमराज के चले जाने पर उस ब्राह्मण ने गणों से पूछा ॥ ४९ ।

शिवशर्मा बोले—

ये तो साक्षात् धर्मराज हैं । परम सौम्य रूपवान् हैं और इनके वचन भी मनको प्रसन्न करने वाले एवं धर्म से पूर्ण हैं । फिर यह संयमिनीपुरी भी अत्यन्त शुभलक्षणा है, जिसका नाम सुनने मात्र से पापी लोग बहुत अधिक डरने लगते हैं ॥ ५०-५१ ।

मृत्युलोक में तो सब लोग यमराज का रूप दूसरे ही रूप में वर्णन करते हैं, परन्तु मैंने तो अन्यथा ही देखा । हे गण ! इसका कारण कहिए ॥ ५२ ।

कौन लोग इस लोक को नहीं देखते (यमपुरी को नहीं देखते) ? तथा कौन लोग यहाँ रहते हैं, और इनका यही रूप है कि दूसरा कोई भी है या नहीं ? इन सब बातों को बतलाइए ॥ ५३ ।

गणावूचतुः—

शृणु सौम्य सुसौम्योऽसौ दृश्यतेऽत्र भवादृशैः ।
धर्ममूर्तिः प्रकृत्यैव निःशङ्कैः पुण्यराशिभिः ॥ ५४ ॥
अयमेव हि पिङ्गाक्षः क्रोधरक्तान्तलोचनः ।
दंष्ट्राकरालवदनो विद्युल्ललनभीषणः ॥ ५५ ॥
ऊर्ध्वकेशोऽतिकृष्णाङ्गः प्रलयाम्बुदनिःस्वनः ।
कालदण्डोद्यतकरो भ्रुकुटीकुटिलाननः ॥ ५६ ॥
आनयैनं पातयैनं बधानाऽमुञ्च दुर्दम ।
घातयैनं सुदुर्वृत्तं मूर्ध्नि तीव्रमयोघनैः ॥ ५७ ॥
आताडयैनं दुर्वृत्तं धृत्वा पादौ शिलातले ।
उत्पाटयास्य नेत्रे त्वं निधाय चरणं गले ॥ ५८ ॥

प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वदन्तौ चरमप्रश्नस्योत्तरमाहतुः । **शृणु सौम्येत्यादिना** ॥५४॥

अयमेव हि यम इत्यादि जल्पन् दुर्वृत्तैर्दूरतः श्रूयते दृश्यते चेति पञ्चत्रिंश-च्छ्लोकेनान्वयः । **यमं विशिनष्टि । पिङ्गाक्ष इत्यादिना ।** पिङ्गाक्षः पिङ्गलनेत्रः । क्रोधरक्तान्तलोचनः क्रोधेन रक्तान्ते रक्तप्रान्ते रक्तमध्ये वा लोचने यस्य सः विद्युल्ललन-भीषणः, विद्युदिव यल्ललनं रसनं जिह्वा तथा भीषणः । जिह्वाललनभीषण इति पाठे जिह्वाया यल्ललनं विस्तारस्तेन भीषण इत्यर्थः ॥ ५५ ।

भ्रुकुटीकुटिलाननः । भ्रुकुट्या वक्रभ्रुवा कुटिलमाननं यस्य सः ॥ ५६ ।

जल्पनमाहतुः । **आनयेत्यादिना ।** बधान पाशय । तीव्रं यथा स्यादयोघनैर्लोह-मुद्गरैः । **'द्रुघणो मुद्गरघनौ'** इत्यमरः ॥ ५७-५८ ।

गणों ने कहा—

हे सौम्य ! सुनो, ये (यमराज) यहाँ पर आपके समान शंका से रहित पुण्यात्माओं को स्वभावतः परम सौम्य धर्ममूर्ति दृष्टिगोचर होते हैं; परन्तु ये ही यमराज, पिंगल नेत्र क्रोध से रक्तनयनकोण, बड़े-बड़े दाँतों से विकराल मुख, विद्युत्-जिह्वा से युक्त भयंकर ऊर्ध्व केश, अत्यन्त काले अङ्गोंवाले, प्रलय-मेघ-सदृश निःस्वन, हाथ उठाकर कालदण्ड को लिए भृकुटि से कुटिल मुख होकर, हे दुर्दम ! इसे लाओ, इसे पटको, उसे बांधो; इस दुराचारी के शिर पर तीव्र लोहे के मुदगरों से पीटो, इस पापी के दोनों पावों को पकड़ कर पत्थर पर पटको, तुम इसके गले पर चरण रखकर दोनों आँखे निकाल लो ॥ ५४-५८ ।

एतस्य गल्लावुत्फुल्लौ क्षुरेणाशु विपाटय ।
पाशेन कण्ठं बद्ध्वाऽस्य समुल्लम्बय भूरुहे ॥ ५९ ।
विदारयास्य मूर्धानं करपत्रेण दारुवत् ।
पार्ष्णिघातैर्घ्नतास्यास्यं समुच्चूर्णय दारुणैः ॥ ६० ।
परदारप्रसृमरं करं छिन्ध्यस्य पापिनः ।
परदारगृहं यातुः पादौ चास्य विखण्डय ॥ ६१ ।
सूचीभी रोमकूपेषु तनुं व्यधिहि सर्वतः ।
दातुः परकलत्राङ्गे नखपङ्क्तीर्दुरात्मनः ॥ ६२ ।
परदारमुखाघ्रातुर्मुखे निष्ठीवयास्य हि ।
वक्तुः परापवादस्य कीलं तीक्ष्णं मुखे क्षिप ॥ ६३ ।

गल्लौ कपोलाधोभागौ गण्डाविति यावत् । समुल्लम्बय स्पर्शो यथा न भवति, तथा अमुं पाशयेत्यर्थः ॥ ५९ ।

करपत्रेण क्रकचेन । 'क्रकचो स्त्री करपत्रम्' इत्यमरः । पार्ष्णिघातैः गुल्पाधस्ताडनैः । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । घ्नत हिंसय ताडयेत्यर्थः । बहुवचनमार्षम् । समुच्चूर्णय च ॥ ६० ।

परदारप्रसृमरं परस्त्रीधर्षकं करमस्य पापिनश्छिन्धि द्विधा कुरु । पीषिहि पापिन इति क्वचित्पाठः । विखण्डय विशेषेण च्छेदय ॥ ६१ ।

सूचिभिः रोमकूपेषु रोमगर्तेषु व्यधिहि ताडय भिन्धीत्यर्थः । पीपृहीति पाठे पूरयेत्यर्थः ॥ ६२ ।

निष्ठीवय थूत्कृत्य श्लेष्मप्रक्षेपं कुरु । हि शब्दान्मूत्रय चेत्यर्थः । कीलं शङ्कु क्षिप प्रवेशय ॥ ६३ ।

इसके फूले हुए दोनों गालों को छूरे से काट डालो । इसके कण्ठ में फाँसी बाँधकर वृक्ष में लटका दो ॥ ५९ ।

इसका मस्तक लकड़ी की नाईं आरा से चीर डालो । इसका मुख कठोर एड़ी की चोटों से (ठोकरों से) चूर-चूर कर डालो ॥ ६० ।

इस अघी के पराई स्त्री पर फैलने वाले हाथ को काट लो, परस्त्री के घर पर जाने वाले इसके पैरों को तोड़ दो, परस्त्री के अंग में नख पंक्तियों के गड़ाने वाले इस दुरात्मा के सम्पूर्ण शरीर के रोम गर्तों में सूइयाँ गोद दो, परस्त्री के मुख संघने वाले इस दुष्ट के मुख में (खखार कर) थूंक से और इस परनिंदक के मुख में तीक्ष्ण कील ठोंक दो ॥ ६१-६३ ।

भर्जयैनं चणकवत्तप्तवालुककर्परैः ।
भ्राष्ट्रे विकटवक्त्रत्वं परसन्तापकारिणम् ॥ ६४ ।
दोषारोपं सदा कर्तुरदोषे क्रूरलोचन ।
तिमज्जयास्य वदनं पूयशोणितकर्दमे ॥ ६५ ।
अदत्तपरवस्तूनां गृह्णतः करपल्लवम् ।
आप्लुत्याप्लुत्य तैलेन तप्ताङ्गारे पचोत्कट ॥ ६६ ।
अपवादं गुरोर्वक्तुर्निन्दाकर्तुः सुपर्वणाम् ।
तप्तलोहशलाकाश्च मुखे भीषण निक्षिप ॥ ६७ ।

चणकवत् चणकाः प्रसिद्धास्तद्वत् । तप्तवालुककर्परैः सह । तत्र कर्पराः काकर इति प्रसिद्धाः क्षुद्रपाषाणविशेषा इत्यर्थः । खर्परैरिति क्वचित् पाठः । भ्राष्ट्रे भर्जनपात्रे । हे विकटवक्त्रेति दूतसम्बोधनम् ॥ ६४ ।

क्रूरलोचनेति दूतसम्बोधनम् ॥ ६५ ।

अदत्तपरवस्तूनामिति कर्मणि षष्ठी । उत्कट हे उत्कट । उत्कटमिति पाठे क्रिया-विशेषणम् ॥ ६६ ।

सुपर्वणां सुयशसां देवानां वा । **'सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः'** इत्य-मरः । भीषणेति दूतसम्बोधनम् ॥ ६७ ।

हे विकटवक्त्र ! तुम इस पर-संतापकारी को भाड़ में चने के सदृश तप्तबालुका के खपड़ों में भूँज डालो ॥ ६४ ।

हे क्रूरलोचन ! निर्दोष पर सदा दोषारोपण करनेवाले इस पापी का मुख रक्त-मांस के कीचड़ में डुबा दो ॥ ६५ ।

हे उत्कट ! बिना दिए हुए दूसरे की वस्तु को ले लेनेवाले के हाथ तेल से चुभा चुभाकर तप्त अंगार पर पका डालो ॥ ६६ ।

हे भीषण ! इस गुरुनिन्दक, देवताओं के अपवाद-कर्ता के मुख में जलती हुई लोहे की शलाका डाल दो ॥ ६७ ।

परमर्मस्पृशश्चास्य परच्छिद्रं प्रकाशितुः ।
सुतप्तायोमयान् शङ्कून् सर्वसन्धिषु रोपय ॥ ६८ ।
अन्येन दीयमाने स्वे निषेद्धुः पापकारिणः ।
आच्छेत्तुः परवृत्तीनां जिह्वां छिन्ध्यस्य दुर्मुख ॥ ६९ ।
देवस्वभोक्तुः क्रोडास्य ब्राह्मणस्वस्य भोजिनः ।
विदार्योदरमस्याशु विट्कीटैः परिपूरय ॥ ७० ।
न देवार्थे न विप्रार्थे नातिथ्यर्थे पचेत्क्वचित् ।
तममुं स्वार्थपक्तारं कुम्भीपाके पचान्धक ॥ ७१ ।
उग्रास्य शिशुहन्तारममुं विश्रम्भघातिनम् ।
कृतघ्नं नय वेगेन महारौरवरौरवम् ॥ ७२ ।

सुतप्तायोमयान् अतितप्तलोहमयान् शङ्कून् रोपय निर्वापय ॥ ६८ ।

दुर्मुखेति दूतसम्बोधनम् ॥ ६९ ।

क्रोडास्य हे क्रोडास्य विट्कीटैर्विष्ठाकृमिभिः ॥ ७० ।

अन्धकेति दूतसम्बोधनम् ॥ ७१ ।

उग्रास्य हे उग्रास्य ! महारौरवरौरवमिति द्वन्द्वैकवद्भावः ॥ ७२ ।

दूसरे के मर्मभेदक तथा परच्छिद्र के प्रकाशक उसकी समस्त सन्धियों (जोड़ों) में तप्त लोहे की कीलें जड़ दो ॥ ६८ ।

हे दुर्मुख ! दान करने में दूसरे को मना (वर्जन) करनेवाले और पराये की जीविका (वृत्ति) के छेदन करने वाले इस पापकारी की जीभ काट लो ॥ ६९ ।

हे क्रोडास्य ! देवधन और ब्राह्मणधन के भक्षक इस पापी का पेट फाड़कर विष्ठा के कीटों से भर दो ॥ ७० ।

हे अन्धक ! जो कभी देवता के अर्थ, ब्राह्मण के निमित्त अथवा अतिथि के लिये भोजन नहीं पकाया, इस स्वार्थी पापी को कुम्भीपाक में पका डालो ॥ ७१ ।

हे उग्रास्य ! इस बाल-हिंसक विश्वासघाती कृतघ्न को शीघ्रता से रौरव और महारौरव (नरक) में पहुँचा दो ॥ ७२ ।

ब्रह्मघ्नं चान्धतामिस्रे सुरापं पूयशोणिते ।
कालसूत्रे हेमचौरमवीचौ गुरुतल्पगम् ।। ७३ ।
तत्संसर्गिणमावर्षमसिपत्रवने तथा ।
एतान् महापातकिनस्तप्ततैलकटाहके ।। ७४ ।
आप्लुत्याप्लुत्य दुर्दंष्ट्र काकोलैर्लोहतुण्डकैः ।
सन्तोद्यमानान् पापिष्ठान् नित्यं कल्पं निवासय ।। ७५ ।
स्त्रीघ्नं गोघ्नञ्च मित्रघ्नं कूटशाल्मलिपादपे ।
उल्लम्बय चिरं कालमूर्ध्वपादमधोमुखम् ।। ७६ ।
त्वचमस्य च सन्दंशैस्त्रोटय त्वं महाभुज ।
आश्लेषितुर्मित्रपत्न्या भुजावुत्पाटयाशु च ।। ७७ ।

कटाहोऽत्र तप्ततैलाधारपात्रम् ।। ७४ ।

आप्लुत्याप्लुत्य आलोड्यालोड्य । दुर्दंष्ट्रेति दूतसम्बोधनम् । काकोलैर्द्रोणकाकैः । **'द्रोणकाकस्तु काकोलः'** इत्यमरः । कथम्भूतैः ? लोहतुण्डकैः लोहवद्दृढमुखैः सन्तोद्यमानान् । सन्ताड्यमानानिति क्वचित्पाठः । सन्तप्यमानानित्यन्यत्र पाठः ।। ७५ ।

हे कूटेति दूतसम्बोधनं कूटशाल्मलिर्वा । रोचनः कूटशाल्मलिरित्यमरः । उल्लम्बय अवलम्बय ।। ७६ ।

महाभुजेति दूतसम्बोधनम् । आशु चेति चकारः समुच्चये । निपातय चेत्यग्रिमे सम्बध्यते ।। ७७ ।

इस ब्रह्मघ्न को अन्धतामिस्र (नरक में), मद्यप को पूयशोणित में, सुवर्ण-चोर को कालसूत्र में और गुरुदाराभिगामी को अवीचि नामक नरक में, इन पापियों के साथी को एक वर्ष पर्यन्त असिपत्रवन नरक में (डाल दो, तदनन्तर) इन (पाँचों) महापातकियों को जलते हुए तेल के कड़ाहे में, चला चला चुराओ । पूरी तौर से पका डालो फिर हे दुर्दंष्ट्र ! लोहे चोंचवाले डोम कौओं से नोचवाते हुए इन सब पापियों को कल्पमात्र नित्य निवास कराओ ।। ७३–७५ ।

स्त्री को मारने वाले, गो-सिंहक और मित्रघाती को काले सेमर के वृक्ष में ऊपर पैर और नीचे मुख करके चिरकालपर्यन्त लटका दो ।। ७६ ।

हे महाभुज ! तुम इस मित्र-पत्नी के आलिंगन करनेवाले पापी की त्वचा सड़सियों से तोड़ दो (खाल खींच लो) और शीघ्र ही इसकी भुजाएँ उखाड़ लो ।। ७७ ।

ज्वालाकोले महाघोरे नरकेऽमुं निपातय ।
यो वह्निना दाहयति परक्षेत्रं परालयम् ॥ ७८ ।
कालकूटे च गरदं कूटसाक्ष्याभिवादिनम् ।
मानकूटं तुलाकूटं कण्ठमोटे निपातय ॥ ७९ ।
लालापिबे च दुष्प्रेक्ष्य तीर्थाप्सु ष्ठीविनं नय ।
आमपाके च गर्भघ्नं शूलपाकेऽन्यतापिनम् ॥ ८० ।
रसविक्रयिणं विप्रमिक्षुयन्त्रे प्रपीडय ।
प्रजापीडाकरं भूपमन्धकूपे निपातय ॥ ८१ ।
गोतिलांश्च तुरङ्गांश्च विक्रेतारं द्विजाधमम् ।
मातुलान्याः सुरायाश्च विक्रेतारं हलायुध ॥ ८२ ।

कूटसाक्ष्याभिवादिनं मिथ्यासाक्षित्ववदनशीलम् । कूटसाक्षित्ववादिनमिति क्वचित्पाठः । मानकूटं मानमुन्मानं कूटयति वञ्चयति[1] तथा तम् । एवं तुलाकूटमिति । कण्ठमोहेन वस्त्रवत्कण्ठनिष्पीडनेन । कण्ठभोटञ्चेति पाठे क्रियाविशेषणम् ॥ ७९ ।

तीर्थाप्सु ष्ठीविनं तीर्थजलेषु थूत्कृत्य श्लेष्मप्रक्षेपिणम् ॥ ८० ।

गोतिलादीन् विक्रेतारमिति शीलार्थतृजन्तत्वात् षष्ठ्यभावः । द्विजाधमं

आग से दूसरे का खेत और पराये का घर जलानेवाले को ज्वाला कील महाघोर नरक में डाल दो ॥ ७८ ।

विष देनेवाले और झूठी साक्षी (गवाही) करनेवाले कालकूट (नामक विष) में तथा झूठा बटखरा और झूठी तुला (डांडी) वाले को कंठमोट में ढ़केल दो ॥ ७९ ।

उत्तम दर्शन योग्य तीर्थों में थूकनेवाले को लालापीब में और गर्भविनाशक को आमपाक में तथा दूसरे को सन्ताप देनेवाले को शूलपाक (नरक) में ले जाओ ॥८०।

रस बेचनेवाले ब्राह्मण को इक्षुयन्त्र (कोल्हू) में पेर डालो और प्रजा के पीड़ाकारी राजा को अन्धकूप में गिरा दो ॥ ८१ ।

हे हलायुध ! गोतिल और घोड़ों के बेचनेवाले ब्राह्मणाधम को और भांग

---

१. थलयतीति क्वचित्पाठः ।

मुसलोलूखले वैश्यं कण्डयैनं पुनः पुनः ।
शूद्रं द्विजावमन्तारं द्विजाग्रे मञ्चसेविनम् ॥ ८३ ।

अधोमुखे च नरके दीर्घग्रीव प्रपीडय ॥ ८४ ।

शूद्रं ब्राह्मणजेतारं वैश्यं ब्राह्मणमानिनम् ।
क्षत्रियं याजकञ्चापि विप्रं वेदविवर्जितम् ॥ ८५ ।

लाक्षालवणमांसानां सतैलविषसर्पिषाम् ।
आयुधेक्षुविकाराणां विक्रेतारं द्विजाधमम् ॥ ८६ ।

पाशपाणे कशापाणे बद्ध्वैतांश्चरणे दृढम् ।
घातयन्तौ कशाघातैर्नयतं तप्तकर्दमे ॥ ८७ ।

इमांस्त्रियं श्लेषयाशु पुंश्चलीं कुलकल्मषाम् ।
तेनोपपतिना सार्धं तप्तायसमयेन च ॥ ८८ ।

विप्राणामधमं विप्राधर्मं वा । मातुलान्या भङ्गाख्याया लतायाः । मातुलानी तु भङ्गाया-मित्यमरः । इलायुधेति दूतसम्बोधनम् ॥ ८२–८३ ।

मञ्चसेविनम् उच्चपीठादिसेविनमित्यर्थः । दीर्घग्रीवेति दूतसम्बोधनम् ॥ ८४ ।

पाशपाणे हे कशापाणे ! एतान् ब्राह्मणजेतृन् शूद्रादीन् घातयन्तौ सन्तौ ॥ ८७ ।

उपपतिना जारेण । तप्तायसमयेन तप्तलोहप्रतिमाकारेण ॥ ८८ ।

एवं मद्य के विक्रेता वैश्य को ओखली में मूसल से बार-बार कूट डालो, द्विजों का अपमान करनेवाले इस शूद्र को हे दीर्घग्रीव ! अधोमुख नरक में अत्यन्त पीड़ित करो ॥८२–८४।

ब्राह्मण विजयी शूद्र, विप्राभिमामी वैश्य, याजक (यज्ञ करानेवाला) क्षत्रिय, वेद से रहित ब्राह्मण, लोह, लवण, मांस, तैल, विष, घृत, शस्त्र और गुड इत्यादि इक्षु-विकार के विक्रेता द्विजाधम को, हे पाशपाणे ! कशापाणे ! इन सबों के पैर को दृढ़ता से बाँधकर कशा (चाबुक) से पीटकर जलते हुए कीचड़ में डालते जाओ ॥ ८५–८७ ।

इस कुल-कल्मषा पुंश्चली स्त्री को जलते हुए लोहे के बने उस जार के साथ लिपटा दो ॥ ८८ ।

स्वयं गृहीत्वा नियमं यस्त्यजेदजितेन्द्रियः ।
तं प्रापय दुराधर्षं बहुभ्रमरदंशके ॥ ८९ ।
इत्यादि जल्पन् दुर्वृत्तैः श्रूयते दूरतो यमः ।
स्वकर्मशङ्कितैः पापैर्दृश्यतेऽतिभयङ्करः ॥ ९० ।
ये प्रजाः पालयन्तीह पुत्रानेव निजौरसान् ।
दण्डयन्ति च धर्मेण भूपास्तेऽस्य सभासदः ॥ ९१ ।
वर्णाश्रमाश्च यद्राष्ट्रेऽनुतिष्ठन्ति निजां क्रियाम् ।
कालेनापन्ननिधना भूपास्तेऽस्य सभासदः ॥ ९२ ।
नैव दीनो न दुर्वृत्तो नापद्ग्रस्तो न शोकभाक् ।
येषां राष्ट्रे प्रदृश्यन्ते भूपास्तेऽस्य सभासदः ॥ ९३ ।

तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाहतुः । ये प्रजा इत्यादिसप्तभिः । औरसान् धर्मपत्न्यां स्वहृदयाज्जातान् । पुत्रानेवेत्येवशब्दस्य पालयन्तीत्यनेन सम्बन्धः ॥ ९१ ।

दीनादिरूपा लोका इति शेषः । येषां राष्ट्रे न प्रदृश्यन्ते, ते भूपा अस्य धर्मराजस्य सभासदो भवन्तीत्यर्थः ॥ ९३ ।

जो अजितेन्द्रिय स्वयं नियमों को ग्रहण करके छोड़ दे, उस दुराधर्ष को बहुभ्रमर दंशक (नरक) पहुँचा दो ॥ ८९ ।

इस प्रकार की आज्ञा करते हुए यम दुर्वृत्तों को दूर से ही सुनायी पड़ते हैं ॥ ९० ।

जो इस लोक में अपने औरस पुत्र के समान प्रजाओं का पालन करते हैं और धर्मानुसार दण्ड देते हैं, वे राजा लोग इन (यमराज) के सभासद होते हैं ॥ ९१ ।

जिनके राज्य में (चारो) वर्ण और आश्रम अपने कर्म का अनुष्ठान करते हैं; काल पाकर (पूरी आयु भोगकर) मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे ही भूपालगण इनके सभ्य होते हैं ॥ ९२ ।

जिनके राष्ट्र (देश) में दीन, दुर्वृत्त (दुराचारी), आपत्तिग्रस्त और शोकातुर नहीं दिखलाई पड़ते, वे नरपतिगण इन यमदेव के सभासद होते हैं ॥ ९३ ।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्वधर्मनिरताः सदा।
अन्येऽपि ये संयमिनः संयमिन्यां वसन्ति ते ॥ ९४ ।
उशीनरः सुधन्वा च वृषपर्वा जयद्रथः।
रजिः सहस्रजित् कुक्षिर्दृढधन्वा रिपुञ्जयः ॥ ९५ ।
युवनाश्वो दन्तवक्रो नाभागो रिपुमङ्गलः।
करन्धमो धर्मसेनः परमर्दः परान्तकः ॥ ९६ ।
एते चान्ये च बहवो राजानो नीतिवर्तिनः।
धर्माधर्मविचारज्ञाः सुधर्मायां समासते ॥ ९७ ।
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यावो ये न पश्यन्ति भास्करिम्।
दण्डपाशोद्यतकरान् दूतानुग्राननान् क्वचित् ॥ ९८ ।

लोकानेव दर्शयन्तो तेषामपि तत्र वासमाहतुः। ब्राह्मणा इति। यद्वा न केवलं भूपा एव, अन्येऽपि तत्र निवसन्तीत्याहतुः। ब्राह्मणाः इति। अन्ये शूद्रा अपि शब्दादेतद्व्यतिरिक्ता अपि ॥ ९४ ।

भूपानेव कांश्चित् प्राधान्येन दर्शयतः। उशीनर इति। उशीनरः शिविः ॥ ९५ ।

रिपूणामपि मङ्गलं यस्मात्, स रिपुमङ्गलः। अरिपुमङ्गल इति वा। रिपुमर्दन इति क्वचित्पाठः ॥ ९६ ।

द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाहतुः। अन्यच्चेति। अन्यांश्चेति क्वचित्पाठः। भास्करिं यमदूतांश्चेति लोकस्योपलक्षणमेतत् ॥ ९८ ।

सर्वदा अपने धर्म में तत्पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और दूसरे संयमी लोग भी संयमिनो के निवासी होते हैं ॥ ९४ ।

उशीनर, सुधन्वा, वृषपर्वा, जयद्रथ, रजि, सहस्रजित्, कुक्षि, दृढ़धन्वा, रिपुञ्जय, युवनाश्व, दन्तवक्र, नाभाग, रिपुमंगल, करन्धम, धर्मसेन, परमर्दक और परान्तक आदि राजे तथा अनेक दूसरे नीति-मार्गानुसारी, धर्म और अधर्म के विचार में निपुण भूपालगण, सुधर्मा नाम (यमराज की सभा) में बैठते हैं ॥ ९५-९७ ।

एक अन्य प्रकार के और लोग हैं, जिन्हें यमराज तथा दण्डपाशयुक्त हस्त, उग्रमुख यमदूतों को कभी नहीं देखते (अर्थात् जिनके पास यमदूत कभी नहीं फटकते), उनका भी हम लोग परिचय बता देते हैं ॥ ९८ ।

गोविन्द माधव मुकुन्द हरे मुरारे शम्भो शिवेश शशिशेखरशूलपाणे।
दामोदराच्युत जनार्दन वासुदेव त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥९९॥
गङ्गाधरान्धकरिपो हर नीलकण्ठ वैकुण्ठकैटभरिपो कमठाब्जपाणे।
भूतेशखण्डपरशो मृडचण्डिकेश त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१००॥

गोविन्देत्याद्येकादशश्लोकानां इत्थं धर्मराजः स्वभृत्यगणान् सदैव संशिक्षयेत् संशिक्षयतीति द्वादशेनान्वयः।

हे भटा इति ये सन्ततमाममन्ति, ते त्याज्या भवद्भिरिति शेषः। इति सर्वत्र योजना। इतिशब्दपरामृष्टं कर्माह। गोविन्देत्यादि। सर्वत्रार्थभेदाच्च पौनरुक्त्यं नोद्भावनीयम्। गोविन्दप्राप्तकामधेन्वैश्वर्य। मा लक्ष्मीः अविद्या वा, तस्या धवो माधवः। मुक्तिं [1]ददातीति मुकुन्दः। मुचेर्डुकुन्दकुन्दाविति डुकुन्दप्रत्ययः। हे मुक्तिदेत्यर्थः। हरे भक्तपापहारिन्। मुरारे मुरनाम्नो दैत्यस्यारे। शं कल्याणं भवत्यस्मादिति शम्भुस्तत्सम्बोधनं हे शम्भो! शिव सुखस्वरूप। ईश सर्वनियन्तः! शशिशेखर चन्द्रभूषण! शूलपाणे त्रिशूलकर। दामोदर रज्जुकुक्षे। स्वभावान्न च्यवत इत्यच्युत। जनार्दन प्राणिमात्रस्य गते। अर्द गतिहिंसादानेष्विति धातुः। वासुदेव सर्वान्तर्यामिन् ॥ ९९।

गङ्गाधर मन्दाकिनधर्तः। अन्धकरिपो तन्नामदैत्यस्य शत्रो। हर संसारहर। नीलकण्ठ क्षीरोदमथनोद्भूतकालकूटविषपानात् शक्रेण कुलिशाहननाद्वा दक्षयज्ञयुद्धे प्रसह्य विष्णुनाकण्ठग्रहणाद्वा। तथा चोक्तं स्कान्दे[2]—"इति तस्य वचः श्रुत्वा मया गिरिवरात्मजे। धृतं कण्ठे विषं घोरं ततः श्रीकण्ठता मम" इति। हरिवंशे च—दत्तः प्रहारः कुलिशेन पूर्वं तवेशानसुरराज्ञातिवीर्यं कण्ठे नैल्यं तेन ते यत्प्रवृत्तं तस्मात् ख्यातस्त्वं नीलकण्ठेति। कल्पे। ततः प्रसभमाप्लुत्य द्रुतं विष्णुः सनातनः। जग्राह कण्ठे भगवान् नीलकण्ठस्ततोऽभवादिति। वैकुण्ठ विकुण्ठायाः पुत्र। कैटभरिपो तन्नाम्नोऽसुरस्य शत्रो। कमठ कूर्म। अब्जपाणे पद्महस्त। भूतेश गणस्वामिन्। खण्डपरशो भग्नकुठार। बदरिकाश्रमे तपस्यतो नारायणस्याङ्के किल शिवः परशुं प्राक्षिपत्, स च तदङ्गमासाद्य खण्डो द्विधा अभूत्। यद्वा परान् शत्रून् अन्धकादीन् ऊर्ध्वीकृत्य धृतान् श्यति तनूकरोतीति परशुस्त्रिशूलम्। तथा चोक्तं पद्मपुराणीयसहस्रनाम्नि—शिवत्रिशूलविध्वंसीति। हे खण्डत्रिशूलेत्यर्थः। **मृड सुखदायक**। चण्डिकेश पार्वतीपते ॥ १००।

हे गोविन्द! माधव! मुकुन्द! हरे! मुरारे! शम्भो! शिव! ईश! शशिशेखर! शूलपाणे! दामोदर! अच्युत! जनार्दन! वासुदेव! (१४) हे दूतगण! जो लोग ऐसा सदा मनन करते हैं, वे त्याज्य हैं ॥ ९९।

हे गंगाधर! अन्धकरिपो! हर! नीलकण्ठ! वैकुण्ठ! कैटभरिपो! कमठ! अब्जपाणे! भूतेश! खण्डपरशो! मृड! चण्डिकेश! (१२) हे गण लोग! जो इस प्रकार सतत जपते रहते हैं, उन्हें यमदूत दूर से ही त्यागना उचित मानते हैं ॥ १००।

---

१. इदं फलितार्थकथनं विग्रहस्तु मोचयतीति मुकुन्द इति। २. स्थलान्तरे इत्यर्थः।

विष्णो नृसिंह मधुसूदन चक्रपाणे गौरीपते गिरिश शङ्करचन्द्रचूड ।
नारायणासुरनिबर्हणशार्ङ्गपाणे त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०१।
मृत्युञ्जयोग्रविषमेक्षणकामशत्रो श्रीकान्तपीतवसनाम्बुदनीलशौरे ।
ईशान कृत्तिवसनत्रिदशैकनाथ त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०२।
लक्ष्मीपते मधुरिपो पुरुषोत्तमाद्य श्रीकण्ठदिग्वसनशान्तपिनाकपाणे ।
आनन्दकन्दधरणीधरपद्मनाभ त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०३।

विष्णो व्यापनशील । नृसिंह नरहरिरूप । मधुसूदन तन्नाम्नो दैत्यस्य नाशन । चक्रपाणे सुदर्शनहस्त । गौरीपते उमाकान्त । गिरिश कैलासशयन । शङ्कर सुखकर । चन्द्रचूड शशिमुकुट । नारायण सर्वान्तर्यामिन् । असुरनिबहण दैत्यप्रहरण । शार्ङ्गपाणे तन्नाम धनुर्हस्त ॥ १०१ ।

मृत्युञ्जय जितमृत्यो । उग्र अनाधृष्य । विषमेक्षण त्रिनेत्र । कामशत्रो कन्दर्पदहन । श्रीकान्त लक्ष्मीपते । पीतवसन पीताम्बर । अम्बुदनील मेघश्याम । सौरे सूरवंशोद्भव । ईशान ईश्वर । कृत्तिवसन गजासुरचर्मवस्त्र । त्रिदशैकनाथ देवमुख्यस्वामिन् ॥ १०२ ।

लक्ष्मीपते श्रीभर्तः । मधुरिपो मधुसूदन । पुरुषोत्तम क्षराक्षरातीत । आद्य सर्वकारण । श्रीकण्ठ नीलकण्ठ । दिग्वसन दिगम्बर । शान्त निष्क्रिय । पिनाकपाणे आजगवकर । आनन्दश्चासौ कन्दो मूलञ्चेति आनन्दकन्द हे परमानन्द इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—'**स एष परमानन्दः**' । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति च । प्रपञ्चितञ्चैतद्बालबोधिनीटीकायामस्माभिः । धरणीधर वराहस्वरूप । पद्मनाभ कमलोदर ॥ १०३ ।

हे विष्णो ! नृसिंह ! मधुसूदन ! चक्रपाणे ! गौरीपते ! गिरीश ! शंकर ! चन्द्रचूड ! नारायण ! असुर-निबर्हण ! शार्ङ्गपाणे ! (११) इस विधि से जो निरन्तर कहा करते हैं, हे दूतों ! वे त्याग देने योग्य हैं ॥ १०१ ।

हे मृत्युञ्जय ! उग्र ! विषमेक्षण ! कामशत्रो ! श्रीकान्त ! पीतवसन ! अम्बुदनील ! शौरे ! ईशान ! कृत्तिवसन ! त्रिदशैकनाथ ! (११) यों हो जो नित्य भजा करते हैं, हे भट्टगण ! वे परित्याज्य हैं ॥ १०२ ।

हे लक्ष्मीपते ! मधुरिपो ! पुरुषोत्तम ! आद्य ! श्रीकण्ठ ! दिग्वसन ! शान्त ! पिनाकपाणे ! आनन्दकन्द ! धरणीधर ! पद्मनाभ ! (११) इस रीति से जो लोग चिन्तन करते (रहते) हैं, वे कभी यमदूतों के लिए स्पर्श के योग्य नहीं होते ॥ १०३ ।

सर्वेश्वर त्रिपुरसूदन देवदेव ब्रह्मण्यदेव गरुडध्वज शङ्खपाणे ।
त्र्यक्षोरगाभरणबालमृगाङ्कमौले त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०४॥
श्रीराम राघव रमेश्वर रावणारे भूतेश मन्मथरिपो प्रमथाधिनाथ ।
चाणूरमर्दनहृषीकपते मुरारे त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०५॥
शूलिन् गिरीश रजनीश कलावतंस कंसप्रणाशन सनातन केशिनाश ।
भर्गत्रिनेत्र भव भूतपते पुरारे त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०६॥

सर्वेश्वर विश्वनियन्तः । त्रिपुरसूदन पुरत्रयारे । देवदेव ब्रह्मादिसेव्य । ब्रह्मण्यदेव ब्रह्मभ्यो ब्राह्मणेभ्यो हिता ये ब्रह्मण्यास्तेषु मध्ये दीव्यति अतिशयेन राजते । यद्वा ब्रह्मण्यश्चासौ देवश्चेति तत्सम्बोधनम् । तथा गरुडो ध्वजे यस्य स तथा तत्सम्बोधनं हे गरुडध्वज । शङ्खपाणे पाञ्चजन्यहस्त । त्रीण्यक्षाणि नेत्राणि चन्द्रसूर्यानलात्मकानि यस्य हे त्रिनेत्रेत्यर्थः । उरगाभरण सर्पभूषण । बाल हे कुमार । कल्यादावात्मनस्तुल्यं सुतं प्रध्यायतः प्रादुरासीत् प्रभोरङ्के कुमारो नीललोहित इति वैष्णवोक्तेः । मृगाङ्कमौले चन्द्रमुकुट । बाल एककलात्मकश्चन्द्रो मस्तके यस्येत्येकं वा नाम ॥ १०४ ।

श्रीराम श्रीसहितपरब्रह्म । श्रियो रामो रमणं यस्मादिति वा । राघव रघुवंशोद्भव । रमेश्वर सीतापते । रावणारे दशकन्धरशत्रो । भूतेश प्राणिमात्रेश । आत्मेशेति वा पाठः । मन्मथरिपो कामशत्रो । प्रमथाधिनाथ गणेश्वर । चाणूरमर्दन तन्नामदैत्यसूदन । हृषीकपते इन्द्रियनियन्तः । मुरारे मुरति संवेष्टयति मूर्छयतीति वा मुरा अविद्या । मुर संवेष्टने । मूर्छामोहसमुछ्राययोरिति धातुः । तस्या अरे शत्रो । असुरारे इति वा पाठः ॥ १०५ ।

शूलिन् त्रिशूलास्त्रधारिन् । गिरीश कैलासेश । रजनीशस्य चन्द्रस्य कला अवतंसः शिरो भूषणं यस्य, तत्सम्बोधनम् । तथा कंसं प्रणाशयतीति कंसप्रणाशन । सनातन चिरन्तन । हे कालत्रयाबाध्येत्यर्थः । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति श्रुतेः । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातन इति स्मृतेश्च । केशिनं नाशयतीति तथा तत्सम्बोधनं हे केशिनाश । केशिनाशिन्निति क्वचित्पाठः । भर्ग भर्जयति, दहति कालाग्निरुद्ररूपेण प्रलयसमये सर्वमिति भर्गस्तत्सम्बोधनं तथा । भ्रस्जो भर्जन इति धातुः । त्रिनेत्र त्रिलोचन । भवत्य-

---

हे सर्वेश्वर ! त्रिपुरसूदन ! देवदेव ! ब्रह्मण्यदेव ! गरुडध्वज ! शंखपाणे ! अक्ष ! उरगाभरण ! बालमृगांकमौले ! हे दूतों ! सदा ऐसा कथन करनेवालों से दूर ही रहना चाहिए ॥ १०४ ।

हे श्रीराम ! राघव ! रमेश्वर ! रावणारे ! भूतेश ! मन्मथरिपो ! प्रमथाधिनाथ ! चाणूरमर्दन ! हृषीकपते ! मुरारे ! (१०) इसी विधि से सर्वदा भाषण करने वालों का हे भट लोगों ! परित्याग ही उचित है ॥ १०५ ।

हे शूलिन् ! गिरीश ! रजनीशकलावतंस ! कंसप्रणाशन ! सनातन ! केशि-

गोपीपते यदुपते वसुदेवसूनो कर्पूरगौरवृषभध्वज भालनेत्र ।
गोवर्धनोद्धरणधर्मधुरीणगोप त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति ॥१०७।
स्थाणो त्रिलोचन पिनाकधरस्मरारे कृष्णाऽनिरुद्ध कमलाकर कल्मषारे ।
विश्वेश्वर त्रिपथगार्द्रजटाकलाप त्याज्या भटा य इति सन्ततमामनन्ति॥१०८।

स्मादिति भवः सर्वोपादानेत्यर्थः। भूतपते आकाशादिभूतस्रष्टः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः। पुरारे त्रिपुरारे ॥ १०६।

गोपीपते इति। गोपी राधाद्या गोपायति रक्षति स्वकार्यजातमिति गोपी, अविद्या वा, तस्याः पते। यदुपते यदुवंशस्वामिन्। वसुदेवसूनो शौरितनय। कर्पूरगौरे कर्पूरवच्छुभ्र। वृषध्वज वृषकेतो। भालनेत्र हे ललाटनयन। गोवर्धनोद्धरण तन्नामपर्वतधारक। धर्मधुरीण गोपधर्मेषु धुरीणा धुर्यास्तान् गोपायतीति तत्सम्बोधनं तथा। **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'** (गी० ४।८) इति स्मृतेः। धर्मधुरीण गोपेति नामद्वयं वा। अस्मिन् पक्षे बालमृगाङ्कमौल इत्येकं नाम ज्ञातव्यम् ॥ १०७।

स्थानंस्था सर्वाधारः, अणुरिन्द्रियाऽगोचरत्वात् सूक्ष्मः, स च स्थाणुः। स्थिरत्वाद्वा स्थाणुः। स्थाः स्थावरः अनितीत्युणादावणुर्जङ्गमश्चराचररूपः स्थाणुः, तपोमूलत्वात् स्थाणुरिव तिष्ठतीति वा स्थाणुस्तस्य सम्बोधनं हे स्थाणो। त्रिलोचन त्रिनेत्र। पिनाकधर तन्नामधनुर्धर। स्मरारे कामारे। कृष्ण भक्तपापकर्षण। अनिरुद्ध न केनाऽपि वशीकृत। कमलाकर लक्ष्म्याश्रय। कल्मषारे पापारे। विश्वेश्वर सर्वेश्वर। त्रिपथगार्द्रजटाकलाप गङ्गाजलाप्लावितजटासमूहेति। आमनन्तीत्यस्यावृत्तिर्नाम सङ्कीर्तनस्य प्राधान्यज्ञापनाय ॥ १०८।

नाश ! भर्ग ! त्रिनेत्र ! भव ! भूतपते ! पुरारे ! जो सतत ऐसा आमनन किया करते हैं, हे गण ! वे त्याज्य ही हैं ॥ १०६।

हे गौरीपते ! यदुपते ! वसुदेवसूनो ! कर्पूरगौर ! वृषभध्वज ! भालनेत्र ! गोवर्धनोद्धरण ! धर्मधुरीणगोप ! इस प्रकार जो लोग भजन करते हों, हे दूतों ! उनसे दूर ही हटे रहना सर्वथा योग्य है ॥ १०७।

हे स्थाणो ! त्रिलोचन ! पिनाकधर ! कृष्ण ! अनिरुद्ध ! कमलाकर ! कल्मषारे ! विश्वेश्वर ! त्रिपथगार्द्रजटाकलाप ! इस विधान से ध्यान किया करते हैं, दूतगण ! उन्हें सर्वथा छोड़ देना उचित है ॥ १०८।

अष्टोत्तराधिकशतेन सुचारुनाम्नां सन्दर्भितां ललितरत्नकदम्बकेन ।
सन्नायकां दृढगुणां द्विजकण्ठगां यः कुर्यादिमां स्रजमहो स यमं न पश्येत् ॥ १०९ ॥
इत्थं द्विजेन्द्र निजभृत्यगणान् सदैव संशिक्षयेदवनिगान् स हि धर्मराजः ।
अन्येऽपि ये हरिहराङ्कधराधरायां ते दूरतः पुनरहो परिवर्जनीयाः ॥ ११० ॥

अगस्तिरुवाच—

यो धर्मराजरचितां ललितप्रबन्धां नामावलीं सकलकल्मषबीजहन्त्रीम् ।
धीरोऽत्र कौस्तुभभृतः शशिभूषणस्य नित्यं जपेत् स्तनरसं स पिबेन्न मातुः ॥ १११ ॥

अष्टोत्तरेति । अहो द्विज शिव शर्मन् य इमां स्रजं मालां कण्ठगां कुर्यादावर्तयेत्, स यमं न पश्येदित्यन्वयः । इमां कामित्यपेक्षायां मालां विशिनष्टि । सुचारुनाम्नां सुष्ठु चारूणि च तानि नामानि चेति सुचारुनामानि तेषामष्टोत्तराधिकशतेन अष्टौ उत्तराणि अधिकानि यस्मिंस्तदष्टोत्तराधिकं तच्च तच्छतञ्चेति तत्तथा तेन सन्दर्भितां ग्रथितां रचितामिति यावत् । अत्रोत्तराधिकशब्दयोर्व्याख्येयव्याख्यानभावान्न पौनरुक्त्यम् । यद्वा अष्टोत्तरं च तदधिकं च कृत्स्नाष्टोत्तरशतनामादिभ्योऽधिकमेतदिति व्याख्येयम् । कथम्भूतेन ? ललितान्येव पदलालित्यादीन्येव रत्नानि, तेषां कदम्बः समूहो यस्मिंस्तत्तथा तेन । कथम्भूताम् ? सन्नायकां सन् सम्यग् वा हरिहरात्मको भगवान्नायको धारको यस्याः, सा तथा ताम् । पुनः कथम्भूताम् ? दृढगुणां दृढः असाधारणो भगवदेकाश्रयो गुणो यस्याः, सा तथा ताम् ॥ १०९ ॥

इत्थमिति । द्विजेन्द्र हे त्रैवर्णिकश्रेष्ठ ! हरिहराङ्कधरा हरिहरयोरङ्कानि शङ्खचक्ररुद्राक्षविभूत्यादीनि धरन्तीति तथा । अहो इति सम्भ्रमे ॥ ११० ॥

यो धर्मराजेति । ललितप्रबन्धां ललितो रम्यः प्रबन्धो रचना परिपाटी यस्यां सा तथा ताम् । सकलकल्मषबीजहन्त्रीं सकलकल्मषाणां कायवाङ्मनोजन्यानां दशविधानां

अहो द्विज शिवशर्मन् ! सुन्दर नाम के एक सौ आठ ललित पदरूपी रत्नसमूहों से गुथी गयी, प्रशस्त हार मध्यमणि (सुमेरु) से सुशोभित, दृढ़ गुण (डोरा) युक्त इस (नाम) माला को जो कण्ठस्थ करे, उसे यमराज को कभी भी देखना नहीं पड़ता ॥ १०९ ॥

हे द्विजेन्द्र ! इस प्रकार से वह धर्मराज पृथ्वी पर जानेवाले अपने भृत्य गणों को सदैव शिक्षा देते रहते हैं कि—(उपर्युक्त भाँति के लोगों के पास भी न जाओ । उनकी ओर कभी देखो भी नहीं) अहो ! भूतल में और भी जो कोई विष्णु अथवा शिव के चिह्न को धारण किये हो, उसका दूर से परिवर्जन कर देना उचित है ॥ ११० ॥

अगस्त्य बोले—

जो कोई धीर नर धर्मराज की विरचित ललित-प्रबन्धों से युक्त समस्त पाप-बीजों की विनाशिनी इस हरिहरात्मिका नामावली को यहाँ नित्य ही जपे, उसे माता

इति शृण्वन् कथां रम्यां शिवशर्मा प्रियेऽनघाम् ।
प्रहृष्टवक्त्रः पुरतो ददर्शाप्सरसां पुरीम् ।। ११२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे यमलोकवर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

पापानां बीजं पदज्ञानं वासना वा तस्य हन्त्रीम्, छेत्त्रीम्, यो धीरो जपेत्, स मातुः स्तनं न पिबेत् । मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ १११ ।

इतीति । प्रहृष्टवक्त्रोऽस्मत् स्वामिनोर्हरिहरयोर्नामकीर्तनमाहात्म्यमेवं भूतमिति विज्ञाय प्रसन्नमुखः । [1]भुवना १४ दित्या १२ रुद्रा ११ रुद्रा ११ रुद्रा ११ ग्रहा ९ दिशो १० रुद्राः ११ वर्षाणि ९ दिशो १० दशसु श्लोकेष्वष्टोत्तरशतं नाम्नाम् ॥ ११२ ।

नवमेऽप्सरसां लोको मार्तण्डस्य परात्मनः ।
लोकश्च वर्ण्यते रम्यो नानाश्चर्यविशेषवान् ॥ १ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

के स्तन-रस (दुग्ध) को पुनः नहीं पीना पड़ता, अर्थात् उस मनुष्य के पुनः जन्म लेने से मुक्ति हो जाती है ॥ १११ ।

हे प्रिये ! प्रसन्नवदन वह शिवशर्मा (ब्राह्मण) इस प्रकार से पापहारिणी मनोहर कथा को सुनता हुआ सन्मुख ही अप्सराओं की नगरी को देखने लगा ॥११२।

दुर्जन को यमराज जो, सो सज्जनहित धर्म ।
देत शुभाशुभ फल सबै, जाकर जैसो कर्म ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे भाषाटीकायां पिशाचलोकमारभ्य यमलोकवर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

---

1. ३ मनवो १४ रवयो १२ रुद्रा ११ रुद्रा ११ ग्रहा ९ दिश १० श्चैव ॥ रुद्रा ११ ग्रहा ९ दिशो १० दिक् श्लोकेषु अष्टोत्तरं शतं नाम्नामिमि पुस्तकान्तरे पाठः ।

अथ नवमोऽध्यायः

शिवशर्मोवाच—

का इमा रूपलावण्यसौभाग्यनिधयः स्त्रियः ।
दिव्यालङ्कारधारिण्यो दिव्यभोगसमन्विताः ॥ १ ॥

गणावूचतुः—

एता वारविलासिन्यो यज्ञभाजां प्रियङ्कराः ।
गीतज्ञा नृत्यकुशला वाद्यविद्याविचक्षणाः ॥ २ ॥
कामकेलिकलाऽभिज्ञा द्यूतविद्याविशारदाः ।
रसज्ञा भाववेदिन्यश्चतुराश्चोचितोक्तिषु ॥ ३ ॥

रूपलावण्यसौभाग्यनिधयः, रूपं सौन्दर्यम्, लावण्यं दीप्तिः, सौभाग्यं शोभनादृष्टत्वम्, तेषां निधयः । तदाश्रया इत्यर्थः ॥ १ ॥

वारविलासिन्यो वारस्त्रियो वेश्या इत्यर्थः । वारस्त्री गणिका वेश्येत्यमरः । यज्ञभाजाम् इन्द्रादीनाम् ॥ २ ।

कामकेलिकलाभिज्ञाः, कामोऽभिलाषः पुंसामित्यर्थात् । कामोऽभिलाषस्तर्षश्चेत्यमरः । केलिः परीहासः । द्रवकेलिपरीहासा इत्यमरः । कला शिल्पम् । 'कला शिल्पे च कामे च' इत्यमरः । एतेष्वभिज्ञाश्चतुरा इत्यर्थः । रसज्ञाः शृङ्गारादिरसाऽभिज्ञाः । भाववेदिन्योऽभिप्रायाऽभिज्ञाः ॥ ३ ।

(अप्सरा-लोक और सूर्यलोक का वर्णन)

शिवशर्मा बोले—

रूप-लावण्य सौभाग्यशालिनी दिव्य भूषण-धारिणी स्वर्गीय भोग से परिपूर्ण ये रमणियां कौन हैं ? ॥ १ ।

गणों ने कहा—

ये सब अप्सराएँ हैं और इन्द्रादि देवगण की प्रीतिपात्र वेश्याएँ हैं । गाने में अभिज्ञ, नृत्य में कुशल और बाजा बजाने में बड़ी चतुर हैं, काम-केलि-कला में कुशल, द्यूतकर्म में दूरदर्शिता, रसिकता, मनोगत भाव का ज्ञान, समयोचित वाक् प्रयोगचातुरी, अनेक देशविशेष का अभिज्ञान, नाना भाषाओं में पाण्डित्य और संकेत-वृत्तान्त में

नानादेशविशेषज्ञा नानाभाषासु कोविदाः ।
सङ्केतोदन्तनिपुणा नैकाः स्वैरचरा मुदा ॥ ४ ।
लीलानर्मसु साभिज्ञाः सुप्रलापेषु पण्डिताः ।
यूनां मनांसि सततं स्वैर्हावै रमयन्त्यमूः ॥ ५ ।
निर्मथ्यमानात्क्षीरोदात् पूर्वमप्सरसस्त्वमूः ।
निःसृतास्त्रिजगज्जेतुर्मोहनास्त्रं मनोभुवः ॥ ६ ।

सङ्केतोदन्तनिपुणाः रहस्यवृत्तान्तदक्षाः । वार्ताप्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यादथाह्वय इत्यमरः । नैकाः संघशः संघशो वर्तमाना इत्यर्थः ॥ ४ ।

लीलानर्मसु साभिज्ञाः, लीलाः शृङ्गारभावजा हावाः । क्रिया इत्यर्थः ।

स्त्रीणां विलासबिब्बोकविभ्रमा ललितं तथा ।
हेलालीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः ॥ इत्यमरः ।

नर्माणि क्रीडाकौतुकानीति यावत् । तेषु साभिज्ञा अभिज्ञानसहिताः । हावैः शृङ्गारभावजैर्व्यापारैः ॥ ५ ।

निःसृता उत्थिताः । अनेनाप्सरसः शब्दनिरुक्तिर्दर्शिता । तदुक्तं रामायणे—

अप्सु निर्मथ्यमानासु रसात्तस्माद्वरस्त्रियः ।
उत्पेतुरम्भसो यस्मात्तस्मादप्सरसोऽभवन् ॥ इति ।

त्रिजगज्जेतुस्त्रैलोक्यजयिनो मनोभुवः कामस्य मुह्यतेऽनेनेति मोहनम्, तच्च तदस्त्रञ्चेति मोहनास्त्रम् । वेदाः प्रमाणमितिवत् सामानाधिकरण्यम् ॥ ६ ।

निपुणता इत्यादि गुणों से परिपूर्ण ये सब दल-बद्ध होकर हर्षपूर्वक स्वच्छन्द भ्रमण करती हैं ॥ २-४ ।

शृंगारक्रिया और क्रीडा-कौतुक (खेल में खेलवाड़) चतुर और मधुरालाप में प्रवीण—ये सब अप्सराएँ अपने हाव-भावों से जवानों के मन का हरण कर लेती हैं ॥ ५ ।

पूर्वकाल में क्षीर-समुद्र के मन्थन से निकली (उत्पन्न हुई) ये अप्सराएँ त्रिलोक-विजयी कामदेव के मोहनास्त्रस्वरूप हैं ॥ ६ ।

उर्वशी मेनका रम्भा चन्द्रलेखा तिलोत्तमा ।
वपुष्मती कान्तिमती लीलावत्युत्पलावती ॥ ७ ।
अलम्बुषा गुणवती स्थूलकेशी कलावती ।
कलानिधिर्गुणनिधिः कर्पूरतिलकोर्वरा ॥ ८ ।
अनङ्गलतिका चापि तथा मदनमोहिनी ।
चकोराक्षी चन्द्रकला तथा मुनिमनोहरा ॥ ९ ।
ग्रावद्रावा तपोद्वेष्ट्री चारुनासा सुकर्णिका ।
दारुसञ्जीविनी सुश्रीः क्रतुशुल्का शुभानना ॥ १० ।
तपःशुल्का तीर्थशुल्का दानशुल्का हिमावती ।
पञ्चाश्वमेधिका चैव राजसूयार्थिनी तथा ॥ ११ ।
अष्टाग्निहोमिका तद्वद्वाजपेयशतोद्भवा ।
इत्याद्यप्सरसां श्रेष्ठं सहस्रं षष्टिसम्मितम् ॥ १२ ।

उर्वशी नारायणोरुमश्नाति स्वोत्पत्त्यर्थं भिनत्तीति तथा । तथोक्तं हरिवंशे—

नारायणोरुं निर्भिद्य सम्भूता वरवर्णिनी ।
ऐलस्य दयिता देवी योषिद्रत्नं किमुर्वशीति ॥

न चोभयत्रोत्पत्तौ विरोधः । केनचिन्निमित्तेन वसिष्ठस्येव तदुपपत्तेः । रूपलावण्यसौभाग्यादिभिर्मेनकोर्वशी इत्यभिमानो यस्याः सा मेनका । रूपलावण्यादिभिर्जगद्रम्भति मोहयतीति रम्भा । चन्द्रवदर्धचन्द्रवल्ललाटे लेखा तिलकं यस्याः सा चन्द्रलेखा । रत्नानां तिलं तिलं समानीय निर्मितेति तिलोत्तमा । तदुक्तमादिपर्वणि—

तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद्विनिर्मिता ।
तिलोत्तमेति तत्तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ इति ।

अन्यासामपि यथायथं व्युत्पत्तिर्ज्ञेया ॥ ७ ।

अलमत्यर्थं बुसमिव बुसमतिनिकृष्टा यस्याः, अर्थादन्यस्त्री साऽलम्बुषा ॥ ८ ।

उर्वशी, मेनका, रम्भा, चन्द्रलेखा, तिलोत्तमा, वपुष्मती, कान्तिमती, लीलावती, उत्पलावती, अलम्बुषा, गुणवती, स्थूलकेशी, कलावती, कलानिधि, गुणनिधि, कर्पूर-तिलका, उर्वरा, अनंगलतिका, मदनमोहिनी, चकोराक्षी, चन्द्रकला, मुनिमनोहरा, ग्रावद्रावा, तपोद्वेष्ट्री, चारुनासा, सुकर्णिका, दारुसंजीवनी, सुश्री, क्रतुशुल्का, शुभानना, तपःशुल्का, तीर्थशुल्का, दानशुल्का, हिमावती, पंचाश्वमेधिका, राजसूयार्थिनी, अष्टाग्निहोमिका और वाजपेयशतोद्भवा आदि प्रधान-प्रधान अप्सराएँ साठ सहस्र हैं ॥ ७–१२ ।

एतस्मिन्नप्सरोलोके वसन्त्यन्या अपि स्त्रियः ।
सदा स्खलितलावण्याः सदा स्खलितयौवनाः ॥ १३ ।
दिव्याम्बरा दिव्यमाल्या दिव्यगन्धानुलेपनाः ।
दिव्यभोगैः सुसम्पन्ना स्वेच्छाविधृतविग्रहाः ॥ १४ ।
कृत्वा मासोपवासानि स्खलन्ति ब्रह्मचर्यतः ।
सकृदेव द्विकृत्वो वा त्रिःकृत्वो दैवयोगतः ॥ १५ ।
ता इमा दिव्यभोगिन्यो रूपलावण्यसम्पदः ।
निवसन्त्यप्सरोलोके सर्वकामसमन्विताः ॥ १६ ।
कृत्वा व्रतानि साङ्गानि कामिकानि विधानतः ।
भवन्ति स्वैरचारिण्यो देवभोग्या इहागताः ॥ १७ ।
पतिव्रतधृता नार्यो बलेन बलिना धृताः ।
भर्तृबुद्ध्या रमन्ते तं कदाचित्ता इमा द्विज ॥ १८ ।

सदा स्खलितेत्युभयत्राकारप्रश्लेषः ॥१३। द्विकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा इति द्विवारं त्रिवारं वेत्यर्थः ॥ १५ ।

कामिकानि कामेभ्यो हितानि कामसंसृष्टानीति वा । कामसम्बद्धानीत्यर्थः ॥ १७ ।

उस अप्सरा-लोक में स्थिर यौवना एवं सदैव अस्खलित लावण्या और भी अनेक सुन्दरियाँ निवास करती हैं ॥ १३ ।

वे सब भी दिव्यवस्त्र, दिव्यमाला, दिव्यगन्ध का अनुलेपन और दिव्य भोगों से सुसम्पन्न होकर स्वेच्छानुसार शरीर धारण कर सकती हैं ॥ १४ ।

जो स्त्रियाँ मासोपवास व्रत करके दैवयोग से एक बार, दो बार अथवा तीन बार तक ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाती हैं, वही दिव्य भोगवाली, रूपलावण्य की सम्पत्तिमती और सब कामों से परिपूर्ण नारियाँ इस अप्सरा-लोक में निवास करती हैं ॥ १५–१६ ।

विधिपूर्वक सांगोपांग कामव्रत के अनुष्ठान करने से इस लोक में प्राप्त होकर स्वैरचारिणी देवभोग्या हो जाती हैं ॥ १७ ।

हे द्विज । जो पतिव्रता नारियाँ बलवान् पुरुष से बलपूर्वक पकड़े जाने पर भर्त्ता की बुद्धि से उसके साथ कदाचित् संभोग कर लेती हैं, वे ही यहाँ पर आकर रहती हैं ॥ १८ ।

भर्तरि प्रोषिते याश्च ब्रह्मचर्यव्रताः सदा ।
विप्लवन्ते सकृद्दैवात्ता एता वामलोचनाः ॥ १९ ।
कुसुमानि सुगन्धीनि सुवासं चन्दनं तथा ।
सुगौरं चापि कर्पूरं सुसूक्ष्माण्यम्बराणि च ॥ २० ।
पर्णानि ऋजुताराणि जीर्णानि कठिनानि च ।
साग्राणि स्वर्णवर्णानि स्थूलनीलशिराणि च ॥ २१ ।
सुवासोपस्कराढ्यानि नागवल्ल्या द्विजोत्तम ।
शय्या विचित्राभरणा रतिशालोचितानि च ॥ २२ ।
बहुकौतुकवस्तूनि समर्च्य द्विजदम्पती ।
भोगदानमिदं काम्यं प्रतिसंक्रमणं रवेः ॥ २३ ।

विप्लवन्ते व्यभिचरन्ति । वामलोचनाः सुन्दरलोचनाः । वामः सुन्दरमूढयोरिति वचनात् ॥ १९ ।

कुसुमानीत्यादीनां या दद्यात्, सा इह कल्पं वसेदित्यग्रिमश्लोकस्येन सम्बन्धः ॥ २० ।

पर्णानि नागवल्ल्याः पर्णानि । ऋजुताराणि समानि दीर्घाणि चेत्यर्थः । जीर्णानि पक्वानि ॥ २१ ।

सुवासोपस्कराढ्यानि सुष्ठु वासो गन्धो येषां तानि सुवासानि. तानि च तानि उपस्कराणि गुवाकफलादीनि च तैराढ्यानि युक्तानि । नागवल्ल्याः ताम्बूलवल्ल्याः ॥२२।

स्वामी के प्रवास करने पर जो सदैव ब्रह्मचर्य का पालन करती हैं; परन्तु दैव योग से कहीं एक बार ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाती हैं, वे ही वामलोचनाएँ इस अप्सरा-लोक में निवास करती हैं ॥ १९ ।

जो वरवर्णिनी अनेक सुगन्धित पुष्प, सुवासित चन्दन, सुश्वेत कर्पूर, अति सूक्ष्म वस्त्र, एक मेल के बड़े पुराने कंडे, अग्रभाग से युक्त सुवर्णवर्ण, मोटे और नीले नसवाले, सुगन्ध-द्रव्यादि से भूषित, पान (ताम्बूल) के पत्ते, विचित्र आभरणों से शोभित शय्या और रति-मन्दिरोपयुक्त बहुत सी कौतुक वस्तु इत्यादि के द्वारा द्विज-दम्पती की पूजा कर इस काम्य भोग दान को प्रत्येक सूर्य की संक्रान्ति, अथवा प्रति व्यतीपात योग पर

किं वा प्रतिव्यतीपातमेकसंवत्सरावधि ।
कोऽदादिति च मन्त्रेण या वदान्तरवर्णिनी ॥ २४ ॥
कामरूपधरो देवः प्रीयतामिति वादिनी ।
सा श्रेष्ठाऽप्सरसां मध्ये वसेत् कल्पमिहाङ्गना ॥ २५ ॥
कन्यारूपधरा काचिद् व्याभुक्ता केनचित् क्वचित् ।
देवरूपेण तं कालमारभ्य ब्रह्मचारिणी ॥ २६ ॥
तदेव वृत्तं ध्यायन्ती निधनं याति कालतः ।
दिव्यरूपधरा सेह जायते दिव्यभोगभाक् ॥ २७ ॥
निदानमप्सरो लोकस्येति शृण्वन् द्विजाग्रणीः ।
सौरं लोकमथ प्राप्य क्षणेन स विमानगः ॥ २८ ॥

प्रतिव्यतीपातं अमावस्या युक्तो रविवासरो व्यतीपातो योगविशेषो वा । कोऽदादिति च मन्त्रेण 'कोऽदात् कस्मा अदात् कामोदात् कामायादात् कामोदाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्' इति मन्त्रेणेत्यर्थः । च शब्देनान्येऽपि मन्त्रास्तद्दाने समुच्चीयन्ते ॥ २४ ।

तदेव देवरूपेण मेलनमेव वृत्तं चरित्रं ध्यायन्ती । न पुरुषान्तराऽभिलाषं कुर्वतीत्यर्थः ॥ २७ ।

निदानमिति । अप्सरो लोकस्य निदानं कारणम् इति शृण्वन् उक्तप्रकारेण निशामयन् सूर्यलोकं प्राप्य स शिवशर्मा दूराद् रविं विज्ञाय कृताञ्जलिः सन् प्रणनामेत्यग्रिमेणान्वयः ॥ २८ ।

एक वर्ष पर्यन्त, "कोदात्" इत्यादि मन्त्र से करती हैं, और "कामरूपधारी देव प्रसन्न होवें" ऐसा कहती हैं, हे द्विजोत्तम ! वह अंगना अप्सराओं के बीच श्रेष्ठ होकर यहाँ पर कल्पपर्य्यन्त निवास करती है ॥ २०-२५ ।

जो कोई स्त्री कन्यावस्था में किसी देवता के भोग कर लेने पर उस समय से ब्रह्मचारिणी होकर उस पूर्व वृत्तान्त का ध्यान करती हुई यथाकाल मृत्यु को प्राप्त होती है, वह तो दिव्यरूपधारिणी और स्वर्गीयभोग-भोगिनी होकर इस अप्सरा-लोक में समागत होती है ॥ २६-२७ ।

द्विजाग्रगण्य शिवशर्मा इस प्रकार से अप्सरा-लोक की प्राप्ति के कारणों को सुनता हुआ तदनन्तर क्षणमात्र में विमान के द्वारा सूर्यलोक को प्राप्त हुआ (पहुँचा) ॥ २८ ।

यथा कदम्बकुसुमं किञ्जल्कैः सर्वतो वृतम् ।
देदीप्यमानं हि तथा समन्ताद् भानुभानुभिः ॥ २९ ।

दूराद्रविं स विज्ञाय धृततामरसद्वयम् ।
नवभिर्योजनानाञ्च सहस्रैः सम्मितेन ह ॥ ३० ।

विचित्रेणैकचक्रेण सप्तसप्तियुतेन च ।
अनूरुणाधिष्ठितेन पुरतो धृतरश्मिना ॥ ३१ ।

अप्सरोमुनिगन्धर्वसर्पग्रामणिनैर्ऋतैः ।
स्यन्दनेनातिजविना प्रणनाम कृताञ्जलिः ॥ ३२ ।

तस्य प्रणामं देवोऽपि भ्रूभङ्गेनानुमन्य च ।
अतिदूरं नभो वर्त्म व्यतिचक्राम स क्षणात् ॥ ३३ ।

सदृष्टान्तं लोकं विशिनष्टि । **यथेति** । किञ्जल्कैः केसरैः । भानुभानुभिः सूर्यरश्मिभिः ॥ २९ ।

रविं विशिनष्टि । **दूरादिति**[1] । धृततामरसद्वयम् गृहीतलीलाकमलयुगल्म् । पुनः कीदृशम् ? अतिजविना अतिवेगवता स्यन्दनेन चरन्तमिति शेषः । उपलक्षितमिति वा । स्यन्दनं विशिनष्टि । नवभिरित्यादिना । योजनानां क्रोशचतुष्टयानां नवभिः सहस्रैः सम्मितेन प्रमितेन । तदुक्तं वैष्णवे – योजनानां सहस्राणि भास्करस्य रथो नवेति । धृतरश्मिना धृतप्रग्रहेण । चद्वयं समुच्चये । सप्तसप्तियुतेन सप्तभिरश्वैरन्वितेन । अश्वानामयुतेनेति क्वचित्पाठः, स चिन्त्यः । अप्सर आदिभिरुपलक्षितेन । तत्र ग्रामणियंक्षः । नैर्ऋतो राक्षसः ॥ ३०–३२ ।

तस्येति । स देवोऽपीत्यन्वयः भ्रूभङ्गेन कटाक्षेण । स सूर्यः ॥ ३३ ।

जिस प्रकार कदम्ब का पुष्प केसर (जीरों) समूह के द्वारा सर्वतोभाव से व्याप्त रहता है, उसी प्रकार से यह सूर्यलोक भी सूर्य की किरणजाल से चतुर्दिक देदीप्यमान (रहता) है ॥ २९ ।

नव सहस्र-योजन परिमित, सप्ताश्व चालित, अश्वरश्मि (घोड़े की बाग) पकड़े हुए अरुण के द्वारा सम्मुख अधिष्ठित, अप्सरा, मुनि, गन्धर्व, सर्प, यक्ष और राक्षसों के आश्रय, अति वेगगामी विचित्र एक चक्र के रथपर आरूढ़ और दोनों हाथों में दो रक्त-कमलों को धारण किए हुए सूर्य भगवान् को पहचान कर शिवशर्मा ने हाथ जोड़कर (दण्डवत्) प्रणाम किया ॥ ३०-३२ ।

रविदेव भी उस प्रणाम को भ्रूभङ्ग द्वारा स्वीकार कर क्षणमात्र में अति दूर आकाश-मार्ग को अतिक्रमण कर गये ॥ ३३ ।

---

१. इत आरभ्य श्लोकत्रयस्य समुदितं व्याख्यानम् ।

प्रक्रान्ते द्युमणौ दूरं शिवशर्मातिशर्मवान् ।
प्रोवाच भगवद्भक्तौ कथं लभ्यं रवेः पदम् ॥ ३४ ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमाचक्षाथां ममाग्रतः ।
सतां साप्तपदी मैत्री तन्मे मैत्र्या प्रणोदितौ ॥ ३५ ।

गणावूचतुः—

शृणु द्विज महाप्राज्ञ त्वय्यकथ्यं न किञ्चन ।
सत्सङ्गादेव साधूनां सत्कथा सम्प्रवर्तते ॥ ३६ ।
नियन्ता सर्वभूतानां य एकः कारणं परम् ।
अनामा गोत्ररहितो रूपादिर्परिवर्जितः ॥ ३७ ।
आविर्भावतिरोभावौ यद्भ्रूनर्तनवर्तिनौ ।
स एवं वक्ति सततं सर्वात्मा वेदपूरुषः ॥ ३८ ।

नियन्तेति । सर्वभूतानां यो नियन्ता स एवं वक्तीत्यन्वयः ॥ ३७ ।

आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ जगदिति शेषः । यद्भ्रूनर्तनवर्तिनौ यस्य भ्रुवोर्नर्तनेन जृम्भणेन वर्तितुं शीलं ययोस्तौ तथा । सर्वात्मा सर्वभूतान्तर्यामी । वेदपूरुषः वेदप्रतिष्ठापकः पूरुषः शास्त्रयोनिरित्यर्थः । देवपूरुष इति क्वचित् पाठः । सर्वस्मादेव

अत्यन्त सुखी शिवशर्मा ने द्युमणि के अतिक्रान्त हो जाने पर दोनों भगवद्भक्तों के प्रति कहा—किस पुण्य के द्वारा सूर्यलोक की प्राप्ति होती है ? ॥ ३४ ।

मैं यह सुनना चाहता हूँ, आप लोग मेरे आगे बन्धुता के अनुरोध से वर्णन करें; क्योंकि सप्तपद एक साथ गमन करने (साथ-साथ) से ही सज्जनों की मैत्री हो जाती है ॥ ३५ ।

विष्णु के दोनों पार्षदों ने कहा—

हे महाप्राज्ञ ! द्विज ! सुनो, तुम्हारे निकट मुझे कुछ भी अवक्तव्य नहीं है; क्योंकि सज्जन के संग होने पर ही साधुगण की सत्कथा का प्रसंग प्रारम्भ होता है ॥ ३६ ।

जो सब भूतों का एकमात्र नियन्ता, परमकारण, नाम-गोत्र और रूपादि से रहित है, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय जिसके भ्रूभंग का ही फल है, वे ही सर्वात्मा

योऽसावादित्यपुरुषः सोऽसावहमिति स्फुटम् ।
अन्धंतमः प्रविशन्ति ये चैवान्यमुपासते ॥ ३९ ।
निश्चितार्थां श्रुतिमिमां ब्राह्मणासो द्विजोत्तम ।
तमेकमुपतिष्ठन्ते निश्चित्येति पुनः पुनः ॥ ४० ।
उपलभ्य च सावित्रीं नोपतिष्ठेत यः पराम् ।
काले त्रिकालं सप्ताहात् स पतेन्नात्र संशयः ॥ ४१ ।
तावत्प्रातर्जपंस्तिष्ठेद्यावदर्धोदयो रवेः ।
आसनस्थो जपेन्मौनी प्रत्यगातारकोदयात् ॥ ४२ ।

पूरुष इति क्वचित् । तदा सर्वस्मात् पुरुषादयमेव पुरुषोत्तम इत्यर्थः ॥ ३८ ।

किं वक्ति इत्याकाङ्क्षायामाह—योऽसाविति । तथा च श्रुतिः—'योऽसावादित्ये पुरुषः, सोऽसावहमिति' (बृ० उ० ३।९।१२) ॥ ३९ ।

अतोऽन्धतम इत्यादिकां श्रुतिं निश्चितार्थां निश्चितोऽबाधितोऽर्थो यस्याः, सा निश्चितार्था, तामिति पुनः पुनर्निश्चित्य निश्चयेन ज्ञात्वा तं प्रसिद्धं सूर्योपाधिमेकं केवलं ब्राह्मणासो ब्राह्मणा उपतिष्ठन्ते उपासत इत्यर्थः ॥ ४० ।

उपलभ्येति । यो द्विजः काले यथासमये सावित्रीं सवितृरूपापन्नां परां परदेवतामुपलभ्य प्राप्य त्रिकालं नोपतिष्ठेत नोपास्ते, स सप्ताहात् पतेदित्यर्थः । सावित्रीं सवितृदेवत्यामुपनयनाख्यां क्रियां प्राप्यार्थात् सूर्यात्मानं नोपतिष्ठेतेति वा ॥ ४१ ।

जपंस्तिष्ठेदित्यत्रादित्यसम्मुख इत्यग्रिमश्लोकस्थोऽनुषज्यते । प्रत्यक् पश्चिमां सन्ध्यामित्यर्थः । आतारकोदयान्नक्षत्रोदयपर्यन्तम् ॥ ४२ ।

वेदपुरुष निरन्तर स्पष्टरूप से ही कहते हैं कि 'जो आदित्य-मण्डलवर्ती पुरुष है, वही मैं हूँ, जो लोग अन्य की उपासना करते हैं, वे अन्धतमस में प्रविष्ट होते हैं' ॥ ३७-३९ ।

हे द्विजोत्तम ! इसी निश्चितार्थां श्रुति के द्वारा ब्राह्मणगण पुनः पुनः स्थिर करके एकमात्र उसी आदित्यरूपी ब्रह्म की उपासना करते हैं ॥ ४० ।

जो द्विजाति यथासमय गायत्री का उपदेश पाकर त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न, सायाह्न) में उसका जप नहीं करता, वह एक सप्ताह के मध्य पतित हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है ॥ ४१ ।

प्रातःकाल सूर्य के अर्द्धोदयपर्यन्त आदित्य के सम्मुख (खड़े होकर) सावित्री का जप करे और सायंकाल आसन पर बैठकर नक्षत्रोदयपर्यन्त सूर्याभिमुख जप करे,

सादित्यां मध्यमां सन्ध्यां जपेदादित्यसम्मुखः ।
काललोपो न कर्तव्यस्ततः कालं प्रतीक्षयेत् ॥ ४३ ।
काले फलन्त्योषधयः काले पुष्पन्ति पादपाः ।
वर्षन्ति तोयदाः काले तस्मात्कालं न लङ्घयेत् ॥ ४४ ।
मन्देहदेहनाशार्थमुदयास्तमये रविः ।
समीहते द्विजोत्सृष्टं मन्त्रतोयाञ्जलित्रयम् ॥ ४५ ।
गायत्रीमन्त्रतोयाढ्यं दत्तं येनाञ्जलित्रयम् ।
काले सवित्रे किं न स्यात्तेन दत्तं जगत्त्रयम् ॥ ४६ ।
किं किं न सविता सूते काले सम्यगुपासितः ।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वसूनि सपशूनि च ॥ ४७ ।

पूर्वकालावधिमाह । **सादित्यामिति** । अस्तमनोन्मुखसूर्यसहितामित्यर्थः । तृतीयां सन्ध्यामाह । मध्यमामिति ॥ ४३ ।

काले क्रियमाणं कर्म फलतीत्यग्रदृष्टान्तमाह । **काल** इति ॥ ४४ ।

यथाकालमुपासितैव सन्ध्याफलं प्रयच्छतीत्यत्र हेतुमाह । **मंदेहेति** । मन्त्रतोयाञ्जलित्रयं मन्त्राभिमन्त्रितं जलाञ्जलित्रयमित्यर्थः ॥ ४५ ।

मन्त्रतोयाञ्जलित्रतमित्यत्राकाङ्क्षितं मन्त्रं प्रदर्शयंस्तद्दानफलमाह । **गायत्रीति** । त्रैलोक्यदाने यत्फलं भवति, तदेनद्दानादित्यर्थः ॥ ४६ ।

तदेव दर्शयति । **किं किमिति** ॥ ४७ ।

ठीक मध्याह्नकाल में अर्थात् जब तक सूर्य अस्तमनोन्मुख होने लगते हैं, अर्थात् पश्चिम दिशा की ओर जाने लगते हैं, मध्याह्न-संध्या सूर्य की ओर मुख करके करे, काल-लोप न होने दे, इसलिये समय की प्रतीक्षा करे ॥ ४२-४३ ।

समय से ही समस्त औषधियाँ फलती हैं, सभी वृक्ष समय से ही फूलते हैं, मेघगण भी समय से ही बरसते हैं । अतएव काल का लंघन नहीं करना चाहिए ॥ ४४ ।

मन्देह नामक राक्षसगण के देह-विनाशार्थ रविदेव उदय और अस्त समय द्विजों की दी हुई मन्त्र-सहित तीन अंजलि जल की आकांक्षा करते हैं ॥ ४५ ।

जो लोग यथाकाल गायत्री मन्त्र से पूत तीन अंजलि जल सूर्य को देते हैं, उन्हें त्रैलोक्य भर के दान का फल हो जाता है ॥ ४६ ।

सूर्यनारायण की सम्यक् प्रकार से यथासमय यदि उपासना की जाय, तो क्या नहीं देते ? वे आयुष्य, आरोग्य, ऐश्वर्य, धनराशि, पशुवृन्द, पुत्र, मित्र, कलत्र, विविध

मित्रपुत्रकलत्राणि क्षेत्राणि विविधानि च ।
भोगानष्टविधांश्चापि स्वर्गं चाप्यपवर्गकम् ।। ४८ ।
अष्टादशसु विद्यासु मीमांसातिगरीयसी ।
ततोऽपि तर्कशास्त्राणि पुराणं तेभ्य एव च ।। ४९ ।
ततोऽपि धर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वी श्रुतिर्द्विज ।
ततोऽप्युपनिषच्छ्रेष्ठा गायत्री च ततोऽधिका ।। ५० ।
दुर्लभा सर्वमन्त्रेषु गायत्री प्रणवान्विता ।
न गायत्र्याधिकं किञ्चित्त्रयीषु परिगीयते ।। ५१ ।
न गायत्रीसमो मन्त्रो न काशी सदृशी पुरी ।
न विश्वेशसमं लिङ्गं सत्यं सत्यं पुनः पुनः ।। ५२ ।

भोगानष्टविधान् अणिमाद्यैश्वर्याणि, सौगन्ध्यवनितावस्त्रगीतताम्बूलभोजनवाहन-मन्दिराणि वा । तदुक्तम्—

सौगन्ध्यं वनिता वस्त्रं गीतताम्बूलभोजनम् ।
वाहनं मन्दिराणीति ह्यष्टौ भोगाः प्रकीर्तिताः ।। इति ।

अपवर्गं मोक्षम् ।। ४८ ।

अष्टादशविद्याभ्यो गायत्र्याः श्रैष्ठ्यमाह । अष्टादशेत्यारभ्य गायत्री तेन गीयत इत्यन्तेन ।। ४९–५२ ।

क्षेत्र, सुगन्ध, स्त्री, वस्त्र, गीत, ताम्बूल, भोजन, वाहन, मन्दिर—इस अष्टविध भोग और मोक्ष को भी प्रदान करते हैं ।। ४७-४८ ।

अठारह प्रकार की विद्याओं में मीमांसा सबसे बड़ी है । उससे (मीमांसा से) भी तर्कशास्त्र श्रेष्ठ है, तर्कशास्त्र से भी पुराण गुरुतर हैं ।। ४९ ।

हे द्विज ! धर्मशास्त्र पुराणों से भी श्रेष्ठ हैं, और धर्मशास्त्रों से वेद परम श्रेष्ठ हैं, वेदों में भी उपनिषद् श्रेष्ठ हैं और गायत्री उन उपनिषदों से भी अधिक श्रेष्ठ है ।। ५० ।

प्रणव से समन्वित गायत्री समस्त मन्त्रों में परम दुर्लभ है; क्योंकि तीनों वेदों में गायत्री से बढ़कर और कुछ भी नहीं कहा गया है ।। ५१ ।

गायत्री के समान मन्त्र नहीं, काशी के सदृश पुरी नहीं और विश्वेश्वर के तुल्य लिङ्ग नहीं, यह त्रिकाल सत्य है ।। ५२ ।

गायत्री वेदजननी गायत्री ब्राह्मणप्रसूः ।
गातारं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन गीयते ।। ५३ ।
वाच्यवाचकसम्बन्धो गायत्र्याः सवितुर्द्वयोः ।
वाच्योऽसौ सविता साक्षाद् गायत्री वाचिका परा ।। ५४ ।
प्रभावेणैव गायत्र्याः क्षत्रियः कौशिको वशी ।
राजर्षित्वं परित्यज्य ब्रह्मर्षिपदमीयिवान् ।। ५५ ।
सामर्थ्यं प्राप चात्युच्चैरन्यद्भुवनसर्जने ।
किं किं न दद्याद्गायत्री सम्यगेवमुपासिता ।। ५६ ।
न ब्राह्मणो वेदपाठान्न शास्त्रपठनादपि ।
देव्यास्त्रिकालमभ्यासाद् ब्राह्मणः स्याद्धि नान्यथा ।। ५७ ।

सर्वाभ्यो विद्याभ्यो गायत्र्याः श्रेष्ठत्वेऽपि सूर्यस्य किमायातम् ? तद्वाच्यत्वेन परमश्रेष्ठ्यमागतमित्याह । **वाच्यवाचकसम्बन्ध** इति ।। ५४ ।

न च गायत्र्याः प्रभावः साधनीयः प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्याह । **प्रभावेणेति** । कौशिको विश्वामित्रः ।। ५५ ।

अन्यद्भुवनेत्यार्षम् । अव्ययं वाऽन्यच्छब्दः । अन्यदपूर्वं सामर्थ्यमिति वा । एवं तत्तत्काले पूर्वोक्तप्रकारेण ।। ५६–५७ ।

गायत्री वेद की माता है, गायत्री ही ब्राह्मणों की जननी है, अपने गान करने वाले के परित्राण करने के कारण "गायत्री" कही जाती है ।। ५३ ।

गायत्री और सूर्य का परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है । गायत्री के साक्षात् वाच्य ये सविता हैं और (गायत्री) सविता की वाचिका है ।। ५४ ।

जितेन्द्रिय विश्वामित्र क्षत्रीय होने पर भी (इसी) गायत्री के प्रभाव से राजर्षि-पद का परित्याग कर ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त हुए और उन्होंने (इसी गायत्री के प्रभाव से) अन्य भुवन की सृष्टि करने का सामर्थ्य भी प्राप्त किया । सम्यक् प्रकार से उपासित होने पर यह गायत्री क्या-क्या नहीं देती ? ।। ५५-५६ ।

वेदों का पाठ करने अथवा शास्त्रों का अध्ययन करने से ब्राह्मण नहीं होता । केवल गायत्री देवी के त्रिकाल अभ्यास करने से ही ब्राह्मण होता है । दूसरे किसी प्रकार से नहीं हो सकता ।। ५७ ।

गायत्र्येव परं विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः ।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः ॥ ५८ ।
देवत्रयं स भगवानंशुमाली दिवाकरः ।
सर्वेषां महसां राशिः कालः कालप्रवर्तकः ॥ ५९ ।
अर्कमुद्दिश्य सततमस्मल्लोकनिवासिनः ।
श्रुतिं ह्युदाहरन्तीमां सारासारविवेकिनः ॥ ६० ।
एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥६१।

गायत्रीति वेदत्रयात्मकानां विष्णुरुद्रविरिञ्चानां गायत्रीस्वरूपत्वं यतोऽतो वेदत्रयी गायत्र्येवेत्यर्थः ॥ ५८ ।

ततः किं प्रकृते ? **देवत्रयमिति** । येयं त्रयीति क्वचित्पाठः । कलयतीति कालो निमेषलवाद्यात्मकस्तदधिष्ठाता वा तत्प्रवर्तकश्च ॥ ५९ ।

अस्मल्लोको वैकुण्ठः, तन्निवासिनः ॥ ६० ।

तामेव श्रुतिं दर्शयतः । **एषो ह देव इति** । अस्यार्थः । एषो ह देवस्त्रिष्टुभः सर्वाः सदसस्पतिमित्यस्या गायत्र्याः प्राक् । इदानीं स्वरूपं कथयति । एष देवः प्रदिशो दिशश्च सर्वा अनुव्याप्य प्रवर्तते, तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव । पूर्वो ह जातः अनादिनिधनः सम्भूतः । स उ गर्भे अन्तः स एव मातुरुदरे गर्भे व्यवतिष्ठते । स एव च जातः । स च जनिष्यमाणः । तदुक्तम्—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति । श्रुतौ । प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः प्रतिपदार्थमञ्चन् यस्तिष्ठति । सर्वतोमुखः सर्वतोऽक्षिशिरोग्रीवपाणिपादः अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थः । जना इत्याद्युदात्तस्वरमपि सदा मन्त्रितमेवार्थस्य हि प्राप्तमेत-[1] द्वर्तते हे जना इति ॥ ६१ ।

गायत्री ही परम विष्णु, गायत्री ही परम शिव और गायत्री ही परम ब्रह्मा है, अतएव गायत्री ही **ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका वेदत्रयी** है ॥ ५८ ।

वे ही किरणजाल विभूषित दिवाकर देव ब्रह्मा-विष्णु औद महेश के स्वरूप हैं और वे ही सम्पूर्ण तेजों के राशि, काल एवं काल के भी प्रवतक हैं ॥ ५९ ।

सारासार के विवेकी हम लोगों के वैकुण्ठ-लोक निवासीगण सूर्यदेव के उद्देश से इस श्रुति का कीर्तन किया करते हैं ॥ ६० ।

"हे मनुष्यगण ! ये ही देव समस्त दिशा, विदिशा, ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् प्रदेशों को व्याप्त करके वर्तमान हैं, ये ही अनादिनिधन उत्पन्न हुए, ये ही माता के गर्भ में अवस्थित होकर उत्पन्न हुए (होते हैं और उत्पन्न होंगे); फिर प्रत्येक पदार्थों में ये ही वर्तमान हैं और ये ही देव सर्वतोमुख हैं" ॥ ६१ ।

---

१. द्वण्यते इत्यपि क्वचित्पाठः ।

स देवमुपतिष्ठेरन् सौरैः सूक्तैरतन्द्रिताः ।
ये नमन्त्यत्र ते विप्रा विप्रा भास्करसन्निभाः ॥ ६२ ।

पुष्यार्केऽप्यथ हस्तार्के मूलार्केऽप्यथवा द्विज ।
उत्तरार्केऽथ यत्कार्यं तत्फलत्येव नान्यथा ॥ ६३ ।

पौषे [1]मास्यर्कदिवसे यः स्नात्वा भास्करोदये ।
दानं होमं जपं कुर्यादर्चामर्कस्य सुव्रतः ॥ ६४ ।

श्रद्धावानेकभक्तश्च कामक्रोधविवर्जितः ।
सहाप्सरोभिर्द्युतिमान् स वसेदत्र भोगवान् ॥ ६५ ।

ये सदैवमुक्तप्रकारैः सौरैः सूक्तैः उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यमित्याद्यैस्तं सूर्यमुपतिष्ठेरन्, ये च नमन्ति तेऽपि भास्करतुल्या इत्यर्थः। ये वसन्त्यत्र ते विप्र विप्रा इति क्वचित् पाठः ॥ ६२ ।

पुष्पार्क इत्यादावर्कशब्दोऽर्कवासरविषयः। फलत्येव फलवद्भवत्येवेत्यर्थः। एवकारव्यावर्त्यमाह। **नान्यथेति**। फलत्येष इति क्वचित्पाठः। तत्र एष सूर्यस्तत्कार्यं फलति फलवन्निष्पादयति सफलं करोतीत्यर्थः ॥ ६३-६४।

अत्र सूर्यलोके ॥ ६५ ।

हे विप्र ! जो ब्राह्मणगण निरालस्य होकर सूर्य-सूक्त द्वारा इसी रूप से सर्वदा सूर्य की उपासना करते हैं और प्रणाम करते हैं, वे सूर्यतुल्य होकर इस सूर्यलोक में निवास करते हैं ॥ ६२ ।

हे द्विज ! पुष्य नक्षत्रयुक्त रविवार एवं हस्तमूल उत्तराषाढ़, उत्तरभाद्रपद और उत्तरा फाल्गुनी—इन नक्षत्रों से युक्त आदित्यवार को जो कुछ किया जाता है, वह फलीभूत होता है, अन्यथा नहीं होता ॥ ६३ ।

जो कोई श्रद्धावान्, एकभोजी, काम, क्रोध से रहित हो व्रत धारण कर पौष मास के आदित्यवार को सूर्योदयकाल में स्नान करके सूर्य के निमित्त दान, होम, जप और पूजन करता है, वह दीप्तिमान् और भोग-सम्पन्न होकर अप्सराओं के साथ इस लोक में निवास करता है ॥६४-६५ ।

---

१. पुष्ये मासीति प्रचुरः पाठः ।

अयने विषुवे चापि षडशीतिमुखेषु वा ।
विष्णुपद्याश्च ये दद्युर्महादानानि सुव्रताः ।। ६६ ।
तिलान् जुह्वति साज्यांश्च ब्राह्मणान् भोजयन्ति च ।
पितॄनुद्दिश्य च श्राद्धं ये कुर्वन्ति विपश्चितः ।। ६७ ।
महापूजाश्च ये कुर्युर्महामन्त्रान् जपन्ति च ।
तेऽत्र वैकर्तने लोके विकर्तनसमप्रभाः ।। ६८ ।
न दरिद्रा न दुःखार्ता न व्याधिपरिपीडिताः ।
सङ्क्रमेष्वर्कभक्ता ये न विरूपा न दुर्भगाः ।। ६९ ।
संङ्क्रमेषु न यैर्दत्तं न स्नातं तीर्थवारिषु ।
विशेषहोमो न कृतः कपिलाज्याप्लुतैस्तिलैः ।। ७० ।

अयन इति । अयने अयनद्वितये मकरकर्कटसङ्क्रमणे । विषुवे विषुवद्वितये तुलामेषसङ्क्रमणे । षडशीति मुखेषु धनुर्मिथुनकन्यामीनसङ्क्रमणेषु विष्णुपद्यां वृष-वृश्चिकसिंहकुम्भसङ्क्रान्त्याम् ।। ६६-६७ ।

विकर्तनसमप्रभा भवन्तीति शेषः ।। ६८ ।

कपिलाज्याप्लुतैः कपिलाया घृतेन प्रोक्षितैः । कपिलाज्याक्तसत्तिलैरिति पाठे सत्तिलशब्देन शुक्लास्तिला गृह्यन्ते ।

शुक्लैस्तु तर्पयेद्देवान् मनुष्यान् शबलैस्तिलैः ।
कृष्णैस्तु तर्पयेत् पितॄन् श्रद्धावांस्तु समाहितः ।।

इति वाच्यम् ।। ७० ।

अयन (मकर-कर्क संक्रान्ति विषुव-तुला मेष) षडशीतिमुख (धनु, मिथुन, कन्या, मीन) और विष्णुपदी (वृष, वृश्चिक, सिंह, कुम्भ) संक्रान्तियों में जो सुव्रत महादान करे, सघृत तिल का होम करे, ब्राह्मण भोजन कराये और जो पितरों के उद्देश से उक्त दिनों में श्राद्ध करे, महापूजा करे, महामन्त्रों को जपे— वे सब विज्ञगण इस वैकर्तन लोक में सूर्य-समान होकर निवास करते हैं ।। ६६-६८ ।

संक्रान्ति के दिन जो लोग सूर्यदेव की आराधना करते हैं, वे कभी दरिद्र-दुःखार्त रोग से पीड़ित कुरूप और दुर्भाग्ययुक्त नहीं होते ।। ६९ ।

जो लोग संक्रान्तियों पर दान, तीर्थ-जल में स्नान, कपिला गोघृत से युक्त तिल का विशेष होम नहीं करते, वे सब नेत्रहीन, मुखविहीन, जीर्ण-मलिन-वस्त्र, होकर द्वार-द्वार

ते दृश्यन्ते प्रतिद्वारं विहीननयनाऽऽननाः ।
देहि देहीति जल्पन्तो देहि नः सपटच्चराः ॥ ७१ ॥
समं कृष्णलकेनाऽपि यो दद्यात् काञ्चनं कृती ।
सूर्यग्रहे कुरुक्षेत्रे स वसेदत्र पुण्यभाक् ॥ ७२ ॥
सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः ।
सर्वं देयं स्वर्णसमं राहुग्रस्ते दिवाकरे ॥ ७३ ॥
दत्तं जप्तं हुतं स्नातं यत्किञ्चित् सदनुष्ठितम् ।
भानूपरागे श्राद्धादि तद्धेतुर्ब्रध्नसन्निधेः ॥ ७४ ॥
रविवारे सङ्क्रमश्चेदुपरागोऽथवा भवेत् ।
तदा यदर्जितं पुण्यं तदिहाक्षयमाप्यते ॥ ७५ ॥

विहीननयनाननाः । विहीनानि विगतानि नयनानि नेत्राणि, येषु तानि आननानि मुखानि येषां ते । विहीननयना नरा इति क्वचित्पाठः । विच्छायनयनानना इति वान्यत्र सपटच्चरा जीर्णवस्त्रसहिताः । 'पटच्चरं जीर्णवस्त्रम्' इत्यमरः ॥ ७१ । कृष्ण[1]-लकेन गुञ्जात्मकेन ॥ ७२ ।

पर 'दो दो" ऐसा बकते हुए (भिक्षुक के रूप में भीख माँगते हुए) दिखलाई पड़ते हैं ॥ ७१ ।

जो कुशली पुरुष सूर्यग्रहण में (पर) कुरुक्षेत्र में एक गुंजा (घुघुची) भर भी सुवर्ण दान करता है, वह पुण्यभागी यहाँ सूर्यलोक में निवासी होता है ॥ ७२ ।

दिवाकर के राहुग्रस्त होने पर सभी जल गंगाजल के समान, सभी द्विज ब्रह्मा के समान साक्षात् और सभी देय वस्तुएँ सुवर्ण के तुल्य हो जाती हैं ॥ ७३ ।

सूर्य-ग्रहण लगने पर जो कुछ दान, जप, होम, स्नान आदि सत्कर्म किये जाते हैं, वे सभी सूर्य-सान्निध्य के कारण हो जाते हैं ॥ ७४ ।

रविवार को संक्रान्ति अथवा ग्रहण हो तो, जो कुछ धन, जप, होम, स्नान आदि सत्कर्म द्वारा पुण्य उपार्जित किए जाते हैं, वे यहाँ अक्षय हो जाते हैं ॥ ७५ ।

---

१. कृष्णलकेन गुञ्जाया समं तत्परिमितमित्यर्थं इत्यपेक्षितमिति भाति ।

भानुवारो यदा षष्ठ्यां सप्तम्यामथ जायते ।
तदा यत्सुकृतं कर्म कृतं तदिह भुज्यते ॥ ७६ ॥
हंसो भानुः सहस्रांशुस्तपनस्तापनो रविः ।
विकर्तनो विवस्वांश्च विश्वकर्मा विभावसुः ॥ ७७ ॥
विश्वरूपो विश्वकर्ता मार्तण्डो मिहिरोंऽशुमान् ।
आदित्यश्चोष्णगुः सूर्योऽर्यमा ब्रध्नो दिवाकरः ॥ ७८ ॥

हंस इति । हन्ति नाशयति गच्छति जानाति वा सर्वमिति हंसः । मन्त्ररूपो वा । हंसहंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदेति वचनात् । शुद्धसात्त्विक इति वा । वैष्णवोंऽशः परः सूर्य इति वचनात् ॥ १ ।

भातीति भानुः, भाः नुदति प्रेरयति वा ॥ २ ।

सहस्रम् अपरिमिता अंशवो रश्मयो यस्य स **सहस्रांशुः** ॥ ३ ।

तपतीति **तपनः** ॥ ४ ।

तापयति **तापनः** ॥ ५ ।

लोकानवति रक्षति—**इति रविः** । उक्तञ्च—

अवेति रक्षणे धातुः प्रत्ययेऽस्य रुडागमः ।
अवति त्रीनिमाँल्लोकांस्तेनाऽसौ रविरुच्यते ॥ इति ॥ ६ ।

विशिष्टतेजस्त्वार्थं कर्तनात्तेजः शातनाद्वा **विकर्तनः** ॥ ७ ।

विशिष्टं वसु तेजो वर्तते यस्य, स **विवस्वान्** ॥ ८ ।

निपातनात् साधुत्वम् । एवमन्यत्रापि । चः समुच्चये विश्वं कर्म यस्य विश्वस्य कर्म यस्मादिति वा स **विश्वकर्मा** ॥ ९ ।

विभावसुः अग्निस्वरूपः । विविधप्रकारेण धातुषु भान्ति वसवो रश्मयो यस्येति वा ॥ १० । ७७ ।

विश्वस्मिन् विश्वं वा रूपं यस्य, सः **विश्वरूपः** ॥ ११ ।

विश्वकर्ता विश्वोत्पादकः ॥ १२ । बुधशापाद् गर्भस्थो न मृत इति **मार्तण्डः** । तथा च हरिवंशे—

न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ इति स्नेहादभाषत ।
अजानन् कश्यपस्तस्मान्मार्तण्ड इति चोच्यते ॥ इति ।

जब षष्ठी अथवा सप्तमी तिथि को रविवार हो तो, उस दिन जो पुण्य-कार्य किया गया हो, उसका फल इसी सूर्यलोक में भोगा जाता है ॥ ७६ ॥

हंस, भानु, सहस्रांशु, तपन, तापन, रवि, विकर्तन, विवस्वान्, विश्वकर्मा, विभावसु, विश्वरूप, विश्वकर्ता, मार्तण्ड, मिहिर, अंशुमान् आदित्य, उष्णगु, सूर्य्य, अर्यमा, ब्रध्न, दिवाकर, द्वादशात्मा, सप्तहय, भास्कर, अहस्कर, खग, सूर, प्रभाकर,

द्वादशात्मा सप्तहयो भास्करोऽहस्करः खगः ।
सूरः प्रभाकरः श्रीमाँल्लोकचक्षुर्ग्रहेश्वरः ॥ ७९ ।
त्रिलोकेशो लोकसाक्षी तमोरिः शाश्वतः शुचिः ।
गभस्तिहस्तस्तीव्रांशुस्तरणिः सुमहोरणिः ॥ ८० ।
द्युमणिर्हरिदश्वोऽर्को भानुमान् भयनाशनः ।
छन्दोऽश्वो वेदवेद्यश्च भास्वान् पूषा वृषाकपिः ॥ ८१ ।

अचेतनेऽण्डे वैराजरूपेण प्रविष्टत्वाद्वा मार्तण्डः, तदुक्तं भागवते—"**मृतेऽण्ड एष एतस्मिन् यदभूत्ततो मार्तण्डः**" इति । व्यपदेश इति । १३ । मिहिं मिहिकां राति गृह्णाति नाशयतीति **मिहिरः** १४ । **अंशुमान्** रश्मिमान् १५ । अदितेः पुत्रः **आदित्यः** १६ । चः समुच्चये । **ऊष्णगुः** तिग्मरश्मिः १७ । उदमयं वसु सूते इति **सूर्यः** १८ । **अर्यमा** त्रयीमूर्तिः १९ । कलाकाष्ठानिमेषादिक्रमेण सर्वं जगद्वर्धयतीति **ब्रध्नः** २० । **दिवाकरो** दिनकर्ता २१ ॥ ७८ ।

द्वादशात्मा द्विषण्मूर्तिः २२ । **सप्तहयः** सप्ताश्वः २३ । **भास्करः** प्रभाकरः २४ । **अहस्करो** दिनकरः २५ । खे आकाशे गच्छतीति **खगः** २६ । जगत्सूत इति **सूरः** २७ । **प्रभाकरो** दीप्तिकरः २८ । **श्रीमा**निति विशेषणम् । **लोकचक्षुः** लोकप्रकाशक इत्यर्थः २९ । **ग्रहेश्वरो** ग्रहाणां राजा ३० ॥ ७९ ।

त्रिलोकेशो लोकत्रयनियन्ता ३१ । **लोकसाक्षी** सर्वान्तर्यामी ३२ । **तमोरिः** अन्धकारशत्रुः ३३ । **शाश्वतो** नित्यः ३४ । **शुचिः** पवित्रः ३५ । **गभस्तिहस्तो** रश्मिकरः ३६ । **तीव्रांशुः** तीक्ष्णरश्मिः ३७ । **तरणिः** तारकः । भक्तानां संसारोत्तारकनौस्वरूप इति वा ३८ । **सुमहः** शोभनतेजःस्वरूपः ३९ ।

अरणिः अरणिरिवारणिः सर्वोत्पत्तिमतामभिव्यक्तिस्थानमित्यर्थः । लोकप्रकाशकः श्रीमानिति साम्बपुराणान्तर्गतसाम्बस्तवराजे एकविंशतिनामाऽन्यथाऽनुपपत्त्या श्रीमानित्यस्यैकनामत्वे सुमहोरणि प्रकृष्टतेजसामुद्भवस्थानमिति नामैकत्वेन व्यावर्तव्यमिति ४० ॥ ८० ।

दिवोर्मणिः द्युमणिः ४१ । **हरिदश्वो** हरिद्वर्णघोटकः ४२ । अतिशयेनारति गच्छतीत्यर्कः । तदुक्तम्—

> ऋ गृ गतौ स्मृतो धातुरस्य कः प्रत्ययः स्मृतः ।
> गतौ यस्मात् परो नास्ति तस्मादर्कः स उच्यते ॥ इति ।

जगदर्च्यतमत्वाद्वाऽर्कः ४३ । **भानुमान्** रश्मिवान् ४४ । **भयनाशनो** भवभयच्छेत्ता ४५ । **गायत्र्यादीनि सप्तच्छन्दांसि अश्वा यस्य स च्छन्दोऽश्वः** ४६ । **वेदवेद्य**

श्रीमान्, लोकचक्षु, ग्रहेश्वर, त्रिलोकेश, लोकसाक्षी, तमोरि, शाश्वत, शुचि, गभस्तिहस्त, तीव्रांशु, तरणि, सुमहोरणि, द्युमणि, हरिदश्व, अर्क, भानुमान्, भयनाशन,

एकचक्ररथो मित्रो मन्देहारिस्तमिस्रहा ।
दैत्यहा पापहर्ता च धर्मो धर्मप्रकाशकः ।। ८२ ।
हेलिकश्चित्रभानुश्च कलिघ्नस्तार्क्ष्यवाहनः ।
दिक्पतिः पद्मिनीनाथः कुशेशयकरो हरिः ।। ८३ ।
घर्मरश्मिर्दुर्निरीक्ष्यश्चण्डांशुः कश्यपात्मजः ।
एभिः सप्ततिसंख्याकैः पुण्यैः सूर्यस्य नामभिः ।। ८४ ।
प्रणवादिचतुर्थ्यन्तैर्नमस्कारसमन्वितैः ।
प्रत्येकमुच्चरन्नाम दृष्ट्वा दृष्ट्वा दिवाकरम् ।। ८५ ।
विगृह्य पाणियुग्मेन ताम्रपात्रं सुनिर्मलम् ।
जानुभ्यामवनौ गत्वा परिपूर्य जलेन च ।। ८६ ।

उपनिषदेकगम्यः ४७ । चः समुच्चये । **भास्वान्** प्रकाशवान् ४८ । वृष्ट्यादिद्वारेण सर्वं जगत्पुष्णातीति **पूषा** ४९ । वर्षति पुण्यफलम् आकम्पयति पापफलमिति वृषाकपिः ।। ५० । ८१ ।

एकं चक्रं यस्मिंस्तथाविधो रथो यस्य, स **एकचक्ररथः** ५१ । **मित्रः** सर्वत्र मित्रस्वभावः ५२ । मन्देहा राक्षसास्तेषामरिर्मन्देहारिः ५३ । **तमिस्रहा** तमोहर्ता ५४ । **दैत्यहा** मन्देहादिदैत्यहन्ता ५५ । पापहर्ता भक्तानां पापहा ५६ । चः समुच्चये । धारणाद्धर्मो धर्मस्वरूपो वा ५७ । तस्यैव धर्मस्य प्रकाशको धर्मप्रकाशकः ५८ । ८२ ।

हे आकाशे लिङ्गति गच्छतीति **हेलिकः** ५९ । चित्रा सप्तप्रकारा भानवो रश्मयो यस्य, स **चित्रभानुः** ६० । चः समुच्चये । **कलिघ्नः** कलेर्नाशकः ६१ । **तार्क्ष्यवाहनः** तार्क्ष्योऽनूरुः, वाहनः सारथिर्यस्य सः । उह्यते अनेनेति वाहनव्युत्पत्तेः ६२ । दिशाम्पतिः दिक्पतिः ६३ । **पद्मिनीनाथः** कमलिनीनां प्रकाशकः । तथा चोक्तम्—अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामिति ६४ । **कुशेशयकरः** पद्महस्तः ६५ । हरत्यज्ञानं तिमिरादिकञ्चेति **हरिः** ६६ । ८३ ।

घर्मरश्मिः उष्णकिरणः, घर्म स्वेदः, तज्जनका रश्मयो यस्य स इति वा ६७ । **दुर्निरीक्ष्यः** स्वाच्छन्द्येन द्रष्टुमशक्यः ६८ । **चण्डांशुः** तीक्ष्णकिरणः ६९ । **कश्यपात्मजो** मारीचतनयः ७० । एभिरिति । एभिरित्यादितृतीयान्तानां पदानां दद्यादर्घ्यमनर्घ्यायेति चतुर्थेनाऽन्वयः ।। ८४–८७ ।

छन्दोऽव, वेदवेद्य, भास्वान्, पूषा, वृषाकपि, एकचक्ररथ, मित्र, मन्देहारि, तमिस्रहा, दैत्यहा, पापहर्ता, धर्म, धर्मप्रकाशक, हेलिक, चित्रभानु, कलिघ्न, तार्क्ष्यवाहन, दिक्पति, पद्मिनीनाथ, कुशशेयकर, हरि, घर्मरश्मि, दुर्निरीक्ष्य, चण्डांशु, कश्यपात्मज—ये ही सब सत्तर संख्यक (७० सूर्य के पवित्र नाम हैं, इन प्रत्येक नामों में चतुर्थी विभक्ति) के एकवचन का रूप बनाकर आदि में प्रणव 'ॐ' और अन्त में 'नमः' पद लगाकर

करवीरादिकुसुमै रक्तचन्दनमिश्रितैः ।
दूर्वाङ्कुरैरक्षतैश्च निक्षिप्तैः पात्रमध्यतः ।। ८७ ।
दद्यादर्घ्यमनर्घ्याय सवित्रे ध्यानपूर्वकम् ।
उपमौलिसमानीय तत्पात्रं नान्यदृङ्मनाः ।। ८८ ।
प्रतिमन्त्रं नमस्कुर्यादुदयास्तमये रविम् ।
अनया नामसप्तत्या महामन्त्ररहस्यया ।। ८९ ।
एवं कुर्वन्नरो जातु न दरिद्रो न दुःखभाक् ।
व्याधिभिर्मुच्यते घोरैरपि जन्मान्तरार्जितैः ।। ९० ।
विनौषधैर्विना वैद्यैर्विना पथ्यपरिग्रहैः ।
कालेन निधनं प्राप्तः सूर्यलोके महीयते ।। ९१ ।
इत्येकदेशः कथितो भानुलोकस्य सत्तम ।
महातेजो निधेरस्य को विशेषमवेत्यहो ।। ९२ ।

उपमौलिशिरः समीपम् ।। ८८ । मन्त्रं मन्त्रं प्रतिमन्त्रम् । पूर्वोक्तनामान्येवात्र

(यथा—'ॐ हंसाय नमः') इसी प्रकार प्रति नामोच्चारण के साथ सूर्यदेव को देख-देखकर दोनों हाथों से गृहीत, जल से परिपूर्ण अति-निर्मल, ताम्रपात्र के मध्य में करवीर (कनईल) आदि (रक्त) पुष्प, रक्तचन्दन, दूर्वांकुर, अक्षत (और कुश) को रखकर परमपूजनीय सूर्य भगवान् शिर के पास हाथों को लाकर जानुओं से भूमि को छूकर ध्यानपूर्वक नयन और मन को स्थिर कर अर्घ्य दे और उदय तथा अस्त के समय प्रत्येक मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ इन सप्ततिसंख्यक परम गोपनीय महा-मन्त्रों के द्वारा नमस्कार करे ।। ७७-८९ ।

जो मनुष्य इस अनुष्ठान को करता है, वह कभी दरिद्री अथवा दुःखभागी नहीं होता, जन्मान्तरार्जित पापों के फलरूप घोर व्याधियों से बिना औषध, बिना वैद्य और बिना पथ्यधारण के वह निर्मुक्त हो जाता है और फिर पूर्णायु होकर अन्तकाल के आने पर—मृत्यु को प्राप्त होकर आदरपूर्वक सूर्यलोक में निवास करता है ।।९०-९१।

हे सत्तम ! यह तो सूर्यलोक का एक अंश (कुछ थोड़ा-सा वृत्तान्त) कहा गया है । अहो ! इन महा तेजोनिधि की विशेषता कौन जान सकता है ? ।। ९२ ।

स्वकर्णविषयीकुर्वन्निति पुण्यकथामिमाम् ।
क्षणावालोकयाञ्चक्रे महेन्द्रस्य महापुरीम् ॥ ९३ ।

अगस्तिरुवाच—

श्रुत्वा सौरीं कथामेतामप्सरालोकसंयुताम् ।
न दरिद्रो भवेत् क्वापि नाधर्मेषु प्रवर्तते ॥ ९४ ।
ब्राह्मणैः सततं श्राव्यमिदमाख्यानमुत्तमम् ।
वेदपाठेन यत्पुण्यं तत्पुण्यफलदायकम् ॥ ९५ ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शृण्वन्तोऽध्यायमुत्तमम् ।
पातकानि विसृज्येह गतिं यास्यन्त्यनुत्तमाम् ॥ ९६ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे अप्सरःसूर्यलोकवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मन्त्राः । मन्त्रमात्रत्वमिति भ्रमं निराकुर्वन्नेतदनुष्ठानस्य फलमाह । अनयेत्यादिना ॥ ८९–९२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ।

शिवशर्मा इस पवित्र कथा को सुनता हुआ क्षणमात्र में इन्द्रदेव की महापुरी को देखने लगा ॥ ९३ ।

अगस्त्य मुनि बोले—

अप्सरा-लोक और सूर्यलोक की इस कथा के श्रवण करने से मनुष्य कभी दरिद्री नहीं होता और अधर्म में भी प्रवृत्त नहीं होने पाता ॥ ९४ ।

ब्राह्मणों को तो सर्वदा यह आख्यान सुनना आवश्यक है; क्योंकि वेद-पाठ करने से जो पुण्य प्राप्त होता है; यह (आख्यान) भी उसी पुण्यफल का दायक है ॥ ९५ ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग इस उत्तम अध्याय के श्रवण करने से इस लोक में पातक-पुंज से छूटकर अत्युत्तम गति को प्राप्त होंगे ॥ ९६ ।

काल कर्म ओ जगत के जो हैं कारण एक ।
तेहि सूरज के भजन से मंगल होंहि अनेक ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां अप्सरस्सूर्यलोकवर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ।

अथ दशमोऽध्यायः

शिवशर्मोवाच—

रमयन्ती मनोऽतीव केयं कस्येयमीशितुः।
नयनानन्दसन्दोहदायिनी पूरनुत्तमा ॥ १ ॥

गणावूचतुः—

शिवशर्मन् महाभाग सुतीर्थफलितद्रुम ।
लोकोऽत्र रमते विप्रं सहस्राक्षपुरो त्वियम् ॥ २ ॥

सहस्राक्षस्य वह्नेश्च लोकावत्यन्तसुन्दरो।
मनः प्रीतिकारो हृद्यो वर्ण्यते दशमेऽद्भुतो ॥

रमयन्तीति। इदमो द्विरभ्यासोऽन्वयभेदाऽभिप्रायेण। अतीवेति लोकोक्तिः। एवाथ इवशब्दः ॥ १ ॥

सुतीर्थफलितद्रुम सुतीर्थस्य फलं सुतीर्थमेव वा फलं तद्विद्यते यस्य लोकस्य, स सुतीर्थफलितः। तारकादित्वादितच्। स चासो द्रुमश्च तत्सम्बोधनं तथा। विसर्गान्त पाठे सुतीर्थफलितो द्रुम इति च पाठे लोक एव द्रुमत्वेन निरूप्यते। तत्र लोकशब्दस्य भुवनपरत्वे सुतीर्थफलितः सुतीर्थफलैः प्राप्यत इत्यर्थः। सुतीर्थफलविद्रुम इति क्वचित्पाठः। तत्र सुतीर्थफलयुक्तो विशिष्टो द्रुम इत्यर्थः। अत्र रमते सहस्राक्ष इति शेषः। उभयपक्षेऽप्यत्र कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह। **सहस्राक्षेति**। तुशब्दोऽन्येभ्यो लोकेभ्यो विशेषद्योतनार्थः ॥ २ ॥

(अमरावती और ज्योतिष्मती का वर्णन)

शिवशर्मा ने कहा—

अत्यन्त मनोभिरामा, नेत्रों को परम सुख देनेवाली इस उत्तम पुरी का क्या नाम है और इसका स्वामी कौन है ? ॥ १ ॥

विष्णु के गणों ने कहा—

हे महाभाग शिवशर्मन् विप्र ! यह इन्द्र की पुरी अमरावती है। यहां पर सुतीर्थ सेवन से फलित वृक्षों के समान लोग ही क्रीड़ा करते हैं ॥ २ ॥

तपोबलेन महता विहिता विश्वकर्मणा ।
दिवापि कौमुदी यस्याः सौधश्रेणीश्रियं श्रयेत् ।। ३ ।
यदा कलानिधिः क्वापि दर्शे दृश्यत्वमावहेत् ।
तदा स्वप्रेयसीं ज्योत्स्नां सौधेष्वेषु निगूहयेत् ।। ४ ।
यदच्छभित्तौ वीक्ष्य स्वमन्ययोषिद्विशङ्किता ।
मुग्धा नाशु विशेच्चित्रमपि स्वां चित्रसालिकाम् ।। ५ ।
हर्म्येषु नीलमणिभिर्निर्मितेष्वत्र निर्भयम् ।
स्वनीलिमानमाधाय तमोऽहःस्वपि तिष्ठति ।। ६ ।

पुरीं विशिनष्टि । तपोबलेनेत्यादिसार्धद्वादशभिः । एतेषु श्लोकेषु यदिदमादिशब्दानां सेयं पुरी इत्यनेनाऽन्वयः । **दिवाऽपीति** । यस्या इन्द्रपुर्याः सौधश्रेणीश्रियं राजसदनपङ्क्तिशोभां दिवाऽपि न केवलं रात्रौ, दिवसेऽपि कौमुदी चन्द्रिका श्रयेदाश्रयेत् । चन्द्रिकेव यस्याः सदा सौधश्रेणिशोभेत्यर्थः ।। ३ ।

किञ्च **यदेति** । **दर्शे अमावास्यायाम्** । दर्श इत्युपलक्षणम् । यदा यदाऽदृश्यत्वं प्राप्नोति, तदा तदा स्वप्रेयसीं स्वस्य प्रियतमां ज्योत्स्नां सौधेषु निगूहयेत् सञ्चारयेदित्युत्प्रेक्षा । सुश्रेयसीमिति पाठे सुश्रेयसीं श्रेष्ठां श्रेयस्करीमिति यावदर्थाल्लोकानामित्यर्थः ।। ४ ।

यदच्छेति । यस्या अच्छभित्तौ निर्मलसौधभित्तौ स्वं प्रतिबिम्बं वीक्ष्य अन्ययोषिद् विशङ्किता अन्यस्य स्त्री कान्तेनानीता इति विशङ्किता । विशङ्कायां हेतुः । मुग्धा मूढाऽविदग्धा काचिद्देवाङ्गना चित्रं यथा स्यात्तथा ईर्ष्याविशादिव स्वां चित्रशालिकां स्वीयं सौधविशेषम् आशु झटिति नाविशेदित्यर्थः । एतच्चित्रमिति वा ।। ५ ।

हर्म्येष्विति । तमोऽन्धकारः । अपिशब्दात् सचन्द्रासु रात्रिष्वपीत्यर्थः । उत्प्रेक्षेयम् ।। ६ ।

इसे (इस अमरावती पुरी को) विश्वकर्मा ने बड़े ही तपोबल से बनाया है । यहाँ पर दिन में भी चन्द्रिका अटारियों की शोभा का आश्रयण किये रहती है ।। ३ ।

चन्द्रमा जब कभी (भूलोक में) अमावास्या अथवा अन्य किसी समय अदृश्य रहता है, तब भी वह अपनी प्यारी ज्योत्स्ना को इन्हीं सौधों में छिपा जाता है ।। ४ ।

इस नगरी की स्वच्छ भित्तियों में अपना ही प्रतिबिम्ब (परछाहीं) देखकर मुग्धा नायिका (स्वामी द्वारा लायी गयी) दूसरी स्त्री की शंका से चित्रशाला में शीघ्र प्रवेश नहीं करती । यह कैसा आश्चर्य है ? ।। ५ ।

इसी पुरी में अन्धकार नीलम के बने हुए बड़े-बड़े सुन्दर मन्दिरों में अपनी नीलिमा (कालिख) को रखकर दिन में भी निर्भय होकर बैठे ही रहता है ।। ६ ।

चन्द्रकान्तशिलाजालस्रुतमात्रामलञ्जलम् ।
तत्र चावाय कलशैर्नेच्छन्त्यन्यज्जलं जनाः ॥ ७ ॥
कुविन्दा न च सन्त्यत्र न च ते पश्यतोहराः ।
चेलान्यलङ्कृतीरत्र यतः कल्पद्रुमोऽर्पयेत् ॥ ८ ॥
गणका नात्र विद्यन्ते चिन्ता विद्याविशारदाः ।
यतश्चिकेति सर्वेषां चिन्तां चिन्तामणिर्द्रुतम् ॥ ९ ॥
सूपकारा न सन्त्यत्र रसकर्मविचक्षणाः ।
दुग्धे सर्वरसानेका कामधेनुरतो यतः ॥ १० ॥
कीर्तिरुच्चैःश्रवा यस्य सर्वतो वाजिराजिषु ।
रत्नमुच्चैःश्रवा सोऽत्र हयानां पौरुषाधिकः ॥ ११ ॥

चन्द्रेति । तत्र पुर्याम् । स्रुतमत्र तस्मादिति च पाठे एकं जलपदमध्याहर्तव्यम् ॥ ७ ॥

कुविन्दाः तन्तुवायाः । पश्यतोहरा अलङ्करणनिर्मातारः स्वर्णकारा इत्यर्थः । अलङ्कृतीः अलङ्करणानि ॥ ८ ॥

चिन्तामणिस्तदधिष्ठात्री देवता । चिकेति जानाति गणयतीति वा । चिन्तामभिप्रेतां वाञ्छामित्यर्थः ॥ ९ ॥ अतोऽस्याम् ॥ १० ॥

कीर्तिरिति । सर्वतो वाजिराजिषु सकलेष्वश्वसमूहेषु । उच्चैःश्रवः श्रवणं यस्याः सा कीर्तिर्यस्य स उच्चैःश्रवाः । हयानां मध्ये रत्नंश्रेष्ठोऽत्रास्यामित्यर्थः । कथम्भूतः ?

यहाँ (इस पुरी) के लोग चन्द्रकान्त नामक मणि के शिला-समूह से स्रवते हुए निर्मल जल को घड़ों-घड़ों भर लेने पर फिर दूसरे जल की इच्छा नहीं करते ॥ ७ ॥

इस पुरी में न तो तन्तुवाय (कोरी-जोलाहा) ही रहते हैं और न सुवर्णकार (सोनार) ही निवास करते हैं; क्योंकि यहाँ पर कल्पवृक्ष ही वस्त्र, आभूषण, (गहना और कपड़ा) का समर्पण किया करता है ॥ ८ ॥

इस नगरी में चिन्ता-विद्या के विशारद ज्योतिषी लोग नहीं हैं, कारण, यहाँ साक्षात् चिन्तामणि ही सभी की चिन्ता को तुरन्त जान जाता है ॥ ९ ॥

इस स्थान पर पाककर्म के आचार्य सूपकार लोग (रसोइयादार) भी नहीं हैं; क्योंकि एक कामधेनु के द्वारा ही समग्र रस दोहन कर लिए जाते हैं ॥ १० ॥

जिसकी कीर्ति उत्तमता से श्रवण की जाती है और जो सम्पूर्ण वाजि-राजियों में रत्न है, वह महाबली उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा भी इसी पुरी में वर्तमान है ॥ ११ ॥

ऐरावतो दन्तिवरश्चतुर्दन्तोऽत्र राजते ।
द्वितीय इव कैलासो जङ्गमस्फटिकोज्ज्वलः ॥ १२ ।
तरुरत्नं पारिजातः स्त्रीरत्नं सोर्वशी त्विह ।
नन्दनं वनरत्नञ्च रत्नं मन्दाकिनी ह्यपाम् ॥ १३ ।
त्रयस्त्रिंशत् सुराणां या कोटिः श्रुतिसमीरिता ।
प्रतीक्षते साऽवसरं सेवार्थं प्रत्यहं त्विह ॥ १४ ।
स्वर्गेष्विन्द्रपदादन्यन्न विशिष्येत किञ्चन ।
यद्यत्त्रिलोक्यामैश्वर्यं न तत्तुल्यमनेन हि ॥ १५ ।
अश्वमेधसहस्रस्य लभ्यं विनिमये न यत् ।
किं तेन तुल्यमन्यत्स्यात् पवित्रमथवा महत् ॥ १६ ।

पौरुषाधिकः पुरुषस्येदं पौरुषम्, बलं तेनाधिकः । यद्वा पुरुषो विष्णुस्तस्यांशः पौरुषो विभूतिरित्यर्थः । तेनाधिकः श्रेष्ठः । उच्चैःश्रवसमश्वानामिति भगवद्वचनात् । चात्रेति पाठे स इत्यध्याहर्तव्यम् ॥ ११–१३ ।

त्रयस्त्रिंशदिति । यद्यपि त्रयस्त्रिंशदेव देवाः श्रुतिप्रतिपादिताः । तथा च श्रुतिः— 'त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः' इति । तथापि तेष्वन्तर्भूतान् देवान् गृहीत्वा त्रयस्त्रिंशत् सुराणां या कोटिरित्युक्तम् । अवसरम् अवकाशम् । तुशब्देन सम्भ्रमो गृह्यते ॥ १४ ।

अमरावत्यास्तौल्यपावित्र्ययोरभावमन्यस्याह । अश्वमेधेति ॥ १६ ।

स्फटिक-सा उज्ज्वल दूसरे जंगम कैलास के समान चार दांतवाला करिवर ऐरावत भी यहाँ ही विराजमान है ॥ १२ ।

इस लोक में वृक्ष-रत्न पारिजात, स्त्री-रत्न प्रसिद्ध उर्वशी, वन-रत्न नन्दन और जल-रत्न मन्दाकिनी विद्यमान है ॥ १३ ।

वेद कथित तैंतीस करोड़ देवतागण यहीं पर प्रतिदिन इन्द्र की सेवा का अवसर जोहते रहते हैं ॥ १४ ।

स्वर्ग में इन्द्रपद से बड़ा और कुछ भी नहीं है । त्रैलोक्य भर का समस्त ऐश्वर्य भी इसके तुल्य नहीं हो सकता ॥ १५ ।

सहस्र अश्वमेध-यज्ञों के परिवर्तन से जिसका लाभ होता है, (भला) उसके समान पवित्र और महान् दूसरा क्या हो सकता है ? ॥ १६ ।

अर्चिष्मती संयमिनी पुण्यवत्यमलावती ।
गन्धवत्यलकेशी च नैतत्तुल्या महर्धिभिः ॥ १७ ।
अयमेव सहस्राक्षस्त्वयमेव दिवस्पतिः ।
शतमन्युरयं देवो नामान्येतानि नामतः ॥ १८ ।
सप्ताऽपि लोकपाला ये त एनं समुपासते ।
नारदाद्यैर्मुनिवरैरयमाशीर्भिरीड्यते ॥ १९ ।
एतत् स्थैर्येण सर्वेषां लोकानां स्थैर्यमिष्यते ।
पराजयान् महेन्द्रस्य त्रैलोक्यं स्यात् पराजितम् ॥ २० ।
दनुजा मनुजा [1]दैत्यास्तपस्यन्त्युग्रसंयमाः ।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि महेन्द्रपदलिप्सवः ॥ २१ ।

अर्चिष्मतीति । वह्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुकुबेरेशानां सप्तानामर्चिष्मत्याद्याः सप्तपुर्यः । ईशस्येयमैशी ॥ १७ ।

नान्यत इति पाठे नान्यस्येत्यर्थः ॥ १८ । महेन्द्रपदलिप्सवोऽमरावतीं प्राप्तुमिच्छवः । २१ ।

अर्चिष्मती, संयमिनी, पुण्यवती, अमलावती, गंधवती, अलका और ऐसी सप्तदिक्पालों की ये सातों पुरियाँ भी महासमृद्धि के द्वारा अमरावती के समान नहीं हैं ॥ १७ ।

यहीं सहस्राक्ष, यहीं दिवस्पति और यहीं देवराज शतक्रतु हैं । ये सब नाम और किसी के नहीं हैं ॥ १८ ।

दूसरे सातों लोकपाल भी इन्हीं की उपासना करते हैं और नारदादि मुनिगण भी आशीर्वादों के द्वारा इन्हीं की स्तुति गाते हैं ॥ १९ ।

देवराज इन्द्र की स्थिरता से ही त्रैलोक्य की स्थिरता होती है और इन्द्र की ही पराजय से त्रैलोक्य भर की पराजय हो जाती है ॥ २० ।

इसी इन्द्रपद के लाभ की अभिलाषा से दैत्य, दानव, मनुष्य, गन्धर्व, यक्ष और राक्षस, सभी लोग उग्र संयमपूर्वक तपस्या करते हैं ॥ २१ ।

---

१. विकृता इति क्वचित्पाठः ।

सगराद्या महीपाला वाजिमेधविधायकाः ।
कृतवन्तो महायत्नं शक्रैश्वर्यजिघृक्षवः ॥ २२ ॥
निष्प्रत्यूहं क्रतुशतं यः कश्चित् कुरुतेऽवनौ ।
जितेन्द्रियोऽमरावत्यां स प्राप्नोति पुलोमजाम् ॥ २३ ॥
असमाप्तक्रतुशता वसन्त्यत्र महीभुजः ।
ज्योतिष्टोमादिभिर्यागैर्ये यजन्त्यपि ते द्विजाः ॥ २४ ॥
तुलापुरुषदानादिमहादानानि षोडश ।
ये यच्छन्त्यमलात्मानस्ते लभन्तेऽमरावतीम् ॥ २५ ॥

शक्रैश्वर्यजिघृक्षवः इन्द्रश्रियं लब्धुमिच्छवः ॥ २२ ।

तर्हि किमिति नागृह्णंस्तत्राह । **निष्प्रत्यूहम्** इति ॥ २३ । तर्हि सविघ्नक्रतुशतानां तदनुष्ठानं निष्फलमेव नेत्याह । **असमाप्तेति** ॥ २४ ।

तुलेति । तुलापुरुषादीनि च तानि महादानानि चेति तथा । आदिपदेन हिरण्यगर्भादीनि गृह्यन्ते । तानि च लैङ्गे दर्शितानि । तथा हि—

तुलाहिरण्यगर्भश्च ब्रह्माण्डाख्यं तृतीयकम् ।
कल्पतरुर्गोसहस्रं नामधेयन्तु पञ्चमम् ।
हिरण्यकामधेनुश्च हिरण्याश्वश्च सप्तमः ।
हिरण्याश्वरथश्चैव हेमहस्तिरथस्तथा ।

अश्वमेध यज्ञों के कर्ता सगरादिक भूपालगण ने इसी इन्द्रपद की प्राप्ति की इच्छा से बड़े-बड़े प्रयत्न किये थे ॥ २२ ।

जो कोई व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर पृथिवी पर एक सौ अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न समाप्त कर पाता है, अमरावती में वही इन्द्राणी को प्राप्त करता है ॥ २३ ।

जिसका शत-यज्ञ समाप्त नहीं होता, ऐसे राजे-महाराजे और ज्योतिष्टोम आदि यागों के कर्त्ता द्विजाति लोग इस अमरावती नगरी में निवास करते हैं ॥ २४ ।

तुलापुरुष १, हिरण्यगर्भ २, ब्रह्माण्ड ३, कल्पतरु ४, गोसहस्र ५, हिरण्यकामधेनु ६, हिरण्याश्व ७, हिरण्याश्वरथ ८, हिरण्यहस्तिरथ ९, पञ्चलांगल १०, धरादान ११, विश्वचक्र १२, कल्पलता १३, सप्तसागर १४, रत्नधेनु १५ और महाभूतघट १६, इन षोडश महादानों के कर्ता निर्मलात्मागण इस अमरावती को प्राप्त करते हैं ॥२५ ।

अक्लीबवादिनो धीरा संग्रामेष्वपराङ्मुखाः ।
विक्रान्ता वीरशयने तेऽत्र तिष्ठन्ति भूभुजः ।। २६ ।
इत्युद्देशात् समाख्याता महेन्द्रनगरीस्थितिः ।
यायजूका वसन्त्यत्र यज्ञविद्याविशारदाः ।। २७ ।
इमामर्चिष्मतीं पश्य वीतिहोत्रपुरीं शुभाम् ।
जातवेदसि ये भक्तास्ते वसन्त्यत्र सुव्रताः ।। २८ ।
अग्निहोत्ररता विप्रास्तथाऽग्निब्रह्मचारिणः ।
स्त्रियो वा सत्त्वसम्पन्नास्ते सर्वे अग्नितेजसः ।। २९ ।
अग्निहोत्ररता विप्रास्तथाऽग्निब्रह्मचारिणः ।
पञ्चाग्निव्रतिनो ये वै तेऽग्निलोकेऽग्नितेजसः ।। ३० ।

पञ्चलाङ्गलदानञ्च धराख्यं विश्वचक्रकम् ।
कल्पलताह्वयं चान्यत् सप्तसागरमेव च ।
रत्नधेनुर्महाभूतघटेत्येतानि षोडश ।।
महादानानि सुतरां क्रमशः कथितानि वै ।
सर्वाण्येतानि कृतवान् पुरा शम्बरसूदन ।। इति ।। २५-२६ ।

यायजूका यज्ञशीलाः ।।२७। अग्निब्रह्मचारिणः साग्निका ब्रह्मचारिणः । चतुर्दिक्षु चत्वारोऽग्नय उपरि सूर्यश्च पञ्चाग्नयस्तत्तापव्रतिनः ।। ३० ।

अकातर वचनों के वक्ता, युद्ध में पीठ को न दिखलाने वाले, वीरशय्याशायी, धीर, शूर भूपालगण इस स्थान में स्थिति (निवास) करते हैं ।। २६ ।

यज्ञ-विद्या के विशारद यायजूकगण भी यहाँ ही निवास करते हैं । प्रसंगवश हम लोगों ने इस इन्द्रपुरी की स्थिति का (आपसे) वर्णन किया ।। २७ ।

(अब) अर्चिष्मती नाम्नी मंगलरूपा इस अग्निपुरी को देखिये । अग्निदेव के उपासक सुव्रत लोग यहाँ पर निवास करते हैं ।। २८ ।

जो दृढ़सत्त्व, जितेन्द्रिय, पुरुषगण अथवा जो दृढ़ सत्त्वसम्पन्ना स्त्रियाँ अग्नि में प्रवेश करती हैं, वे सब अग्नि समान तेजस्वी होकर इस अग्निलोक में निवास करती हैं ।। २९ ।

जो ब्राह्मण अग्निहोत्र तत्पर हैं, अथवा साग्निक ब्रह्मचारी हैं, तथा पञ्चाग्नि-व्रत-परायण हैं, वे सब अनलसम तेजोधारी होकर इस वह्निलोक के निवासी होते हैं ।। ३० ।

शीते शीतापनुत्यै यस्त्विध्मभारान् प्रयच्छति ।
कुर्यादग्निष्टिकां वाऽथ स वसेदग्निसन्निधौ ॥ ३१ ।
अनाथस्याग्निसंस्कारं यः कुर्याच्छ्रद्धयान्वितः ।
अशक्तः प्रेरयेदन्यं सोऽग्निलोके महीयते ॥ ३२ ।
जठराग्निविवृद्ध्यै यो दद्यादाग्नेयमौषधम् ।
मन्दाग्नये स पुण्यात्मा वह्निलोके वसेच्चिरम् ॥ ३३ ।
यज्ञोपस्करवस्तूनि यज्ञार्थं द्रविणन्तु वा ।
यथाशक्ति प्रदद्याद्यो ह्यर्चिष्मत्यां वसेत् स वै ॥ ३४ ।
अग्निरेको द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।
गुरुर्देवो व्रतं तीर्थं सर्वमग्निर्विनिश्चितम् ॥ ३५ ।

इध्मभारान् काष्ठभारान्। 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधम् इध्ममेधः समित् स्त्रियाम्' इत्यमरः। तेषां सारत्वनीरसत्वख्यापनाय तुशब्दः। अग्निष्टिकां लोहादिनिर्मिताग्न्याधारस्थालिकाम् ॥ ३१–३२ ।

आग्नेयमग्निवृद्धिकरम् ॥ ३३ ।

जो कोई शीतकाल में शैत्य दूर करने के लिए काठ के बोझों का इन्धन देता है और अग्निकुण्ड बनवा देता है, वह अग्नि के समीप अवस्थान करता है ॥ ३१ ।

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक अनाथ लोगों की अग्निदाहादिक क्रिया कर देता है, अथवा स्वयं अशक्त होने पर दूसरे किसी से करवा देता है, वह अग्निलोक में पूजित होता है ॥ ३२ ।

जो कोई जठराग्नि की वृद्धि के लिए मन्दाग्नि जन को अग्निवर्धक औषध देता है, वह बहुकालपर्यन्त अग्निलोक में निवास करता है ॥ ३३ ।

यज्ञ की सामग्री अथवा यज्ञ करने के हेतु जो यथाशक्ति धन देता है, वह इस अर्चिष्मती में निवास करता है ॥ ३४ ।

एक अग्नि ही द्विजातियों के परमपद दाता हैं, वह द्विजों के गुरु, देवता, व्रत और तीर्थ, सब कुछ हैं—यह निश्चित है ॥ ३५ ।

अपावनानि सर्वाणि वह्निसंसर्गतः क्षणात् ।
पावनानि भवन्त्येव तस्माद्यः पावकः स्मृतः ।। ३६ ।
अपि वेदं विदित्वा यस्त्यक्त्वा वै जातवेदसम् ।
अन्यत्र बध्नाति रतिं ब्राह्मणो न स वेदवित् ।। ३७ ।
अन्तरात्मा ह्ययं साक्षान्निश्रितो ह्याशुशुक्षणिः ।
मांसग्रासान् पचेत्कुक्षौ स्त्रीणां नो मांसपेशिकाम् ।। ३८ ।
तैजसी शाम्भवी मूर्तिः प्रत्यक्षा दहनात्मिका ।
कर्त्री हन्त्री पालयित्री विनैनां किं विलोक्यते ।। ३९ ।
चित्रभानुरयं साक्षान्नेत्रं त्रिभुवनेशितुः ।
अन्धन्तमोमये लोके विनैनं कः प्रकाशकः ।। ४० ।
धूपप्रदीपनैवेद्यं पयोदधिघृतैक्षवम् ।
एतद्भुक्तं निषेवन्ते सर्वे दिवि दिवौकसः ।। ४१ ।

अन्तरात्माऽन्तःसाक्षी । हि निश्चये । मांसपेशिकां मांसमयजरायुजां गर्भस्थबाल-तनुमिति यावत् ॥ ३८ ।

तेजस इयं तैजसी । शम्भोरियं शाम्भवी । अष्टमूर्तित्वादीश्वरस्य ॥ ३९ ।

अन्धन्तमोमये लोक इति च्छान्दसम् ॥ ४०। **ऐक्षवमिक्षुविकारम्** ॥ ४१ ।

सभी अपवित्र वस्तुएं अग्नि के संसर्ग से क्षणमात्र में पवित्र हो जाती हैं, इसी से अग्नि का नाम पावक कहा जाता है ॥ ३६ ।

जो ब्राह्मण वेद को जानकर भी अग्नि को छोड़कर अन्यत्र अनुराग करता है, वह वास्तव में वेदवेत्ता नहीं है ॥ ३७ ।

ये अग्नि ही साक्षात् अन्तरात्मा हैं, वे ही उदरस्थ होकर मांसादि ग्रासों को पकाते हैं; परन्तु स्त्रियों के गर्भस्थ बालकों को कोई उपाधि (उत्पान) नहीं करते ॥३८।

ये ही प्रत्यक्ष दहनात्मिका ईश्वर की तेजसी मूर्ति हैं और ये ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय के विधायक हैं, इनसे भिन्न जगत् में और क्या दृष्टिगोचर होता है ? ॥३९।

यही चित्रभानु साक्षात् महादेव के नेत्र हैं। घोर अन्धकारमय इस संसार में इनसे भिन्न दूसरा कौन प्रकाशक है ? ॥ ४० ।

स्वर्ग में सभी देवगण इन्हीं अग्नि का भुक्त धूप, दीप, नैवेद्य, दूध, दही और ईख का भोग आदि सेवन करते हैं ॥ ४१ ।

शिवशर्मोवाच—

कोऽयं कृशानुः कस्याऽयं सूनुः कथमिदं पदम् ।
आग्नेयं लब्धमेतेन ब्रूत मे तन्ममाग्रतः ॥ ४२ ।

गणावूचतुः—

आकर्णय महाप्राज्ञ वर्णयावो यथातथम् ।
योऽयं यस्य यथाऽनेन प्रापि ज्योतिष्मती पुरी ॥ ४३ ।
नर्मदायास्तटे रम्ये पुरे नर्मपुरे पुरा ।
पुरारिभक्तः पुण्यात्माऽभवद् विश्वानरो मुनिः ॥ ४४ ।
ब्रह्मचर्याश्रमे निष्ठो ब्रह्मयज्ञरतः सदा ।
शाण्डिल्यगोत्रः शुचिमान् ब्रह्मतेजोनिधिर्वशी ॥ ४५ ।
विज्ञाताऽखिलशास्त्रार्थो लौकिकाचारचञ्चुरः ।
कदाचिच्चिन्तयामास हृदि ध्यात्वा महेश्वरम् ॥ ४६ ।
चतुर्णामप्याश्रमाणां कोऽस्तीव श्रेयसे सताम् ।
यस्मिन् प्राप्नोति संक्षुण्णे परत्रेह च वा सुखम् ॥ ४७ ।

प्रापि प्राप्ता ॥ ४३ । पुरारिभक्तस्त्रिपुरारिसेवकः ॥ ४४ । ब्रह्मवेदः स एव यज्ञः, तत्र रतः । वेदाध्ययनस्वरूपे ऋषियज्ञे रत इत्यर्थः ॥ ४५ । लौकिकाचारचञ्चुरः लौकिकव्यवहारे निपुणः, कुशल इति यावत् ॥ ४६ । संक्षुण्णे सम्यङ्निष्पादिते चोर्ण

शिव शर्मा ने कहा—

ये कृशानु कौन हैं ? और किसके पुत्र हैं ? फिर किस प्रकार से इन्होंने यह अग्निपद प्राप्त किया है ? इसे मेरे समक्ष वर्णन किजिये ॥ ४२ ।

गणों ने कहा –

हे महाप्राज्ञ ! श्रवण करो, यह जो हैं और जिसके पुत्र हैं, तथा जिस प्रकार से इस ज्योतिष्मती नगरी को प्राप्त किये हैं, वह सब कथा यथाक्रम से हम वर्णन करते हैं ॥ ४३ ।

पूर्व काल में नर्मदा के सुहावन तोर पर नर्मपुर नामक नगर में विश्वानर नाम के शाण्डिल्यगोत्री एक पुण्यात्मा शिवभक्त मुनि थे ॥ ४४ ।

नर्मदा वेदाध्ययनरूप ऋषियज्ञ में तत्पर, ब्रह्मतेजोमय, जितेन्द्रिय, पवित्र, ब्रह्मचर्याश्रमनिष्ठ वे मुनि समस्त शास्त्रार्थ, ज्ञान और लौकिकाचार के चातुर्य को प्राप्तकर एकबार हृदय में महादेव का ध्यान करते हुए चिन्ता करने लगे कि चारों आश्रमों में सज्जनों का परम कल्याणकारी आश्रम कौन है ? जिसका सेवन करने से यहाँ और परलोक में भी सुख-लाभ होता है ॥ ४५-४७ ।

इदं श्रेयस्त्विदं श्रेयस्त्विदन्तु सुकरं भवेत् ।
इत्थं सर्वं समालोड्य गार्हस्थ्यं प्रशशंस ह ॥ ४८ ।

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
एषामाधारभूतोऽसौ गृहस्थो नान्यथेति च ॥ ४९ ।

देवैर्मनुष्यैः पितृभिस्तिर्यग्भिश्चोपजीव्यते ।
गृहस्थः प्रत्यहं यस्मात्तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥ ५० ।

अस्नात्वा चाप्यहुत्वा वाऽदत्त्वा वाऽश्नाति यो गृही ।
देवादीनामृणीभूत्वा नरकं प्रतिपद्यते ॥ ५१ ।

अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते ह्यजपी पूयशोणितम् ।
अहुताशो कृमीन् भुङ्क्तेऽप्यदत्वा विड्विभोजनः ॥५२।

इत्यर्थः ॥ ४७ । आलोड्य विचार्य ॥ ४८ ।

विड्विभोजनः । विड् विष्ठा, विशेषेण भोजनं यस्य, स तथा ॥ ५२ ।

'यह श्रेयस्कर है, नहीं, यह श्रेयस्कर है, यह सुकर है" इसी प्रकार से सभी आश्रमों का विचार कर वे गृहस्थाश्रम की ही प्रशंसा करने लगे ॥ ४८ ।

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक—इन चारों आश्रमों के बीच गृहस्थ ही सभी का आधारस्वरूप है; क्योंकि उसके बिना इन सबका निर्वाह नहीं हो सकता ॥ ४९ ।

प्रतिदिन गृहस्थ ही के द्वारा देवता, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी जाति की भी जीविका चलती है, इससे गृहस्थाश्रम ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५० ।

जो गृहस्थ स्नान, हवन और दान बिना किए ही भोजन कर लेता है, वह देवतादिकों का ऋणी होकर नरक में पड़ता है ॥ ५१ ।

जो गृही बिना स्नान के भोजन करता है, वह मल-भोजी है और बिना जप किये पूय-शोणित खाता है, एवं होमहीन भक्षण करनेवाला कृमि-भोक्ता होता है तथा दान से रहित होकर भक्षणशील होने पर विष्ठा-भक्षक होता है ॥ ५२ ।

ब्रह्मचर्यं हि गार्हस्थ्ये यादृक् कल्पनयोज्झितम्।
स्वभावचपले चित्ते क्व तादृग् ब्रह्मचारिणि ॥ ५३।
हठाद्वा लोकभीत्या वा स्वार्थाद्वा ब्रह्मचर्यभाक्।
सङ्कल्पयति चित्ते चेत् कृतमप्यकृतं तदा ॥ ५४।
परदारपरित्यागात् स्वदारपरितुष्टितः।
ऋतुकालाभिगामित्वाद् ब्रह्मचारी गृहीरितः॥ ५५।
विमुक्तरागद्वेषो यः कामक्रोधविवर्जितः।
साग्निः सदारः स गृही वानप्रस्थाद्विशिष्यते ॥ ५६।
वैराग्याद् गृहमुत्सृज्य गृहधर्मान् हृदि स्मरेत्।
स भवेदुभयभ्रष्टो वानप्रस्थो न वा गृही ॥ ५७।

ब्रह्मचर्यं हीति। गार्हस्थ्ये गृहाश्रमे यादृग् ब्रह्मचर्यम्, तादृग् ब्रह्मचारिणि स्वभावचपले चित्ते सति क्व कुत्रेत्यन्वयः। कीदृक्? कल्पनया बन्धनया प्रतारणयेति यावत्। उज्झितं त्यक्तम्। यद्वै कल्याणयोजितमिति क्वचित्पाठः, यद्वेकल्येन योजितमिति चान्यत्र ॥ ५३।

अनधिकारिणां तत्तदाश्रमनिन्दापूर्वकमधिकारिणो गृहस्थस्य तत्तदाश्रमाच्छ्रैष्ठ्यमाह। **हठादिति** षड्भिः। हठाद् बलादधिकाराभावेऽप्याग्रहादित्यर्थः। स्वार्थात् स्वप्रयोजननिमित्तात् सङ्कल्पयति चिन्तयति ब्रह्मचर्यविरोधिकर्मेति शेषः। कृतं ब्रह्मचर्यमित्येव ॥ ५४–५७।

कल्पनामात्र से परित्यक्त ब्रह्मचर्य जैसा गृहस्थाश्रम है। (भला) स्वभावतः चंचल-चित्त ब्रह्मचारी से कहाँ हो सकता है? ॥ ५३।

आग्रहवश हो, चाहे लोक-भय से हो अथवा स्वार्थ के ही कारण हो, ब्रह्मचर्य-ग्रहण करके यदि उसके विरुद्ध कोई कर्म चित्त में भी सोचा जाय, तो वह ब्रह्मचर्य करने पर भी नहीं करने के समान होता है ॥ ५४।

परस्त्री के परित्याग और स्वदारा से ही संतोष एवं ऋतुकाल में गमन—इन्हीं कर्मों से गृहस्थ ब्रह्मचारी कहलाता है ॥ ५५।

जिसे राग-द्वेष नहीं है, काम-क्रोध से रहित है, वही साग्निक सपत्नीक गृहस्थ वानप्रस्थ की अपेक्षा उत्तम है ॥ ५६।

जो कोई वैराग्यवश होकर गृह-परित्याग करने पर फिर हृदय में गृह-धर्मों को स्मरण करता है, वह न तो वानप्रस्थ हुआ न गृहस्थ हुआ; किन्तु उभयतो भ्रष्ट है ॥ ५७।

अयाचितोपस्थितया यो वृत्त्या वर्त्तते गृही ।
येन केनापि सन्तुष्टो भिक्षुकात् स विशिष्यते ।। ५८ ।
प्रार्थयेद्यत्क्वचित्किञ्चिद् दुष्प्रापं वा भविष्यति ।
अशनेषु न सन्तुष्टः स यतिः पतितो भवेत् ।। ५९ ।
गुणागुणं विचार्येत्थं स वै विश्वानरो द्विजः ।
उद्ववाह विधानेन स्वोचितां कुलकन्यकाम् ।। ६० ।
अग्निशुश्रूषणरतः पञ्चयज्ञपरायणः ।
षट्कर्मनिरतो नित्यं देवपित्रतिथिप्रियः ।। ६१ ।
धर्मार्थकामान् युक्तात्मा सोऽर्जयन् स्वस्वकालतः ।
परस्परमसङ्कोचं दम्पत्योरानुकूल्यतः ।। ६२ ।
पूर्वाह्ले दैविकं कर्म सोऽकरोत् कर्मकाण्डवित् ।
मध्यन्दिने मनुष्याणां पितॄणामपराह्लके ।। ६३ ।

प्रार्थयेदिति । यो यतिः क्वचित् कदाचित् प्रार्थयेत् प्रार्थयति । दुष्प्रापं वा यद्भविष्यति, भवति, तदपि प्रार्थयति । समीचीनमसमीचीनं वा याचत इत्यर्थः, स पतितो भवेत्, स्वाश्रमाद्भ्रष्टो भवतीत्यर्थः ।। ५९ ।

जो गृही विना माँगे प्राप्त वस्तु को वृत्ति द्वारा अपनी जीविका-निर्वाह करता है और जिस-किसी उपाय से संतुष्ट ही रहता है, वह गृही भिक्षुक से भी श्रेष्ठ है ।। ५८ ।

जो यती दुर्लभ या सुलभ किसी वस्तु की प्रार्थना करे और यदि भोजन से तृप्त न हो, तो वह संन्यासी पतित है ।। ५९ ।

उस विश्वानर द्विज ने चारों आश्रमों का गुण-दोष भलीभाँति से विचार कर अपने अनुरूप कुल की कन्या से विवाह किया ।। ६० ।

वे वेद, अग्नि-सेवन और पंचयज्ञ में तत्पर होकर, पठन-पाठन, यजन-याजन, दान और प्रतिग्रह—इन नित्य छहों कर्मों को करते हुए, देवता, पितर और अतिथिगण के प्रीति पात्र हुए ।। ६१ ।

वे धीरचित्त होकर यथाकाल परस्पर अविरुद्ध, दम्पति के अनुकूल धर्म, अर्थ, और काम का उपार्जन करने लगे ।। ६२ ।

कर्मकाण्ड के ज्ञाता ब्राह्मण पूर्वाह्ल में देवकर्म, मध्याह्न में मनुष्य कृत्य और अपराह्ल में पितृ-कार्यों का सम्पादन करने लगे ।। ६३ ।

एवं बहुतिथे काले गते तस्याग्रजन्मनः।
भार्या शुचिष्मती नाम कामपत्नीव सुव्रता ॥ ६४ ।
अपश्यन्त्यङ्कुरमपि सन्ततेः स्वर्गसाधनम् ।
विज्ञाय शङ्करं कान्तं प्रणिपत्य व्यजिज्ञपत् ॥ ६५ ।

शुचिष्मत्युवाच—

आर्यपुत्रार्यधिषण प्राणनाथ प्रियव्रत ।
न दुर्लभं ममास्तीह किञ्चित्त्वच्चरणाऽर्चनात् ॥ ६६ ।
ये वै भोगाः समुचिताः स्त्रीणां ते त्वत्प्रसादतः ।
अलङ्कृत्य मया भुक्ताः प्रसङ्गाद् वच्मि तान्यपि ॥ ६७ ।
सुवासांसि सुवासाश्च सुशय्यासु नितम्बिनी ।
स्त्रक्ताम्बूलान्नपानाश्च अष्टौ भोगाः स्वधर्मिणाम् ॥ ६८ ।

कामपत्नी रतिस्तद्वदिव ॥ ६४ । अङ्कुरं कारणं पुत्रमात्रमित्यर्थः ॥ ६५ ।

अलङ्कृत्य अतिशयं कृत्वा । तान्यपि तानपि । तानपीति वा पाठः । अलङ्कृतेति अलङ्करोतीत्यलङ्कृत् पाठे तया मयेत्यर्थः ॥ ६७ ।

सुवासांसि शोभनवस्त्राणि । **सुवासाः** शोभनगृहाः । चकारः समुच्चये । **सुशय्या** शोभनकशिपुः । **सुनितम्बिनी** शोभनपरिचारिका । स्त्रक्ताम्बूलान्नपानाश्चेत्यष्टौ भोगाः । विसन्धिरार्षः । स्वधर्मिणां स्वधर्मवताम् । पाठान्तरे[1] शोभनधर्मवतामित्यर्थः । सुताम्बूलान्नपानाश्चेति पाठेऽष्टाविति दुर्घटम् । सुताम्बूलान्नपानाद्या इति क्वचित् । समाहारपाठश्चान्यत्र । एतेऽष्टौ भोगा मया भुक्ता इति पूर्वेणान्वयः ॥ ६८ ।

इसी प्रकार से बहुत काल बीत जाने पर रति के समान सुव्रता ब्राह्मण की पत्नी शुचिष्मती स्वर्गप्राप्ति के साधक वंश के अंकुर को भी न देखकर, निज पति को ही कल्याणकर्ता मानते हुए प्रणामपूर्वक निवेदन करने लगी ॥ ६४–६५ ।

शुचिष्मती बोली—

हे महामते ! प्रियव्रत ! प्राणनाथ ! आर्यपुत्र ! आपके श्रीचरणों के पूजन से इस जगत् में मुझे कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ६६ ।

स्त्रियों के लिये जो-जो भोग उपयुक्त हैं, आपके प्रसाद से अलंकृत होकर उन सबका मैंने भोग किया, प्रसंगवश उन्हें भी मैं कहती हूँ ॥ ६७ ।

सुन्दर वस्त्र, उत्तम गृह, कोमल शय्या, अच्छी दासी, माला, ताम्बूल, अन्न और पान— स्वधर्मनिष्ठ लोगों के इन आठों भोगों को मैं भोग चुकी हूँ ॥ ६८ ।

---

१. सुधर्मिणामित्येवंरूपे ।

एकं मे प्रार्थितं नाथ चिराय यद्हृदि संस्थितम् ।
गृहस्थानां समुचितं तत्त्वं दातुमिहार्हसि ॥ ६९ ।

विश्वानर उवाच—

किमदेयं हि सुश्रोणि तव प्रियहितैषिणि ।
तत्प्रार्थय महाभागे प्रयच्छाम्यविलम्बितम् ॥ ७० ।
महेशितुः प्रसादेन मम किञ्चिन्न दुर्लभम् ।
इहामुत्र च कल्याणि सर्वकल्याणकारिणः ॥ ७१ ।
इति श्रुत्वा वचः पत्युस्तस्य सा पतिदेवता ।
उवाच हृष्टवदना यदि देयो वरो मम ॥ ७२ ।
वरयोग्याऽस्मि चेन्नाथ नान्यं वरमहं वृणे ।
महेशसदृशं पुत्रं देहि माहेश्वराऽनघ ॥ ७३ ।
इति तस्या वचः श्रुत्वा शुचिष्मत्याः शुचिव्रतः ।
क्षणं समाधिमाधाय हृद्ये तत्समचिन्तयत् ॥ ७४ ।

समुचितं योग्यम् ॥ ६९ । सुलभत्वं भावयति । **अस्त्विति** । यतः स एव विश्वेश्वर एव सर्वकृत् सर्वकर्ता, अतस्तेन व्याहृतं भवेद् भविष्यतीत्यन्वयः ॥ ७५-७६ ।

नाथ ! मेरे हृदय में गृहस्थों के उपयुक्त एक प्रार्थना बहुत दिनों से वर्तमान है, आप उसे पूर्ण कर दें ॥ ६९ ।

विश्वानर बोले—

हे पतिहितैषिणि ! सुनितम्बिनि ! तुम्हें क्या अदेय है ? हे महाभागे ! जो चाहो, मांगो, मैं शीघ्र ही तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण करूँगा ॥ ७० ।

हे कल्याणि ! सर्वकल्याणकर्ता महादेव के प्रसाद से यहाँ और परलोक में भी मुझे कुछ दुर्लभ नहीं है ॥ ७१ ।

पति-देवता शुचिष्मती पति का यह वचन सुनकर प्रसन्नमुखी होकर बोलीं—यदि मुझको वरदान मिले और मैं वर के योग्य हूँ, तो मैं दूसरा वर नहीं चाहती । हे निष्पाप ! शिवभक्त ! आप मुझे महेश के समान पुत्र दें ॥ ७२-७३ ।

पवित्र व्रती वह मुनि शुचिष्मती के इस वचन को सुनकर क्षणभर चित्त में समाधि लगाकर यह चिन्ता करने लगे ॥ ७४ ।

अहो किमेतया तन्व्या प्रार्थितं ह्यतिदुर्लभम् ।
मनोरथपथाद्दूरमस्तु वा स हि सर्वकृत् ।। ७५ ।
तेनैवास्या मुखे स्थित्वा वाग्रूपेण शम्भुना ।
व्याहृतं कोऽन्यथाकर्तुमुत्सहेत भवेदिदम् ।। ७६ ।
ततः प्रोवाच तां पत्नीमेकपत्नीव्रते स्थितः ।
विश्वानरमुनिः श्रीमानिति कान्ते भविष्यति ।। ७७ ।
इत्थमाश्वास्य तां पत्नीं जगाम तपसे मुनिः ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षात् काशीनाथोऽधितिष्ठति ।। ७८ ।
प्राप्य वाराणसीं तूर्णं दृष्ट्वाऽथ मणिकर्णिकाम् ।
तत्याज तापत्रितयमपि जन्मशतार्जितम् ।। ७९ ।
दृष्ट्वा सर्वाणि लिङ्गानि विश्वेश्वरप्रमुखानि च ।
स्नात्वा सर्वेषु कुण्डेषु वापीकूपसरःसु च ।। ८० ।
नत्वा विनायकान् सर्वान् गौरीः सर्वाः प्रणम्य च ।
सम्पूज्य कालराजञ्च भैरवं पापभक्षणम् ।। ८१ ।

ओः ! इस कृशांगी ने तो मनोरथ पथ से भी दूरवर्ती, अति दुर्लभ यह कैसी प्रार्थना की ? जो हो, वे ही (शिव) सब कुछ करनेवाले हैं ।। ७५ ।

उन महेश्वर ने ही वाक्स्वरूप से इसके मुख में बैठकर यह बात कहलाई है, इससे अन्यथा करना किससे साध्य है ? यही होगा ।। ७६ ।

तदनन्तर एकपत्नीव्रतधारी श्रीमान् विश्वानर मुनि ने पत्नी शुचिष्मती के प्रति कहा—"प्रिये ! वही होगा" ।। ७७ ।

इस प्रकार से पत्नी को आश्वासन देकर, वे मुनि, तपस्या के लिए जहाँ पर साक्षात् काशीनाथ विश्वेश्वर स्थित हैं, वहीं चले गये ।। ७८ ।

इसके अनन्तर वे शीघ्र ही काशी में पहुँचकर मणिकर्णिका को देखते ही, सैकड़ों जन्म के संचित त्रिविध-ताप से मुक्त हो गए ।। ७९ ।

उन्होंने विश्वेश्वर प्रभृति लिंगों का दर्शन कर, सकल कुण्ड, वापी, कूप और सरोवरों में नहाया, अशेष गणेश और देवियों को प्रणाम कर, अघ-नाशक कालराज भैरव का सम्यक् प्रकार से पूजन किया ।। ८०–८१ ।

दण्डनायकमुख्यांश्च गणान् स्तुत्वा प्रयत्नतः ।
आदिकेशवमुख्यांश्च केशवान् परितोष्य च ॥ ८२ ।
लोलार्कमुख्यसूर्यांश्च प्रणम्य च पुनः पुनः ।
कृत्वा पिण्डप्रदानानि सर्वतीर्थेष्वतन्द्रितः ॥ ८३ ।
सहस्रभोजनाद्यैश्च यतीन् विप्रान् प्रतर्प्य च ।
महापूजोपचारैश्च[1] लिङ्गान्यभ्यर्च्य भक्तितः ॥ ८४ ।
असकृच्चिन्तयामास किं लिङ्गं त्रिप्रसिद्धिदम् ।
यत्र निश्चलतामेति तपस्तनयकाम्यया ॥ ८५ ।
श्रीमदोङ्कारनाथं वा कृत्तिवासेश्वरं किमु ।
कालेशं वृद्धकालेशं कलशेश्वरमेव च ॥ ८६ ।
केदारेशं तु कामेशं चन्द्रेशं वा त्रिलोचनम् ।
ज्येष्ठेशं जम्बुकेशं वा जैगीषव्येश्वरं तु वा ॥ ८७ ।
दशाश्वमेधमीशानं द्रुमिचण्डेशमेव च ।
दृक्केशं गरुडेशं च गोकर्णेशं गणेश्वरम् ॥ ८८ ।

कृत्तिवासेश्वरमित्यार्षम् ॥८६ ।

द्रुमीत्यत्र दृमीत्यपि दृश्यते ॥ ८८ ।

दण्डपाणि आदि गणमुख्यों की प्रयत्नपूर्वक स्तुतिकर, आदिकेशव प्रमुख विष्णु-मूर्तियों को सन्तुष्ट कर, लोलार्क इत्यादि सूर्यदेवों को बारम्बार नमस्कार कर, निरालस्य हो सम्पूर्ण तीर्थों में पिण्डदानकर भोजनादि द्वारा सहस्र सन्न्यासी और सहस्र ब्राह्मणों का तृप्ति-साधन कर, भक्तिपूर्वक महापूजोपचार से समस्त शिवलिंगों को पूज वे बारम्बार चिन्ता करने लगे कि कौन लिंग शीघ्र सिद्धिप्रद है ? जिसमें यह मेरी पुत्र कामना की तपस्या निश्चलता की सिद्धि को प्राप्त हो (अर्थात् किस लिंग के समीप तप करने से फिर दूसरे लिंग के पास न जाना पड़ेगा) ॥ ८२-८५ ।

श्रीमान् ओङ्कारेश्वर, कृत्तिवासेश्वर, कालेश, वृद्धकालेश्वर, कलशेश्वर, केदारेश्वर, कामेश्वर, चन्द्रेश्वर, त्रिलोचन, ज्येष्ठेश, जम्बुकेश, जैगीषव्येश, दशाश्वमेधेश्वर, ईशानेश्वर द्रुमिचण्डेश्वर, दृक्केश, गरुडेश गोकर्णेश्वर, गणेश्वर, ढुंढिगणेश, आशागज-

---

१. महारैश्चेति क्वचित्पाठः ।

ढुण्ढ्याशागजसिद्धाख्यं धर्मेशं तारकेश्वरम् ।
नन्दिकेशं निवासेशं पत्रीशं प्रीतिकेश्वरम् ॥ ८९ ।
पर्वतेशं पशुपतिं ब्रह्मेशं मध्यमेश्वरम् ।
बृहस्पतीश्वरं वाऽथ विभाण्डेश्वरमेव च ॥ ९० ।
भारभूतेश्वरं किं वा महालक्ष्मीश्वरं तु वा ।
मरुत्तेशं तु मोक्षेशं गङ्गेशं नर्मदेश्वरम् ॥ ९१ ।
मार्कण्डं मणिकर्णीशं रत्नेश्वरमथापि वा ।
अथवा योगिनीपीठं साधकस्यैव सिद्धिदम् ॥ ९२ ।
यमुनेशं लाङ्गलीशं श्रीमद्विश्वेश्वरं विभुम् ।
अविमुक्तेश्वरं वाऽथ विशालाक्षीशमेव च ॥ ९३ ।
व्याघ्रेश्वरं वराहेशं व्यासेशं वृषभध्वजम् ।
वरुणेशं विधीशं वा वसिष्ठेशं शनीश्वरम् ॥ ९४ ।
सोमेश्वरं किमिन्द्रेशं स्वर्लीनं सङ्गमेश्वरम् ।
हरिश्चन्द्रेश्वरं किं वा हरिकेशेश्वरं तु वा ॥ ९५ ।
त्रिसन्ध्येशं महादेवमुपशान्तिशिवं तथा ।
भवानीशं कपर्दीशं कन्दुकेशं मखेश्वरम् ॥ ९६ ।

विभाण्डेश्वरः तिलभाण्डेश्वरः ॥ ९० ।
मखेश्वरमित्यत्राजेश्वरमिति वा ॥ ९६ ।

गणेश, सिद्धिगणेश, धर्मेश्वर, तारकेश्वर, नन्दिकेश्वर, निवासेश्वर, पत्रीश्वर, प्रीतिकेश्वर, पर्वतेश्वर, पशुपतिनाथ, ब्रह्मेश्वर, मध्यमेश्वर, बृहस्पतीश्वर, तिलभाण्डेश्वर, भारभूतेश्वर, महालक्ष्मीश्वर, मरुत्तेश, मोक्षेश, गंगेश्वर, नर्मदेश्वर, मारकण्डेश्वर, मणिकर्णीश, रत्नेश्वर अथवा साधक-सिद्धिप्रद योगिनीपीठ, यमुनेश्वर, लाङ्गलीश्वर, श्रीमान् विभुविश्वेश्वर, अविमुक्तेश्वर, विशालाक्षीश्वर, व्याघ्रेश्वर, वराहेश, व्यासेश, वृषभध्वज वरुणेश, विधीश, वशिष्ठेश्वर, शनैश्चरेश्वर, सोमेश्वर, इन्द्रेश्वर, स्वर्लीनेश्वर, संगमेश्वर, हरिश्चन्द्रेश्वर, हरिकेशेश्वर, त्रिसन्ध्येश्वर, महादेव, उपशान्ति शिव, भवानीश, कपर्दीश्वर, कन्दुकेश्वर, यज्ञेश्वर और मित्रावरुणेश्वर—इन सब लिंगों में शीघ्र पुत्रप्रद कौन है ? ॥ ८९-९६ ॥

मित्रावरुणसंज्ञं वा किमेषामाशु पुत्रदम् ।
क्षणं विचार्य स मुनिरिति विश्वानरः सुधीः ।। ९७ ।
आज्ञातं विस्मृतं तावत् फलितो मे मनोरथः ।
सिद्धैः संसेवितं लिङ्गं सर्वसिद्धिकरं परम् ।। ९८ ।
दर्शनात् स्पर्शनाद्यस्य मनोनिर्वृत्तिभाग् भवेत् ।
उद्घाटितं सदैवास्ते स्वर्गद्वारं हि यत्र वै ।। ९९ ।
दिवानिशं पूजनार्थं विज्ञाप्य त्रिदशेश्वरम् ।
पञ्चमुद्रे महापीठे सिद्धिदे सर्वजन्तुषु ।। १०० ।
यत्र सा विकटा देवी प्रकटा सिद्धिरूपिणी ।
यत्र स्थितानां भक्तानां साक्षात् सिद्धिविनायकः ।। १०१ ।
निर्धूय विघ्नजालानि सर्वाः सिद्धीः प्रयच्छति ।
अविमुक्ते महाक्षेत्रे सिद्धिक्षेत्रं हि तत्परम् ।। १०२ ।
यत्र वीरेश्वरं लिङ्गं महागुह्यतमं मतम् ।
तिलान्तरापिनो काश्यां भूमिर्लिङ्गं विना क्वचित् ।। १०३ ।

आज्ञातमित्याङिति स्मृतिद्योतकमव्ययम् ॥ ९८ ।
पञ्चमुद्रया विकटया अधिष्ठिते ॥ १०० ।

परम बुद्धिमान् विश्वानर मुनि क्षणमात्र ऐसा विचार कर (कहने लगे) ॥९७।

ओः ! स्मरण हुआ ! मैं तो भूल ही गया था। अब (इतने दिनों पर मेरा) मनोरथ सफल हुआ, सिद्धगणसेवित सर्वसिद्धिकर्ता एक परम (उग्र) लिंग, है, जिसके दर्शन-स्पर्शन से मन में बड़ा आनन्द प्राप्त होता है, उसी लिंग के पूजनार्थ देवतागण इन्द्र की आज्ञा लेकर सदेव स्वर्गद्वार को खुला रखते हैं, जहाँ पर प्रसिद्ध विकटा देवी, सिद्धिरूप से प्रकट हुई हैं और साक्षात् सिद्धि-विनायक जहाँ के निवासी लोगों के विघ्नों को दूरकर सर्वसिद्धियों को प्रदान करते हैं ॥ ९८-१०१ ।

वही सर्व प्राणियों का सिद्धप्रद, पंचमुद्रामहापीठ, अविमुक्त महाक्षेत्र में परम सिद्धिक्षेत्र है ॥ १०२ ।

महागुह्यतम वीरेश्वर लिंग वहाँ पर ही विराजमान है। (यद्यपि) काशी के किसी स्थान में एक तिलमात्र भी भूमि बिना लिङ्ग के नहीं हैं; परन्तु वीरेश्वर के

परं वीरेशसदृशं न लिङ्गन्त्वाशु सिद्धिदम् ।
धर्मदं चार्थदं सम्यक् कामदं मोक्षदं तथा ॥ १०४ ।
यथा वीरेश्वरं लिङ्गं काश्यां नान्यत्तथा ध्रुवम् ।
पञ्चस्वरोऽत्र गन्धर्वः परां सिद्धिमगात् पुरा ॥ १०५ ।
विद्याधरः स्वच्छविद्यो वसुपूर्णश्च यक्षराट् ।
नृत्यन्ती निजभावेन पुरा ह्यत्राऽप्सरो वरा ॥ १०६ ।
सदेहा कोकिलालापा लिङ्गमध्ये लयं गता ।
ऋषिर्वेदशिरा नाम जपन् वै शतरुद्रियम् ॥ १०७ ।
मन्त्रज्योतिर्मये लिङ्गे सशरीरोऽविशत्पुरा ।
चन्द्रमौलिभरद्वाजावुभौ पाशुपतोत्तमौ ॥ १०८ ।
वीरेश्वरं समभ्यर्च्यगायमानौ लयं गतौ ।
शङ्खचूडो हि नागेन्द्रः स्वफणामणिभिर्निशि ॥ १०९ ।
षण्मासात् सिद्धिमगमद् बहुनीराजनैरिह ।
किन्नरी हंसपद्यत्र भर्त्रा वेणुप्रियेण वै ॥ ११० ।

स्वफणामणिभिः बहुनीराजनैरिति सम्बन्धः ॥ ११० ।

समान आशु-सिद्धिप्रद एवं सम्यक् प्रकार से शीघ्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का दाता दूसरा लिंग नहीं है ॥ १०३-१०४ ।

काशी में जैसा वीरेश्वर लिंग है, (वास्तव) में वैसा अन्य लिंग (सिद्धिप्रद) नहीं है यह निश्चित है। पूर्वकाल में पंचस्वर नामक गंधर्व स्वच्छविद्य नामक विद्याधर और वसुपूर्ण नामा यक्षराज—ये सब इसी शिव के समीप परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। पूर्व समय में ही अपने भक्तिभाव से नृत्य करती हुई कोकिलालापा नाम्नी उत्तम अप्सरा सशरीर इसी स्थान पर लिंग में लीन हो गई थी। पूर्वकाल में वेदशिरा नामक ऋषि शतरुद्रीय मन्त्र का जप करते-करते इसी ज्योतिर्मय लिंग में सशरीर प्रवेश कर गये। चन्द्रमौलि और भरद्वाज नामक दोनों परमशैव वीरेश्वर का पूजन कर गान करते-करते लीन हो गये। सर्पराज शंखचूड़ रात्रिकाल में अपने फन की मणियों से बहुत बार आरती करता हुआ इसी स्थान पर छः मास में सिद्धि को प्राप्त हुआ। यहीं पर हंसपदी नामिका किन्नरी अपने भर्ता वेणुप्रिय के साथ सुस्वर गान करती हुई परममुक्ति पद को

गायन्ती सुस्वरं याता परां निर्वाणभूमिकाम् ।
असंख्याताः सहस्राणि सिद्धाः सिद्धिमिहागताः ॥ १११ ।
सिद्धलिङ्गमिहाख्यातं तस्माद्वीरेश्वरं परम् ॥ ११२ ।
वीरेश्वरं समाराध्य भ्रष्टराज्यो जयद्रथः ।
हत्वा रिपूनस्खलितं राज्यं प्राप विदेहजः ॥ ११३ ।
विदूरथोऽथ नृपतिरपुत्रः पुत्रवानभूत् ।
वीरेश्वरप्रसादेन मगधाधिपतिर्वशी ॥ ११४ ।
वसुदत्तोऽत्र च वणिक् सुतां वसुसुतोपमाम् ।
अब्दमभ्यर्च्य वीरेशं रत्नदत्तोऽप्यवाप्तवान् ॥ ११५ ।
अहमप्यत्र वीरेशं समाराध्य त्रिकालतः ।
आशु पुत्रमवाप्स्यामि यथाऽभिलषितं स्त्रिया ॥ ११६ ।
इति कृत्वा मतिं धीरो विप्रो विश्वानरः कृती ।
चन्द्रकूपजलैः स्नात्वा जग्राह नियमं व्रती ॥ ११७ ।

विदेहजश्चेति जयद्रथविशेषणम् ॥ ११३ ।

वसुसुतोपमाम् उपरिचरवसोर्वीर्याज्जातसत्यवत्युपमाम् । वसवो देवाः, तत्सुतोपमामिति वा ॥ ११५ ।

प्राप्त हुई । असंख्य सिद्धगणों ने इसी स्थान पर सिद्धिलाभ किया है ॥ १०५-१११ ।

इन्हीं कारणों से जगत् में वीरेश्वर परम सिद्ध लिंग प्रसिद्ध है ॥ ११२ ।

विदेहवंशीय जयद्रथ राजा ने राज्यभ्रष्ट हो जाने पर (इसी) वीरेश्वर-लिंग की आराधना कर शत्रुगण को मारकर निष्कंटक राज्य प्राप्त किया ॥ ११३ ।

मगध देशाधिपति जितेन्द्रिय विदूरथ भूपाल अपुत्र होने से इसी वीरेश्वर के प्रसाद से पुत्रवान् हुआ ॥ ११४ ।

वसुदत्त और रत्नदत्त नामक वणिकों ने एक वर्ष पर्यन्त इसी स्थान पर वीरेश्वर की पूजा कर देवकन्या के तुल्य कन्यारत्न को पाया था ॥ ११५ ।

मैं भी त्रिकाल वीरेश्वर की पूजाकर पत्नी की अभिलाषानुरूप पुत्र को प्राप्त करूँगा ॥ ११६ ।

धैर्य-गुण-सम्पन्न सुकृती विश्वानर मुनि ने निश्चय कर चन्द्रकूप के जल से नहाकर नियमों को ग्रहण किया ॥ ११७ ।

एकाहारोऽभवन्मासं मासं नक्ताशनोऽभवत् ।
अयाचिताशनो मासं मासं त्यक्ताशनः पुनः ॥ ११८ ।
पयोव्रतोऽभवन्मासं मासं शाकफलाशनः ।
मासं मुष्टितिलाहारो मासं पानीयभोजनः ॥ ११९ ।
पञ्चगव्याशनो मासं मासं चान्द्रायणव्रती ।
मासं कुशाग्रजलभुङ्मासं श्वसनभक्षणः ॥ १२० ।
अथ त्रयोदशे मासे स्नात्वा त्रिपथगाम्भसि ।
प्रत्यूष एव वीरेशं यावदायाति स द्विजः ॥ १२१ ।
तावद्विलोकयाञ्चक्रे मध्ये लिङ्गं तपोधनः ।
विभूतिभूषितं बालमष्टवर्षाऽऽकृतिं शुभम् ॥ १२२ ।
आकर्णपूर्णनेत्रञ्च सुरक्तदशनच्छदम् ।
चारुपिङ्गजटामौलिं नग्नं प्रहसिताननम् ॥ १२३ ।
शैशवोचितनेपथ्यधारिणं चित्तहारिणम् ।
पठन्तं श्रुतिसूक्तानि हसन्तञ्च स्वलीलया ॥ १२४ ।

नेपथ्यं भूषणम् ॥ १२४ ।

इस प्रकार एक मास पर्यन्त एकाहार, एक मास रात्रिभोजन, एक मास अयाचिताशन (बिना माँगे प्राप्त भोजन) एक मास निराहार, एक मास दुग्धपान, एक मास मुट्ठी भर तिल का आहार, एक मास केवल जलपान, एक मास पंचगव्य भोजन, मास भर चान्द्रायण व्रत, एक मास कुशाग्र जलपान और फिर मासपर्यन्त वायु-भक्षण से व्यतीत किया ॥ ११८-१२० ।

इसके अनन्तर वे विश्वानर द्विज तेरहवें मास के प्रथम दिन प्रातःकाल गंगाजल में स्नानकर ज्यों ही वीरेश के समीप पहुँचे, त्यों ही उस तपोधन ने लिंग के बीच में विभूति से भूषित आठ वर्ष की अवस्था के एक सुन्दर बालक को देखा ॥ १२१-१२२ ।

यह भी देखा कि नेत्रकर्णपर्यन्त, पूर्ण सुन्दर रक्त वर्ण ओष्ठाधर, रुचिर पिङ्गल जटा से मस्तक मण्डित है, हँसता मुख, नग्नवेष, बालोचित भूषणों को धारण किए हुए वह मनोहर वेदसूक्तों को पढ़ाता और स्वेच्छापूर्वक हँस रहा है ॥ १२३-१२४ ।

तमालोक्य स्तुतिञ्चक्रे रोमकञ्चुकितो मुदा ।
प्रोच्चरद्गद्गदालापो नमोऽस्त्विति पुनः पुनः ॥ १२५ ।

विश्वानर उवाच—

एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तं सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किञ्चित् ।
एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे तस्मादेकं त्वां प्रपद्ये महेशम् ।।१२६।
एकः कर्ता त्वं हि सर्वस्य शम्भो नाना रूपेष्वेकरूपोऽस्य रूपः ।
यद्वत्प्रत्यप्स्वर्क एकोऽप्यनेकस्तस्मान्नान्यं त्वां दिनेशं प्रपद्ये ।।१२७।

अभिलाषप्रदैः पद्यैरष्टभिर्बालरूपिणम् ।
तुष्टाव परमानन्दं देवं विश्वानरः कृती ॥

एकमिति । समस्तं जगद् ब्रह्मेत्यन्वयः । किं मृद्घटवदौपचारिकं नेत्याह । **सत्यं सत्यमिति** । **निश्चयार्था वीप्सा** । बाधे सामानाविकरण्यान्नोपचार इति भावः । तर्हि ब्रह्मविष्णुरुद्रैः सजातीयभेदो भविष्यति नेत्याह । **एकमिति** । ननु कालाकाशादेः सत्यत्वेन प्रतीतेस्तेन विजातीयभेदो भवेत्तत्राह । **अद्वितीयमिति** । तर्हि स्वगतभेदः स्यान्नेत्याह । एक इति । एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेरित्यर्थः ।

नन्वस्मिन् ग्रामे एक एव पुरुष इतिवदेषा श्रुतिरुपचारपरेत्याङ्क्याह । **नेह नानास्ति** किञ्चिदिति । नेह नानास्ति किञ्चनेति श्रुतेरित्यर्थः । भूयसीनां श्रुतीनामैक्य-परत्वावगमान्नोपचारत्वमेकमेवेत्यादिश्रुतेरिति भावः । उपसंहरन् प्रणमति । **एक इति** । यस्मादेकः केवलः सजातीयस्वगतभेदरहितोऽद्वितीयो विजातीयभेदरहितः । रुद्रः, रुत् संसारदुःखं द्रावयति, नाशयतीति रुद्रोऽवतस्थेऽवतिष्ठते । 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' इति श्रुतेः । तस्मादेकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं महेशं महान्तमीश्वरं त्वां शरणमाश्रयं रक्षितारं वा प्रपद्ये भजे इत्यर्थः ॥ १२६ ।

जगत्कर्तृत्वोपाधिं भगवन्तं स्तुवन्ननेके कर्तार इति मतं निराकरोति । **एकः कर्तेति** । कथं तर्हि प्रतिशरीरं तद्भेदप्रतीतिस्तत्राह । **नानारूपेष्विति** । उपाधिभेदा-

---

उस एतादृश बालक को देखकर हर्ष के कारण रोम कंचुकित ही वे मुनि गद्गदस्वर से बारम्बार नकस्कार कर स्तुति करने लगे ॥ १२५ ।

विश्वानर बोले—

सत्य-सत्य एक अद्वितीय ब्रह्म ही सब है, जगत् में अनेक (नाना) कुछ भी नहीं है। (वेदों में ऐसा है कि) एक रुद्र ही हैं, दूसरा नहीं, अतएव आप ही एक अद्वितीय महेश्वर ब्रह्म हैं, मैं आपका भजन करता हूँ ॥ १२६ ॥

हे शंभो ! एक आप ही समस्त (संसार) के कर्त्ता हैं। जैसे सूर्य एक होने पर भी नाना जल में प्रतिबिम्बित होकर अनेक प्रतीत होते हैं, तद्वत् निराकार आप एकरूप

रज्जौ सर्पः शुक्तिकायाञ्च रूप्यं नैरः पूरस्तन्मृगाख्ये मरीचौ ।
यद्वत्तद्वद्विष्वगेष प्रपञ्चो यस्मिन् ज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम् ॥१२८॥
तोये शैत्यं दाहकत्वं च वह्नौ तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः ।
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्येऽपि सर्पिर्यत्तच्छम्भो त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये ॥१२९॥

देकस्य बहुधा भाने दृष्टान्तमाह । **यद्वदिति** । अपोपः । प्रति प्रत्यप्, तासु प्रत्यप्सु । छान्दसोऽयं प्रयोगः । स्वर्कः शोभनो मेघाद्यनाच्छादितोऽर्क इति वा । प्रत्यम्ब्विति वा पाठः । तदुक्तम्—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् इति ॥

चन्द्रसमानन्यायत्वात् सूर्योऽपि तथा ॥ १२७ ।

प्रत्यग् ब्रह्मण्यऽशेषप्रपञ्चस्य विवर्तरूपतां दृष्टान्तपुरस्सरमाह **रज्जाविति** । यस्मिन् परमात्मनि ज्ञाते एषोऽपरोक्षत्वेन प्रतीयमानः प्रपञ्चो विष्वक् सर्वतस्तद्वत्तथा भवति, तं प्रपद्य इत्यन्वयः । **तद्वत्** किंवत् । रज्जौ रज्ज्वां ज्ञातायां सर्पो यद्वत्, तथा शुक्तिकायां मुक्तास्फोटे च ज्ञातायां रौप्यं रजतं यथा । स चासौ मृगाख्यश्चेति तन्मृगाख्यः, तस्मिन् मृगाख्ये मरीचौ मृगतृष्णिकायाम् । मृगतृष्णामरीचिकेत्यमरः । सामान्यविशेषभावेन योजनान्न पौनरुक्त्यम् । तस्यां ज्ञातायां नीराणामयं नैरः पूरः समूहो यथा । **तद्वदिति** । रज्ज्वाद्यधिष्ठाने ज्ञाते सर्पादिविवर्तो यथा निवर्तते, तथाऽधिष्ठानभूते प्रत्यग् ब्रह्मणि त्वयि ज्ञाते सर्वोऽपि प्रपञ्चो नश्यतीत्यर्थः । अनेकदृष्टान्तोपादानं स्वानुभवस्यात्यन्तदार्ढ्यख्यापनाय । चकारः समुच्चये ॥ १२८ ।

सर्वशक्तिस्वरूपत्वेन स्तौति । **तोये शैत्यमिति** । हे शम्भो तत्त्वतस्त्वां प्रपद्य इत्यन्वयः । तत्किमिति पृच्छायामाह । तोये शैत्यमित्यादि भूमौ स्थैर्यमिति क्वचित् । **भानौ** सूर्ये । **शीतभानौ** चन्द्रे । **प्रसादः** आह्लादः । चकारः समुच्चये ॥ १२९ ।

होकर अनेकविध वस्तुओं में नानाविध (रूप) से भासित होते हैं, अतएव हे ईश ! आप से भिन्न अन्य किसी का भी मैं भजन नहीं करता ॥ १२७ ॥

जिस प्रकार से रज्जु, शुक्ति और मरीचिका का ज्ञान हो जाने पर रज्जु से सर्पभ्रम, शुक्ति से रजतभ्रम और मरीचिका से जलराशि का भ्रम दूर हो जाता है, उसी भाँति से जिसके जान लेने पर यह ब्रह्माण्ड-व्यापी जगत् का प्रपंच-भ्रम अपगत हो जाता है, मैं उसी महेश्वर देव की शरण में जाता हूँ ॥ १२८ ॥

आप ही जो जल में शैत्य, अग्नि में दाहिका शक्ति, सूर्य में सन्ताप, चन्द्रमा में प्रसाद (प्रसन्नता), पुष्प में गन्ध और दुग्ध के मध्य में घृत हैं, उसी आपको मैं भजता हूँ ॥ १२९ ॥

इष्टगन्धप्रसूनौघैर्ववर्षुस्ते घनाघनाः ।
देवदुन्दुभयो नेदुः प्रसेदुः सर्वतो दिशः ॥ ८ ।
परितः सरितः स्वच्छा भूतानां मानसैः सह ।
तमोऽताम्यत्तु नितरां रजोऽपि विरजोऽभवत् ॥ ९ ।
सत्त्वाः सत्त्वसमायुक्ता वसुधाऽऽसीच्छुभा तदा ।
कल्याणी सर्वतो वाणी प्राणिनः प्रीणयन्त्यभूत् ॥ १० ।
तिलोत्तमोर्वशीरम्भा प्रभा विद्युत्प्रभा शुभा ।
सुमङ्गला शुभालापा सुशीलाढ्या वराङ्गना ॥ ११ ।

ववर्षुर्वृष्टिं चक्रुः[1] । कैः । इष्टो गन्धो येषां तथाभूतानां प्रसूनानामोघैः समूहैः । घना निबिडाः । घनाघना इत्येकं वा पदम् । वर्षन्तो मेघा इत्यर्थः ॥ ८ ।

तमोऽज्ञानमन्धकारो वा अताम्यदनशत् । रजोऽपि विरजो विगतरजोऽभवदनशदित्येव ॥ ९ ।

सत्त्वाः प्राणिनः[2] । पुंस्त्वमार्षम् । सत्त्वसमायुक्ताः सत्त्वगुणसम्पन्नाः । शुभाः शोभनाः । पाठान्तरे सुष्ठु धारयमाणाऽमृततुल्या वा । सुधातुल्यफलसस्यादिमतीत्यर्थः । यदा बभूव, तदेति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ १० ।

तिलोत्तमेत्यादीनां तत्र विश्वानरगृहे मुदा हर्षेण आजग्मुरित्यग्रिमेणाऽन्वयः । वराङ्गना वराप्सरसः ॥ ११ ।

मेघमण्डल ने सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि की । देवताओं का दुन्दुभि (नगाड़ा) बजने लगा, दिशाएँ प्रसन्न हो गईं ॥ ८ ॥

समस्त नदियाँ लोगों के चित्त के साथ-साथ निर्मल हो गईं, तमोगुण अज्ञानरूप अन्धकार विनष्ट हुआ और रजोगुण की धूलिराशि भी विलीन हो गयी ॥ ९ ॥

जीव (प्राणि) गण सत्त्व और वीर्य से युक्त हो चले, पृथिवी भी उस घड़ी मङ्गलमयी हो गई, सब लोगों की प्रीतिवर्द्धिनी कल्याणी वाणी सर्वत्र कही जाने लगी ॥ १० ॥

तिलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा, प्रभा, वित्प्रभा, शुभा, सुमङ्गला, शुभालापा और सुशीला आदि अप्सराएँ, प्रसृत मुक्ताफलों से परिपूर्ण, कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी और

---

१. आर्षमेतत्; २. सुधा तदेत्येवंरूपे ।

त्वत्तः सर्वं त्वं हि सर्वं स्मरारे त्वं गौरीशस्त्वञ्च नग्नोऽतिशान्तः ।
त्वं वै वृद्धस्त्वं युवा त्वञ्च बालस्तत्त्वं यत्किं नास्यतस्त्वां नतोऽस्मि ॥१३३॥
स्तुत्वेति भूमौ निपपात विप्रः स दण्डवद्यावदतीव हृष्टः ।
तावत् स बालोऽखिलवृद्धवृद्धः प्रोवाच भूदेव वरं वृणीहि ॥१३४॥
तत उत्थाय हृष्टात्मा मुनिर्विश्वानरः कृती ।
प्रत्यब्रवीत् किमज्ञातं सर्वज्ञस्य तव प्रभो ॥१३५॥
सर्वान्तरात्मा भगवान् सर्वः सर्वप्रदो भवान् ।
याच्ञां प्रतिनियुङ्क्ते मां किमीशो दैन्यकारिणीम् ॥१३६॥
इति श्रुत्वा वचस्तस्य देवो विश्वानरस्य ह ।
शुचेः शुचिव्रतस्याशु शुचिस्मित्वाऽब्रवीच्छिशुः ॥१३७॥

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी', त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः, सर्वं विष्णुमयं जग- दित्यादिश्रुतिसिद्धे सर्वकारणत्वसर्वात्मत्वे दर्शयति । **त्वत्तः सर्वमिति** । त्वं हि सर्व- मित्येतत् प्रपञ्चयति । **त्वं गौरीश** इत्यादिना । अन्वयमुखेन सर्वात्मत्वमुक्त्वा व्यतिरेके- णापि तदाह । **तत्त्वमिति** । यत् त्वं न भवसि, तत् किं नास्तीत्यर्थः । तत् किं यत् त्वं नासीति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १३३-१३६ ।

शुचिस्मित्वा शुचि यथा स्यात्तथा ईषद्धास्यं कृत्वेत्यर्थ ॥ १३७ ।

हे स्मरारे ! आप ही से सब कुछ उत्पन्न हुआ है और आप ही सब हैं, आप गौरीश हैं, आप नग्न हैं और आप परम शान्त हैं, आप ही वृद्ध, युवा और बालक हैं, (अधिक क्या कहूँ) जो आप नहीं हैं, ऐसा और क्या है ? अतएव आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १३३ ॥

ज्यों ही उस विप्र विश्वानर ने अत्यन्त हृष्टचित्त से इस भाँति स्तुति कर भूतल पर दण्डवत् प्रणाम किया; त्यों ही समस्त वृद्धों का वृद्ध वह बालक बोला—"हे ब्राह्मण ! वर की प्रार्थना करो" ॥ १३४ ॥

तदनन्तर कुशल विश्वानर मुनि ने प्रसन्न अन्तःकरण से उठकर उत्तर दिया—प्रभो ! आप सर्वज्ञ हैं, (भला) आपको क्या अविदित है ? ॥ १३५ ॥

भगवन् ! आप सर्वान्तर्यामी, सर्वस्वरूप और सर्वाभीष्ट के दाता हैं; आप ईश्वर हैं, मुझे दैन्यकारिणी याञ्चा के प्रति क्यों नियुक्त करते हैं ? ॥ १३६ ॥

बालरूपी उस देव-देव ने पवित्र पुण्य (शुद्ध) व्रती विश्वानर का यह वचन पवित्र हास्य कर तुरन्त प्रत्युत्तर दिया ॥ १३७ ॥

बाल उवाच—

त्वया शुचे शुचिष्मत्यां योऽभिलाषः कृतो हृदि ।
अचिरेणैव कालेन स भविष्यत्यसंशयः ॥ १३८ ।
तव पुत्रत्वमेष्यामि शुचिष्मत्यां महामते ।
ख्यातो गृहपतिर्नाम्ना शुचिः सर्वाऽमरप्रियः ॥ १३९ ।
अभिलाषाष्टकं पुण्यं स्तोत्रमेतत्त्वयेरितम् ।
अब्दं त्रिकालपठनात् कामदं शिवसन्निधौ ॥ १४० ।
एतत्स्तोत्रस्य पठनं पुत्रपौत्रधनप्रदम् ।
सर्वशान्तिकरं चापि सर्वापत्परिनाशनम् ॥ १४१ ।
स्वर्गाऽपवर्गसम्पत्तिकारकं नाऽत्र संशयः ।
प्रातरुत्थाय सुस्नातो लिङ्गमभ्यर्च्य शाम्भवम् ॥ १४२ ।
वर्षं जपन्निदं स्तोत्रमपुत्रः पुत्रवान् भवेत् ।
वैशाखे कार्तिके माघे विशेषनियमैर्युतः ॥ १४३ ।

बालक बोला—

हे पवित्र मुने ! तुमने शुचिष्मती के प्रति जो अभिलाष हृदय में किया है, थोड़े ही दिनों में वह निःसन्देह पूर्ण होगा ॥ १३८ ॥

हे महामते ! मैं शुचिष्मती के गर्भ में सर्वदेवप्रिय पवित्र और गृहपति नाम से प्रसिद्ध होनेवाले तुम्हारे पुत्ररूप में उत्पन्न होऊँगा ॥ १३९ ॥

तुम्हारा कहा हुआ यह पवित्र अभिलाषाष्टक स्तोत्र वर्षपर्यंन्त शिव के समीप त्रिकाल पाठ करने से सर्व कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ १४० ॥

इस स्तोत्र का पाठ पुत्र, पौत्र, धन का दाता, समस्त शान्तियों का कर्त्ता, अखिल आपत्तियों का हर्ता, स्वर्ग और मोक्ष सम्पत्तियों का विधाता है, इसमें सन्देह नहीं। जो पुत्रहीन नर एक वर्ष तक प्रातःकाल सोकर उठते ही स्वच्छता से स्नान कर शिवलिंग की पूजाकर इस स्तुति का पाठ करेगा, वह पुत्रवान् होगा। वैशाख, कार्तिक और माघ मास में विशेष नियम धारण कर, जो स्नान के समय इस स्तोत्र को पढ़ेगा, उसे समस्त फल प्राप्त होंगे। मैं अव्यय (निर्गुण) होकर भी इसी कार्तिक मास के प्रसाद

यः पठेत् स्नानसमये स लभेत् सकलं फलम् ।
कार्तिकस्य तु मासस्य प्रसादादहमव्यय ॥ १४४ ।
तव पुत्रत्वमेष्यामि यस्त्वन्यस्तत् पठिष्यति ।
अभिलाषाऽष्टकमिदं न देयं यस्य कस्यचित् ॥ १४५ ।
गोपनीयं प्रयत्नेन महावन्ध्याप्रसूतिकृत् ।
स्त्रिया वा पुरुषेणापि नियमाल्लिङ्गसन्निधौ ॥ १४६ ।
अब्दं जप्तमिदं स्तोत्रं पुत्रदं नात्र संशयः ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे बालः सोऽपि विप्रो गृहं गतः ॥ १४७ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे इन्द्राग्निलोकवर्णनं
नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

कार्त्तिकमासाराधनेन तोषितत्वात् तत्प्रसादादित्युक्तम् ॥ १४४ ।
तदभिलाषाष्टकं स्तोत्रम् ॥ १४५ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

से तुम्हारे पुत्रत्व को प्राप्त होऊँगा और दूसरा जो कोई इसे पढ़ेगा (उसे भी पुत्र होगा)। यह अभिलाषाष्टक जिस किसी को नहीं देना चाहिए ॥ १४१-१४५ ॥

प्रयत्नपूर्वक इसे गुप्त ही रखना उचित है। इस स्तुति के पाठ करने से महावन्ध्याओं को भी सन्तान उत्पन्न होता है। स्त्री हो अथवा पुरुष हो, एक वर्षपर्यन्त नियमपूर्वक लिंग के समीप इस स्तोत्र का पाठ करे, तो निश्चय ही उसे पुत्र होगा। यह कहकर वह बालक (उसी लिंग में) अन्तर्धान हो गया और वे ब्राह्मण (विश्वानर मुनि) भी अपने घर को चले गये ॥ १४६-१४७ ॥

इन्द्रपुरी अमरावती, बरनी प्रथम विशेष ।
पावक की ज्योतिष्मती, कही सविस्तर देख ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां अमरावती-ज्योतिष्मतीवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अगस्तिरुवाच—

श्रृणु सुश्रोणि सुभगे वैश्वानरसमुद्भवम् ।
पुण्यशीलसुशीलाभ्यां यथोक्तं शिवशर्मणे ॥ १ ।
अथ कालेन तद्योषिदन्तर्वत्नी बभूव ह ।
विधिवद्विहिते तेन गर्भाधानाख्यकर्मणि ॥ २ ।
ततः पुंसवनं तेन स्पन्दनात् प्राग् विपश्चिता ।
गृह्योक्तविधिना सम्यक् कृतं पुंस्त्वविवृद्धये ॥ ३ ।
सीमन्तोऽथाऽष्टमे मासि गर्भरूपसमृद्धिकृत् ।
सुखप्रसवसिद्ध्यै च तेनाऽकारि क्रियाविदा ॥ ४ ।

एकादशेऽग्निलोकोऽतिविस्तरेण निरुच्यते ।
वैश्वानरसमुत्पत्तिर्वरप्राप्तिपुरःसरा ॥ १ ।

अथाऽनन्तरम् । तद्योषित्, तस्य विश्वानरस्य भार्या शुचिष्मती । गर्भाधानाख्ये कर्मणि तेन विश्वानरेण विहिते सति अन्तर्वत्नी गर्भवती बभूवेत्यर्थः ॥ २ ।

पुंसवनं गर्भस्य पुंस्त्वाधानम् । स्पन्दनात्प्राक् गर्भचलनात् प्राक् पूर्वम् । गृह्योक्तविधिना वैदिकेन प्रकारेणेत्यर्थः । पुंस्त्वविवृद्धये पुंभाववृद्ध्यर्थम् । गर्भस्य वीर्यातिशयायेत्यर्थः ॥ ३ ।

अकारि कृतः । चकारो भिन्नक्रमे । सुखप्रसववृद्ध्यर्थं क्रिया च शोष्यन्ताख्याऽकारीत्यन्वयः । वेत्तीति वित्तेन विदा जानतेत्यर्थः ॥ ४ ।

(अग्नि की उत्पत्ति)

अगस्त्य मुनि बोले—

हे सुभगे सुश्रोणि ! पुण्यशील और सुशील ने शिवशर्मा के प्रति वैश्वानर की उत्पत्ति की कथा जैसे कही, उसे सुनो ॥ १ ॥

यथासमय यथाविधि गर्भाधान कर्मसम्पादित होने के पश्चात् विश्वानर की स्त्री शुचिष्मती गर्भवती हुई । तत्पश्चात् पण्डित विश्वानर ने गर्भस्फुरण के पूर्व ही (प्रायः तीसरे मास में) पुंस्त्वविधि के लिए गृह्योक्तविधि के अनुसार सम्यक् प्रकार से पुंसवन क्रिया को सुसंपन्न किया ॥ २-३ ॥

विश्वानर ने सुखपूर्वक प्रसव होने और गर्भस्थ बालक के रूप समृद्ध्यर्थ अष्टम मास में सीमन्तोन्नयन-कर्म सम्पादन किया ॥ ४ ॥

अथाऽतः स सुतारासु ताराधिपवराननः ।
केन्द्रे गुरौ शुभे लग्ने सुग्रहेष्वयुगेषु च ॥ ५ ॥
अरिष्टं दीपयन् दीप्त्या सर्वारिष्टविनाशकृत् ।
तनयो नाम तस्यां तु शुचिष्मत्यां बभूव ह ॥ ६ ॥
सद्यः समस्तसुखदो भूर्भुवःस्वर्निवासिनाम् ।
गन्धवाहागन्धवाहादिग्वधूमुखवासनाः ॥ ७ ॥

अथशब्दो मङ्गलार्थः । अतोऽनन्तरं स प्रसिद्धः । नाम प्राकाश्ये । तस्यां शुचिष्मत्यां तनयः पुत्रो बभूवेति द्वितीयेनाऽन्वयः । कथम्भूतः ? ताराधिपवराननः, चन्द्रवत्प्रसन्नमुखः । किं कुर्वन् ? अरिष्टममङ्गलं दीपयन् दहन् नाशयन्नित्यर्थः । यद्वा अरिष्टं सूतिकागृहं दीपयन् प्रकाशयन् । अरिष्टं सूतिकागृहमिति वचनात् । तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । दीप्त्या तेजसा सर्वारिष्टविनाशकृदिति । कस्मिन् सति । शुभे लग्ने समीचीने राशीनामुदये सति । लग्नस्य शुभत्वमेवाह । सुतारासु शोभनस्तारो ध्वनिर्नामेति यावद् यासां तथाभूतासु तारासु[1] शुभासु सतीष्वित्यर्थः । सुतारासु शोभनतारास्विति वा । शततारास्विति पाठे शतभिषास्वित्यर्थः । तथा गुरौ बृहस्पतौ । केन्द्रे लग्नचतुर्थसप्तमदशमराशौ स्थिते सतीत्यर्थः । तथा सुग्रहेष्वयुगेषु च समीचीनेषु ग्रहेष्वसमेष्वित्यर्थः । चकारः समुच्चये ॥ ५ ।

तनयस्य विशेषणान्तरम् **सद्य इति** । गन्धवाहा वायवः । गन्धवहा इति क्वचित् । कथम्भूता ? गन्धं वहन्तीति गन्धवाहाः, यथार्थाख्या आसन्नित्यर्थः । गन्धवाहानवाहाश्चेति पाठे घनानां विशेषणम् । कथम्भूताः ? दिग्वधूमुखवासनाः, दिग्वधूनां मुखानि वासयन्ति सुगन्धीनि कुर्वन्तीति तथा । यद्वा दिग्वधूमुखानां वासना येषु ते तथा । दिगङ्गनाननामृतवासिता इत्यर्थः । वाहना इति पाठे दिग्वधूमुखेभ्यो वहन्तीति तथा ते प्रसिद्धा घना मेघाः ॥ ७ ।

तदनन्तर उत्तम नक्षत्र, केन्द्रस्थ गुरु, सब शुभग्रह पंचम, नवम इत्यादि विषम (अयुग्म) स्थान स्थित और शुभलग्न, ऐसी वेला में विश्वानर की पत्नी शुचिष्मती के गर्भ से सब अरिष्टों का नाशक, चन्द्रसमान सुन्दर मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके भूमिष्ठ होते ही उसी की प्रभा से सूतिका गृह (सौरी) उज्ज्वल हो गया ॥ ५-६ ॥

उसी क्षण भूमि, भुव और स्वर्ग के निवासी लोगों को पूर्ण सुख प्राप्त हुआ, दिग्वधुओं के मुखों को सुवासित करने वाली सुगन्ध से परिपूर्ण वायु बहने लगी ॥ ७ ॥

---

१. एतद्व्याख्याने तारास्वितिपदमध्याहृत्य योजितमिति भाति; परन्त्वेतादृशक्लेशबीजं किमिति न विद्मः ।

इष्टगन्धप्रसूनौघैर्ववर्षुस्ते घनाघनाः

देवदुन्दुभयो नेदुः प्रसेदुः सर्वतो दिशः ॥ ८ ।

परितः सरितः स्वच्छा भूतानां मानसैः सह ।

तमोऽताम्यत्तु नितरां रजोऽपि विरजोऽभवत् ॥ ९ ।

सत्त्वाः सत्त्वसमायुक्ता वसुधाऽऽसीच्छुभा तदा ।

कल्याणी सर्वतो वाणी प्राणिनः प्रीणयन्त्यभूत् ॥ १० ।

तिलोत्तमोर्वशीरम्भा प्रभा विद्युत्प्रभा शुभा ।

सुमङ्गला शुभालापा सुशीलाढ्या वराङ्गना ॥ ११ ।

ववर्षुर्वृष्टिं चक्रुः[1] । कैः । इष्टो गन्धो येषां तथाभूतानां प्रसूनानामोघैः समूहैः । घना निबिडाः । घनाघना इत्येकं वा पदम् । वर्षन्तो मेघा इत्यर्थः ॥ ८ ।

तमोऽज्ञानमन्धकारो वा अताम्यदनशत् । रजोऽपि विरजो विगतरजोऽभवदनशदित्येव ॥ ९ ।

सत्त्वाः प्राणिनः[2] । पुंस्त्वमार्षम् । सत्त्वसमायुक्ताः सत्त्वगुणसम्पन्नाः । शुभाः शोभनाः । पाठान्तरे सुष्ठु धारयमाणाऽमृततुल्या वा । सुधातुल्यफलसस्यादिमतीत्यर्थः । यदा बभूव, तदेति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ १० ।

तिलोत्तमेत्यादीनां तत्र विश्वानरगृहे मुदा हर्षेण आजग्मुरित्यग्रिमेणाऽन्वयः । वराङ्गना वराप्सरसः ॥ ११ ।

मेघमण्डल ने सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि की । देवताओं का दुन्दुभि (नगाड़ा) बजने लगा, दिशाएँ प्रसन्न हो गईं ॥ ८ ॥

समस्त नदियाँ लोगों के चित्त के साथ-साथ निर्मल हो गईं, तमोगुण अज्ञानरूप अन्धकार विनष्ट हुआ और रजोगुण की धूलिराशि भी विलीन हो गयी ॥ ९ ॥

जीव (प्राणि) गण सत्त्व और वीर्य से युक्त हो चले, पृथिवी भी उस घड़ी मङ्गलमयी हो गई, सब लोगों की प्रीतिवर्द्धिनी कल्याणी वाणी सर्वत्र कही जाने लगी ॥ १० ॥

तिलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा, प्रभा, विद्युत्प्रभा, शुभा, सुमङ्गला, शुभालापा और सुशीला आदि अप्सराएँ, प्रसृत मुक्ताफलों से परिपूर्ण, कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी और

---

१. आर्षमेतत्; २. सुधा तदेत्येवंरूपे ।

क्वणत्कङ्कणपात्राणि कृत्वा करतले मुदा।
मुक्तमुक्ताफलाढ्यानि यक्षकर्दमवन्ति च ॥ १२ ।
वज्रवैदूर्यदीपानि हरिद्रालेपनानि च।
गारुत्मतैकरूपाणि शङ्खशुक्तिदधीनि च ॥ १३ ।
पद्मरागप्रवालाख्यरत्नकुङ्कुमवन्ति च ।
गोमेदपुष्परागेन्द्रनीलसन्माल्यभाञ्जि च ॥ १४ ।
विद्याधर्यश्च किन्नर्यस्तथाऽमर्यः सहस्रशः ।
चामरव्यग्रहस्ताग्रमङ्गल्यद्रव्यपाणयः ॥ १५ ।
गन्धर्वोरगयक्षाणां सुवासिन्यः शुभस्वराः ।
गायन्त्यो ललितं गीतं तत्राजग्मुरनेकशः ॥ १६ ।

किं कृत्वा ? क्वणत्कङ्कणपात्राणि करतले कृत्वा। क्वणन्ति शब्दं कुर्वन्ति कङ्कणानि येषु तानि पात्राणि तथा। क्वणत्कनकपात्राणीति क्वचित्। पात्राणि विशिनष्टि। मुक्तमुक्ताफलाढ्यानीति त्रिभिः। मुक्तानि प्रसृतानि यानि मुक्ताफलानि, तैराढ्यानि। मुक्तमुक्ताक्षताढ्यानीति क्वचित्। यक्षकर्दमवन्ति कर्पूरागुरुकस्तूरी-कंकोलवन्ति ॥ १२ ।

वज्रवैदूर्या एव दीपाः प्रदीपास्तैः सह वा दीपा येषु तानि तथा। हरिद्रालेपनानीत्यत्र हरिद्राक्षोदवन्तीति हारिद्राचूर्णवन्तीत्यर्थः। गारुत्मता गरुडस्योद्गाराज्जाता मणय एकरूपाः श्रेष्ठरूपा येषु तानि तथा। गारुत्मतैकदूर्वाणीति क्वचित्। शङ्खादियुक्तानि दधीनि येषु तानि। शङ्खेत्यत्र सक्त्विवति क्वचित् ॥ १३ ।

पद्मरागादयो मणिप्रभेदाः। आख्येत्यत्राढ्येति। पद्मरागप्रवालाख्यरत्नरूपं यत् कुङ्कुमं तद्वन्ति। गोमेदादिमयानि सन्माल्यानि विचित्रवर्णदामानि भजन्ते तानि ॥ १४।

अमर्योऽमराङ्गनाः ॥ १५। सुवासिन्यः स्त्रियः ॥ १६।

कंकोल के कर्दम से युक्त हीरा, वैदूर्य के दीपों से समन्वित हरिद्रा से अनुलिप्त मरकत मणि (पन्ना) के समान शङ्ख, शुक्ति, दधि से पूरित पद्मराग, प्रवाल, गोमेद, पुष्पराग, इन्द्रनील और रत्न कुंकुम प्रभृति मणिमाला से भूषित, कणत् कंकण में लगे हुए पात्रों को हाथ में लेकर वहाँ पर उपस्थित हुईं ॥ ११-१४ ॥

सहस्रशः विद्याधरी, किन्नरी और देवांगनाएँ चमर डुलाती-डुलातीं मांगलिक द्रव्यों को हाथ में लिए हुए वहाँ आ गयीं ॥ १५ ॥

सुन्दर स्वर-सम्पन्ना, गंधर्व, नाग और यक्षों की अनेक सुवासिनियाँ सुललित गीत गाती हुई वहाँ पर आकर उपस्थित हुईं ॥ १६ ॥

मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुरङ्गिराः ।
वसिष्ठः कश्यपश्चाहं विभाण्डो माण्डवीसुतः ॥ १७ ।
लोमशो लोमचरणो भरद्वाजोऽथ गौतमः ।
भृगुस्तु गालवो गर्गो जातूकर्ण्यः पराशरः ॥ १८ ।
आपस्तम्बो याज्ञवल्क्यदक्षवाल्मीकिमुद्गलाः ।
शातातपश्च लिखितः शिलादः शङ्ख उञ्छभुक् ॥ १९ ।
जमदग्निश्च सम्बर्तो मतङ्गो भरतोंऽशुमान् ।
व्यासः कात्यायनः कुत्सः शौनकः सुश्रुतः शुकः ॥ २० ।
ऋष्यशृङ्गोऽथ दुर्वासा रुचिर्नारदतुम्बुरू ।
उत्तङ्को वामदेवश्च च्यवनोऽसितदेवलौ ॥ २१ ।
शालङ्कायनहारीतौ विश्वामित्रोऽथ भार्गवः ।
मृकण्डः सह पुत्रेण दाल्भ्य उद्दालकस्तथा ॥ २२ ।
धौम्योपमन्युवत्साद्या मुनयो मुनिकन्यकाः ।
तच्छान्त्यर्थं समाजग्मुर्धन्यं विश्वनराश्रमम् ॥ २३ ।

मरीचिरित । तच्छान्त्यर्थं तस्य गृहपतेरग्नेः शान्त्यर्थं शान्तिकर्मकरणार्थं विश्वानरगृहाश्रमं मरीच्यादय आजग्मुरिति सप्तमेनाऽन्वयः । अहम् अगस्त्यः । माण्डवीसुतो माण्डव्यः । लोमचरणो लोमपादः । जातूकर्णं इति क्वचित् ॥ १७-२० ।

उत्तङ्क इत्यत्रोदङ्क इति च क्वचित् ॥ २१ ।

सह पुत्रेण मार्कण्डेयेन सह ॥ २२-२३ ।

मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अङ्गिरा, वशिष्ठ, कश्यप, मैं (अर्थात् अगस्त्य) विभाण्डक, माण्डव्य, लोमश, लोमचरण, भारद्वाज, गौतम, भृगु, गालव, गर्ग, जातूकर्ण्य, पराशर, आपस्तम्ब, याज्ञवल्क्य, दक्ष, वाल्मीकि, मुद्गल, शातातप, लिखित, शिलाद, शङ्ख, उंछभुक्, जमदग्नि, संवर्त्त, मतङ्ग, भरत, अंशुमान्, व्यास, कात्यायन, कुत्स, शौनक, सुश्रुत, शुक, ऋष्यशृङ्ग, दुर्वासा, रुचि, नारद, तुम्बुरु, उतंक, वामदेव, च्यवन, असित, देवल, शालंकायन, हारीत, विश्वामित्र, भार्गव, पुत्र (मार्कण्डेय) के सहित मृकंड, दाल्भ्य, उद्दालक, धौम्य, उपमन्यु, वत्सप्रभृति मुनि-समाज और मुनि-कन्याएँ उस (बालक) के शान्त्यर्थं धन्य (तम) विश्वानर मुनि के आश्रम पर आ पहुँचे ॥ १७-२३ ॥

ब्रह्मा बृहस्पतियुतो देवो गरुडवाहनः ।
नन्दिभृङ्गिसमायुक्तो गौर्या सह वृषध्वजः ॥ २४ ।
महेन्द्रमुख्या गीर्वाणा नागाः पातालवासिनः ।
रत्नान्यादाय बहुशः ससरित्का महाब्धयः ॥ २५ ।
स्थावरा जङ्गमं रूपं धृत्वाऽऽयाताः सहस्रशः ।
महामहोत्सवे तस्मिन् बभूवाऽकालकौमुदी ॥ २६ ।
जातकर्म स्वयं चक्रे तस्य देवः पितामहः ।
श्रुतिं विचार्य तद्रूपां नाम्नां गृहपतिस्त्वयम् ॥ २७ ।
इति नाम ददौ तस्मै देयमेकादशेऽहनि ।
नामकर्मविधानेन तदर्थं श्रुतिमुच्चरन् ॥ २८ ।

ब्रह्मेति । ब्रह्मादय आयाता इति तृतीयेनाऽन्वयः ॥ २४ ।

अकालकौमुदी अकालेऽसमये चन्द्ररहितेऽपि रात्र्यादौ कौमुदी ज्योत्स्ना, तस्मिन् महामहोत्सवेऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ।

जातेति । स्वयं पितामहो ब्रह्मा तस्य बालस्य जातकर्म चक्रे कृतवान् । किं कृत्वा ? तद्रूपां जातकर्मप्रतिपादिकां श्रुतिं विचार्य ॥ २७ ।

नामकर्मविधानेन एकादशे दिवसे नाम्नाऽयं गृहपतिरिति देयं दातुं योग्यं नाम च ददावित्यर्थः । किं कुर्वन् ? तदर्थं नामकरणार्थं श्रुतिं वेदमुच्चरन् उच्चारयन् ॥ २८ ।

बृहस्पति के सहित ब्रह्मा, देवश्रेष्ठ गरुड़ध्वज (विष्णु) और नन्दी, भृङ्गी से युक्त गौरी के साथ वृषभध्वज (महादेव), इन्द्र प्रभृति देवतागण और पातालवासी नागगण एवं नदियों के सहित समस्त समुद्रगण, बहुत से रत्नों को लेकर तथा सहस्र-सहस्र स्थावर पर्वतादि जंगमरूप धारण कर उस महामहोत्सव में आकर उपस्थित हुए । उस समय वहाँ पर (मानो) अकाल चन्द्रिका फैल गई ॥ २४-२६ ॥

पितामह ने स्वयं उस लड़के का जातकर्म संस्कार किया, फिर जातकर्म की प्रतिपादिका श्रुति को विचार कर इस बालक का नाम गृहपति ऐसा देने योग्य नाम ग्यारहवें दिन नामकर्म की रीति से तदर्थ वेदमन्त्रों का उच्चारण करते हुए उसे (बालक) को दिया ॥ २७-२८ ॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ २९ ॥
अग्ने गृहपते स्थित्यापरामपि निदर्शयन् ।
चतुर्निगममन्त्रोक्तैराशीर्भिरभिनन्द्य च ॥ ३० ॥
कृत्वा बालोचितां रक्षां हरेण हरिणा सह ।
निर्ययौ हंसमारुह्य सर्वेषां प्रपितामहः ॥ ३१ ॥
अहो रूपमहो तेजस्त्वहो सर्वाङ्गलक्षणम् ।
अहो शुचिष्मतीभाग्यमाविरासीत्स्वयं हरः ॥ ३२ ॥
अथवा किमिदं चित्रं शर्वभक्तजनेष्वहो ।
आविर्भवेत्स्वयं रुद्रो यतो रुद्रास्तदर्चकाः ॥ ३३ ॥

तामेव दर्शयति । आयमग्निर्गृहपतिरिति सार्धेन । अस्यायमर्थः—योऽयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्याख्यः प्रजायाश्चातिशयेन धनस्य वेदिता, तमेतं याचे । हे अग्ने गृहपते अभिद्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा । अभिसह इति बलस्य नाम । आयच्छस्व । यमेरेतद्रूपम् । एतदुक्तं भवति । अस्मानभि अन्नं यशो वा बलं वा गृह्णीष्व आगमयेत्यर्थः । यद्वा अस्मानभिद्युम्नमभिबलं वा आयच्छस्व स्थापयस्व समर्पय । आयतिः स्थानार्थः ॥ २९ ।

अग्ने गृहपते स्थित्येतिशाखाभेदेन द्रष्टव्यम् । चतुर्वेदोक्तमन्त्रैराशीर्भिरभिनन्द्य वर्धयित्वा पितामहो जगामेति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ ३०-३१ । अहो इत्यन्योऽन्यं स्तुवन्तो यथागतं तथा जग्मुरिति चतुर्थेनाऽन्वयः । किं स्तुवन्त इत्याकाङ्क्षयामाह । **अहो रूप**मिति ॥ ३२ ।

रुद्रः स्वयमाविर्भवतीत्यत्र हेतुमाह । **यत इति** । रुद्रार्चका रुद्रस्वरूपा एवेति

वे वेदमन्त्र 'अयमग्निर्गृहपतिः' और दूसरी शाखा के 'अग्ने गृहपते' इत्यादि चतुर्वेदोक्त मन्त्रों और आशीर्वादों से अभिनन्दन कर सब लोगों के प्रपितामह ब्रह्मा बालक के उचित रक्षार्थं रक्षा-कार्य कर देने पर हरि और हर के सहित हंस पर आरूढ़ होकर वहाँ से चले गये ॥ २९-३१ ।

अहो ! उस बालक का कैसा रूप ? कैसा तेज ? और कैसा सर्वाङ्गलक्षण है ? अहो ! शुचिष्मती का कैसा भाग्य है, जो कि स्वयं महेश्वर आविर्भूत हुए, अथवा शिव-भक्त जनों के निकट यह कौन विचित्र बात है, जो स्वयं शिव प्रकट हुए; क्यों कि शिवभक्त तो स्वयं रुद्र ही हैं ॥ ३२-३३ ।

इति स्तुवन्तस्त्वन्योऽन्यं जग्मुः सर्वे यथागतम् ।
विश्वानरं समापृच्छ्य सम्प्रहृष्टतनूरुहाः ॥ ३४ ।
अतः पुत्रं समीहन्ते गृहस्थाश्रमवासिनः ।
पुत्रेण लोकान् जनयति श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ३५ ।
अपुत्रस्य गृहं शून्यमपुत्रस्यार्जनं वृथा ।
अपुत्रस्यान्वयश्छिन्नो ना पवित्रं ह्यपुत्रतः ॥ ३६ ।
न पुत्रात्परमो लाभो न पुत्रात्परमं सुखम् ।
न पुत्रात्परमं मित्रं परत्रेह च कुत्रचित् ॥ ३७ ।
औरसः क्षेत्रजः क्रीतो दत्तः प्राप्तः सुतासुतः ।
आपत्सु रक्षितश्चान्यः पुत्राः सप्ताऽत्र कीर्तिताः ॥ ३८ ।

यतः इति भावः ॥ ३३-३५ ।

नापवित्रमिति । अपुत्रतः पुत्राऽभावात् पुत्ररहितो गृहस्थः पवित्रं ना न स्यादित्यर्थः । यद्वा ना नरोऽपुत्रतोऽपवित्रं स्यादित्यर्थः ॥ ३६-३७ ।

औरस इति । अत्र लोके सप्तपुत्राः कीर्तिता इत्यन्वयः । के ते इत्यत आह— औरस इत्यादिना । औरसो धर्मपत्नीप्रभवः । दत्तः केनचित् । प्राप्तः स्वयमेव । सुतासुतः पुत्रिकाकरणेन ॥ ३८ ।

रोमाञ्चित शरीर होकर परस्पर इसी प्रकार बड़ी बड़ाई करते हुए वे सब लोग विश्वानर मुनि से पूछकर (विदा हो) यथास्थान (जहाँ से आये थे वहाँ) चले गये ॥ ३४।

गृहस्थाश्रमवासी लोग इसी कारण पुत्र की कामना करते हैं, (जैसे कि) यह सनातन श्रुति है "पुत्र के द्वारा सकल लोकों का जय होता है, पुत्र से शून्य व्यक्ति का गृह शून्य है, पुत्रहीन का उपार्जन करना वृथा है। अपुत्र का वंश नहीं है। पुत्र-रहित की अपेक्षा और कुछ अपवित्र नहीं है ॥ ३५-३६ ।

पुत्रलाभ से अधिक परम सुखकर वस्तु दूसरी नहीं है और इस लोक एवं परलोक में पुत्र की अपेक्षा परम मित्र भी कोई नहीं है ॥ ३७ ।

(१) औरस, (२) क्षेत्रज, (३) क्रीत, (४) दत्तक, (५) स्वयंप्राप्त, (६) पुत्रिका पुत्र (दौहित्र, नाती) और (७) विपद्रक्षित, यही सात प्रकार के पुत्र यहाँ पर कहे गए हैं ॥ ३८ ।

एषामन्यतमः कार्यो गृहस्थेन विपश्चिता ।
पूर्वपूर्वः सुतः श्रेयान् हीनः स्यादुत्तरोत्तरः ॥ ३९ ।

गणावूचतुः—

निष्क्रमोऽथ चतुर्थेऽस्य मासि पित्रा कृतो गृहात् ।
अन्नप्राशनमब्दार्धे चूडाब्दे चार्थवत्कृता ॥ ४० ।
कर्णवेधं ततः कृत्वा श्रवणर्क्षे स कर्मवित् ।
ब्रह्मतेजोऽभिवृद्ध्यर्थं पञ्चमेऽब्दे व्रतं ददौ ॥ ४१ ।
उपाकर्म ततः कृत्वा वेदानध्यापयत्सुधीः ।
त्र्यब्दं वेदान् स विधिनाऽध्यैष्ट साङ्गपदक्रमान् ॥ ४२ ।

भवन्तु सप्तपुत्रास्तावता किम् इत्यत आह । एषामिति । तत्र विशेषमाह । पूर्वः पूर्व इति ॥ ३९ ।

अब्दार्धे षष्ठे मासि । चूडाकरणम् अब्दे वर्षे । अर्थं इति पाठे कुसुमगर्भित-स्निग्धकेशार्थं इत्यर्थः । अर्थवद्यथाविधीत्यर्थः । कृती इति क्वचित् । अस्याऽग्रिमेणाऽन्वयः । पूर्वत्र लिङ्गं विपरीणमय्य पूर्वक्रियैव सम्बन्धः ॥ ४० ।

चूडाकर्मानन्तरं व्रतमुपनयनम् ॥ ४१ ।

उपाकर्म श्रावण्यां क्रियमाणं कर्म । वेदान् ऋगादीन् । कथम्भूतान् ? साङ्गपद-क्रमान् अङ्गानि च पदानि च क्रमश्च तत्सहितान् । अध्यैष्ट अधीतवान् पठितवा-नित्यर्थः ॥ ४२ ।

पण्डित (समझदार) गृहस्थ इन सप्तविध पुत्रों के मध्य में से कोई भी पुत्र सम्पादन करे, इनमें प्रत्येक पूर्वपुत्र यथा क्रमश्रेष्ठ और उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं ॥ ३९ ।

गणों ने कहा—

पिता विश्वानर ने चतुर्थ मास में गृह से इस पुत्र का निष्क्रमण-कर्म किया, छठवें मास में अन्नप्राशन और प्रथम वर्ष में चूडाकरण भी कर दिया ॥ ४० ॥

इसके पीछे उस कर्मविज्ञ ने श्रवणनक्षत्र में कर्णवेध कृत्य कर ब्रह्मतेज की वृद्धि के लिए पाँचवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार किया ॥ ४१ ।

तदनन्तर बुद्धिमान् विश्वानर ने उपाकर्म नामक श्रावणी क्रिया के पश्चात् वेदों को पढ़ाया । तीन वर्ष में विधिपूर्वक अंग, पद, क्रम के सहित चारों वेद (संहिता) और

विद्या जातं समस्तं च साक्षिमात्राद्गुरोर्मुखात् ।
विनयादिगुणानाऽऽविष्कुर्वन् जग्राह शक्तिमान् ॥ ४३ ।
ततोऽथ नवमे वर्षे पित्रोः शुश्रूषणे रतम् ।
वैश्वानरं गृहपतिं दृष्ट्वा कामचरो मुनिः ॥ ४४ ।
विश्वानरोटजं प्राप्य देवर्षिर्नारदः सुधीः ।
पप्रच्छ कुशलं तत्र गृहीतार्घासनः क्रमात् ॥ ४५ ।

नारद उवाच—

निश्वानर महाभाग शुचिष्मति शुभव्रते ।
कुरुते युवयोर्वाक्यमयं गृहपतिः शिशुः ॥ ४६ ।
नान्यत्तीर्थं न वा देवो न गुरुर्न च सत्क्रिया ।
विहाय पित्रोर्वचनं नान्यो धर्मः सुतस्य हि ॥ ४७ ।
न पित्रोरधिकं किञ्चित् त्रिलोक्यां तनयस्य हि ।
गर्भधारणपोषाभ्यां पितुर्माता गरीयसी ॥ ४८ ।

साक्षिमात्रान्निमित्तमात्रात् । आचार्यवान् पुरुषो वेद । आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं गमयतीत्यादिश्रुत्यर्थज्ञापनार्थमित्यर्थः ॥ ४३ । दृष्ट्वा ज्ञात्वा ॥ ४४ । तत्र विशेषमाह । गर्भेति ॥ ४८ ।

समस्त विद्याओं को उस शक्तिमान् बालक ने विनयादि गुणों को प्रकट करते हुए साक्षि-मात्र गुरु के मुख से ग्रहण किया ॥ ४२-४३ ॥

तत्त्वज्ञानी स्वेच्छाचारी देवर्षि नारद ने विश्वानर के पुत्र गृहपति को नवम वर्ष की अवस्था में माता-पिता के शुश्रूषण में तत्पर देख विश्वानर मुनि के आश्रम में उपस्थित हो उनको दिये हुए अर्घ आसन आदि को क्रमानुसार वहाँ स्वीकार कर कुशल-प्रश्न किया ॥ ४४-४५ ॥

नारद मुनि कहने लगे—

हे महाभाग ! विश्वानर ! हे शुभव्रते शुचिष्मति ! यह गृहपति बालक तुम दोनों की आज्ञा का पालन करता है ॥ ४६ ॥

माता-पिता के वचन के व्यतीत (अतिरिक्त) पुत्र को और अन्य तीर्थ नहीं है, देवता नहीं है, गुरु नहीं है, सत्कर्म नहीं है और अन्य धर्म भी नहीं है ॥ ४७ ॥

त्रिभुवन में पुत्र के लिए माता-पिता से अधिक और कुछ भी नहीं है, गर्भ में धारण और पोषण करने के कारण माता पिता से भी बड़ी है ॥ ४८ ॥

अम्भोभिरभिषिच्य स्वं जननीचरणच्युतैः ।
प्राप्नुयात् स्वर्धुनीशुद्धकबन्धाधिकशुद्धताम् ॥ ४९ ॥
संन्यस्ताऽखिलकर्माऽपि पितुर्वन्द्यो हि मस्करी ।
सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः ॥ ५० ॥
इदमेव तपोऽस्त्युग्रमिदमेव परं व्रतम् ।
अयमेव परो धर्मो यत्पित्रोः परितोषणम् ॥ ५१ ॥

अभिषिच्य अभिषेकं कृत्वा । स्वमात्मानं देहसंघातमित्यर्थः । स्वर्धुनीति । स्वर्धुन्या गङ्गाया यत् शुद्धं कमुदकम्, तस्य बन्धाद्धारणादधिकशुद्धतामत्यन्तपवित्रतां गङ्गास्नानादप्यधिकशुद्धिमित्यर्थः । यद्वा स्वर्धुन्याः शुद्धं शोधकं कबन्धं जलम्, तस्मादधिकशुद्धतां पावनतामित्यर्थः ॥ ४९ ॥

इतोऽपि माताऽधिकेत्याह । **संन्यस्तेति । मस्करी** परिव्राट् ।

> भिक्षुः परिव्राट् कर्मन्दी पाराशर्यपि मस्करी ।
> तपस्वी तापसः पारिकाङ्क्षी वाचंयमो मुनिः ॥ इत्यमरः ।

अपिरत्र भिन्नक्रमे । पितुरपि वन्द्य इत्यनेन सम्बध्यते । हीति निश्चितम् । प्रसूर्माता । अत एवोक्तं भगवत्पादैः—

> आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा
> नैरुज्ये निजशोषणं मलमयी शय्या च साम्बत्सरी ।
> एकस्यापि न गर्भभारभरणक्लेशस्य यस्याः क्षमो
> दातुं निष्कृतिमुन्नतोऽपि तनयस्तस्यै जनन्यै नमः ॥ इति ॥

अहम् इति मन्ये ॥ ५०-५१ ॥

जननी के चरणोदक से अपना शरीर अभिषिक्त करने से गङ्गा के पुण्यजल-स्नान से भी अधिक पवित्रता प्राप्त होती है ॥ ४९ ॥

समस्त कर्मों का त्यागी संन्यासी पिता से भी वन्दनीय है, परन्तु सभी प्रकार के बन्धन होने पर भी यति को माता की वन्दना प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए ॥ ५० ॥

माता-पिता का परितोष करना ही अत्युग्र तपस्या, परमव्रत और सर्वोत्कृष्ट धर्म है ॥ ५१ ॥

मन्ये मान्यो नाधमस्य तथान्यस्य यथा युवाम् ।
सुखाकारैर्विनीतस्य शिशोर्गृहपतेरहम् ॥ ५२ ।
वैश्वानर समभ्येहि ममोत्सङ्गे निषीद भो ।
लक्षणानि परीक्षेऽहं पाणिं दर्शय दक्षिणम् ॥ ५३ ।
इत्युक्तो मुनिना बालः पित्रोराज्ञामवाप्य सः ।
प्रणम्य नारदं श्रीमान् भक्त्या प्रह्व उपाविशत् ॥ ५४ ।
ततो दृष्ट्वाऽस्य सर्वाङ्गं तालुजिह्वाद्विजानपि ।
आनीयकुङ्कुमारक्तं सूत्रं च त्रिगुणीकृतम् ॥ ५५ ।
स्मृत्वा शिवौ गणाध्यक्षमूर्ध्वीभूतमुदङ्मुखम् ।
मुनिः परिममौ बालमापादतलमस्तकम् ॥ ५६ ।

मन्य इति। अहमिति मन्ये। किं तद् युवां युवयोर्गृहपतेः शिशोर्यथाऽहं मान्यो माननीयः पूज्य इत्यर्थः, तथाऽन्यस्याधमस्य गृहस्थस्य शिशोर्नाहं मान्य इत्यहं मन्य इत्यर्थः। यद्वा यथा गृहपतेः शिशोर्युवां पितरौ मान्यौ, तथाऽन्यस्याधमस्य शिशोः पित्रादिर्मान्यो न इत्यहं मन्य इत्यर्थः। कथं भूतस्य गृहपतेः ? सुखाकारैर्विनीतस्य सुखं क्षोभरहितमक्षुब्धं यथा स्यात्तथाकारैः कार्यकारणसंघातैर्विनीतस्य नम्रस्य। मुखाकारैरिति पाठे स्पष्ट एवार्थः। मन्ये मान्यो न धर्मस्य तथान्यस्य यथाऽस्य वे इति क्वचित्पाठः। तत्राप्यस्य शिशोर्धर्मस्य धर्ममूर्तेरिति व्याकर्तव्यम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥ ५२-५५ ।

परिममौ गणितवान् ॥ ५६ ।

मुखाकार से ही विनीत यह बालक गृहपति तुम दोनों का जैसा सम्मान करता है, दूसरा नीच बालक वैसा न करेगा—यह मैं भलीभाँति समझता हूँ ॥ ५२ ॥

हे वैश्वानर ! आओ, मेरी गोद में बैठो तो सही, मैं लक्षणों की परीक्षा करूँगा, दाहिना हाथ तो दिखलाओ ॥ ५३ ॥

देवर्षि के ऐसा कहने पर वह श्रीमान् बालक माता-पिता की आज्ञा पाकर भक्तिपूर्वक नम्र होकर (नारद की गोद में) बैठ गया ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् महामुनि नारद ने इसके समस्त अंग, तालु, जिह्वा और दांतों को भी देखकर, फिर कुंकुम से रंजित (रंगा गया) त्रिगुण किये हुए सूत्र (डोरे-नारा को) लाकर महादेव, पार्वती और गणेश्वर को स्मरण कर मुनिवर ने उत्तर मुख खड़े (खड़) उस डोरे से बालक का पाद से मस्तकपर्यन्त नाप किया ॥ ५५-५६ ॥

तिर्यगूर्ध्वं समो माने योऽष्टोत्तरशताङ्गुलः ।
स भवेत् पृथिवीपालो बालोऽयं ते यथा द्विज ॥ ५७ ।

पञ्च सूक्ष्मः पञ्च दीर्घः सप्त रक्तः षडुन्नतः ।
त्रिपृथुर्लघुगम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणस्त्विवति ॥ ५८ ।

तिर्यगिति । हे द्विज तिर्यगूर्ध्वं विस्तारोच्चमाने परिमाणे अष्टोत्तरशताङ्गुलः, अष्टौ उत्तरा अधिकाः शतमङ्गुलयो यत्र सोऽष्टोत्तरशताङ्गुलः समस्तुल्यो गणितो योऽयं ते बालः, स यथा यथावल्लोकपालो भवेत् भविष्यतीत्यर्थः । अर्चिष्मत्याः पुर्याः पतिरिति तु हृदिस्थम् । तिर्यक्प्रमाणं प्रसारिताभ्यां बाहुभ्यां ज्ञातव्यम् ॥ ५७ ।

पञ्चेति । अयं ते बालो द्वात्रिंशल्लक्षण एवेति विशेष्यं पूर्वश्लोकादनुषज्ज्याऽन्वयः । तान्येव द्वात्रिंशल्लक्षणानि षड्भिर्विशेषणैर्दर्शयति । **पञ्चसूक्ष्मः** पञ्चत्वकेशाङ्गु[1]लिदशनाङ्गुलिपर्वाणि सूक्ष्माणि यस्य स तथा । **पञ्चदीर्घः** पञ्चभुजनेत्रहनुजानुनासा दीर्घा यस्य स तथा । **सप्तरक्तः** सप्तपाणितलनेत्रान्ततालुजिह्वा अधरोष्ठनखा रक्ता यस्य स तथा । **षडुन्नतः** षड्वक्षः कुक्ष्यलकस्कन्धकरवक्त्राणि उन्नतानि यस्य स तथा । **त्रिपृथुः** त्रीणि ललाटकटिवक्षांसि पृथूनि विस्तीर्णानि यस्य स तथा । **लघुगम्भीरः** लघुश्चासौ गम्भीरश्चेति लघुगम्भीरः । अत्र त्रिशब्दावध्याहर्तव्यौ । **त्रिलघुस्त्रिगम्भीर** इत्यर्थः । त्रिलघुः त्रीणि ग्रीवाजङ्घामेहनानि लघूनि ह्रस्वानि यस्य स तथा । **त्रिगम्भीरः** त्रयः स्वरसत्वनाभयो गम्भीरा यस्य स तथा । सामुद्रिके तु त्रिलघुरित्यत्र चतुर्ह्रस्वमित्युक्तम् । तथा हि—

पञ्चदीर्घं चतुर्ह्रस्वं पञ्चसूक्ष्मं षडुन्नतम् ।
सप्तरक्तं त्रिगम्भीरं त्रिविस्तीर्णं प्रशस्यते ॥ इति ५८ ।

(फिर उन्होंने कहा) हे द्विज, जो बालक दोनों हाथ फैलाकर चौड़ाई और ऊँचाई में समान एक सौ-आठ अंगुल का हो, उसे लोकपाल होना चाहिए, जैसा कि यह तुम्हारा पुत्र है ॥ ५७ ॥

जिसके पाँच स्थान छोटे, पाँच बड़े, सात रक्त, छः उन्नत (ऊँचे) तीन भारी, तीन हल्के (लघुह्रस्व) तीन गहरे हों, वह पुरुष बत्तीसों लक्षण से पूर्ण होता है ॥ ५८ ॥

---

१. अत्र नखेति क्वचित्पाठः ॥

पञ्च दीर्घाणि शस्यानि यथा दीर्घायुषोऽस्य वै।
भुजौ नेत्रे हनुर्जानु नासाऽस्य तनस्य ते ॥ ५९।
ग्रीवाजङ्घामेहनैश्च त्रिभिर्ह्रस्वोऽयमीडितः।
स्वरेण सत्वनाभिभ्यां त्रिगम्भीरः शिशुः शुभः ॥ ६०।
त्वक्केशाङ्गुलिदशनाः पर्वाण्यङ्गुलिजान्यपि।
तथाऽस्य पञ्चसूक्ष्माणि दिक्पालपदभाग् यथा ॥ ६१।
वक्षः कुक्ष्यलकं स्कन्धं करं वक्त्रं षडुन्नतम्।
तथाऽत्र दृश्यते बाले महदैश्वर्यभाग् यथा ॥ ६२ ॥
पाण्योस्तले च नेत्रान्ते तालुजिह्वाधरौष्ठकम्।
सप्तारुणं च सनखमस्मिन् राज्यसुखप्रदम् ॥ ६३ ॥

क्रममनादृत्य श्लोकं व्याचष्टे। पञ्चेत्यारभ्य कमठीपृष्ठकठिनावित्यतः प्राक्तनेन। शस्यानि प्रशस्तानि। हनुर्वदनैकदेशः कपोलयोः परभागः। अधःस्याच्चिवुकं गण्डौ कपोलौ तत्परा हनुरित्यमरः। जानु ऊरुपर्व। जङ्घा प्रसृता। जङ्घा तु प्रसृता जानूरुपर्वाष्ठीवदस्त्रियामित्यमरः ॥ ५९।

मेहनं शिश्नः। भगं योनिर्द्वयोः शिश्नो मेढ्रो मेहनशेफसी इत्यमरः। सत्त्वम् अन्तःकरणम् ॥ ६०-६१।

वक्षो हृदयम्। कुक्षि उदरम्। पिचण्डकुक्षीजठरोदरतुन्दमित्यमरः। अलकं चूर्णकुन्तलाः। अलका चूर्णकुन्तला इत्यमरः। उभयत्र क्लीबत्वं छान्दसम्। यद्वा वक्षश्च कुक्षिश्च अलकाश्च वक्षःकुक्ष्यलकम्। समाहारत्वादेकवद्भावः। स्कन्धं भुजशिरः। स्कन्धोभुजशिरोंऽसोऽस्त्रीत्यमरः। करं हस्तः। बलिहस्तांशवः करा इत्यमरः। अत्रा-

---

तुम्हारे इस दीर्घायु पुत्र की दोनों भुजाएँ, दोनों नेत्र, हनु (दाढ़ो), जानु और नासिका, ये पाँचों अंग जैसे दीर्घ (लम्बे) हैं, वे ही प्रशंसनीय हैं ॥ ५९ ॥

ग्रीवा, जंघा और लिंग, ये तीनों इसके ह्रस्व (छोटे-नाटे हैं। स्वर, अन्तःकरण और नाभि इसके इन तीनों वे गम्भीर (गहरे) होने से यह बालक शुभ-लक्षण है ॥६०॥

त्वचा, केश, अंगुलि, दन्त, अंगुलियों के पर्व (पोर)—ये पांचों इसके ऐसे सूक्ष्म (छोटे महीन) हैं, जैसे कि दिक्पाल पदभागी के होते हैं ॥ ६१ ॥

इस बालक का वक्ष, उदर, ललाट, स्कन्ध, हस्त और मुख ये छहों स्थान ऐसे ऊंचे हैं, जिससे यह बड़ा ऐश्वर्यशाली होने के सूचक हैं ॥ ६२ ॥

दोनों हाथों की हथेली, दोनों आँखों के कोने, तालु, जीभ, नीचे का होंठ और नख—इन सातों के रक्तवर्ण (लालरंग) होने से राज्य-सुख का लाभ प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

ललाटकटिवक्षोभिस्त्रिविस्तीर्णो यथा ह्यसौ ॥
सर्वतेजोतिगैश्वर्यं तथा प्राप्स्यति नान्यथा ॥ ६४ ॥
कमठीपृष्ठकठिनावकर्मकरणौ करौ ।
राज्य हेतू शिशोरस्य पादौ चाध्वनिकोमलौ ॥ ६५ ॥
अच्छिन्ना तर्जनीं व्याप्य तथा रेखाऽस्य दृश्यते ।
कनिष्ठापृष्ठनिर्याता दीर्घायुष्यं यथार्पयेत् ॥ ६६ ॥

प्युभयत्र क्लीबत्वं छान्दसम् । स्कन्धकरवक्त्रमिति क्वचित्पाठस्तत्र समाहारत्वादेकवद्भाव उन्नेयः ॥ ६२-६४ ।

कमठीति । अस्य शिशोः करौ राज्यहेतू राजत्वकारणे । पादौ चेत्यन्वयः । कथम्भूतौ तौ करौ ? कमठीपृष्ठकठिनौ, कमठी कूर्मस्य पत्नीडुलिरिति यावत् । भेकस्य पत्नीवर्षाभ्वीकूर्मस्य कमठीडुलिरित्यमरः[1] । तस्याः पृष्ठवत् कठिनौ दृढावित्यर्थः । अकर्मकरणौ कर्मकरणानर्हौ कर्मकरणं विनापि कठिनावित्यर्थः । पादौ चरणौ । कथम्भूतौ ? अध्वनि वर्त्मविषये कोमलौ मृदू इत्यर्थः ॥ ६५ । अच्छिन्नेति । अस्य शिशोर्हस्ते तथा रेखा दृश्यते, यथाऽस्य दीर्घायुष्यमर्पयेदित्यन्वयः । कथम्भूता ? कनिष्ठापृष्ठनिर्याता कनिष्ठाया आङ्गुल्याः पृष्ठात्पश्चान्निर्याता निःसृतेत्यर्थः । अवधिमाह । तर्जनीं व्याप्याच्छिन्नाऽविच्छिन्नेत्यर्थः ॥ ६६ ।

इस लड़के का ललाट, माँथा, कटि (कमर) और वक्षःस्थल (छाती)—ये तीनों ऐसे विस्तीर्ण हैं, जिनके द्वारा यह अवश्य सर्वातिशायि ऐश्वर्य को प्राप्त होगा, यह कथन अन्यथा नहीं होगा ॥ ६४ ॥

इस शिशु के बिन काम-काज किए ही कछुए की पीठ ऐसे कठोर (कड़े) दोनों हाथ और मार्ग विषयक (परिभ्रमण में) अति कोमल चरणद्वय, राज्य-लाभ के हेतु (सूचक) हैं ॥ ६५ ॥

जिसके होने से दीर्घायु होता है, इस बालक को भी वही सूधी (पूरी) तर्जनी की जड़ से लेकर कनिष्ठा अंगुली की पृष्ठमणि तक चली गई रेखा दिखाई पड़ती है ॥ ६६ ॥

---

१. इदं विचारणीयम् ।

पादौ सुमांसलौ रक्तौ समौ सूक्ष्मौ सुशोभनौ।
समगुल्फौ स्वेदहीनौ स्निग्धावैश्वर्यसूचकौ॥ ६७॥
स्वल्पाभिः कररेखाभिरारक्ताभिः सदा सुखी।
लिङ्गेन कृशह्रस्वेन राजराजो भविष्यति॥ ६८॥
[1]उत्कटासनगुल्फस्फिग्नाभिरस्यापि वर्तुला।
दक्षिणावर्तमरुणं महदैश्वर्यसूचिका॥ ६९।

पादाविति। अस्य पादावैश्वर्यसूचकावैश्वर्यस्य प्रापकावित्यर्थः। कथम्भूतौ? मांसलौ बलवन्तौ सुबलिनावित्यर्थः। बलवान् मांसलोंऽसल इत्यमरः। समानवक्रौ सूक्ष्मौ नातिस्थूलावित्यर्थः। सुशोभनौ सुन्दरौ। समगुल्फौ समौ गुल्फौ घुटिके ययोस्तौ समगुल्फौ। तद्ग्रन्थीघुटिके गुल्फावित्यमरः॥ ६७।

स्वल्पाभिरिति। अयं तव शिशुः राजराजो भविष्यति। कीदृशः? सदा सुखी। कैर्लक्षणैः? कररेखाभिरिति। लिङ्गेन च शेफसाशिश्नेनेत्यर्थः। लिङ्गं चिह्नशेफसोरिः इत्यमरः। कथम्भूतेन? कृशह्रस्वेन कृशं च तद्ध्रस्वं चेति तेन। राजराजो लोकपाल इत्यर्थः॥ ६८।

उत्कटेति। अयं शिशुरुत्कटासनगुल्फस्फिक् उत्कटं महत्, तच्च तदासनं चेत्युत्कटासनम्,[2] तद्गुल्फे तद्योग्ये स्फिचौ कटिस्थमांसपिण्डौ यस्य स तथा। 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः। अस्य गृहपतेर्नाभिरपि वर्तुलाऽऽकारा। कथम्भूता? दक्षिणावर्तमरुणं च यथा भवति, तथा महदैश्वर्यसूचिका प्रकाशिकेत्यर्थः॥ ६९।

अति मांसल रक्तल सम (सूधे) अतिस्थूल (मोटे) नहीं, सुन्दर, समान घुटिका वाले, स्वेद से रहित और चिकने इसके दोनों चरण भी ऐश्वर्यसूचक हैं॥ ६७॥

(तुम्हारा यह लड़का) आरक्त (लाल) और स्वल्प (थोड़ी) हस्तरेखाओं के द्वारा सदा सुखी होगा और कृश एवं ह्रस्व (पतला और छोटा) लिंग होने से राजराज होगा॥ ६८॥

इसके गुल्फ (एड़ी) और कटि के मांस पिण्ड ऊँचे आसन के योग्य हैं और इसकी नाभि भी गोल, दक्षिणावर्त और रक्तवर्ण है—ये सभी महद् ऐश्वर्य को सूचित करते हैं॥ ६९॥

---

१. अत्रापि तत्तुल्ये इत्यपेक्षितमिति भाति।
२. अत्र उत्कटासनतुल्यस्फिगिति पाठोऽपेक्षित इति भाति।

धारैका मूत्रयत्यस्मिन् दक्षिणावर्तिनी यदि ।
गन्धश्च मीनमधुरो यदि वीर्ये तदा नृपः ॥ ७० ।
विस्तीर्णौ मांसलौ स्निग्धौ स्फिचावस्य सुखोचितौ ।
वामावर्तौ सुप्रलम्बौ दोषौ दिग्रक्षणोचितौ ॥ ७१ ।
श्रीवत्सवज्रचक्राब्जमत्स्यकोदण्डदण्डभृत् ।
तथाऽस्य करगा रेखा यथा स्यात्त्रिदिवस्पतिः ॥ ७२ ।
द्वात्रिंशद्दशनश्चायं करकम्बुशिरोधरः ।
क्रौञ्चदुन्दुभिहंसाभ्रस्वरः सर्वेश्वराधिकः ॥ ७३ ।

धारैकेति । अस्मिन् मूत्रयति सति एका धारा यदि दक्षिणावर्तिनी भवति, दक्षिणावर्तेन निःसरतीत्यर्थः । यदि अस्य वीर्ये मीनमधुनोर्मत्स्यक्षौद्रयोर्गन्धश्च भवेत्, तदाऽयं नृप इत्यर्थः ॥ ७० ।

विस्तीर्णाविति । अस्य स्फिचौ कटिस्थमांसपिण्डौ सुखोचितौ सुखयोग्यौ । कथम्भूतौ ? विस्तीर्णौ विस्तृतौ । मांसलौ बलवन्तौ । अंसलावित्यर्थः । स्निग्धौ चिक्कणौ । अस्य दोषौ हस्तौ दिग्रक्षणोचितौ दिक्पालनयोग्यौ । कथम्भूतौ ? वामावर्तौ वामः सुन्दर आवर्त आवर्तनमावलनं ययोस्तौ, तथा । **'वामः सुन्दरमूढयोः'** इति वचनात् । सुप्रलम्बौ आजानुदीर्घावित्यर्थः ॥ ७१ ।

श्रीवत्सेति । अस्य शिशोस्तादृशी करगा रेखाऽस्तीति शेषः । यथाऽयं त्रिदिवस्पतिः स्वर्गाधिपतिः स्यात् । तादृशी कीदृशीत्याकाङ्क्षायामाह । **श्रीवत्सेति** । श्रीवत्सश्च वज्रश्च चक्रं च अब्जं च मत्स्यश्च कोदण्डश्च दण्डश्च तान् बिभर्तीति, तथा । श्रीवत्सो नामाऽत्र दक्षिणावर्तरेखावलिविशेषः । कोदण्डो धनुः ॥ ७२ ।

द्वात्रिंशद्दशन इति । अयं सर्वेश्वराधिको भविष्यतीत्यन्वयः । तत्र हेतुगर्भाणि विशेषणान्याह । किन्त्वित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । द्वात्रिंशद्दशनः द्वाभ्यामधिकास्त्रिंशद्दशना

यदि इस बालक की मूत्रधारा दाहिनी ओर जावे और वीर्य्य में मछली और मधु (सहद) का गंध हो, तो यह नरपाल होगा ॥ ७० ॥

इसके विस्तीर्ण, मांसल, स्निग्ध, (चिकने) दोनों कटि प्रोथ सुखसूचक हैं और सुन्दर गठन, आजानुलम्बित भुज-युगल, दिक्पाल के योग्य हैं ॥ ७१ ॥

श्रीवत्स (एकमणि) वज्र, चक्र, कमल, मत्स्य, धनुष और दण्ड—इन सबके चिह्न से इसकी हस्तरेखा ऐसी सम्पन्न है, जिनसे यह बालक त्रिदिव (स्वर्ग) का अधिपति होने का लक्षण है ॥ ७२ ॥

इस बालक के बत्तीस दन्त और हाथी के शुण्ड के सदृश सुवलित एवं शंख की तरह तीन रेखाओं से अंकित ग्रीवा तथा क्रौञ्च, दुन्दुभि और हंस मेघ के तुल्य स्वर—

मधुपिङ्गलनेत्रोऽसौ नैनं श्रीस्त्यजति क्वचित् ।
पञ्चरेखललाटस्तु तथा सिंहोदरः शुभः ॥ ७४ ।
ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदो निःश्वसन् पद्मगन्धवान् ।
अच्छिद्रपाणिः सुनखो महालक्षणवानयम् ॥ ७५ ।
किन्तु सर्वगुणोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
सम्पूर्णनिर्मलकलं पातयेद्विधुवद् विधिः ॥ ७६ ।

यस्य सः । करकम्बुशिरोधरः करः शुण्डादण्डः, कम्बुः शङ्खः । **'कम्बुर्नावलये शंखे'** इत्यमरः । करवद्धस्त्रिशुण्डादण्डवत् सुवलिता कम्बुवत् त्रिधाराङ्किता च शिरोधरा ग्रीवा यस्य सः । क्रौञ्चदुन्दुभिहंसाभ्रस्वरः क्रौञ्चादीनामिव स्वरो यस्य सः । तत्र क्रौञ्चः कुङारव्यः पक्षी । दुन्दुभिर्दमामा इति लोकप्रसिद्धो वाद्यविशेषः । हंसश्चक्राङ्गः । **'हंसास्तु-श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः'** इत्यमरः । अभ्रं मेघः । **'अभ्रं मेघो वारिवाहः'** इत्यमरः ॥ ७३ ।

मधुपिङ्गलनेत्रः । मधुवत् पिङ्गले नेत्रे यस्य सः । पञ्चरेखा यत्र तादृशं ललाटं यस्य सः । सिंहोदरः सिंहस्य उदरमिव उदरं यस्य, सः ॥ ७४ ।

ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः । ऊर्ध्वगामिनीभिः रेखाभिरङ्कितौ चिह्नितौ पादौ यस्य सः । निःश्वसन् सन् । अच्छिद्रपाणिः नतोन्नतरहितौ पाणी हस्तौ यस्य सः । अच्छिद्रौ संहताङ्गुलीहस्तौ यस्येति वा । उपसंहरति । महालक्षणवानिति । सर्वलक्षणवानयमित्यर्थः ॥ ७५ ।

एवं गुणानुक्त्वाऽपमृत्युं दर्शयति । **किन्त्विति** । सर्वलक्षणलक्षितमप्येनं विधिरदृष्टं विधाता वा पातयेदित्यन्वयः । कमिव ? विधुवत् चन्द्रमिव । उपरागे राहुद्वारेत्यर्थः । सर्वलक्षणलक्षितत्वे वा दृष्टान्तो विधुवदिति । कथम्भूतं विधुम् ? सम्पूर्णनिर्मल-

---

इन सब लक्षणों से निश्चय है कि यह बालक समस्त राजाधिराजों में विशेष होगा ॥ ७३ ॥

इसके नेत्र मधु (शहद) के सदृश पिंगल (कुछ पीला रंग) वर्ण हैं, इसे लक्ष्मी कभी परित्याग नहीं करेगी और इसका ललाट पाँच रेखाओं से अंकित है एवं उदर भी सिंह के उदर के समान है । इन सबसे यह बालक बड़ा ही शुभ-लक्षण है ॥ ७४ ॥

इसके पादतल में उर्ध्वरेखा है और श्वास लेने में पद्म की गन्ध आती है एवं सब अंगुलियों को मिलाकर हाथ फैलाने पर (पसारने पर) कहीं भी छिद्र नहीं दिखता और नख भी सुन्दर हैं । यह बालक तो सभी उत्कृष्ट महालक्षणों से युक्त है ॥ ७५ ॥

परन्तु सब गुणों से पूर्ण और समस्त लक्षणों से लक्षित होने पर भी, निर्मल

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन रक्षणीयस्त्वसौ शिशुः ।
गुणोऽपि दोषतां याति वक्रीभूते विधातरि ॥ ७७ ।
शङ्केऽस्य द्वादशे वर्षे प्रत्यूहो विद्युदग्नितः ।
इत्युक्त्वा नारदो धीमान् स जगाम यथागतम् ॥ ७८ ।
विश्वानरः सपत्नीकस्तच्छ्रुत्वा नारदेरितम् ।
तदैव मन्यमानोऽभूद्वज्रपातं सुदारुणम् ॥ ७९ ।
हा हतोऽस्मीति वचसा हृदयं समताडयत् ।
मूर्च्छामवाप महतीं पुत्रशोकसमाकुलः ॥ ८० ।
शुचिष्मत्यपि दुःखार्ता रुरोदातीव दुःसहम् ।
आर्त्तस्वरेण हारावैरत्यन्तव्याकुलेन्द्रिया ॥ ८१ ।

कलं सम्पूर्णाः षोडशनिर्मलाः कला यस्य, स पूर्णिमाचन्द्र इत्यर्थस्तम् । तद्धितार्थोपसर्जनस्यापि विधोः सम्पूर्णनिर्मलकलमिति विशेषणं छान्दसम् । पालयेदिति क्वचित्पाठस्तदा पालयेत् पालयत्विति काकूक्त्या विघ्नः सूचितः ॥ ७६ ।

उपसंहरन् पूर्वोक्तं विवृणोति । तस्मादिति सार्धेन । वक्रीभूते विषमीभूते प्रतिकूले जात इत्यर्थः ॥ ७७ ।

प्रत्यूहो विघ्नोऽपमृत्युरित्यर्थः । विद्युदग्नितः वज्राग्नेरित्यर्थः ॥ ७८ ।

कलाओं से परिपूर्ण चन्द्रमा के सदृश इस बालक का विधाता स्यात् (हो न हो) ध्वंस करें ॥ ७६ ॥

अतएव सब प्रकार से प्रयत्नपूर्वक यह बालक रक्षणीय है; क्योंकि विधाता के वक्र (टेढ़े हो जाने पर) गुण भी दोषता को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

इस लड़के को बारहवें वर्ष में वैद्युत् अग्नि के द्वारा विघ्न पड़ने की मुझे शंका है। ऐसा कहकर बुद्धिमान् नारद मुनि यथागत चले गये ॥ ७८ ॥

पत्नी के सहित विश्वानर मुनि ने नारद ऋषि का यह वचन सुनकर उसी घड़ी दारुण वज्राग्नि का दुःख मान लिया ॥ ७९ ॥

विश्वानर 'हा हतोऽस्मि' कहते हुए छाती पीटने लगे और (भावी) पुत्र-शोक से व्याकुल होकर मूर्छा को प्राप्त हुए ॥ ८० ॥

शुचिष्मती भी अत्यन्त व्याकुल इन्द्रियों से दुःखार्त्त होकर हाय ! हाय ! करती हुई आर्त्तस्वर से अतीव दुःसह रोदन करने लगी ॥ ८१ ॥

हा शिशो हा गुणनिधे हा पितुर्वाक्यकारक ।
हा कुतो मन्दभाग्याया जठरे मे समागतः ॥ ८२ ।
त्वदेकपुत्रां हा पुत्र कोऽत्र मां त्रायते पुरा ।
त्वदृते त्वद्गुणोर्म्याढ्ये पतितां शोकसागरे ॥ ८३ ।
हा बाल हा विमल हा कमलायताक्ष
हा लोकलोचनचकोरकुरङ्गलक्ष्मन् ।
हा तात तातनयनाब्जमयूखमालिन्
हा मातुरुत्सवसहस्रसुखैकहेतो ॥ ८४ ।
हा पूर्णचन्द्रमुख हा सुनखाङ्गुलीक
हा चाटुकारवचनामृतवीचिपूर ।
दुःखैः कियद्भिरहहाङ्ग मया त्वमाप्तः
किं किं कृतं गृहपते न मया त्वदाप्त्यै ॥ ८५ ।

त्वदेकपुत्रामिति। हा कष्टे। पुत्र हे पुत्र पुरा पूर्वमेव शोकसागरे पतितां मां कस्त्रायते कस्त्रास्यतीत्यर्थः। भयादिति क्वचित्पाठः अहमेव शोकसागरे त्रास्यामीति चेत्तत्राह। त्वदृते त्वां विनेत्यर्थः। मत्तोऽन्यः पुत्रस्त्रास्यतीत्याशङ्कायामात्मानं विशिनष्टि। **त्वदेकपुत्रामिति**। कथम्भूते शोकसागरे? त्वद्गुणोर्म्याढ्ये तव गुणास्त एवोर्मयस्तरङ्गास्तैराढ्ये आकुले ॥ ८३ ।

शोकाकुला सती बहुधा सम्बोधयति। **हा बालेति**। सर्वत्र हा शब्दो विषादे शोके आर्तौ वा। **लोकेति**। लोकानां लोचनान्येव चकोरो चन्द्ररश्मिभोक्तारः। पक्षिविशेषास्तेषां कुरङ्गलक्ष्मन् मृगलाञ्छनचन्द्रतुल्यः। **'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः'** इत्यमरः। **हा तातेति**। तातनयनाब्जमयूखमालिन् पितुर्नेत्राब्जसूर्य। हा तात हा नयनपद्मेति क्वचित्पाठः ॥ ८४ ।

चाटुकारेति। मनोहरवाक्यसुधातरङ्गसमूह समुद्रेति वा। **अहहेति** खेदे।

हा शिशो! हा गुणनिधे! हा पिता के आज्ञापालक! हाय! मुझ-सी अभागिनी के जठर में तुम क्यों आये? ॥ ८२ ॥

हे बेटा! मुझे तुम्हीं एकमात्र पुत्र हो; तुम्हारे गुणरूपी तरंगों से भरे हुए शोक-सागर में निपतित (गिरी) मेरी तुम्हारे बिना दूसरा कौन रक्षा करेगा? ॥ ८३ ॥

हा बाल (हाय बच्चे)! हा सुपवित्र! हा कमलसम आयत (विस्तृत) नयन! हा लोकलोचनरूपी चकोर के चन्द्र! हा तात! हा पिता के नेत्ररूपी कमल के सूर्य! हा माता के (मेरे) सहस्रों उत्सव-सुख के एकमात्र कारण! हा पूर्णचन्द्रमुख! हा

नोप्तो बलिर्न बत कासु च देवतासु
तीर्थानि कानि न मयाऽध्युषितानि वत्स ।
के के मया न नियमौषधमन्त्रयन्त्राः
संसाधितास्तव कृते सुकृतैकलभ्य ॥ ८६ ।

संसारसागरतरे हर दुःखभारं
सारं मुखेन्दुमभिदर्शय सौख्यसिन्धो ।
पुन्नामतीव्रनरकार्णववाडवाग्ने
सञ्जीवयस्व पितरं निजवाक्सुधोक्षैः ॥ ८७ ।

किं देवता अहह जन्ममहोत्सवेऽस्य
ज्ञात्वेति भाविमिलितायुगपत् समस्ताः ।
एकस्थसर्वगुणशीलकलाकलाप
सौन्दर्यलक्षणपरोक्षणपूर्णहर्षाः ॥ ८८ ।

'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः । अङ्ग हे पुत्र । इह हांगेति क्वचित् । तान्येव दुःखान्याह । किं किं कृतमिति ॥ ८५ ।

नोप्त इति । नोप्तो न दत्त इति नेत्यन्वयः । बतेति खेदे । **'खेदाऽनुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत'** इत्यमरः । अध्युषितानि सेवितानि । तव कृते त्वदर्थं के के मया नियमा ओषधानि मन्त्रा यन्त्राश्च न संसाधिता न सेविता इत्यर्थः । तथापि न तैस्त्वं प्राप्त इत्याह सुकृतैकलभ्य विश्वेश्वरेऽर्पितं यत्सुकृतम्, तेन केवलेन लभ्यः ॥ ८६ ।

संसारेति। संसारसमुद्रतारकनौस्वरूप ! निजवाक्सुधोक्षैः स्ववाक्यामृतसेकैः॥८७।

किं देवतेति । अहह खेदे । अस्य शिशोर्जन्ममहोत्सवेऽस्य भाव्यनिष्टं ज्ञात्वा किं

कोमल-नख अंगुलिवाले ! प्रिय वचन सुधा सागर ! अहह बाल गृहपते ! मैंने कितने दुःख उठाकर तुमको पाया और तुम्हारे पाने के लिये क्या-क्या नहीं किया ? ॥ ८४-८५ ॥

हाय बेटा ! तुम्हारे कल्याण हेतु किन-किन देवताओं की पूजा नहीं की, किन-किन तीर्थों में निवास नहीं किया । अरे पुण्य मात्र से लभ्य बच्चे ! तुम्हारे लिए कौन नियम, औषध, मन्त्र और यन्त्रों की साधना नहीं की ? ॥ ८६ ॥

अरे संसार-सागर के नौकारूप पुत्र ! दुःख के भार को हरण करो, हे सुख-समुद्र ! (अपना) मुखचन्द्र दिखलाओ, बेटा ! तुम्हीं हम लोगों के पुन्नाम-नरकरूपी समुद्र के सोखने वाले वड़वानल हो । अपने वचनरूप अमृत सेचन से अपने पिता जी को जिलाओ ॥ ८७ ॥

हाय ! इस भावी अमंगल को जानकर भी क्यों सब देवगण तुम्हारे जन्म

शम्भो महेश करुणाकर शूलपाणे
मृत्युञ्जयस्त्वमिति वेदविदो वदन्ति।
त्वद्दत्तबालतनये यदि कालकालः
स्यादेवमत्र वद कस्य भवेन्न पातः ॥ ८९।

हा हन्त हन्त भवता भवतापहारी
कस्माद् विधेऽत्र विदधे बहुभिः प्रयत्नैः।
बालो विशालगुणसिन्धुमगाधमध्यं
सद्रत्नसारमखिलं सविधं विधाय ॥ ९०।

किमिति युगपन्मिलिताः किमर्थमागता इत्यर्थः। यद्वा अस्य भावि ज्ञात्वा मिलिता इत्येतत् किमिति पृच्छामीत्यर्थः। मेलने हेतुमाह। एकस्येति ॥ ८८।

कालकालः कालेन यमेन कालः, कालनं मारणमिति यावत् ॥ ८९।

हा हन्तेति। हा हन्त विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। हन्तेति वाक्यारम्भे हे विधे भवता कस्मादयं बालो विदधेऽकारि। किं कृत्वा? बहुभिः प्रयत्नैः विशालगुणसिन्धुं विस्तृतगुणरूपसमुद्रं विधाय। अर्थादस्मिन् बालक इति शेष इति वा। कथम्भूतम्? अगाधमध्यमनवगाहनीयमध्यमित्यर्थः सद्रत्नसारं सद्रत्नान्येव साराणि यत्र तम्। अखिलं सम्पूर्णम्। सविधं सप्रकारम्। किमित्याकाङ्क्षायामाह—भवतापहारी भवता कृत्वाऽपहारो वर्तते, यस्य स तथा। सृष्ट्वाऽपि मारणीयश्चेत् किमर्थं सृजसीत्यभिप्रायः। भवतापहारीत्येकं वा पदम्। भवतापं हर्तुं शीलं यस्य स तथा। अस्मिन् पक्षे यतोऽग्रे मारयिष्यसीति शेषः ॥ ९०।

महोत्सव में एक साथ मिले और फिर क्यों एक ही स्थान में सकलगुण, शील, कला-कलाप, सौन्दर्य और सुलक्षणों की परीक्षा कर परम हर्षित हुए? ॥ ८८ ॥

हे शम्भो! महेश! करुणाकर! शूलपाणे! आपको वेदज्ञानी लोग मृत्युञ्जय कहते हैं, (तब) आपके दिए हुए बालक पुत्र को भी यदि काल का घात हो, तो इस संसार में किसका निपात न होगा? ॥ ८९ ॥

हाय! हाय! हे विधाता! अपने बड़े प्रयत्न से उस संसार के तापहारी बालक को अगाध मध्य, उत्तम रत्नसार, प्रबल विशाल गुण सागर (और मेरा समीपवर्ती) क्यों निर्माण किया? ॥ ९० ॥

हा काल बालकवती किमु ते न राज्ञी
त्वत् कालतां न हृतवान्न सुताननेन्दुः ।
बालेति कोमलमृणाललताङ्गलीले
दम्भोलिनिष्ठुरकठोरकुठारदंष्ट्रः ॥ ९१ ॥

इत्थं विलप्य बहुशो नयनाम्बुधारा
सम्पातजाततटिनीशतमुत्तरङ्गम्
सा तोकशोकजनितानलतापतप्ता
प्रोच्छ्वस्य दीर्घविपुलोष्णमहोशुशोष ॥ ९२ ॥

हा कालेति । हा विषादे । हे काल ते तव राज्ञी महिषी किमु बालकवती, नापि तु बालकवत्येव । तव सुताननेन्दुः पुत्रवदनचन्द्रः त्वत्कालतां त्वत्कालनतां त्वत्कृतमारणतां न हृतवान्, न दूरीकृतवान्; अपितु कृतवानेव । अतोऽस्मिन् बाले किं किमित्येवं भूतोऽसि । कथम्भूते ? कोमला या मृणाललता तस्यायदङ्गं तस्येव लीला यस्य स तथा तस्मिन् । कोमलमृणाललताङ्गवत् सुकुमार इत्यर्थः । त्वं कथम्भूतः ? दम्भोलिर्वज्रं तद्वन्निष्ठुरस्तीक्ष्णः कठोरो भयङ्करो यः कुठारस्तद्वद्दंष्ट्रा, यस्य सः । स्वपुत्रस्य रक्षणं परपुत्रस्य मारणमेतत्तवाऽनुचितमिति भावः ॥ ९१ ।

इत्थमिति । अहो कष्टम् । सा शुचिष्मती इत्थं विलप्य शुशोष, शोषं प्राप्तवतीत्यन्वयः । दीर्घं बहुकालव्यापि विपुलं गंभीरं उष्णं यथा स्यात्तथा प्रोच्छ्वस्य । तथा नेत्रवार्या सारजनितनदीनां शतमुत्तरङ्गं उच्छलद्भङ्गं यथा स्यादिति ॥ ९२ ।

हे काल ! क्या तुम्हारी रानी पुत्रवती नहीं है ? अथवा उसके पुत्रवती होने पर भी पुत्र का मुखचन्द्र तुम्हारी कालता (अंधकार-नाशकत्व) को नहीं दूर कर सकता, नहीं तो हे वज्रसमनिष्ठुर ! कमलदण्ड के सदृश अतिकोमलांग बालक पर कठोर कुठारतुल्य दंष्ट्राघात क्यों करते ? ॥ ९१ ॥

शुचिष्मती ने अनेक बार इसी प्रकार विलाप किया । उसके नेत्राश्रु की धारा से सैकड़ों नदियां निकल कर उत्ताल तरंग से पूर्ण हो गयीं । अहो ! इसके अनन्तर वह उठी और दीर्घ निःश्वास परित्याग करती-करती सूखने लगी । उसके उस करुण-विलाप को सुनकर (मानो) तरु-लतागण भी वायु के कम्पन छल से बारम्बार शिर हिलाते हुए

आकर्ण्य तत्करुणवत्परिदेवितानि
तानि द्रुमा व्रततयः कुसुमाश्रुपातैः ।
प्रायो रुदन्ति पततां विरुतार्तरावै
रालोल्यमौलिमसकृत् पवनच्छलेन ॥ ९३ ।

रुण्णं तया किल तथा बहुमुक्तकण्ठ-
मार्तस्वरैः प्रतिरवच्छलतो यथोच्चैः ।
तद्दुःखतो नु रुरुदुर्गिरिकन्दरास्थाः
सर्वा दिशः स्थगितपत्रिमृगागमा हि ॥ ९४ ।

श्रुत्वार्तनादमिति विश्वनरोऽपि मोहं
हित्वोत्थितः किमिति किन्त्विति किं किमेतत् ।
उच्चैर्वदन् गृहपतिः क्व स मे बहिस्थः
प्राणोऽन्तरात्मनिलयः सकलेन्द्रियेशः ॥ ९५ ।

आकर्ण्येति । तस्यास्तानि करुणवन्ति परिदेवितानि दृष्ट्वा वा द्रुमा व्रततयः द्रुमाश्च व्रततयो लताश्च कुसुमान्येवाश्रुपाताः, तैः पततां पक्षिणां विरुतानि वासितान्येव आरावा आर्तरावास्तैः असकृत् वारम्वारं पवनच्छलेन वायुव्याजेन मौलिं मस्तकमालोल्य प्रकम्प्य प्रायो रुदन्ति रुदन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ९३ ।

रुण्णमिति । तथा शुचिष्मत्या मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथाऽऽर्तस्वरैरुण्णरोदनं कृतम् । छान्दसोऽयं प्रयोगः । यथा प्रतिरवस्य च्छलतो व्याजेन सर्वा दिशो रुरुदुः । कथम्भूताः ? गिरिकन्दरा एवास्थानि यासां तास्तथा । पुनः कथम्भूताः ? स्थगितपत्रिमृगागमाः स्थगिताः स्तम्भिताः पत्रिणां मृगाणां चागमा आममनानि यासु तास्तथा । यदा अचेतना अपि वृक्षादयो रुरुदुः, तदा सचेतनानां का कथेति हि शब्दार्थः ॥ ९४ ॥

श्रुत्वेति । इत्यार्तनादं श्रुत्वा स विश्वानरः । ह्रस्वश्छान्दसः । पाठान्तरे[1] तु

एवं पुष्परूप बिन्दुओं को गिराते हुए पक्षियों के कूजनस्वरूप आर्तस्वर से प्रायः रुदन करने लगे ॥ ९२-९३ ॥

शुचिष्मती इतना अधिक मुक्त कण्ठ हो (गला फाड़) आर्त्तस्वर से रोयी कि पर्वत की कन्दराएँ एवं समस्त दिशाएँ भी पशु-पक्षियों के आवागमन से शून्य हो, (मानो) उसके दुःख से कातर बनकर प्रतिध्वनि के छल से उसके साथ उच्चस्वर में रोदन करने लगीं ॥ ९४ ।

विश्वानर मुनि भी वह आर्तविलाप सुन, मूर्छा को छोड़ 'यह क्या ! यह

---

१. श्रुत्वा तु इत्येवं रूपे ।

अगस्त्य उवाच—

ततो दृष्ट्वा स पितरौ बहुशोकसमावृतौ ।
स्मित्वोवाच ततो मातस्त्रासस्त्वीदृक्कुतो हि वाम् ॥ ९६ ।
न मां कृतवपुस्त्राणं भवच्चरणरेणुभिः ।
कालः कलयितुं शक्तो वराकी चञ्चलाल्पिका ॥ ९७ ।
प्रतिज्ञां शृणुतं तातौ यदि वां तनयो ह्यहम् ।
करिष्येऽहं तथा तेन विद्युन्मत्तस्त्रसिष्यति ॥ ९८ ।
मृत्युञ्जयं समाराध्य सर्वज्ञं सर्वदं सताम् ।
कालकालं महाकालं कालकूटविषादिनम् ॥ ९९ ।

वितर्के । उभयत्र व्यवधानमार्षम् । किमित्यादि उच्चैर्वदन् मोहं हित्वोत्थित इत्यन्वयः । तु शब्दोऽत्र सम्भ्रमे । अन्तरात्मनिलयः प्रत्यगात्मा सकलेन्द्रियेशः समस्तेन्द्रियाणां साक्षी ॥ ९५ ॥

ततो दृष्ट्वेति । तमो मोहः । प्राधान्यान्मातुः सम्बोधनम् । तुशब्दात्तातेति च ॥ ९६ ।

कलयितुं मारयितुम् । चञ्चला विद्युत् । यत्र कालोऽपि कुण्ठितः, स तत्र वराकी निकृष्टा अल्पा असमर्था चपला कालयितुं न शक्ता इति, किं वाच्यमित्यभिप्रायः ॥९७ ।

वां युवयोः ॥ ९८ ।

क्या ?' मेरा बहिस्थ प्राण, अन्तरात्मा का स्थान, सकल इन्द्रियों का स्वामी, गृहपति कहाँ है ? उच्चस्वर से ऐसा कहते हुए उठ बैठे ॥ ९५ ।

अगस्त्य ऋषि ने कहा—

इसके पश्चात् गृहपति ने माता-पिता को अत्यन्त शोकाकुल देखकर कुछ मुस्करा कर कहा—हे मातः ! इतना भय आप लोगों को कहाँ से हो गया ? आप लोगों की चरण-धूलिरूप कवच को धारण कर लेने पर मुझे साक्षात् काल भी क्यों न हो, नहीं मार सकता । अति क्षुद्र (बेचारी) विद्युत् की बात ही क्या है ? ॥ ९६-९७ ।

आप दोनों जब मेरी प्रतिज्ञा सुन लें—यदि मैं आप लोगों का पुत्र हूँ, तो सर्वज्ञाता सज्जनों के सर्वाभीष्ट दाता, कालकूट नामक महाविष के भोक्ता, काल के भी काल महाकाल मृत्युञ्जय की आराधना कर ऐसा कर्म करूँगा कि विद्युत् भी मुझसे डरने लगेगी ॥ ९८-९९ ।

इति श्रुत्वा वचस्तस्य जरितौ द्विजदम्पती ।
अकालामृतवर्षौघशान्ततापौ तदोचतुः ॥ १०० ।
अपयोदपयोवृष्टिरदुग्धाब्धिः सुधोदयः ।
अनिन्दुः कौमुदीकान्तिः कुतो नौ सुखयत्यलम् ॥ १०१ ।
पुनर्ब्रूहि पुनर्ब्रूहि कीदृक्कीदृक्पुनः पुनः ।
कालः कलयितुं नालं वराकी चञ्चलालिपका ॥ १०२ ।
आवयोस्तापनाशाय महोपायस्त्वयेरितः ।
मृत्युञ्जयस्य देवस्य समाराधनलक्षणः ॥ १०३ ।
तद्गच्छ शरणं तात नातः परतरं हितम् ।
मनोरथपथातीतकारिणः कालहारिणः ॥ १०४ ।

जरितौ जरावन्तौ । ज्वरिताविति क्वचित्पाठः ॥ १०० ।

किमूचतुस्तदाह । अपयोदेति । न विद्यते पयोदो यस्यां चासौ पयोवृष्टिश्च, न दुग्धाब्धिः क्षीराब्धिर्यस्मिन् स, सुधोदयः न विद्यते इन्दुर्यस्यां, कौमुदीकान्तिः कुतः कस्मान् नौ आवामलमत्यर्थं सुखयति सुखिनौ करोतीत्यूचतुरिति ॥ १०१ ।

पुर्नरिति वीप्सात्रयमादरार्थम् । पुनर्वदेति क्वचित् । काल इत्याद्यर्धमनुवादः ॥ १०२ ।

वृद्ध द्विजदम्पती, अकाल की अमृत-वृष्टि के तुल्य पुत्र का वचन सुनकर सन्ताप से शान्त राही होकर उस समय कहने लगे— यह बिना मेघ की वर्षा, बिना क्षीर के समुद्र से अमृत की उत्पत्ति (निकलना) और बिना चन्द्रमा के कौमुदी-कान्ति कहाँ से हम लोगों को अत्यन्त सुखानुभवी बना रही है ? ॥१००-१०१ ।

"क्या कहा, क्या कहा, फिर कहो, फिर कहो" क्या काल भी नहीं मार सकता, अतिक्षुद्र विद्युत् की क्या बात है ? ॥ १०२ ।

(सचमुच) हम लोगों के ताप नाशनार्थं यह देवदेव मृत्युञ्जय की आराधनारूप बड़ा भारी उपाय तुमने बतलाया है ॥ १०३ ।

बेटा ! तो फिर मनोरथ पथ से अतीत फलदाता, कालविनाशी, महादेव के ही शरण जाओ, इससे बढ़कर हितकर दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ १०४ ।

किं न श्रुतं त्वया तात श्वेतकेतुं यथा पुरा ।
पाशितं कालपाशेन ररक्ष त्रिपुरान्तकः ॥ १०५ ।
शिलादतनयं मृत्युग्रस्तमष्टाब्दमर्भकम् ।
शिवो निजजनं चक्रे नन्दिनं विश्वनन्दिनम् ॥ १०६ ।
क्षीरोदमथनोद्भूतं प्रलयानलसन्निभम् ।
पीत्वा हालाहलं घोरमरक्षद्भुवनत्रयम् ॥ १०७ ।
जालन्धरं महादर्पं हृतत्रैलोक्यसम्पदम् ।
चरणाङ्गुष्ठरेखोत्थचक्रेण निजघान यः ॥ १०८ ।
य एकेषु निपातोत्थज्वलनैस्त्रिपुरं पुरा ।
विधाय पत्रिणं विष्णुं ज्वालयामास धूर्जटिः ॥ १०९ ।
अन्धकं यस्त्रिशूलाग्रप्रोतं वर्षायुतं पुरा ।
त्रैलोक्यैश्वर्यसंमूढं शोषयामास भानुना ॥ ११० ।

पाशितं बद्धम् ॥ १०५ ।
हालाहलं विषम् ॥ १०७ ।
महान् दर्पो यस्य तम् । महादैत्यमित्यपि क्वचित् ॥ १०८ ।
पत्रिणं बाणम् ॥ १०९ । वर्षायुतम् दशसहस्रवर्षम् ॥ ११० ।

हे तात ! पूर्वकाल में त्रिपुरारि ने कालपाश में बद्ध श्वेतकेतु की जिस रूप से रक्षा की थी, क्या तुमने नहीं सुना है ? ॥ १०५ ।

आठ वर्ष की अवस्था के बालक मृत्युग्रस्त शिलाद मुनि के पुत्र को भगवान् शिव ने रक्षित कर जगदानन्दी नन्दी को अपना पारिषद् बना लिया ॥ १०६ ।

क्षीर समुद्र के मन्थन से उत्पन्न प्रलयाग्नि के सदृश घोर हालाहल (महा) विष को पानकर उन्होंने त्रिभुवन को बचा लिया ॥ १०७ ।

त्रैलोक्य की संपत्ति के हर्ता महाभिमानी जालन्धर नामक असुर को जिन्होंने चरणाङ्गुष्ठ की रेखा से उत्पन्न चक्र के द्वारा काट डाला; (फिर) जिस धूर्जटिदेव ने विष्णु को बाणरूप बनाकर उसी एक बाण के गिरने से उठे हुए अग्नि के द्वारा पूर्व युग में त्रिपुर को दग्ध करा दिया । त्रैलोक्य के ऐश्वर्य मद से मूढ़ अन्धक नामक दैत्य की

कामं दृष्टिनिपातेन त्रैलोक्यविजयोर्जितम् ।
निनायाऽनङ्गपदवीं वीक्षमाणेष्वजादिषु ॥ १११ ॥
तं ब्रह्माद्येककर्तारं मेघवाहनमच्युतम् ।
प्रयाहि पुत्र शरणं विश्वरक्षामणिं शिवम् ॥ ११२ ॥
पित्रोरनुज्ञां प्राप्येति प्रणम्य चरणौ तयोः ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य बह्वाश्वास्य विनिर्ययौ ॥ ११३ ॥
स प्राप्य काशीं दुष्प्रापां ब्रह्मनारायणादिभिः ।
महासंवर्तसंवृत्ततापाद् विश्वेशपालिताम् ॥ ११४ ॥
स्वर्धुन्याहारयष्ट्येव राजितां कण्ठभूमिषु ।
विचित्रगुणशालिन्या हारनीहारगौरया ॥ ११५ ॥
बहुसंसारसन्तापसन्तप्तजनतोद्भवम् ।
वारयन्तीं वरणया छिन्दन्तीमसिधारया ॥ ११६ ॥

स गृहपतिः काशीं सम्प्राप्य प्राङ्मणिकर्णिकां लोचनाभ्यां दृष्टवान् ययाविति पञ्चमेनान्वयः। काशीं विशिनष्टि। यल्लभ्यत इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। महासंवर्तः प्राकृतो लयः ॥ ११४ ॥

कण्ठभूमिषु काश्याः कण्ठस्थानीयासु भूमिषु। नीहारो हिमम् ॥ ११५ ॥

बहुसंसारेति। दुःखमिति शेषः। बहुसंसारसन्तापमिति क्वचित्। असिधारयाऽसिप्रवाहेण ॥ ११६ ॥

जो त्रिशूल के अग्रभाग में प्रोत (खोंस) कर दश सहस्त्र वर्ष पर्यन्त सूर्य के घाम में सुखलाते रहे, जिसने त्रैलोक्य विजय से दर्पित कन्दर्प (काम) देव को ब्रह्मादि देवगण के देखते हुए केवल दृष्टिपात से ही अनंग कर दिया। हे पुत्र ! ब्रह्मादि के भी एकमात्र विधाता, मेघवाहन, अच्युत और संसार-रक्षण के महामणि उसी शिव के शरणापन्न हो जाओ ॥ १०८-११२ ॥

गृहपति माता-पिता की इस आज्ञा को पाकर उन दोनों के चरणों पर (गिरकर) प्रणाम कर, फिर उनकी प्रदक्षिणा करके और बहुत आश्वासन देकर बाहर हुए ॥ ११३ ॥

ब्रह्म और नारायणादिक देवताओं को भी दुर्लभ, प्राकृत-प्रलय-सम्भूत सन्ताप से विश्वेश्वर जिसकी रक्षा किया करते हैं, फिर विचित्र गुणों से सम्पन्न हिमहार के समान श्वेतवर्णा गंगा हारलता के सदृश जिसके कण्ठदेश में शोभायमान हैं, जो संसार के बड़े-बड़े सन्ताप से क्लेशित जनों के पुनर्जन्म को वरणा नदी के द्वारा

यल्लभ्यते च कैवल्यं सुदृढाष्टाङ्गयोगतः ।
विकासयन्तीं तत्सम्यक् काशिकां यां जगुर्बुधाः ॥ ११७ ।
संसारतापतप्ताभ्यां लोचनाभ्यां स दृष्टवान् ।
कर्णाकर्णप्रकीर्णाभ्यां प्राग् ययौ मणिकर्णिकाम् ॥ ११८ ।
तत्र स्नात्वा विधानेन दृष्ट्वा विश्वेश्वरं विभुम् ।
त्रैलोक्यप्राणिसन्त्राणकारिणं प्रणनाम ह ॥ ११९ ।
आलोक्यालोक्य तल्लिङ्गं तुतोष हृदये बहु ।
परमानन्दकन्दाख्यं स्फुटमेतन्न संशयः ॥ १२० ।
अहो न मत्तो धन्योऽस्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
यदद्राक्षिषमद्याहं श्रीमद्विश्वेश्वरं विभुम् ॥ १२१ ।

मणिकर्णिकां विशिनष्टि । यल्लभ्यत इत्येकेन । कथम्भूतां मणिकर्णिकाम् ? सुदृढोऽविप्लुतो योऽष्टाङ्गयोगः, तस्माल्लभ्यते यत् कैवल्यम्, तत् सम्यग्देहत्यागमात्रेण विकासयन्तीमभिव्यञ्जयन्तीम् । बुधाः काशिकायां जगुस्तामिति ॥ ११७ ।

कथम्भूताभ्यां नेत्राभ्याम ? संसारतापतप्ताभ्याम् । कर्णाकर्णप्रकीर्णाभ्यां कर्णाभ्यां य आकर्णं आकर्णनं श्रवणं तेन प्रकीर्णाभ्यां विस्तीर्णाभ्यामित्यर्थः । आकर्ण्य मणिकर्णिकाभ्यामिति क्वचित् । यद्वा कर्णः आकर्णनम्, तेन आकर्णप्रकीर्णाभ्यां कर्णपर्यन्ताभ्यामिति ॥ ११८ ।

पूजादिकं च विदधे इति हकारार्थः ॥ ११९ ।

यद्यस्मात् । अद्राक्षिषम् दृष्टवान् ॥ १२१ ।

निवारण करती हुई, असि (नदी) की धारा से छेदन करती है, अति दृढ़ अष्टाङ्ग योग के द्वारा जो मुक्ति प्राप्त होती हैं, उसे स्पष्टरूप से प्रकट कर देनेवाली उसका (उस पुरी का) 'काशी' ऐसा नाम पण्डित लोग कहते है ॥ ११४-११७ ।

उसी काशी में प्राप्त होकर वह गृहपति संसार के दुःखों से संतप्त कर्णपर्यन्त फैले हुए नेत्रों से दर्शन करता हुआ सर्वप्रथम मणिकर्णिका पर जा पहुँचा ॥ ११८ ।

उसने वहाँ पर यथाविधि स्नानकर, त्रैलोक्य मात्र के प्राणियों के त्राणकर्ता, विभु विश्वेश्वर का दर्शन कर प्रणाम किया ॥ ११९ ।

गृहपति उस लिङ्ग को देख-देखकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ । उसने (मन ही मन) निश्चय किया कि यही प्रकट परमानन्द के मूल हैं ॥ १२० ।

सचराचर त्रिभुवन में मेरी अपेक्षा दूसरा कोई भी धन्य नहीं है; क्योंकि मैंने आज विभु विश्वनाथ का दर्शन किया ॥ १२१ ।

त्रिलोकीसारसर्वस्वं पिण्डीभूतमिदं किल ।
किं वा पीयूषपिण्डोऽयमुद्गतः क्षीरनीरधेः ॥ १२२ ।
आत्मावबोधमहसः किमसौ प्रथमाङ्कुरः ।
ब्रह्मानन्दसुकन्दो वा किमु ब्रह्मरसायनम् ॥ १२३ ।
योगिहृत्पद्मनिलयं यदनाकारमुच्यते ।
तदाकारत्वमापेदे किमिदं लिङ्गकैतवात् ॥ १२४ ।
ब्रह्माण्डभाण्डमथवा नानारत्नौघपूरितम् ।
अथवा मोक्षवृक्षस्य फलमेतन्न संशयः ॥ १२५ ।

सारसर्वस्वं वरसर्वधनम् । 'सारो बले स्थिरांशे न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । पिण्डीभूतं लिङ्गाकारेण परिणतम् । किलेत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ १२२ ।

आत्मावबोधमहसः स्वप्रकाशप्रत्यग्ज्योतिषः । सुकन्दः शोभनं मूलम् । ब्रह्मरसायनं ब्रह्म च तद्रसश्च तदयनं च तत्तथा । 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति श्रुतेः ॥ १२३ ।

योगीति । योगिहृत् कमलाश्रयम् अनाकारं प्रत्यग्भूतं यद् ब्रह्मोच्यते, तल्लिङ्गच्छलादाकारत्वं लिङ्गमूर्तित्वमापेदे, प्राप, किमिति विमर्शः ॥ १२४ ।

फलं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वप्रकाशानन्दस्वरूपम् ॥ १२५ ।

निश्चय ही यह त्रैलोक्य का सार सर्वस्व पिण्डरूप से शोभायमान है । अथवा क्षीर-सागर से उत्पन्न (निकला हुआ) यह अमृत पिण्ड है ॥ १२२ ।

क्या यह आत्मज्ञान की ज्योति का प्रथम अंकुर है ? अथवा ब्रह्मानन्द का उत्तम कन्द (मूल-जड़) है ? या ब्रह्मरसायन है ? ॥ १२३ ।

योगिजन के हृदय कमल में स्थित जो आनन्दरूप निराकार ब्रह्म कहा जाता है, क्या वही (तो नहीं) लिङ्गरूप से छल से साकारता को प्राप्त हो गया ? अथवा यह क्या ब्रह्माण्ड का आधारस्वरूप अनेक विधि रत्न-समूहों से पूर्णभाण्ड (पात्र) है ? किं वा यह लिंग मोक्षवृक्ष का फल है ? इस विषय में कुछ संदेह नहीं है, अथवा निर्वाण-लक्ष्मी का सुन्दर पुरुषों से युक्त केशपाश है ? किं वा (हो न हो) यह कैवल्यरूपिणी

निर्वाणलक्ष्म्याः किमथ केशपाशः सुपुष्पयुक् ।
कैवल्यमल्लीवल्ल्याः किं स्तवकः स्तावकार्थदः ॥ १२६ ।
निःश्रेयसश्रियः किं वाऽऽनन्दक्रीडनकन्दुकः ।
अपवर्गोदयाद्रेः किमुदियाय सुधाकरः ॥ १२७ ।
संसारमोहतिमिरभिदुरः किमसौ रविः ।
किमु कल्याणरमणीरम्यशृङ्गारदर्पणः ॥ १२८ ।
आज्ञातं न भवेदन्यत् सर्वेषां देहधारिणाम् ।
अनेककर्मबीजानां बीजपूरोऽयमद्भुतः ॥ १२९ ।
विश्वेषां विश्वबीजानां कर्माख्यानां लयो यतः ।
अस्मिन्निर्वाणदे लिङ्गे विश्वलिङ्गमिदं ततः ॥ १३० ।

केशपाशः चूडा । 'शिखाचूडाकेशपाशः' इत्यमरः । सुपुष्यते इति पाठे सुपुष्पित इत्यर्थः । कैवल्यमल्लीवल्ल्याः कैवल्यमेव मल्लीवल्ली मल्लिका लता, तस्याः स्तवको गुच्छः । स स्तावकानां स्तोतॄणां भक्तानामर्थदः पुरुषार्थचतुष्टयप्रद इत्यर्थः ॥ १२६ ।

आनन्दक्रीडनकन्दुकः सुखक्रीडाकन्दुकः । आनन्द इत्यत्र कम्र इति वा पाठः । कमनीय इत्यर्थः ॥ १२७ ।

कल्याणरमणी कल्याणसुन्दरी, तस्या रम्यः शृङ्गारस्य शोभाया दर्शनार्थं दर्पण आदर्शः ॥ १२८ ।

आज्ञातमिति । आ इति स्मृतौ । बीजपूरः फलपूरः । अद्भुत आश्चर्यमयः ॥ १२९ ।

आश्चर्यमयत्वे हेतुं दर्शयन् विश्वेशलिङ्गमिति नाम निर्वक्ति । विश्वेषामिति । कर्माणीति आख्या येषां कर्माख्यानां विश्वबीजानां विश्वेषां सर्वेषां बीजानां यतो यस्माद-

---

मल्लिका (वेला) लता के पुष्पों का (गुच्छा है जो) स्तुति-तत्पर भक्त-जनों के अभीष्ट अर्थ को देनेवाला है । (नहीं जीव ! यह तो) मोक्ष-लक्ष्मी का आनन्द क्रीडन कन्दुक (खेलने का गेंदा) है । अथवा यह अपवर्गरूपी उदयाचल से उदित सुधाकर है, किं वा संसार के मोहरूपी अन्धकार का विध्वंसकर्ता दिवाकर (सूर्य) है ? अथवा कल्याणमयी रमणी के सुन्दर शृंगार का दर्पण है ? ॥ १२४-१२८ ।

ओः ! (ठीक है अब) समझा, और कुछ नहीं है; अपितु सब देहधारियों के बहुतर कर्मबीजों का आश्रय, यह अद्भुत बीजपूर का फल (विजोरा नींबू) है, क्योंकि इसे

मम भाग्योदयेनैव नारदेन महर्षिणा ।
तदागत्य तथोक्तं यत् कृतकृत्योऽस्म्यहं ततः ॥ १३१ ।
इत्यानन्दामृतरसैर्विधाय स हि पारणम् ।
ततः शुभेऽह्नि संस्थाप्य लिङ्गं सर्वहितप्रदम् ॥ १३२ ।
जग्राह नियमान् घोरान् दुष्करानकृतात्मनाम् ।
अष्टोत्तरशतैः कुम्भैः [1]पूर्णैर्गङ्गामृतद्रवैः ॥ १३३ ।
संस्नाप्य वाससा पूतैः पूतात्मा प्रत्यहं शिवम् ।
नीलोत्पलमयीं मालां समर्पयति सोऽन्वहम् ॥ १३४ ।
अष्टाधिकसहस्रैस्तु सुमनोभिर्विनिर्मिताम् ।
स पक्षार्धेन षण्मासं कन्दमूलफलाशनः ॥ १३५ ।

स्मिँल्लिङ्गे लयो नाशस्तस्मादिदं विश्वलिङ्गमिति । पाठान्तरे[2] तु ननु परिच्छिन्ने कथं सर्वेषां कर्मरूपाणां बीजानां लयः, तत्राह । ततमिति । परिपूर्णमित्यर्थः । परिच्छिन्न-प्रतीतिस्तु भ्रान्त्या श्रीकृष्ण इवेत्यभिप्रायः ॥ १३० ।

तथोक्तं यत् शङ्कोऽस्य द्वादशे वर्षे प्रत्यूहो विद्युदग्नित इत्यादिलक्षणं तत उक्तात् । यद्यस्मात्तत्तस्मादिति वा ॥ १३१ ।

इत्येवं प्रकारेण आनन्दामृतरसैः सुखसुधाद्रवैः ॥ १३२ ।

अकृतात्मनामजितेन्द्रियाणाम् ॥ १३३ । पूतात्मा शुद्धात्मा । अन्वहं प्रत्यहम् ॥ १३४ ।

सुमनोभिर्नीलोत्पलपुष्पैः सपक्षेति । स वैश्वानरः षण्मासं व्याप्य पक्षार्धेन सार्धसप्तदिनैः कन्दमूलफलाशनो बभूव ॥ १३५ ।

निर्वाणमुक्तिप्रद लिंग में कर्मनाशक समस्त विश्व-बीजों का लय हो जाता है, अतएव यह "विश्वलिंग" कहलाता है ॥ १२९-१३० ।

मेरा बड़ा भाग्योदय हुआ, जो महर्षि नारद ने आकर यह बात कही । मैं तो आज उसी के द्वारा कृतार्थ हो गया ॥ १३१ ।

वह गृहपति इस प्रकार आनन्दरूपी अमृत-रसों के पान से पारणकर शुभ दिन में सब किसी को हितप्रद लिंग की स्थापना कराकर अजितेन्द्रिय लोगों के दुष्कर घोरतर नियमों को ग्रहण करने लगा । वह पवित्रात्मा प्रतिदिन एक सौ आठ घड़ों में गंगाजल भर वस्त्र से छानकर शिवलिंग को स्नान कराने के अनन्तर एक सहस्र आठ (१००८) नील कमल के पुष्पों से गुँथी हुई माला समर्पण करने लगा; फिर वह छः

---

१. अमृतप्रदैरित्यपि पाठः । २. इदं ततमित्येवं रूपे ।

शीर्णपर्णाशनः पक्षे त्वाषण्मासं बभूव सः ।
षण्मासं वायुभक्षोऽभूत् षण्मासं जलबिन्दुभुक् ॥ १३६ ।
एवं वर्षद्वयं तस्य व्यतिक्रान्तं तथाऽऽसतः ।
जन्मतो द्वादशे वर्षे तद्वचो नारदेरितम् ॥ १३७ ।
सत्यं करिष्यन्निव तमभ्यगात् कुलिशायुधः ।
उवाच च वरं ब्रूहि दद्मि तन्मनसि स्थितम् ॥ १३८ ।
अहं शतक्रतुर्विप्र प्रसन्नोऽस्मि शुभव्रतैः ।
इत्याकर्ण्य महेन्द्रस्य वाक्यं मुनिकुमारकः ॥ १३९ ।
उवाच मधुरं धीरः कीरवन्मधुराक्षरम् ।
मघवन् वृत्रशत्रो त्वां जाने कुलिशपाणिनम् ॥ १४० ।

स षण्मासं व्याप्य पक्षे पक्षे शीर्णपर्णाशनो बभूवेत्युभयत्र वीप्सा । अन्वयभेदाच्च तच्छन्दस्यावृत्तिरदोषः ॥ १३६ ।

आसतस्तिष्ठतः सतो वर्तमानस्येति वा ॥ १३७ ।

कुलिशायुध इन्द्ररूपेण शङ्कर एव । इन्द्ररूपेण मयैव त्वं हि भीषित इति वक्ष्यमाणत्वात् । यन्मनसि स्थितं तदित्यर्थः ॥ १३८-१३९ ।

मधुरं सारम् । कीरवत् शुकवत् । कुलिशपाणिनम् वज्रपाणिम् ॥ १४० ।

मासपर्यन्त पक्षार्द्ध भर (साढ़े सात दिन में एक बार) कन्द-मूल और फल मात्र भोजन करने लगा ॥ १३२-१३५ ।

फिर छः मास तक प्रति पक्ष में (एकबार) केवल सूखकर गिरे हुए पत्तों को खाने लगा । तत्पश्चात् छह मास तक वायु भोजी और फिर छः मासपर्यन्त जल का बिन्दुमात्र पान करने लगा ॥ १३६ ।

इस प्रकार से तप करते हुए, उसके दो वर्ष व्यतीत हुए । (अब) गृहपति के जन्म से बारहवें वर्ष में नारद के कहे हुए उस वचन को मानो पूरा करने के लिए वज्रधर इन्द्र उसके पास आये और बोले—'वर माँगो, जो कुछ तेरे मन में है, वह मैं देता हूँ' ॥ १३७-१३८ ।

हे विप्र ! मैं साक्षात् शतक्रतु हूँ, तुम्हारे शुभ व्रतों से प्रसन्न हूँ । वह धीर मुनि कुमार महेन्द्र की यह बात सुनकर शुक की तरह मधुर अक्षरों से भरे हुए मीठे वचनों से कहने लगा—हे वृत्रासुर शत्रो ! मघवन् ! मैं आपको वज्रहस्त जानता हूँ; परन्तु

नाहं वृणे वरं त्वत्तः शङ्करो वरदोऽस्ति मे ॥ १४१ ।

इन्द्र उवाच—

न मत्तः शङ्करोऽस्त्यन्यो देवदेवोऽस्म्यहं शिशो ।
विहाय बालिशत्वं त्वं वरं याचस्व मां वरम् ॥ १४२ ।

ब्राह्मण उवाच—

गच्छाहल्यापतेऽसाधो गोत्रारे पाकशासन ।
न प्रार्थये पशुपतेरन्यं देवान्तरं स्फुटम् ॥ १४३ ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा क्रोधसंरक्तलोचनः ।
उद्यम्य कुलिशं घोरं भीषयामास बालकम् ॥ १४४ ।
स दृष्ट्वा बालको वज्रं विद्युज्ज्वालाशताकुलम् ।
स्मरन्नारदवाक्यं च मुमूर्च्छ भयविह्वलः ॥ १४५ ।

बालिशत्वं मूर्खत्वम् । वरमभिलाषम् । वरं श्रेष्ठम् । मा चिरमिति क्वचित्पाठः ॥ १४२ ।

न मत्तः शङ्करोऽस्त्यन्यः इत्याद्यखर्वगर्ववचनात् सक्रोधः सन्नाह । गच्छेति॥१४३।
मुमूर्छ मूर्छां गतवान् ॥ १४५ ।

आप से मैं वर नहीं माँगना चाहता, मेरे वरदाता शंकर हैं (मोहिं देने वाला एक शंभु बैल वाला है) ॥ १३९-१४१ ।

इन्द्र कहने लगे—

बालक ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई शंकर (कल्याणकर्ता) नहीं है, मैं ही सब देवताओं का देव (स्वामी) हूँ, अतएव तू लड़कपन त्यागकर मुझसे वर की प्रार्थना करो ॥ १४२ ।

ब्राह्मण (बालक) ने कहा—

हे अहल्या के जार ! असाधो ! गोत्र शत्रो ! पाकशासन ! जाओ, मैं तो स्पष्ट ही कह रहा हूँ कि पशुपति से भिन्न अन्य किसी देवता से मैं कुछ भी प्रार्थना नहीं करना चाहता ॥ १४३ ।

इन्द्र ने बालक के इस वचन को सुनते ही क्रोध से रक्तनेत्र होकर घोर (भयंकर) वज्र उठाकर उस लड़के को डरा दिया ॥ १४४ ।

वह बालक सैकड़ों विद्युत् की ज्वाला से परिपूर्ण वज्र को देखकर नारद के वचन को स्मरण करता हुआ भय से विह्वल होकर मूछित हो गया ॥ १४५ ।

अथ गौरीपतिः शम्भुराविरासीत्तमोनुदः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते स्पर्शैः सञ्जीवयन्निव ॥ १४६ ।
उन्मील्य नेत्रकमले सुप्ते इव दिवाक्षये ।
अपश्यदग्रे चोत्थाय शम्भुमर्कशताधिकम् ॥ १४७ ।
भाले लोचनमालोक्य कण्ठे कालं वृषध्वजम् ।
वामाङ्कसन्निविष्टाद्रितनयं चन्द्रशेखरम् ॥ १४८ ।
कपर्देन विराजन्तं त्रिशूलाजगवायुधम् ।
स्फुरत्कर्पूरगौराङ्गं परिणद्धगजाजिनम् ॥ १४९ ।

अथेति । न केवलमाविरासीत् उत्तिष्ठोत्तिष्ठभद्रं ते इति वदन्निति शेषः । स्पर्शैः करस्पर्शैः सञ्जीवयामास[१] चेत्यर्थः ॥ १४६ ।

स बालक उत्थाय नेत्रकमले उन्मील्य विकचय्य विवृत्येति यावत् । अग्रे शम्भुमपश्यदित्यन्वयः । कीदृशे इव ? दिवाक्षये रात्रौ सुप्ते मुद्रिते इव । कीदृशं शम्भुम् ? अर्कशताधिकम्, अपरिमितसूर्याधिकप्रकाशमित्यर्थः ॥ १४७ ।

भाले इति । स एतादृशं रूपं प्रथमत आलोक्य पश्चान्महादेवं परिज्ञाय क्षणं स्थगितवन्निश्चलवत्तस्थाविति चतुर्थेनान्वयः । कीदृशं रूपं तदाह । भाल इति सार्धेन ॥ १४८ ।

कपर्देन जटाजूटेन । आजगवं पिनाकः । परिणद्धं परिहितं गजाजिनं गजासुरस्य चर्म येन स तथा तम् ॥ १४९ ।

तदनन्तर तमोविनाशी गौरीपति भगवान् शम्भु, उठ, उठ, तेरा मंगल (भला) हो—ऐसा कहते और हस्तस्पर्श के द्वारा मानो उसे संजीवित करते हुए, वहाँ पर प्रकट हो गए ॥ १४६ ।

बालक ने रात्रि में सोते हुए के सदृश कमलोपम नेत्रों को खोलते हुए उठकर सैकड़ों सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान शम्भु भगवान् का साक्षात् दर्शन पाया ॥ १४७ ।

उस बालक ने ललाट लोचन, नीलकण्ठ, वृषभध्वज, जटाजूट से मण्डित, चन्द्रशेखर, त्रिशूल-पिनाक प्रहरणधारी, उज्ज्वल कर्पूरसम गौराङ्ग, गजचर्म परिधान एवं वामाङ्ग में पार्वती आसीन—उनका ऐसा रूप देखा ॥ १४८-१४९ ।

---

१. पुस्तकान्तरे सञ्जीवयन्निवेत्येवार्थे इवशब्द इति पाठो दृश्यते अयमेव युक्त इति भाति ।

परिज्ञाय महादेवं गुरुवाक्यत आगमात् ।
हर्षबाष्पाकुलः सन्नकण्ठो रोमाञ्चकञ्चुकः ॥ १५० ।
क्षणं स्थगितवत्तस्थौ चित्रकृत्रिमपुत्रकः ।
यथा तथा सुसम्पन्नो विस्मृत्यात्मानमेव च ॥ १५१ ।
न स्तोतुं न नमस्कर्तुं किञ्चिद्विज्ञप्तुमेव च ।
यदासनशशाकालं तदा स्मित्वाऽऽह शङ्करः ॥ १५२ ।

ईश्वर उवाच—

शिशो गृहपते शक्राद्वज्रोद्यतकरादहो ।
ज्ञातो भीतोऽसि मा भैषीर्जिज्ञासा ते कृता मया ॥ १५३ ।
मम भक्तस्य नो शक्रो न वज्रं नान्तकोऽपि वा ।
प्रभवेदिन्द्ररूपेण मयैव त्वं हि भीषितः ॥ १५४ ।

कथम्भूतः ? आनन्दवारिव्याप्तः, अत एव सन्नकण्ठो निरुद्धगलः रोम्णा मञ्च उद्गमः कञ्चुको यस्य सः ॥ १५० ।

चित्रेण रङ्गद्रव्येण चित्रे भित्त्यादौ वा कृत्रिमो लिखितः पुत्रको यथा तथा सम्पन्नो वृत्तः सन् इति पादद्वयस्य पूर्वेणाग्रिमेण वाऽन्वयः ॥ १५१ ।

यदात्मानं विस्मृत्य चकारात् परं च किमपि कर्तुमलं न शशाकैव तदा स्मित्वा ईषद्धास्यं कृत्वा शङ्कर आहेत्यर्थः ॥ १५२ ।

नाऽन्तकोऽपि न यमोऽपि । चपलाऽपि चेति क्वचित्पाठः ॥ १५४ ।

गुरुवाक्य और शास्त्र से महादेव को पहचान हर्षवाष्वाकुल, रुद्धस्वर, रोमाञ्चित शरीर एवं अपने को ही भूलकर वह क्षणमात्र कठपुतली की नाई निस्तब्धभाव से (चुपचाप) खड़ा रहा ॥ १५०-१५१ ।

तदनन्तर वह बालक जब स्तुति करने, नमस्कार करने और कुछ निवेदन करने में भी समर्थ नहीं हुआ, तब शंकर ने कुछ मुस्कराते हुए कहा ॥ १५२ ।

ईश्वर बोले—

अहो बालक ! गृहपते ! उद्यत वज्रपाणि शक्र से तुम डर गये हो, यह मैं जानता हूँ । अब मत डरो । यह तो मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी ॥ १५३ ।

मेरे भक्त के ऊपर इन्द्र के वज्र को कौन कहे, साक्षात् यमराज का भी प्रभुत्व नहीं है । मैंने ही इन्द्ररूप से तुमको डराया था ॥ १५४ ।

वरं ददामि ते भद्र त्वमग्निपदभाग् भव ।
सर्वेषामेव देवानां वदनं त्वं भविष्यसि ॥ १५५ ।
सर्वेषामेव भूतानां त्वमग्नेऽन्तश्चरो भव ।
धर्मराजेन्द्रयोर्मध्ये दिगीशो राज्यमाप्नुहि ॥ १५६ ।
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गं तव नाम्ना भविष्यति ।
अग्नीश्वर इति ख्यातं सर्वतेजोभिबृंहणम् ॥ १५७ ।
अग्नीश्वरस्य भक्तानां न भयं विद्युदग्निजम् ।
अग्निमान्द्यभयं नैव नाकालमरणं क्वचित् ॥ १५८ ।
अग्नीश्वरं समभ्यर्च्य काश्यां सर्वसमृद्धिदम् ।
अन्यत्रापि मृतो दैवादग्निलोके महीयते ॥ १५९ ।
ततः काशीं पुनः प्राप्य कल्पान्ते मोक्षमाप्नुयात् ।
वीरेश्वरस्य पूर्वेण गङ्गायाः पश्चिमे तटे ॥ १६० ।

दिगीशोर्दिगीश्वरयोः । दिगीशस्त्वं भव वा ॥ १५६ ।

वीरेश्वरस्येति । वीरेश्वरस्य पूर्वेण पूर्वस्यां दिशि या गङ्गा, तस्याः पश्चिमे तटेऽग्नीश्वरं समाराध्येत्यन्वयः । अतो वीरेश्वरस्य पूर्वस्यां दिशि कथमग्नीश्वर इति नात्र कथन्तेति ॥ १६० ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ।

हे भद्र, मैं तुम्हें वर देता हूँ कि (आज से तुम अग्निपद के भागी हो और तुम्हीं सब देवताओं के मुख होओगे ॥ १५५ ।

हे अग्ने ! तुम सब भूतों के अन्तश्चारी होगे, धर्मराज और इन्द्र के मध्यवर्ती दिक्पाल होकर तुम राज्य-लाभ करो ॥ १५६ ।

तुम्हारा स्थापित किया हुआ यह लिंग सर्वतेजोऽभिवर्द्धक होकर तुम्हारे नामानुसार 'अग्नीश्वर' नाम से प्रसिद्ध होगा ॥ १५७ ।

जो कोई अनीश्वर का भक्त होगा, उसे कभी विद्युत् की अग्नि का भय नहीं होगा, न मन्दाग्नि का डर रहेगा और अकाल मृत्यु भी कभी नहीं होगी ॥ १५८ ।

काशी में समस्त सिद्धियों के दाता असीश्वर की पूजा करने पर देवात् यदि कहीं भी मरे, तो अग्निलोक में सादर निवास करता है ॥ १५९ ।

इस कल्प के बीत जाने पर फिर काशी में प्राप्त होकर मुक्ति-लाभ करता है । वीरेश्वर के पूर्व और गंगा के पश्चिम तटपर अवस्थित अग्नीश्वर की आराधना करने

अग्नीश्वरं समाराध्य वह्निलोके वसेन्नरः।
पितृभ्यां स्वजनैः सार्धं मित्रबन्धुसमायुतः ॥ १६१।
विमानमिदमारुह्य प्रयाह्येव दिशःपते।
इत्युक्त्वाऽऽनीय तद्बन्धून् पित्रोश्च परिपश्यतोः ॥
दिक्पतित्वेऽभिषिच्याग्निं तत्र लिङ्गे शिवोऽविशत् ॥१६२।

गणावूचतुः—

इत्थमग्निस्वरूपं ते शिवशर्मन् प्रवर्णितम्।
किमन्यच्छ्रोतुकामोऽसि कथयावस्तदीरय ॥ १६३।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वह्निलोकवर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

से मनुष्य अग्निलोक में निवास करता। हे दिक्पाल! तुम माता, पिता, मित्र, बन्धु और स्वजनों के सहित इस विमान पर चढ़कर यों ही चले जाओ ॥ १६०-१६१।

शिव, यह कहकर उनके बन्धु-बान्धवों को लाकर माता-पिता के सम्मुख गृहपति को दिक्पाल पदपर अभिषिक्त कर उसी लिंग में प्रवेश कर गये ॥ १६२।

विष्णुगणों ने कहा—

हे शिवशर्मन्! यह तो अग्नि का स्वरूप-वर्णन किया गया और क्या सुनना चाहते हो, उसे कहो, हम दोनों वह भी कहेंगे ॥ १६३।

भये प्रकट जेहिं भाँति से, कीन तपस्या घोर।
पावक गृहपति रूप धरि, सो सब बरनि अघोर ॥

॥ इति श्रीस्कन्दे पुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायाम् अग्न्युत्पत्ति-वर्णनं नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

शिवशर्मोवाच—

नैर्ऋतादीन् क्रमाल्लोकानाख्यातं पुरुषोत्तमौ ।
पुरुषोत्तमपादाब्जपरागोद्धूसरालकौ ॥ १ ॥

गणावूचतुः—

आकर्णय महाभाग संयमिन्याः पुरीं पराम् ।
दिक्पतेर्निर्ऋतस्यासौ पुण्या पुण्यजनोषिता ॥ २ ॥
राक्षसा निवसन्त्यस्यामपरद्रोहिणः सदा ।
जातिमात्रेण रक्षांसि वृत्तैः पुण्यजना इमे ॥ ३ ॥

द्वादशे वर्ण्यते लोको निर्ऋतेश्च महर्धिमान् ।
वरुणस्य तथा चैव लोकोऽत्यन्तमनोरमः ॥ १ ॥

पूर्वाऽध्यायान्ते इत्थमग्निस्वरूपं ते शिवशर्मन् प्रवर्णितम् । किमन्यच्छ्रोतुकामोऽसि कथयास्तदीरयेत्युक्तं तत्र पृच्छति । नैर्ऋतेति । हे पुरुषोत्तमौ नैर्ऋतादीन् लोकान् क्रमात् आख्यातं कथयतमित्यन्वयः । पुरुषोत्तमत्वे हेतुमाह । पुरुषोत्तमस्य चरणकमलरेणुनोद्धूलिता आविलश्चूर्णकुन्तला ययोस्ताविति ॥ १ ॥

परामनन्तरां पश्चिमदिग्भवां वा । निर्ऋतस्य निर्ऋतेः ॥ २ ॥

वृत्तैः सदाचारैः । पुण्यजना धार्मिकाः ॥ ३ ॥

(नैर्ऋत और वरुण लोकों का वर्णन)

शिवशर्मा बोले—

हे विष्णु चरणकमल-धूलि-धूसरित केशपाश ! दोनों पुरुषोत्तम ! क्रम से नैर्ऋतादि सब लोकों का सवृत्तान्त वर्णन कीजिए ॥ १ ॥

विष्णु भगवान् के दोनों पार्षदों ने कहा—

हे महाभाग ! श्रवण करो । संयमिनी पुरी के अनन्तर पुण्यजनों से अधिष्ठित दिक्पाल निर्ऋति की यह पवित्र नगरी है ॥ २ ॥

परद्रोह से पराङ्मुख राक्षस लोग सर्वदा इसमें निवास करते हैं । ये लोग जातिमात्र से तो राक्षस हैं, पर सदाचार के द्वारा धार्मिक हैं ॥ ३ ॥

स्मृत्युक्तश्रुतिवर्त्मानो जाता वर्णा वरेष्वपि ।
नाद्रियन्तेऽन्नपानानामस्मृत्युक्तं कदाचन ॥ ४ ।
परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखाः ।
जाता जातौ निकृष्टायामपि पुण्यानुसारिणः ॥ ५ ।
द्विजातिभक्त्युत्पन्नार्थैरात्मानं पोषयन्ति ये ।
सदा सङ्कुचिताङ्गाश्च द्विजसम्भाषणादिषु ॥ ६ ।
आहूता वस्त्रवदना वदन्ति द्विजसन्निधौ ।
जय जीव भगो नाथ स्वामिन्निति हि वादिनः ॥ ७ ।
तीर्थस्नानपरा नित्यं नित्यं देवपरायणाः ।
द्विजेषु नित्यं प्रणताः स्वनामाख्यानपूर्वकम् ॥ ८ ।
दमदानदयाक्षान्तिशौचेन्द्रियविनिग्रहाः ।
अस्तेयसत्याहिंसाश्च सर्वेषां धर्महेतवः ॥ ९ ।

वर्णाश्च ते अवराश्चेति तेष्वप्यधमवर्णेष्वपीत्यर्थः । अस्मृत्युक्तं स्मृतिशास्त्रानुक्तमित्यर्थः । भोजनपानमिति शेषः ॥ ४-५ ।

द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषां भक्त्या शुश्रूषया उत्पन्ना येऽर्थाः, तैरात्मानं ये पोषयन्ति, तेऽत्र पुरोत्तमे वसन्तीति पञ्चमेनाऽन्वयः । तथाग्रे वक्ष्यमाणानामपि तेनैवाऽन्वयः ॥ ६ । भगो मान्य ॥ ७ ।

दमादयोऽस्तेयादयश्च सर्वेषां प्राणिमात्राणामेते धर्महेतवः । पुण्यकारणानीत्यर्थः । तन्मध्ये शौचं द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरञ्च । बाह्यं मृज्जलाभ्याम्, अन्तर्भावशुद्ध्या । अस्तेयं कायवाङ्मनोभिः परद्रव्याग्रहणम् । अहिंसा कायवाङ्मनोभिः प्राणिमात्रस्यापीडा । अन्यत्पूर्वं व्याख्यातम् ॥ ९ ।

जो लोग नीचवर्ण में उत्पन्न होकर भी श्रुति-स्मृति-विहित पथ पर चलते हैं और धर्मशास्त्र के विरुद्ध अन्न-पानादिक कभी ग्रहण नहीं करते हैं, अधम जाति में जन्म लेने पर भी परस्त्री, परद्रव्य और परद्रोह से पराङ्मुख होकर धर्मानुगामी होते हैं, जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा द्वारा प्राप्त धन से अपना पालन-पोषण करते हैं और द्विजाति के संग वार्तालाप करने में जो सदा संकुचित अङ्ग रहते हैं। आह्वान करने पर, पुकारने पर, जो मुख पर वस्त्र डालकर जय, जीव, भगवन्! नाथ! स्वामिन्! ऐसा कहते हुए द्विजाति के समीप बोलते हैं, जो लोग नित्य ही तीर्थ में स्नान और देव-पूजन किया करते हैं एवं स्वनामकथनपूर्वक द्विजगण को प्रणाम करते हैं तथा दम, दान, दया, क्षमा, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, अचौर्य्य, सत्य और अहिंसा—

आवश्येषु सदोद्युक्ता ये जाता यत्र कुत्रचित् ।
सर्वभोगसमृद्धास्ते वसन्त्यत्र पुरोत्तमे ॥ १० ।
म्लेच्छा अपि सुतीर्थेषु ये मृतानात्मघातकाः ।
विहाय काशीं निर्वाणविश्राणान्तेऽत्र भोगिनः ॥ ११ ।
अन्धन्तमो विशेपुस्ते ये चैवात्महनो जनाः ।
भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः ॥ १२ ।
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता ।
इहाऽपि च परत्राऽपि न शुभान्यात्मघातिनाम् ॥ १३ ।

म्लेच्छा इति । काशीं विहाय सुतीर्थेषु ये मृताः, म्लेच्छा अपि अत्र नैर्ऋते लोके भोगिनः स्युः । आत्मघातेनापि सुतीर्थेषु मरणं भवति तं वारयति । **नात्मघातका** इति । काशीं विहायेत्युक्तं तत्र हेतुगर्भं विशेषणमाह । निर्वाणविश्राणमिति । निर्वाणं कैवल्यं विश्राणं फलं यस्याः । निर्वाणं वा विश्राणयति ददातीति सा तथा, ताम् । तन्मरणस्य मोक्षहेतुत्वादिति भावः ॥ ११ ।

नात्मघातका इत्येतत्प्रपञ्चयति । अन्धन्तमो विशेयुस्त इत्यादिना ॥ १२ ।

उपसंहरति । **आत्मघात** इति । विपश्चिता इत्यनेन अविपश्चितां क्षत्रियादीनां प्रयागादावात्मघातोऽनुमन्यते । तथा चोक्तं भगवता युधिष्ठिरं प्रति—

न लोकवचनात्तात न वेदवचनादपि ।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति ॥
ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते प्रयागमरणेन वा ।
अथवा स्नानमात्रेण गोमत्यां कृष्णसन्निधौ ॥ इति ।

विपक्षे बाधकमाह । **इहाऽपि** चेति ॥ १३ ।

जो सब प्राणिमात्र के लिए धर्म के कारण हैं एवं अवश्यकर्त्तव्य धर्म में जो लोग सदा उद्योगी बने रहते हैं, वे चाहे कहीं भी (नीच जाति में) क्यों न जन्म लें, पर वे सब, सम्पूर्ण भोगों से परिपूर्ण होकर इस उत्तम नगर में निवास करते हैं ॥ ४-१० ।

म्लेच्छगण भी यदि मुक्तिदायिनी काशी को छोड़कर दूसरे किसी उत्तम तीर्थ में बिना आत्मघात किए मरे, तो वे भी यहाँ पर भोग पाते हैं ॥ ११ ।

जो लोग आत्मघाती होते हैं, वे अन्धतम नामक नरक में प्रवेश करते हैं, तदनन्तर सहस्रों नरक का भोग करके ग्रामवासी सूकर होते हैं, अतएव विद्वान् को चाहिए कि कदापि आत्महत्या न करे; क्योंकि आत्महिंसकों (आत्मघातियों) को इस लोक और परलोक में भी शुभ-गति नहीं प्राप्त होती ॥ १२-१३ ।

यथेष्टमरणं केचिदाहुस्तत्त्वावबोधकाः ।
प्रयागे सर्वतीर्थानां राज्ञि सर्वाभिलाषदे ॥ १४ ।
अन्त्यजा अपि ये केचिद्दयाधर्मानुसारिणः ।
परोपकृतिनिष्ठास्ते वसन्त्यत्र तु सत्तमाः ॥ १५ ।
अस्य स्वरूपं वक्ष्यावो दिक्पतेः क्षणतः शृणु ।
मध्ये विन्ध्याटविपुरापक्कणस्थजनाग्रणीः ॥ १६ ।
पल्लीपतिरभूदुग्रः पिङ्गाक्ष इति विश्रुतः ।
निर्विन्ध्यायास्तटे शूरः क्रूरकर्मपराङ्मुखः ॥ १७ ।
घातयेद्दूरसंस्थोऽपि यः पान्थपरिपन्थिनः ।
व्याघ्रादीन् दुष्टसत्त्वांश्च स हिनस्ति प्रयत्नतः ॥ १८ ।

तदेवाह । **यथेष्टमरणमिति** । यद्वा क्वापीत्येतत् संकोचयति । यथेष्टमरणमिति ॥ १४-१५ ।

अस्य दिक्पतेरिति सम्बन्धः । मध्येविन्ध्याटवीति पुरा पूर्वं मध्ये विन्ध्याटवि विन्ध्यसम्बन्धिन्या अटव्या मध्ये पिङ्गाक्षः पिङ्गे अक्षिणी यस्य स पिङ्गाक्ष इति विश्रुतो विख्यातोऽभूत् आसीदित्यन्वयः । कीदृक् पक्कणस्थजनाग्रणीः, पक्कणः शबरालयः, तत्स्थःजनानां श्रेष्ठः ॥ १६ ।

पल्लीपतिः शबरालयानां पतिश्च । उग्रः तीव्रपराक्रमः । तं विशिनष्टि । **निर्विन्ध्याया** इत्यादि सार्धपञ्चश्लोकैः । निर्विन्ध्या काचिन्नदी ॥ १७ ।

पान्थपरिपन्थिनः पथिकपरिरोधकान् ॥ १८ ।

कोई-कोई तत्त्वज्ञानी केवल समस्त तीर्थों के राजा (तीर्थराज) और सब किसी के अभिलाष के दाता केवल प्रयाग में इच्छानुसार मरण की (आत्म-त्याग की) बात कहते हैं ॥ १४ ।

दया-धर्म के अनुयायी और परोपकार में निष्ठा रखनेवाले म्लेच्छ लोग भी (परकाल में) श्रेष्ठरूप से इस लोक में निवास करते हैं ॥ १५ ।

अब इस दिक्पाल का वृत्तान्त-वर्णन करते हैं, (सावधानी के साथ) क्षणमात्र सुनो । पूर्वकाल में विन्ध्याचल के जंगल में निर्विन्ध्या नामक नदी के तीर पर शबरों के गाँव के स्वामी और शबरालय स्थित जनों के मुखिया, बड़ा पराक्रमी पिंगाक्ष नाम का (एक व्यक्ति) प्रसिद्ध था, वह बड़ा शूर होने पर भी क्रूर-कर्मों से सदा विमुख ही रहता था ॥ १६-१७ ।

वह दूर रहने पर भी पथिकगण के परिरोधक व्याघ्र आदि दुष्ट जीवों को प्रयत्नपूर्वक बध करता था । यद्यपि वह जीविका-निर्वाह व्याध-धर्म से ही करता

जीवेन्मृगयुधर्मेण तत्रापि करुणापरः।
न विश्वस्तान् पक्षिमृगान्न सुप्तान्न व्यवायिनः ॥ १९ ।
न तोयगृध्नून्न शिशून्नान्तर्वत्नित्वलक्षणान् ।
स घातयति धर्मज्ञो जातिधर्मपराङ्मुखः ॥ २० ।
श्रमातुरेभ्यः पान्थेभ्यः स विश्रामं प्रयच्छति ।
हरेत् क्षुधां क्षुधार्तानामुपानद्दोऽनुपानहे ॥ २१ ।
मृगत्वचोऽतिमृदुला विवस्त्रेभ्योऽतिसर्जति ।
अनुव्रजति कान्तारे प्रान्तरे पथिकान् पथि ॥ २२ ।
न जिघृक्षति तेभ्योऽर्थमभयञ्चेति यच्छति ।
आविन्ध्याटवि मे नाम ग्राह्यं दुष्टभयापहम् ॥ २३ ।

करुणापरो दयापरः । दयापरत्वमेव दर्शयति । न विश्वस्तानिति । व्यवायिनो ग्राम्यधर्मवतः ॥ १९ ।

अन्तर्वत्नित्वं गुर्विणीत्वं लक्षणं चिह्नं येषां तान् न घातयतीत्यन्वयः । ह्रस्वश्छान्दसः ॥ २० ।

उपानद्रहिते पथिके उपानद्दः पादत्राणदः ॥ २१ ।

कान्तारे दुर्गमवर्त्मनि ॥ २२ ।

आविन्ध्याटवि विन्ध्याटवीपर्यन्तम् ॥ २३ ।

था; तथापि उस (वृत्ति) में भी वह बड़ा ही दयालु रहता था। विश्वास से परचे, सोते, पालतू, जल पीते हुए, बच्चे और गर्भलक्षणयुक्त पशु-पक्षियों को दूसरे शबर-जाति के लोगों के समान धर्म से पराङ्मुख होकर वह कभी नहीं मारता था ॥ १८-२० ।

वह व्याध थके-माँदे पथिकों को विश्राम देता, भूखों को भोजन और बिना पदत्राण (जूता) वालों को उपानत् (जूता) भी देता था ॥ २१ ।

जिनके पास वस्त्र नहीं (रहते थे), उन्हें कोमल हरिण की त्वचा (खाल) समर्पण करता रहता था और उस प्रान्त के दुर्गम मार्ग में पथिकगण के साथ-साथ जाकर पहुँचा देता था ॥ २२।

उन लोगों से कुछ धन लेने की भी इच्छा नहीं करता था, वरन् उन पथिकों को अभयदान देकर कह दिया करता था कि समस्त विन्ध्याटवी के बीच चाहे जहाँ हो, मेरा नाम ले लेने से दुष्ट लोगों का कोई भय नहीं रहेगा ॥ २३ ।

नित्यं कार्पटिकान् सर्वान् स पुत्रेण प्रपश्यति ।
तेऽपि च प्रतितीर्थं हितमाशीर्वादयन्ति वै ॥ २४ ।
इति तिष्ठति पिङ्गाक्षे साटवो नगरायिता ।
अध्वनीनेऽध्वगान् कोऽपि न रुणद्धिससाध्वसः ॥ २५ ।
कदाचित्तत्पितृव्येण समीपग्रामवासिना ।
श्रुतः कार्पटिकानां हि सार्थः सार्थो महास्वनः ॥ २६ ।
लुब्धकस्तद्वने लुब्धः क्षुद्रस्तन्निधनोद्यतः ।
स रुरोध तमध्वानमग्रे गत्वाऽतिगूढवत् ॥ २७ ।
तदायुष्यस्य शेषेण पिङ्गाक्षो मृगयां गतः ।
तस्मिन्नरण्ये तन्मार्गं निकषाप्युषितो निशि ॥ २८ ।

आशीर्वादयन्ति आशिषः प्रयच्छन्ति ॥ २४ ।

नगरायिता नगरवज्जाता चेत्यर्थः । अध्वनीनेऽध्वगामिनीत्यर्थः । अध्वनीन इति पाठे शौल्किक इत्यर्थः । यद्वा समर्थोऽध्वनीनोऽध्वगो दुर्बलानध्वगान्न बाधत इत्यर्थः ॥ २५ ।

तत्पितृव्येण पिङ्गाक्षपितृभ्रात्रा ताराक्षेण । तारे उच्चे अक्षिणी यस्येति व्युत्पत्तेः । सार्थः समूहः । सार्थोऽर्थसहितः ॥ २६ ।

लुब्धक इति । तन्निधनोद्यत इत्यत्र तच्छब्दः कार्पटिकविषयः सार्थविषयो वा ॥ २७ ।

निकषाशब्दः समीपविषयः । तन्मार्गस्य समीप इत्यर्थः । अध्युषितः उवास ॥ २८ ।

वह सर्वदा समस्त कार्पटिकों को (वस्त्रधारी गोंसाइं) पुत्र के समान देखता था और वे सब भी प्रति तीर्थ-स्थानों में उसके लिए आशीर्वाद दिया करते थे ॥ २४ ।

पिंगाक्ष के भय से कोई दुष्ट-पथिक अथवा अन्य कोई, पथिक लोगों पर आक्रमण नहीं कर सकता था ॥ २५ ।

एक बार समीप के गाँव में रहने वाले उस पिंगाक्ष के पितृव्य (चाचा) ने धन से सम्पन्न चीर-धारी तपस्वियों के झुण्ड का बड़ा कोलाहल सुन लिया ॥ २६ ।

उस क्षुद्र लुब्धक ने उनके धन के लालच से उस झुण्ड को मारने का उद्योग (तैयारी) किया । उसके चाचा ने आगे जाकर गुप्तरूप से उन सबके मार्ग को रोक दिया ॥ २७ ।

उन पथिकों की आयु अवशिष्ट थी, इसीलिए पिंगाक्ष मृगया (शिकार) के कारण उसी वन में उसी मार्ग के समीप जाकर रात्रि में टिका था ॥ २८ ।

परप्राणद्रुहां पुंसा न सिद्ध्येयुर्मनोरथाः ।
विश्वं कुशलितेनैतद्विश्वेशपरिरक्षितम् ॥ २९ ।
न चिन्तयेदनिष्टानि तस्मात् कृष्टिः कदाचन ।
विधिदृष्टं यतो भावि कलुषं भावि केवलम् ॥ ३० ।
तस्मादात्मसुखं प्रेप्सुरिष्टानिष्टं न चिन्तयेत् ।
चिन्तयेच्चेत्तदा चिन्त्यो मोक्षोपायो न चेतरः ॥ ३१ ।
व्युष्टायामथ यामिन्यामभूत् कोलाहलो महान् ।
घातयध्वं पातयध्वं नग्नयध्वं द्रुतं भटाः ॥ ३२ ।
मा मारयध्वं त्रायध्वं भटाः कार्पटिका वयम् ।
अनायासं लुण्ठयध्वं नयध्वं च यदस्ति नः ॥ ३३ ।

तत्र कारणमाह । **परप्राणेति** । एतद्विश्वमिति सम्बन्धः । यस्माद्विश्वेशरक्षितं जगत्, तस्मात् कुशलीत्यन्वयः ॥ २९ ।

कृष्टिर्विद्वान् । केवलं कलुषं भाव्यनिष्टचिन्तने इति शेषः ॥ ३० । फलितमाह । तस्मादिति ॥ ३१ ।

व्युष्टायां प्रभातायाम् । कोलाहलमाह । घातयध्वमिति सार्धत्रिभिः ॥ ३२-३३ ।

दूसरों के प्राणापहारी पुरुष के मनोरथ कभी सिद्ध नहीं होते; क्योंकि जगदीश्वर से परिरक्षित यह जगत् उन्हीं की कृपा से कुशलान्वित रहता है ॥ २९ ।

इसलिए विद्वान् व्यक्ति कभी किसी की अनिष्ट चिन्ता न करें; क्यों कि विधाता ने जो कुछ स्थिर कर रखा है, वही होता है। अनिष्ट-चिन्ता करने से केवल पाप का ही संचय होता है ॥ ३० ।

अतएव अपने लिए सुख की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को इष्ट और अनिष्ट की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि (मन न माने), यदि कुछ चिन्ता ही करनी है, तो मोक्ष के उपाय का ही चिन्तन करना चाहिए। दूसरा कुछ भी न सोचे ॥ ३१ ।

रात्रि बीतने और प्रभात होने पर बड़ा भारी कोलाहल होने लगा—'अरे भटगण ! मारते जाओ, गिराते जाओ, झट पट छोड़कर (वस्त्र छीनकर) नंगा करते जाओ' ॥ ३२ ।

'अरे भटगण ! हम लोग चिरधारी गोसाईं हैं, हम लोगों को मत मारो, हमारी रक्षा करो। विना प्रयास हमें लूट लो, हम सब के पास जो कुछ है, लेते जाओ ॥ ३३ ।

वयं पान्था अनाथाः स्मो विश्वनाथपरायणाः ।
सनाथास्तेन दूरं सनाथतां पथिकोऽपरः ॥ ३४ ।
वयं पिङ्गाक्षविश्वासादस्मिन्मार्गेऽकुतोभयाः ।
यातायातं सदा कुर्मः स च दूर इतो वनात् ॥ ३५ ।
इति श्रुत्वाऽथ पिङ्गाक्षो भटः कार्पटिकेरितम् ।
दूरान्मा भैष्ट मा भैष्ट ब्रुवन्निति समागतः ॥ ३६ ।
तत्कर्मसूत्रैराकृष्टो भिल्लः कार्पटिकप्रियः ।
तूर्णं तदायुष्यमिव तत्रोपस्थितवान् क्षणात् ॥ ३७ ।
कोऽयं कोऽयं दुराचारः पिङ्गाक्षे मयि जीवति ।
उल्लुलुण्ठयिषुः पान्थान् प्राणलिङ्गसमान्मम ॥ ३८ ।

तत्र तेन विश्वनाथेन वयं सनाथाः, स तु दूरम् । नाथतां स्वत्राणार्थं याचतामस्माकं कोऽपरो नाथ इत्यर्थः । अयम्भावः—यद्यपि विश्वनाथः सर्वगतः, तथाप्यस्मद्दुरदृष्टवशाद्दूरस्थित इव भातीत्यर्थः ॥ ३४ ।

किञ्च वयमिति ॥ ३५ ।

भिल्लः पिङ्गाक्षः । आयुरेवायुष्यम् ॥ ३७ ।

उत् उन्मुच्य अथवा उन्मूल्य मारयित्वेति यावत् । उल्लुलुण्ठयिषुः लुण्ठितुमिच्छुः ।

हम लोग विश्वनाथ के सेवक अनाथ पांथगण हैं, विश्वनाथ ही हम सब के नाथ हैं; हमारे ही दुरदृष्ट के कारण मानो वह भी इस घड़ी दूरवर्ती हो गए हैं। हाय ! इस अरण्य-पथ में प्राण-भिक्षुक हम लोगों का और कौन नाथ है ? ॥ ३४ ।

हम लोग तो पिंगाक्ष के भरोसे सदैव आया-जाया करते हैं। पर (आज) वह भी इस वन से दूर चला गया है ॥ ३५ ।

वह योद्धा पिंगाक्ष चीरधारी पथिकों का यह वचन सुनते ही, दूर से ही, "तुम लोग मत डरो, मत डरो" यह कहता हुआ आने लगा ॥ ३६ ।

वह तापसप्रिय भिल्ल शबर उन सबके कर्मसूत्र में मानो बद्ध होकर उनके मूर्तिमान् आयुष्य के सदृश क्षणभर में वहाँ पर आकर उपस्थित हुआ ॥ ३७ ।

अरे यह कौन है ? यह कौन दुराचारी है ? जो मुझ पिंगाक्ष के जीते जी मेरे प्राण के समान इन पथिकों का धन लूट लेने का अभिलाषी हुआ है ? ॥ ३८ ।

इति तद्वाक्यमाकर्ण्य ताराक्षस्तत्पितृव्यकः ।
धनलोभेन पिङ्गाक्षे पापं पापो व्यचिन्तयत् ॥ ३९ ॥
कुलधर्मं व्यपास्यैष वर्तते कुलपांसनः ।
चिरं चिन्तितमद्यामुं घातयिष्याम्यसंशयम् ॥ ४० ॥
विचार्येति स दुष्टात्मा भृत्यानाज्ञापयत् क्रुधा ।
आदावेनं घातयन्तु ततः कार्पटिकानिमान् ॥ ४१ ॥
ततोऽयुध्यन् दुराचारास्तेनैकेन च तेऽखिलाः ।
[1]यथाकथञ्चित्तानानयत् यत्स च स्वावसथान्तिकम् ॥ ४२ ॥

प्राणलिङ्गसमान् जङ्गमैर्धार्यमाणशिवलिङ्गतुल्यान् ॥ ३८-३९ ॥

कुलपांसनः कुलदूषणः । कुलपांसुल इति क्वचित्तत्रापि स एवार्थः । इति चिरं मया चिन्तितं ध्यातम्, अतोऽद्याऽमुं घातयिष्यामीत्यर्थः ॥ ४० ।

क्रुधा क्रोधेन ॥ ४१ । तान् कार्पटिकान् । स पिङ्गाक्षः । स्वावसथान्तिकं स्वगृह-समीपम् ॥ ४२ ।

पिंगाक्ष का चाचा पापिष्ठ ताराक्ष, पिंगाक्ष के इन वाक्यों को सुन, धन-लोभ के वश होकर पिंगाक्ष के ही प्रति पाप-चिन्ता करने लगा ॥ ३९ ।

"यह कुल पांसुन अपना कुल-धर्म परित्याग कर वर्तमान है । बहुत दिनों से मैंने विचार किया था कि आज मैं इसे अवश्य ही मार डालूँगा" ॥ ४० ।

इस प्रकार विचार करता हुआ वह दुष्टात्मा क्रोध से अपने भृत्यगण को आज्ञा देने लगा कि पहले तुम लोग इस पिंगाक्ष को ही मारो, तत्पश्चात् इन कार्पटिक तापसों का भी वध करो ॥ ४१ ।

इस बात पर (इस आदेश को सुनकर) ताराक्ष के दुराचारी सब भृत्यगण मिलकर उस अकेले पिंगाक्ष से साथ युद्ध करने लगे । वह पिंगाक्ष भी युद्ध करते-करते किसी प्रकार से उन पथिकों को अपने गाँव के समीप ले आया; परन्तु उस अकेले योद्धा का धनुष-बाण और कवच, उन भटों के शरजाल से कट गया (भला अनेक के

---

१. अक्षराधिक्यमार्षम् ।

आच्छिन्नं हि धनुर्बाणं छिन्नं सन्नहनं शरैः।
असूदयिष्यमेतांस्तदभविष्यं यदीश्वरः ॥ ४३ ।
अभिलष्यन्निति प्राणानत्याक्षीत् स परार्थतः।
तेऽपि कार्पटिकाः प्राप्तास्तत्पल्लीं गतसाध्वसाः ॥ ४४ ।
या मतिस्त्वन्तकाले स्याद् गतिस्तदनुरूपतः।
दिगीशत्वमतः प्राप्तो निर्ऋत्यां नैर्ऋतेश्वरः ॥ ४५ ।
इत्थमस्य स्वरूपं ते आवाभ्यां समुदीरितम्।
एतस्योत्तरतो लोको वरुणस्यायमद्भुतः ॥ ४६ ।

आच्छिन्नमिति। यद्यद्यहं ईश्वरः समर्थोऽभविष्यं भूतः स्यां तत् तदा शरैराच्छिन्नं धनुर्बाणं धनुश्च बाणाश्च धनुर्बाणम्। द्वन्द्वैकवद्भावः। हिशब्दः पादपूरणे। यथा स्यात्तथा छिन्नं सन्नहनं छिन्नं कवचं च यथा स्यात्तथा एतान् असूदयिष्यं सूदितवान् स्यामित्यर्थः। यद्वा हि यस्मादेतैर्मम सरैर्धनुर्बाणं छिन्नं तथा सन्नहनं छिन्नम्, अतो यद्यहमीश्वरो भूतः स्याम्, एतान् निषूदितवान् स्यामित्यर्थः ॥ ४३ ।

इत्यभिलष्यन् अभिलषन्। दैवादिकस्य वा रूपम्। स पिङ्गाक्षः परार्थतः परेषां निमित्तं प्राणानत्याक्षीत् त्यक्तवानित्यर्थः। तत्पल्लीं तस्य पिङ्गाक्षस्य पल्लीमालयं पक्कणमिति यावत्। गतसाध्वसाः विगतत्रासाः ॥ ४४ ।

या मतिरिति। मरणकाले या मतिर्यादृक् भावः स्यात्, तदनुरूपस्तादृग्भावानुसारेण गम्यत इति गतिः फलं स्यादिति यतोऽतो नैर्ऋत्यां दिशि भवानां नैर्ऋत्यानामीश्वरः। स दिगीश्वरत्वं प्राप्तवानित्यर्थः। यलोप आर्षः। अण्प्रत्ययान्तरूपं वा। तदुक्तं भगवता—

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ४५ ।

नैर्ऋतलोकमुपसंहरन् वरुणलोकं निर्दिशति। **इत्थमिति** ॥ ४६ ।

साथ एक का युद्ध कब तक चल सकता है?) यदि मैं राजा होता, तो इन सबको निर्मूल कर डालता ॥ ४२-४३ ।

ऐसी ही अभिलाषा करते हुए उस व्याध ने पराये के अर्थ अपना प्राण-परित्याग किया और वे सब कार्पटिक भी पिंगाक्ष के गाँव पर पहुँच कर निर्भय हो गये ॥ ४४ ।

अन्तकाल (मरण-समय) में जैसी बुद्धि रहती है, परलोक में उसी के अनुरूप गति मिलती है। इसी कारण से उस पिंगाक्ष ने नैर्ऋतों का राजा होकर निर्ऋति (दक्षिण) दिशा के दिक्पाल पद को प्राप्त किया ॥ ४५ ।

हम दोनों ने यह नैर्ऋतेश्वर का स्वरूप (वृत्तान्त) तुम से कह सुनाया, इसके उत्तर में यह वरुण का अद्भुत लोक है ॥ ४६ ।

कूपवापीतडागानां कर्तारो निर्मलैर्धनैः ।
इह लोके महीयन्ते वारुणे वरुणप्रभाः ॥ ४७ ।
निर्जले जलदातारः परसन्तापहारिणः ।
अर्थिभ्यो ये प्रयच्छन्ति चित्रच्छत्रकमण्डलून् ॥ ४८ ।
पानीयशालिकाः कुर्युर्नानोपस्करसंयुताः ।
दद्युर्धर्मघटांश्चापि सुगन्धोदकपूरितान् ॥ ४९ ।
अश्वत्थसेकं ये कुर्युः पथि पादपरोपकाः ।
विश्रामशालाकर्तारः श्रान्तसन्तापनोदकाः ॥ ५० ।
ग्रीष्मोष्महन्तिमायूरपिच्छादिरचितान्यपि ।
चित्राणि तालवृन्तानि वितरन्ति तपागमे ॥ ५१ ।

कूपेति । कूपादीनां कर्ता इहाऽस्मिन् वारुणे लोके महीयते इत्यन्वयः । तत्र कूपोऽन्धुः । 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा' इत्यमरः । वापी दीर्घिका । वापी तु दीर्घिकेत्यमरः । तडागः पद्माकरः । "पद्माकरस्तडागोऽस्त्री कासारः सरसी सरः' इत्यमरः ॥ ४७ ।

निर्जले निर्गतं जलं यस्मात् तस्मिन् प्रदेश इति शेषः ॥ ४८ ।

पानीयशालिकाः प्रपाः । नानोपस्कराणि विचित्रजलपानभाजनवासार्थलवङ्ग-कर्पूरादीनि । तैः संयुक्ताः ॥ ४९-५० ।

ग्रीष्मोष्महन्ति । निदाघकालजनिततापहन्ति तालवृन्तानि तालादिपत्ररचित-व्यजनानीत्यर्थः । धर्मघटान् वितरन्ति प्रयच्छन्ति । तपागमे ग्रीष्मागमे । ग्रीष्म उष्ण-कालः । 'निदाघ उष्णोपगम उष्ण उष्मागमस्तपः' इत्यमरः ॥ ५१ ।

जो लोग न्याय से उपार्जित धन द्वारा कुआँ, बावली, तालाब इत्यादि का निर्माण कराते हैं, वे लोग इस वरुण-लोक में वरुण के सदृश होकर सादर निवास करते हैं ॥ ४७ ।

निर्जल स्थान में जो जलदान करते हैं और दूसरों का सन्ताप-हरण करते हैं, याचकों को उत्तम छाता और लोटा (इत्यादि) दान करते हैं, जो लोग अनेक (भक्ष्य) सामग्री के सहित पौंसरा चलाते हैं और सुगन्धित जल (गुलाब आदि) से परिपूर्ण धर्मघट दान करते हैं, जो लोग पीपल के वृक्ष को सींचते हैं, मार्ग के पास में वृक्षों को रोपते (वृक्षारोपण) हैं, लखराँव (लगाते हैं), मार्ग में थके पथिकों की थकावट दूर करने के लिए विश्रामशाला बनवा देते हैं, श्रान्तों का सन्ताप दूर करते हैं, जो लोग ग्रीष्मकाल में (गर्मी में) उष्णता-निवारक मोर के पंख इत्यादि से बने चित्र-विचित्र पंखा का वितरण करते हैं, ग्रीष्म-ऋतु में जो लोग रस-युक्त सुगन्धित और

रसवन्ति सुगन्धीनि हिमवन्ति तपर्तुषु ।
विश्राणयन्ति वा तृप्तिपानकानि प्रयत्नतः ॥ ५२ ।
इक्षुक्षेत्राणि संकल्प्य ब्राह्मणेभ्यो ददत्यपि ।
तथा नानाप्रकारांश्च विकारानैक्षवान् बहून् ॥ ५३ ।
गोरसानां प्रदातारस्तथा गोमहिषीप्रदाः ।
धारामण्डपकर्तारश्छायामण्डपकारिणः ॥ ५४ ।
देवालयेषु ये दद्युर्बहुधारागलन्तिकाः ।
तीर्थे वा करहर्तारस्तीर्थमार्गावनेजकाः ॥ ५५ ॥
अभयं ये प्रयच्छन्ति भयार्तोद्यतपाणयः ।
निर्भया वारुणे लोके ते वसन्ति लसन्ति च ॥ ५६ ।

तपर्तुषु ग्रीष्मर्तुषु । आतृप्तिपानकानि तृप्तिपर्यन्तं प्रधानकानीत्यर्थः ॥ ५२ । ऐक्षवान् इक्षुजन्यान् ॥ ५३ ।

धारामण्डपाः जलयन्त्रगृहाः ॥ ५४ ।

गलन्तिका गौडे झरा इति प्रसिद्धाः । तीर्थमार्गावनेजकाः तीर्थमार्गशोधकाः सम्मार्जका इत्यर्थः ॥ ५५ ।

भयार्तेभ्य उद्यताः पाणयो येषां ते तथा । लसन्ति च क्रीडन्ति चेत्यर्थः ॥ ५६ ।

शीतल पानक दान करते हैं, गुलाब जल और बर्फ डाला हुआ शर्बत देते हैं, जो लोग ईख के खेतों को संकल्प करके ब्राह्मणों को दान कर देते हैं तथा और भी नाना प्रकार के बहुत से ईख से बने हुए पदार्थों, जैसे मिश्री, चीनी, गुड़, शक्कर, चोटा, जूसी इत्यादि को दान देते हैं, जो लोग गोरसों (जैसे घी-दूध-दही-मट्ठा आदि के दाता हैं, अथवा गौ, भैंस के दानकर्त्ता हैं, यों ही जो धारा-मण्डप (फुहारा) बनवा देनेवाले हैं तथा छाया-मण्डप के कर्ता हैं, देवालयों में जो लोग बहु-धारा की (अनेक छेद से जल भरने वाली) जलधरी चढ़ा देते हैं और जो लोग तीर्थों से कर (टैक्स) उठवा देते हैं एवं तीर्थों के मार्गों का परिष्कार कर देते हैं, (यों ही) भयातुरों के प्रति जो लोग हाथ उठाकर अभय-दान करते हैं, वे सब इस वरुण-लोक में निर्भय होकर निवास करते हुए क्रीड़ा करते हैं ॥ ४८-५६ ।

विपाशयन्ति ये पुण्या दुर्वृत्तैः कण्ठपाशितान्।
ते पाशपाणेर्लोकेऽस्मिन् निवसन्त्यकुतोभयाः ॥ ५७ ।
नौकाद्युपायैर्नद्यादौ पान्थान् ये तारयन्त्यपि।
तारयन्त्यपि दुःखाब्धेस्तत्र नागरिका द्विज ॥ ५८ ।
घट्टान् पुण्यतटिन्यादेर्बन्धयन्ति शिलादिभिः।
तोयार्थिसुखसिद्ध्यर्थं ये नरास्तेऽत्र भोगिनः ॥ ५९ ।
वितर्षयन्ति ये पुण्यास्तृषितान् शीतलैर्जलैः।
तेऽत्र वै वारुणे लोके सुखसन्ततिभागिनः ॥ ६० ।

विपाशयन्ति विगतपाशान् कुर्वन्ति मोचयन्तीत्यर्थः। कण्ठपाशितान् कण्ठेषु पाशादिभिर्बद्धानित्यर्थः। पाशपाणेर्वरुणस्य। प्रचेता वरुणः पाशीत्यमरः। अकुतोभयाः न विद्यते कुतश्चिद् भयं येषाम्, ते तथा ॥ ५७ ।

नौकादीत्यादिपदेन उडुपादयो गृह्यन्ते। अपिः समुच्चयवाची भिन्नक्रमे। दुःखार्णवादपीत्यर्थः ॥ ५८ ।

तोयार्थेति पाठे तोयनिमित्तसुखसिद्ध्यर्थमित्यर्थः ॥ ५९ ।

वितर्षयन्ति विगततृष्णान् कुर्वन्ति। सुखसन्ततिः सुखपरम्परा तद्भागिनः ॥ ६० ।

दुर्वृत्त लोग, जिनके गले में फाँसी लगा देते हैं, उनकी फाँसी छुड़ा देनेवाले (पुण्यात्मा लोग) इस पाश-पाणि (वरुण) के लोक में अकुतोभय होकर अवस्थिति करते हैं ॥ ५७ ।

हे द्विज ! जो लोग पथिक-गण को नौका आदि उपायों से नदी को पार उतरवा देते हैं, अथवा दुःख-सागर से ही किसी प्रकार उत्तीर्ण करा देते हैं, वे लोग इस वरुण-पुरी में नागरिक (पुरवासी) होकर निवास करते हैं ॥ ५८ ।

जो नर जलार्थी लोगों की सुविधा के लिए शिला इत्यादि से पवित्र नदी आदि में घाटों को बँधवा देते हैं, वे सब इस वरुणलोक में भोग करते हैं ॥ ५९ ।

जो पुण्यात्मा लोग पिपासितों की प्यास ठंढे जल से दूर करते हैं, वे यहाँ वरुण लोक में सुख-सन्तति के भागी होते हैं ॥ ६० ।

जलाशयानां सर्वेषामयमेकतमः पतिः ॥
प्रचेता यादसां नाथः साक्षी सर्वेषु कर्मसु ॥ ६१ ।
अस्योत्पत्तिं शृणु पतेर्वरुणस्य महात्मनः ।
आसीन्मुनिरमेयात्मा कर्दमस्य प्रजापतेः ॥ ६२ ।
शुचिष्मानिति विख्यातस्तनयो विनयोचितः ।
स्थैर्यमाधुर्यधैर्याद्यैर्गुणैरुपचितो हितः ॥ ६३ ।
अच्छोदे सरसि स्नातुं स गतो बालकैः सह ।
जलक्रीडनसंसक्तं शिशुमारोऽहरच्च तम् । ६४ ।

एकतमो मुख्यतमः । यादसां जलजन्तूनाम् । साक्षी सर्वेषु कर्मस्विति । तदुक्तम्—

आदित्यचन्द्रावनिलो नलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति जनस्य वृत्तम् ॥ इत्यादि ॥ ६१ ।

अच्छोदे निर्मलोदके सरसि पद्माकरे । यद्वा अच्छोदानामाग्निष्वात्तानां पितॄणां मानसी कन्या उत्थितमच्छोदम् । तथा च पितृकल्पे हरिवंशे—

एतेषां मानसी कन्या अच्छोदानामविश्रुता ।
अच्छोदं नाम तद्दिव्यं सरो यस्याः समुत्थितम् ॥ इति ।

शिशुं मारयतीति शिशुमारो जलचरविशेषः । तं शुचिष्मन्तम् ॥ ६४ ।

यही जल-जन्तुओं के स्वामी प्रचेता (वरुण) समग्र जलाशयों के मुख्यतम अधिपति और सब कर्मों के साक्षी (देव) हैं ॥ ६१ ।

(सखे) इस महात्मा लोकपाल वरुण की उत्पत्ति सुनो—कर्दम प्रजापति का शुचिष्मान् मुनि नाम से विख्यात एक पुत्र था । वह अप्रमेय बुद्धि, अति विनीत एवं स्थिरता, मधुरता, धीरता आदि गुणों से सम्पन्न था ॥ ६२–६३ ।

एक बार वह बालकों के साथ अच्छोद नामक सरोवर में स्नान करने गया । जल-क्रीड़ा-परायण उस मुनि-कुमार का शिशुमार (सूँइस-जल जंतु विशेष) ने हरण कर लिया ॥ ६४ ।

ततस्तस्मिन्मुनिसुते हृतेऽत्याहितशंसिभिः ।
तैः समागत्य शिशुभिः कथितं तत्पितुः पुरः ।। ६५ ।
हरार्चनोपविष्टस्य समाधौ निश्चलात्मनः ।
श्रुतबालविपत्तेश्च चचाल न मनो हरात् ।। ६६ ।
अधिकं शीलयामास स सर्वज्ञं त्रिलोचनम् ।
पश्यन् शम्भोः समीपे स भुवनानि चतुर्दश ।। ६७ ।
नानाभूतानि भूतानि ब्रह्माण्डान्तर्गतानि च ।
चन्द्रसूर्यर्क्षताराश्च पर्वतान् सरितो द्रुमान् ।। ६८ ।
समुद्रानन्तरीयाणि ह्यारण्यानीस्सरांसि च ।
नानादेवनिकायांश्च बह्वीर्दिविषदां पुरी ।। ६९ ।
वापीकूपतडागानि कुल्याः पुष्करिणीर्बहु ।
एकस्मिन् क्वापि सरसि जलक्रीडापरायणान् ।। ७० ।

ततस्तदनन्तरं तस्मिन् सरसि मुनिसुते हृते सत्यर्थाच्छिशुमारेणेति शेष इति वा । तैः शिशुभिः समागम्य तत्पितुस्तस्य शुचिष्मतः पितुः कर्दमस्य पुरोऽग्रतः कथितमित्यर्थः । पितुः पुरस्तद्धरणमिति वा । कथम्भूतैः अत्याहितशंसिभिः अतिशयेनाहितं अत्याहितमत्यनिष्टमित्यर्थः । तच्छंसितुं कथितुं शीलं येषां तैरिति ।। ६५ ।

श्रुतबालविपत्तेः श्रुता बालविपत्तिर्येन स तथा तस्य मनोऽन्तःकरणम् । हराद् विश्वेश्वरात् ।। ६६ ।

अधिकमिति । अधिकं यथा स्यात्तथा शीलयामास चिन्तयामासेत्यर्थः । तेषां मध्ये इत्यतः प्राक्तनानां द्वितीयान्तानां पदानां पश्यन् शीलयामासेत्यनेनैवाऽन्वयः ।। ६७ ।

उस मुनि-शिशु के हृत हो जाने पर अनिष्ट-भाषक उसके साथी ऋषि-बालकों ने आकर उसके पिता कर्दम के आगे उस वृत्तान्त को कहा ।। ६५ ।

शिवपूजन पर बैठे हुए समाधि में निश्चल-चित्त उन कर्दम प्रजापति ने, पुत्र की विपत्ति सुनने पर भी अपने मन को शिव से नहीं हटाया; प्रत्युत वे सर्वज्ञ त्रिलोचन भगवान् का और भी चित्त लगाकर ध्यान करने लगे । ध्यान करते-करते शिव के समीप में चौदहों भुवन, ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत नाना प्रकार के भूत-समूह, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, पर्वत, नदी, वृक्ष, समुद्र, अन्तरीप, अरण्य, सरोवर, नाना देवयोनि, अनेक देवपुरी, बहुतेरी वापी, कूप, तड़ाग, कृत्रिम क्षुद्र नदी (बनौआ नहर), पुष्करिणी (पोखरी) आदि को देखा । उन्हीं के मध्य किसी एक सरोवर में जल-क्रीड़ा में आसक्त,

बहून् मुनिकुमारांश्च मज्जनोन्मज्जनादिभिः ।
करयन्त्रविनिर्मुक्ततोयधाराभिषेचनैः ॥ ७१ ।
करताडितपानीयशब्ददिङ्मुखनादिभिः ।
जलखेलनकैरित्थं संसक्तान् बहुबालकान् ॥ ७२ ।
तेषां मध्ये ददर्शाथ समाधिस्थः स कर्दमः ।
स्वं शिशुं शिशुमारेण नीयमानं सुविह्वलम् ॥ ७३ ।
कयाचिज्जलदेव्याऽथ तस्माच्च क्रूरयादसः ।
प्रसह्य नीत्वोदधये दृष्टवांस्तं समर्पितम् ॥ ७४ ।
निर्भर्त्स्यं सरितां नाथं केनचिद्रुद्ररूपिणा ।
त्रिशूलपाणिनेत्युक्तं क्रोधताम्राननेन च ॥ ७५ ।

इत्थं[1] संसक्तानासक्तान् बहुबालकान् मुनिकुमारांश्च पश्यन्नित्यन्वयः । इत्थमित्युक्तं प्रकारमभिनयेन दर्शयति । करेति । करा एव यन्त्राणि जलनिषेकयन्त्राणि तैर्विनिर्मुक्तास्त्यक्तास्तोयधारास्ताभिरभिषेचनैरभिषेकैरित्यर्थः ॥ ७१ ।

करैस्ताडितानि यानि पानीयानि जलानि तैर्ये शब्दास्तैर्दिङ्मुखनादिभिर्जलखेलनकैर्जलक्रीडनकैश्चेति ॥ ७२ ।

तेषामिति । अथाऽनन्तरं तेषां बालकानां मध्ये शिशुमारेण शिशुं स्वं नीयमानं ददर्श ॥ ७३ ।

तस्माच्च शिशुमारात् कयाचिज्जलदेवतया प्रसह्य हठान्नीत्वा तं शिशुमुदधये समुद्राय समर्पितमिति च दृष्टवानित्यन्वयः ॥ ७४ ।

इत्युक्तम् वक्ष्यमाणम् ॥ ७५ ।

गोता मारते-उतराते हुए और हाथ की पिचकारी से छूटी हुई जलधारा का अभिषेक कराते यों ही पानी में हाथ पटककर दिङ्मुख-निनादी शब्द जल के खेलों में परायण बहुतेरे मुनिकुमार बालकों को देखा ॥ ६९-७२ ।

इसके अनन्तर उन समाधिस्थ कर्दम प्रजापति ने उन बालकों के मध्यवर्ती अत्यन्त विह्वल अपने पुत्र को खींचकर ले जाते हुए शिशुमार को भी देखा ॥ ७३ ।

उसके पीछे कोई जलदेवी उस क्रूर जल-जन्तु के पास से बलपूर्वक उस लड़के को लेकर समुद्र को दे आई, यह भी कर्दम ने देखा ॥ ७४ ।

तत्पश्चात् प्रजापति ने देखा कि किसी एक त्रिशूलधारी रुद्ररूपी व्यक्ति ने क्रोध (रोष) से रक्तमुख होकर सरित्पति की भर्त्सना करते हुए कहा—हे जलाधिप !

---

१. इदं पदत्रयमग्रिमश्लोकस्थम् ।

कुतो जलानामधिप शिवभक्तस्य बालकः ।
प्रजापतेः कर्दमस्य महाभागस्य धीमतः ॥ ७६ ।
अज्ञात्वा शिवसामर्थ्यं भवता चिरमासितः ।
भयत्रस्तेन तद्वाक्यश्रवणात्तमुदन्वता ॥ ७७ ।
बालं रत्नैरलङ्कृत्य बद्ध्वा तं शिशुमारकम् ।
समर्पितं समानीय शम्भुपादाब्जसन्निधौ ॥ ७८ ।
नत्वा विज्ञापयत्तञ्च नापराध्याम्यहं विभो ।
अनाथनाथ विश्वेश भक्तापत्तिविनाशन ॥ ७९ ।
भक्तकल्पतरो शम्भोऽनेनायं दुष्टयादसा ।
अनायि न मया नाथ भवभक्तजनार्भकः ॥ ८० ।
गणेन तेन विज्ञाय शम्भोरथ मनोगतम् ।
पाशेन बद्ध्वा तद्यादः शिशुहस्ते समर्पितम् ॥ ८१ ।

आसितो वासितः । चिरकालमभिव्याप्य बद्ध इति वा । भयेति । उदन्वता समुद्रेण तस्य रुद्ररूपिणो वाक्यश्रवणात् तं बालं रत्नैरलङ्कृत्य शम्भोः पादाब्जसन्निधौ समर्पितमित्यन्वयः । नपुंसकत्वं छान्दसम् । समर्पितमिति भावे वा निष्ठा । पश्यन्निति वाऽन्वयः ॥ ७७-७८ ।

तं शम्भुं नत्वा विज्ञापयद् व्यज्ञापयत् । अडभावस्त्वार्षः । विज्ञापनमाह । नापराध्यामिति । आपत्तिरापत् ॥ ७९ ।

भो शम्भो अनेन दुष्टयादसा अयं बालोऽनायि आनीतो नो मया । मया नानीत इत्यर्थः । हे नाथ हे भव भवस्य तव भक्तजनार्भक इति वा ॥ ८१ ।

महाभाग, बुद्धिमान्, शिवभक्त कर्दम प्रजापति के बालक को इतने समय तक (अपने पास) क्यों रखा है ? क्या तुम्हें शिव का सामर्थ्य ज्ञात नहीं है ? उनकी बातें सुन भय से त्रस्त समुद्र ने उस बालक को रत्न और अलंकार से विभूषित कर एवं उस शिशुमार को बाँध कर महादेव के चरण-सरोज के समीप लाकर समर्पण किया और प्रणाम करके कहा—"हे विभो ! अनाथों के नाथ ! विश्वनाथ ! आप भक्तों के विपत्ति-भंजक हैं। इस विषय में मेरा कोई अपराध नहीं है ॥ ७५-७९ ।

हे भक्तकल्पद्रुम ! शम्भो ! यही दुष्ट जल-जन्तु इस (लड़के) को ले गया था । हे नाथ ! मैं शिव भक्तजन के बच्चे को नहीं (बहा) ले जा सकता" ॥ ८० ।

उस रुद्रगण ने महेश्वर के मनोगत भाव को समझ उस जलजन्तु को पाश से बाँधकर उस शिशु के हाथ में दे दिया ॥ ८१ ।

गृहाणेमं स्वतनयं पार्षदे शङ्कराज्ञया ।
याहि स्वभवनं वत्स ब्रुवतीति स कर्दमः ॥ ८२ ।
समाधिसमये सर्वमिति शृण्वन्नुदारधीः ।
उन्मील्य नयने यावत् प्रणिधानं विसृज्य च ॥ ८३ ।
सम्पश्यते शिशुं तावत् पुरतः समवैक्षत ।
गृहीतशिशुमारं च पार्श्वेऽलङ्कृतकर्णिकम् ॥ ८४ ।
तोयार्द्रकाकपक्षाग्रं कषायनयनाञ्चलम् ।
किञ्चिद्विरुक्षं त्वक्क्षोभं सम्भ्रमापन्नमानसम् ॥ ८५ ।
कृतप्रणाममालिङ्ग्य जिघ्रस्तन्मुखपङ्कजम् ।
पुनर्जातमिवाऽमंस्त पश्यंश्चापि मुहुर्मुहुः ॥ ८६ ।

गृहाणेति सार्धद्वयं वाक्यम् । पार्षदे शङ्करस्याज्ञया शुचिष्मन्तं प्रति हे वत्स ! स्वभवनं याहि इति ब्रुवति सति तथा कर्दमं प्रति गृहाणेमं स्वं तनयमिति च ब्रुवति सति कर्दमः समाधिसमये इति पूर्वोक्तं शृण्वन् प्रणिधानमेकाग्रतां समाधिं विसृज्य नेत्रे उन्मील्य विकचय्य यावत् संपश्यते संपश्यति पुरतः, तावत् पार्श्वे शिशुं समवैक्षत दृष्टवानित्यर्थः । अलङ्कृते कर्णिके कर्णौ यस्य तम् ॥ ८२-८४ ।

काकपक्षः चूडाकरणात् प्राक् केशः शिखण्डक इत्यर्थः । 'काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः । तोयेनार्द्रं काकपक्षस्याग्रं यस्य तम् । कषायनयनाञ्चलं कषायं कषाययुक्तं नयनाञ्चलं नयनमेव अञ्चलं वस्त्रं यस्य । यद्वा कषाययुक्तं नयनयोरञ्चलं प्रान्तो यस्य तम् । किञ्चिद्यथा स्यात्तथा विरुक्षं अस्निग्धमित्यर्थः । त्वक्क्षोभं त्वचि क्षोभो यस्य तम् ॥ ८५ । अमंस्त अमन्यत ॥ ८६ ।

"हे वत्स ! अपने भवन जाओ । मुने ! तुम अपने इस पुत्र को ग्रहण करो" । महादेव की आज्ञानुसार उस रुद्रगण के ऐसा कहने पर उस उदार-बुद्धि कर्दम ऋषि ने समाधिकाल में यह बात सुनकर समाधि का परित्याग कर ज्यों ही आँखे खोलकर सन्मुख देखा; त्यों ही पास में बालक देख पड़ा । वह बालक शिशुमार को पकड़े है, उसके दोनों कान भूषित हैं ॥ ८२-८४ ।

उसके शिर पर के काकपक्ष (चोटी) का अग्र-भाग जल से आर्द्र है, नेत्र के कोणप्रान्त रक्तवर्ण हैं, शरीर रुक्ष हो गया है, देह के चमड़े में भी सिकुड़न पड़ गई है और चित्त घबड़ाया हुआ है ॥ ८५ ।

लड़के द्वारा प्रणाम करने पर उसके मुख-कमल को सूँघते और बारम्बार देखते हुए कर्दम प्रजापति, उस बालक को उत्पन्न हुआ (उसका पुनर्जन्म) समझने लगे ॥ ८६ ।

शतानि पञ्चवर्षाणि प्रणिधानस्थितस्य हि ।
कर्दमस्य व्यतीतानि शम्भुमर्चयतस्तदा ॥ ८७ ।
कर्दमोऽपि च तत्कालमज्ञासीत् क्षणसंगतम् ।
यतो न प्रभवेत् कालो महाकालस्य सन्निधौ ॥ ८८ ।
ततस्तं तनयः पृष्ट्वा पितरं प्रणिपत्य च ।
जगाम तूर्णं तपसे श्रीमद्वाराणसीं पुरीम् ॥ ८९ ।
तत्र तप्त्वा तपो घोरं लिङ्गं संस्थाप्य शाम्भवम् ।
पञ्चवर्षसहस्राणि स्थितः पाषाणनिश्चलः ॥ ९० ।
आविरासीन्महादेवस्तुष्टस्तत्तपसा ततः ।
उवाच कार्दमे ब्रूहि कं ददामि वरोत्तमम् ॥ ९१ ।

कार्दमिरुवाच—

यदि नाथ प्रसन्नोऽसि भक्तानामनुकम्पक ।
सर्वासामाधिपत्यं मे देह्यपां यादसामपि ॥ ९२ ।

क्षणसंगतं क्षणमात्रं संगतम् इत्यज्ञासीज्ज्ञातवानित्यर्थः । तत्र हेतुः । यत इति ॥ ८८ ।

शिव भगवान् की पूजा करते-करते समाधि में निश्चल उस कर्दम मुनि को पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो गए; किन्तु कर्दम ऋषि ने उसके (बड़े दीर्घ) काल को भी क्षणमात्र ही समझ रखा था; क्योंकि महाकाल के आगे भला काल को क्या प्रभुता है? ॥ ८७-८८ ।

इसके अनन्तर पुत्र शुचिष्मान् पिता की अनुमति लेकर और उनको प्रणाम कर तपस्या करने के लिए सत्वर (शीघ्र) श्रीमती काशीपुरी को जा पहुँचा ॥ ८९ ।

वहाँ पर एक शिवलिंग की स्थापना कर घोरतर तप के अनुष्ठान में पाँच सहस्र-वर्ष-पर्यन्त पाषाण के समान निश्चल खड़ा रहा ॥ ९० ।

तत्पश्चात् महादेव उनकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर वहाँ पर प्रकट हुए और कहने लगे—"हे कर्दमनन्दन ! बोलो, कौन-सा उत्तम वर तुमको हम दें ?" ॥ ९१ ।

कर्दम के पुत्र ने कहा—"हे भक्तों के अनुकम्पक नाथ ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो मुझे समस्त जल और जलचर जन्तुओं का आधिपत्य प्रदान कीजिए ॥९२।

इति श्रुत्वा महेशानः सर्वचिन्तितदः प्रभुः ।
अभ्यषिञ्चत तं तत्र वारुणे परमे पदे ॥ ९३ ।
रत्नानामब्धिजातानामब्धीनां सरितामपि ।
सरसां पल्वलानां च वाप्यम्बुस्रोतसां पुनः ॥ ९४ ।
जलाशयानां सर्वेषां प्रतीच्याश्चापि वै दिशः ।
अधीश्वरः पाशपाणिर्भव सर्वाऽमरप्रियः ॥ ९५ ।
ददामि वरमन्यं च सर्वेषां हितकारकम् ।
त्वयैतत्स्थापितं लिङ्गं तव नाम्ना भविष्यति ॥ ९६ ।
वरुणेशमिति ख्यातं वाराणस्यां सुसिद्धिदम् ।
मणिकर्णेशलिङ्गस्य नैर्ऋत्यां दिशि संस्थितम् ॥ ९७ ।
आराधितं सदा पुंसां सर्वजाड्यविनाशकृत् ।
वरुणेशस्य ये भक्ता न तेषां मद्भयं क्वचित् ॥ ९८ ।
न सन्तापभयं तेषां नापायमरणं क्वचित् ।
जलोदरभयं नैव न भयं वै तृषः क्वचित् ॥ ९९ ।

सरसां पद्माकराणाम् । पल्वलानामल्पसरसाम् । वाप्यम्बुस्रोतसां वाप्यम्बूनां स्रोतसां चेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

जलाशयानां जलाधाराणाम् 'जलाशयो जलाधारः' इत्यमरः । प्रतीच्याः पश्चिमायाः । 'प्राच्यवाची प्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमाः' इत्यमरः ॥ ९५ ।

तृषः तृष्णायाः ॥ ९९ ।

सभी के मनोरथपूरक महेश्वर ने यह बात सुनकर उसको परम उत्कृष्ट वरुण-पद पर अभिषिक्त कर दिया और कहा—"समुद्र से उत्पन्न समस्त रत्न, सागर, नदी, सरोवर, गड्ढा (पोखरी), बावली, जल के सोते, (अर्थात् झरना इत्यादि), समस्त जलाशयों के और पश्चिम दिशा के अधीश्वर होवो। तुम सभी देवताओं के भी प्रिय होगे एवं पाश तुम्हारे हस्त का शस्त्र होगा। फिर सभी का हित-कारक मैं तुम्हें एक वर और भी देता हूँ। तुम्हारा स्थापित यह शिवलिंग तुम्हारे ही नाम के अनुसार वरुणेश्वर नाम से वाराणसी में प्रसिद्ध होगा और बड़ी सिद्धि को देनेवाला होगा—मणिकर्णिकेश्वर लिङ्ग के नैर्ऋत्य-कोण में अवस्थित इस लिंग की निरन्तर आराधना करने से पुरुषादिकों की सभी जड़ता दूर हो जायेगी एवं जो लोग वरुणेश्वर के भक्त होंगे, उन्हें कभी जल

नीरसान्यन्नपानानि वरुणेश्वरसंस्मृतेः ।
सरसानि भविष्यन्ति नात्र कार्या विचारणा ॥ १०० ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे शम्भुर्वरुणोऽपि स्वबन्धुभिः ।
इमं लोकमलङ्कुर्वंस्तदारभ्य स्थितो द्विजः ॥ १०१ ।
इदं वरुणलोकस्य स्वरूपं ते निरूपितम् ।
यच्छ्रुत्वा न नरः क्वापि दुरपायैः प्रबाध्यते ॥ १०२ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे वह्निलोकवर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

वरुणोऽपीति । यद्यपि द्वादशादित्यानां मध्ये वरुण एक आदित्यः कश्यपाददित्यामुत्पन्न इति प्रसिद्धः, तथापि कल्पभेदाऽभिप्रायेणाऽयमिति ज्ञातव्यम् ॥ १०१ ।

दुरपायैरपमृत्युभिः ॥ १०२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ।

से भय नहीं होगा और न सन्ताप का त्रास होगा, न कहीं अपाय-मरण होगा, न जलोदर रोग का डर रहेगा, न कभी तृषा से भय होगा ॥ ९३-९९ ।

नीरस अन्नपानादिक भी वरुणेश्वर के स्मरण से सरस (स्वाद-युक्त) हो जाएँगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १०० ।

हे द्विज ! शम्भुदेव इन वरदानों को कहकर (उन्हें देकर) अन्तर्धान हो गए । तभी से कर्दम के पुत्र शुचिष्मान् वरुण होकर अपने बन्धु-बान्धवों के सहित इस लोक को अलंकृत करते हुए यहाँ पर निवास करने लगे ॥ १०१ ।

यह वरुण-लोक के स्वरूप (और वृत्तान्त) का हम लोगों ने तुमसे निरूपण किया । इस कथा का श्रवण करने से मनुष्य कभी अपमृत्यु से ग्रस्त नहीं होता ॥१०२।

पर उपकार करै जो कोई । नीच ऊँच चाहे जो होई ।
सो उत्तम पद के अधिकारी । जस पिंगाक्ष निर्ऋत पदधारी ॥ १ ॥

कर्दम मुनि के सुअन ने, कीन्ह्यो तप अति उग्र ।
लह्यो वरुण दिक्पालपद, शिवप्रसाद समुदग्र ॥ २ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दे पुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायाम्
अग्न्युत्पत्ति-वर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

गणावूचतुः—

इमां गन्धवतीं पुण्यां पुरीं वायोर्विलोकय ।
वारुण्या उत्तरे भागे महाभाग्यनिधे द्विज ॥ १ ॥
अस्यां प्रभञ्जनो नाम जगत्प्राणो दिगीश्वरः ।
आराध्य श्रीमहादेवं दिक्पालत्वमवाप्तवान् ॥ २ ॥
पुरा कश्यपदायादः पूतात्मेति च विश्रुतः ।
धूर्जटे राजधान्यां स चचार विपुलं तपः ॥ ३ ॥
वाराणस्यां महाभागो वर्षाणामयुतं शतम् ।
स्थापयित्वा महालिङ्गं पावनं पवनेश्वरम् ॥ ४ ॥

त्रयोदशे जगत्प्राणगुह्यकेश्वरयोः पुरे ।
गन्धवत्यलकाख्ये वै वर्ण्येते सुमनोहरे ॥ १ ॥

क्रमप्राप्तां वायोः पुरीं वर्णयतः । इमामिति ॥ १-२ ।

कश्यप एव काश्यपः । दायादः पुत्रः ॥ ३ ।

(वायुलोक और कुबेरलोक का वर्णन)

विष्णु के दोनों पार्षदों ने कहा—

हे महाभाग्यनिधि द्विज ! वरुण-लोक के उत्तरभाग में वायु की गन्धवती नाम इस पवित्र नगरी का अवलोकन करो ॥ १ ।

इस पुरी में प्रभञ्जन नाम के दिगीश्वर वायु अवस्थित हैं । वे श्रीमहादेव की आराधना कर दिक्पाल पद को प्राप्त हुए हैं ॥ २ ।

पूर्वकाल में कश्यप मुनि के पुत्र पूतात्मा नाम से प्रसिद्ध थे । उन महाभाग ने शिव की राजधानी वाराणसी पुरी में अत्यन्त पावन पवनेश्वर नामक लिंग स्थापन कर दश-लक्षवर्ष-पर्य्यन्त विपुल तपश्चर्य्या की ॥ ३-४ ।

यस्य दर्शनमात्रेण पूतात्मा जायते नरः ।
पापकञ्चुकमुत्सृज्य स वसेत् पावने पुरे ॥ ५ ।
ततस्तस्योग्रतपसा तपसां फलदः शिवः ।
आविरासीत् ततो लिङ्गाज्ज्योतीरूपो महेश्वरः ॥ ६ ।
उवाच च प्रसन्नात्मा करुणामृतसागरः ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ पूतात्मन् वरं वरय सुव्रत ॥ ७ ।
अनेन तपसोग्रेण लिङ्गस्याराधनेन च ।
तवाऽदेयं न पूतात्मन् त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ८ ।

पूतात्मोवाच—

देवदेव महादेव देवानामभयप्रद ।
ब्रह्मनारायणेन्द्रादिसर्वदेवपदप्रद ॥ ९ ।

पापकञ्चुकम्, पापमेव कञ्चुकं निर्मोकम् ॥ ५ ।

तपसां फलदः । फलमत उपपत्तेरिति ब्रह्मसूत्रादित्यर्थः । ज्योतीरूपः प्रकाशबहुलो भास्वर इति यावत् ॥ ६-७ ।

परमात्मत्वेन श्रीविश्वेश्वरं स्तौति । देवदेवेति । देवानां देवत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वं जाड्यं वा स्यादित्यत आह । महांश्चासौ देवः स्वप्रकाशश्चेति महादेवः, तत्सम्बोधनं हे महादेव ! परिपूर्णानुभवरूपत्वेऽपि, भक्ताऽभयप्रदत्वाऽऽश्रयप्रदत्वे आह । देवानामित्यादिना ॥ ९ ।

उस शिव-लिंग के केवल दर्शन से ही मनुष्य पूतात्मा हो जाता है और अन्त में पाप के कंचुक को छोड़कर पवनपुर में निवास प्राप्त करता है ॥ ५ ।

अनन्तर अनन्त तपों के फलदाता महेश्वर शिव उस पवन के उग्र तपोबल के द्वारा उसी लिंग में ज्योतिरूप से प्रकट हुए ॥ ६ ।

दयामृतसिन्धु शिव ने प्रसन्न-चित्त होकर कहा—"हे पूतात्मन् ! उठो, उठो, हे सुव्रत ! वरदान की प्रार्थना करो" ॥ ७ ।

हे पूतात्मन् ! इस उग्र तपस्या और लिंग की आराधना से सचराचर त्रैलोक्य में तुमको अदेय कुछ भी नहीं है ॥ ८ ।

पूतात्मा बोले—

हे देवताओं के अभयप्रद ! देवदेव ! महादेव ! आप ही ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादि सभी देवगण के पद-दाता हैं ॥ ९ ।

वेदास्त्वां न च विन्दन्ति किमात्मक इति प्रभो ।
प्राप्ताः शतपथत्वं च नेति नेतीतिवादिनः ॥ १० ।
ब्रह्मविष्णवोरपि गिरां गोचरो न च वाक्पतेः ।
प्रमथेशं कथं स्तोतुं मादृशः प्रभवेत् प्रभो ॥ ११ ।
प्रसह्य प्रमिमीतेश भक्तिर्मां स्तुतिकर्मणि ।
करोमि किं जगन्नाथ न वश्यानीन्द्रियाणि मे ॥ १२ ।
विश्वं त्वं नास्ति वै भेदस्त्वमेकः सर्वगो यतः ।
स्तुत्यं स्तोता स्तुतिस्त्वं च सगुणो निर्गुणो भवान् ॥ १३ ।

'यतो वाचो निवर्तन्ते' (बृ० उ०) इति श्रुतिसिद्धश्रुत्यविषयत्वमाह । **वेदास्त्वामिति** । किमात्मकः किंस्वरूपः । शतपथत्वं प्राप्ता वाजसनेयिनः बहुभिर्मार्गैर्यत्नं कुर्वन्तोऽपि न वा प्राप्नुवन्तीति ध्वनितम् ॥ १० ।

वेदतद्वेत्तृणामगोचरत्वेऽपि ब्रह्मविष्णवोर्वाचस्पतेश्च गिरां गोचरो भविष्यति । नेत्याह । **ब्रह्मविष्णवोरिति** । अतः हे प्रभो प्रमथेशं प्रमथ्नाति प्रकर्षेण विलोडयति संसारे जीवानिति प्रमथमज्ञानम्, तस्येशं नियन्तारं मादृशोऽज्ञः स्तोतुं कथं प्रभवेदित्यर्थः । प्राकृतं व्याख्यानं सर्वत्र स्पष्टम् ॥ ११ ।

यद्यप्येवं तथापि हे ईश तव भक्तिस्तव स्तुतिकर्मणि मां प्रमिमीते प्रवर्तयति । प्रमिमीतेश इत्यत्र ईलोपश्छान्दसः । हे जगन्नाथ जगतां स्वामिन् ! किं करोमि ? यतो ममेन्द्रियाणि न वश्यानि, न स्वतन्त्राणीति । यद्यपि मम त्वत्स्तवने सामर्थ्यं नास्ति; तथापि त्वद्भक्तिप्रेरितः सन् स्तौमीत्यर्थः ॥ १२ ।

विश्वं जगत्त्वम् । 'ब्रह्मैवेदम्' इत्यादिश्रुतेः । नन्वहं चेद्विश्वं तर्हि विश्वस्य जडत्वदृश्यत्वाभ्यां ममानात्मत्वविनाशित्वे प्रसज्जेयाताम्, तत्राह । **नास्ति वै भेद इति** । वै

हे प्रभो ! समग्र वेद 'नेति नेति' कहते हुए आपका स्वरूप-कीर्तन करते-करते शतपथत्व को पहुँच जाते हैं; फिर भी आप कीदृश (किमात्मक) हैं, यह नहीं जान सकते ॥ १० ।

हे प्रभो ! जो ब्रह्मा, विष्णु और वाचस्पति के भी वचन गोचर नहीं है, (भला) उन प्रमथनाथ आपकी स्तुति करने में मेरे ऐसा सामान्य जीव क्योंकर किस प्रकार समर्थ हो सकता है ? ॥ ११ ।

हे ईश ! केवल भक्ति ही बलपूर्वक मुझे स्तुति-कर्म में प्रवृत्त करती है । हे जगन्नाथ ! क्या करूँ, मेरी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं ॥ १२ ।

विश्व और आप, इन दोनों में कोई भेद नहीं है; क्योंकि आप सर्वव्यापी एक

सर्गात्पुरा भवानेको रूपनामविवर्जित: ।
योगिनोऽपि न ते तत्त्वं विन्दन्ति परमार्थत: ।। १४ ।
यदैकलो न शक्नोषि रन्तुं स्वैरचर प्रभो ।
तदिच्छा तव योत्पन्ना सेव्या शक्तिरभूत्तव ।। १५ ।
त्वमेको द्वित्वमापन्न: शिवशक्तिप्रभेदत: ।
त्वं ज्ञानरूपो भगवान् स्वेच्छाशक्तिस्वरूपिणी ।। १६ ।

प्रसिद्धं एवार्थे वा । भेदो यथार्थतो नास्त्येव । कुत: यतस्त्वमेक: । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुते: । जाने त्वत्तो न भेदोऽस्तीति क्वचित् । जाने त्वमित्यन्यत्र । सर्वग: पूर्ण: । स्तुत्यं स्तवनीयम् । स्तोता स्तवकर्ता । स्तुतिरारोप्यमाणगुणकीर्तनम् । सगुणो निर्गुण: सप्रपञ्चोऽपि निष्प्रपञ्चश्च भवानिति ।। १३ ।

कदा निर्गुण इत्याकाङ्क्षायामाह । सर्गात्पुरा भवानेक इति । एक: सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्य: । 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुते: । परमार्थत: शब्दावगो-चरत्वात् 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरित्याशय: ।। १४ ।

कथं तर्हि वेदान्तवेद्यता सगुणे गृहीतशक्तिकतया निर्गुणस्य लक्ष्यमाणत्वादित्या-शयेनाह । यदैकल इति । स्वैरचर हे स्वतन्त्र ! तत्तदा । सेव्या सेवनीया स्वाश्रयेत्यर्थ: ।। १५ ।

तर्हि शक्तिशक्तिमतोर्भेदादद्वैतक्षतिर्नेत्याह । त्वमेको द्वित्वमापन्न इति । तत्र विभागमाह । त्वमिति । शिवशब्दार्थमाह । ज्ञानरूप इति । स्वेच्छा स्वस्येच्छा ईक्षण-रूपेति यावत् । 'स ऐक्षत बहु स्याम्' इति श्रुते: । इच्छाशक्तीति क्वचित् ।। १६ ।

ही हैं । स्तुतिपात्र, स्तवकर्ता और स्तोत्ररूप एवं सगुण और निर्गुण सब कुछ आप ही हैं ।। १३ ।

सृष्टि के पूर्व नाम-रूप से रहित एक आप ही थे । योगी लोगों ने भी यथार्थ-रूप से आपके तत्त्व को नहीं जाना है ।। १४ ।

हे स्वेच्छाविहारिन् ! प्रभो ! जब कि आप अकेले क्रीडा नहीं कर सकते, उस घड़ी जो आपकी इच्छा उत्पन्न हुई, वही आपकी सेवन-योग्य शक्ति हो गई ।। १५ ।

आप अकेले हैं, पर शिव-शक्ति के भेद से द्वित्व (द्वैत) को प्राप्त हुए हैं । आप ही ज्ञानरूप भगवान् (शिव) हैं और आपकी इच्छा ही शक्ति-स्वरूपिणी है ।। १६ ।

उभाभ्यां शिवशक्तिभ्यां युवाभ्यां निजलीलया ।
उत्पादिता क्रियाशक्तिस्ततः सर्वमिदं जगत् ॥ १७ ।
ज्ञानशक्तिर्भवानीश इच्छाशक्तिरुमा स्मृता ।
क्रियाशक्तिरिदं विश्वमस्य त्वं कारणं ततः ॥ १८ ।
दक्षिणाङ्गं तव विधिर्वामाङ्गं तव चाच्युतः ।
चन्द्रसूर्याग्निनेत्रस्त्वं त्वन्निःश्वासः श्रुतित्रयम् ॥ १९ ।
त्वत्स्वेदादम्बुनिधयस्तव श्रोत्रं समीरणः ।
बाहवस्ते दश दिशो मुखं ते ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ २० ।
राजन्यवर्यास्ते बाहू वैश्या ऊरुसमुद्भवाः ।
पद्भ्यां शूद्रस्तवेशान केशास्ते जलदाः प्रभो ॥ २१ ।

ततो द्वित्वभावानन्तरं क्रियाशक्तिरुत्पादितेत्यन्वयः । क्रियाशक्तिस्वरूपमाह। सर्वमिदं जगदिति ॥ १७ ।

पूर्वोक्तमेव विवृणोति । ज्ञानशक्तिरिति । यत उभाभ्याम् ईशोमाभ्यां क्रियाशक्तिरुत्पादिता । ततस्तस्या इत्यर्थः ॥ १८ ।

इदानीं विराड्रूपेण स्तौति । दक्षिणाङ्गमिति । चन्द्रसूर्येति । 'चक्षोः सूर्यो अजायत' इत्यादिश्रुतेः त्वन्निःश्वासः इति । 'तदेतन्महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' इति श्रुतेः ॥ १९ ।

मुखं त इति । 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति श्रुतेः ॥ २० ।

राजन्येति । 'बाहू राजन्यः कृत' इति श्रुतेः । वैश्या इति । 'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः' इति श्रुतेः । पद्भ्यामिति । 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इति श्रुतेः ॥ २१ ।

शिवशक्तिस्वरूप आप ही दोनों ने अपनी निज लीला के अनुसार क्रियाशक्ति को उत्पन्न किया; फिर वहीं से इस समस्त जगत् का प्रारम्भ हुआ ॥ १७ ।

हे ईश ! ज्ञान-शक्ति तो आप ही हैं और उमा इच्छा-शक्ति हैं एवं यह विश्व (भी) क्रिया-शक्ति है, अतएव आप ही इस संसार के कारण हैं ॥ १८ ।

विधाता आपके दक्षिण अंग और विष्णु आपके वाम अंग हैं । चन्द्र, सूर्य और अग्नि ये तीनों आपके नेत्र हैं । आपका निःश्वास ही तीनों वेद हैं ॥ १९ ।

आपके ही स्वेद से ये सब समुद्र उत्पन्न हुए हैं । वायु आपका कर्ण है । दशों दिशाएँ आपके बाहु-समूह हैं और ब्राह्मण आपके मुखरूप हैं ॥ २० ।

आपकी दोनों भुजाओं से क्षत्रिय-वर्ग और ऊरुदेश से वैश्यगण उत्पन्न हुए हैं। हे ईशान ! आपके चरण-युगल से शूद्र उत्पन्न हुए हैं और हे प्रभो ! मेघ-जाल आपके केश-कलाप हैं ॥ २१ ।

त्वं पुंप्रकृतिरूपेण ब्रह्माण्डमसृजः पुरा ।
मध्ये ब्रह्माण्डमखिलं विश्वमेतच्चराचरम् ॥ २२ ।
अतस्त्वत्तो न मन्येऽहं किञ्चिद्भिन्नं जगन्मय ।
त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतमयो भवान् ॥ २३ ।
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमो नमः ।
अयमेव वरो नाथ त्वयि मेऽस्तु स्थिरा मतिः ॥ २४ ।
इत्युक्तवति देवेशस्तस्मिन् पूतात्मनि प्रभुः ।
स्वमूर्तित्वं समारोप्य दिक्पालपदमादधे ॥ २५ ।
सर्वगो मम रूपेण सर्वतत्त्वावबोधकः ।
सर्वेषामायुषो रूपं भवानेव भविष्यति ॥ २६ ।

पुंप्रकृतिरूपेण पुरुषप्रधानशक्तिभ्यामित्यर्थः । मध्ये ब्रह्माण्डं ब्रह्माण्डस्य मध्ये ॥ २२ । उपसंहरति । अत इति ॥ २३ ।

सगुणनिर्गुणयोर्दुर्ज्ञेयत्वात् केवलं नमस्यति । नमस्तुभ्यमिति । आदरार्था वीप्सा । ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तीनां त्रयो नमस्काराः ॥ २४ ।

सर्वगो मम रूपेणेत्यादीनामिति वरान् दत्वा तस्मिल्लिङ्गे अन्तर्धानं ययावित्यध्याहारेणान्वयः ॥ २६ ।

पूर्वकाल में आपने ही प्रकृति-पुरुषरूप से ब्रह्माण्ड की और ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत इस चराचर संसार की सृष्टि की है ॥ २२ ।

हे जगन्मय ! इसी कारण से आपसे भिन्न (विलग) कुछ भी नहीं है । आपमें समस्त भूत वर्तमान है और आप भी सर्वभूतमय हैं—ऐसी ही मेरी समझ है ॥ २३ ।

आपको नमस्कार ! नमस्कार ! नमस्कार ! बारम्बार नमस्कार है । हे नाथ ! मुझे यही वर मिले कि आप पर मेरी बुद्धि स्थिर बनी रहे ॥ २४ ।

पूतात्मा के इस प्रकार कहने पर देवेश्वर प्रभु ने उसको अपनी (अष्ट) मूर्ति के अन्तर्गत करके दिक्पाल-पद पर नियुक्त किया । (और कहा) मेरे रूप से तुम सर्वत्रगामी और समग्र तत्त्वों के ज्ञाता (अवबोधक) एवं सब किसी के आयुष्यरूप होगे ॥ २५-२६ ।

तव लिङ्गमिदं दिव्यं ये द्रक्ष्यन्तीह मानवाः ।
सर्वभोगसमृद्धास्ते त्वल्लोकसुखभागिनः[1] ॥ २७ ।
पवमानेश्वरं लिङ्गं मध्ये जन्म सकृन्नरः ।
यथोक्तविधिना पूज्य सुगन्धस्नपनादिभिः ॥ २८ ।
सुगन्धचन्दनैः पुष्पैर्मम लोके महीयते ।
ज्येष्ठेशात् पश्चिमे भागे वायुकुण्डोत्तरेण तु ॥ २९ ।
पावमानं समाराध्य पूतो भवति तत्क्षणात् ।
इति दत्वा वरान् देवस्तस्मिल्लिङ्गे लयं ययौ ॥ ३० ।

गणावूचतुः—

इति गन्धवतीपुर्याः स्वरूपं ते निरूपितम् ।
तस्याः प्राच्यां कुबेरस्य श्रीमत्येषाऽलकापुरी ॥ ३१ ।

उपसंहरन्तौ कुबेरस्य पुरीं दर्शयतः । इतीति । तस्या इति । यो भक्तियोगतः शम्भोर्महेश्वरस्य सखित्वमापेदेऽस्या अलकाया नाथश्च तस्य कुबेरस्य । तस्याः गन्धवत्याः । प्राच्यां पूर्वस्यां दिश्येषाऽलकापुरीत्यर्थः ॥ ३१ ।

जो मनुष्य तुम्हारे द्वारा प्रतिष्ठित इस दिव्य लिंग का दर्शन करेंगे, वे सब यहाँ समस्त भोगों से परिपूर्ण होकर अन्त में तुम्हारे लोक के सुखभागी होंगे ॥ २७ ।

जो मानुष, जन्म भर में एकबार भी पवमानेश्वर लिंग का सुगन्धित जल से स्नान एवं सुगन्धित चंदन-पुष्पादि के द्वारा यथोक्तविधि से पूजन कर लेता है, वह मेरे लोक में सम्मान सहित निवास करता है। ज्येष्ठेश्वर के पश्चिम भाग में और वायुकुण्ड से उत्तर दिशा में पावमानेश्वर लिंग की आराधना करने से (लोक में) तत्काल पवित्र हो जाता है। देवदेव इन सब वरों को देकर उसी लिंग में लीन हो गये ॥ २८-३० ।

दोनों विष्णुगण बोले—

गन्धवती पुरी के वृत्तान्त को तो मैंने तुम्हारे समक्ष निरूपण किया। (अब देखो) इसकी पूर्व दिशा में कुबेर की यह शोभामयी अलकापुरी है ॥ ३१ ।

---

१. वासिन इति क्वचित्पाठः ।

शम्भोः सखित्वमापेदे नाथोऽस्या भक्तियोगतः ।
निधीनां पद्ममुख्यानां दाता भोक्ता हराऽर्चनात् ॥ ३२ ।

शिवशर्मोवाच—

कोऽसौ कस्य पुनः कीदृग् भक्तिरस्य सदाशिवे ।
यया सखित्वमापन्नो देवदेवस्य धूर्जटेः ॥ ३३ ।
इति श्रोतुं मम मनः श्रुतिगोचरतां गतम् ।
युवयोर्वाक्सुधास्वादमेदुरोदरमन्थरम् ॥ ३४ ।

गणावूचतुः—

शिवशर्मन् महाप्राज्ञ परिशुद्धेन्द्रियेश्वरः ।
सुतीर्थक्षालिताशेषजन्मजातमहामल ॥ ३५ ।

पद्ममुख्यानामिति । पद्मो मुख्यो आदिर्येषां पद्मादीनां ते तथा तेषामष्टानामित्यर्थः ॥ ३२ ।

श्रुतिगोचरतां श्रवणेन्द्रियगोचरताम् । **युवयोरिति ।** युवयोर्वागेव सुधा, तस्या य आस्वादस्तेन मेदुरं स्निग्धं तृप्तम्, यदुदरमध्यं तेन मन्थरं स्थिरमित्यर्थः ॥ ३४ ।

शिवेति । परिशुद्धमिन्द्रियाणामीश्वरं मनो यस्य, तस्य, सम्बोधनं हे परिशुद्धेन्द्रियेश्वरेति । अथवा परिशुद्ध इन्द्रियेश्वरः प्रत्यगात्मा यस्य स तथा तस्य सम्बोधनम् । सुतीर्थेषु मथुरादिक्षेत्रेषु क्षालितमशेषजन्मसमूहस्य महामलं महत्पापं येन स तथा तत्सम्बोधनं सुतीर्थक्षालिताशेषजन्मजातमहामलेति ॥ ३५ ।

इस नगरी के नाथ ने भक्ति के प्रभाव से महादेव की मित्रता पायी और शिव के ही आराधना-बल से वे पद्म-प्रभृति निधियों के दाता और भोक्ता हुए हैं ॥ ३२ ।

शिवशर्मा कहने लगे—

"यह कौन है ? किसके पुत्र हैं ? सदाशिव पर इनकी कितनी भक्ति है ? जिससे ये देवदेव धूर्जटी भगवान् के सखा हो गये ? ॥ ३३ ।

आप लोगों के वचनामृतपान से परितृप्त होकर स्थिरता को प्राप्त मेरा मन इस कथा को सुनने के लिए (उत्कण्ठित होकर) कर्णकुहरों में प्रवेश कराने के हेतु व्यग्र है ॥ ३४ ।

गणों ने कहा—

हे महाप्राज्ञ ! विशुद्धात्मन् ! सुन्दर तीर्थ (जल) में अशेष जन्म की संचित पापराशि को क्षालित करनेवाले शिवशर्मन् ! तुम हम लोगों के प्रेम-सम्पन्न सुहृद् मित्र

सुहृद्भिः प्रेमसम्पन्नैः त्वय्यनुद्यं न किञ्चन।
साधुभिः सह संवादः सर्वश्रेयोऽभिवृद्धये ।। ३६ ।
आसीत् काम्पिल्यनगरे सोमयाजिकुलोद्भवः ।
दीक्षितो यज्ञदत्ताख्यो यज्ञविद्याविशारदः ।। ३७ ।
वेदवेदाङ्गवेदार्थान् वेदोक्ताचारचञ्चुरः[1] ।
राजमान्यो बहुधनो वदान्यः कीर्तिभाजनम् ।। ३८ ।
अग्निशुश्रूषणरतो वेदाध्ययनतत्परः ।
तस्य पुत्रो गुणनिधिश्चन्द्रबिम्बसमाकृतिः ।। ३९ ।
कृतोपनयनः सोऽथ विद्यां जग्राह भूरिशः ।
अथ पित्रानभिज्ञातो द्यूतकर्मरतोऽभवत् ।। ४० ।

अनुद्यमकथनीयम् ।। ३६ ।

वेदवेदाङ्गवेदार्थान् वेद जानातीत्यर्थः । ऐकपद्यपाठेऽर्थः[1] स्पष्ट एव । उक्ताचारचञ्चुरः शास्त्रोक्ताचारेषु दक्षः । वदान्यो दाता । कीर्तिभाजनं पात्रम् ।। ३८ ।

हो । (भला) तुमसे अवक्तव्य क्या है ? विशेष करके सज्जनों के साथ वार्तालाप करने से सर्वविध के मंगल की वृद्धि ही होती है ।। ३५-३६ ।

काम्पिल्य-नगर में यज्ञविद्याविशारद (वैदिक) सोमयाजि-कुलोत्पन्न यज्ञदत्त दीक्षित नामक एक ब्राह्मण था ।। ३७ ।

वह वेद के अंग (षट्) शास्त्र और वेदार्थ का ज्ञाता एवं वेद-विहित आचार-पालन में निपुण, राजमान्य, बड़ा धनाढ्य, उदार, दाता और कीर्तिभाजन था ।। ३८ ।

वह सदा अग्नि-शुश्रूषा में निरत एवं वेदाध्ययन में तत्पर रहा करता था। चन्द्र-बिम्ब के समान मूर्तिमान् गुणनिधि नामक उसे एक पुत्र था ।। ३९ ।

यज्ञोपवीत हो जाने पर वह गुणनिधि अनेक विद्याओं का अभ्यास (नियमपूर्वक अध्ययन) करने लगा; परन्तु थोड़े दिनों के बाद वह पिता के अनजान में (चोरी-चोरी) द्यूतकर्म (जुआ खेलने) में आसक्त हो गया ।। ४० ।

---

१. वेदोक्ताचारचञ्चुर इति ।

आदायादाय बहुशो धनं मातुः सकाशतः ।
ददाति द्यूतकारेभ्यो मैत्रीं तैश्च चकार सः ॥ ४१ ।
सन्त्यक्तब्राह्मणाचारः सन्ध्यास्नानपराङ्मुखः ।
निन्दको वेदशास्त्राणां देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ ४२ ।
स्मृत्याचारविहीनस्तु गीतवाद्यविनोदभाक् ।
नटपाखण्डिभण्डैश्च बद्धप्रेमपरम्परः ॥ ४३ ।
प्रेरितोऽपि जनन्या स न याति पितुरन्तिकम् ।
गृहकार्यान्तरव्यग्रो दीक्षितो दीक्षितायिनीम् ॥ ४४ ।
यदा यदैव तां पृच्छेदये गुणनिधिः सुतः ।
न दृश्यते मया गेहे क्व याति विदधाति किम् ॥ ४५ ।
तदा तदेति सा ब्रूयादिदानीं स बहिर्गतः ।
स्नात्वा समर्च्य वै देवानेतावन्तमनेहसम् ॥ ४६ ।
अधीत्याध्ययनार्थं स द्वित्रैर्मित्रैः समं ययौ ।
एक पुत्रेति तन्माता प्रतारयति दीक्षितम् ॥ ४७ ।

पाखण्डिनो बैडालव्रतिकाः । भण्डाः प्रतारकाः । तैः सह बद्धा प्रेमपरम्परा येन सः ॥ ४३ ।

तदेति । अनेहसं कालम् ॥ ४६ । अधीत्यावर्त्य पूर्वपठितं कण्ठतः कृत्वेति यावत् ॥ ४७ ।

वह माता के पास से धन ले-लेकर अनेक बार जुआड़ियों को देने लगा और उन सबों से उसने मैत्री भी कर ली ॥ ४१ ।

(धीरे-धीरे) वह ब्राह्मणाचार को छोड़, स्नान-सन्ध्या से हीन हो गया और वेद, शास्त्र, देवता एवं ब्राह्मणों का निन्दक बन बैठा ॥ ४२ ।

धर्मशास्त्रों का आचार तो उसमें रहा ही नहीं । केवल गाने-बजाने के आमोद-प्रमोद में ही रहने लगा । (अब) नट, पाखण्डी और भाड़ इत्यादि से उसका बड़ा ही प्रेम हो गया ॥ ४३ ।

माता के भेजने पर भी वह कभी पिता के समीप नहीं जाता । गृह के दूसरे कार्यों में व्यग्र दीक्षित (अपनी स्त्री) दीक्षितायिनी से जब-जब पूछें कि "अरे ! बेटा गुणनिधि को मैं गृह में (कभी) नहीं देखता, वह कहाँ जाता और क्या करता है" ? तब-तब वह यही कहा करे कि "स्नान करने के अनन्तर देवताओं की पूजा और वेदा-

न तत्कर्म च तद्वृत्तं किञ्चिद्वेत्ति स दीक्षितः ।
स च केशान्तकर्माऽस्य कृत्वा वर्षेऽथ षोडशे ॥ ४८ ॥
गृह्योक्तेन विधानेन पाणिग्राहमकारयत् ।
प्रत्यहं तस्य जननी सुतं गुणनिधिं मृदु ॥ ४९ ॥
शास्ति स्नेहार्द्रहृदया क्रोधनस्ते पितेत्यलम् ।
यदि ज्ञास्यति ते वृत्तं त्वां च मां ताडयिष्यति ॥ ५० ॥
आच्छादयामि ते नित्यं पितुरग्रे कुचेष्टितम् ।
लोकमान्योऽस्ति ते तातः सदाचारैर्न वै धनैः ॥ ५१ ॥

केशान्तकर्म कृत्वेति । अनुवादोऽयम् । यद्वा षोडशाब्दे क्रियमाणं गोदानाख्यं कर्मविशेषः केशान्तकर्म ॥ ४८ ॥

गृह्योक्तेन स्वशाखोक्तेन । आश्वलायनप्रणीतसूत्रोक्तविधानेनेत्यर्थः । पाणिग्रहं विवाहम् । मृदु कोमलं यथा स्यात् ॥ ४९ ॥

शास्ति शिक्षयति । शिक्षामेवाह । क्रोधनस्त इत्यारभ्य प्रतिक्षणमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ५० ॥

सदाचारैरित्यस्य व्यावृत्तिमाह । न वै धनैरिति । न चाधमैरिति क्वचित्पाठः । तत्राऽधमैरधमाचारैः ॥ ५१ ॥

साङ्गे प्रवचने गुरोरधीतिनोऽनूचानाः ।
अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती गुरोस्तु यः ॥ इत्यमरः ।

ध्ययन के लिए वह दो-तीन मित्रों के साथ अभी बाहर गया है, उसके एकमात्र पुत्र होने से माता पति से प्रतारणा किया करती थी ॥ ४४-४७ ।

पुत्र का कर्म और चरित्र (चाल-चलन) यज्ञदत्त दीक्षित कुछ भी नहीं जानते थे । उन्होंने सोलहवें वर्ष की अवस्था में उसका "केशान्त" कर्म (संस्कार) समाधान कर गृह्योक्तविधि से उसका विवाह कर दिया । स्नेह से आर्द्रचित्त उसकी माता प्रतिदिन पुत्र गुणनिधि को कोमलता से सिखलाया करती थी (देखो बेटा) तुम्हारे पिता बड़े ही क्रोधी हैं, (समझ रक्खो) यदि वे तुम्हारा चरित्र जान जायेंगे, तो तुम्हें और मुझे भी ताड़ना देंगे ॥ ४८-५० ।

मैं नित्य-प्रति तुम्हारे पिता से इन सब तुम्हारी कुत्सित चेष्टाओं को छिपाया करती हूँ । तुम्हारे पिता धन से नहीं, केवल सदाचार से ही लोक में माननीय गिने जाते हैं ॥ ५१ ।

ब्राह्मणानां धनं पुत्र सद्विद्या साधुसङ्गमः ।
सच्छ्रोत्रियास्त्वनूचाना दीक्षिताः सोमयाजिनः ॥ ५२ ।
इति रूढिमिह प्राप्तास्तव पूर्वपितामहाः ।
त्यक्त्वा दुर्वृत्तसंसर्गं साधुसङ्गरतो भव ॥ ५३ ।
सद्विद्यासुमनो धेहि ब्राह्मणाचारमाचर ।
तवानुरूपारूपेण वयसा कुलशीलतः ॥ ५४ ।
ऊनविंशतिकोऽसि त्वमेषा षोडशवार्षिकी ।
तव पत्नी गुणनिधे साध्वी मधुरभाषिणी ॥ ५५ ।
एतां संवृणु सद्वृत्तां पितृभक्तियुतो भव ।
श्वशुरोऽपि हिते मान्यः सर्वत्र गुणशीलतः ॥ ५६ ।
ततोऽपत्रपसे किं न त्यज दुर्वृत्ततां शिशो ।
मातुलास्तेऽतुलाः पुत्र विद्याशीलकुलादिभिः ॥ ५७ ।

दीक्षिताः सोमयाजिन इति व्याख्यानव्याख्येयभावान्न पौनरुक्त्यम् । यष्टा च यजमानश्च ससोमवतिदीक्षित इत्यमरः ॥ ५२-५३ ।

संवृणु वरय भजस्वेत्यर्थः ॥ ५६ । अपत्रपसे लज्जसे ॥ ५७ ।

हे बेटा ! उत्तम विद्या और सज्जनों की संगति ही ब्राह्मणों का धन है । तुम्हारे पूर्व पितामहादि साङ्ग आख्या-सहित वेदाध्यायी, सच्छ्रोत्रीय और सोमायाजी दीक्षित की प्रसिद्धि को प्राप्त हुए थे । अतएव तुम दुष्टों की संगति त्यागकर साधु-समागम में तत्पर होओ ॥ ५२-५३ ।

उत्तम विद्याओं में मन लगाओ । ब्राह्मणों के आचार को (धारण) करो । गुणनिधे ! तुम्हारी उन्नीस वर्ष की अवस्था हुई और मधुरभाषिणी साध्वी इस तुम्हारी पत्नी का सोलहवाँ वर्ष है । रूप, वय, क्रम, कुल और शील आदि में यह (सब प्रकार से) तुम्हारे अनुरूप है ॥ ५४-५५ ।

इस शुद्ध चरित्रा के साथ रहकर सुखी हो, पिता की भक्ति करो, तुम्हारे श्वसुर अपने गुण और शील से सर्वत्र ही माननीय हैं ॥ ५६ ।

क्या उनसे भी तुम नहीं लज्जित होते ? वत्स ! (अब भी तो) दुष्टता छोड़ दो । (देखो) बेटा ! तुम्हारे मातुल (मामा) लोग भी विद्या, शील, स्वभाव और कुलादि से अतुलनीय ही हैं ॥ ५७ ।

तेभ्योऽपि न बिभेषि त्वं शुद्धोऽस्युभयवंशतः ।
पश्यैतान् प्रतिवेश्मस्थान् ब्राह्मणानां कुमारकान् ॥ ५८ ।
गृहेऽपि शिष्यान् पश्यैतान् पितुस्ते विनयोचितान् ।
राजाऽपि श्रोष्यति यदा तव दुश्चेष्टितं सुत ॥ ५९ ।
श्रद्धां विहाय ते ताते वृत्तिलोपं करिष्यति ।
बालचेष्टितमेवैतद् वदन्त्यद्याऽपि ते जनाः ॥ ६० ।
अनन्तरं हसिष्यन्ति युक्तं दीक्षितताऽस्त्विवति ।
सर्वेऽप्याक्षारयिष्यन्ति तव विप्रं च मां च वै ॥ ६१ ।
मातुश्चरित्रं तनयो धत्ते दुर्भाषणैरिति ।
पिताऽपि तेन पापीयान् श्रुतिस्मृतिपथी न किम् ॥ ६२ ।

विप्रं तातम् । पित्रमिति पाठे पितरमित्यर्थः । वप्रमिति वा पाठः । तत्र वप्रं पितरमित्येव । यदाहाऽमरः—'वप्रः पितरि केदारे' इति । मां च आक्षारयिष्यन्ति तिरस्करिष्यन्तीति ॥ ६१ ।

कैरिति । मातुश्चरित्रं पुत्रो धत्ते इति दुर्भाषणैर्दुष्टवचनैरिति । निषिद्धाचरणानुभावमुक्त्वा विहिताचरणमाह । श्रुतिस्मृतिपथो न किं श्रुतिस्मृत्युक्ताचारवान् किं न;

क्या तुम उन लोगों से भी नहीं डरते ? (भैया !) तुम तो दोनों वंश से शुद्ध हो (फिर ऐसे क्यों हुए ? अरे !) घर-घर इन ब्राह्मणों के कुमारों को देखो ॥ ५८ ।

(दूर काहे को जाते अपने ही) घर में अपने ही पिता के अतिविनम्र इन शिष्यों की ओर देखो । बेटा ! जब कि राजा भी तुम्हारा यह नीच चरित्र सुन पावेंगे, तो तुम्हारे पिता के ऊपर से श्रद्धा हटाकर वृत्ति (जीविका) को अवश्य ही बन्द कर देंगे । अब तक तो लोग तुम्हारे इन कामों की गणना लड़कपन में ही करते हैं; परन्तु इसके अनन्तर हँसी करेंगे और कहेंगे—"(वाह-वाह !) अच्छी दीक्षिताई है" तब सभी तुम्हारे पिता को और मुझे भी दोषी ठहराएँगे ॥ ५९-६१ ।

"पुत्र तो माता की ही चाल सीखता है । उसके पिता के श्रुति-स्मृतिमार्गानुसारी होने पर भी पापिष्ठ है", इन्हीं दुर्वाच्यों (बदनामी) से तिरस्कृत करेंगे ॥ ६२ ।

तदङ्घ्रिलीनमनसो मम साक्षी महेश्वरः।
न चर्तुस्नातयाऽपीह मुखं दृष्टस्य वीक्षितम् ॥ ६३ ।
अहो बलीयान् स विधिर्येन जातो भवानिति ।
प्रतिक्षणं जनन्येति शिक्ष्यमाणोऽतिदुर्मदः ॥ ६४ ।
न तत्याज च तद्धर्मं दुर्बोधो व्यसनी यतः ।
मृगयामद्यपैशुन्यवेश्याचौर्यदुरोदरैः ॥ ६५ ।
स पारदारैर्व्यसनैरेभिः कोऽत्र न खण्डितः ।
यद्यन्मध्ये गृहे पश्येत्तत्तन्नीत्वा सुदुर्मतिः ॥ ६६ ।
अर्पयेद् द्यूतकाराणां सकुप्यं वसनादिकम् ।
नवरत्नमयीं मातुः करतः पितुरूर्मिकाम् ॥ ६७ ।

अपितु स्यादेवेत्यर्थः। श्रुतिस्मृतिपथीनक इति क्वचित् पाठः। तत्र पथीनकः पथो ॥ ६२-६३ ।

प्रतिक्षणमिति गणयोक्तिः ॥ ६४ ।

दुर्बोधत्वे हेतुर्यतो व्यसनी। दुर्बोध्य इति वा पाठः। दुर्वार्य इति वा क्वचित्। युक्तमेवैतदित्याह। मृगयेति। दुरोदरं द्यूतम्। **'पणे द्यूते दुरोदरः'** इत्यमरः॥ ६५ ।

सपारदारैः परदारनिमित्तं व्यसनं पारदारम्, तत्सहितैर्मृगयादिभिः सप्तभिः व्यसनैरत्र जगति को न खण्डितो ज्ञानभ्रंशतां न प्रापितः, अपि तु सर्वो लोक प्रापित एवेत्यर्थः। मध्येगृहे गृहमध्ये ॥ ६६ ।

कुप्यं स्वर्णरजतातिरिक्तताम्रादिभाजनं तत्सहितं वसनादिकं वस्त्रादिकम्। स गुणनिधिरिति वा। ऊर्मिकां मुद्रिकाम् ॥ ६७।

मैं तुम्हारे पिता के ही चरण में दत्तचित्ता हूँ। इन मेरी बातों के साक्षी वही महेश्वर हैं। मैंने तो ऋतुस्नान करने पर भी किसी दुष्ट का मुख नहीं निहारा ॥ ६३।

ओः! दैव ही (विधि ही) बलवान् है। उसी ने तुम सरीखे (कुलांगार) को उत्पन्न किया। माता के क्षण-क्षण यों ही सिखलाते रहने पर भी अतिदुर्मद, नीच गुणनिधि ने उन असत् कर्मों को नहीं छोड़ा; क्योंकि व्यसनी (आदती) समझाने से नहीं मानते। अहेर, मद्य, पिशुनता (चुगलखोरी) वेश्या (गमन), चोरी, जुआ और परस्त्री-गमन—इन सब कुव्यसनों से संसार में किसका सर्वनाश नहीं होता? वह दुर्बुद्धि घर में जो कुछ वर्त्तन, कपड़ा इत्यादि देख पाता है, (चट) ले जाकर जुआड़ियों को सौंप देता है। एक बार पिता की नवरत्न की अँगूठी सोती हुई माता के

स्वपन्त्यास्त्वेकदाऽऽदाय दुरोदरिकरेऽर्पयत् ।
एकदा गच्छता राजभवनान्निजमुद्रिका ॥ ६८ ।
दीक्षितेन परिज्ञाता दैवाद् द्यूतकृतः करे ।
उवाच दीक्षितस्तं च कुतो लब्धा त्वयोर्मिका ।
पृष्टस्तेनाऽथ निर्बन्धादसकृत् प्रत्युवाच किम् ॥ ६९ ।
ममाक्षिपसि विप्रोच्चैः किं मया चौर्यकर्मणा ।
लब्धा मुद्रा त्वदीयेन पुत्रेणैषा ममार्पिता ॥ ७० ।
मम मातुर्हि पूर्वेद्युर्जितस्वानीतो हि शाटकः ।
न केवलं ममाप्येतदङ्गुलीयं समर्पितम् ॥ ७१ ।
अन्येषां द्यूतकर्तृणां भूरि तेनार्ऽपितं वसु ।
रत्नकुप्यदुकूलानि भृङ्गारुप्रभृतीनि च ॥ ७२ ।
भाजनानि विचित्राणि कांस्यताम्रमयानि च ।
नग्नीकृत्य प्रतिदिनं बध्यते द्यूतकारिभिः ॥ ७३ ।

दुरोदरं द्यूतं वर्तते यस्याऽसौ दुरोदरी, तस्य करे दत्तवानिति ॥ ६८ ।

हे विप्र किं किमर्थम् । उत्तरत्राऽन्वयः ॥ ६९ ।

मम माम् । मामाक्षिपसीति वा पाठः । उच्चैर्यथा स्यात्तथाऽऽक्षिपसि किम् ? मया मुद्रा मुद्रिकाचौर्यकर्मणा लब्धा; अपितु न लब्धेति । किं मां क्षिपसीति पाठे किं कुत्सितं यथा स्यात्तथा किं किमर्थं क्षिपसि आक्षिपसीत्यर्थः । कथं तर्हि प्राप्ता तत्राह । त्वदीयेनेति ॥ ७० ।

हाथ से उतारकर जुआड़ी के हाथ में दे आया । तत्पश्चात्, एक दिन दीक्षित राजभवन से लौट रहे थे, तभी दैवयोग से एक द्यूतकार (जुआड़ी) के हाथ में अपनी अँगूठी देखकर पहचान गए और उससे कहने लगे कि "तुमने यह अँगूठी कहाँ पाई है ? (अरे !) तुम्हारे बेटे ने ही तो मुझे दी है ॥ ६४-७० ।

अभी तो कल ही तुम्हारा बेटा मेरी माता की एक साड़ी जीत कर ले गया है । उसने केवल मुझी को यह अँगूठी नहीं दी है, और भी कितने ही जुआरियों को बहुत-सा द्रव्य दे डाला है । रत्न, स्वर्ण, रजतभिन्न धन, वस्त्र, झारी (गडुआ) इत्यादि और काँसे, तामे के विचित्र वर्तन आदि उसने सभी दे दिए हैं । उससे तो प्रतिदिन जुआरी लोग नंगा करके ये सब वस्तुएँ ले लेते हैं ॥ ७१-७३ ॥

न तेन सदृशः कश्चिदाक्षिको भूमिमण्डले ।
अद्य यावत्त्वया विप्र दुरोदरशिरोमणिः ॥ ७४ ।
कथं नाज्ञायि तनयोऽविनयानयकोविदः ।
इति श्रुत्वा त्रपाभारविनम्रतरकन्धरः ॥ ७५ ।
प्रावृत्य वाससा मौलिं प्राविशन्निजमन्दिरम् ।
महापतिव्रतामास्य पत्नीं प्रोवाच तामथ ॥ ७६ ।
दीक्षितायिनि कुत्राऽसि क्व ते गुणनिधिः सुतः ।
अथ तिष्ठतु किं तेन क्व सा मम शुभोर्मिका ॥ ७७ ।
अङ्गोद्वर्तनकाले या त्वया मेऽङ्गुलितो हृता ।
नवरत्नमयी शीघ्रं तामानीय प्रयच्छ मे ॥ ७८ ।
इति श्रुत्वाऽथ तद्वाक्यं भीता सा दीक्षितायिनी ।
प्रोवाच सा तु माध्याह्नीं क्रियां निष्पादयत्वथ ॥ ७९ ।

आक्षिकः अक्षेण व्यवहरतीत्याक्षिको द्यूतकार इत्यर्थः । अद्य यावदद्यारभ्य तेन त्वत्पुत्रेण सदृशो द्यूतकारो नाऽभूदस्तीति चेदिति शेषः । अतो दुरोदरशिरोमणिर्द्यूतकारश्रेष्ठः ॥ ७४ ।

कथं त्वया नाज्ञायि अद्य यावत् ? कथं नाज्ञायीति वा काकाक्षिन्यायेनोभयत्र वा सम्बन्धः । कथम्भूतः ? अविनयानयकोविदः, न विनयोऽविनयः दुर्नय इत्यर्थः । न नयोऽनयो दुर्नीतिरनीतिशास्त्रमिति वा, तयोः कोविदः पण्डितः । व्यसनी चौर्यकोविद इति क्वचित् ॥ ७५ । आस्य उपविश्य च ॥ ७६ ।

मे मम अङ्गुलितोऽङ्गुल्याः सकाशात् त्वया हृतेति क्वचित् । मया तव समर्पितेति चान्यत्र ॥ ७८ ।

उसके सदृश पृथ्वी-मण्डल में कोई भी पासा फेंकनेवाला खिलाड़ी नहीं है । हे विप्र ! आज तक तुमने अविनय और अत्याचार के पण्डित जुआचारों के शिरोमणि, अपने पुत्र को क्यों नहीं जाना ? दीक्षित ने यह सब सुनकर लज्जा से मस्तक नीचे झुकाकर कपड़ा से शिर ढाँपकर अपने घर चले गये । उसके अनन्तर परम पतिव्रता अपनी पत्नी से बोले—दीक्षितायिनि ! तुम कहाँ हो ? और तुम्हारा बेटा गुणनिधि कहाँ है ? अथवा रहने दो, उससे मुझे कौन काम है ? मेरी वह उत्तम अँगूठी (मुदरी) कहाँ है ? जिसे तुमने उबटन लगाते समय मेरी अँगुली से निकाल लिया था । वह नवरत्न की अँगूठी लाकर मुझे अभी दो ॥ ७४-७८ ।

दीक्षितायिनि उनकी यह बात सुनकर बहुत डर गईं और बोलीं कि इस घड़ी

व्यग्राऽस्मि देवपूजार्थमुपहारादिकर्मणि ।
समयोऽयमतिक्रामेदतिथीनां प्रियातिथे ॥ ८० ।
इदानीमेव पक्वान्नकरणव्यग्रया मया ।
स्थापिता भाजने क्वापि विस्मृतेति न वेद्म्यहम् ॥ ८१ ।

दीक्षित उवाच—

हंहो सत्पुत्रजननि नित्यं सत्यप्रभाषिणि ।
यदा यदा त्वां संपृच्छे तनयः क्व गतस्त्विति ॥ ८२ ।
तदा तदेति त्वं ब्रूया नाथेदानीं स निर्गतः ।
अधीत्याध्ययनार्थं च द्वित्रैर्मित्रैः सयुग् बहिः ॥ ८३ ।
कुतस्त्वच्छाटकः पत्नि माञ्जिष्ठो यो मयार्ऽपितः ।
लम्बते वस्त्रधान्यां यस्तथ्यं ब्रूहि भयं त्यज ॥ ८४ ।

हंहो इति सम्बोधने । हंहो हे सत्पुत्रजननि इति सक्रोधोपहासः ॥ ८२ ।

सह युनक्तीति सयुक्, सहित इत्यर्थः ॥ ८३ ।

त्वत् तव । स शाटक इति क्वचित् ।

तच्छटाक इत्यन्यत्र । शाटकः स्थूलशाटकः । भामा सत्यभामेतिवत् । वराशिरित्यर्थः । 'वराशिः स्थूलशाटकः' इत्यमरः । मञ्जिष्ठया आरक्तो माञ्जिष्ठः । तु निश्चितम् । वस्त्रधान्यां वस्त्राणि धीयन्तेऽस्यामिति वस्त्रधानी, रज्वादिनिर्मितवस्त्रस्थानम्, तस्यां लम्बते स्मेत्यध्याहारः ॥ ८४ ।

आप मध्याह्न के कर्मों का सम्पादन करें ॥ ७९ ।

देवपूजन की सामग्री जुटाने में मैं व्यग्र हूँ । हे प्रियायिथे ! अतिथियों का भी समय बीता जा रहा है ॥ ८० ।

अभी पकवान बनाने में व्यग्र होकर मैंने उसे कहीं किसी बर्तन में रख दिया है। ध्यान से उतर जाने के कारण स्मरण नहीं हैं ॥ ८१ ।

दीक्षित कहने लगे—ओ हो ! सुपात्र पुत्र की जननी ! नित्य ही सत्य-वचन बोलती हो । मैंने जब-जब तुमसे पूछा कि लड़का कहाँ गया है ? तब-तब तुम यही कहती रही कि, "नाथ ! यहाँ पर पढ़कर दो-तीन मित्र-जनों के साथ पढ़ने के लिये अभी बाहर गया है ॥ ८२-८३ ।

हे पत्नि ! मजीठ की रंगी वह साड़ी जो मैंने तुमको दी थी, जो इस खूंटी (अरगनी) पर लटकती थी, कहाँ है ? भय छोड़कर सत्य बात कहो ॥ ८४ ।

साम्प्रतं नेक्ष्यते सोऽपि भृङ्गारुर्मणिमण्डितः ।
पट्टसूत्रमयी साऽपि त्रिपटी क्व नृपार्पिता ॥ ८५ ।

क्व दाक्षिणात्यं तत्कांस्यं गौडीताम्रघटी क्व सा ।
नागदन्तमयी सा क्व सुखकौतुकमञ्चिका ॥ ८६ ।

क्व सा पर्वतदेशीया चन्द्रकान्तशिलोद्भवा ।
दीपिका व्यग्रहस्ताग्रासालंकृच्छालभञ्जिका ॥ ८७ ।

किं बहूक्तेन कुलजे तुभ्यं कुप्याम्यहं वृथा ।
तदाभ्यवहरिष्येहमुपयंस्याम्यहं यदा ॥ ८८ ।

भृङ्गारुर्गडुकविशेषः । त्रिगुणिता पटी त्रिपटी अङ्गाच्छादनप्रतिष्ठावस्त्रमित्यर्थः ॥ ८५ ।

दक्षिणस्यां दिशि भवं दाक्षिणात्यम् । गौडदेशोद्भवा गौडी । नागो गजः । मञ्चिका सूक्ष्मखट्वा ॥ ८६ ।

पर्वतदेशीया पर्वतदेशोद्भवा शालभञ्जिका पुत्तलिका । या सा क्वेत्यन्वयः । कथम्भूता ? चन्द्रकान्तशिलोद्भवा तन्निर्मिता दीप्यतीति दीपिका उज्ज्वलेत्यर्थः । अव्यग्रहस्ताग्रा वरं प्रार्थितुमुद्यतकराग्रेत्यर्थः । अलङ्कृदलङ्करणं तत्सहिता या सा सालङ्कृत् ॥ ८७ ।

किं बहूक्तेनेति । यदाहमुपयंस्यामि उद्वहिष्यामि विवाहान्तरं करिष्यामीति यावत् । उपनेष्यामीति पाठेऽपि स एवार्थः । तदाहं अभ्यवहरिष्ये भोक्ष्ये भोजनं करिष्यामित्यर्थः ॥ ८८ ।

वह मणि-मण्डित झारी भी अब नहीं दिखलायी पड़ती । पट्टसूत्र की बनी राजा की दी हुई वह त्रिपटी (चादर) कहाँ है ? ८५ ।

वह दक्षिण देश की (दखिनहिया) कांसी (लोटिया) और वह गौड़देशवाला ताम्र का घड़ा (गगरा) कहाँ है ? सुख और कुतूहल देनेवाली हाथी-दाँत की वह मचिया भी कहाँ है ? ॥ ८६ ।

पर्वत-देश की चन्द्रकान्त मणि की बनी हुई हाथों को उठाकर अग्रभाग में दीप-ग्रहण करनेवाली वह पुतली कहाँ है ? ॥ ८७ ।

हे कुलजे ! बहुत बकवाद से क्या होगा ? तुम्हारे ऊपर हमारा क्रोध करना भी वृथा है । मैं जब तक दूसरा विवाह न कर लूँगा ॥ ८८ ।

अनपत्योऽस्मि तेनाहं दुष्टेन कुलदूषिणा ।
उत्तिष्ठानय दर्भाम्बु तस्मै दद्यां तिलाञ्जलिम् ॥ ८९ ।
अपुत्रत्वं वरं नृणां कुपुत्रात् कुलपांसनात् ।
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे नीतिरेषा सनातनी ॥ ९० ।
स्नात्वा नित्यविधिं कृत्वा तस्मिन्नेवाह्निकस्यचित् ।
श्रोत्रियस्य सुतां प्राप्य पाणिं जग्राह दीक्षितः ॥ ९१ ।
श्रुत्वा तथा स वृत्तान्तं प्राक्तनं स्वं विनिन्द्य च ।
काञ्चिद्दिशं समालोच्य निर्ययौ दीक्षितात्मजः ॥ ९२ ।

कुलपांसनात् कुलदूषणात् । कुलपांसुलादिति पाठेऽपि स एवार्थः । कुललाञ्छनादिति क्वचित्पाठः । त्यजेदेकमिति । तथा चोक्तम्—

यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ इति ।

भागवते च धृतराष्ट्रं प्रति विदुरवाक्यम्—'त्यजाश्वसैवं कुलकौशलाय' इति ॥ ९० ।

सुतां प्राप्य । प्रार्थ्येति च क्वचित् ॥ ९१ ।

समालोच्य विचार्य । समालम्ब्येति क्वचित् ॥ ९२ ।

मैं उस कुल-दूषक दुष्ट से (दुष्ट संतान की अपेक्षा) निःसंतान हूँ । (निःसंतान ही अपने को अच्छा मानूंगा) उठो कुश तथा जल लाओ, मैं उसे तिलाञ्जलि दे दूँ ॥ ८९ ।

कुल-पांसुन कुपुत्र होने की अपेक्षा मनुष्य का अपुत्र होना अच्छा है । यह नीति सनातन काल से चली आई है कि पूरे कुल के कल्याण हेतु एक व्यक्ति को त्याग देना चाहिए ॥ ९० ।

दीक्षित ने स्नानोत्तर नित्यकृत्य समाप्त कर उसी दिन किसी एक श्रोत्रिय कन्या से विवाह कर लिया ॥ ९१ ।

दीक्षित का पुत्र गुणनिधि यह सब समाचार सुनकर अपने अदृष्ट की निन्दा करता हुआ, देख-भाल कर किसी दिशा में निकल गया और उसे बड़ी चिन्ता हुई ।

चिन्तामवाप महतीं क्व यामि करवाणि किम् ।
नाहमभ्यस्तविद्योऽस्मि न चैवास्तिधनोऽस्म्यहम् ॥ ९३ ॥
देशान्तरे ह्यस्तिधनः सविद्यः सुखमेधते ।
भयमस्तिधने चौरात् सविद्यः सर्वतोऽभयः ॥ ९४ ॥
यायजूककुले जन्म क्व क्व मे व्यसनं तथा ।
अहो बलीयान् स विधिर्भाविकर्मानुसंधयेत् ॥ ९५ ॥
भिक्षितुं नाधिगच्छामि न मे परिचितः क्वचित् ।
न च पार्श्वे धनं किञ्चित् किमत्र शरणं भवेत् ॥ ९६ ॥
सदानभ्युदिते भानौ प्रसूर्मे मृष्टभोजनम् ।
दद्यादद्यात्र कं याचे याचेह जननी न मे ॥ ९७ ॥

अस्तिधनः, अस्ति विद्यमानं धनं यस्य सोऽस्तिधनः । अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् ॥ ९३ ॥

देशान्तरेऽस्तिधनद इति क्वचित् । अस्तिधनत इति वाऽन्यत्र । नाहमभ्यस्तवेदोऽस्मि न चैवास्ति धनागमः देशान्तरे यो धनवान् सविद्यः सुखमेधत इति क्वचित्पाठः, स स्पष्टार्थः ॥ ९४ ॥

यायजूककुले इज्याशीलस्य वंशे । **'इज्याशीलो यायजूकः'** इत्यमरः अनुसन्धयेद्योजयेत् ॥ ९५ ॥

नाधिगच्छामि नाभिजानामि । परिचितः कश्चिज्जन इति शेषः । परिचितिरिति क्वचित् ॥ ९६ ॥

याचे प्रार्थये । या च मे जननी, सा इह नेति योजना । सा चेति वा पाठः ॥ ९७ ॥

सोचने लगा कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? न तो मैंने विद्या ही पढ़ी और न ही मेरे पास धन ही है ॥ ९२-९३ ।

परदेश में तो धनी अथवा विद्वान् ही सुख पाता है । उसमें भी धनवान् को तो चोर (डाकू) का भय रहता है; पर पण्डितजन सर्वत्र ही निर्भय बना रहता है ॥ ९४ ।

कहाँ तो मेरा याज्ञिक ब्राह्मण-वंश में जन्म, और कहाँ यह (नीच) व्यसन ? (आकाश पाताल का भेद) । भावी कर्म के संघट का विधाता ही बलवान् है ॥ ९५ ।

मैं न तो भीख ही माँगना जानता हूँ और न कोई मेरा परिचित ही यहाँ है । पास में कुछ धन भी नहीं है । फिर ऐसी दशा में मेरी रक्षा कैसे होगी ? ॥ ९६ ।

सूर्य के उदय होने से पहले ही मेरी माता मुझे मिठाई जलपान देती थी, उसके लिए आज यहाँ किससे प्रार्थना करूँ और फिर माँ तो यहाँ पर है ही नहीं ॥ ९७ ।

इति चिन्तयतस्तस्य भानुरस्ताचलं गतः ।
एतस्मिन्नेव समये कश्चिन्माहेश्वरो नरः ॥ ९८ ।
महोपहारानादय नगराद् बहिरभ्यगात् ।
समभ्यर्चितुमीशानं शिवरात्रावुपोषितः ॥ ९९ ।
पक्वान्नगन्धमाघ्राय क्षुधितः स तमन्वगात् ।
इदमन्नं मया ग्राह्यं शिवायोपस्कृतं निशि ॥ १०० ।
इत्याशामवलम्ब्याऽथ द्वारि शम्भोरुपाविशत् ।
ददर्श च महापूजां तेन भक्तेन निर्मिताम् ॥ १०१ ।
विधाय नृत्यगीतादि भक्ताः सुप्ताः क्षणं यदा ।
नैवेद्यं स तदाऽऽदातुं गर्भागारं विशेश ह ॥ १०२ ।
दीपं मन्दप्रभं दृष्ट्वा पक्वान्नावेक्षणाय सः ।
निजचैलाञ्चलाद्वर्ति दत्वा समुद्दीपयत् ॥ १०३ ।

महोपहारान् महापूजासम्भारान् ॥ ९९ । **तमन्वगात्** तं माहेश्वरमनु पश्चादगाद् गतवान् ॥ १०० । **गर्भागारं** अगारस्य मध्यम् ॥ १०२ ।

निजचैलाञ्चलात् स्ववस्त्राग्रतो वर्ति दशां समुद्दीपयत् सम्यक् ज्वालयामास ॥ १०३ ।

गुणनिधि के यों ही चिन्ता करते-करते सूर्य अस्ताचल को चल दिये। ठीक उसी समय पर कोई शैव मनुष्य शिवरात्रि-व्रत का उपवासी होने से महादेव की पूजा करने को बहुत-सी सामग्री लेकर नगर से बाहर जाने लगा ॥ ९८-९९ ।

वह भूखा गुणनिधि पकवान की गन्ध सूंघकर उसके पीछे हो चला और सोचने लगा कि रात्रि में शिव निवेदित यह अन्न मैं ले लूंगा ॥ १०० ।

वह इसी आशा में पड़कर शिवालय के द्वार पर बैठा हुआ उस भक्त के द्वारा अनुष्ठित उस पूजा को देखता रहा ॥ १०१ ।

(पूजा हो जाने पर) भक्त लोग नृत्य-गीतादि करके क्षणमात्र के लिये जब सो गए, तब उसी समय नैवेद्य ग्रहण करने के लिए वह दीक्षित का पुत्र मंदिर के भीतर घुसा ॥ १०२ ।

उसने दीपक को अति मन्द-प्रभा होते देख पकवान ही देखने की इच्छा से अपने वस्त्र का अंचल फाड़कर बत्ती बना दी और दिए को उद्दीपित कर दिया ॥ १०३ ।

ततः पक्वान्नमादाय त्वरितं गच्छतो बहिः ।
तस्य पादतलाघातात् प्रसुप्तः कोऽप्यबुध्यत ॥ १०४ ।
कोऽयं कोऽयं त्वरापन्नश्चौरोऽयं गृह्यतामिति ।
यावद् ब्रूयात् समागत्य तावत् स पुररक्षकैः ॥ १०५ ।
पलायमानो निहतः क्षणात् पञ्चत्वमागतः ।
अभक्षयच्च नैवेद्यं भाविपुण्यबलान्न सः ॥ १०६ ।
अथ बद्धः समागत्य पाशमुद्गरपाणिभिः ।
निनीषुभिः संयमिनीं याम्यैः स विकटैर्भटैः ॥ १०७ ।

अभक्षयच्चेति । भाविपुण्यवशाद् भविष्यच्छिवरात्रोपोषणपुण्यवशात् । निर्माल्य-भक्षणे उपोषणनाशप्रसङ्गात् । अत एव शिवदूता वक्ष्यन्ति । उपोषितेन भूतायामिति । यत्तु शिवनिर्माल्यभोक्तार इत्यादि, तत्तु तेषां सूक्ष्मधर्मापरिज्ञानात् । तथा च वक्ष्यन्ति शिवदूताः—'**किङ्कराः शिवधर्मा ये सूक्ष्मास्ते वै भवादृशैः**' इत्यादि । यद्वा बाण-लिङ्गाद्यतिरिक्तविषयं तद्यमदूतवचनम् । तथा च—

बाणलिङ्गे स्वयम्भूते चन्द्रकान्ते हृदिस्थिते ।
तत्र क्रतुशतं पुण्यं शम्भोर्नैवेद्यभक्षणम् ॥ इति ।

तत्र बाणलिङ्गं नार्मदम् । हृदिस्थितं प्राणलिङ्गं हृत्प्रदेशे प्राणवच्छैवैर्धार्यमाणं लिङ्गमित्यर्थः । हृदि ध्यानविषयत्वेन स्थितं लिङ्गमिति वा । रुद्रभुक्तं भुञ्जीत रुद्रपीतं पिबेद्रुद्राघ्रातं जिघ्रेदिति च **जाबालिश्रुतिः** ॥ १०६ ।

अथेति । अथानन्तरं यावत् समागत्य विकटैर्भटैः स बद्धस्तावत् पारिषदास्तं नेतुं प्राप्ता इति द्वितीयश्लोकेनाऽन्वयः ॥ १०७ ॥

उसके पश्चात् पकवान लेकर शीघ्रता से बाहर निकलते हुए उसके पैर का धक्का लग जाने से कोई व्यक्ति जाग उठा ॥ १०४ ।

अरे यह कौन है, कौन है ? जो शीघ्रता से भागा जा रहा है । यह तो चोर है, इसे पकड़ो । उस मनुष्य के यह कहते ही पुर-रक्षकों (प्रहरी-पहरेदार) ने आकर भागे जाते हुए गुणनिधि को ऐसा मारा कि वह क्षणभर में मृत्यु को प्राप्त हो गया । भावी शिवरात्रि-व्रत के पुण्य-बल से वह शिव का नैवेद्य नहीं खा सका ॥ १०५-१०६ ।

अनन्तर पाश-मुद्गरधारी विकटस्वरूप यमदूतगण आकर उसे संयमिनी नामक यमपुरी में ले जाने के हेतु बाँधने लगे ॥ १०७ ।

तावत् पारिषदाः प्राप्ताः किङ्किणीजालमालितम् ।
दिव्यं विमानमादाय तं नेतुं शूलपाणयः ॥ १०८ ॥
शम्भोर्गणान् समालोक्य भीतैस्तैर्यमकिङ्करैः ।
अवादि प्रणतैरित्थं दुर्वृत्तोऽयं गणा द्विजः ॥ १०९ ॥
कुलाचारप्रतीपोऽयं पित्रोर्वाक्यपराङ्मुखः ।
सत्यशौचपरिभ्रष्टः सन्ध्यास्नानविवर्जितः ॥ ११० ॥
आस्तां दूरेऽस्य कर्माणि शिवनिर्माल्यहारकः ।
प्रत्यक्षतोऽत्र वीक्ष्यध्वमस्पृश्योऽयं भवादृशाम् ॥ १११ ॥
शिवनिर्माल्यभोक्तारः शिवनिर्माल्यलङ्घकाः ।
शिवनिर्माल्यदातारः स्पर्शस्तेषां ह्यपुण्यकृत् ॥ ११२ ॥

किङ्किणीजालमालितम् क्षुद्रघण्टिकानिवहजातमालमित्यर्थः । **शूलपाणयः** रुद्रपारिषदा इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

शम्भोरिति । शम्भोर्गणान् समालोक्य यमकिङ्करैरित्थमवाद्युक्तमित्यन्वयः । किं तत् । हे गणा अयं द्विजो दुर्वृत्त इति ॥ १०९ ॥

दुर्वृत्तत्वमेवाह । **कुलेति** चतुर्भिः ॥ ११० ॥ आस्तामित्यत्र अकारलोप आर्षः । आसतामित्यर्थः ॥ १११ ॥

इतने में ही शिव के पारिषद् गण गुणनिधि को ले जाने के लिए किंकिणी-जाल से मण्डित दिव्य-विमान लेकर वहाँ उपस्थित हुए। उन यम-किंकरों ने शम्भुगणों को देखकर अति भीत (चकित) होकर, प्रणामपूर्वक निवेदन किया—हे शंभुगण ! यह ब्राह्मण तो बड़ा ही दुर्वृत्त है ॥ १०८-१०९ ।

यह कुलाचार के विपरीत चलने वाला माता-पिता की आज्ञा-पालन से विमुख, सत्य (के लेश) से हीन, शौचभ्रष्ट, सन्ध्या-स्नान से रहित है ॥ ११० ।

इसके और कर्मों की बातें तो दूर जाने दीजिए, देखिए यहाँ पर प्रत्यक्ष ही यह शिवनिर्माल्य का चोर है। यह तो आप लोगों द्वारा भी स्पर्श करने योग्य नहीं है ॥ १११ ।

शिव-निर्माल्य-भक्षक, शिव-निर्माल्य-लंघक और शिव-निर्माल्य-दाताओं का स्पर्श भी पुण्य-विनाशक है ॥ ११२ ।

विषमालोड्य वा पेयं श्रेयो वाऽनशनं परम्।
सेवितव्यं शिवस्वं न प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ ११३ ।

यूयं प्रमाणं धर्मेषु यथा न च तथा वयम्।
अस्ति चेद्धर्मलेशोऽस्य गणास्तच्छृणुमो वयम् ॥ ११४ ।

इत्थं तद्वाक्यमाकर्ण्य प्रोचुः पारिषदास्ततः।
किङ्कराः शिवधर्मा ये सूक्ष्मास्ते वै भवादृशैः ॥ ११५ ।

स्थूललक्ष्यैः कथं लक्ष्याऽलक्ष्या ये सूक्ष्मदृष्टिभिः।
अनेनानेनसा कर्म यत्कृतं श्रृणुतेह तत् ॥ ११६ ।

पतन्ती लिङ्गशिरसि दीपच्छाया निवारिता।
स्वचैलाञ्चलतोऽनेन दत्वा दीपे दशां निशि ॥ ११७ ।

तत्तहि ॥ ११४ ।

इत्थमिति। हे किङ्कराः ये शिवधर्मास्ते भवादृशैः सूक्ष्मा अलक्ष्या एव ॥ ११५ ।

एतदेव स्पष्टयति। **स्थूललक्ष्यैरिति**। सूक्ष्मदृष्टिभिर्ये धर्मा लक्ष्याः, ज्ञेयाः। स्थूलं लक्ष्यं येषां तैः स्थूलदृष्टिभिः कथं लक्ष्या इत्यर्थः। अथवा हे किङ्कराः ये शिवधर्मास्ते अतीव सूक्ष्मा एव, अतः सूक्ष्मदृष्टिभिरित्यादि पूर्ववत्। अनेनसा निष्पापेन ॥ ११६ । दशां वर्तिम् ॥ ११७ ।

घोरतर विष पी लेना अथवा बहुत अनशन (भोजन न करना) अच्छा है; परन्तु प्राण-कण्ठगत होने पर भी शिवस्व का सेवन करना कदापि उचित नहीं है ? ॥ ११३ ।

धर्म के विषय में आप लोग जैसे प्रमाण हैं, हम लोग (कभी) नहीं हैं। तब हे शिवगण ! यदि इसको लेशमात्र भी धर्म हो तो हम लोग भी सुन लेवें ॥ ११४ ।

यमदूतों की यह बात सुनकर शिवगण बोले—हे यम-किंकर ! जो सूक्ष्म शिवधर्म है, वह तुम्हारे जैसे स्थूल दर्शियों को कैसे दिखाई पड़ेगा ? वह तो सूक्ष्म दृष्टियों से ही लक्ष्य होता है। इस पाप-रहित जन ने जो (सत्) कर्म यहाँ किया है, उसे सुनो—इसने रात्रि में अपने वस्त्र का अंचल फाड़कर बत्ती बनाई और दीप में लगाकर लिंग के शिर पर पड़ती हुई दीप की छाया का निवारण किया है ॥११५-११७।

अपरोऽपि परो धर्मो जातस्तत्राऽस्य किङ्कराः ।
शृण्वता शिवनामानि प्रसङ्गादपि गृह्णतः ॥ ११८ ।
भक्तेन विधिना पूजा क्रियमाणा निरीक्षता ।
उपोषितेन भूतायामनेन स्थिरचेतसा ॥ ११९ ।
कलिङ्गराजो भविताऽधुना विधुतकल्मषः ।
एष द्विजवरो दूता यूयं यात यथागताः ॥ १२० ।
पार्षदैर्यमदूतेभ्यो मोचितस्त्विति स द्विजः ।
अरिन्दमस्य तनयः कलिङ्गाधिपतेर्दमः ॥ १२१ ।
क्रमाद्राज्यमवाप्याऽथ पितर्युपरते युवा ।
नान्यं धर्मं विजानाति दुर्दमो भूपतिर्दमः ॥ १२२ ।
शिवालयेषु सर्वेषु दीपदानादृते द्विज ।
ग्रामाधीशान् समाहूय सर्वान् स्वविषयस्थितान् ॥ १२३ ।

शिवनामानि गृह्णतः पुरुषात् सकाशात् प्रसङ्गात्तानि शृण्वता ॥ ११८ ।
भक्तेन विहिता पूजा अनेन निरीक्षिता भूतायां चतुर्दश्याम् ॥ ११९ ।
इति यतः । अतः कलिङ्गराजो भवितेति ॥ १२० ।

इसका एक और भी उत्कृष्ट धर्म शिवालय में संचित हुआ है । हे यम-किंकरगण ! प्रसंगवश भक्तों के मुख से निःसृत शिव के नामों को इसने सुना है और विधिपूर्वक भक्तों से क्रियमाण शिव की पूजा को देखा है एवं स्थिर-चित्त होकर इसने शिव-चतुर्दशी में उपवास भी किया है ॥ ११८-११९ ।

हे दूतो ! अब पाप-पुंज से रहित यह द्विजवर कलिंग देश का राजा होगा । तुम लोग जैसे आए हो वैसे ही चले जाओ ॥ १२० ।

शिव-पारिषदों के द्वारा यमदूतों से इस प्रकार छुड़ाए जाने पर वह द्विज कलिंग देशाधिपति अरिन्दम के यहाँ पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ ॥ १२१ ।

क्रमशः युवा होकर उस (दम) ने पिता के शान्त होने पर राज्य प्राप्त किया । हे द्विज ! वह दुर्दम भूपति दम, सब शिवालयों में दीपदान से भिन्न दूसरा कोई धर्म नहीं जानता था । (राज्य पाते ही उसने राजसेवकों को) बुलाकर यह आज्ञा प्रचारित कर दी कि जिसके-जिसके गाँव में जितने-जितने शिवालय हैं, वे ग्रामाध्यक्ष उन-उन

इत्थमाज्ञापयामास स मे दण्ड्यो भविष्यति ।
यस्य यस्याभितो ग्रामं यावन्तश्च शिवालयाः ॥ १२४ ।
तत्र तत्र सदा दीपो द्योतनीयोऽविचारितम् ।
ममाज्ञाभङ्गदोषेण शिरश्छेत्स्याम्यसंशयम् ॥ १२५ ।
इति तद्भयतो दीप्ता दीपाः प्रतिशिवालयम् ।
अनेनैव स धर्मेण यावज्जीवं दमो नृपः ॥ १२६ ।
धर्मर्द्धिं महतीं प्राप्य कालधर्मवशं गतः ।
स दीपवासनायोगाद् बहून् दीपान् प्रदीप्य वै ।। १२७ ।
अलकायाः पतिरभूद्रत्नदीपशिखाश्रयः ।
एवं फलति कालेन शिवेऽल्पमपि यत्कृतम् ॥ १२८ ।
इति ज्ञात्वा शिवे कार्यं भजनं स्वसुखार्थिभिः ।
क्व स दीक्षितदायादः सर्वधर्मपराङ्मुखः ॥ १२९ ।

स मे दण्ड्यो भविष्यति, यस्तु ममाज्ञां न करिष्यतीति शेषः। आज्ञामेवाह। यस्य यस्येति। ग्राममभितः ग्रामस्य समन्ततः ॥ १२४ ।

दण्डमेवाह। ममाज्ञाभङ्गदोषेणेति ॥ १२५ ।

रत्नदीपशिखाश्रयः। रत्नान्येव दीपास्तेषां शिखानामाश्रयः रत्नश्रेष्ठानां पतिरित्यर्थः ॥ १२८ ।

शिवालयों में प्रतिदिन दीपवत्ती जलाएँ। इस विषय में कोई कुछ विचार न करे। यदि कोई मेरी आज्ञा भंग करेगा, वह दण्डनीय होगा। मैं अवश्य उसका शिर काट लूंगा ॥ १२२-१२५ ।

इसी कारण प्रत्येक शिवालय में उसके भय से दीए बरने (जलने) लगे। इसी धर्म के प्रभाव से यावज्जीवन वह राजा दम बड़ी धर्म-सम्पत्ति को भोगकर (यथा-समय) कालधर्म के वशंगत हुआ। वह राजा दम दीपदान के संस्कारवश दूसरे जन्म में शिवालयों में बहुत अधिक दीप-दानकर उसी पुण्यबल से अब रत्नदीप शिखावलियों का आश्रय अलकापुरी का स्वामी हुआ है। शिव के निमित्त अत्यल्प कार्य भी कर देने से काल पाकर यों ही (अल्प कार्य भी) महत् फल देता है ॥ १२६-१२८ ।

यह विचार कर आत्म-सुखाभिलाषी जन को शिव का भजन (सेवन) करना चाहिए। कहाँ तो वह दीक्षित का सन्तान, सर्व-धर्म-कर्म से रहित हो अपने-अपने अर्थ-

स्वार्थदीपदशोद्योतलिङ्गमौलितमोहरः ।
कलिङ्गविषये राज्यं प्राप्तो धर्मरतिः सदा ॥ १३० ।
शिवालये समुद्दीप्य दीपान् प्राग्वासनोदयात् ।
क्वैषा दिक्पालपदवी शिवशर्मन् विलोकय ॥
मनुष्यधर्मणानेन साम्प्रतं येह भुज्यते ॥ १३१ ।

गणावूचतुः—
सर्वदैव शिवेनाऽसौ सखित्वं च यथेयिवान् ।
तदप्येकमना विप्र संशृणुष्व ब्रवावहे ॥ १३२ ।

स्वार्थेति । स्वार्थं स्वप्रयोजनार्थं दीपवर्त्युद्दीप्त्या लिङ्गमस्तकान्धकारं हरतीति सः ॥ १३० ।

प्राग्वासनोदयात् पूर्वसंस्कारस्फुरणात् । अतिविस्मयेनाहतुः । क्वैषेति । हे शिवशर्मन् विलोकय पश्य । किम् । एषा दिक्पालपदवी स्थानं क्व ? एषा केत्याकाङ्क्षायामाहतुः । मनुष्यधर्मणाऽनेन गुणनिधिना साम्प्रतं या इह स्वर्गे भुज्यते, सा वा क इति शेषः ॥ १३१ ।

न केवलमलकायाः पतिरभूदीश्वरेण सार्धं मित्रतां च प्राप्तवानित्याहतुः । सर्वदैवेत्यादिना । संशृणुष्व सम्यक् शृणु । आत्मनेपदमार्षम् । [1]पाठान्तरे हे स्व स्वीय आत्मीयेति शिवशर्मसम्बोधनम् ॥ १३२ ।

वश दीपक में बत्ती लगाकर लिंग के ऊपर के अंधकार को दूर करता था ? और कहाँ (उसी पुण्यप्रभाव से) सदा धर्म-निष्ठ कलिंग देश का राजा हुआ ॥ १२९-१३० ।

उस पर फिर पूर्वजन्म की वासना के उदय हो जाने से शिवालयों में दीप-प्रज्वलित करके देखो शिवशर्मन् ! वही गुणनिधि यहाँ पर मनुष्यधर्मा (कुबेर) होकर सम्प्रति जिस दिक्पाल-पद का भोग कर रहा है, यह कहाँ है ? (क्या था क्या हो गया ?) ॥ १३१ ।

विष्णु के गणों ने फिर कहा—हे विप्र ! कुबेर ने जिस प्रकार से शिव के साथ सर्वदा के लिए सखित्व पाया, उसे भी कहते हैं। एकाग्र मन से श्रवण करो ॥ १३२ ।

---

१. स्वशृणुष्वेत्येवं रूपे ।

पाद्मे कल्पे पुरा विप्र ब्रह्मणो मानसात्सुतात् ।
पुलस्त्याद्विश्रवा जज्ञे तस्य वैश्रवणः सुतः ॥ १३३ ।
तेनेयमलका भुक्ता पुरी विश्वकृता कृता ।
आराध्य त्र्यम्बकं देवमत्युग्रतपसा पुरा ॥ १३४ ।
व्यतीते तत्र कल्पे वै प्रवृत्ते मेघवाहने ।
याज्ञदत्तिरसौ श्रीदस्तपस्तेपे सुदुःसहम् ॥ १३५ ।

पाद्मे कल्पे लोकत्रयात्मकपद्मसृष्टौ। वैश्रवणः विश्रवसः पुत्रः कुबेर इत्यर्थः॥ १३३।

तत्र पाद्मे। मेघवाहने रौद्रकल्प इत्यनुषज्यते। तथा चोक्तं वासिष्ठे—

कदाचित् सृष्टयः शार्व्यः कदाचित् पद्मजोद्भवाः।
कदाचिदपि वैष्णव्यः कदाचिन्मुनिनिर्मिताः॥ इति।

कथं रुद्रस्य मेघवाहनता। तच्चात्रैवोक्तम्। यद्वा मेघमारुह्य श्रीकृष्णाय वरं दत्तवानिति। मेघवाहन इति। दानधर्मे। दिव्यं वर्षसहस्रं मेघो भूत्वा हरं विष्णुरवहदिति वा तथोच्यते। तथा च लैङ्गे—

ससर्ज शङ्करं ध्यात्वा ब्रह्माणं परमेश्वरः।
जनार्दनो जगन्नाथः कल्पे वै मेघवाहने॥
दिव्यं वर्षसहस्रं तु मेघो भूत्वाऽवहद्धरम्।
नारायणो महादेवं बहुमानेन सादरम्॥
दृष्ट्वा भावं महादेवो हरेः स्वात्मनि शङ्करः।
प्रददौ तस्य सकलं स्रष्टुं वै ब्रह्मणा सह॥
तदा तत्कल्पमाहुर्वै मेघवाहनसंज्ञया॥ इति।

यद्वा देव्योक्तेनोपरि मेघानां कृतावासत्वान्मेघवाहन इति पुराणान्तरम्।

हे विप्र! पूर्वकाल में जब पाद्म कल्प था, तभी ब्रह्मा के मानस-पुत्र पुलस्त्य से विश्रवा उत्पन्न हुए, उनके पुत्र वैश्रवण हुए॥ १३३।

अत्युग्र तपस्या के द्वारा त्रिलोचन देव की आराधना करके उन्होंने (वैश्रवण ने) पहले से ही विश्वकर्मा द्वारा रचित इस अलकापुरी का भोग किया॥ १३४।

इसके पीछे उस पाद्म-कल्प के व्यतीत होकर मेघवाहन-कल्प प्रवृत्त होने पर, वही यज्ञदत्त का पुत्र गुणनिधि कुबेर होकर प्राकन दीपक-के उसकाने मात्र के फल से

भक्तिप्रभावं विज्ञाय शम्भोस्तद्दीपमात्रतः ।
पुरीं पुरारेः सम्प्राप्य काशिकां चित्प्रकाशिकाम् ॥ १३६ ।
शिवैकदशमुद्बोध्य चित्तरत्नप्रदीपकम् ।
अनन्यभक्तिस्नेहाढ्यं तन्महो ध्याननिश्चलम् ॥ १३७ ।

यद्वा भक्तानां फलसेचनान्मेघो वृषस्तद्वाहनत्वाद् । यद्वा सेचनतृप्तिसाम्यान्मेघो वरस्तं प्रापयतीति मेघवाहनः । यद्वा अष्टमूर्तित्वात्सूर्यरूपेणावहादिमेघान् प्रापयतीति । यद्वा मेघवाहन इति ब्रह्मणः कल्पविशेषस्य नाम । तथा चोक्तं लैङ्गे—

भवोद्भवस्तपश्चैव भव्यारम्भः पुनः पुनः ।
ऋतुर्वह्निर्हव्यवाहः सावित्रस्तुत एव च ॥
उशिकः कुशिकश्चैव गान्धारो मुनिसत्तमाः ।
ऋषभश्च तथा पद्मो गान्धारी यश्च मध्यगः ॥
वैराजो वै निषादश्च मुख्यो वै मेघवाहनः ।
पञ्चमश्चित्रकश्चैव आकृतिस्तान एव च ॥
मनश्च दर्शो बृंहश्च तथा वैं श्वेतलोहितः ।
रक्तश्च पीतवासाश्च असितः सर्वरूपकः ॥
एवं कल्पास्तु संख्याता ब्रह्मणो व्यक्तजन्मनः । इति ।

यज्ञदत्तस्यापत्यं याज्ञदत्तिर्गुणनिधिरित्यर्थः । श्रीदो निधिपतित्वात् सम्पत्तित्वात् सम्पत्तिदः । सुदुःसहं सुदुष्करं तपस्तेप इत्यर्थः । ॥ १३५ ।

एतद्विवृणोति । भक्तिप्रभावमित्यारभ्य तत इत्यतः प्राक्तनेन । शम्भोर्भक्तिप्रभावं विज्ञाय काशिकां प्राप्य चित्तरत्नप्रदीपकमुद्बोध्य उज्ज्वाल्य शाम्भवं लिङ्गं संस्थाप्य यावत्तद्वर्ष्मत्वगस्थिपरिशोषितमस्थिचर्मावशिष्टं बभूव, तावद्वर्षाणामयुतं शतं दशलक्षं तपस्तताप कृतवानिति पञ्चमेनाऽन्वयः ॥ १३६ ॥

भक्तिप्रभावं विज्ञायेत्युक्तं तत्र हेत्वन्वेषणायामाह । **तद्दीपमात्रतः** तस्य प्रसिद्धस्य माहेश्वरस्य कृतस्य दीपस्य मात्रतः, दीपनं दीप उद्दीपनं उज्ज्वालनमिति यावत् । तन्मात्रतः तदेकमात्रत इत्यर्थः । कथम्भूतं चित्तरत्नप्रदीपकम् ? शिवैकदशं शिव एवैका-

---

शिव के भक्ति-प्रभाव को विचार आत्मतत्व-बोधिनी काशी में पहुंचकर अत्यन्त दुःसह तपस्या करने लगे ॥ १३५-१३६ ।

कुबेर ने पूर्व काल में दिया उसका देने के माहात्म्य को स्मरण कर इस बार सद्भावरूप पुष्प से पूजित शिवलिंग को स्थापित करके समीप में ही चित्तरूप रत्नदीप को प्रज्वलित किया । इस दीपक में शिव ही बत्ती, शिव में अनन्य भक्ति ही तेल, शिव के तेज का ध्यान ही निश्चलता है ॥ १३७ ।

शिवैक्यसुमहापात्रं तपोऽग्निपरिबृंहितम् ।
कामक्रोधमहाविघ्नपतङ्गाघातवर्जितम् ॥ १३८ ।

प्राणसंरोधनिर्वातं निर्मलं निर्मलेक्षणात् ।
संस्थाप्य शाम्भवं लिङ्गं सद्भावकुसुमार्चितम् ॥ १३९ ।

तावत्तताप स तपस्त्वगस्थिपरिशेषितम् ।
यावद् बभूव तद्वर्म वर्षाणामयुतं शतम् ॥ १४० ।

दशावर्तिका यस्मिंस्तम् । पुनः कीदृशम्? अनन्यभक्तिस्नेहाढ्यम्, अव्यभिचारिणीभक्तिरेव स्नेहो घृतादिः, तेनाढ्यम् । तन्महोध्याननिश्चलं तच्च तन्महश्चेति तन्महः, तद्ध्यानेन निश्चलम् ॥ १३७ ॥

शिवैक्यसुमहापात्रं शिवेन सह यदैक्यं तादात्म्यम्, तदेव सुमहापात्रमाधारो यस्य तम् । तप एवाग्निस्तेन परिबृंहितम् वर्धितम् । कामक्रोधादयो महाविघ्नाः, त एव पतङ्गस्तेषामाघातेनापातेन परिवर्जितम् ॥ १३८ ।

प्राणसंरोधः प्राणायाम एव निर्वातो वाताभावो यत्र तम् । निर्मलमसंभावना विपरीतभावनारहितं यदीक्षणं ज्ञानम्, तस्मान्निर्मलम् । कथम्भूतं लिङ्गम्? सद्भावकुसुमार्चितं सद्भावः सद्भक्तिस्तदेव कुसुमं तेनार्चितम् । यद्वा सद्भक्तिर्मनोवृत्तिस्तद्विशेषरूपाण्यहिंसादीनि पुष्पाणि तैरर्चितम् ।

तथा चोक्तम्—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं पुष्पमिन्द्रियनिग्रहः ।
ध्यानं पुष्पं तपः पुष्पं ज्ञानपुष्पं तथैव च ॥
सर्वभूतदया पुष्पं क्षमा पुष्पं विशेषतः ।
सत्यं चाष्टविधं पुष्पं विष्णोः प्रीतिकरं परम् ॥ इति ॥

ध्यान[1]पुष्पमित्यत्र ध्यानशब्दो विवेकविषयः । अतो निर्मलेक्षणादित्यनेन न पौनरुक्त्यम् ॥ १३९ ॥

शिव के साथ एकत्व (सोऽहं) ज्ञान ही दीपक का बड़ा पात्र है । यह दीपक तपस्यारूपी अग्नि से बारा (जलाया) गया है और इसे काम-क्रोधादि महाविघ्नरूपी पतंगों के पतन से भी बचा रखा गया है ॥ १३८ ।

प्राणवायु की रुकावट से इसमें वायु का संचार भी नहीं है । यह भावना-रहित ज्योति-दर्शन से निर्मलरूप है ॥ १३९ ।

उसने इसी प्रकार के दीपक से आर्तिरूप आसक्तिरूप तपस्या को दशलक्ष वत्सर-पर्यन्त करके अपने शरीर को अस्थिचर्मविशिष्ट कर डाला ॥ १४० ।

---

१. ज्ञानपुष्पमित्यत्र ज्ञानशब्द इति पाठोऽपेक्षित इति भाति ।

ततः सह विशालाक्ष्या देवो विश्वेश्वरः स्वयम् ।
अलकापतिमालोक्य प्रसन्नेनान्तरात्मना ॥ १४१ ।
लिङ्गे मनः समाधाय स्थितं स्थाणुस्वरूपिणम् ।
उवाच वरदोऽस्मीति तप्त्वाऽलमलकापते ॥ १४२ ।
उन्मील्य नयने यावत् स पश्यति तपोधनः ।
तावदुद्यत्सहस्रांशुसहस्राधिकतेजसम ॥ १४३ ।
[1]पुरो ददर्श श्रीकण्ठं चन्द्रचूडमुमाधवम् ।
तत्तेजः परिभूताक्षितेजाः संमील्य लोचने ॥ १४४ ।
उवाच देवदेवेशं मनोरथपथातिगम् ।
निजांघ्रिदर्शने नाथ दृक्सामर्थ्यं प्रयच्छ मे ॥ १४५ ।
अयमेव वरो नाथ यत्त्वं साक्षान्निरीक्ष्यसे ।
किमन्येन वरेणेश नमस्ते शशिशेखर ॥ १४६ ।

उन्मील्येति । स धनदो नयने उन्मील्य विवृत्य यावत् पश्यति तावच्छ्रीकण्ठं ददर्शेत्यन्वयः ॥ १४३ ॥

तत्तेज इति । सोऽलकापतिर्नेत्रे संमील्य सम्यगविकचय्य हे देवेति सम्बोध्य देवेशं देवानां वेशं उवाचेत्यन्वयः । कथम्भूतः ? तस्य विश्वेश्वरस्य तेजसा परिभूतमक्षितेजो यस्य सः ॥ १४४ ।

उसके अनन्तर देवी विशालाक्षी के साथ स्वयं विश्वेश्वर देव अलकाधिपति के लिंग में मन लगाए उस स्थाणु (ठूंठा वृक्ष) रूप से स्थित देखकर प्रसन्नचित्त हो बोले—हे अलकाधीश्वर! (बस !) तपस्या हो चुकी, वर देता हूँ ॥ १४१-१४२ ।

उस तपोधन ने ज्यों ही आँखें खोलकर ताकना चाहा, त्यों ही उगते हुए सहस्र सूर्य से भी अधिक तेजस्वी, उमापति, चन्द्रशेखर श्रीकण्ठ भगवान् पर उसकी दृष्टि जा पड़ी । नेत्रों में तत्क्षण चकाचौंध छा गयी और वे बन्द हो गए ॥ १४३-१४४ ।

तब वे मनोरथ पथ के दूरवर्ती महादेव से कहने लगे—हे नाथ ! आप अपने चरणों के दर्शन का सामर्थ्य मुझ को दीजिए ॥ १४५ ।

हे स्वामिन् ! मुझे यही वरदान दें । हे ईश ! यदि आपको साक्षात् देख सकूं, तो फिर दूसरे किसी वर से क्या प्रयोजन ? हे शशिशेखर ! आपको नमस्कार है ॥ १४६ ।

---

१. तत इत्यपि पाठः ।

इति तद्वचनं श्रुत्वा देवदेव उमापतिः ।
ददौ दर्शनसामर्थ्यं स्पृष्ट्वा पाणितलेन तम् ॥ १४७ ।
प्रमार्य नयने पूर्वमुमामेव व्यलोकयत् ।
शम्भोः समीपे का योषिदेषा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ १४८ ।
अनया किं तपस्तप्तं ममापि तपसोऽधिकम् ।
अहो रूपमहो प्रेम सौभाग्यश्रीरहो भृशम् ॥ १४९ ।
क्रूरदृग् वीक्षते यावत् पुनः पुनरिदं वदन् ।
तावत् पुस्फोट तन्नेत्रं वामं वामविलोकनात् ॥ १५० ।
अथ देव्यब्रवीद्देवं किमसौ दुष्टतापसः ।
असकृद् वीक्ष्य मां वक्ति न्यक्कुर्वन् मे तपःप्रभाम् ॥१५१।

प्रेमपात्रमर्थादीश्वरस्य । सौभाग्यश्रीः सौभाग्यसम्पत् ॥ १४९ ।

क्रूरदृष्टिः सन् यावद्वीक्षते तावत् तन्नेत्रम् । तदित्यव्ययम् । तस्य वामं चक्षुः पुस्फोट स्फुटितवदित्यर्थः । वामनेत्रस्फोटने हेतुमाह । वामविलोकनात् क्रूरदृष्ट्या विलोकनात् । वामनेत्रेण वा विलोकनात् । स्फोटने हेतुमाह । क्रूरदृगिति । वक्रदृष्टिरित्यर्थः । दुष्टदृष्टिरिति वा ॥ १५०-१५१ ।

देवदेव उमापति ने कुबेर का यह वचन सुनकर करतल से स्पर्शकर उनको दर्शन का सामर्थ्य प्रदान किया ॥ १४७ ।

उसके पश्चात् कुबेर दृष्टि फैलाकर पहले उमादेवी को ही देखने लगे, "शिव के समीप ही में यह कौन सर्वांग सुन्दरी रमणी है" ? ॥ १४८ ।

क्या इसने मुझसे भी अधिक तपस्या की है ? इस सुन्दरी का कैसा रूप ? कैसा प्रेम ? कैसी असामान्य सौभाग्यलक्ष्मी है । (वाह ! वाह !! धन्य धन्य) ॥ १४९ ।

यह कहते हुए बारम्बार क्रूर-दृष्टि से वाम-नेत्र द्वारा देवी को देखते ही रहने से उनकी बायीं आँख फूट गई ॥ १५० ।

तत्पश्चात् देवी ने महादेव से कहा—यह दुष्ट तपस्वी बारम्बार क्यों मुझे निहार-कर, मेरे तप के प्रभाव पर अधिक्षेप करता हुआ, (निहोरा कर) बकवास कर रहा है ॥ १५१ ।

असकृद् दक्षिणेनाक्ष्णा पुनर्मामिव पश्यति ।
असूयमानो मे रूपं प्रेमसौभाग्यसम्पदः ॥ १५२ ।
इति देवीगिरं श्रुत्वा प्रहस्य प्राह तां प्रभुः ।
उमे त्वदीयः पुत्रोऽयं न च क्रूरेण चक्षुषा ॥ १५३ ।
संपश्यते तपोलक्ष्मीं तव किन्त्वधिवर्णयेत् ।
इति देवीं समाभाष्य तमीशः पुनरब्रवीत् ॥ १५४ ।
वरान् ददामि ते वत्स तपसाऽनेन तोषितः ।
निधीनामधिनाथस्त्वं गुह्यकानां भवेश्वरः ॥ १५५ ।
यक्षाणां किन्नराणाञ्च राजा राज्ञाञ्च सुव्रत ।
पतिः पुण्यजनानाञ्च सर्वेषां धनदो भव ॥ १५६ ।

अधिवर्णयेदधिकं कथयेत् । अधिवर्णयन्निति क्वचित् ॥ १५४ ।

निधीनां पद्मादीनामष्टानाम् । तदुक्तम्--

पद्मश्चैव महापद्मो मत्स्यकूर्मौ तथौदकः ।
नीलो मुकुन्दः शङ्खश्च निधयोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ इति ॥ १५५ ।

किन्नराणां किम्पुरुषाणामित्यर्थः । यथाश्रुतानामेव वा । पुण्यजनानां राक्षसानाम् ॥ १५६ ।

मेरे रूप, प्रेम और सौभाग्य-सम्पत्ति से डाह करता हुआ अब फिर दाहिनी आँख से बारम्बार ताक रहा है ॥ १५२ ।

देवी की यह बात सुनकर प्रभु ने हँस कर उनसे कहा—"हे उमे ! यह तुम्हारा पुत्र है, दुष्ट-दृष्टि से नहीं ताकता है, तभी तुम्हारे तपोलक्ष्मी का आधिक्य वर्णन कर रहा है" । ईश्वर पार्वती से यह कहकर फिर कुबेर के प्रति बोले--हे वत्स, मैं तुम्हारी इस तपस्या से सन्तुष्ट होकर तुमको वरदान देता हूँ । तूं सब निधियों के स्वामी और गुह्यकों के अधीश्वर होगे ॥ १५३-१५५ ।

हे सुव्रत ! यक्षों के, किन्नरों के और राजाओं के राजा, पुण्यजनों (राक्षसों) के अधिपति और सब किसी के धनदाता हो ॥ १५६ ।

मया सख्यं च ते नित्यं वत्स्यामि च तवान्तिके ।
अलकां निषका मित्र तव प्रीतिविवृद्धये ॥ १५७ ।
आगच्छ पादयोरस्याः पत ते जननी त्वियम् ।
इति दत्त्वा वरान् देवः पुनराह शिवां शिवः ।
प्रसादं कुरु देवेशि तपस्विन्यङ्गजेऽत्र वै ॥ १५८ ।

देव्युवाच—

वत्स ते निश्चला भक्तिर्भवे भवतु सर्वदा ।
भवैकपिङ्गो नेत्रेण वामेन स्फुटितेन ह ॥ १५९ ।
देवेन दत्ता ये तुभ्यं वराः सन्तु तथैव ते ।
कुबेरो भव नाम्ना त्वं मम रूपेर्ष्यया सुत ॥ १६० ।
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गं तव नाम्ना भविष्यति ।
सिद्धिदं साधकानां च सर्वपापहरं परम् ॥ १६१ ।

निकषामित्र निकषा राक्षसजातीनां माता, तस्या मित्र । यद्वा अलकां निकषा, अलकायाः समीपे प्रीतिविवृद्धये प्रीत्यतिशयार्थम् । प्रीतिं विवर्धयन्निति क्वचित् ॥ १५७ ।

एकपिङ्गः एकं नेत्रं पिङ्गं स्फुटितं यस्य सः ॥ १५९ ।

कुत्सितो बेरः शरीरं यस्येति कुबेरः ॥ १६० ।

मेरे साथ तुम्हारा सखित्व (मैत्री) हुआ । हे मित्र ! तुम्हारी प्रीतिवर्द्धनार्थ मैं तुम्हारे निकटस्थ स्थान में अलका के समीप ही सर्वदा निवास करूँगा ॥ १५७ ।

आओ, इस (उमा) के चरणों पर गिरो । यह (तो) तुम्हारी जननी है । महादेव इस प्रकार से कुबेर को ये सब वरदान देकर पुनः पार्वती से कहने लगे—हे देवेश्वरि ! इस तपस्वी-पुत्र पर प्रसन्न होओ (प्रसाद करो) ॥ १५८ ।

भगवती बोलीं—"हे बेटा ! सर्वदा तुम्हारी भक्ति शिव पर निश्चल (अटल बनी) रहे, "फूटे हुए वाम-नेत्र के कारण तुम एकलिंग नाम से प्रसिद्ध होओ" ॥ १५९ ।

देवदेव ने जो ये सब वर तुम्हें दिये हैं, वे तदनुसार ही होवें । (परन्तु) हे पुत्र ! मेरे स्वरूप की ईर्ष्या करने से तुम "कुबेर" नाम से विख्यात होगे ॥ १६० ।

तुम्हारा स्थापित यह शिवलिंग साधकों के लिये परम सिद्धिप्रद और पापहर एवं तुम्हारे नाम से विदित होगा ॥ १६१ ।

न धनेन वियुज्येत न सख्या न च बान्धवैः ।
कुबेरेश्वरलिङ्गस्य कुर्याद्यो दर्शनं नरः ॥१६२॥
विश्वेशाद्दक्षिणे भागे कुबेरेशं समर्चयेत् ।
नरो लिप्येत नो पापैर्न दारिद्र्येण नोऽसुखैः ॥१६३॥
इति दत्त्वा वरान् देवो देव्या सह महेश्वरः ।
धनदायाविवेशाऽथ धाम वैश्वेश्वरं परम् ॥१६४॥

गणावूचतुः—

इत्थं सखित्वं श्रीशम्भोः प्रापैष धनदः परम् ।
अलकां निकषा चैव कैलासः शङ्करालयः ॥१६५॥

सख्या मित्रेण ॥ १६२ ।

वैश्वेश्वरं स्वस्वरूपमानन्दवनं वा कैलासं वा ॥ १६४ ।

उपसंहरत इति । इत्थमिति । वैश्वेश्वरं धामेत्युक्तं किं तद्धामेत्याकाङ्क्षायामाह । अलकां निकषेति । अलकायाः समीप इत्यर्थः । यद्वा कैलासं दृष्ट्वा कस्येयं पूरिति पृच्छन्तं शिवशर्माणं प्रत्याहतुरलकामिति ॥ १६५ ।

जो कोई मनुष्य कुबेरेश्वर लिंग का दर्शन करेगा, उसे धन की हीनता (कमी) नहीं होगी, न मित्र से वियोग होगा और न कभी (स्वजन) का विच्छेद ही प्राप्त होगा ॥ १६२ ।

जो मनुष्य विश्वेश्वर के दक्षिण-भाग में स्थित इस कुबेरेश्वरलिंग का दर्शन-पूजन करेगा, वह कभी न तो पाप से, न दरिद्रता से और न दुःख से ही लिप्त होगा ॥ १६३ ।

इस रीति से उमा देवी के सहित भगवान् महेश्वरदेव कुबेर को ये सब वर देकर अपने परम धाम को चले गये ॥ १६४ ।

गणों ने कहा—

इन (धनद) कुबेर ने इस रूप से महादेव के परम सखित्व को प्राप्त किया और अलका के समीप में यही कैलाश-पर्वत शंकर का आलय निवास स्थान है ॥१६५।

पुर्या यक्षेश्वराणां ते स्वरूपमिति वर्णितम् ।
यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो नरो मुच्येतसंशयम् ॥१६६।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे गन्धवत्यलकावर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

यक्षेश्वराणामिति पूजायां बहुवचनम्। यक्षाश्च तदीश्वराश्च तेषामिति वा। कल्पभेदापेक्षया वा ॥ १६६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ।

यक्षेश्वरादिक की नगरी का स्वरूप वृत्तान्त (कथा) क्रम से वर्णन किया। इस (वैश्रवण की कथा) के श्रवण-मात्र से मनुष्य निःसंदेह समस्त पापों से निर्मुक्त हो जाता है ॥ १६६ ।

"गंधवती अलकापुरी, प्रथमवायु को लोक।
पुनि कुबेर के नगर की, कथा हरत सब शोक ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषाटीकायां वायुलोक-कुबेरलोकवर्णनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

गणावूचतुः—

अलकायाः पुरो भागे पुरैशानी महोदया ।
अस्यां वसन्ति सततं रुद्रभक्तास्तपोधनाः ॥१॥
शिवस्मरणसंसक्ताः शिवव्रतपरायणाः ।
शिवसात्कृतकर्माणः शिवपूजारताः सदा ॥२॥
साभिलाषास्तपस्यन्ति स्वर्गभोगोऽस्त्विवतीह नः ।
तेऽत्र रुद्रपुरे रम्ये रुद्ररूपधरा नराः ॥३॥
अजैकपादहिर्बुध्न्यमुख्या एकादशाऽपि वै ।
रुद्राः परिवृढाश्चात्र त्रिशूलोद्यतपाणयः ॥४॥

चतुर्दशेऽत्र वर्ण्येते लोकौ द्वावतिसुन्दरौ ।
ईशानस्य तथा चैव चन्द्रस्याऽमृतदीधितेः ॥ १ ।

क्रमप्राप्तामैशानीं पुरीं दर्शयतोऽलकाया इति ॥ १ ।

शिवसात्कृतं शिवे समर्पितं सकलं कर्म यैस्ते शिवसात्कृतकर्माणः । शिवसत्कृतकर्माण इति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ २ ।

अहिर्बुध्न्य इति । उकारयकारवत्पदम् । अजोऽस्येकपादहिर्बुध्न्य इत्यस्यां श्रुतौ तथा दर्शनात् । परिवृढाः प्रभवः ॥ ४ ।

(ईशान-लोक और चन्द्रलोक का वर्णन)

विष्णु के दोनों गण कहने लगे—

इस अलकापुरी के आगे के भाग में यह महोदया ईशानपुरी है । इसमें सर्वदा शिवभक्त तपोधन लोग निवास करते हैं ॥ १ ।

जो लोग शिव के स्मरण में लगे रहते हैं, जो लोग शिवव्रत में दीक्षित हैं, जिन्होंने अपने समस्त कर्मों को शिवार्पण कर दिया है और नित्य ही शिव-पूजन में तत्पर रहते हैं, वे सब मनुष्य "हमको स्वर्गभोग यहाँ ही प्राप्त होवे" इस कामना से तपस्या करनेवाले रुद्ररूपधारी लोग इस रम्य रुद्रपुर में निवास करते हैं ॥ २-३ ।

अज, एकपाद, अहिर्बुध्न्य प्रभृति हाथ में त्रिशूल धारण किए हुए एकादश रुद्र इस स्थान के प्रभु हैं ॥ ४ ।

पुर्यष्टकं च दुष्टेभ्यो देवध्रुग्भ्यो ह्यवन्ति ते।
प्रयच्छन्ति वरान्नित्यं शिवभक्तजने वराः ॥५॥
एतैरपि तपस्तप्तं प्राप्य वाराणसीं पुरीम्।
ईशानेशं महालिङ्गं परिस्थाप्य शुभप्रदम् ॥६॥
ईशानेशप्रसादेन दिश्यैश्यां हि दिगीश्वराः।
एकादशाप्येकचरा जटामुकुटमण्डिताः ॥७॥
भालनेत्रा नीलगलाः शुद्धाङ्गा वृषभध्वजाः।
असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूतलम् ॥८॥
तेऽस्यां पुरि वसन्त्यैश्यां सर्वभोगसमृद्धयः।
ईशानेशं समभ्यर्च्य काश्यां देशान्तरेष्वपि ॥९॥
विपन्नास्तेन पुण्येन जायन्तेऽत्र पुरोहिताः।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यामीशानेशं यजन्ति ये ॥१०॥

देवेभ्यो द्रुह्यन्ति ये देवद्रुहस्तेभ्यो देवध्रुग्भ्यः। वराः श्रेष्ठाः। जनावना इति क्वचित्। जनेऽवना इति चान्यत्र ॥ ५ ।

भालनेत्रा ललाटचक्षुषः ॥ ८ ।

यजन्ति पूजामात्रं कुर्वन्ति। पुरोहिताः पुरोधसः। पुरे हिता इति पाठे हिताहितकारिणः ॥ १० ।

ये श्रेष्ठ रुद्रगण, उक्त अष्ट-पुरियों की दुष्टों से और देव-द्रोहियों से सदा रक्षा करते हैं और शिवजनों को वर प्रदान करते हैं ॥ ५ ।

ये लोग भी वाराणसी पुरी में प्राप्त होकर, शुभप्रद ईशानेश्वर नामक महालिंग स्थापित कर तपस्या कर चुके हैं ॥ ६ ।

ईशानेश लिंग के प्रसाद से ईशान दिशा के दिक्पाल—ये ग्यारहों रुद्र सदा सहचर और जटा-मुकुट से मण्डित रहते हैं ॥ ७ ।

ये सब (के सब) भालनेत्र, नीलकण्ठ, गौरशरीर और वृषभध्वज हैं। पृथिवी पर जो असंख्य रुद्रगण हैं, वे सब समस्त भोगों की समृद्धि को प्राप्तकर इसी ईशानपुरी में निवास करते हैं। काशी में ईशानेश्वर का पूजन करने पर यदि देशान्तर में भी जो लोग मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो वे उसी पुण्य के बल से यहाँ पर पुरोहित होते हैं। जो लोग अष्टमी और चतुर्दशी तिथि पर ईशानेश्वर की पूजा करते हैं,

त एव रुद्रा विज्ञेया इहाऽमुत्राऽप्यसंशयम् ।
कृत्वा जागरणं रात्रावीशानेश्वरसन्निधौ ॥११॥
उपोष्य भूतां यां काञ्चिन्न नरो गर्भभाक् पुनः ।
स्वर्गमार्गे कथामित्थं शृण्वन् विष्णुगणोदिताम् ॥१२॥
शिवशर्मा दिवाऽप्युच्चैरपश्यच्चन्द्रचन्द्रिकाम् ।
आह्लादयन्तीं बहुशः समं सर्वेन्द्रियैर्मनः ॥१३॥
चमत्कृत्य चमत्कृत्य कोऽयं लोको हरेर्गणौ ।
पप्रच्छ शिवशर्मा तौ प्रोचतुस्तं च तौ द्विजम् ॥१४॥

गणावूचतुः—

शिवशर्मन् महाभाग लोक एष कलानिधेः ।
पीयूषवर्षिभिर्यस्य करैराप्याय्यते जगत् ॥१५॥
पिता सोमस्य भो विप्र जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः ।
ब्रह्मणो मानसात् पूर्वं प्रजासर्गं विधित्सतः ॥१६॥

भूतां चतुर्दशीम् ॥ १२ ।

दिवाऽपि दिनेऽपि । चन्द्रचन्द्रिकां चन्द्रज्योत्स्नाम् । समं सह ॥ १३ ।

चमत्कृत्य चमत्कृत्येत्यादरे वीप्सा । अत्याश्चर्यं विधाय मन आह्लादयन्तीमिति पूर्वेणाऽन्वयः ॥१४।

वे यहाँ और परलोक में अवश्य रुद्र होते हैं । ईशानेश्वर के समीप में किसी भी चतुर्दशी को रात्रि में उपवास और जागरण करने से मनुष्य फिर गर्भ में निवास नहीं करता । स्वर्गमार्ग में विष्णुगण-कथित इस कथा को श्रवण करते हुए शिवशर्मा ने सब इन्द्रियों के सहित मन को अत्यन्त आह्लादित करती हुई यथेष्ट चन्द्र की चन्द्रिका का दिन में ही (दर्शन करते हुए चन्द्र-चन्द्रिका को दिन में ही देखते हुए) अत्यन्त चमत्कृत होकर शिवशर्मा ने प्रश्न किया—"हे विष्णुगण ! यह कौन लोक है ?" ॥८-१४।

विष्णु के दोनों गण बोले—

हे महाभाग ! शिवशर्मन् ! जिसकी अमृतवर्षी किरणजाल से जगत् परितृप्त होता है, उसी कलानिधि का यह लोक है ॥ १५ ।

हे विप्र ! पूर्वकाल में प्रजा-सृष्टि के विधानेच्छु ब्रह्मा के मन से ही इस चन्द्र के पिता भगवान् अत्रि ऋषि उत्पन्न हुए ॥ १६ ।

अनुत्तरं नाम तपो येन तप्तं हि तत्पुरा ।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीतीह नो श्रुतम् ॥१७॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य रेतः सोमत्वमीयिवत् ।
नेत्राभ्यां तच्च सुस्राव दशधाद्योतयद्दिशः ॥१८॥
तं गर्भं विधिनादिष्टा दश देव्यो दधुस्ततः ।
समेत्य धारयामासुर्नैव ताः समशक्नुवन् ॥१९॥
यदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः ।
ततस्ताभिः सजूः सोमो निपपात वसुन्धराम् ॥२०॥
पतितं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः ।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥२१॥

तदनुत्तरं तप इति सम्बन्धः। न विद्यते उत्तरमधिकं यस्मात्तदनुत्तरं सर्वोत्कृष्टमित्यर्थः ॥ १७ ।

ऊर्ध्वं देहस्योर्ध्वप्रदेशमाचक्रमे गतवत् यद्रेतस्तत्सोमत्वमीयिवत् प्राप्तवदित्यर्थः। सोमत्वं सोमतेजस्त्वजन्म अमृतत्वं वा । अनुत्तरभावनायास्तत्फलत्वात् ॥ १८ ।

विधिनादिष्टाः ब्रह्मणा प्रेरिताः । दृष्टा इति पाठे विधिना देवेन। हृष्टा इति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ १९ । सजूः सह ॥ २० ।

लोगों ने ऐसा सुना है कि उसी अत्रि ऋषि ने पहले दिव्य परिमाण से तीन सहस्र वर्ष अनुत्तर नामक सर्वोत्कृष्ट तपश्चर्या की थी ॥ १७ ।

उस वेला में अत्रि मुनि का ऊर्ध्वगत रेत सोमत्व को प्राप्त होकर दिङ्मण्डल को प्रकाशित करता हुआ उनके दोनों नेत्रों से दश बार क्षरित हुआ ॥ १८ ।

तदनन्तर ब्रह्मा की आज्ञानुसार दशों दिग्देवियों ने मिलकर उसे धारण किया । पर (वे) न रख सकीं ॥ १९ ।

जब कि वे दिशाएँ उस गर्भ को धारण न रख सकीं, तब उन सबके साथ चन्द्र भूतल पर निपतित हुआ ॥ २० ।

लोकपितामह ब्रह्मा ने चन्द्र को गिरा हुआ देखकर त्रैलोक्य की हित-साधनेच्छा से उसे रथ पर चढ़ा लिया ॥ २१ ।

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।
त्रिःसप्तकृत्वो द्रुहिणश्चकारामुं प्रदक्षिणम् ॥२२॥
तस्य यस्स्खलितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
तथौषध्यः समुद्भूता याभिः सन्धार्यते जगत् ॥२३॥
स लब्धतेजा भगवान् ब्रह्मणा वर्धितः स्वयम् ।
तपस्तेपे महाभाग पद्मानां दशतीर्दश ॥२४॥
अविमुक्तं समासाद्य क्षेत्रं परमपावनम् ।
संस्थाप्य लिङ्गममृतं चन्द्रेशाख्यं स्वनामतः ॥२५॥
बोजौषधीनां तोयानां राजाऽभूदग्रजन्मनाम् ।
प्रसादाद्देवदेवस्य विश्वेशस्य पिनाकिनः ॥२६॥
तत्र कूपं विधायैकममृतोदमिति स्मृतम् ।
यस्याम्बुपानस्नानाभ्यां नरोऽज्ञानात्प्रमुच्यते ॥२७॥

चकार कारयामास । अमुं चन्द्रम् । अमूमिति पाठे पृथ्वीमित्यर्थः ॥ २२ ।

तथा पृथिव्या पतनप्रकारेण । तेनेति पाठे पृथिवीप्राप्तेन तेजसेत्यर्थः ॥ २३ ।

पद्मानां दशदशतीः शतं वर्षपद्मशतसंख्यावच्छिन्नं कालम् ॥ २४ ।

कुण्डमिति पाठे कुण्डं कूपम् । अज्ञानात्प्रमुच्यते मायातो मुक्तो भवति । ज्ञानेन युज्यत इति क्वचित् ॥ २७ ।

ब्रह्मा ने उसी चन्द्र को रथ पर प्रधान बनाकर इक्कीस बार उसको समुद्रान्त समस्त पृथिवी की प्रदक्षिणा करायी ॥ २२ ।

उसका द्रवित जो तेज पृथिवी में (पर) गिरा, उसी से ये ओषधियाँ उपजीं, जिनके द्वारा जगत् का धारण होता है ॥ २३ ।

हे महाभाग ! स्वयं ब्रह्मा से वर्धित भगवान् चन्द्र तेज पाने पर परम पावन अविमुक्त क्षेत्र को प्राप्त होकर और स्वनामानुसार चन्द्रेश्वर नामक अमृत लिंग की स्थापना कर एक सौ पद्म-प्रमाण वर्षपर्यन्त तपस्या ही करते रहे ॥ २४-२५ ।

देवदेव पिनाकी विश्वेश्वर के प्रसाद से बीज, ओषधि, जल और ब्राह्मणों के राजा हुए ॥ २६ ।

चन्द्र ने तपोनुष्ठान ही के समय वहाँ पर एक अमृतोद नामक कूप प्रस्तुत किया था, जिसके जलपान और स्नान करने से मनुष्य अज्ञान से छुटकारा पा जाता है ॥ २७ ।

तुष्टेन देवदेवेन स्वमौलौ यो धृतः स्वयम् ।
आदाय तां कलामेकां जगत्संजीवनीं पराम् ।।२८।
पश्चाद्दक्षेण शप्तोऽपि मासोने क्षयमाप्य च ।
आप्याय्यतेऽसौ कलया पुनरेव तया शशी ।।२९।
स तत्प्राप्य महाराज्यं सोमः सोमवतां वरः ।
राजसूयं समाजह्रे सहस्रशतदक्षिणम् ।।३०।
दक्षिणामददत् सोमस्त्रीन् लोकानिति नौ श्रुतम् ।
तेभ्यो ब्रह्मर्षिमुख्येभ्यः सदस्येभ्यश्च भो द्विज ।।३१।
हिरण्यगर्भो ब्रह्माऽत्रिर्भृगुर्यत्रर्त्विजोऽभवन् ।
सदस्योऽभूद्धरिस्तत्र मुनिभिर्बहुभिर्वृतः ।।३२।

तुष्टेनेति। तां प्रसिद्धामेकां कलामादाय एकया कलया उपलक्षित इत्यर्थः। तुष्टेन देवेन स्वमौलौ यः स्वयं धृतः। धृतः सदेति वा पाठः। स सोमस्तन्महाराज्यं प्राप्य राजसूयं समाजह्र इति तृतीयेनाऽन्वयः ॥ २८ ।

मासश्चासावूनश्चेति मासोनस्तस्मिन् मुख्ये चान्द्रे मासि समाप्ते सतीत्यर्थः। मासान्त इति पाठेऽपि स एवार्थः। तया महादेवेन शिरो धृतया। अनयेति पाठेऽपि स एवार्थः। यथेति पाठे यथावदित्यर्थः ॥ २९ ।

सोमवतां सोमयागवताममृतवतामिति वा। वरः श्रेष्ठः ॥ ३० ।

नौ आवाभ्याम्। हिरण्यगर्भो ब्रह्माऽभूदित्यग्रिमक्रियानुषज्जते। अत्रिर्भृगुरिति मरीच्यादीनामुपलक्षणार्थम्। अत एवर्त्विजोऽभवन्निति बहुवचनम् ॥ ३२ ।

स्वयं महादेव ने संतुष्ट होकर जगत् संजीवनी नामक उस चन्द्र की एक कला को लेकर अपने शिर पर धारण कर लिया ॥ २८ ।

यह चन्द्र दक्ष-प्रजापति के शापवश मास के अन्त में क्षय प्राप्त होने पर भी शिव की शिरोधृत उसी कला के द्वारा परिपूर्ण हो जाता है ॥ २९ ।

सोमयज्ञ-कर्ताओं में श्रेष्ठ उस चन्द्र ने इस प्रकार से बड़ा राज्य पाकर सहस्र शतदक्षिणा से पूर्ण राजसूय यज्ञ आरम्भ किया ॥ ३० ।

हे द्विज ! हम लोगों ने ऐसा सुना है कि चन्द्रदेव ने उन प्रधान ब्रह्मर्षियों और सदस्यों को तीनों लोक दक्षिणा में दे डाली ॥ ३१ ।

इस यज्ञ में स्वयं ब्रह्मा ही ब्रह्मा थे। अत्रि, भृगु, मरीचि आदि मुनिगण ऋत्विक् थे और ऋषि-मण्डली परिवृत भगवान् हरि सभासद (बने) थे ॥ ३२ ।

तं सिनी च कुहूश्चैव द्युतिः पुष्टिः प्रभावसुः ।
कीर्तिर्धृतिश्च लक्ष्मीश्च नवदेव्यः सिषेविरे ॥३३॥
उमया सहितं रुद्रं सन्तर्प्याध्वरकर्मणा ।
प्राप सोम इति ख्यातिं दत्तां सोमेन शम्भुना ॥३४॥
तत्रैव तप्तवान् सोमस्तपः परमदुष्करम् ।
तत्रैव राजसूयं च चक्रे चन्द्रेश्वराग्रतः ॥३५॥
तत्रैव ब्राह्मणैः प्रीतैरित्युक्तोऽसौ कलानिधिः ।
सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा त्रैलोक्यदक्षिणः ।३६।
तत्रैव देवदेवस्य विलोचनपदं गतः ।
देवेन प्रीतमनसा त्रैलोक्याह्लादहेतवे ॥३७॥
त्वं ममास्य परामूर्तिरित्युक्तस्तत्तपोबलात् ।
जगत्तवोदयं प्राप्य भविष्यति सुखोदयम् ॥३८॥

सिनी सिनीवाली ॥ ३३ । सोमनाम निर्वक्ति । उमयेति ॥ ३४ । तत्रैवाऽविमुक्ते एव । विलोचनपदं विशिष्टनेत्रपदम् ॥ ३७ ।

सिनीवाली, कुहू, द्युति, पुष्टि, प्रभा, वसु, कीर्ति, धृति और लक्ष्मी (क्षोभा)—ये ही नव देवियाँ चन्द्र की सेवा करती थीं ॥ ३३ ।

चन्द्र ने उमा के सहित रुद्रदेव को यज्ञकर्म के द्वारा परितृप्त कर उमा सहित शिव की दी हुई "सोम" इस ख्याति को प्राप्त किया ॥ ३४ ।

सोम ने काशी में चन्द्रेश्वर के सम्मुख ही परम दुष्कर तपश्चर्या और राजसूय-यज्ञ सम्पादन किया ॥ ३५ ।

उसी स्थान पर ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर चन्द्र को यह कहा कि त्रैलोक्य की दक्षिणा के दाता यही सोम हम ब्राह्मण लोगों के राजा हैं ॥ ३६ ।

चन्द्र वहाँ पर ही महादेव के (त्रिलोचन के) वाम-नेत्र-स्थान को प्राप्त हुए । अत्यन्त प्रसन्न चित्त शिव ने त्रिभुवन के आह्लाद-निमित्तक चन्द्र से कहा—'अपने तपोबल से तुम मेरी ही दूसरी मूर्ति हो । संसार तुम्हारे उदय से सुखी होगा ॥३७-३८॥

त्वत्पीयूषमयैर्हस्तैः स्पृष्टमेतच्चराचरम् ।
भानुतापपरीतं च परां ग्लानिं विहास्यति ॥३९।
एतदुक्त्वा[1] महेशानो वरानन्यानदान्मुदा ।
द्विजराजतपस्तप्तं यदत्युग्रं त्वयाऽत्र वै ॥४०।
यच्च क्रतुक्रियोत्सर्गस्त्वया मह्यं निवेदितः ।
स्थापितं यत्त्विदं लिङ्गं मम चन्द्रेश्वराभिधम् ॥४१।
ततोऽत्र लिङ्गे त्वन्नाम्नि सोम सोमार्धरूपधृक् ।
प्रतिमासं पञ्चदश्यां शुक्लायां सर्वगोऽप्यहम् ॥४२।
अहोरात्रं वसिष्यामि त्रैलोक्यैश्वर्यसंयुतः ।
ततोऽत्र पूर्णिमायान्तु कृता स्वल्पाऽपि सत्क्रिया ॥४३।

त्वत्तव । हस्तैः करै रश्मिभिरिति यावत् । परीतं व्याप्तम् ॥ ३९ । **यद्यतः** । एवमग्रेऽपि ॥ ४० ।

यच्चेत्यत्र यत्रेति क्वचित् पाठो दृश्यते, तदा त्वयाऽत्र तपस्तप्तमित्युक्तम् । अत्र कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह । यत्र क्रतुक्रियेति ॥ ४१ ।

त्वन्नाम्नि त्वन्नाम्नोपलक्षिते चन्द्रेश्वर इत्यर्थः । सोम हे सोम सोमार्धरूपधृक उमया सह वर्तत इति सोमम् । तच्च तदर्धं च तद्रूपधृक् उमार्धशरीरधृगित्यर्थः । शुक्लायां पञ्चदश्यां पौर्णमास्यामित्यर्थः ॥ ४२ ।

तत इति । यतोऽत्र स्थानेऽहं निवसिष्यामि, ततोऽत्र स्वल्पाऽपि कृता सत्क्रिया नूनं निश्चितं मम प्रीत्यै महापूजा भविष्यतीति सार्धेनाऽन्वयः ॥ ४३ ।

तुम्हारी अमृतमय किरण-जाल के स्पर्श मात्र से, सूर्य के ताप से व्याप्त यह चराचर जगत् (अपनी) बड़ी ग्लानि को (संताप को) छोड़ देगा ॥ ३९ ।

यह कहकर महेश्वर सहर्ष और भी अनेक वर प्रदान करने लगे । वे बोले—हे द्विजराज ! इस काशी में जो तुमने यह बड़ी तपस्या की है और यह जो यज्ञ-क्रिया (का फल) तुझे समर्पण कर दिया है और फिर यह जो चन्द्रेश्वर नामक मेरा लिंग स्थापित किया है, इन्हीं सब कारणों से उमा के सहित अर्द्धचन्द्र-रूपधारी मैं सर्वव्यापी होने पर तुम्हारे नामयुक्त इस लिंग में प्रतिमास की पूर्णमासी को त्रिभुवन के ऐश्वर्य-

---

१. एवमुक्त्वेत्यपि पाठः ।

जपहोमार्चनध्यानदानब्राह्मणभोजनम् ।
महापूजा च सा नूनं मम प्रीत्यै भविष्यति ॥४४।
जीर्णोद्धाराविकरणं नृत्यवाद्यादिकार्पणम् ।
ध्वजारोपणकर्मादि तपस्वियतितर्पणम् ॥४५।
चन्द्रेश्वरे कृतं सर्वं तदानन्त्याय जायते ।
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि शृणु गुह्यं कलानिधे ॥४६।
अभक्ताय च नाख्येयं नास्तिकाय श्रुतिद्रुहे ।
अमावास्या यदा सोम जायते सोमवासरे ॥४७।
तदोपवासः कर्तव्यो भूतायां सद्भिरादरात् ।
कृतनित्यक्रियः सोम त्रयोदश्यां निशामय ॥४८।
शनिप्रदोषे सम्पूज्य लिङ्गं चन्द्रेश्वराह्वयम् ।
नक्तं कृत्वा त्रयोदश्यां नियमं परिगृह्य च ॥४९।

सत्क्रियामेव दर्शयति जपहोमेति ॥ ४४ ।

अर्पणं विश्वेश्वरे समर्पणम् । कारणमिति पाठे करणमित्यर्थः ॥ ४५ ।

श्रुतिद्रुहे वेदनिन्दकाय ॥ ४७ ।

भूतायां चतुर्दश्याम् ॥ ४८ ।

सहित रात्रि-दिन विशेषरूप से निवास करूँगा। अतएव पूर्णिमा तिथि में यहाँ पर जो कुछ जप, होम, पूजन, ध्यान, दान और ब्राह्मण-भोजन आदि सत्कर्म बहुत या थोड़ा किया जायेगा, वह सब मेरे तीर्थ निश्चय महापूजा का फलदाता होगा ॥ ४०-४४ ।

जीर्णोद्धार आदि का सम्पादन, नाच, बाजन, (नौबत) (नृत्य, गीत, वाद्य) प्रभृति का अनुष्ठान, ध्वजारोपण और तपस्वियों-यतियों का तृप्ति-साधन, ये सब कर्म चन्द्रेश्वर में करने से अनन्त (फल-जनक) होते हैं। कलानिधि ! एक दूसरी गुप्त बात कहता हूँ, सुनो, अभक्त, नास्तिक और वेदद्रोही से यह (रहस्य-कथा) नहीं कहनी चाहिए। हे सोम ! सोमवार के दिन जब अमावस्या (तिथि) हो, तब सज्जन लोग सादर चतुर्दशी में उपवास करें, त्रयोदशी को नित्यकृत्य समाप्त करके उसी तिथि में शनिवार के दिन प्रदोषकाल में इस चन्द्रेश्वर संज्ञक लिंग का पूजन करने पर नक्त

उपोष्य च चतुर्दश्यां कृत्वा जागरणं निशि।
प्रातः सोमकुहूयोगे स्नात्वा चन्द्रोदवारिभिः ॥५०॥
उपास्य सन्ध्यां विधिवत् कृतसर्वोदकक्रियः।
उपचन्द्रोदतीर्थेषु श्राद्धं विधिवदाचरेत् ॥५१॥
आवाहनार्घ्यरहितं पिण्डान् दद्यात्प्रयत्नतः।
वसुरुद्रादितिसुतस्वरूपपुरुषत्रयम् ॥५२॥
मातामहांस्तथोद्दिश्य तथाऽन्यानपि गोत्रजान्।
गुरुश्वशुरबन्धूनां नामान्युच्चार्य पिण्डदः ॥५३॥
कुर्वञ्छ्राद्धं च तीर्थेऽस्मिन् श्रद्धयोद्धरतेऽखिलान्।
गयायां पिण्डदानेन यथा तुष्यन्ति पूर्वजाः ॥५४॥
तथा चन्द्रोदकुण्डेऽत्र श्राद्धैस्तुष्यन्ति पूर्वजाः।
गयायां च यथा मुच्येत् सर्वर्णात् पितृजान्नरः ॥५५॥

वसुरुद्रादितिसुतेति अश्रद्धामलक्षालनाय पित्रादित्रयाणां वस्वादिरूपकथनम् ॥५२॥

सर्वर्णात् सम्पूर्णादृणात्। क्षणात्पितृकृतादिति क्वचित्पाठः ॥ ५५ ।

(दिन भर उपवास करके रात्रि में भोजन) कर नियमग्रहणपूर्वक चतुर्दशी को उपवास कर रात्रि में जागरण करें; फिर प्रातःकाल सोमवती अमावस्या-योग में चन्द्रकूप के जल से स्नान करके विधिवत् सन्ध्या और तर्पणादि समस्त उदक्-क्रियाओं को समाप्त कर, चन्द्रोद (कूप) तीर्थ के समीप ही सविधि श्राद्ध आरम्भ करे ॥ ४५-५१ ।

इस तीर्थ-श्राद्ध में आवाहन और अर्घ्यदान न करे, वसु, रुद्र और आदित्य-स्वरूप पिता, पितामह, प्रपितामह—इन तीनों पुरुषों को प्रयत्नपूर्वक पिण्डदान करे ॥ ५२ ।

इसी प्रकार मातामहादिक पुरुष-त्रय तथा और भी सगोत्र, गुरु, श्वशुर एवं बन्धुगण का नामोच्चारण करता हुआ पिण्डदान करना चाहिए ॥ ५३ ।

इस तीर्थ में श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करने से सबका उद्धार हो जाता है। गया में पिण्डदान करने से पूर्वजों की जैसी तृप्ति होती है, इस चन्द्रकूप पर भी श्राद्ध करने से पूर्वपुरुषों की वैसी हो तुष्टि होती है। मनुष्य जैसे गया के पिण्डदान करने से पितृ-

तथा प्रमुच्यते चर्णाच्चन्द्रोदे पिण्डदानतः ।
यदा चन्द्रेश्वरं द्रष्टुं यायात् कोऽपि नरोत्तमः ॥५६।
तदा नृत्यन्ति मुदितास्तत्पूर्वप्रपितामहाः ।
अयं चन्द्रोदतीर्थेऽस्मिस्तर्पणं नः करिष्यति ॥५७।
अस्माकं मन्दभाग्यत्वाद् यदि नैव करिष्यति ।
तदा तत्तीर्थसंस्पर्शादस्मत्तृप्तिर्भविष्यति ॥५८।
स्पृशेन्नापि यदा मन्दस्तदा द्रक्ष्यति तृप्तये ।
एवं श्राद्धं विधायाऽथ स्पृष्ट्वा चन्द्रेश्वरं व्रती ।
सन्तर्प्य विप्रांश्च यतीन् कुर्याद्वै पारणं ततः ॥५९।
एवं व्रते कृते काश्यां सदर्शे सोमवासरे ।
भवेदृणत्रयान्मुक्तो मृगाङ्क मदनुग्रहात् ॥६०।

स्पृष्ट्वा स्पर्शनं कृत्वा। दृष्ट्वेति केचित् ॥ ५९ ।

सदर्शेऽमावास्यासहिते । ऋणत्रयाद्देवपितृऋषिमानुषलक्षणादित्यर्थः । तथा च श्रुतिः-'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्वा जायते' इति ॥ ६० ।

ऋण से मुक्त होता है, वैसे ही जब कोई नरोत्तम चन्द्रेश्वर के दर्शनार्थ चलता है, तब उस घड़ी उसके पूर्वपुरुष प्रपितामह-प्रभृति (हर्ष से) नृत्य करने लगते हैं। (कहते हैं कि) "यह चन्द्रकूप तीर्थ में हम लोगों का तर्पण करेगा" ॥ ५४-५७ ।

यदि हम सबके दुर्भाग्यवश तर्पण न करेगा तो क्या हुआ ? उस तीर्थ का जल तो स्पर्श करेगा ही, उसी से हम लोगों की तृप्ति हो जायेगी ।। ५८ ।

यदि मूर्खतावश जल का भी स्पर्श न करेगा, तो उसे देखेगा तो (सही), फिर उसी से हमारा सन्तोष हो जावेगा ।" व्रती नर उक्त विधि से श्राद्ध-सम्पन्न कर पश्चात् चन्द्रेश्वर के दर्शन-स्पर्शन के अनन्तर और यतिगण को भोजनादिक के द्वारा सन्तुष्ट होने पर तब अपने व्रत का पारण करे ॥ ५९ ।

हे मृगाङ्क ! काशी में इस विधि से सोमवती अमावस्या पर व्रत करने से, मेरे ही अनुग्रह के कारण देव-ऋण, ऋषि-ऋण एवं पितृ-ऋण से वह मुक्त हो जाता है ॥ ६० ।

अत्र यात्रा महाचैत्र्यां कार्या क्षेत्रनिवासिभिः ।
तारकज्ञानलाभाय क्षेत्रविघ्ननिवर्तिनी ॥६१॥
चन्द्रेश्वरं समभ्यर्च्य यद्यन्यत्राऽपि संस्थितः ।
अघौघपटलीं भित्त्वा सोमलोकमवाप्स्यति ॥६२॥
कलौ चन्द्रेशमहिमा नाभाग्यैरवगम्यते ।
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यामि परं गुह्यं निशापते ॥६३॥
सिद्धयोगीश्वरं पीठमेतत्साधकसिद्धिदम् ।
सुराऽसुरेषु गन्धर्वनागविद्याधरेष्वपि ॥६४॥
रक्षोगुह्यकयक्षेषु किन्नरेषु नरेषु च ।
सप्तकोट्यस्तु सिद्धानामत्र सिद्धा ममाग्रतः ॥६५॥
षण्मासं नियताहारो ध्यायन् विश्वेश्वरीमिह ।
चन्द्रेश्वरार्चनायातान् सिद्धान् पश्यति सोऽग्रगान् ॥६६॥

महाचैत्र्यां चैत्रमासोद्भवायां महापूर्णिमायां चित्रानक्षत्रयुक्तायामित्यर्थः ॥ ६१ ।

संस्थितो मृतः । अघौघपटलीं पापसमूहपङ्क्तिम् ॥ ६२ ।

विश्वेश्वरीं सिद्धेश्वरीम् । अयमेव वा पाठः ॥ ६६ ।

काशी क्षेत्र-निवासियों को चित्रा-नक्षत्र-युक्त चैत्रमास की पूर्णिमा को तारक-ज्ञान के लाभार्थ, क्षेत्र विघ्न-विध्वंसिनी (महा) यात्रा करनी आवश्यक है ॥ ६१ ।

यदि कोई, चन्द्रेश्वर लिंग का पूजन करके अन्यत्र भी जाकर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो पापपुञ्ज की पंक्ति को भेदकर चन्द्रलोक में पहुँच जाता है ॥ ६२ ।

कलि-काल में भाग्यहीन लोग चन्द्रेश्वर की महिमा को नहीं जान सकते हैं। हे निशापते ! एक बात परम गुह्यतम होनेपर भी तुमसे कहता हूँ ॥ ६३ ।

यह स्थान सिद्धयोगीश्वर पीठ है और साधकों के लिये सिद्धिप्रद है। सुर, असुर, गन्धर्व, नाग, विद्याधर, राक्षस, गुह्यक, यक्ष, किन्नर और मनुष्यगण के मध्य से सात करोड़ साधक, मेरे सन्मुख यहाँ पर सिद्ध हो चुके हैं ॥ ६४-६५ ।

छः मास पर्यन्त नियत आहार (विहार) पूर्वक विश्वेश्वरी का ध्यान करने से चन्द्रेश्वर लिंग के पूजार्थ समागत यहाँ पर सिद्धगण को देखने लगता है ॥ ६६ ।

सिद्धयोगीश्वरी साक्षाद्वरदा तस्य जायते।
तवाऽपि महती सिद्धिः सिद्धयोगीश्वरीक्षणात् ॥६७।
सन्ति पीठान्यनेकानि क्षितौ साधकसिद्धये।
परं योगीश्वरीपीठाद् भूपृष्ठे नाशु सिद्धिदम् ॥६८।
यत्र चन्द्रेश्वरं लिङ्गं त्वयेदं स्थापितं शशिन्।
इदमेव हि तत्पीठमदृश्यमकृतात्मभिः ॥६९।
जितकामा जितक्रोधा जितलोभस्पृहास्मिताः।
योगीश्वरीं प्रपश्यन्ति मम शक्तिं परां हिताम् ॥७०।
ये तु प्रत्यष्टमि जनास्तथा प्रतिचतुर्दशि।
सिद्धयोगीश्वरीपीठे पूजयिष्यन्ति भाविताः ॥७१।
अदृष्टरूपां सुभगां पिङ्गलां सर्वसिद्धिदाम्।
धूपनैवेद्यदीपाद्यैस्तेषामाविर्भविष्यति ॥७२।

जितेति। लोभश्च स्पृहा चास्मिता च तास्तथा जिता लोभस्पृहास्मिता यैस्ते तथा। जितलोभा जितस्पृहा इति क्वचित्पाठः। स्पृहोज्झिता इति चान्यत्र। हितां हितकारिणीम्। हि निश्चितं तां प्रसिद्धामिति वा॥ ७०।

सिद्ध योगीश्वरी देवी उसको वरदान देती हैं। सिद्ध योगीश्वरी के ही दर्शन से तुमको भी बड़ी सिद्धि का लाभ हुआ है॥ ६७।

यद्यपि भूतल में साधकों के सिद्धिप्रद अनेक पीठ हैं; परन्तु इस योगीश्वरी-पीठ के समान दूसरा स्थान शीघ्र ही सिद्धिदान करनेवाला क्षितितल पर वर्तमान नहीं है॥ ६८।

हे शशिन्! जहाँ पर तुमने यह चन्द्रेश्वर लिंग प्रतिष्ठित किया है, यहीं वह अजितेन्द्रिय लोगों से अदृश्य पीठ है॥ ६९।

जितकाम, जितक्रोध, जितलोभ और जितस्पृह लोग ही मेरी परम शक्ति उस योगीश्वरी देवी का दर्शन प्राप्त कर सकते हैं॥ ७०।

जो लोग प्रति अष्टमी और प्रति चतुर्दशी (तिथि) में इस सिद्ध योगीश्वरी पीठस्थान पर अदृष्टरूपा, सुभगा, सकलसिद्धि प्रदात्री, पिंगला देवी का धूप, दीप, नैवेद्य आदि के द्वारा भक्तिभाव से पूजन करेंगे, उन लोगों के समक्ष वह देवी प्रकट होगी॥ ७१-७२।

इति दत्वा वरान् शम्भुस्तस्मै चन्द्रमसे द्विज ।
अन्तर्हितो महेशानस्तत्र वैश्वेश्वरे पुरे ॥७३॥
तदारभ्य च लोकेऽस्मिन् द्विजराजोऽधिपोऽभवत् ।
दिशो वितिमिराः कुर्वन्निजैः प्रसृमरैः करैः ॥७४॥
सोमवारव्रतकृतः सोमपानरता नराः ।
सोमप्रभेण यानेन सोमलोकं वसन्ति हि ॥७५॥
चन्द्रेश्वरसमुत्पत्तिं तथा चान्द्रमसं तपः ।
यः श्रोष्यति नरो भक्त्या चन्द्रलोके स इज्यते ॥७६॥

अगस्तिरुवाच—

शिवशर्मणि शर्मकारिणौं पथि दिव्ये श्रमहारिणौं गणौ ।
कथयन्तौ[१] तु कथामिमां शुभामुडुलोकं परिजग्मतुस्ततः ॥७७॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सोमलोकवर्णनं
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

भावो भक्तिस्तामिताः प्राप्ता भाविता भक्तियुक्ता इत्यर्थः ॥ ७१॥ अधिपः श्रेष्ठः ॥ ७४ ॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

हे द्विज ! महादेव उस विश्वेश्वर-नगरी में चन्द्रमा को ये सब वरदान देकर उसी स्थान पर अन्तर्धान हो गये ॥ ७३ ॥

तभी से द्विजराज चन्द्रमा अपनी फैलती हुई किरणों से दिङ्मण्डल को अन्धकारहीन करते हुए इस लोक में आधिपत्य कर रहे हैं ॥ ७४ ॥

सोमवार के व्रतकर्ता और सोम (लता) के पान में तत्पर नरगण, सोम-प्रभ विमान से जाकर (इसी) सोमलोक में निवास करते हैं ॥ ७५ ॥

जो मनुष्य चन्द्र की उत्पत्ति और उनके तपस्या-प्रकरण को भक्तिपूर्वक श्रवण करेगा, वह (इस) चन्द्रलोक में पूजित होगा ॥ ७६ ॥

---

१. वृत्तभङ्ग आर्षः ।

अगस्त्य बोले—

विष्णु के दोनों पारिषद् स्वर्ग-मार्ग में शिवशर्मा से इस कल्याणकारिणी सकल-श्रमहारिणी और शुभ-दायिनी कथा को कहते हुए वहाँ से नक्षत्र-लोक में चले गये ॥ ७७ ।

"ईशानेशहिं बरनिकै चन्द्रेश्वरहिं बखानि ।
चन्द्रकूप महिमा कही सकल सुमंगल खानि" ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दे पुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ईशानलोक-चन्द्रलोकवर्णनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अगस्तिरुवाच—

शृणु पत्नि महाभागे लोपामुद्रे सधर्मिणि ।
कथां विष्णुगणाभ्यां च कथितां शिवशर्मणे ।। १ ।

शिवशर्मोवाच—

अहो गणौ विचित्रेयं श्रुता चान्द्रमसी कथा ।
उडुलोककथां ख्यातं विष्वगाख्यानकोविदौ ।। २ ।

गणावूचतुः—

पुरा सिसृक्षतः सृष्टिं स्रष्टुरङ्गुष्ठपृष्ठतः ।
दक्षः प्रजाविनिर्माणे दक्षो जातः प्रजापतिः ।। ३ ।

पञ्चाधिके दशे चात्र लोको नाक्षत्रसंज्ञकः ।
तथाऽतिरम्यो लोकोऽत्र बुधस्यापि निगद्यते ।। १ ।

उडुलोककथां कथयितुं भार्यां सावधानयति । शृणु पत्नीति ।। १ ।

उडु नक्षत्रम् । ख्यातं कथयतम् । विष्वगाख्यानकोविदौ सकलाख्याने पण्डितौ ।। २-३ ।

(नक्षत्र-लोक और बुध-लोक का वृत्तान्त)

अगस्त्य मुनि बोले—

महाभागे ! सहधर्मिणि ! पत्नि ! लोपामुद्रे ! विष्णुदेव के दोनों पारिषदों ने शिवशर्मा से जो कथा कही थी, उसे सुनो ।। १ ।

शिवशर्मा ने पूछा—

हे गणद्वय ! यह चन्द्रमा की कथा तो बड़ी ही विचित्र है । ओ, (बाहर) आप लोग समस्त आख्यानों के पण्डित हैं, अतएव इस नक्षत्रलोक का वृत्तान्त भी कहिए ।। २ ।

गणों ने कहा—

पूर्वकाल में प्रजाओं की सृष्टि के अभिलाषी स्रष्टा भगवान् के अंगुष्ठ-पृष्ठ से प्रजा-सर्जन में दक्ष (निपुण) दक्षप्रजापति उत्पन्न हुए ।। ३ ।

षष्टिर्दुहितरस्तस्य तपोलावण्यभूषणाः ।
सर्वलावण्यरोहिण्यो रोहिणीप्रमुखाः शुभाः ॥ ४ ।
ताभिस्तप्त्वा तपस्तीव्रं प्राप्य वैश्वेश्वरीं पुरीम् ।
आराधितो महादेवः सोमः सोमविभूषणः ॥ ५ ।
यदा तुष्टोऽयमीशानो[1] दातुं वरमथाययौ ।
उवाच च प्रसन्नात्मा याचध्वं वरमुत्तमम् ॥ ६ ।
शम्भोर्वाक्यमथाकर्ण्य ऊचुस्ताश्च कुमारिकाः ।
यदि देयो वरोऽस्माकं वरयोग्याः स्म शङ्कर ॥ ७ ।
भवतोऽपि महादेव भवतापहरो हि यः ।
रूपेण भवता तुल्यः स नो भर्ता भवत्विति ॥ ८ ।

तपो विषये यल्लावण्यं प्रावीण्यं सद्भूषणं यासां तास्तथा । रूपलावण्येति क्वचित् । तपो लावण्यसंयुता इति चान्यत्र । न केवलं तदेकभूषणा : सर्वलावण्यरोहिण्यश्च सर्वेषु विषयेषु यानि लावण्यानि, तानि रोहितुमारोहितुं शीलं यासां तास्तथा । सर्व-कल्याणकारिण्य इति पाठे स्पष्ट एवार्थः ॥ ४ ।

सोम उमया सह वर्तमानः ॥ ५ ।

उसी दक्ष की तपरूपी लावण्य से भूषित समस्त कल्याणकारिणी रोहिणी-प्रभृति साठ शुभ कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥ ४ ।

वे सब विश्वनाथपुरी को प्राप्त होकर तीव्र तपस्या के द्वारा उमा-सहित चन्द्रभूषण महादेव की आराधना करने लगीं ॥ ५ ।

जब महादेव तुष्ट होकर वर देने के लिये आये और प्रसन्नचित्त हो बोले—"तुम सब उत्तम वर की प्रार्थना करो" ॥ ६ ।

तब उन कुमारिकाओं ने शिव के वचन को सुनकर कहा—"हे शंकर ! यदि हम लोगों को वर देना है और हम सब वरदान के योग्य हैं, (तो) हे महादेव ! हम लोगों को यही वरदान दें कि—जो आप से भी अधिक संसार का संतापहर्ता और रूप में भी आप ही के समान हो, वही हम लोगों का भर्ता हो ॥ ७-८ ।

---

१. यदेत्यादिश्लोकद्वयं पुस्तकान्तरेषु नास्ति ।

लिङ्गं संस्थाप्य सुमहन्नक्षत्रेश्वरसंज्ञितम् ।
वरणायास्तटे रम्ये सङ्गमेश्वरसन्निधौ ॥ ९ ।
दिव्यं वर्षसहस्रन्तु पुरुषायितसंज्ञितम् ।
तपस्तप्तं महत्ताभिः पुरुषैरपि दुष्करम् ॥ १० ।
ततस्तुष्टो हि विश्वेशो व्यतरद्वरमुत्तमम् ।
सर्वासामेकपत्नीनामेकत्र स्थिरचेतसाम् ॥ ११ ।

श्रीविश्वेश्वर उवाच—

न क्षान्तं हि तपोऽस्त्युग्रमेतदन्याभिरीदृशम् ।
पुराऽबलाभिस्तस्माद्वो नाम नक्षत्रमत्र वै ॥ १२ ।
पुरुषायितसंज्ञेन तप्तं यत्तपसाऽधुना ।
भवतीभिस्ततः पुंस्त्वमिच्छया वो भविष्यति ॥ १३ ।

पुरुषायितसंज्ञितं पुरुषवदाचरितं पुरुषायितं पुरुषैर्यादृशं तपोऽनुष्ठीयते, तादृशमित्यर्थः । तत्संज्ञितं तन्नामकं तपः । पुरुषामितसंज्ञितमिति क्वचित् । पुरुषायुतसंज्ञितमिति चान्यत्र । पाठद्वयेऽपि पुरुषेभ्योऽप्यतिशयितं यत्तपस्तत्संज्ञितमित्यर्थः । अत एवोक्तम्—पुरुषैरपि दुष्करमिति ॥ १० ।

एकस्य पत्न्य एकपत्न्यस्तासाम् । तदेवाह । एकत्र भर्तरि । एकार्थेति पाठेऽपि स एवार्थः ॥ ११ ।

वरान् दास्यन् प्रथमतस्तासां नक्षत्रनाम निर्वक्ति । न क्षान्तमिति । न क्षान्तं न सोढमीर्ष्यावशादित्यर्थः ॥ १२ ।

उन सबों ने वरणा नदी के रम्य तट पर संगमेश्वर के समीप में ही नक्षत्रेश्वर नामक बहुत बड़े लिंग का स्थापन करके देव-परिमाण के अनुसार पुरुषायित संज्ञक महातपस्या करतीं थीं, जो कि पुरुषों के लिए भी दुष्कर है। तदनन्तर सन्तुष्ट होकर विश्वेश्वर भगवान् ने उन सबको एक ही वर पर दत्तचित्ता और एकपत्नी होने की अभिलाषिणी देखकर ये सब उत्तम वरदान दिये ॥ ९-११ ।

श्रीमद्विश्वेश्वर बोले—

पूर्वकाल में दूसरी किसी अबला ने ऐसी उग्र तपस्या (नक्षान्त) सह्य नहीं की थी, अतएव यहाँ तुम सबका नाम नक्षत्र (निर्धारित) हुआ ॥ १२ ।

इस समय तुम सबों ने जो यह पुरुषायित नामक तपस्या की है, इसलिए तुम सब स्वेच्छानुसार पुरुषत्व को प्राप्त होगी ॥ १३ ।

ज्योतिश्चक्रे समस्तेऽस्मिन्नग्रगण्या भविष्यथ ।
मेषादीनां च राशीनां योनयो यूयमुत्तमाः ॥ १४ ।

ओषधीनां सुधायाश्च ब्राह्मणानां च यः पतिः ।
पतिमत्यो भवत्योऽपि तेन पत्या शुभाननाः ॥ १५ ।

भवतीनामिदं लिङ्गं नक्षत्रेश्वरसंज्ञितम् ।
पूजयित्वा नरो गन्ता भवतीलोकमुत्तमम् ॥ १६ ।

उपरिष्टान्मृगाङ्कस्य लोको वस्तु भविष्यति ।
सर्वासां तारकाणां च मध्ये मान्या भविष्यथ ॥ १७ ।

नक्षत्रपूजका ये च नक्षत्रव्रतचारिणः ।
ते वो लोके वसिष्यन्ति नक्षत्रसदृशप्रभाः ॥ १८ ।

सक्षत्रग्रहराशीनां बाधास्तेषां कदाचन ।
न भविष्यन्ति ये काश्यां नक्षत्रेश्वरवीक्षकाः ॥ १९ ।

इस समस्त ज्योतिश्चक्र में तुम लोग अग्रगामिनी होगी और मेष आदि राशियों की उत्तम योनि (उत्पत्ति-क्षेत्र) भी तुम ही सब होगी ॥ १४ ।

हे सुमुखियों ! जो ओषधियों का, सुधा (अमृत) का और ब्राह्मणों का पति है, उसी पति के द्वारा तुम सब भी पतिमती होवोगी ॥ १५ ।

तुम लोगों के द्वारा स्थापित इस नक्षत्रेश्वर संज्ञक लिंग की पूजा करने से, मनुष्य तुम लोगों के उत्तम लोक में जायेंगे ॥ १६ ।

चन्द्रलोक के ऊपर तुम लोगों का निवासोपयोगी लोक होगा और तुम सब समस्त ताराओं में माननीय होंगी ॥ १७ ।

जो लोग नक्षत्रों के पूजक और नक्षत्रों के ही समान व्रताचरण करनेवाले हैं, वे सब नक्षत्रों के ही समान देदीप्यमान होकर तुम लोगों के लोक में बसेंगे । १८ ।

जो लोग काशी में नक्षत्रेश्वर का दर्शन करेंगे, उन लोगों को कभी भी नक्षत्र, ग्रह और राशियों की पीड़ा नहीं होगी ॥ १९ ।

अगस्त्य उवाच—

अतिथित्वमवाप नेत्रयोर्बुधलोकः शिवशर्मणस्त्वथ ।
गणयोर्भगणस्य संकथां क[1]थयित्रोरिति विष्णुचेतसोः ॥२०।

शिवशर्मोवाच—

कस्य लोकोऽयमतुलो ब्रूतं श्रीभगवद्गणौ ।
पीयूषभानोरिव मे मनः प्रीणयतेतराम् ॥ २१ ।

गणावूचतुः—

शिवशर्मन् शृणु कथामेतां पापापहारिणीम् ।
स्वर्गमार्गविनोदाय तापत्रयविनाशिनीम् ॥ २२ ।
योऽसौ पूर्वं महाकान्तिराख्याभ्यां परिवर्णितः ।
साम्राज्यपदमापन्नो द्विजराजस्तवाग्रतः ॥ २३ ।

अतिथित्वमिति। इत्युक्तप्रकारेण भगणस्य नक्षत्रगणस्य संकथां समीचीनां कथां गणयोः कथयतोः सतोः बुधलोकः शिवशर्मणो नेत्रयोरतिथित्वं नेत्रगोचरतामवापेत्यर्थः ॥ २० ।

पीयूषभानोश्चन्द्रस्य लोक इव प्रीणयते तर्पयति हर्षयतीति यावत् ॥ २१ ।

योऽसाविति। योऽसौ पूर्वं महाकान्तिरित्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः य एवम्भूतश्चन्द्र इत्यनूद्य स बृहस्पतेर्भार्यां जहारेति सप्तमेनाऽन्वयः ॥ २३ ।

अगस्त्य ने कहा--

विष्णुदेव में स्थिरचित्त उन दोनों गणों के यों ही नक्षत्र लोक की सत्कथा का वर्णन करने पर, कुछ क्षण के अनन्तर बुधलोक शिवशर्मा के नेत्रों का अतिथि (पाहुन) हुआ ॥ २० ।

शिवशर्मा पूछने लगे—

हे भगवान् के दोनों गण ! यह अतुलनीय किसका लोक है ? जो चन्द्रलोक के समान मेरे चित्त को हर्षित कर रहा है ॥ २१ ।

विष्णुगणों ने कहा—

शिवशर्मन् । स्वर्गमार्ग के विनोदार्थ इस पापापहारिणी तापत्रय-विनाशिनी कथा का श्रवण (गोचर) करो ॥ २२ ।

हम लोगों ने जिस साम्राज्यपद को प्राप्त महाकान्तिमान् द्विजराज की कथा तुम्हारे सम्मुख वर्णन की है, जिसने राजसूय यज्ञ में त्रिभुवन भर दक्षिणा में दे डाला

---

१. पुस्तकान्तरेषु कथितवतोरितीति पाठो दृश्यते ।

दक्षिणा राजसूयस्य येन त्रिभुवनं कृता।
तपस्तताप योऽत्युग्रं पद्मानां दशतीर्दश ॥ २४ ।
अत्रिनेत्रसमुद्‌भूतः पौत्रो वै द्रुहिणस्य यः ।
नाथः सर्वौषधीनां च ज्योतिषां पतिरेव च ॥ २५ ।
निर्मलानां कलानां च शेवधिर्यश्च गीयते ।
उद्यन् परोपतापं यः स्वकरैर्गलहस्तयेत् ॥ २६ ।
मुदं कुमुदिनीनां यस्तनोति जगता सह ।
दिग्वधूचारुशृङ्गारदर्शनादर्शमण्डलः ॥ २७ ।
किमन्यैर्गुणसम्भारैरतोऽपि न समं विधोः ।
निजोत्तमाङ्गे सर्वज्ञः कलां यस्यावतंसयेत् ॥ २८ ॥

द्रुहिणस्य ब्रह्मणः ॥ २५ ।

शेवधिर्निधिराश्रय इत्यर्थः । स्वकरैः स्वरश्मिभिः गलहस्तयेत् गलेधृत्वा निस्सारयेन्नाशयेदित्यर्थः ॥ २६ ।

दिग्वध्विति । दिग्वधूनां दिगङ्गनानां ये चारवः शृङ्गारा अलङ्करणानि कुङ्कुमादिभिः मण्डनानि वा तेषां दर्शनार्थमादर्शस्थानीयं दर्पणस्थानीयं मण्डलं यस्य सः ॥ २७ ।

किमन्यैरिति । अन्यैर्गुणसम्भारैर्वर्णितैः किम् ? यतोऽतोऽपि वक्ष्यमाणात् कारणा-दस्य विधोः समं नास्ति । समो ग्रह इति क्वचित्पाठः । तमसो रिपोरिति चान्यत्र । अत इत्यनेनोक्तं हेतुं विवृणोति । **निजेति** । सर्वज्ञ ईश्वरो यस्य चन्द्रस्य कलां निजोत्तमाङ्गे स्वशिरसि अवतंसयेच्छिरोभूषणं कुर्यादित्यर्थः । द्वितीयान्तपाठे निजोत्तमाङ्गं प्रतिभूषये-दिति ॥ २८ ।

था जिसने शतपद्म वर्षपर्यन्त अत्युग्र तप किया था, जो अत्रि के नेत्र से उत्पन्न हुआ और जो स्वयं ब्रह्मा का पौत्र है तथा जो समग्र औषधियों का नाथ एवं सकल ज्योतियों का अधिपति है, जो निखिल निर्मल कलाओं का निधि कहलाता है, जो उदय (उदीय-मान) होकर अपने करों से दूसरों के सन्ताप को मानों गले में धक्का देकर निकाल देता है, जो (उदय को प्राप्त होते ही) जगत् के साथ कुमुदिनी (कोई) को आनन्द-दान करता है और जो दिगङ्गनाओं के सुन्दर शृङ्गार आदि देखने को दर्पणस्वरूप है, उसकी गुणावली के वर्णन का कौन प्रयोजन है ? जब कि सर्वज्ञ महादेव ही उसकी एक कला को अपने उत्तमांग (भाल में) भूषण बनाए हैं, तो भला अब उस चन्द्र के समान और कौन हो सकता है ? ॥ २३-२८ ।

बृहस्पतेः स वै भार्यामैश्वर्यमदमोहितः ।
पुरोहितस्यापि गुरोर्भ्रातुराङ्गिरसस्य वै ॥ २९ ।
जहार तरसा तारां रूपवान् रूपशालिनीम् ।
वार्यमाणोऽपि गीर्वाणैर्बहुदेवर्षिभिः पुनः ॥ ३० ।
नाऽयं कलानिधेर्दोषो द्विजराजस्य तस्य वै ।
हित्वा त्रिनेत्रं कामेन कस्य नो खण्डितं मनः ॥ ३१ ।
ध्वान्तमेतदभितः प्रसारि यत्तच्छमाय विधिना विनिर्मितम् ।
दीपभास्करकरामहौषधं नाधिपत्यतमसस्तु किञ्चन ॥३२।

भ्रातुः पितृव्यपुत्रस्य । अत्र्यङ्गिरसोर्भ्रातृत्वात् । अत एवाङ्गिरसस्येति विशेषणमुक्तम् ॥ २९ ।

रूपवान् रूपशालिनीमिति विशेषणाभ्यां परस्पराऽनुमतेनैव हरणमिति सूचितम्, मत्स्यपुराणे तथा दर्शनात् । तथाहि—

कदाचिदुद्यानगतामपश्यदनेकपुष्पाभरणोपशोभाम् ।
बृहन्नितम्बस्तनभारखेदात् पुष्पाऽवभङ्गेऽप्यतिदुर्बलाङ्गीम् ।
भार्यां च तां देवगुरोरनङ्गबाणातुरामायतचारुनेत्राम् ।
तारां स ताराधिपतिः स्मरार्तः केशेषु जग्राह विविक्तभूमौ ॥
साऽपि स्मरार्ता सह तेन रेमे तद्रूपकान्त्याहतमानसैव ।
चिरं विहृत्याऽथ जगाम तारां विधुर्गृहीत्वा स्वगृहं ततोऽपि ॥ इति ।

बहु बहुवारं यथा भवति तथा ॥ ३० ।

ननु कथमयं सात्त्विको भूत्वा बहुभिर्वार्यमाणोऽत्यन्तनिषिद्धे कर्मणि प्रवृत्त इत्यत आह । नायमिति । न खण्डितं वैकल्यं न प्रापितमपि तु खण्डितमेव ॥ ३१ ।

ननु सनकादीनां मनसः कामाऽखण्डितत्वं दृश्यते, सत्यम्, तेषामाधिपत्यतमोऽभावादित्याशयेनाह । ध्वान्तमिति । एतद्यद्ध्वान्तं तमः । अभितः सर्वतः प्रसरणशीलं

उसी रूपवान् बिधु ने ऐश्वर्य मद से मोहित होकर गुरु-पुरोहित, चचेरे भाई, अंगिरा ऋषि के पुत्र बृहस्पति की परम रूपवती भार्या तारा को देवताओं और देवर्षियों द्वारा अनेक बार निवारित होने पर भी बलपूर्वक हरण कर लिया ॥ २९-३० ।

इसमें उस कलानिधि द्विजराज का कोई दोष नहीं है; (क्योंकि) त्रिलोचन को छोड़कर काम ने किसका मन खण्डित नहीं किया ? ॥ ३१ ।

विशेषतः चारों ओर फैलते हुए तम (अंधकार) के शमन निमित्तक विधाता ने दीप और सूर्य के किरण आदि रूप महौषध बनाए हैं; परन्तु आधिपत्य-जनित तम

आधिपत्यमदमोहितं हितं शंसितं स्पृशति नो हरेर्हितम् ।
दुर्जनं विहिततीर्थमज्जनैः शुद्धधीरिव विरुद्धमानसम् ।।३३।
धिग्धिगेतदधिकर्द्धिचेष्टितं चंक्रमेक्षणविलक्षितं यतः ।
वीक्षते क्षणमचारुचक्षुषा घातितेन विपदः पदेन च ।। ३४ ।

तच्छमाय नाशाय विधिना महद् औषधं विनिर्मितम् । किं तन्महौषधमित्याकाङ्क्षाया- माह । बोधेति । अधिपतेर्भाव आधिपत्यमाधिपत्यतमस आधिपत्यजन्याविवेकज्ञानस्य तु पुनः किञ्चन किञ्चिदप्यौषधं न विहितमित्यर्थः ॥ ३२ ।

वार्यमाणोऽपि जहारेति यदुक्तम्, तत्रैव हेत्वन्तरमाह । **आधिपत्यमिति** । आधिपत्य- मदेन मोहितमन्तःकरणं पुरुषं वा कर्मभूतमिति शेषः । हरेः सम्बन्धि यद्धितं श्रवणादि- निषिद्धवर्जनादिकं तद्यतः शंसितं कथितं सत्कर्तृभूतं न स्पृशति । आधिपत्यमदमुत्सार्य स्वार्थे स्थापयितुं न शक्नोतीत्यर्थः । अत्रानुगुणं दृष्टान्तमाह । **दुर्जनमिति** । तीर्थमज्जनैः तीर्थस्नानादिभिः शुद्धा निर्मला बुद्धिर्यस्य, स यथाविरुद्धमानसं दुष्टमानसं दुर्जनं वञ्चकं न स्पृशति तद्वदिति । हरेर्द्धितमिति पाठे न केवलं नो स्पृशति; अपितु हितं हरेत् । क्रोध- मुत्पाद्यानर्थं सम्पादयेदित्यर्थः । च तं हितैरिति स्थलद्वयपाठे तं चन्द्रं हितैः सुहृद्भिः । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् । दुर्जनविहिततीर्थमज्जनमिति क्वचित् पाठः ॥ ३३ ।

आधिपत्यगर्वं निन्दति । **धिग्धिगिति** । अधिकर्द्धिचेष्टितं धिक् गर्हितं निन्दितमिति यावत् । गर्हाधिक्यसूचनार्था वीप्सा । अधिगर्द्धिचेष्टितमिति क्वचित्पाठः । कुत इत्यत आह । यतो येनाधिकर्द्धिचेष्टितेन चंक्रमेक्षणविलक्षितं चंक्रमश्चंक्रमणं परिभ्रमणं तेन यदीक्षणं पृथिवीभ्रमणादिदर्शनम् । यदुक्तं भागवते—'**यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते**' इति । तद्वद्विलक्षितं विपरीतं वीक्षते पश्यति । अहितमेव हितं मन्यत इत्यर्थः । कथम्भूतेनाधिकर्द्धिचेष्टितेन ? अचारुचक्षुषा अविवेकात्मकेन नेत्रेण । पुनः कथम्भूतेन ? क्षणं घातितेन क्षणं यथा स्यात्तथा घातं घातकत्वं इतेन प्राप्तेन नाशकेनेत्यर्थः । पुनः कथम्भूतेन ? विपदः पदेन विपदामाश्रयेणेत्यर्थः ॥ ३४ ।

को दूर करने के लिए कुछ भी नहीं बनाया है; (क्योंकि) आधिपत्य-(प्रभुत्व) मदमोहित जन को कोई भी हितवार्ता, यहाँ तक कि हितकारिणी हरि-कथा भी स्पर्श नहीं करती । जैसे कि विपरीतचित्त दुर्जन व्यक्ति को तीर्थ में स्नान करने पर भी शुद्ध-बुद्धि-स्पर्श नहीं करती, इसे भी वैसा ही समझना चाहिए; क्योंकि (जिसके कारण) विपत्ति के मारे हुए पद से कुटिल नेत्रों द्वारा क्षणमात्र चकराती हुई चकचौंधी लगी हुई दृष्टि की तरह विपरीत ही देख पड़ता है, उस बड़ी सम्पत्ति के चेष्टित को बारम्बार धिक्कार है (अर्थात् अहित को हित-मानता है) ॥ ३२-३४ ।

क: कामेन न निर्जितस्त्रिजगतां पुष्पायुधेनाऽप्यहो
क: क्रोधस्य वशंगतो न च को लोभेन संमोहित: ।
योषिल्लोचनभल्लभिन्नहृदय: को नाप्तवानापदं
को राज्यश्रियमाप्य नान्धपदवीं यातोऽपि सल्लोचन: ॥३५।

आधिपत्यकमलातिचञ्चला प्राप्य तां च यदिहार्जितं किल ।
निश्चलं सदसदुच्चकैर्हितं कार्यमार्यचरितै: सदैव तत् ॥३६।

न यदाङ्गिरसे तारां सव्यसर्जयदुल्बण: ।
रुद्रोऽथ पार्ष्णि जग्राह गृहीत्वाजगवं धनु: ॥ ३७ ।

कामाधिपत्यतमसो उपसंहरन् दृष्टान्तत्वेनार्थाऽन्नराण्याह । क: कामेनेति । जगतां मध्ये । त्रिजगत इति क्वचित् । भल्लो बाण: भल्लीनि पाठेऽपि स एवार्थ: । सल्लोचनो विद्यमाननेत्र: । काचकामलादिदोषराहित्यं वासतोऽर्थ: । सल्लोचन: सद्विवेकवानिति वा ॥ ३५ ।

उपदेशसारमाह । आधिपत्येति । आधिपत्यकमला ऐश्वर्यलक्ष्मीर्या साऽतिचञ्चला तां च पुन: प्राप्य सदसद्वर्जितं तन्निश्चलं स्थिरतरं भवति सुखदु:खप्रापकमवश्यं भवतीत्यर्थ: । तत्तस्मादार्याणां चरितमिव चरितं येषां तैरुच्चकैर्यथा स्यात्तथा सदेव हितं सर्वदा सदनुष्ठानमेव कार्यमिति । किलेति शास्त्रप्रसिद्धिं द्योतयति ॥ ३६ ।

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाहतु: । न यदेति । आङ्गिरसे आङ्गिरसाय बृहस्पतये । व्यसर्जयत् दत्तवान् । उल्बण: तीक्ष्ण उद्भट इति यावत् । पार्ष्णि पृष्ठरक्षां साहाय्यं वा जग्राह कृतवान् । अजस्य च्छागस्य गोश्च शृङ्गाभ्यां निर्मितमाजगवम् ॥ ३७ ।

अहो ! कामदेव ने पुष्पायुध होने पर भी त्रिभुवन के बीच में किसे नहीं जीत लिया ? कौन क्रोध के वशीभूत नहीं हुआ ? लोभ ने किसे मोहित नहीं किया ? कामिनियों के लोचनरूपी भाला से हृदय के विदीर्ण होने पर कौन आपत्ति में नहीं पड़ा ? और ऐसा ही कौन है, जो राज्यश्री को पाकर सुन्दर आँखें रहते भी अन्धे की पदवी पर नहीं विराजमान हुआ ? ॥ ३५ ।

आधिपत्य ऐश्वर्यलक्ष्मी अत्यन्त चंचला है । उसे प्राप्त कर इस संसार में सत्-असत् (भला-बुरा) जो चाहे, वही उपार्जित कर सकता है । फल भी अवश्य ही तदनुरूप मिलेगा । अतएव सच्चरित्र लोगों को जो अपना हितकर हो, वही करना चाहिए ॥३६।

जब चन्द्र ने उद्धत होकर बृहस्पति के लिये तारा को नहीं छोड़ा, तब रुद्रदेव पिनाक धनुष लेकर बृहस्पति के पृष्ठ-पोषक (सहायक) हुए ॥ ३७ ।

तेन ब्रह्मशिरो नाम परमास्त्रं महात्मना।
उत्सृष्टं देवदेवाय तेन तन्नाशितं ततः ॥ ३८ ॥
तयोस्तद्युद्धमभवद् घोरं वै तारकामयम्।
ततस्त्वकाण्डब्रह्माण्डभङ्गाद् भीतोऽभवद् विधिः॥ ३९ ॥
निवार्य रुद्रं समरात् संवर्तानलवर्चसम्।
ददावाङ्गिरसे तारां स्वयमेव पितामहः ॥ ४० ॥
अथाऽन्तर्गर्भमालोक्य तारां प्राह बृहस्पतिः।
मदीयायां न ते योनौ गर्भो धार्यः कथञ्चन ॥ ४१ ॥

तेनेति। तेन चन्द्रेण। ब्रह्म इति पदं शिरसि यस्य तद्ब्रह्मशिरो ब्रह्मास्त्रमस्त्रविशेषं वा ब्रह्मशिरः। अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव इति पदं शिरसि यस्य तद् ब्रह्मशिरो ब्रह्मास्त्रमस्त्रविशेषं वा ब्रह्मशिरः। अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ब्राह्ममस्त्रं तथैव चेति नृसिंहप्रादुर्भावे हरिवंशे दर्शनात्। देवदेवाय रुद्रायोत्सृष्टम्। ततस्तदनन्तरं तद् ब्रह्मशिरोऽस्त्रं तेन देवेन नाशितम्। तत इत्यत्र यश इति पाठे तत्तस्य चन्द्रस्य यशो नाशितमित्यर्थः। उद्धृत्य देवानुत्सृष्टं येनैषां नाशितं यश इति क्वचित्पाठः, तदा तेनेत्यनेनेश्वरस्य चन्द्रस्य वाऽभिधानम्। उद्धृत्य उत्तोल्य। देवान् प्रति एषां देवानाम् ॥ ३८ ॥

तारकामयं तारानिमित्तम्। ततो युद्धात्। कथम्भूतात्? अकाण्डब्रह्माण्डभङ्गादनवसरजगत्प्रलयान्निमित्तात्। विधिर्ब्रह्मा भीतोऽभूत्। भ्रंशभीत इति पाठे ततस्तदनन्तरमिति वाऽर्थः। तु शब्दादन्येऽपि भीता अभूवन्नित्यर्थः ॥ ३९ ॥

सम्बर्तानलवर्चसं प्रलयाग्नितेजसम्। आङ्गिरसे आङ्गिरसाय ॥ ४० ॥

अन्तर्गर्भमुदरस्थं गर्भमित्यर्थः। अस्यामिति पाठे तारायामित्यर्थः। अथाऽत्रेति पाठेऽपि स एवार्थः। योनौ गर्भे क्षेत्रे इति वा। क्षेत्रे मदीये गर्भोऽयं न धार्यः। शशिनस्त्वयेति क्वचित्पाठः ॥ ४१ ॥

तब तो अत्यन्त बली चन्द्रमा ने ब्रह्मशिर नामक घोर अस्त्र को महादेव के ऊपर फेंका। तदनन्तर रुद्र ने भी उस अस्त्र को विनष्ट कर डाला ॥ ३८ ॥

परस्पर उन दोनों का घोर तारकामय संग्राम होने लगा। यह देखकर विधाता अनवसर ही ब्रह्माण्ड के विनाश हो जाने से (जाने की आशंका से) अत्यन्त भीत हुए ॥ ३९ ॥

तब स्वयं पितामह ने प्रलयानल तुल्य तेजस्वी रुद्रदेव को समर से निवृत्त कर तारा को बृहस्पति के अधीन कर दिया ॥ ४० ॥

ततःपरं बृहस्पति ने तारा के अन्तर्गत गर्भ को देखकर उससे कहा—"मेरे क्षेत्र में तू दूसरे का (बीजरूप) गर्भ कभी नहीं धारण कर सकती" ॥ ४१ ॥

इषीकास्तम्बमासाद्य गर्भं सा चोत्ससर्ज ह ।
जातमात्रः स भगवान् देवानामाक्षिपद् वपुः ॥ ४२ ।
ततः संशयमापन्नास्तारामूचुः सुरोत्तमाः ।
सत्यं ब्रूहि सुतः कस्य सोमस्याऽथ बृहस्पतेः ॥ ४३ ।
पृच्छमाना यदा देवैर्नाह ताराऽति सत्रपा ।
तदा सा शप्तुमारब्धा कुमारेणाऽतितेजसा ॥ ४४ ।
तं निवार्य तदा ब्रह्मा तारां प्रपच्छ संशयम् ।
प्रोवाच प्राञ्जलिः सा तं सोमस्येति पितामहम् ॥ ४५ ।
तदा स मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा गर्भं प्रजापतिः ।
बुध इत्यकरोन्नाम तस्य बालस्य धीमतः ॥ ४६ ।

इषीकास्तम्बमत्युच्छ्रिततृणविशेषगुच्छम् । ऐषीकास्त्रमथादायेति पाठश्चिन्त्यः ॥ ४२ ।

अतिसत्रपा अतिशयलज्जायुक्ता ॥ ४४ ।

स सोमः प्रजापतिश्चेत्यन्वयः । राजावनस्पतीनाम् । तदा तं तारागर्भमिति स्थलद्वयपाठे प्रजापतिर्ब्रह्मा इत्येव ॥ ४६ ।

तब तो तारा ने इषीकास्तंब (काश के जुट्टे) पर जाकर गर्भ का परित्याग कर दिया। उस भगवान् के उत्पन्न होते ही देवताओं का शरीर प्रभाहीन-सा हो गया ॥ ४२ ।

तत्पश्चात् प्रधान देवताओं ने संशय में पड़कर तारा से पूछा—"सच कहो यह गर्भ किसका है ? सोम का अथवा बृहस्पति का ? किन्तु देवताओं के (बहुत) पूछने पर भी जब तारा ने मारे लज्जा के कुछ भी नहीं कहा, तब वह अति तेजस्वी कुमार उसे अभिशाप (गाली) देने लगा" ॥ ४३-४४ ।

तब फिर ब्रह्मा ने कुमार को रोककर तारा से उस संशय को पूछा। तारा ने हाथ जोड़कर ब्रह्मा से कहा "चन्द्र का" ॥ ४५ ।

इसके पीछे प्रजापति और उस (राजा) चन्द्र ने तारा के गर्भोद्भूत उस बुद्धिमान् बालक का मस्तक सूंघ कर उसका नाम "बुध" रखा ॥ ४६ ।

ततश्च सर्वदेवेभ्यस्तेजोरूपबलाधिकः ।
बुधः सोमं समापृच्छ्य तपसे कृतनिश्चयः ॥ ४७ ।
जगामकाशीं निर्वाणराशिं विश्वेशपालिताम् ।
तत्र लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य स स्वनाम्ना बुधेश्वरम् ॥ ४८ ।
तपश्चचार चात्युग्रमुग्रं संशीलयन् हृदि ।
वर्षाणामयुतं बालो बालेन्दुतिलकं शिवम् ॥ ४९ ।
ततो विश्वपतिः श्रीमान् विश्वेशो विश्वभावनः ।
बुधेश्वरान्महालिङ्गादाविरासीन्महोदयः ॥ ५० ।
उवाच च प्रसन्नात्मा ज्योतीरूपो महेश्वरः ।
वरं ब्रूहि महाबुद्धे बुधान्यविबुधोत्तमः ॥ ५१ ।
तवाऽनेनाऽतितपसा लिङ्गसंशीलनेन च ।
प्रसन्नोऽस्मि महासौम्य नादेयं त्वयि विद्यते ॥ ५२ ।

निर्वाणराशिं कैवल्यपुञ्जाम् ॥ ४८ ।

उग्रं विश्वेश्वरं संशीलयन् चिन्तयन् । अयुतं दशसहस्रम् ॥ ४९ ।

उवाचेति । अन्यविबुधोत्तमोऽन्यदेवेषूत्तमस्त्वं ब्रूहीत्यन्वयः पाठान्तरे सम्बोधनम् ॥ ५१ ।

इसके अनन्तर समस्त देवताओं की अपेक्षा अधिक तेज, रूप, और बल से सम्पन्न बुध ने तपस्या के निमित्त निश्चय कर चन्द्रमा की अनुमति पाकर विश्वेश्वर से पालित निर्वाण (मुक्ति) राशि काशी धाम में पहुँचकर वहाँ पर अपने नाम से बुधेश्वर लिंग की प्रतिष्ठा (स्थापना) की ॥ ४७-४८ ।

हृदय में बाल-तिलकधारी मंगलकारी उमाविहारी का ध्यान करते हुए दश सहस्र वर्ष पर्य्यन्त घोर तपस्या का अनुष्ठान सम्पन्न किया ॥ ४९ ।

इसके पश्चात् विश्वपति, विश्वभावन, महोदय श्रीमान् विश्वनाथ देव उसी बुधेश्वर नामक महालिंग से प्रकट हुए ॥ ५० ।

उस ज्योतिरूप महेश्वर ने प्रसन्न मन से कहा—हे महाबुद्धे देवोत्तम बुध ! वर की प्रार्थना करो ॥ ५१ ।

महासौम्य ! तुम्हारे इस तप और लिंग-सेवन से मैं प्रसन्न हूँ । तुम्हारे लिये कुछ भी अदेय नहीं है ॥ ५२ ।

इति श्रुत्वा वचः सोऽथ मेघगम्भीरनिःस्वनम् ।
अवग्रहपरिम्लानसस्यसञ्जीवनोपमम् ॥ ५३ ॥
उन्मील्य लोचने यावत् पुरः पश्यति बालकः ।
तावल्लिङ्गे ददर्शाऽथ त्र्यम्बकं शशिशेखरम् ॥ ५४ ॥

बुध उवाच—

नमः पूतात्मने तुभ्यं ज्योतीरूप नमोऽस्तु ते ।
विश्वरूप नमस्तुभ्यं रूपातीताय ते नमः ॥ ५५ ॥
नमः सर्वार्तिनाशाय प्रणतानां शिवात्मने ।
सर्वज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वकर्त्रे नमोऽस्तु ते ॥ ५६ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारं वचः श्रुत्वा स बालको लोचने उन्मील्य **यावत्पुरः** पश्यति, तावल्लिङ्गे त्र्यम्बकं ददर्शेति द्वितीयेनाऽन्वयः । **मेघगम्भीरनिःस्वनं** यथा स्यात्तथा । कथम्भूतम् ? अवग्रहेण वृष्टिप्रतिबन्धेन परिम्लानं परिशुष्कं सस्यं तस्य सञ्जीवनमुपमा यत्र तत्तथा ॥ ५३ ॥

सोमं विश्वेश्वरं देवं दृष्ट्वातिकरुणाकरम् । अष्टभिः परमप्रीतः पद्यैरस्तोद्बुधः शिवम् । **नम इति** । पूतात्मने पूतात्माख्यवाय्वात्मनेऽष्टमूर्तित्वादीश्वरस्य पवित्रात्मने इति वा । पवित्राणां पवित्रं य इति स्मृतेः । सर्वात्मन इति क्वचित् । पूर्णात्मन इति चान्यत्र । हे ज्योतीरूप स्वप्रकाश ते तुभ्यं नमोऽस्तु । **'अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'** इति श्रुतेः । आत्मा स्वप्रकाशश्चिद्रूपत्वाद् गुर्वभिमतज्ञानवदित्यनुमानाच्च । प्रपञ्चितमेतद् **बालबोधिनीटीकायामस्माभिः** । विश्वरूप हे प्रपञ्चात्मन् । **'इदं सर्वं यदयमात्मा'** इति श्रुतेः । **'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः'** इति स्मृतेश्च । रूपातीताय रूपाण्यतीत्य वर्तमानाय । **'अगोत्रमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** इति श्रुतेः ॥ ५५ ॥

प्रणतानां सर्वार्तिनाशाय भक्तानामाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकतापत्रितय-नाशायेत्यर्थः । **'भिद्यते हृदयग्रन्थिः'**, **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** इति श्रुतेः । **'प्रणतार्तिप्रभञ्जनः विशोकः शोकनाशनः'** इति स्मृतेश्च । कथम्भूताय ? शिवात्मने मङ्गलस्वरूपाय । स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते मङ्गलानाञ्च मङ्गल-

---

बालक बुध ने अवर्षण से मुरझाते हुए सस्य (धान्य) समूह के संजीवन जल के सदृश, मेघ-निर्घोष के समान इस वचन को सुनकर ज्यों ही दोनों आँखें खोलकर सम्मुख देखा, त्यों ही उसी लिंग में चन्द्रशेखर त्रिलोचन भगवान् दिखाई पड़े ॥ ५३-५४ ।

बुध स्तुति करने लगे—"पवित्रात्मन् ! आपको नमस्कार है, ज्योतीरूप (हे ज्योतिःस्वरूप) आपको नमस्कार है । विश्वस्वरूप ! आपको नमस्कार है । हे रूपातीत !

कृपालवे नमस्तुभ्यं भक्तिगम्याय ते नमः।
फलदात्रे च तपसां तपोरूपाय ते नमः ॥ ५७ ।
शम्भो शिव शिवाकान्त शान्त श्रीकण्ठ शूलभृत्।
शशिशेखर शर्वेश शङ्करेश्वर धूर्जटे ॥ ५८ ।

मिति स्मृतेः सर्वं जानातीति सर्वश्चासौ ज्ञश्चेति वा सर्वज्ञः स्वाध्यस्तं सर्वमवभासय-तीत्यर्थः। तदुक्तमुपदेशसाहस्र्यां भगवत्पादैः। सर्वज्ञोऽप्यत एव स्यात् स्वेन भासावभासयन् सर्वमिति। **'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'**, **'साक्षी चेता'** इत्यादि श्रुतेश्च। सर्वकर्त्रे सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां कर्त्रे उत्पादयित्रे। सर्वासां क्रियाणां हेतुत्वाद्वा सर्वकर्त्र। तदुक्तं तस्यां तैरेवाक्षरचतुष्टयन्यूनेन पूर्वस्यैवार्धेन सर्वं सर्वक्रियाहेतोः सर्वकृत्त्वं तथात्मन इति। **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'**, **'एष सर्वज्ञः'** इत्यादि श्रुतेः। करणं कारणं कर्तेत्यादि स्मृतेश्च ॥ ५६ ।

कृपालवे दयालवे। 'ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम' इति स्मृतेः। भक्तिगम्याय भक्त्यैकलभ्याय। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, यमेवैष वृणुते तेन लभ्य इति श्रुतेः। भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपायेति स्मृतेश्च। फलदात्रे कर्मफलदात्रे परमार्थ-फलदात्रे वा। रातेर्दातुः परायणमित्यादिश्रुतेः। कैवल्यपतये नम इति स्मृतेश्च। तपसां तपस्विनां तपोरूपाय ज्ञानरूपाय वा ज्ञानदायेत्यर्थः। ज्ञानं यस्य परन्तप इति श्रुतेः। ते तुभ्यं नमः ॥ ५७ ।

शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भुस्तत्सम्बोधनं हे शम्भो ! शिव सुखरूप। सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुतेः। शिवकान्त पार्वतीनाथ। शान्त निर्विकार। न जायते न म्रियते अविनाशी वा अरेऽयमात्मेत्यादि श्रुतेः। श्रीकण्ठ नीलकण्ठ।

इति तस्य वचः श्रुत्वा मया गिरिवरात्मजे।
धृतं कण्ठे विषं घोरं ततः श्रीकण्ठता मम ॥ इति स्मृतेः।

शूलभृत् त्रिशूलभृत्। शशिशेखर चन्द्रावतंस चन्द्रमौले इत्यर्थः। सर्वेश ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तानां नियन्तः। शं कल्याणं करोतीति शङ्करः। ईश्वर ईशनशील। धूर्जटे धूर्भारस्तद्रूपा जटा यस्य तत्सम्बोधनं तथा ॥ ५८ ।

आपको नमस्कार है। हे प्रणतजन सर्वार्तिभञ्जन ! आपको नमस्कार है। हे शिवात्मन् सर्वज्ञ ! आपको नमस्कार है। हे सर्वकारक ! आपको नमस्कार है ॥ ५५-५६ ।

हे दयालो ! आप को नमस्कार है, हे भक्तिमात्र लभ्य ! आपको नमस्कार है। हे तपस्याफलदायक तपोरूप ! आपको नमस्कार है ॥ ५७ ।

हे शम्भो ! शिव ! शिवाकान्त ! शान्त ! श्रीकण्ठ ! शूलभृत् ! शशिशेखर ! शर्व ! ईश ! शंकर ! ईश्वर ! धूर्जटे ! पिनाकपाणे ! गिरीश ! शितिकण्ठ ! सदाशिव !

पिनाकपाणे गिरिश शितिकण्ठ सदाशिव ।
महादेव नमस्तुभ्यं देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ ५९ ।
स्तुतिं कर्तुं न जानामि स्तुतिप्रिय महेश्वर ।
तव पादाम्बुजद्वन्द्वे निर्द्वन्द्वा भक्तिरस्तु मे ॥ ६० ।
अयमेव वरो नाथ प्रसन्नोऽसि यदीश्वर ।
नाऽन्यं वरं वृणे त्वत्तः करुणाऽमृतवारिधे ॥ ६१ ।
ततः प्राह महेशानस्तत्स्तुत्या परितोषितः ।
रोहिणेय महाभाग सौम्यसौम्यवचोनिधे ॥ ६२ ।
नक्षत्रलोकादुपरि तव लोको भविष्यति ।
मध्ये सर्वग्रहाणां च सपर्यां लप्स्यसे पराम् ॥ ६३ ।

पिनाकपाणे आजगवहस्त । गिरौ कैलासे शेत इति गिरिश । शितिकण्ठ नीलग्रीव । सदाशिवं कल्याणं यस्मात् सर्वदैकसुखस्वरूपेति वा । देवनं देवः महांश्चासौ देवश्चेति तथा । देवानां देवेति देवदेव हे देवेति वा । आदरे वीप्सा ॥ ५९-६० ।

करुणाऽमृतवारिधे दयासुधासिन्धो ॥ ६१ ।

रौहिणेयेति । यद्यपि तारेयोऽयम्, तथापि चन्द्रपत्नीनां मध्ये तस्याः प्राधान्यात् सपत्नमातृत्वाद्वा तया पुष्टत्वाद्वा तथाऽभिधानमिति ज्ञातव्यम् । सौम्यसौम्येत्यादरे वीप्सा । वचोनिधे वाग्मिन् । सौम्यवचोनिधे मधुरवचसां शेवधे आश्रयेति वा ॥ ६२ ।

सपर्यां पूजाम् ॥ ६३ ।

महादेव ! आपको नमस्कार है । हे देवदेव ! आपको नमस्कार है ॥ ५८-५९ ।

हे स्तुतिप्रिय ! मैं स्तुति करना नहीं जानता । हे महेश्वर ! आपके चरणकमल-युगल में निर्द्वन्द्व-भक्ति हो ॥ ६० ।

हे नाथ ! हे ईश्वर ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, तो यही वरदान दीजिए । हे करुणामृतसागर ! मैं आपसे दूसरा वर नहीं माँगना चाहता ॥ ६१ ।

इसके अनन्तर महादेव ने बुध की स्तुति से परितुष्ट होकर कहा—'हे रौहिणेय ! (चन्द्र के प्रधान पुत्र होने से सब के रोहिणी आदि के पुत्र यही हुए—इसी बात को पुष्ट करने के लिए यह संबोधन दिया गया है) महाभाग ! सौम्य ! मधुर-वचनाकर ! (बुध) नक्षत्र-लोक के ऊपर तुम्हारा लोक होगा और तुम सब ग्रहों में उत्तम पूजा पावोगे ॥ ६२-६३ ।

त्वयेदं स्थापितं लिङ्गं सर्वेषां बुद्धिदायकम् ।
दुर्बुद्धिहरणं सौम्य त्वल्लोकवसतिप्रदम् ॥ ६४ ।
इत्युक्त्वा भगवान् शम्भुस्तत्रैवान्तरधीयत ।
बुधः स्वर्लोकमगमद्देवदेवप्रसादतः ॥ ६५ ।

गणावूचतुः—
काश्यां बुधेश्वरसमर्चनलब्धबुद्धिः
संसारसिन्धुमधिगम्य नरो ह्यगाधम् ।
मज्जेन्न सज्जनविलोचनचन्द्रकान्तिः
कान्ताननस्त्वधिवसेच्च बुधेऽत्र लोके ॥ ६६ ।
चन्द्रेश्वरात् पूर्वभागे दृष्ट्वा लिङ्गं बुधेश्वरम् ।
न बुद्ध्या हीयते जन्तुरन्तकालेऽपि जातुचित् ॥ ६७ ।

बुद्धिदायकं ज्ञानकारकम् । बुद्धिवर्धनमिति क्वचित् ॥ ६४ ।

काश्यामिति । काश्यां बुधेश्वरसमर्चनेन लब्धबुद्धिः प्राप्तज्ञानोऽत्र बुधे लोके निवसेदित्यन्वयः । ज्ञानप्राप्तेः मरमं फलं दर्शयति । संसारसमुद्रं प्राप्याऽपि न मज्जेन्न बुड्डेत् । सज्जनविलोचनानां चन्द्रकान्तिदर्शनीयश्च भवतीत्यर्थः । कान्तं कमनीयमाननं यस्य सः ॥ ६६-६७ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ।

हे सौम्य ! तुम्हारा स्थापित यह (शिवलिंग) सभी लोगों को बुद्धिदायक और दुर्बुद्धिहारक, एवं तुम्हारे लोक में निवास देनेवाला होगा ॥ ६४ ।

ऐसा कहकर शम्भु भगवान् उसी स्थान पर (लिङ्ग में) अन्तर्धान हो गये और बुध भी देवदेव के प्रसाद से अपने लोक को चले गये ॥ ६५ ।

गणों ने कहा—

काशी में बुधेश्वर महादेव को पूजने से लब्ध-बुद्धि नर अगाध संसार-सागर में गिरकर भी गोते नहीं खाता और साधु जन के नेत्रों में चन्द्रमा के तुल्य कान्तिमान् एवं सुन्दर-वदन होकर इस बुध-लोक में निवास करता है ॥ ६६ ।

चन्द्रेश्वर शिव के पूर्वभाग में स्थित बुधेश्वर लिंग के दर्शन करने से कभी कोई जन्तु अन्तकाल में भी बुद्धि से हीन नहीं होता ॥ ६७ ।

गणौ यावत्कथामित्थं चक्राते बुधलोकगाम् ।
तावद्विमानं सम्प्राप्तं शुक्रलोकमनुत्तमम् ॥ ६८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे नक्षत्रबुधलोकयोर्वर्णनं
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

जब लों (जब तक) वे दोनों विष्णुगण इस बुध-लोक की कथा को कह ही रहे थे, तब तक विमान अत्युत्तम शुक्र-लोक में जा पहुँचा ॥ ६८ ।

सकल नक्षत्रन की कथा, पुनि बुध-लोक वृत्तान्त ।
बहु प्रकार वरनन किए, जो सुख देत नितान्त ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दे पुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां नक्षत्रलोक-
बुधलोकवृत्तान्तवर्णनं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ।

॥ अथ षोडशोऽध्यायः ॥

गणावूचतुः—

शिवशर्मन् महाबुद्धे शुक्रलोकोऽयमद्भुतः।
दानवानां च दैत्यानां गुरुरत्र वसेत्कविः ॥ १ ।
पीत्वा वर्षसहस्रं वै कणधूमं सुदुःसहम् ।
यः प्राप्तवान् महाविद्यां मृत्युसञ्जीवनीं हरात् ॥ २ ।
इमां विद्यां न जानाति देवाचार्योऽतिदुष्कराम् ।
ऋते मृत्युञ्जयात् स्कन्दात् पार्वत्या गजवक्त्रतः ॥३।

शिवशर्मोवाच—

कोऽसौ शुक्र इति ख्यातो यस्यायं लोक उत्तमः।
कथं तेन च विद्याप्ता मृत्युसञ्जीवनी हरात् ॥ ४ ।

षोडशे जीवसद्रत्नं पुरवर्यं निरूप्यते।
भार्गवस्यासुरेन्द्राणां गुरोरतुलतेजसः ॥ १ ।

क्रमप्राप्तं भृगुलोकं वर्णयतः। **शिवशर्मन्निति** ॥ १ । **कणाः** कण्डितास्तन्दुलतुषास्तज्जन्यं धूमं कणधूमम् ॥ २ । दुष्करां दुष्प्राप्याम् । वाक्पतिश्चेति क्वचित् ॥ ३-४।

(शुक्रलोक और शुक्र की कथा)

विष्णु के गण बोले—

महाबुद्धे शिवशर्मन् ? यह शुक्र लोक अद्भुत है, यहाँ पर दैत्य-दानवों के गुरु कवि रहते हैं, जिसने अति दुःसह कणधूम (फूंसी का धुआं) सहस्रवत्सरपर्यन्त पीकर के श्रीमहादेव से मृत्युसंजीवनी नामक महाविद्या प्राप्त की है ॥ १-२ ।

इस अतिदुष्कर (कठिन अलभ्य) विद्या को देवाचार्य बृहस्पति भी नहीं जानते। केवल महादेव, पार्वती, स्वामि कार्तिक और गणेश ही जानते हैं (अन्य कोई भी नहीं जानता) ॥ ३ ।

शिवशर्मा ने पूछा—

वह कौन है, जो शुक्र नाम से विख्यात है ? जिनका यह उत्तम लोक है ? और क्यों कर उसने मृत्युंजय देव से मृतसंजीवनी विद्या प्राप्त की है ? ॥ ४ ।

आचख्यातामिदं देवौ यदि प्रीतिर्मयि प्रभू ।
ततस्तौ स्माहतुर्देवौ शुक्रस्य परमां कथाम् ॥ ५ ।
यां श्रुत्वा चाऽपमृत्युभ्यो हीयन्ते श्रद्धया युताः ।
भूतप्रेतपिशाचेभ्यो न भयं चाऽपि जायते[1] ॥ ६ ।
आजौ प्रवर्तमानायामन्धकान्धकवैरिणोः ।
अनिर्भेद्य गिरिव्यूहवज्रव्यूहाधिनाथयोः ॥ ७ ।
अपसृत्य ततो युद्धादन्धकः शुक्रसन्निधिम् ।
अधिगम्य बभाषेदमवरुह्य रथात्ततः ॥ ८ ।
भगवंस्त्वामुपाश्रित्य वयं देवांश्च सानुगान् ।
मन्यामहे तृणैस्तुल्यान् रुद्रोपेन्द्रादिकानपि ॥ ९ ।

आचख्यातां कथयताम् ॥ ५ । अपमृत्युभ्योऽपमरणेभ्यः । पापमृत्युभ्य इति क्वचित् । **हीयन्ते** मुच्यन्ते ॥ ६ ।

अन्धकान्धकवैरिणो**राजौ** संग्रामे प्रवृत्ते सति अन्धको रणादपसृत्य रथादवरुह्य शुक्रसन्निधिमधिगम्य इदं वक्ष्यमाणं वाक्यं बभाष इति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ ७ ।

बभाषेदमिति सन्धिरार्षः ॥ ८ । तदेव वचनं दर्शयति । इत्यन्धकवचः श्रुत्वेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ ९ ।

हे प्रभु देवद्वय ! यदि मुझ पर प्रीति है, तो यह कहिये। उसके अनंतर वे दोनों विष्णुदूत देवता शुक्र की उत्कृष्ट कथा कहने लगे ॥ ५ ।

जिसे श्रद्धा सहित सुनने से अपघात नहीं होता और न भूत, प्रेत और पिशाचादि का भय ही रहने पाता है ॥ ६ ।

गणों ने कहा—

अनिर्भेद्य—गिरिव्यूह और वज्रव्यूह के स्वामी, अंधक और अंधकारि के युद्धप्रवृत्त होने पर एकबार अन्धक रणभूमि से निकल कर रथ से उतर शुक्र के पास जाकर बोला ॥ ७-८ ।

भगवन् ! हम लोग आपके आश्रय (भरोसे) से सानुचर रुद्र-उपेन्द्र इत्यादि देवताओं को भी तृण के तुल्य मानते हैं ॥ ९ ।

---

१. एतदुत्तरं गणावूचतुरित्यपेक्षितमिति भाति ।

कुञ्जरा इव सिंहेभ्यो गरुडेभ्य इवोरगाः ।
अस्मत्तो बिभ्यति सुरा गुरो युष्मदनुग्रहात् ॥ १० ।
वज्रव्यूहमनिर्भेद्यं विविशुर्दैत्यदानवाः ।
विधूय प्रमथानीकं ह्रदं तापार्दिता इव ॥ ११ ।
वयं त्वच्छरणं भूत्वा पर्वता इव निश्चलाः ।
स्थित्वा चराम निःशङ्का ब्रह्मणेन्द्रमहाहवे ॥ १२ ।
आप्तभावेन न वयं पादौ तव सुखप्रदौ ।
सदाराः ससुताश्चैव शुश्रूषामो दिवानिशम् ॥ १३ ।
अभिरक्षाऽभिमतो विप्र प्रसन्नः शरणागतान् ।
पश्य हुण्डं तुहुण्डं च कुजम्भं जंभमेव च ॥ १४ ।
पाकं कार्तस्वनं चैव विपाकं पाकहारिणम् ।
तं चन्द्रदमनं शूरं शूरामरविदारणम् ॥ १५ ।

त्वच्छरणमिति कर्मधारयः । त्वत् तव शरणं गृहमाश्रयं साहाय्यमित्येतदिति वाऽर्थः । भूत्वा प्राप्येत्यर्थः । प्राप्त्यर्थस्य भवतेः सकर्मकत्वात् । त्वच्छरणा इति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः ॥ १२-१३ ।

यदर्थं शुश्रूषणं तद्व्यनक्ति । अभिरक्षेति । पश्य हुण्डमित्यादीनां द्वितीयान्तानां प्रमथैः क्रान्तं पश्येति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ १४ ।

हे गुरो ! आप ही के अनुग्रह से देवतागण हम लोगों से वैसे ही डरते हैं, जैसे कि सिंहों से हस्तिगण अथवा गरुडों से सर्प-समूह डरते है ॥ १० ।

तापार्दित लोग जैसे ह्रद (तालाब) में प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही दैत्य-दानवगण प्रमथ सेना को कंपाकर अभेदनीय वज्रव्यूह में प्रवेश किये बैठे हैं ॥ ११ ।

हे ब्राह्मणेन्द्र ! हम सब आपको रक्षक पाकर पर्वतों के सदृश निश्चलरूप से घोर संग्राम में स्थित होकर निःशंकभाव से घूमते-फिरते हैं ॥ १२ ।

हम लोग पुत्र-कलत्र-सहित विश्वस्त भाव से सुखप्रद आपके दोनों चरणों की शुश्रूषा दिन-रात किया करते हैं ॥ १३ ।

हे विप्र ! प्रसन्न होकर इन शरणागत लोगों की सर्वतोभाव से रक्षा कीजिये । देखिये, हुंड, तुहुंड, कुजंभ, जंभ, पाक, कार्तस्वन, विपाक, पाकहारी, चन्द्रदमन,

प्रमथैर्भीमविक्रान्तैः क्रान्तं मृत्युप्रमाथिभिः ।
सूदितान् पतितांश्चैव द्राविडैरिव चन्दनान् ॥ १६ ।
या पीत्वा कणधूमं वै सहस्रं शरदां पुरा ।
वरा विद्या त्वया प्राप्ता तस्याः कालोऽयमागतः ॥ १७ ।
अथ विद्याफलं तत्ते दैत्यान् सञ्जीवयिष्यतः ।
पश्यन्तु प्रमथाः सर्वे त्वया सञ्जीवितानिमान् ॥ १८ ।
इत्यन्धकवचः श्रुत्वा स्थिरधीर्भार्गवो मुनिः ।
किञ्चित्स्मितं तदा कृत्वा दानवाधिपमब्रवीत् ॥ १९ ।
दानवाधिपते सर्वं तथ्यं यद्भाषितं त्वया ।
विद्योपार्जनमेतद्धि दानवार्थं मया कृतम् ॥ २० ।

द्राविडैः द्रविडदेशोद्भवैर्जनैः ॥ १६ ।

एवं सति किं मया कर्तुं शक्यत इति चेदत आह । **या पीत्वेति** । शरदा संवत्सराणाम् ॥ १७ ।

अथ अतः । अथेति कश्चित् ॥ १८ ।

किञ्चित् स्मितं तदा कृत्वेति । यस्येश्वरस्य प्रसादान्मया विद्या लब्धा, तयैव तस्य पराभवं वाञ्छत्ययं धृष्ट इति ईषद्धास्यं कृत्वेत्यर्थः ॥ १९ ।

शूर और वीर अमरविदारण इत्यादिक को मृत्युजेता घोर पराक्रमी प्रथमगण आक्रमण कर, द्राविड लोग जैसे चन्दन को काटते और गिरा देते हैं, (वैसे ही पतित और घातित कर रहे हैं) ॥ १४-१६ ।

पूर्वकाल में आपने जो तुष-धूम पानकर सहस्रवर्षपर्यन्त उत्कृष्ट विद्या प्राप्त की थी, (आज) उसके (प्रकट करने का) समय आ पहुँचा है ॥ १७ ।

दैत्यों को जिलाते हुए आपकी उस विद्या के फल को आज सकल प्रथमगण आप द्वारा जिलाये हुए दैत्यों के (रूप में) देख लेवें ॥ १८ ।

स्थिरबुद्धि भार्गवमुनि, अन्धक के इस वचन को सुन, कुछ हँसकर दानवेश्वर से कहने लगे—हे दानवराज ? तुमने जो कुछ कहा, सब सत्य है । मैंने इस विद्या का उपार्जन दानवों ही के निमित्त किया है ॥ १९-२० ।

पीत्वा वर्षसहस्रं वै कणधूमं सुदुःसहम् ।
एषा प्राप्तेश्वराद्विद्या बान्धवानां सुखावहा ॥ २१ ।
एतया विद्यया सोऽहं प्रमथैर्मथितान् रणे ।
उत्थापयिष्ये ग्लानानि धान्यान्यम्बुधरो यथा ॥ २२ ।
निर्व्रणान्नीरुजः स्वस्थान् सुप्त्वेव पुनरुत्थितान् ।
अस्मिन् मुहूर्ते द्रष्टासि दानवानुत्थितान्नृप ॥ २३ ।
इत्युक्त्वा दानवपतिं विद्यामावर्तयत् कविः ।
एकैकं दैत्यमुद्दिश्य त उत्तस्थुर्धृतायुधाः ॥ २४ ।
वेदा इव सदभ्यस्ताः समये वा यथाऽम्बुदाः ।
ब्राह्मणेभ्यो यथा दत्ताः श्रद्धयाऽर्था महापदि ॥ २५ ।

ग्लानानि शुष्काणि ॥ २२ ।

इत्युक्त्वेति । अन्धकमित्युक्त्वा कविः शुक्र एकैकं दैत्यमुद्दिश्य विद्यामावर्तयन् आवर्तयति स्म जयति स्मेत्यर्थः । यानुद्दिश्य विद्यां जजाप ते धृतायुधा उत्तस्थुरिति । आवर्तयदिति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः[1] ॥ २३-२४ ।

तत्र सात्त्विकतामसराजसभेदे दृष्टान्तत्रयमाह—वेदा इवेति । यथा वेदा अनभ्यस्यमाना उच्छिन्नसम्प्रदायतया नष्टाः सन्तः सद्भिरभ्यस्ता आवर्तिता अभिव्यक्ता भवन्ति,

---

सहस्रवत्सरपर्यन्त अति असह्य कणधूम पानकर मैंने बान्धवगण को सुख देनेवाली यह विद्या देव से प्राप्त की है ॥ २१ ।

मैं इस विद्या से रणस्थल में प्रथमगण से निहित उन असुरों को सुखते हुए धानों को जलधर (मेघ) के सदृश उठाकर खड़ा कर दूँगा ॥ २२ ।

राजन् ! इसी मुहूर्त में मृत दानवों को, अक्षत, व्यथाविहीन, स्वस्थ मानो सोकर जाग उठे-से देखोगे ॥ २३ ।

कवि दैत्येन्द्र से यह कहकर एक-एक दैत्य के उद्देश्य से उस मन्त्र को जपने लगे ॥ २४ ।

संप्रदाय के उच्छिन्न हो जाने से विस्मृत हुआ भी पुनः सद् अभ्यास से जैसे वेद अभिव्यक्त (स्पष्ट) हो जाते हैं और पूर्व के विलुप्त जलद-गण जैसे वर्षा ऋतु में

---

१. पुस्तकान्तरेषु तत्र दृष्टान्तमाहेत्येव पाठः ॥

उज्जीवितांस्तु तान् दृष्ट्वा तुहुण्डाद्यान्महासुरान्।
विनेदुः पूर्वदेवास्ते जलपूर्णा इवाऽम्बुदाः ॥ २६ ।
शुक्रेणोज्जीवितान् दृष्ट्वा दानवांस्तान् गणेश्वराः ।
विज्ञाप्यमेवं देवेश ह्येवं तेऽन्योऽन्यमब्रुवन् ॥ २७ ।
आश्चर्यरूपे प्रमथेश्वराणां तस्मिंस्तथा वर्तति युद्धयज्ञे ।
अमर्षितो भार्गवकर्म दृष्ट्वा शिलादपुत्रोऽभ्यगमन्महेशम् ॥ २८ ।
जयेति चोक्त्वा जययोनिमुग्रमुवाच नन्दी कनकावदातम् ।
गणेश्वराणां रणकर्मदेवदेवैश्च सेन्द्रैरपि दुष्करं यत् ॥ २९ ।

यथा मेघाः प्रावृषः पूर्वं नष्टाः सन्तः प्रावृड्ऋतौ पर्जन्येन नियुक्ता गगने उत्तिष्ठन्ति, यथा ब्राह्मणेभ्यः श्रद्धया दत्ता अर्था महापदि दातॄणां फलदानाय उत्तिष्ठन्ति । 'महापदि दत्ता इति वा, तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ।

पूर्वदेवा असुराः ॥ २६ ।

विज्ञाप्यमेवमेवंप्रकारं विज्ञापनीयम् । विज्ञाप्यमेतदिति क्वचित् । एवमब्रुवन्नित्यन्वयभेदान्न पौनरुक्त्यम् ॥ २७ ।

वर्तति वर्तमाने । शिलादपुत्रो नन्दी ॥ २८ ।

जय योनि जयस्य योनि कारणम् वक्तव्यमाह । गणेश्वराणामिति सार्धत्रयेण ॥ २९ ।

पुनः उदित हो जाते हैं, एवं श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणादि को प्रदत्त धन जैसे बड़ी विपत्ति की वेला में दाताओं के फलदानार्थ उठ खड़े होते हैं, वैसे ही वे दैत्यगण अत्रधारण-पूर्वक उठ-उठ कर खड़े होने लगे ॥ २५ ।

हुतुंड इत्यादि महा असुरों को पुनः जी उठते देखकर वे सब दैत्यगण जलपूर्ण मेघों की नाईं गर्जनें लगे ॥ २६ ।

(और) प्रमथगणेश्वर लोग उन दानवों को शुक्र के द्वारा पुनरुज्जीवित होते देख परस्पर कहने लगे कि यह समाचार देवदेव से निवेदन कर देना चाहिए ॥ २७ ।

तदनन्तर प्रमथाधिपों के आश्चर्यरूप उस युद्धयज्ञ के आरंभ हो जाने पर, भार्गव के उस कर्म को देख क्रोधित होकर शिलाद के पुत्र नंदी महेश के निकट गये ॥ २८ ।

अनंतर नंदी ने जयशब्दोच्चारणपूर्वक जय के कारणरूप महादेव से कहा— हे देव ! इन्द्रादि देवताओं से भी दुष्कर कनकसदृश शुद्ध रणकर्म जो हम सब गण-नायकों ने किया है, उसे भार्गव ने एक-एक के उद्देश से मृतजीवनदात्री विद्या की

तद्भार्गवेणाद्य कृतं वृथा नः सञ्जीव्यतानाजिमृतान् विपक्षान् ।
आवर्त्य विद्यां मृतजीवदात्रीमेकैकमुद्दिश्य सहेलमीश ॥ ३० ।
तुहुण्डहुण्डादिकुजम्भजम्भविपाकपाकादिमहासुरेन्द्राः ।
यमालयादद्य पुनर्निवृत्ता विद्रावयन्तः प्रमथांश्चरन्ति ॥ ३१ ।
यदि ह्यसौ दैत्यवरान्निरस्तान् सञ्जीवयेदत्र पुनः पुनस्तान् ।
जयः कुतो नो भविता महेश गणेश्वराणां कुत एव शान्ति ॥ ३२ ।
इत्येवमुक्तः प्रमथेश्वरेण सनन्दिना वै प्रमथेश्वरेशः ।
उवाच देवः प्रहसंस्तदानीं तं नन्दिनं सर्वगणेशराजम् ॥ ३३ ।
नन्दिन् प्रयाहि त्वरितोऽतिमात्रं द्विजेन्द्रवर्यं दितिनन्दनानाम् ।
मध्यात्समुद्धृत्य तथानयाशु श्येनो यथा लावकमण्डजातम् ॥ ३४ ।

सहेलं सलीलं यथा स्यात् ॥ ३० ।

आनयस्वेत्यात्मनेपदमार्षम् । हे स्व आत्मीयेति वा । लावकं लावमेव लावकं पक्षिविशेषम् । 'तित्तिरिः कुक्कुभो लाव' इत्यमरः । अण्डजातमण्डे उत्पन्नं शावकमित्यर्थः । अथवा लावकमित्यस्य च्छेदनकर्तव्यावृत्त्यर्थमण्डजातमिति विशेषणम् । अण्डजमित्यर्थः ॥ ३४ ।

आवृत्ति करके युद्ध में निहत विपक्षगण को जिला-जिला कर आज सलील (खेलवाड़ में) ही वृथा कर दिया है ॥ २९-३० ।

तुहुंड, हुंड, कुजंभ, जंभ, विपाक और पाकादि महासुरेन्द्रगण, यमालय से लौट आकर आज फिर प्रमथों को विद्रावित करते हुए घूम रहे हैं ॥ ३१ ।

यह भार्गव यदि यों ही मृत दैत्यों को बारंबार जीवित ही करता रहेगा, तो हे महेश ! यहाँ पर हम लोगों का जय क्योंकर होगा ? सुतरां गणनायकों की सुख-शान्ति ही कैसे होगी ? ॥ ३२ ।

प्रमथनायक नन्दी के ऐसा कहने पर प्रमथाधिपराज महेश्वर ने हँसकर गणाध्यक्षेश्वर नन्दी से यों कहा—हे नन्दिन् ! अतिमात्र शीघ्रता से जाओ, जैसे श्येन (बाज), लावक (लवा) पक्षी को झट पकड़ लेता है, वैसे ही दैत्यों के मध्य से उस ब्राह्मणप्रवर को उठा लाओ ॥ ३३-३४ ।

स एवमुक्तो वृषभध्वजेन ननाद नन्दो वृषसिंहनादः ।
जगाम तूर्णं च विगाह्य सेनां यात्राभवद्भार्गववंशदीपः ॥ ३५ ।
तं रक्ष्यमाणं दितिजैः समस्तैः पाशासिवृक्षोपलशैलहस्तैः ।
विक्षोभ्य दैत्यान् बलवान् जहार काव्यं स नन्दो शरभो यथेभम् ॥ ३६ ।
त्रस्ताम्बरं विच्युतभूषणं च विमुक्तकेशं बलिना गृहीतम् ।
विमोचयिष्यन्त इवाऽनुजग्मुः सुरारयः सिंहरवान् सृजन्तः ॥ ३७ ।
दम्भोलिशूलासिपरश्वधानामुद्दण्डचक्रोपलकम्पनानाम् ।
नन्दीश्वरस्योपरि दानवेन्द्रा वर्षं ववर्षुर्जलदा इवोग्रम् ॥ ३८ ।

वृषसिंहनादः श्रेष्ठसिंहशब्दः ॥ ३५ । **विक्षोभ्य** विचाल्य । शरभोऽष्टापदः । इभं गजम् ॥ ३६ ।

मोचयिष्यन्त इव । वस्तुतो मोचनं नास्त्येवेत्यभिप्रायः । अथवा विमोचयिष्यन्त इवेति लोकोक्तिः । **सिंहरवान्** वीरगर्जितशब्दान् । वीराणां गर्जितं शब्दं सिंहनादं विदुर्बुधा इति वचनात् ॥ ३७ ।

दम्भोलीति । वज्रत्रिशूलखड्गकुठाराणां तथा उद्दण्डानां च बहूनां चक्रपाषाण-कम्पनाख्यास्त्रविशेषाणां वायव्यास्त्राणां वा वर्षं दानवेन्द्रा नन्दिकेश्वरस्योपरि उग्रं यथा स्यादुग्रं वर्षमिति वा अम्बुदा इव ववृषुरित्यर्थः । इवागममिति पाठे अम्बुदा यथा पर्वतं ववृषुस्तथेत्यर्थः ॥ ३८ ।

वृषभध्वज के ऐसा कहते ही वे वृषसिंहनादी नन्दी गर्जने लगे और तुरंत जहाँ पर भृगुवंशप्रदीप शुक्र स्थित थे, सेना में घुसकर (सेना को ढ़ढ़ोरते हुए) वहाँ जा पहुँचे ॥ ३५ ।

समस्त दैत्यों के द्वारा पाश, खड्ग, वृक्ष, पाषाण और पर्वतादि हाथ में लेकर रक्षा किये जाते हुए उस काव्य को, दैत्यगण को विक्षोभित कर, बलवान् नन्दी, शरभ जैसे हाथी को उठा ले जाता है, वैसे ही छीन लाये ॥ ३६ ।

उस स्खलितवस्त्र, विच्युत-भूषण, विमुक्तकेश महाबली नन्दी से ग्रहण किये गये शुक्र को छुड़ा लेने के ही प्रयोजन से मानो दैत्यगण सिंहनाद करते हुए नन्दी के पीछे-पीछे दौड़ने लगे ॥ ३७ ।

उस घड़ी दानवेन्द्रगण मेघमंडल के समान (चहूँ ओर से) नन्दीश्वर के ऊपर वज्र, शूल, खड्ग, कुठार, बहुत से चक्र, पाषाण और कंपनास्त्र (कँपास या ढ़ेलवांस) आदि का बड़े वेग से वर्षण करने लगे ॥ ३८ ।

तं भार्गवं प्राप्य गणाधिराजो मुखाग्निना शस्त्रशतानि दग्ध्वा।
आयात्प्रवृद्धेऽसुरदेवयुद्धे भवस्य पार्श्वे व्यथितारिसैन्यः ॥ ३९।
अयं स शुक्रो भगवन्नितीदं निवेदयामास भवाय शीघ्रम्।
जग्राह शुक्रं स च देवदेवो यथोपहारं शुचिना प्रदत्तम् ॥ ४०।
न किञ्चिदुक्त्वा स हि भूतगोप्ता चिक्षेप वक्त्रे फलवत् कवीन्द्रम्।
हाहारवैस्तैरसुरैः समस्तैरुच्चैर्विमुक्तो हहहेति भूरि ॥ ४१।
काव्ये निगीर्णे गिरिजेश्वरेण दैत्या जयाशारहिता बभूवुः।
हस्तैर्विमुक्ता इव वारणेन्द्राः भृङ्गैर्विहीना इव गोवृषाश्च ॥ ४२।

प्रवृद्धे अतिशयिते। प्रवृत्त इति क्वचित्। व्यथितानि अरिसैन्यानि येन यस्मादिति वा सः ॥ ३९।

उपहारं बलिम्। बलिः पूजोपहारे स्यादित्यमरः ॥ ४०।

फलवदामलकादिफलवत्। हाहारव इति। हहहेति हकारत्रयं खेदे। भूरि अतिशयेन खेदो यथा भवतीति तथा हाहारवो हाहाशब्दस्तैः समस्तैरसुरैर्विमुक्तो विशेषेण त्यक्त इत्यर्थः। हाहारवैरिति पाठे हाहा इति रवो येषां तैरसुरैः। हहहेति खेदातिशयप्रतिपादकः शब्दः। भूरि यथा स्यात्तथा विमुक्तो हा हा ह ह हेत्येवं रूपः शब्दो बहुविधः कृत इत्यर्थः ॥ ४१।

हस्तैः शुण्डादण्डैः ॥ ४२।

वे गणाधिनायक नन्दी, प्रवृद्ध देवासुर-संग्राम में शत्रु-सैन्य को व्यथित कर मुखाग्नि के द्वारा सैकड़ों अस्त्रों को दग्ध करते हुए उस भार्गव को पकड़े हुए महादेव के पास जाकर उपस्थित हुए और उसने तुरन्त ही शिव से निवेदन किया—"हे भगवन्! यही वह शुक्र है"। तब तो देवदेव ने पवित्र व्यक्ति के द्वारा निवेदित उपहार की भाँति उस शुक्र को ग्रहण कर लिया ॥ ३९-४०।

उस भूतपति ने बिना कुछ कहे (सुने) कवीन्द्र शुक्र को फल के सदृश मुख में डाल दिया, तब तो समस्त दैत्यगण उच्चैःस्वर से निरंतर "हाँ हाँ! हाय हाय!" इत्यादिरूप हाहाकार करने लगे ॥ ४१।

गिरिजापति से शुक्र के निगले जाने पर दैत्यवृन्द जय की आशा से विमुख हो गया, तब जैसे बिना सूँड़ के हाथी, शृङ्ग-रहित जैसे वृषभेन्द्र, शरीर से हीन जैसे जीवसंघ, यथा अध्ययन-विहीन द्विजगण एवं उद्यमविवर्जित प्राणियों के गण, यों ही भाग्यविरहित उद्योग, जैसे पति से वियुक्त रमणीगण, अथवा पक्षहीन बाणसमूह, जैसे

शरीरहीना इव जीवसङ्घा द्विजाश्चाध्ययनेन हीनाः ।
निरुद्यमाः सत्त्वगुणा यथा वै यथोद्यमा भाग्यविवर्जिताश्च ॥ ४३ ।
पत्या विहीनाश्च यथैव योषा यथा विपक्षा इव मार्गणौघाः ।
आयूंषि हीनानि यथैव पुण्यैर्वृत्तेन हीनानि यथा श्रुतानि ॥ ४४ ।
विना यथा वैभवशक्तिमेकां भवन्ति हीनाः स्वफलैः क्रियौघाः ।
तथा विना तं द्विजवर्यमेकं दैत्या जयाशाविमुखा बभूवुः ॥ ४५ ।

नन्दिनाऽपहृते शुक्रे गिलिते च विषादिना ।
विषादमगमन् दैत्या हीयमानरणोत्सवाः ॥ ४६ ।
तान् वीक्ष्य विगतोत्साहानन्धकः प्रत्यभाषत ।
कविं विक्रम्य नयता नन्दिना वञ्चिता वयम् ॥ ४७ ।
तनूर्विना हृताः प्राणाः सर्वेषामद्य तेन नः ।
धैर्यं वीर्यं गतिः कीर्तिः सत्त्वं तेजः पराक्रमः ॥ ४८ ।

योषाः स्त्रियः । मार्गणौघाः बाणसमूहाः । श्रुतानि अध्ययनानि ॥ ४४ ।

विनेति । विभोर्विश्वेरस्येयं वैभवी, चासौ शक्तिश्चेति वैभवशक्तिस्ताम् । वै प्रसिद्धां भवशक्तिमिति वा । भवभक्तिमिति क्वचित् । एकां मुख्याम् ॥ ४५ ।

विषादिना रुद्रेण ॥ ४६ ।

अद्य तेन नन्दिना सर्वेषां नोऽस्माकं तनूः शरीराणि विना विहाय प्राणा हृता नाशिताः । प्राणैर्हीनदेहाः सम्पादिता इत्यर्थः । कृता इति पाठेऽपि स एवार्थः । **धैर्यं** पाण्डित्यं आपद्यपि मनः स्वास्थ्यमित्यर्थः । **वीर्यं शूरत्वम् । गतिर्ज्ञानम् । कीर्तिर्यशः । सत्त्वमुत्साहः । तेजः प्रागल्भ्यम् । पराक्रम उद्योगः** ॥ ४८ ।

पुण्य से क्षीण आयुष्य, वा असच्चरित्र पुरुष का शास्त्रादिपठन और फिर जैसे एक वैभवशक्ति के बिना सकल क्रियाकलाप निष्फल हो जाते हैं, उसी प्रकार से दैत्यगण उस द्विजवर्य के विना अपने जय की आशा से रहित हो गये ॥ ४२-४५ ।

जब नन्दी शुक्र को उठा लाये और हलाहल विष को पीने वाले शिव उनको निगल गये, तब रणोत्साहविहीन असुरगण अतिविषाद करने लगे ॥ ४६ ।

ऊन सब को निरुत्साह देखकर अंधक बोला—पराक्रमपूर्वक शुक्र को उठा ले जानेवाले नन्दी से हमलोग ठगे गये ॥ ४७ ।

उस (नन्दी) ने आज हम सब लोगों को शरीर के बिना प्राण, धैर्य, वीर्य, मति, कीर्ति, उत्साह और पराक्रमादि सब कुछ एकबार ही भार्गव का हरण करके

युगपन्नो हृतं सर्वमेकस्मिन् भार्गवे हृते ।
धिगस्मान् कुलपूज्यो यैरेकोऽपि कुलसत्तमः ।
गुरुः सर्वसमर्थश्च त्राता त्रातो न चापदि ॥ ४९ ।
तद्धैर्यमवलम्ब्येह युध्यध्वमरिभिः सह ।
सूदयिष्याम्यहं सर्वान् प्रमथान् सह नन्दिना ॥ ५० ।
अद्यैतान् विवशान् हत्वा सह देवैः सवासवैः ।
भार्गवं मोचयिष्यामि जीवं योगीव कर्मतः ॥ ५१ ।
स चाऽपि योगी योगेन यदि नाम स्वयं प्रभुः ।
शरीरात्तस्य निर्गच्छेदस्माकं शेषपालिता ॥ ५२ ।

धिगिति । यैरस्माभिर्गुरुर्न त्रातः, तानस्मान् प्रति धिगित्यर्थः । कुलसत्तमो विप्रकुलेषु श्रेष्ठः । द्विजसत्तम इति क्वचित् ॥ ४९ ।

तत्तस्मात् सूदयिष्यामि नाशयिष्यामि ॥ ५० ।

विवशा न स्वतन्त्रान् । इव यथा कश्चिद्योगी जीवं स्वात्मानं कर्मतः कर्मभ्यो धर्माऽधर्मलक्षणेभ्यो मोचयति, तद्वदित्यर्थः ॥ ५१ ।

स चेति । स चाऽपि सोऽपि च योगी भार्गवो यदि कथञ्चिद्योगेन तस्य विश्वेश्वरस्य शरीरान्निर्गच्छेन्निर्गमिष्यति, तदा शेषपालिता शेषाणामवशिष्टानामस्माकं पालिता पालयिता पालयिष्यतीत्यर्थः । अस्माकं सेव्यतात्र केति क्वचित् । शेषशालितेति च शेषशालिनामिति चान्यत्र । पाठद्वये क्रमेणावशेषवत्वं तदा भद्रं स्यादित्यर्थः ॥ ५२ ।

ले लिया, जो अपने कुलपूज्य, विप्रकुलश्रेष्ठ, सर्वसमर्थ, आपत्तिकाल में रक्षा करनेवाले एक गुरु को भी सुरक्षित नहीं कर सके, अतएव हमलोगों को धिक्कार है ॥ ४८-४९ ।

(अस्तु, जो होना था हुआ) अब तो यहाँ पर धैर्य का अवलम्बन करके शत्रुओं के साथ युद्ध करते जाओ । मैं नन्दी के सहित इन समस्त प्रथमगण को मारूँगा ॥ ५० ।

आज इन्द्रादि देवताओं के सहित इन सब को विवश कर और मारकर, भार्गव को ऐसे छुड़ा लाऊँगा, जैसे योगी कर्मबन्धन से जीव को विमुक्त कर देता है ॥ ५१ ।

और यदि (कहीं) वह योगी प्रभु योगबल के द्वारा शिव के शरीर से स्वयं निकल आवेगा, तो अवशिष्ट हमलोगों की (अन्त में) रक्षा करेगा ॥ ५२ ।

इत्यन्धकवचः श्रुत्वा दानवा मेघनिःस्वनाः ।
प्रथमानर्दयामासुर्मर्तव्ये कृतनिश्चयाः ॥ ५३ ।
सत्यायुषि न नो जातु शक्ताः स्युः प्रमथा बलात् ।
असत्यायुषि किं गत्वा त्यक्त्वा स्वामिनमाहवे ॥ ५४ ।
ये स्वामिनं विहायाजौ बहुमानधना जनाः ।
यान्ति ते यान्ति नियतमन्धतामिस्रमालयम् ॥ ५५ ।
अयशस्तमसाख्यातिं मलिनीकृत्य भूरिशः ।
इहाऽमुत्राऽपि सुखिनो न स्युर्भंग्ना रणाजिरात् ॥ ५६ ।
किं दानैः किं तपोभिश्च किं तीर्थपरिमज्जनैः ।
धरातीर्थे यदि स्नातं पुनर्भवमलापहे ॥ ५७ ।

बहुमान एव धनं येषां ते बहुमानधनाः ॥ ५५ ।

अशय एव तमोऽन्धकारस्तेन अशयस्तमसा । ख्यातिं कीर्तिम् । भग्नाः त्यक्तरणाः । भङ्गादिति पाठे पलायनादित्यर्थः ॥ ५६ ।

धरातीर्थे युद्धभूमिरूपे तीर्थे । धारातीर्थे इति पाठे शस्त्रधारापातरूपे तीर्थे इत्यर्थः ॥ ५७ ।

अंधक के ऐसे वचन को सुन मेघ-गंभीर निर्घोष दानवगण, मरण का निश्चय कर प्रथमगण को अर्दित करने लगे ॥ ५३ ।

"जब तक आयुष्य है, तब तक तो प्रथमगण, बल से मार ही नहीं सकते, फिर हाँ, यदि आयुष्य ही नहीं है, तो निज स्वामी को युद्ध में छोड़ भागने में क्या फल है ? ॥ ५४ ।

जो बड़े मानधन लोग रणक्षेत्र में स्वामी को त्यागकर भाग जाते हैं, वे अवश्यमेव अन्धतामिस्रगृह (नरक) में पड़ते हैं ॥ ५५ ।

बहुत बड़ी सुख्याति को अपयशरूपी तम से (अंधकार से) मलिन करके जो लोग समरांगण से भग्न हो जाते हैं, वे इस लोक और परलोक में कहीं भी सुखी नहीं होते ॥ ५६ ।

पुनर्जन्मरूप मल के विनाशक रणक्षेत्र (अस्त्रधारा) रूप तीर्थ में जिसने स्नान कर लिया, उसे क्या दान, क्या तप अथवा तीर्थस्नान से क्या प्रयोजन है ? ॥ ५७ ।

सम्प्रधार्येति तेऽन्योऽन्यं दैत्यास्ते दनुजास्तथा ।
ममन्थुः प्रमथानाजौ रणभेरीर्निनाद्य च ॥ ५८ ।
तत्र बाणाऽसिवज्रौघैः कटंकटशिलामयैः ।
भुशुण्डीभिन्दिपालैश्च शक्तिभल्लपरश्वधैः ॥ ५९ ।
खट्वाङ्गैः पट्टिशैः शूलैर्लकुटैर्मुसलैरलम् ।
परस्परमभिघ्नन्तः प्रचक्रुः कदनं महत् ॥ ६० ।
कार्मुकाणां विकृष्टानां पततां च पतत्रिणाम् ।
भिन्दिपालभुशुण्डीनां क्ष्वेडितानां रवोऽभवत् ॥ ६१ ।
रणतूर्यनिनादैश्च गजानां बहुबृंहितैः ।
हेषारवैर्हयानां च महान् कोलाहलोऽभवत् ॥ ६२ ।

कटंकटशिलामयैः कटंकटशब्दयुक्तयन्त्रपाषाणैः । भुशुण्डोति । भुशुण्डयश्च भिन्दिपालाश्च भुशुण्डीभिन्दिपालास्तैः । तत्र भुशुण्डयः सर्वत्र लोहकंटकव्याप्ता अयःक्रमोत्सेधाः । तदुक्तम्—'भुशुण्डीसर्वतो लोहकंटकानुक्रमोन्नतेति' । अयोगोलकप्रष्टच इति केचित् । भिन्दिपालैः सृगैर्लोहवद्धदंण्डैरिति यावत् । यदाहा[illegible]—भिन्दिपालः सृगस्तुल्याविति । **परश्वधैः** कुठारैः । यदाहामरः—'द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः' इति ॥ ५९ ।

खट्वाङ्गं खट्वायाः खुराकारोऽस्त्रविशेषः । पट्टिशादयोऽस्त्रविशेषाः । एतैश्चालमत्यर्थं कदनं दुःखम् ॥ ६० ।

विकृष्टानां टङ्कारितानाम् । क्ष्वेडितानां क्ष्वेडं विषं तद्विद्यते यासां ताः क्ष्वेडिताः । तारकादित्वादस्त्यर्थे इतच्, तासाम् ॥ ६१ ।

दैत्य-दानवगण परस्पर यही स्थिर कर समर के डंकों पर चोट लगाकर युद्ध में प्रथमगण को मथने लगे ॥ ५८ ।

वहाँ पर प्रमथ और दैत्यगण पत्थर, बाण, तलवार, वज्रसमूह, कटंकट बोलने वाला शिलायन्त्र, भुशुण्डी, ढ़ेलवाँस, शक्ति, भाला, कुठार, खट्वाङ्ग, पट्टिश, शूल, लकुट (लकड़ी) और मुशल के द्वारा आघात-प्रतिघात करते हुए घोर कदन (मार-काट) करने लगे ॥ ५९-६० ।

खिंचे जाते हुए धनुषों के और गिरते हुए बाणों के एवं भिंदिपाल और भुशुण्डी तथा सिंहनाद शब्द होने लगे ॥ ६१ ।

युद्ध के डंकों के निनाद, हाथियों के अनेक बृंहति (गर्जन) और घोड़ों की हिनहिनाहट से बड़ा कोलाहल मच गया ॥ ६२ ।

प्रतिस्वनैरवापूरि द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ।
अभीरूणां च भीरूणां महारोमोद्गमोऽभवत् ॥ ६३ ।
गजवाजिमहारावस्फुटच्छब्दग्रहाणि च ।
भग्नध्वजपताकानि क्षीणप्रहरणानि च ॥ ६४ ।
रुचिरोद्गारचित्राणि व्यश्वहस्तिरथानि च ।
पिपासितानि सैन्यानि मुमूर्च्छुरुभयत्र वै ॥ ६५ ।
दृष्ट्वा सैन्यं च प्रमथैर्भज्यमानमितस्ततः ।
दुद्राव रथमास्थाय स्वयमेवान्धको गणान् ॥ ६६ ।
शरवज्रप्रहारैस्तैर्वज्राघातैर्नगा इव ।
प्रथमा नेशिरे वातैः निस्तोया इव तोयदाः ॥ ६७ ।
यान्तमायान्तमालोक्य दूरस्थं निकटस्थितम् ।
प्रत्येकं रोमसंख्याभिर्व्यधाद्बाणैस्तदाऽन्धकः ॥ ६८ ।

गजानां वाजिनां च महारावैः स्फुटन्तः स्फुटमानाः शब्दग्रहा कर्णा येषां तानि तथा ॥ ६४ । मुमूर्च्छुर्मूर्च्छां प्रापुः ॥ ६५ ।

शरा एव वज्रास्तेषां प्रहारैः । प्रमथा नेशिरे अदर्शनं लेभिरे ॥ ६७ ।

व्यधात् अताडयत् ॥ ६८ ।

पृथिवी और आकाश का बीच प्रतिध्वनियों से परिपूर्ण हो गया । वीरों को और डराकुओं को भी अत्यन्त रोमांच होने लगा ॥ ६३ ।

दोनों पक्ष के सैनिक लोगों का हाथी-घोड़ों के बड़े शब्द से कान फटने लगे, ध्वजा-पताका आदि गिरने लगे और शस्त्र भी अल्पावशिष्ट टूटते-टूटते बहुत ही क्षीण हो गये ॥ ६४ ।

घोड़े, हाथी और रथ सभी रुधिरोद्गार से चित्रित हो गये और वे सबके सब प्यास के मारे मूर्छित होने लगे ॥ ६५ ।

तब स्वयं अन्धक प्रमथों से इधर-उधर भगाई जाती हुई अपनी सेना को देख रथ पर चढ़ दौड़ने लगा ॥ ६६ ।

अब तो वे प्रमथगण, वज्रघातों से पर्वतों की नाईं अथवा प्रचण्ड वायुवेग से निर्जल मेघों के सदृश उस अंधकासुर के वज्रोपम बाण के प्रहारों से विनष्ट होने लगे ॥ ६७ ।

फिर उस काल में अधिक आते, जाते, दूरस्थित और निकटवर्ती सभी को देख-भाल कर प्रत्येक को रोमसंख्या के अनुसार बाणों से विद्ध करने लगा ॥ ६८ ।

विनायकेन स्कन्देन नन्दिना सोमनन्दिना ।
नैगमेयेन शाखेन विशाखेन बलीयसा ॥ ६९ ।
इत्याद्यैस्तु गणैरुग्रैरन्धकोऽप्यन्धकीकृतः ।
त्रिशूलशक्तिबाणौघधारासम्पातपातिभिः ॥ ७० ।
ततः कोलाहलो जातः प्रमथाऽसुरसैन्ययोः ।
तेन शब्देन महता शुक्रः शम्भूदरे स्थितः ॥ ७१ ।
छिद्रान्वेषी भ्रमन् सोऽथ विनिकेतो यथानिलः ।
सप्तलोकान् सपातालान् रुद्रदेहे व्यलोकयत् ॥ ७२ ।
ब्रह्मनारायणेन्द्राणामादित्याऽप्सरसां तथा ।
भुवनानि विचित्राणि युद्धं च प्रमथाऽसुरम् ॥ ७३ ।

विनायकेनेति । इत्याद्यैर्गणैरन्धकोऽप्यन्धकीकृत इत्यन्वयः । के त इत्याकाङ्क्षायामाह । विनायकेनेत्यादि ॥ ६९ ।

कैरित्याङ्क्षायामाह । **त्रिशूलेति** । त्रिशूलादयश्च धारापातेन पातो वर्तते येषां ते च तैः ॥ ७० ।

केतः केतनं मार्ग इति यावत् । विनिर्गतः केतो निर्गममार्गो यस्य, सोऽनिलो यथेति ॥ ७२ ।

प्रमथानामसुराणां च वृत्तं युद्धं प्रमथाऽसुरम् ॥ ७३ ।

महाबली गणेश, कार्तिकेय, नन्दी, सोमनन्दी, नैगमेय, शाख, विशाख इत्यादि अत्युग्र गणनायकों ने भी त्रिशूल, शक्ति और बाणसमूह की वृष्टि की धारा के तुल्य वर्षण करते हुए अंधकासुर को भी अन्ध कर डाला ॥ ६९-७० ।

इसके अनन्तर प्रमथगण और असुरसैन्य का महान् कोलाहल होने लगा। उस बड़े शब्द से शिव के उदर में स्थित शुक्र ने बाहर होने की इच्छा से छिद्र अन्वेषण (खोज) करते-करते आश्रयरहित वायु की नाईं घूमते हुए, उसी रुद्र के जठर में, पाताल के सहित सातों लोकों को देखा ॥ ७१-७२ ।

ब्रह्मा, नारायण, इन्द्र, आदित्य और अप्सरा आदिकों के विचित्र भुवनों को एवं प्रमथासुर के वर्तमान युद्ध को भी देखा ॥ ७३ ॥

स वर्षाणां शतं कुक्षौ भवस्य परितो भ्रमन् ।
न तस्य ददृशे रन्ध्रं शुचे रन्ध्रं खलो यथा ।। ७४ ।
शाम्भवेनाऽथ योगेन शुक्ररूपेण भार्गवः ।
चस्कन्दाऽथ ननामाऽपि ततो देवेन भाषितः ।। ७५ ।
शुक्रवन्निःसृतो यस्मात्तस्मात्त्वं भृगुनन्दन ।
कर्मणाऽनेन शुक्रस्त्वं मम पुत्रोऽसि गम्यताम् ।। ७६ ।
[1]जठरान्निर्गते शुक्रे देवोऽपि मुमुदेतराम् ।
भ्रमन् श्रेयोऽभवद्यन्मे न मृतो जठरे द्विजः ।। ७७ ।
इत्येवमुक्तो देवेन शुक्रोऽर्कसदृशद्युतिः ।
विवेश दानवानीकं मेघमालां यथा शशी ।। ७८ ।
शुक्रोदयान्मुदं लेभे स दानवमहार्णवः ।
यथा चन्द्रोदये हर्षमूर्मिमालीमहोदधिः ।। ७९ ।

रन्ध्रं छिद्रम् ।। ७४ ।

शाम्भवेन शम्भुप्रसादलब्धेन योगेनोपायेन । शुक्ररूपेण वीर्यरूपेण । शुक्रं यथोपस्थच्छिद्रेण बहिर्निःसरति, तेन प्रकारेणेत्यर्थः । चस्कन्द जगाम बहिर्निर्गत इत्यर्थः ।। ७५-७६ ।

वह सौ वर्षपर्यन्त महादेव की कुक्षि में चारों ओर घूमते रहने पर भी, खल जैसे पवित्र व्यक्ति के रन्ध्र को नहीं देख पाता, वैसे वह भी वहाँ छिद्र नहीं देख सका ।। ७४ ।।

भार्गव ने शैव योगबल के द्वारा शुक्र (वीर्य) रूप से स्खलित होकर महादेव को प्रणाम किया । तदनन्तर शिव बोले—हे भृगुनन्दन ! तुम जो शुक्र के सदृश निकले, इस कर्म के कारण तुम्हारा नाम शुक्र पड़ा और तुम मेरे पुत्र हुए । अच्छा तो अब जाओ ।। ७५-७६ ।

शुक्र के उदर से निकल जाने पर महादेव भी बड़े प्रसन्न हुए कि यह बहुत अच्छा हुआ, जो यह ब्राह्मण घूमता-घूमता मेरे पेट ही में नहीं मर गया ।। ७७ ।।

महादेव के ऐसा कहने पर सूर्य के समान भासमान शुक्र, जैसे घनघटा में चन्द्रमा घुसते हैं—दैत्यसेना में प्रविष्ट हुए ।। ७८ ।

वह दानवी-सेना शुक्रोदय होने से वैसी ही प्रसन्न हुई, जैसे चन्द्र के उदय से तरंगमालायुक्त समुद्र हर्षित होता है ।। ७९ ।

---

१. अयं श्लोकः पुस्तकान्तरे न दृष्टः ।

अन्धकाऽन्धकहन्त्रोर्वै वर्तमाने महाहवे ।
इत्थं नाम्नाऽभवच्छुक्रः स वै भार्गवनन्दनः ॥ ८० ।
यथा च विद्यां तां प्राप मृतसञ्जीवनीं पराम् ।
शम्भोरनुग्रहात् काव्यस्तन्निशामय सुव्रत ॥ ८१ ।

गणावूचतुः—

पुराऽसौ भृगुदायादो गत्वा वाराणसीं पुरीम् ।
अण्डजस्वेदजोद्भिज्जजरायुजजगति प्रदाम् ॥ ८२ ।
संस्थाप्य लिङ्गं श्रीशम्भोः कूपं कृत्वा तदग्रतः ।
बहुकालं तपस्तेपे ध्यायन् विश्वेश्वरं प्रभुम् ॥ ८३ ।
राजचम्पकधत्तूरकरवीरकुशेशयैः ।
मालतीकर्णिकारैश्च कदम्बैर्बकुलोत्पलैः ॥ ८४ ।

कोऽसौ शुक्र इति प्रश्नोत्तरमुपसंहरति । इत्थं नाम्नाऽभवच्छुक्र इति ॥ ८० ॥

कथं तेन च विद्या प्राप्तेति प्रश्नस्याऽनुवादपूर्वकं प्रत्युत्तरमनुजानाति । **यथा च विद्यामिति** ॥ ८१ ।

पुरेति । असौ शुक्रो बहुकालं तपस्तेपे निराहारः स्थितवानिति द्वितीयेनाऽन्वयः ॥ ८२ ॥

न केवलं तपस्तेपे; किन्तु स भार्गवः प्रत्येकं राजचम्पकाद्यैः पुष्पैः किसलयैरपि लक्षपरिमितैः पत्रैश्च शङ्करं समानर्च पूजयामासेति सप्तमेनाऽन्वयः । यद्वा तपस्तेपे नियमं गृहीतवान् इत्यस्यैवार्थमाह । राजचम्पकेति तत्र राजचम्पकश्चम्पकाऽवान्तरजातिविशेषः । **धत्तूर उन्मत्तः । करवीरः प्रतीहासः । कुशेशयं पद्मम्** ॥

अन्धक और अंधकान्तक शिव के युद्ध होते रहने के समय उस भार्गवनन्दन ने इस प्रकार से "शुक्र" नाम पाया ॥ ८० ।

हे सुव्रत ! अब जिस रीति से शुक्र ने शिव के अनुग्रह से मृतसंजीवनी नाम्नी महाविद्या को प्राप्त किया, उसका वृत्तान्त सुनो ॥ ८१ ।

दोनों गण बोले—

पूर्वकाल में इस भृगुनन्दन ने अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज इन चतुर्विध प्राणियों को गति देनेवाली वाराणसी पुरी में जाकर शिवलिंग की स्थापना और उसके आगे कूप-निर्माण (खोद) कर, प्रभु विश्वेश्वर का ध्यान करते हुए बहुत काल तक तपस्या की ॥ ८२-८३ ।

राजचंपक, धत्तूर, कनइल, कमल, मालती, कर्णिकार, कदंब, मौलसिरी, श्वेतपद्म, वेला, शतपत्री, सिंदुवार, पलाश, अशोक, कानो, पुंनाग, नागकेशर, छोटी

मल्लिकाशतपत्रीभिः सिन्दुवारैः सकिंशुकैः ।
अशोकैः करुणैः पुष्पैः पुन्नागैर्नागकेसरैः ॥ ८५ ॥
क्षुद्राभिर्माधवीभिश्च पाटलाबिल्वचम्पकैः ।
नवमल्लीविचिकिलैः कुन्दैः समुचुकुन्दकैः ॥ ८६ ॥
मन्दारैर्बिल्वपत्रैश्च द्रोणैर्मरुबकैर्बकैः ।
ग्रन्थिपर्णैर्दमनकैः सुरभूचूतपल्लवैः ॥ ८७ ॥
तुलसीदेवगन्धारीबृहत्पत्रीकुशाङ्कुरैः ।
नन्द्यावर्तैरगस्त्यैश्च सशालैर्देववदारुभिः ॥ ८८ ॥

'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् ।
सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः ॥
मालती जातिः कर्णिकारो द्रुमोत्पलः । कदम्बो हलिप्रियः । बकुलः केसरः । उत्पलं कुवलयम् । स्यादुत्पलं कुवलयमित्यमरः ॥ ८४ ॥

मल्लिका तृणशून्यम् । शतपत्री पुष्पविशेषः ।
कुङ्कुमारुणवर्णाभां गन्धाढ्यां शतपत्रिकाम् ।
यो ददाति जगन्नाथे श्वेतद्वीपे वसेत्सदा' इत्युक्तेः ॥
सिन्दुवारः पुष्पविशेषः । **किंशुकः पलाशः । अशोको वञ्जुलः । करुणो वृक्षभेदः** । पुष्पैः पुष्पलताभिः । **पुन्नागो देववल्लभः । नागकेसरो हेमपुष्पः** ॥ ८५ ॥

क्षुद्राभिरिति माधवीविशेषणम् । **माधवी वासन्तीलता । पाटला पाटलिः । बिल्वः श्रीफलः । चम्पको हेमपुष्पकः । नवमल्ली पुष्पविशेषः । विचिकिलः चारुपुटः । कुन्दं माध्यम् । मुचुकुन्दो** मुकुन्दः पालंक्येत्यर्थः । अथ पालंक्यां मुकुन्दः कुन्दकुन्दुरू इत्यमरः ॥ ८६ ॥

मन्दारः पारिभद्रकः । द्रोणः पुष्पविशेषः । द्रोणपुष्पसहस्रेभ्यः खादिरं वै विशिष्यत इत्युक्तेः । **मरुबकः प्रस्थपुष्पः** । 'समीरणो मरुबकः प्रस्थपुष्पः फणिज्जक' इत्यमरः । **बकः पुष्पविशेषः** । बकपुष्पसहस्राद्धि नन्द्यावर्तं विशिष्यत इत्युक्तेः । **ग्रन्थिपर्णः पुष्पविशेषः । दमनकः प्रसिद्धः । सुरभूः पुष्पविशेषः । चूत आम्रः** ॥ ८७ ॥

तुलसी सुरसा । देवगन्धारी पुष्पविशेषः । बृहत्पत्री पुष्पविशेषः । कुशाङ्कुरैः कुशपुष्पैः । 'पालाशात्पुष्पसहस्रात्तु कुशपुष्पं विशिष्यत' इत्युक्तेः । **नन्द्यावर्तः तगरः । अगस्त्यः प्रसिद्धः । सालः सर्जः । देवदारुः शक्रपादपः** ॥ ८८ ॥

माधवी, पाटला (गुलाब), वेल, चंपा, नवमल्लिका, विचकिल, कुंद, कुंदुरू, मंदार, बेलपत्र, द्रोण, मैनफल, गुम्मा (वक), ग्रंथिपर्ण, दौना, दमनक, सुरभू, आम का बौर, तुलसी, देवगन्धारी, बृहत्पत्री, कुश का अंकुर, तगर, अगस्त्य, साल, देवदारु, कचनार,

काञ्चनारैः कुरुबकैर्दूर्वाङ्कुरकुरण्टकैः ।
प्रत्येकमेभिः कुसुमैः पल्लवैरपरैरपि ॥ ८९ ॥
पत्रैः शतसहस्रैश्च स समानर्च शङ्करम् ।
पञ्चामृतैर्द्रोणमितैर्लक्षकृत्वः प्रयत्नतः ॥ ९० ॥
स्नपयामास देवेशं सुगन्धस्नपनैर्बहु ।
सहस्रकृत्वो देवेशं चन्दनैर्यक्षकर्दमैः ॥ ९१ ॥
समालिलिम्प देवेशं सुगन्धोद्वर्तनान्यनु ।
गीतनृत्योपहारैश्च श्रुत्युक्तस्तुतिभिर्बहु ॥ ९२ ॥
नाम्नां सहस्रैरन्यैश्च स्तोत्रैस्तुष्टाव शङ्करम् ।
सहस्रं पञ्चशरदामित्थं शुक्रः समर्चयन् ॥ ९३ ॥
यदा देवं नालुलोके मनागपि वरोन्मुखम् ।
तदाऽन्यं नियमं घोरं जग्राहाऽतीव दुःसहम् ॥ ९४ ॥

कुरुबकः पुष्पविशेषः । **कुरण्टकः** पुष्पविशेषः । अपरैरिति कुसुमपल्लवपत्राणां विशेषणम् । प्रत्येकमेभिः पूर्वोक्तैः कुसुमपल्लवपत्रैरपरैरपीत्यर्थः ॥ ८९-९० ।

यक्षकर्दमैः कर्पूरादीनां चतुर्णां मिश्रीभावैः ॥ ९१ । सुगन्धोद्वर्तनान्यनु सुगन्धैर्द्रव्यैरभ्यङ्गानि विधायाऽनुपश्चाच्चन्दनैर्यक्षकर्दमैश्च सम्यगालिलिम्पेत्यर्थः ॥ ९२ ।

सहस्रमिति । सहस्रं पञ्चशरदां वर्षाणां पञ्चसहस्रमित्यर्थः । इत्थं समर्चयन् यदा वरदानायोन्मुखं मनागपि ईषदपि नालुलोके नाऽपश्यत् तदाऽन्यमतीव दुःसहं घोरं नियमं जग्राहेति सार्धेनाऽन्वयः ॥ ९३-९४ ।

कुरुबक, कुरंटक (कोरैया) और दूर्वा का अंकुर, इन सब पुष्पों, पत्रों तथा अन्य प्रकार के सैकड़ों-सहस्रों भाँति-भाँति के पुष्प और दलों से एक-एक करके वह शंकर की पूजा करने लगा ॥ ८४-९१ ।

द्रोण-परिमाण पंचामृत और सुगन्धित जल आदि के द्वारा महादेव को लाखों बार स्नान कराया । फिर देवेश्वर को सुगंधोद्वर्तन कर (इत्र लगा) यक्षकर्दम और चन्दनादि द्रव्यों को सहस्रशः यत्नपूर्वक अनुलेपन करने लगा । फिर उसने नृत्यगीतादिक उपहार और वेदोक्त स्तुतियों से तथा अन्य सहस्रनामादि विविध स्तोत्रों से शिव का बड़ा स्तव किया ॥ ९२ ।

शुक्र ने इस विधि से पंचसहस्रवर्षपर्यन्त महादेव की आराधना की, तिस पर भी जब महेश्वर को कुछ भी वरदानोन्मुख नहीं देखा, तो अन्य प्रकार का दुःसह घोर नियम ग्रहण किया ॥ ९३-९४ ।

प्रक्षाल्य चेतसोऽत्यन्तं चाञ्चल्याख्यं महामलम्।
भावनावार्भिरसकृदिन्द्रियैः सहितस्य च ॥ ९५ ।
निर्मलीकृत्य तच्चेतो रत्नं दत्वा पिनाकिने।
प्रपपौ कणधूमौघं सहस्रं शरदां कविः ॥ ९६ ।
प्रससाद तदा देवो भार्गवाय महात्मने।
तस्माल्लिङ्गाद्विनिर्गत्य सहस्रार्काधिकद्युतिः ॥ ९७ ।
उवाच च विरूपाक्षः साक्षाद्दाक्षायणीपतिः।
तपोनिधे प्रसन्नोऽस्मि वरं वरय भार्गव ॥ ९८ ।
निशम्येति वचः शम्भोरम्भोजनयनो द्विजः।
उद्यदानन्दसन्दोहरोमाञ्चाञ्चितविग्रहः ॥ ९९ ।
तुष्टावाष्टतनुं तुष्टः प्रफुल्लनयनाञ्चलः।
मौलावञ्जलिमाधाय वदन् जय जयेति च ॥ १०० ।

तमेव घोरं नियमं दर्शयति। **प्रक्षाल्येति**। चेतसोऽन्तःकरणस्य चाञ्चल्याख्यं महामलं प्रक्षाल्य दूरीकृत्य कविः शुक्रः शरदां सहस्रं व्याप्य कणधूमौघं व्रीहितुषधूमसमूहं प्रपपौ प्रकर्षेण पीतवानिति द्वयोरन्वयः। कैः? भावनाध्यानानि तान्येव वारिवारीणि तैः। सकृत् क्षालनं निराकरोति। **असकृदिति**। नैरन्तर्येणेत्यर्थः। ननु—'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' इति स्मृतेरिन्द्रियेषु विषयोन्मुखेषु सत्सु मनःक्षालनमकिञ्चित्करमित्याशङ्क्याह। इन्द्रियैः सहितस्य चेति ॥९५।

पुनः किं कृत्वा। एवमुक्तैः साधनैस्तच्चेतोरत्नं निर्मलीकृत्य रागद्वेषादिरहितं कृत्वेति यावत्। पिनाकिने विश्वनाथाय दत्वा तदेकनिष्ठं कृत्वेत्यर्थः ॥९६-९७।

'**अम्भोजनयनः** पद्मनेत्रः। प्रसन्ननयन इति क्वचित्। उद्यदानन्दसन्दोहरोमाञ्चाञ्चितविग्रहः उद्गच्छत् सुखनिवहोद्धुरलोमव्याप्तदेहः ॥९९।

प्रफुल्लनयनाञ्चलो विकसितनेत्रपक्ष्मा ॥ १०० ।

इन्द्रियगण के सहित चित्त की चंचलता नामक महामल को (शिव) भावनारूप जल से बारंबार धोकर निर्मल चित्तरूपी रत्न को पिनाकीदेव के लिये समर्पण कर, सहस्रवत्सरपर्यन्त शुक्र ने भूसी के धूम का पान किया ॥ ९५-९६ ।

तब महात्मा भार्गव के ऊपर महादेव प्रसन्न हुए—साक्षात् दाक्षायणी के पति विरूपाक्ष, सहस्रों सूर्य से भी अधिक तेजोमयरूप से उसी लिंग से निकल कर बोले—हे तपोनिधे! भार्गव! (अब) मैं प्रसन्न हूँ, वर मांगो ॥ ९७-९९ ।

कमलनयन वह ब्राह्मण, शिव भगवान् के इस वचन के श्रवणानन्द से रोमांचित शरीर और प्रफुल्लनेत्र हो, माथे पर हाथों को जोड़ जय जय कहता हुआ संतोषपूर्वक अष्टमूर्ति महादेव का स्तव करने लगा ॥ १०० ।

भार्गव उवाच—

त्वं भाभिराभिरभिभूय तमः समस्त-
मस्तं नयस्यभिमतानि निशाचराणाम् ।
देदीप्यसे दिनमणे गगने हिताय
लोकत्रयस्य जगदीश्वर तन्नमस्ते ॥ १०१ ।

लोकेऽतिवेलमतिवेलमहामहोभि-
र्निर्मासि कौमुदमुदं च समुत्समुद्रम् ।
विद्राविताऽखिलतमाः सुतमोहिमांशो
पीयूषपूरपरिपूरिततन्नमस्ते ॥ १०२ ।

सूर्येन्दुवार्य्वग्निपयोऽवकाशपृथ्व्यात्ममूर्तिं भगवन्तमीशम् ।
क्रमेण तुष्टाव भृगुप्रवीरः पद्येन तावद्द्विचतुष्टयेन ॥

त्वं भाभिरिति । हे जगदीश्वर हे दिनमणे तत्तस्मात्ते तुभ्यं नमोऽस्तु करोमीति **वा** शेषः। यस्मात्त्वं भाभिः प्रसिद्धाभिः—'**सुषुम्नहरिकेशविश्वकर्मविश्वव्यचार्वावसु-संयद्वसुसंज्ञैः**' सप्तभी रश्मिभिः समस्तं तमोऽन्धकारमभिभूय तिरस्कृत्य निशाचराणां **राक्षसादीनां** तन्त्रेण च निशाऽविद्या, या निशा सर्वभूतानामिति भगवद्वचनात्, तस्यां **चरन्तीति** निशाचरा रागद्वेषलोभादयः, तेषां चाभिमतानि स्वस्वकार्यकरणसामर्थ्या-न्यस्तं नाशं नयसि प्रापयसि । किञ्च, लोकत्रयस्य भूर्भुवःस्वर्लोकस्य अथ च लोकत्रयस्य विश्वादिनामजनत्रयस्य जीवत्रयस्येत्यर्थः । हिताय गगने भूताकाशे चित्ताकाशे च देदीप्यसेऽतिशयेन राजस इत्यर्थः । अयमर्थः—यतस्त्वं गगने भूताकाशे राजसेऽतो बहिस्तमो निहत्य राक्षसादीनामभिमतानि नाशयसि । पक्षान्तरे च यतस्त्वं गगने चित्ताकाशे प्रमाणवृत्त्या रूढः सन् प्रकाशसेऽतोऽन्तस्तमो निराकृत्य निशाचराणां काम-लोभादीनामभिमतानि नाशयसीत्यर्थः ॥ १०१ ।

लोके इति । हे हिमांशो शिशिरदीधिते । हे पीयूषपूरपरिपूरित सुधानिवहपरि-पूर्ण । तत्तस्मात्ते तुभ्यं नम इति पूर्ववत् । यस्माल्लोकेऽतिवेलं प्रतिक्षणम् । अतिक्रान्ता वेला तीरं सीमा यैस्तान्यतिवेलानि च तानि महामहांसि च तैः कौमुदमुदं कुमुदानामियं कौमुदी । कुमुदशब्दोऽत्र रात्रिविकसितानामुपलक्षणम् । सा च मुद्धर्षश्च कौमुदमुत् तां

भृगुनन्दन बोले—

हे जगदीश्वर ! आप ही इस प्रभाजाल से समस्त अन्धकार को दूर कर निशाचरों के सभी अभीप्सित वस्तुओं को अस्त (ध्वस्त) कर देते हैं और त्रिभुवन हितार्थ दिनमणि (सूर्य) रूप से आकाशमंडल में देदीप्यमान होते हैं, अतएव आपको (मेरा) प्रणाम है ॥ १०१ ।

हे सुधासमूहपरिपूर्ण हिमांशु (चन्द्र) रूप ! आप ही लोक में समस्त अंधकार का नाश कर, असीम महातेज के द्वारा कुमुद का प्रमोद और समुद्र का आमोद

त्वं पावने पथि सदा गतिरस्युपास्यः
कस्त्वां विना भुवनजीवनजीवतीह ।
स्तब्धप्रभंजनविवर्धितसर्वजन्तो
सन्तोषिता हि कुलसर्वगतन्नमस्ते ॥ १०३ ।
विश्वैकपावकनतावकपावकैक-
शक्तेर्ऋतेऽमृतबतामृतदिव्यकार्यम् ।
प्राणित्यदो जगदहो जगदन्तरात्मं-
स्तत्पावकप्रतिपदं शमदं नमस्ते ॥ १०४ ।

कौमुदमुदम् । नकारो भिन्नक्रमे । स प्रसिद्धश्चन्द्रः त्वं मुत्समुद्रं प्रीत्यर्णवं च निर्मासि । अयमर्थः—अपरिमितैः स्वीयैः शीतकिरणै रात्रिविकसितानामुल्लासं प्राणिमात्राणामपरिमितप्रमोदं च ददासीति । मुदा सह वर्तमानं समुद्रं समुत्समुद्रमिति । लोके हि चन्द्रोदयेऽतिविततकिरणैः प्राणिमात्राणां समुद्रो हर्षकरो भवतीति सर्वेषां प्रसिद्धम् । कथम्भूतस्त्वम् ? विद्राविताऽखिलतमाः विनाशिताऽखिलाऽन्धकारो विद्राविताऽखिलाऽज्ञानो वा । पुनः कथम्भूतः ? सुतमः सुष्ठुतमः शोभनतम इत्यर्थः । सुतमामिति पाठे सुतमां सुष्ठुतमां शोभनतमाम । हिमांशो इत्येकं पदम् ॥ १०२ ।

त्वं पावने इति । अपरिमितसूर्याधिकप्रकाशं भगवन्तं दृष्ट्वोद्रिक्तभक्तेर्बहुधा सम्बोधनानि । **एवमुपर्यपि ।** हे स्तब्धप्रभञ्जन स्तब्धाननम्रान् प्रभनक्ति आमर्दयतीति तथा । विवर्धितसर्वजन्तो विवर्धिता वृद्धि प्रापिताः सर्वे जन्तवो येन स तथा । सन्तोषिताहिकुल सन्तोषितमहीनां सर्पाणां कुलं येन त्राय्वाहारत्वात्तेषां स तथा । तेषां सम्बोधनानि तथा । तत्तस्मात्ते तुभ्यं त्वां प्रति नमः । कथम्भूतम् ? यस्त्वम् । यद्वा यस्मात्त्वं पावने पथि वेदमार्गे उपास्यः पूज्यः । वायव्यं श्वेतमालभेतेति श्रुतेः । अपिशब्दाद्व्रतादिविषयेऽपि । अप्युदास्स इति पाठे सदागतिरपि त्वं पावने पथि आवह इत्यादि सप्तवायुमार्गप्रभेदे तदूर्ध्वमास्से मूर्तिमान् भूत्वा तिष्ठसीत्यर्थः । नमस्कारे हेतुः । त्वं पावन इत्यादि । हे भुवनजीवन सर्वेषां प्राणरूप । त्वां विनेह को जीवति ? न कोऽपीत्यर्थः ॥ १०३ ।

विश्वैकेति । बत अहो हे विश्वैकपावक जगदेकपवित्र हे अमृत ब्रह्मस्वरूप मरणादिषड्भावविकाररहितेति वा हे जगदन्तरात्मन् विश्वान्तर्यामिन् हे पावक हे वह्ने

(हर्ष) संपादन करते हैं, आप अतीव शोभन हैं, अतएव आपको नमस्कार है ॥ १०२ ।

हे भुवनजीवन ! आप ही सदागति (वायु) रूप से वेदमार्ग में उपासनीय हैं, जगत् में आप के विना कौन जी सकता है ? हे अनम्रप्रभंजन ! हे सर्वजन्तुविवर्द्धक ! हे सर्पकुल के संतोषक ! आप को प्रणति है ॥ १०३ ।

हे भुवनैकपावन ! अमृत ! जगदन्तरात्मन् ! केवल आप की पावन (पाचक)

पानीयरूपपरमेश जगत्पवित्र
चित्रं विचित्रसुचरित्र करोषि नूनम्।
विश्वं पवित्रममलं किल विश्वनाथ
पानावगाहनत एतदतो नतोऽस्मि ॥ १०५॥

आकाशरूपबहिरंतरुतावकाश-
दानाद्विकस्वरमिहेश्वरविश्वमेतत्।
त्वत्तः सदा सदयसंश्वसितिस्वभावा-
त्संकोचमेति भवतोऽस्मि नतस्ततस्त्वाम् ॥ १०६॥

यस्मात्तावकपावकैकशक्तेर्ऋते त्वत्सम्बन्धिपवित्रमुख्यसामर्थ्यं विनाऽदोजगन्न प्राणिति प्राणव्यापारं न करोति न चेष्टत इत्यर्थः। तावकपाचकैकशक्तेरिति पाठे पाचकशक्तित्वं जाठराग्न्युज्ज्वालनेन बोद्धव्यम्। कथम्भूतं जगत्? अमृतदिव्यकार्यं अमृतादेवाश्च दिव्यानीन्द्रियाणि च कार्याणि भूतानि च। एकवद्भावादमृतदिव्यकार्यमधिदैवाध्यात्माधिभूतमित्यर्थः। हे नतावकभक्तरक्षक। पावका एका शक्तिर्यस्य तस्मात्त्वदृते इति वा; किन्त्वस्मिन् पक्षेऽदो जगत्प्राणिति; अपितु न प्राणितीति काका व्याख्येयम्। तत्तस्मात्प्रतिपदं प्रतिक्षणं शमदं शांतिदं यथा स्यात्तथा ते तुभ्यं नमः। प्रतिक्षणं शमदं यथा स्यात्तथा जगत्प्राणितीति वा ॥ १०४॥

पानीयेति। हे पानीयस्वरूप हे परमेश हे जगत्पवित्र हे विचित्रसुचरित्र हे विश्वनाथ अतोऽस्माद्धेतोस्त्वां नतोऽस्मि। यस्मादेतद्विश्वं चित्रं विचित्रमध्यात्माधिभूताधिदैवभेदेन जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजरूपेण वा नूनं निश्चितं पानावगाहनतः पवित्रमतोऽमलं वाह्यतः करोषि। सबाह्याभ्यन्तरं जगत्पुनासि—इत्यर्थः ॥ १०५॥

आकाशेति। हे आकाशरूप अव्याकृताकाशस्वरूप। अव्याकृतस्वरूपमेवाह। हे ईश्वर हे सदय ततः कारणात्त्वामहं नतोऽस्मि। यस्मादिहाविद्यादशायामेतद्विश्वं विकस्वरं विकसनस्वभावं दृश्यमिति यावत्। बहिरन्तरुत उत अप्यर्थे बहिरन्तरपीत्यर्थः।

शक्ति के बिना यह देवता इन्द्रिय-पंचभूतमय जगत् रक्षा को नहीं पाता, अहो! अतएव हे पावक (अग्नि) रूप! शान्तिप्रदाता आप को प्रतिक्षण प्रणाम है ॥ १०४॥

हे जगत्पवित्र! विचित्र सुन्दर चरित्र! पानीयस्वरूप! परमेश्वर! विश्वनाथ! आप ही इस अद्भुत संसार के पान और स्नान के द्वारा भीतर एवं बाहर निश्चय ही पवित्र तथा निर्मल कर देते हैं—अतएव आप के सन्मुख (चरणों पर) मैं प्रणत हूँ ॥ १०५॥

हे सदय ईश्वर! आकाशरूपिन्! आप ही बाह्य और आभ्यन्तर (बाहर-भीतर) अवकाश देते हैं, इसी से यह ब्रह्माण्ड प्रफुल्ल रहता है। आप ही के द्वारा यह

विश्वम्भरात्मक बिभर्ति विभोऽत्र विश्वं
को विश्वनाथ भवतोऽन्यतमस्तमोरे।
तत्त्वां विना न शमिनां हिमजाहिभूष-
स्तव्योऽपरः परपरप्रवणतस्ततस्त्वाम् ॥ १०७।

आत्मस्वरूप तव रूपपरम्पराभि-
राभिस्ततं हर चराचररूपमेतत्।
सर्वान्तरात्मनिलय प्रतिरूपरूप
नित्यं नतोऽस्मि परमात्मतनोऽष्टमूर्ते ॥ १०८।

बहिरन्त उतेति पाठेऽप्ययमेवाऽर्थः। अवकाशदानात् क्रियाशक्तिमत्सूत्रात्मना प्रवर्तनात् त्वत्तः सदा संश्वसिति प्राणिति जायत इत्यर्थः। सदा सदयेति वाऽन्वयः। तथा भवतः सकाशात् सङ्कोचं नाशमेति च गच्छति प्राप्नोतीत्येतत्। तत्र निमित्तकारणमाह। **स्वभावादिति**। स्वस्य भावः स्वभावोऽविद्या, तस्मादित्यर्थः। तथा चोक्तं भगवता— **'स्वभावस्तु प्रवर्तत'** इति। भूताकाशपक्षे स्पष्ट एवाऽर्थः ॥ १०६।

विश्वम्भरेति। हे विश्वम्भरात्मक हे पृथ्वीस्वरूप हे विश्वनाथ हे तमोऽरेऽज्ञानारे हे हिमजाहिभूष हिमजाया उमाया अहीनां सर्पाणां च भूषा यस्मात्तत्सम्बोधनं तथा हे हिमजाहिभूष, परपर पराणां ब्रह्मादीनां पर श्रेष्ठ, अत्र जगति ब्रह्माण्डे एतद्विश्वं जगद् भवतः सकाशादन्यतमः को बिभर्ति न कोऽपि। यत एवं तत्तस्माच्छमिनां क्षमावतां सहिष्णूनामित्येतत् मध्ये त्वां विना परः स्तव्यो नेत्यर्थः। ततस्त्वां प्रणतोऽस्मीति। क्षमिणामिति पाठे पञ्चमं गुर्वार्षम् ॥ १०७।

आत्मस्वरूपेति। हे आत्मस्वरूप व्यापकस्वभाव। यद्वा हे आदानकर्तः। यद्वा हे विषयाद। यद्वा हे निरन्तरसत्तावन्। तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्यसं ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते। इति ॥

सदा श्वास लेता और आप ही के स्वभाव से संकोच को प्राप्त हो जाता है, अतएव आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १०६।

हे तमोविनाशक! विश्वंभरा(पृथिवी)त्मक प्रभो! विश्वनाथ! इस विश्व में आपसे भिन्न इसका भरण-पोषण कौन करता है? हे गौरीविभूषित! भुजगभूषण! भला शान्तिप्रधान पुरुषों में दूसरा और कौन स्तुति करने योग्य है? अतएव हे परात्पर! आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १०७।

हे आत्मस्वरूप! (यजमानरूप) सर्वान्तरात्मनिलय! हर! आपकी रूप-परम्परा द्वारा यह चराचर संसार व्याप्त है, प्रत्येक लिंगशरीर में आप चिदाभासरूप

इत्यष्टमूर्तिभिरिमाभिरुमाभिवन्द्य
वन्द्यातिवन्द्य भव विश्वजनीनमूर्ते ।
एतत्ततं सुविततं प्रणतप्रणीत-
सर्वार्थसार्थपरमार्थ ततो नतोऽस्मि ॥ १०९ ।

अष्टमूर्त्यष्टकेनेष्टं परिष्टुत्वेति भार्गवः ।
भर्गंभूमिमिलन्मौलिः प्रणनाम पुनः पुनः ॥ ११० ।

हे हर हे अज्ञानतत्कार्यनाशक सर्वान्तरात्मनिलय सर्वेषामन्तरात्मानोऽन्तःकरणानि निलयमाश्रयो यस्य तत्सम्बोधनं तथा । हे प्रतिरूपरूप रूपं रूपं प्रतीति प्रतिरूपं प्रत्युपाधिरूपं चिदाभासलक्षणं यस्य तत्सम्बोधनं तथा । तथा च श्रुतिः—**'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाव्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः'**, **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**, तदस्यरूपं प्रति च क्षणायेत्यादिः । हे परमात्मतनो परब्रह्मस्वरूप । हे अष्टमूर्ते अष्टौ सूर्यचन्द्रवायुवह्निपानीयाकाशपृथ्व्यात्मानो मूर्तयो यस्य तत्सम्बोधनं तथा । आभिरात्मस्वरूपाभिस्तव रूपपरम्पराभिर्मूर्तिसन्ततिभिरेतत् परिदृश्यमानं चराचररूपं जगत् ततं व्याप्तमतो नित्यं त्वां प्रणतोऽस्मीति । नित्यं ततमिति वाऽन्वयः ॥ १०८ ।

उपसंहरति ॥ **इत्यष्टमूर्तिभिरिति** । हे उमाऽभिवन्द्य हे वन्द्याऽतिवन्द्य । वन्द्याभिवन्द्येति क्वचित् । हे भव हे विश्वजनीनमूर्ते विश्वजनैकमुख्य हे प्रणतप्रणीत भक्तैकप्राप्य हे सर्वार्थसार्थपरमार्थ सर्वेषामर्थसमूहानां मध्ये परमार्थस्वरूप । यत इमाभिरनन्तरोक्तसूर्यादिभिरष्टमूर्तिभिरेतज्जगत्तत्तं व्याप्तम् । कथम्भूतं जगत् ? सुविततं विस्तृतं विशालमिति यावत् । ततः कारणात्त्वां नतोऽस्मीति ॥ १०९ ।

अष्टेति गणयोर्वाक्यम् । भार्गवः शुक्रो भर्गं विश्वनाथं पुनः पुनः प्रणनामेत्यन्वयः । कथम्भूतः ? भूमिमिलन्मौलिर्भूमौ[1] मिलन्ती पतन्ती भूमिं स्पृशन्तीति वा मौलिर्यस्य स

से भासमान (वर्तमान) हैं, अतएव हे परात्मस्वरूप ! अष्टमूर्ते ! आपको मैं नित्य ही प्रणाम करता हूँ ॥ १०८ ।

हे पार्वती के अभिवन्दनीय ! वन्द्य के भी वन्द्य ! सर्वजनहितमूर्ते ! भक्तजनमात्रसुलभ ! भव ! आप सकल अर्थसमूह के मध्य में परमार्थ हैं, आपकी इन अष्टमूर्तियों से समस्त ब्रह्माण्ड व्याप्त है, अतएव आपको नमस्कार है ॥ १०९ ।

भार्गव, इस अष्टमूर्त्यष्टक स्तोत्र के द्वारा महादेव की अभिलाषारूप स्तुति कर भूमि पर मस्तक लगाकर बारंबार (साष्टाङ्ग दण्डवत्) प्रणाम करने लगा ॥ ११० ।

---

१. मौलिशब्दो मेदिन्यां स्त्रीलिङ्गोऽप्यस्ति ।

इति स्तुतो महादेवो भार्गवेणातितेजसा ।
उत्थाप्य भूमेर्बाहुभ्यां धृत्वा तं प्रणतं द्विजम् ॥ १११ ।
उवाच दशनज्योत्स्ना प्रद्योतितदिगन्तरः ।
अनेनात्युग्रतपसा ह्यनन्याचरितेन च ॥ ११२ ।
लिङ्गस्थापनपुण्येन लिङ्गस्याराधनेन च ।
चित्तरत्नोपहारेण शुचिना निश्चलेन च ॥ ११३ ।
अविमुक्तमहाक्षेत्रे पवित्राचरणेन च ।
त्वां सुताभ्यां प्रपश्यामि तवाऽदेयं न किञ्चन ॥ ११४ ।
अनेनैव शरीरेण ममोदरदरीं गतः ।
मद्वरेन्द्रियमार्गेण पुत्रजन्मत्वमेष्यसि ॥ ११५ ।

तथा । किं कृत्वा ? इति परिष्टुत्वा । इति शब्दोक्तं प्रकारमाह । अष्टमूर्त्यष्टकेनेति । स्तोत्रेणेति शेषः । अष्टमूर्तिप्रतिपादकान्यष्टौ पद्यानि यत्र तत्तथा तेन स्तोत्रेणेत्यर्थः । नन्वन्यान् देवान् विहाय किमिति विश्वेश्वरमेवास्तौषीत्तत्राह । **इष्टमिति** । परमप्रेमास्पदत्वेन निरुपाधिसुखरूपमित्यर्थः ॥ ११०-११३ ।

सुताभ्यां गणेशकार्तिकेयाभ्यां तुल्यमिति शेषः ॥ ११४ ।

वरेन्द्रियमुपस्थः । मेहनेन्द्रियमार्गेणेति वा पाठः । मम इन्द्रियेति क्वचित् । तन्मार्गेणच्छिद्रेण । अन्तिमपाठे सन्धिर्न विवक्षितः । पुत्रजन्मत्वमेष्यसि प्राप्स्यसीति । अत एव पूर्वोक्तमुदरप्रवेशादिकमेतदनन्तरमिति ज्ञातव्यम् ॥ ११५ ।

बड़े तेजस्वी भार्गव की ऐसी स्तुति करने पर, महादेव ने उस प्रणत ब्राह्मण को अपने करकमलयुगल के द्वारा पकड़ कर पृथिवी पर से उठाया और दन्तप्रभा से दिगन्तर को प्रद्योतित करते हुए बोले—अपर किसी में अनाचरित तुम्हारी इस उग्रतपस्या, लिंगस्थापन, पुण्यलिंग की आराधना, स्थिर पवित्र आचरण के द्वारा तुमको मैं अपने दोनों पुत्रों के समान देखता हूँ। तुम्हारे लिये मुझे अदेय कुछ भी नहीं है ॥ १११-११४ ।

तुम इसी शरीर से मेरे उदररूप कुहर (गुफा) में प्रवेश कर मेरे पुरुषेन्द्रिय-मार्ग से बाहर होकर मेरे पुत्रजन्मत्व को प्राप्त होवोगे ॥ ११५ ।

अन्यं वरं प्रयच्छामि दुष्प्रापं पार्षदैरपि ।
हरौ हिरण्यगर्भेऽपि प्रायशोऽहं जुगोपयाम् ॥ ११६ ।
मृतसञ्जीवनी नाम विद्या या मम निर्मला ।
तपो बलेन महता मयैव परिनिर्मिता ॥ ११७ ।
त्वां तां तु प्रापयाम्यद्य मन्त्ररूपां महाशुचे ।
योग्यता तेऽस्ति विद्यायास्तस्याः शुचि तपोनिधे ॥ ११८ ।
यं यमुद्दिश्य नियतमेतामावर्तयिष्यति ।
विद्यां विद्येश्वरश्रेष्ठ स स प्राणिष्यति ध्रुवम् ॥ ११९ ।
अत्यर्कमत्यग्नि च ते तेजो व्योम्न्यतितारकम् ।
देदीप्यमानं भविता ग्रहाणां प्रवरो भव ॥ १२० ।
अभि त्वां ये करिष्यन्ति यात्रां नार्यो नरोऽपि वा ।
तेषां त्वद्दृष्टिपातेन सर्वं कार्यं प्रणंक्ष्यति ॥ १२१ ।

जुगोप गुप्तवान् ॥ ११६ ।

आवर्तयिष्यसि जपिष्यसि । एतां विद्यामित्यन्वयः प्राणिष्यति जीविष्यति ॥११९।

अत्यर्केति । अर्कादीनतिक्रम्य वर्तमानं ते तेजो भविष्यत्यतो ग्रहाणां त्वं श्रेष्ठो भवेत्यर्थः ॥ १२० ।

अभित्वामिति । त्वामभिलक्षीकृत्य संमुखीकृत्येति यावत् । नरो नराः। नृशब्दस्य बहुवचने रूपम् ॥ १२१ ।

पार्षदों से भी दुष्प्राप एक अन्य वर देता हूँ । मैंने इसे ब्रह्मा, विष्णु से भी प्रायः गुप्त रक्खा है ॥ ११६ ।

मैंने ही बड़े तपोबल से जिसे बनाया था, वह मृतसंजीवनी नाम मेरी निर्मल विद्या है ? हे महाशुचे ! मंत्ररूप इस विद्या को आज तुमको देता हूँ । हे पवित्रतपोनिधे ! उस विद्या को ग्रहण करने की तुम्हारी योग्यता है ॥ ११७-११८ ।

हे विश्वेश्वरश्रेष्ठ ! जिस-जिस के उद्देश से इस मंत्ररूपा विद्या को संयतभाव से जप, आवृत्ति करोगे, वह-वह अवश्य जी जावेगा ॥ ११९ ।

आकाशमंडल में तुम्हारा तेज, सूर्य, अग्नि और तारागण को अतिक्रमण कर अत्यन्त देदीप्यमान होगा, अतएव तुम ग्रहों में श्रेष्ठ होगे ॥ १२० ।

तुम्हें सन्मुख कर जो नर-नारीगण यात्रा करेंगे, तुम्हारी दृष्टि पड़ जाने से उनके सब कार्य प्रनष्ट हो जावेंगे ॥ १२१ ।

तवोदये भविष्यन्ति विवाहादीनि सुव्रत ।
सर्वाणि धर्मकार्याणि फलवन्ति नृणामिह ॥ १२२ ।
सर्वाश्च तिथयो मन्दास्तव संयोगतः शुभाः ।
तव भक्ता भविष्यन्ति बहुशुक्रा बहुप्रजाः ॥ १२३ ।
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गं शुक्रेशमिति संज्ञितम् ।
येऽर्चयिष्यन्ति मनुजास्तेषां सिद्धिर्भविष्यति ॥ १२४ ।
आवर्षं प्रतिशुक्रं ये नक्तव्रतपरा नराः ।
त्वद्दिने शुक्रकूपे ये कृतसर्वोदकक्रियाः ॥ १२५ ।
शुक्रेशमर्चयिष्यन्ति शृणु तेषां तु यत्फलम् ।
अवन्ध्यशुक्रास्ते मर्त्याः पुत्रवन्तोऽतिरेतसः ॥ १२६ ।
पुंस्त्वसौभाग्यसम्पन्ना भविष्यन्ति न संशयः ।
व्यपेतविघ्नास्ते सर्वे जनाः स्युः सुखवासिनः ।
इति दत्वा वरान् देवस्तत्र लिङ्गे लयं ययौ ॥ १२७ ।

मन्दा अमङ्गलाः । नन्दा इति पाठे प्रतिपत्षष्ठ्येकादश्यो नन्दाः । तथा चाहुर्ज्योतिर्विदः—भृगुनन्दासिद्धियोग इति ॥ १२३ ।

हे सुव्रत ! तुम्हारे उदय हो जाने पर, लोक में मनुष्यों के विवाहादिक समग्र शुभकार्य, धर्म-कर्म अनुष्ठित होने से सफल होंगे ॥ १२२ ।

सकल मन्दतिथिगण तुम्हारे संयोग से शुभफलप्रद होंगे और तुम्हारे भक्तगण बहुवीर्य और बहुसन्तानसंपन्न होंगे ॥ १२३ ।

तुम्हारे द्वारा स्थापित शुक्रेश्वर नामक इस लिंग की पूजा जो मनुष्य करेंगे, उनकी सर्वत्र सिद्धि होगी ॥ १२४ ।

जो लोग एक वर्षपर्यन्त प्रति शुक्रवार को नक्तव्रत करके उसी दिन शुक्रकूप में सर्वविध जलक्रियाओं का सम्पादन करेंगे और शुक्रेश्वर का पूजन करेंगे, उनका फल सुनो—वे सब नर निश्चय ही अवन्ध्यवीर्य, पुत्रवान्, बड़े वीर्यशाली और पुरुषत्व-सौभाग्य से पूर्ण रहेंगे ॥ १२५-२६ ।

उन सबको कोई विघ्न न होगा और (अन्त में) सुखपूर्वक (शुक्रलोक में) वास करेंगे । इन सब वरों को देकर महादेव उसी लिंग में लीन हो गये ॥ १२७ ।

गणावूचतुः—

शुक्रेश्वरस्य ये भक्ताः शुक्रलोके वसन्ति ते ।
विश्वेश्वराद्दक्षिणतः शुक्रेशोऽस्ति परन्तप ॥ १२८ ।
तस्य दर्शनमात्रेण शुक्रलोके महीयते ।
इत्येषा शुक्रलोकस्य स्थितिरुक्ता महामते ॥ १२९ ।

अगस्त्य उवाच—

इत्थं सधर्मिणि कथां शुक्रलोकस्य सुव्रते ।
शृण्वन्नाङ्गारकं लोकमालुलोकेऽथ स द्विजः ॥ १३० ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे शुक्रलोकवर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

पुस्त्वं पुंभावः पौरुषं सामर्थ्यमिति यावत् ।
अङ्गारो मङ्गलस्तदीयं लोकमाङ्गारकम् । आलुलोकेऽपश्यत् ॥ १३० ॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गणों ने कहा—

जो लोग शुक्रेश्वर के भक्त हैं, वे ही शुक्रलोक में वास करते हैं। हे परन्तप! विश्वेश्वर के दक्षिण शुक्रेश्वर लिंग विद्यमान है, जिसके दर्शनमात्र से (मनुष्य) शुक्रलोक में सादर वास करता है। हे महामते ! यह शुक्रलोक की स्थिति (तुमसे) कही गयी ॥ १२८-२९ ।

अगस्त्य बोले—

हे सुव्रते ! सहधर्मिणि ! वह ब्राह्मण (शिवशर्मा) इस प्रकार से शुक्रलोक की कथा सुनते-सुनते (कियत् क्षण के अनन्तर) मंगललोक को देखने लगा ॥ १३० ।

शुक्रलोक और शुक्र की, बरनी कथा ललाम ।
शुक्रेश्वर सेवन किये, पुरवत निज जन काम ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां शुक्रलोक-
शुक्रकथावर्णनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

शिवशर्मोवाच—

शुक्रसम्बन्धिनी देवौ कथाऽश्रावि मया शुभा ।
यस्याः श्रवणमात्रेण प्रीणिते श्रवणे मम ॥ १ ॥

कस्य पुण्यनिधेर्लोकः शोकहृत् त्वेष निर्मलः ।
एतदाख्यातुमुद्युक्तौ भवन्तौ भवतां मम ॥ २ ।

धायित्वा श्रोत्रपात्राभ्यां वाणीममृतरूपिणीम् ।
न तृप्तिमधिगच्छामि भवन्मुखसुखोद्गताम् ॥ ३ ।

माहेयगुरुसार्वणिलोका अत्यन्तदुर्लभाः ।
सप्ताधिकदशेऽध्याये वर्ण्यन्तेऽत्र यथाक्रमम् ॥ १ ।

आङ्गारकं लोकमित्युक्तं तत्रोक्तानुवादेनात्मनः श्रोत्रयोः प्रीतिमाविष्कुर्वंस्तमेव पृच्छति । **शुक्रेति** । हे देवौ । अश्रावि श्रुता । प्रीणिते तर्पिते ॥ १ ।

एषः तु पुनः । भवतां भवतः ॥ २ ।

ननु उक्तयैव कथयाऽलं मन्यस्वेति चेत्तत्राह । **धयित्वेति** । धयित्वा पीत्वा । श्रोत्रे श्रवणेन्द्रिये एव पात्रे ताभ्यां तृप्तिमलं प्रत्ययम् । भवदिति भवतोर्मुखात् सुखेन निःसृताम् ॥ ३ ।

(मंगल-बृहस्पति और शनिलोक-कथा)

शिवशर्मा ने कहा—

हे दोनों देव ! शुक्रसम्बिन्धनी-कथा तो मैंने सुनी, इसके **श्रवणमात्र से मेरे** दोनों कान बड़े ही सन्तुष्ट हो गये ॥ १ ।

इस घड़ी परिदृश्यमान यह शोकहारी निर्मल लोक किस पुण्यनिधि का है ? मुझसे इसे कहने के लिये आप लोग प्रवृत्त होवें ॥ २ ।

आप लोगों के मुख से सुखपूर्वक उद्गत अमृततुल्य वचनों को कर्णरूपी पुटपात्र से पान करने पर भी मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ ३ ।

गणावूचतुः—

लोहिताङ्गस्य लोकोऽयं शिवशर्मन्निबोध ह।
उत्पत्तिं चास्य वक्ष्यावो भूसुतोऽयं यथाऽभवत् ॥ ४ ।
पुरा तपस्यतः शम्भोर्दाक्षायण्यावियोगतः।
भालस्थलात्पपातैकः स्वेदबिन्दुर्महीतले ॥ ५ ।
ततः कुमारः सञ्जज्ञे लोहिताङ्गो महीतलात्।
स्नेहसम्बर्धितः सोऽथ धात्र्या धात्रीस्वरूपया ॥ ६ ।
माहेय इत्यतः ख्यातिं परामेष गतः सदा।
तपस्तेपे तपोऽत्युग्रमुग्रपुर्यां पुराऽनघ ॥ ७ ।
असिश्च वरणा चाऽपि सरितौ यत्र शोभने।
द्युनद्योत्तरवाहिन्या मिलितेऽत्र जगद्धिते ॥ ८ ।

लोहिताङ्गस्याङ्गारकस्य मङ्गलस्येति यावत्। 'अङ्गारकः कुजो भौमो लोहिताङ्गो महीसुतः' इत्यमरः ॥ ४ ।

दाक्षायण्या दक्षसुतायाः सत्या इत्यर्थः। भालस्थलाल्ललाटात् ॥ ५ ॥

लोहिताङ्गः लोहितान्यङ्गानि यस्य सः। धात्र्या पृथिव्या। कथम्भूतया? धात्रीस्वरूपया उपमातृस्वरूपयेत्यर्थः। 'धात्री स्यादुपमाताऽपि' इत्यमरः ॥ ६ ।

माहेयो मह्याः पुत्रः। उग्रपुर्यां त्रिपुरारे राजधान्याम् ॥ ७ ।

उग्रपुरीं विशिनष्टि। असिश्चेति चतुर्भिः। सरिते नद्यौ। यत्र उग्रपुर्याम्। द्युनद्या गङ्गया। अत्र ब्रह्माण्डे। सन्धिरार्षः। यत्रात्रेति सामानाधिकरण्यं वा ॥ ८ ।

दोनों गण बोले—

हे शिवशर्मन्! इसे लोहितांग मंगल का लोक समझना चाहिए, यह जैसे भूमि के पुत्र हुए, वह सब इनका वृत्तान्त भी कहते हैं ॥ ४ ।

पूर्वकाल में दाक्षायणी (सती) देवी के वियोग से तपस्या करते हुए शंभु के भालस्थल से एक बिन्दु स्वेद (पसीना) भूमितल पर गिर पड़ा ॥ ५ ।

(बस) उसी के द्वारा महीतल से एक लोहितांग कुमार उत्पन्न हुआ और धरित्री ही ने धात्री (धाई) रूप से स्नेहपूर्वक उस कुमार का लालन-पालन किया ॥ ६ ।

इसी कारण से लोहितांग "भौम माहेय" इस परम सुख्याति को सदा प्राप्त हुए हैं। हे अनघ! इसके अनन्तर उन्होंने शिवपुरी में पहिले घोर तप किया, जहाँ पर कि जगत की हितकारिणी असि और वरुणा ये दोनों शोभन नदियाँ उत्तरवाहिनी

सर्वगोऽपि हि विश्वेशो यत्र नित्यं प्रकाशते ।
मुक्तये सर्वजन्तूनां कालोज्झितस्ववर्ष्मणाम् ॥ ९ ।
अमृतं हि भवन्त्येव मृता यत्र शरीरिणः ।
अनुग्रहं समासाद्य परं विश्वेश्वरस्य ह ॥ १० ।
अपुनर्भवदेहास्ते येऽविमुक्ते तनुत्यजः ।
विना सांख्येन योगेन विना नानाव्रतादिभिः ॥ ११ ।
संस्थाप्य लिङ्गं विधिना स्वनाम्नाङ्गारकेश्वरम् ।
पाञ्चमुद्रे महास्थाने कम्बलाश्वतरोत्तरे ॥ १२ ।
ज्वलदङ्गारवत्तेजो यावत्तस्य शरीरतः ।
विनिर्ययौ तपस्तावत्तेन तप्तं महात्मना ॥ १३ ।

कालोज्झितस्ववर्ष्मणां यथाऽवसरत्यक्तस्वदेहानाम् ॥ ९ ।

अमृतं कैवल्यम् ॥ १० ।

सांख्यमात्माऽनात्मविवेकः । योगोऽष्टाङ्गः ॥ ११ ।

संस्थाप्य यावज्ज्वलदङ्गारवत्तेजः स्वशरीरान्निःसृतं तावत्तेन भौमेन तपस्तप्तमिति द्वितीयेनाऽन्वयः । पाञ्चमुद्रे महास्थाने तन्नाम्नि महापीठे । पञ्चानां भूतानामविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां वा मुद्रा मुद्रणं विनाशो यस्मिंस्तत्स्थानं तथेति वा । कम्बलाश्वतरयोर्नागयोरुत्तरे उत्तरस्मिन् पार्श्वे ॥ १२ ।

सर्वत्र व्यापी होने पर भी जहाँ विश्वेश्वर यथाकाल मृत्यु को प्राप्त समस्त जन्तुओं को मुक्ति देने के लिये नित्य ही विशेषरूप से अधिष्ठित रहते हैं ॥ ९ ।

जिस स्थान में विश्वनाथ के परम अनुग्रह पाने से सभी देहधारी मृत हो जाने पर अमृतपद को प्राप्त होते हैं, जिस अविमुक्त-क्षेत्र में सांख्य, योग और विविध व्रतादिकों के बिना ही शरीरत्याग करनेवाले फिर कभी जन्म लेकर शरीर-धारण नहीं करते, उसी काशी के पांचमुद्र नामक महापीठ में, कम्बल और अश्वतर इन दोनों नागों के उत्तर-प्रान्त में, अंगारक ने अपने नाम से विधिपूर्वक अंगारकेश्वर लिंग की स्थापना कर, जितने दिन तक उनके शरीर से जलते हुए अंगारे के समान नहीं निकसा (ला), तबतक वे महात्मा तपश्चर्या ही करते रहे ॥ १०-१३ ।

ततोऽङ्गारकनाम्ना स सर्वलोकेषु गीयते ।
तस्य तुष्टो महादेवो ददौ ग्रहपदं महत् ॥ १४ ।
अङ्गारकचतुर्थ्यां ये स्नात्वोत्तरवहाऽम्भसि ।
अभ्यर्च्याङ्गारकेशानं नमस्यन्ति नरोत्तमाः ॥ १५ ।
न तेषां ग्रहपीडा च कदाचित् क्वाऽपि जायते ।
अङ्गारकेन संयुक्ता चतुर्थी लभ्यते यदि ॥ १६ ।
उपरागसमं पर्व तदुक्तं कालवेदिभिः ।
तस्यां दत्तं हुतं जप्तं सर्वं भवति चाऽक्षयम् ॥ १७ ।
श्रद्धया श्राद्धदा ये वै चतुर्थ्यङ्गारयोगतः ।
तेषां पितॄणां भविता तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ १८ ।
अङ्गारकचतुर्थ्यां तु पुरा जज्ञे गणेश्वरः ।
अत एव तु तत्पर्व प्रोक्तं पुण्यसमृद्धये ॥ १९ ।

उपरागसमं ग्रहणसमम् । पर्व पुण्यकालः ॥ १७ ।

अङ्गारकचतुर्थ्या उपरागपर्वसमत्वे हेत्वन्तरमाह । अङ्गारकचतुर्थ्यां त्विति ।

इसी कारण से समग्र लोक में वह अंगारक नाम से प्रसिद्ध हैं, महादेव ने प्रसन्न होकर उन्हें महाग्रह की पदवी दी ॥ १४ ।

जो उत्तम नर मंगलवार की चतुर्थी तिथि को उत्तरवाहिनी गंगा में स्नान कर अंगारकेश्वर की पूजा करके फिर प्रणाम करते हैं, उन लोगों को कहीं पर कभी कोई भी ग्रहजनित पीड़ा नहीं होती । मंगलवार को यदि चतुर्थी मिल जावे तो कालज्ञ पण्डितगण उसे ग्रहण के तुल्य पर्व कहते हैं, उसमें दान, हवन, जप, आदि सब अक्षय हो जाता है ॥ १५-१७ ।

जो लोग अंगारकचतुर्थी पर्व में श्रद्धा से श्राद्ध करते हैं, उनके पितृगण इसी एक ही श्राद्ध से बारहवर्षपर्यन्त तृप्त बने रहते हैं ॥ १८ ।

पूर्वकाल में इसी अंगारकचतुर्थी को गणेश्वर उत्पन्न हुए थे, इसी कारण से वह पर्व पुण्य-समृद्धि का अर्थ कहा गया है ॥ १९ ।

एकभक्तव्रती तत्र सम्पूज्य गणनायकम् ।
किञ्चिद्दत्वा तमुद्दिश्य न विघ्नैरभिभूयते ॥ २० ।
अङ्गारेश्वरभक्ता ये वाराणस्यां नरोत्तमाः ।
तेऽस्मिन्नङ्गारके लोके वसन्ति परमर्द्धयः ॥ २१ ।

अगस्त्य उवाच—

इत्थं कथयतोरेव रम्यां पुण्यवतीं कथाम् ।
भगवद्गणयोः प्राप नेत्रातिथ्यं गुरोः पुरी ॥ २२ ।
नेत्रानन्दकरीं दृष्ट्वा शिवशर्माऽथ तां पुरीम् ।
पप्रच्छाचार्यवर्यस्य कस्येयं पूरनुत्तमा ॥ २३ ।

गणावूचतुः—

सखे सुखं समाख्यावो नानाख्येयं तवाऽग्रतः ।
अध्वखेदापनोदाय पुनरस्याः पुरः कथाम् ॥ २४ ।

तु शब्दात् पूर्वस्माद्धेतोराधिक्यं सूच्यते ॥ १९-२० ।

गुरोः पुरीं कथयितुं प्रस्तावयति । **इत्थमिति** । कथयतोः सतोः । नेत्रातिथ्यं नेत्रगोचरताम् । शिवशर्मण इति शेषः ॥ २२ ।

नेत्रेति । आचार्यवर्यस्य बृहस्पतेस्तां पुरीं दृष्ट्वा कस्येयमनुत्तमा पूरिति शिवशर्मा पप्रच्छेत्यन्वयः । कस्य पूज्यस्य श्रेष्ठस्येति यावदिति वा ॥ २३ ।

इस अंगारकी चतुर्थी में एकभक्त व्रतपूर्वक गणनायक की पूजा कर गणेश के उद्देश पर कुछ दान कर देने से विघ्नों के द्वारा कभी अभिभूत नहीं होता ॥ २० ।

वाराणसी में अंगारकेश्वर शिवलिंग के भक्त जो उत्तम नर हैं, वे इस अंगारकलोक में परम संपत्तिसम्पन्न होकर निवास करते हैं ॥ २१ ।

अगस्त्य बोले—

भगवान् के दोनों गणों ने इस रमणीय पुण्यवती कथा का कीर्तन करते-करते बृहस्पतिलोक को अपने नेत्रों का अतिथि (पाहुन) बनाया ॥ २२ ।

ततः पर शिवशर्मा उस नेत्रानन्दकरी आचार्यवर्य की पुरी को देखकर पूछने लगा—"यह किसकी उत्तम पुरी है ?" ॥ २३ ।

विष्णुपारिषद कहने लगे—

हे सखे ! तुमसे तो कुछ भी अवक्तव्य नहीं है। मार्गजनित खेद को दूर करने के लिये, हमलोग पुनः इस पुरी की कथा सुखपूर्वक कहते हैं ॥ २४ ।

विधेर्विधित्सतः पूर्वं त्रिलोकीरचनां मुदा ।
आविरासुः सुताः सप्तः मानसाः स्वस्य सन्निभाः ॥ २५ ।
मरीच्यत्र्यङ्गिरोमुख्याः सर्वे सृष्टिप्रवर्तकाः ।
प्रजापतेरङ्गिरसस्तेष्वभूद्देवसत्तमः ॥ २६ ।
सुतश्चाङ्गिरसो नाम बुद्धया विबुधसत्तमः ।
शान्तो दान्तो जितक्रोधो मृदुवाङ् निर्मलाशयः ॥ २७ ।
वेदवेदार्थतत्त्वज्ञः कलासु कुशलोऽमलः ।
पारदृश्वा तु सर्वेषां शास्त्राणां नीतिवित्तमः ॥ २८ ।

विधेरिति । लोकत्रयसृष्टिं विधातुमिच्छतो हिरण्यगर्भस्यात्मनस्तुल्याः सप्तपुत्रा मानसा आविरभवन्नित्यर्थः ॥ २५ ।

मरीचिश्चात्रिश्चाङ्गिराश्च ते मुख्याः प्रधाना आद्या वा येषां सप्तानां पुलस्त्यादीनां वा ते तथा । तेषु मध्ये ॥ २६ ।

अङ्गिरसोऽपत्यभाङ्गिरसः । पितृनाम्ना प्रख्यात इत्यर्थः । तं विशिनष्टि सार्धत्रयेण । **बुद्धयेति** ॥ २७ ।

कलासु **चतुःषष्टि**कलासु शैवतन्त्रप्रसिद्धासु । यथा—गीतम्[1], वाद्यम्[2], नृत्यम्[3], नाट्यम्[4], आलेख्यम्[5], विशेषकच्छेद्यम्[6], तण्डुलकुसुमबलिविकाराः[7], पुष्पास्तरणम्[8], दशनवसनाङ्गरागाः[9], मणिभूमिकाकर्म[10], शयनरचनम्[11], उदकवाद्यमुदकघातः[12], चित्रयोगाः[13], माल्यग्रथनविकल्पाः[14], शेखरापीडयोजनम्[15], नेपथ्ययोगाः[16], कर्णपत्रभङ्गी[17], गन्धयुक्तिः[18], भूषणयोजनम्[19], ऐन्द्रजालम्[20], कौतुमारयोगाः[21], हस्तलाघवम्[22], चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रिया[23], पानकरसरागासवयोजनम्[24], सूचीवामकर्म[25], सूत्रक्रीडा[26], वीणाडमरुकवाद्यानि[27], प्रहेलिका[28], प्रतिमाला[29], दुर्वचकयोगा[30], पुस्तकवाचनम्[31], नाटकाख्यायिकादर्शनम्[32], काव्यसमस्यापूरणम्[33],

---

पूर्वकाल में आनन्दपूर्वक त्रिभुवन-विधानेच्छुक ब्रह्मा के मरीचि, अत्रि, और अंगिरादिक आत्मसदृश सात मानसिक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २५ ।

वे सब सृष्टि के चलाने वाले हुए, उनमें से प्रजापति अंगिरा के आंगिरस नामक देवोत्तम पुत्र थे ॥ २६ ।

वे बुद्धि में सकल देव-मंडली के प्रधान थे और शान्त, दान्त, (जितेन्द्रिय) क्रोधरहित, मृदुभाषी, निर्मलाशय, वेद-वेदार्थ के तत्त्वज्ञ, चौसठों कलाओं में कुशल, अज्ञानरूप मल से हीन, समस्त शास्त्रों के पारदर्शी, नीतिवेत्ताओं में अग्रगण्य, हितोपदेशकर्ता, सदा हितकारी, अहित को अतिक्रमण करनेवाले, रूपवान्, शीलसम्पन्न, गु त्रान्, देशकाल के अभिज्ञ, समस्त शुभ-लक्षणों से परिपूर्ण, गुरुवत्सल, दिव्यतेजस्वी

हितोपदेष्टा हितकृदहितात्यहितः सदा ।
रूपवान् शीलसम्पन्नो गुणवान् देशकालवित् ॥ २९ ।

सर्वलक्षणसम्भारसम्भृतो गुरुवत्सलः ।
ततप तापसीं वृत्तिं काश्यां स महतीं दधत् ॥ ३० ।

महल्लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य शाम्भवं भूरिभावनः ।
अयुतं शरदां दिव्यं दिव्यतेजा महातपाः ॥ ३१ ।

ततः प्रसन्नो भगवान् विश्वेशो विश्वभावनः ।
आविर्भूय ततो लिङ्गान् महसां राशिरब्रवीत् ॥ ३२ ।

पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः[३४], तर्ककर्माणि[३५], तक्षणम्[३६], वास्तुविद्या[३७], रूप्यरत्नपरीक्षा[३८], धातुवादः[३९], मणिरागज्ञानम्[४०], आकरज्ञानम्[४१], वृक्षायुर्वेदयोगाः[४२], मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः[४३], शुकसारिकाप्रलापनम्[४४], उत्सादनम्[४५], केशमार्जनकौशलम्[४६], अक्षरमुष्टिकाकथनम्[४७], म्लेच्छिततर्कविकल्पाः[४८], देशभाषाज्ञानम्[४९], पुष्पशकटिका[५०], निमित्तज्ञानम्[५१], यन्त्रमातृकामन्त्रमातृकाधारणमातृकासंवाच्यम्[५२], मानसीकाव्यक्रिया[५३], अभिधानकोशाः[५४], छन्दोज्ञानम्[५५], क्रियाविकल्पाः[५६], छलितकयोगाः[५७], वस्त्रगोपनानि[५८], द्यूतविशेषाः[५९], आकर्षक्रीडा[६०], बालक्रीडकानि[६१], वैनायिकानाम्[६२], वैजयिकानाम्[६३], वैयासिकानाञ्च[६४] विद्यानां ज्ञानमिति **चतुःषष्टिकलाः** । अमलोऽज्ञानमलरहितः । पारदृश्वा समाप्तिं गतः ॥ २८ ।

अहितात्यहितः सदा सदा सर्वदाऽहितमत्यहितम् अतिक्रान्तं येन सः, अहितस्यातिशयेनाहित इति वा । अहितानामपि क्षमीति कश्चित् ॥ २९ । स बृहस्पतिः ॥ ३० ।

महल्लिङ्गं महतो भूतस्य विश्वेश्वरस्य । **'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्'** इत्यादि श्रुतेः । लिङ्गं महल्लिङ्गमिति कर्मधारयो[१] वा । प्रतिष्ठाप्य संवत्सराणां दिव्यं दशसहस्रं व्याप्य महतीं तापसीं तापससम्बन्धिनीं तपो योग्यां वा वृत्तिं धारयंस्ततापेत्यर्थः ॥ ३१-३२ ।

और महा तपस्वी थे । उन आंगिरस ने काशी में महत् शिवलिंग को प्रतिष्ठित कर बहुत बड़ी तापसीवृत्ति को धारण करते हुए एकाग्रचित्त हो दिव्य परिमाण से छः सहस्रवर्षपर्यन्त तपस्या की ॥ २७-३१ ।

तदनन्तर विश्वभावन भगवान् विश्वनाथ प्रसन्न होकर उसी लिंग से तेजोराशि रूप प्रकट हुए और बोले—"मैं प्रसन्न हूँ, तुम्हारे मन में जिस वर की इच्छा हो

---

१. अत्र पक्षे आत्वाभाव आर्षः ।

प्रसन्नोऽस्मि वरं ब्रूहि यत्ते मनसि वर्त्तते ।
इति शम्भुं समालोक्य तुष्टावेति स हृष्टवान् ॥ ३३ ।

आङ्गिरस उवाच—
जय शङ्कर शान्त शशाङ्करुचे रुचिरार्थद सर्वद सर्वशुचे ।
शुचिदत्त गृहीतमहोपहृते हृतभक्तजनोद्धततापतते ॥ ३४ ।
ततसर्वहृदम्बर वरद नते नतवृजिनमहावनदाहकृते ।
कृतविविधचरित्रतनो सुतनो तनुविशिखविशोषण धैर्यनिधे ॥ ३५ ।

प्रसन्नोऽस्मीति । यत् यः । य इत्येव वा पाठः । इति एवंप्रकारेण ॥ ३३ ।

पद्यैरष्टभिरुत्कृष्टैर्देवाचार्यो महेश्वरम् ।
तुष्टावोद्रिक्तया भक्त्या सोमं सोमार्धशेखरम् ॥

जयेति । हे शङ्कर कल्याणकर । हे शान्त एकरूप । हे शशाङ्करुचे चन्द्रकान्ते । हे रुचिर कमनीय । हे अर्थद । हे रुचिरार्थदेत्येकं पदं वा । रुचिरान्नदेति क्वचित् । हे सर्वद पुरुषार्थचतुष्टयप्रद प्रलयकाले सर्वावखण्डक सर्वनाशकेति वा । हे सर्वस्वरूप । हे शुचे पवित्र । सर्वे शुचयो यस्मात्तत्सम्बोधनं तथा इति वा । तथा चोक्तम्—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि ।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥ इति ।

सर्वजनस्य शुचे इति क्वचित्पाठः । शुचिभिर्दत्ता समर्पिता गृहीता महोपहृतिर्महोपहारो महापूजा येन तत्सम्बोधनं तथा । हृता भक्तजनानामुद्धता उद्भूटा तापततिः सन्ताप परम्परा येन तत्सम्बोधनं तथा । जय उत्कर्षमाविष्कुरु ॥ ३४ ।

ततेति । ततं विस्तृतं व्याप्तं सर्वेषां हृदम्बरं हृदयाकाशं येन तत्सम्बोधनं तथा । हे वरद । हे नते नम्रस्वरूप । कर्तरि क्तिन् । स सेतुर्विधृतिरितिवत् । वरदानां ब्रह्मादीनां नतिर्यस्मै तत्सम्बोधनं तथेति वा । नतानां प्रणतानां वृजिनानि पापान्येव महावनानि तेषां दाहकृते भस्मकर्तः । कृतं विविधं चरित्रं सृष्ट्यादिलक्षणं यया सा तनु-

---

कहो"। तब आंगिरस शंभुदेव का दर्शन पाते ही आनन्दित हो स्तुति करने लगे ॥ ३२-३३ ।

आंगिरस बोले—

हे शंकर ! हे शान्त ! हे चन्द्रप्रभ ! हे ईप्सितार्थप्रद ! हे सर्व (पुरुषार्थचतुष्टय) दानिन् ! हे सर्वशुचे ! आप पवित्रजनदत्त महा उपहार के ग्रहण करनेवाले हैं और भक्तगण के प्रबल संतापसमूह के हरणकर्ता हैं, आप की जय हो ॥ ३४ ।

हे वरदगणनमस्कृत ! आप सभी लोगों के हृदयाकाश में व्याप्त रहते हैं और प्रणतजन के पापरूपी महावन के दाहक हैं एवं विविध चरित्रमय शरीर के कर्ता और

निधनादिविवर्जितकृतनतिकृत् कृतिविहितमनोरथ पन्नगभृत् ।
नगभर्तृसुतार्पितवामवपुः स्ववपुः परिपूरितसर्वजगत् ॥ ३६ ।
त्रिजगन्मयरूप विरूप सुदृक्‌दृगुदञ्चनकुञ्चनकृतहुतभुक् ।
भव भूतपते प्रमथैकपते पतितेऽप्यपि दत्तकरप्रसृते ॥ ३७ ।

र्यस्य तत्सम्बोधनं तथा । तत विविधचरित्रतनो इति क्वचित् । पवित्रतनो इति चान्यत्र सुतनो हे शोभनतनो । तनूनि कोमलानि पुष्पाणीत्येतत् । विशिखा बाणा यस्य स कन्दर्पस्तथा तं विशोषयति नाशयति विशोषणं यस्मादिति वा तत्सम्बोधनं तथा । हे धैर्यनिधे धैर्यसमुद्र । तनुविशिखेन यद्विशोषणं दाहस्तत्र धैर्यनिधे इत्येकं वा पदम् । जयेत्यनुषज्जते एवमुत्तरत्रापि ॥ ३५ ।

निधनेति । निधनादिविवर्जितमरणादिषड्भावविकाररहित । कृतः सम्पादितो नतिकृत् प्रणतो भक्तो येत तत्सम्बोधनं तथा । निधनादिविवर्जिताः कृता नतिकृतो भक्ता येनेत्येकं वा पदम् । कृतिने विदुषे ज्ञानिने इति यावत् । विहितो दत्तो मनोरथो मोक्षो येन तत्सम्बोधनं तथा । हे पन्नगभृत् सर्पधारिन् । नगभर्तृसुता पार्वती अर्पिता स्थापिता वामवपुषि वामाङ्गे अर्पिता स्वीकृता वामवपुर्वामाङ्गं वा येन तत्सम्बोधनं तथा । नगभर्तृसुतयार्ऽपितं व्याप्तं वामं वपुर्वामाङ्गं यस्य अर्पितं दत्तं वामवपुर्मनोहरं शरीरं यस्माद् इति वा तत्सम्बोधनं तथेति वा । स्ववपुषा स्वस्वरूपेणेति यावत् । परिपूरितं परितो व्याप्तं सर्वं जगद् येन तत्सम्बोधनं तथा । परिनिर्मितेति क्वचित् ॥ ३६ ।

त्रिजगदिति । त्रिजगन्मयरूप हे त्रिजगद्विवर्तस्वरूप । ब्रह्मैवेदमित्यादि श्रुतेः । वस्तुतो विरूप हे प्रपञ्चरूपरहित । तत्र हेतुः । सुदृक् सुशोभनाखण्डसच्चिदानन्दैकलक्षणा दृक्चिच्छक्तिर्यस्य तत्सम्बोधनं तथा । प्राकृतं व्याख्यानं पदद्वयेऽपि स्पष्टम् । दृशां नेत्राणामुदञ्चनमुद्वर्तनं चालनमिति यावत् । तेन कुञ्चनं संकोचनं प्रलयं करोतीति तत्सम्बोधनं तथा । मृगचन्दनकुञ्चनकृदिति क्वचित्पाठः । तत्र मृगमदेन मिश्रितं चन्दनं मृगचन्दनं तेन कुञ्चनं कृदालेपकृदिति व्याख्येयम् । अकारश्रवणमार्षम् । हुतभुक्

सुन्दर शरीरधारी हैं । हे धैर्यनिधे ! आप ही अनंग के बाणविशोषक हैं, आप की जय हो ॥ ३५ ।

हे निधनादिविवर्जित ! आप से प्रणत पण्डितजन जो भी मनोरथ चाहते हैं, आप उसे पूर्ण कर देते हैं । हे सर्पधर ! आपने गिरिजा देवी को अपना वाम अंग (शरीर) समर्पण कर दिया है और आप ही अपनी अष्टमूर्ति के द्वारा समस्त संसार को परिपूरित किये रहते हैं, आपकी जय हो ॥ ३६ ।

हे त्रिजगन्मयरूप ! हे विरूप ! हे सुन्दरनेत्र ! आप ही नेत्र को खोलकर प्रलयानल को उत्पन्न करते हैं । हे भव ! हे भूतपते ! हे प्रमथ-प्रधानपते ! आप

प्रसृताऽखिलभूतलसंवरण प्रणवध्वनिसौध सुधांशुधर ।
धरराजकुमारिकया परया परितः परितुष्ट नतोऽस्मि शिव ॥३८॥
शिव देव गिरीश महेश विभो विभवप्रद गिरिश शिवेश मृड ।
मृडयोडुपतिध्रजगत्त्रितयं कृतयन्त्रण भक्तिविघातकृताम् ॥३९॥

इन्द्रादिरूपेण चरुपुरोडाशादिभुक् । कृतभुगिति पाठे जीवरूपेण कृतस्वर्गादिफलभुक् । पाठद्वयेऽपि तत्सम्बोधनं तथा । दृगुदञ्चनकुञ्चने कृतः हुतभुग् येनेत्येकं वा पदम् । भवत्यस्मादिति भव हे सर्वोत्पादक । भूतविशेषाणां प्राणिमात्राणां वा पते भूतपते । प्रमथानां गणविशेषाणां मुख्यस्वामिन् प्रमथैकपते । अत्र भूतप्रमथानामवान्तरभेदो द्रष्टव्यः । पतितेष्वपि भवार्णवे निमग्नेष्वपि दत्तः करो रश्मिः कर इव करो ज्ञानम्, अज्ञानान्धकारनाशकत्वात् तस्य प्रसृतिः प्रसरणं प्राप्तिर्येन तत्सम्बोधनं तथा । पतितेष्वपि भक्तेषु दत्ता करप्रसृतिर्हस्तावलम्बनं तत्सम्बोधनं तथेति वा ॥ ३७ ।

प्रसृतेति । प्रसृतं गतमखिलभूतलेषु संवरणं सम्यग्वृत्तिर्व्याप्तिरावरणं वा यस्य तत्सम्बोधनं तथा । येन सर्वमिदं ततम् । मृत्युनैवेदमावृतमासीदित्यादिस्मृतिश्रुतिभ्यः । प्रणवध्वनिरेव सौधं धवलगृहमाश्रयो यस्य तत्सम्बोधनं तथा । सुधांशुः सुधामयः चन्द्रस्तं धरतीति । सः तत्सम्बोधनं तथा । **प्रणवस्य ॐकारस्य षडक्षरात्मकस्य यो ध्वनिर्नादः षडाक्षरः परापश्यन्तीमध्यमावैखर्याख्या अवस्था अनुभूयस्वरवर्णपदात्मकस्तस्य सौधं गृहमाश्रय इत्यर्थः** । तत्सम्बोधनं तथा । सुधांशुधर हे चन्द्रावतंसेति वा । हे धर राजकुमारिकया धराधरराजकन्ययाऽपर्णया परया चिद्रूपया परितः सर्वतः परितुष्ट अतिशयेन प्राप्ततोष । हे शिव कल्याणरूप । नतोऽस्मि त्वामिति शेषः ॥ ३८ ।

शिवेति । हे शिव महेश्वररूप । हे देव स्वप्रकाश । हे गिरीश गिरो वेदलक्षणायाः सरस्वत्याः वा ईश नियन्तः । गिरेः कैलासस्येति वा । हे महेश महांश्चासावीशश्चेति तत्सम्बोधनं तथा । हे विभो समर्थ, विशेषेण भवतीति विभुः, तत्सम्बोधनं वा तथा । हे विभवप्रद ऐश्वर्यप्रद । हे गिरीश गिरौ कैलाशे शेत इति तत्सम्बोधनं तथा । हे शिवेन शिवाया उमाया भर्त्तः । हे मृड सुखजनक सुखस्वरूपेति वा । उडुपतिं चन्द्रं धरतीत्युडुपतिध्रः तत्सम्बोधनं तथा । उडुपतिलकेति क्वचित् । उडुपतिकेति चाऽन्यत्र । पाठद्वयमपि च्छन्दोभङ्गादक्षराधिक्याच्च नाङ्गीकर्तव्यमिति । उडुपतोकेति पाठे उडुपतिमिकति

पतितजनों के भी हस्तावलंबन दाता हैं, आप की जय हो ॥ ३७ ।

हे सकलभूतलव्यापक ! प्रणवध्वनि ही आप का सौध (आश्रय) है । हे चन्द्रधर ! चिद्रूपा (परमा) गिरिराजकुमारी आप को सर्वतः सन्तुष्ट किया करती हैं । हे कल्याणस्वरूप ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ३८ ।

हे शिव ! हे देव ! हे गिरीश (नगेश) ! हे महेश ! हे विभो ! हे विभवप्रद ! हे गिरिश ! (कैलाशशायिन्) हे पार्वतीपते ! हे मृड ! आप भक्ति-विघातकों

न कृतान्तत एष बिभेमि हर प्रहराशु महाघममोघमते ।
न मतान्तरमन्यदवैमि शिवं शिवपादनतेः प्रणतोऽस्मि ततः ॥४०॥
विततेऽत्र जगत्यखिलेऽघहरं हरतोषणमेव परं गुणवत् ।
गुणहीनमहीनमहावलयं प्रलयान्तकमीश नतोऽस्मि नतः ॥४१॥
इति स्तुत्वा महादेवं विररामाऽङ्गिरः सुतः ।
व्यतरच्च महेशानः स्तुत्या तुष्टो वरान् बहून् ॥ ४२ ।

शिरोभूषत्वेन स्वीकरोतीति यावत्तत्सम्बोधनं तथा। धातूनामनेकार्थत्वात् । कृता दत्ता यन्त्रणा पीडा येन तत्सम्बोधनं तथा। केषामित्याकाङ्क्षायामाह। भक्तिविघातकृतां कामक्रोधलोभादीनां त्रिपुरान्धकजलन्धरादीनां चेत्यर्थः। जगत्त्रितयं मृडय सुखय। अस्मिन् श्लोके द्वितीयपादे छन्दोभङ्गोऽक्षराधिक्यं चार्षम् ॥ ३९ ।

नेति। हे हर अज्ञाननाशक भक्तपापहर प्रलयकाले सर्वसंहारकेति वा। हे अमोघमते अप्रतिहतज्ञान। ज्ञानमप्रतिघं यस्येति श्रुतेः। एषाऽहं कृतान्ततो यमादपि न बिभेमि त्वद्दर्शनादिति शेषः। अत आशु शीघ्रं महाघं महत्पापं महामोहं वा प्रहर दूरीकुरु नाशयेत्यर्थः। ननु तत्त्वज्ञानादेवाहमज्ञानं नाशयामीति चेत्तत्राह। शिवपादनतेः तव पादनतेर्नमस्कारादन्यमतान्तरं शिवं कल्याणरूपं नाऽवैमि न जानामि ततस्त्वां प्रणतोऽस्मीति नमस्कारमात्रेणैव ज्ञानं सम्पाद्य अज्ञानं निवर्तयेति भावः ॥ ४० ।

वितत इति। अतः कारणादहमीशं त्वां नतोऽस्मि। ईशं कथम्भूतम् ? गुणहीनं प्रपञ्चाऽतीतमित्यर्थः। पुनः कीदृशम् ? प्रलयान्तकं प्रलयकाले सर्वसंहारकमित्यर्थः। यतोऽत्र जगति। कीदृशे ? वितते। अस्यैव व्याख्यानमखिल इति। हरतोषणमेवाघहरं परं मुख्यं गुणवदिति ॥ ४१ ।

व्यतरद्दत्तवान् ॥ ४२ ।

(कामक्रोधादि अथवा त्रिपुरान्धकादि दैत्यों) के यन्त्रणा (पीड़ा) कर्ता हैं। हे तारापतिधारिन् ! आप त्रैलोक्य को सुखी करें ॥ ३९ ।

हे अमोघमते ! मैं यमराज का भी भय नहीं करता। हे हर ! आप शीघ्र ही मेरे महापाप (पुंज) का हरण करें। मैं तो महादेव के चरणों में प्रणाम की अपेक्षा किसी दूसरे मतान्तर को मंगलमय नहीं समझता, अतएव आपको प्रणाम करता हूँ ॥ ४० ।

इस विस्तृत निखिल ब्रह्माण्ड में शिव का सन्तोष (प्रसन्न) करना ही अघनाशक और परम मुख्य गुणवत्व है, अतः हे ईश ! निर्गुण ईश्वर, नागराज के महाकंकणधारी प्रलयकाल में सर्वसंहारक, आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ४१ ।

अंगिरा के पुत्र इस प्रकार से महादेव की स्तुति कर विरत (चुप) हो गये और महेश्वर ने भी स्तुति से सन्तुष्ट होकर बहुत से वर प्रदान किये ॥ ४२ ।

श्रीमहादेव उवाच—

बृहता तपसाऽनेन बृहतांपतिरेध्यहो ।
नाम्ना बृहस्पतिरिति ग्रहेष्वच्र्यो भव द्विज ॥ ४३ ।

अस्माल्लिङ्गार्चनान्नित्यं जीवभूतोऽसि मे यतः ।
अतो जीव इति ख्यातिं त्रिषु लोकेषु यास्यसि ॥ ४४ ।

वाचां प्रपञ्चैश्चतुरैर्निष्प्रपञ्चो यतः स्तुतः ।
अतो वाचां प्रपञ्चस्य पतिर्वाचस्पतिर्भव ॥ ४५ ।

अस्य स्तोत्रस्य पठनादपि वागुदियाच्च यम् ।
तस्य स्यात्संस्कृता वाणी त्रिभिर्वर्षैस्त्रिकालतः ॥ ४६ ।

वरान् प्रयच्छन्नाम त्रितयं निर्वक्ति । बृहतेति श्लोकत्रयेण । बृहतां पतिरेधि इन्द्रादीनां देवानां गुरुर्भवेत्यर्थः ॥ ४३ ।

प्रपञ्चैर्विस्तारैश्चतुरैर्निपुणैः सुश्राव्यैरित्यर्थः भव स्याः । भवानिति क्वचित् ॥ ४५ ।

वागुदियाच्च यमिति । अस्य स्तोत्रस्य पठनात् पाठाद्यं पुरुषं प्रति वाक् सरस्वती उदियादुदिता भवति, तस्य संस्कृता वाणी च स्यादित्यन्वयः । श्रवणादपि भावत इति पाठे एतत्स्तोत्रं भवतो भक्त्या त्रिकालतस्त्रिकालं यः पठति यश्च शृणोति तस्य संस्कृता वाणी स्यादित्यर्थः, अपि वाऽसु महात्मनः अपि वाऽगुणवांश्च य इति पाठद्वयेऽप्यकारः प्रश्लेष्टव्यः । अर्थस्तु पूर्वोक्तरीत्याऽनुसन्धेयः ॥ ४६ ।

श्रीमहादेव बोले—

हे द्विज ! इस बृहत् तपस्या के प्रभाव से तुम बृहतों (बड़ों) के अर्थात् इन्द्रादिदेवों के भी पति (श्रेष्ठ गुरु) होवो और इसी कारण से ग्रहों के मध्य बृहस्पति नाम से पूजनीय होवो। इस लिंग की नित्य पूजा के प्रभाव से तुम मेरे जीवस्वरूप हो गये हो, इसी से तीनों लोकों में (तुम) "जीव" नाम से विख्यात होगे ॥ ४३-४४ ।

यतः प्रपंचरहित मुझे तुमने सुन्दर (श्रवण सुखद) वाक्-प्रपंच से संस्तुत किया है, अतः इस वाक्-प्रपंच के अधिपति तुम वाचस्पति (नामधारी) होवो ॥ ४५ ।

इस स्तोत्र को तीन वर्ष तक भक्तिपूर्वक त्रिकाल-पाठ अथवा श्रवण करने वाले की वाणी संस्कृत (शुद्ध) हो जाती है ॥ ४६ ।

समुत्पन्ने महाकार्ये न स बुद्धया प्रहीयते ।
य पठिष्यत्यदः स्तोत्रं वायव्याख्यं दिने दिने ॥ ४७ ।

अस्य स्तोत्रस्य पठनान्नियतं मम सन्निधौ ।
न दुर्वृत्तौ प्रवृत्तिः स्यादविवेकवतां नृणाम् ॥ ४८ ।

अदःस्तोत्रं पठन् जन्तुर्जातु पीडां ग्रहोद्भवाम् ।
न प्राप्स्यति ततो जप्यमिदं स्तोत्रं ममाऽग्रतः ॥ ४९ ।

नित्यं प्रातः समुत्थाय यः पठिष्यति मानवः ।
इमां स्तुतिं हरिष्येऽहं तस्य बाधाः सुदारुणाः ॥ ५० ।

त्वत्प्रतिष्ठितलिङ्गस्य पूजां कृत्वा प्रयत्नतः ।
इमां स्तुतिमधीयानो मनोवाञ्छामवाप्स्यति ॥ ५१ ।

वायव्याख्यं वायुः सूत्रात्मा । वायुर्वै गौतमतत्सूत्रमिति श्रुतेः । तत्प्रापकं वायव्यं हिरण्यगर्भपदप्रापकमित्यर्थः । वायुपुराणे प्रोक्तं वायुना वा प्रोक्तं वायव्यम् । यद्वा वायुरेव वायव्यम् । स्वार्थे ष्यञ् । वायुर्यथा क्षिप्रकारी तथा शीघ्रफलदमित्यर्थः । तदाख्यं तन्नामकम् । **'उकारः शङ्करः प्रोक्तः अकारो वासुदेवः स्यादाकारश्च पितामहः'** इत्येकाक्षरकोशाद्वा रुद्रविष्णुब्रह्माणस्तान् यौति मिश्रीकरोतीति वायवं वायवमेव वायव्यं तदाख्यं स्तोत्रमिति वा अलमति विस्तरेण ॥ ४७-५० ।

जो कोई इस वायव्यनामक स्तोत्र को प्रतिदिन पढ़ेगा, वह बहुत बड़े कार्य उपस्थित होने पर भी बुद्धि से हीन (कभी) नहीं होगा ॥ ४७ ।

मेरे समीप नियमानुसार इस स्तोत्र के पाठ करने से, अविवेकी मनुष्यों की भी दुर्वृत्ति (नीचकर्म) में प्रवृत्ति (रुचि इच्छा) नहीं होगी ॥ ४८ ।

प्राणी इस स्तोत्र के पाठ से कदापि ग्रहजनित पीड़ा को प्राप्त नहीं होगा, इसलिये यह स्तोत्र मेरे आगे पढ़ना चाहिए ॥ ४९ ।

जो मानव नित्य ही प्रातःकाल उठते ही इस स्तुति का पाठ करेगा, मैं उसकी अतिदारुण बाधाओं का भी हरण करूँगा ॥ ५० ।

प्रयत्नपूर्वक तुम्हारे प्रतिष्ठित इस लिंग की पूजा कर जो कोई इस स्तोत्र का पाठ करेगा, उसकी मनोवांछा परिपूर्ण होगी ॥ ५१ ।

इति दत्त्वा वरान् शम्भुः पुनर्ब्रह्माणमाह्वयत् ।
सेन्द्रान् देवगणान् सर्वान् सयक्षोरगकिन्नरान् ॥ ५२ ।
तानागतान् समालोक्य शिवो ब्रह्माणमब्रवीत् ।
विधे विधेहि मद्वाक्यादमुं वाचस्पतिं मुनिम् ॥ ५३ ।
गुरुं सर्वसुरेन्द्राणां परितः स्वगुणैर्गुरुम् ।
अभिषिञ्च विधानेन देवाचार्यपदे मुदे ॥ ५४ ।
अतीव धिषणाधीशो मम प्रीतो भविष्यति ।
महाप्रसाद इत्याज्ञां शिरस्याधाय तत्क्षणात् ॥ ५५ ।
सुरज्येष्ठः[1] सुराचार्यं चकाराऽङ्गिरसं तदा ।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ५६ ।
गुरुपूजां व्यधुः सर्वे गीर्वाणां मुदिताननाः ।
अभिषिक्तो वसिष्ठाद्यैर्मन्त्रपूतेन वारिणा ॥ ५७ ।

मुदे सर्वेषां प्रीतये ॥ ५४ ।

शिव ने आंगिरस को ये सब वर देकर फिर इन्द्रादि देवगण, यक्ष, किन्नर और भुजंगादि सब के सहित ब्रह्मा का आह्वान किया (बुलाया) ॥ ५२ ।

महादेव ने सबको समागत देखकर ब्रह्मा से कहा—"हे विधे ! निज गुणों के ही द्वारा गुरु (श्रेष्ठ) इस वाचस्पति मुनि को मेरे कथनानुसार समस्त देवेन्द्रों का गुरु बनाओ और सब किसी के प्रीत्यर्थ इसको विधानपूर्वक देवाचार्य पद पर अभिषिक्त कर दो ॥ ५३-५४ ।

"मेरा प्रीतिपात्र यह मुनि अत्यन्त धिषणाधिपति (बुद्धीश्वर) होगा ।" ब्रह्मा ने "महाप्रसाद" (बड़ी कृपा) कहकर तुरन्त महादेव की उस आज्ञा को शिर पर रखकर उन सुरज्येष्ठ (विधि) ने उसी क्षण अंगिरा के उन पुत्र को सुराचार्य बना दिया । यह देखकर देव-दुन्दुभियाँ बजने और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ५५-५६ ।

सकल देवगण प्रसन्नवदन हो गुरुपूजा करने लगे । वशिष्ठादि महर्षियों ने मन्त्रपूत जल से बृहस्पति का अभिषेक किया ॥ ५७ ।

---

१. सुरश्रेष्ठ इति पाठः पुस्तकान्तरे ।

पुनरन्यं वरं प्रादाद् गिरीशः पतये गिराम् ।
शृण्वाऽङ्गिरस धर्मात्मन् देवेज्यकुलनन्दन ॥ ५८ ।
भवता स्थापितं लिङ्गं सुबुद्धिपरिवर्धनम् ।
बृहस्पतीश्वर इति ख्यातं काश्यां भविष्यति ॥ ५९ ।
गुरुपुष्यसमायोगे लिङ्गमेतत्समर्च्य च ।
यत्करिष्यन्ति मनुजास्तत्सिद्धिमधियास्यति ॥ ६० ।
बृहस्पतीश्वरं लिङ्गं मया गोप्यं कलौ युगे ।
अस्य सन्दर्शनादेव प्रतिभा प्रतिलभ्यते ॥ ६१ ।
चन्द्रेश्वराद्दक्षिणतो वीरेशान्नैर्ऋते स्थितम् ।
आराध्य धिषणेशं वै गुरुलोके महीयते ॥ ६२ ।
गुर्वङ्गनागमनजं पापं षण्माससेवनात् ।
अवश्यं विलयं याति तमः सूर्योदयाद्यथा ॥ ६३ ।

पतये गिरां वाचस्पतये इत्यर्थः ॥ ५८ ।

सुबुद्धिपरिवर्धनं शोभनज्ञानजनकम् ॥ ५९ ।

यत्कर्म तत्कर्तृभूतम् ॥ ६० ।

गिरीश ने फिर वाचस्पति को और भी दूसरा वर दिया (कहा)—हे धर्मात्मन्! कुलनन्दन! देवपूज्य! आंगिरस! सुनो—तुम्हारा स्थापित यह सुबुद्धि-परिवर्धक लिंग काशी में बृहस्पतीश्वर नाम से प्रसिद्ध होगा ॥ ५८-५९ ।

मनुष्यगण पुष्य-नक्षत्रयुत बृहस्पतिवार को इस लिंग का पूजन करके जो कुछ करेंगे, वह सब सिद्धि को प्राप्त होंगे ॥ ६० ।

कलियुग में मैं इस बृहस्पतीश्वर लिंग को गुप्त कर रक्खूंगा; (क्योंकि) इस लिंग के दर्शन ही से प्रतिभा प्राप्त हो जाती है ॥ ६१ ।

चन्द्रेश्वर के दक्षिण और वीरेश्वर से नैऋर्त्यकोण में अवस्थित बृहस्पतीश्वर लिंग के पूजन करने से गुरुपत्नीगमनसंभूत पाप भी अवश्य ही सूर्योदय से अंधकार के सदृश विनष्ट हो जाते हैं ॥ ६२-६३ ।

अत एव हि गोप्तव्यं महापातकनाशनम् ।
बृहस्पतीश्वरं लिङ्गं नाख्येयं यस्य कस्यचित् ॥ ६४ ।
इति दत्वा वरान् देवस्तत्रैवाऽन्तर्हितोऽभवत् ।
द्रुहिणो गुरुणा साधं सेन्द्रोपेन्द्रो बृहस्पतिम् ॥ ६५ ।
अस्मिन्पुरेऽभिषिच्याऽथ विसृज्येन्द्रादिकान् सुरान् ।
अलञ्चकार स्वं लोकं विष्णुनाऽनुमतो द्विज ॥ ६६ ।

अगस्त्य उवाच—

अतिक्रम्य गुरोर्लोकं लोपामुद्रे ददर्श सः ।
शिवशर्मा पुरीं सौरेः प्रभामण्डलमण्डिताम् ॥ ६७ ।
पृष्टौ तेन च तौ तत्र तां पुरीं प्रददर्शतुः ।
द्विजेन द्विजवर्याय गणवर्यौ शुचिस्मिते ॥ ६८ ।

अन्तर्हितोऽन्तर्धानं गतः । अन्तरित इति पाठेऽपि स एवार्थः । गुरुणा शुक्रेणेत्यर्थः । यद्वा गुरुणा त्रैलोक्यगुरुणा श्रीविष्णुनेत्यर्थः ॥ ६५ ।

स्वं लोकं सुमेरोरुपरिस्थं लोकं सत्यलोकं वा ॥ ६६ ।

शनिलोककथां प्रस्तावयति । अतिक्रम्येति ॥ ६७ ।

तेन द्विजेन पृष्टावित्यन्वयः । प्रदर्शतुर्विशेषेण दर्शयामासतुरित्यर्थः । प्राशसंतुरिति पाठे प्रकर्षेण कथयामासतुरित्यर्थः ॥ ६८ ।

इसी कारण से यह महापातक का विनाशक बृहस्पतीश्वर लिंग का फल गुप्त ही रखना उचित है, किसी से हो, उसी से नहीं कह देना चाहिए ॥ ६४ ।

देवदेव इन सब वरों को देकर उसी लिंग में लोन हो गये । ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु और बृहस्पति के साथ-साथ इस लोक में आकर बृहस्पति का अभिषेक एवं इन्द्रादि देवताओं को विसर्जित कर विष्णु की अनुमति लेकर अपने लोक में चले गये ॥ ६५-६६ ।

अगस्त्य बोले—

हे लोपामुद्रे ! शिवशर्मा बृहस्पति-लोक अतिक्रमण कर, प्रभामण्डल से मण्डित शनिलोक को देखने लगा ॥ ६७ ।

हे शुचिस्मिते ! उस वेला में द्विजवर शिवशर्मा के पूछने पर दोनों गणश्रेष्ठों ने उस पुरी का विवरण उस विप्रवर से कहना आरम्भ किया ॥ ६८ ।

गणावूचतुः—

मारीचेः कश्यपाज्जज्ञे दाक्षायण्यां द्विजोष्णगुः ।
तस्य भार्याऽभवत् संज्ञा पुत्री त्वष्टुः प्रजापतेः ॥ ६९ ।
भर्तुरिष्टा ततस्तस्माद्रूपयौवनशालिनी ।
संज्ञा बभूव तपसा सुदीप्तेन समन्विता ॥ ७० ।
आदित्यस्य हि तद्रूपं मण्डलस्य तु तेजसा ।
गात्रेषु परिदध्यौ वै नातिकान्तमिवाऽभवत् ॥ ७१ ।
न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ इति स्नेहादभाषत ।
तदाप्रभृति लोकेऽयं मार्तण्ड इति चोच्यते ॥ ७२ ।

दाक्षायण्यां दक्षकन्यायामदित्यामिति यावत् । उष्णगुः उष्णा गावो रश्मयो यस्य स सूर्यस्तथा ॥ ६९ ।

आदित्यस्येति । आदित्यस्य सूर्यस्य तद्रूपं तेजःपुञ्जमण्डलस्य तेजसोपलक्षितं गात्रेषु सा संज्ञा परिदध्यौ-परिदधौ धृतवती, किन्तु तस्या गात्रं नातिकान्तं नातिकमनीयमिवाभवदित्यर्थः । नातिक्रान्तुमिति पाठे अतिक्रान्तुमतिशयेन धर्तुमतिक्रमितुं वेव नाऽभवत् समर्था न जातेत्यर्थः ॥ ७० ।

लोकोक्त्यभिप्रायेणेवशब्द एवार्थे वा । गात्रेषु परिदग्धा वै नातिक्रान्तमनाऽभवदिति पाठश्चिन्त्यः ॥ ७१ ।

प्रणयकोपिताया भार्याया वचसा मार्तण्ड नाम निरुक्तिर्न खल्विति । अयं सूर्यः । अण्डस्थो गभस्थः । स्नेहात् प्रणयकोपात्' यद्वा प्रसङ्गात् सूर्यस्य नाम निरुक्तिर्न खल्विति । अभाषत कश्यप इति शेषः । द्रुतं भिक्षामलभमा बुधेन—शापान्मृताण्डस्थस्य कश्यपाऽनुग्रहात् प्रतीकार इति मोक्षधर्मान्तर्गर्भिणी कथा । तदुक्तं हरिवंशे—'अजानन्कश्यपस्तस्मादिति तृतीयश्चरणः चरणत्रयं श्लोकोक्तमेव' ॥ ७२ ।

दोनों गणों ने कहा—

हे द्विज ! मरीचितनय कश्यप ने दाक्षायणी के गर्भ से सूर्य को उत्पन्न किया और त्वष्टा प्रजापति की कन्या संज्ञा उनकी भार्या हुई ॥ ६९ ।

सुदीप्त तप से समन्वित रूप-यौवनशालिनी संज्ञा पति की अत्यन्त प्रियतमा हुई ॥ ७० ।

वह सूर्यमण्डल का तेज और आदित्य का उष्णरूप शरीर से ग्रहण तो करती थी, परन्तु उसका देह धीरे-धीरे मन्द-सा होने लगा ॥ ७१ ।

यह अण्डस्थित बालक (कहीं) मर न जावे, कश्यप ने स्नेहपूर्वक यह कहा, तब से ही जगत् में सूर्य का नाम मार्तण्ड कहाने लगा ॥ ७२ ।

तेजस्त्वभ्यधिकं तस्य साऽसहिष्णुर्विवस्वतः ।
येनाऽतितापयामास त्रैलोक्यं तिग्मरश्मिभृत् ॥ ७३ ।
त्रीण्यपत्यानि भो ब्रह्मन् संज्ञायां महसां निधिः ।
आदित्यो जनयामास कन्यां द्वौ च प्रजापती ॥ ७४ ।
वैवस्वतं मनुं ज्येष्ठं यमं च यमुनां ततः ।
नातितेजोमयं रूपं सोढुं साऽलं विवस्वतः ॥ ७५ ।
मायामयीं ततश्छायां सवर्णां निर्ममे स्वतः ।
प्राञ्जलिः प्रणता भूत्वा संज्ञां छाया तदाऽब्रवीत् ॥ ७६ ।
तवाज्ञाकारिणीं देवि शाधि मां करवाणि किम् ।
संज्ञोवाच ततश्छायां सवर्णे शृणु सुन्दरि ॥ ७७ ।
अहं यास्यामि सदनं त्वष्टुस्त्वं पुनरत्र मे ।
भवने वस कल्याणि निर्विशङ्कं ममाज्ञया ॥ ७८ ।

येन तेजसा । तिग्मरश्मिभृत् तीक्ष्णकिरणभृत् ॥ ७३ । महसां निधिराश्रयः ॥७४।
मनुं मन्वन्तराधिपम् । मनुश्रेष्ठमिति क्वचित् । सोढुं धर्तुम् ॥ ७५ ।

मायामयीं सवर्णां तन्नाम्नीमित्यन्वयः । छायया निर्मितत्वाच्छायेत्यपि तस्या नामाऽत एवाऽग्रे वक्ष्यति संज्ञां छाया तदाऽब्रवीदिति । छाया प्रतिबिम्बम् । स्वतः स्वेच्छया ॥ ७६-७८ ।

तीक्ष्ण किरणधारी वह मार्तण्ड जिसके द्वारा त्रैलोक्य को अतितापित करते हैं वह अभ्यधिक तेज संज्ञा को भी असह्य हो गया ॥ ७३ ।

हे ब्रह्मन् ! तेजोनिधि आदित्य ने उस संज्ञा के गर्भ से तीन सन्तान उत्पन्न किये, दो प्रजापति, और एक कन्या ॥ ७४ ।

ज्येष्ठ पुत्र वैवस्वत मनु एवं कनिष्ठ यमराज और यमुना कन्या का नाम, इसके अनन्तर वह संज्ञा जब सूर्य के तेजोमय रूप को सहने में अत्यन्त असमर्थ हुई, तब अपने से ही उसने मायामयी सवर्णा छाया का निर्माण किया, तदनन्तर छाया ने हाथ जोड़, प्रणाम कर, संज्ञा से कहा—"देवि ! मैं आपकी आज्ञाकारिणी हूँ, क्या करने का आदेश मुझे मिलता है ?" तब संज्ञा ने कहा—हे (मदीय) सवर्णे ! सुन्दरि ! सुनो—मैं अपने पिता विश्वकर्मा के गृह जाऊँगी और हे कल्याणि ! तुम मेरी आज्ञा से निःशङ्कचित्त होकर यहां पर गृह में निवास करो ॥ ७५-७८ ।

मनुरेष यमावेतौ यमुनायमसंज्ञकौ ।
स्वापत्यदृष्ट्या द्रष्टव्यमेतद्बालत्रयं त्वया ॥ ७९ ।
अनाख्येयमिदं वृत्तं त्वया पत्यौ शुचिस्मिते ।
इत्याकर्ण्याऽथ सा त्वाष्ट्रीं देवीं छाया जगाद ह ॥ ८० ।
आ कचग्रहणान्नाहमा शापाच्च कदाचन ।
आख्यास्यामि चरित्रं ते याहि देवि यथासुखम् ॥ ८१ ।
इत्यादिश्य सवर्णां सा तथेत्युक्ता सवर्णया ।
पितुरन्तिकमासाद्य नत्वा त्वष्टारमब्रवीत् ॥ ८२ ।
पितः सोढुं न शक्नोमि तेजस्तेजोनिधेरहम् ।
तीव्रं तस्यार्यपुत्रस्य काश्यपस्य महात्मनः ॥ ८३ ।
निशम्योदीरितं तस्याः पित्रा निर्भर्त्सिता बहु ।
भर्तुः समीपं याहीति नियुक्ता सा पुनः पुनः ॥ ८४ ।

यमौ यमजौ । तावेवाह । **यमुनेति** ॥ ७९ ।
आ कचग्रहणात् कचग्रहणपर्यन्तम् । आ शापाच्च शापपर्यन्तञ्च ॥ ८१ ।
तथेत्युक्ता तथा करिष्यामीति सवर्णया प्रत्युदिता कथिता सतीत्यर्थः । तथेत्युक्त्वेति पाठश्चिन्त्यः ॥ ८२ ।

इस मनु और इन यमल (एक साथ उत्पन्न हुए) यम-यमुना को अपने ही बच्चों की आँख से तीनों लड़कों को तुम्हें देखना चाहिए ॥ ७९ ।

"हे शुचिस्मिते ! यह वृत्तान्त स्वामी के निकट तुम प्रकट मत करना" ऐसा सुनकर छाया विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञादेवी से बोली—देवि ! जब तक मेरे शिर पर के बाल न पकड़े जावेंगे, अथवा शाप की संभावना न होगी, तब तक आपका यह चरित्र मैं नहीं कहूँगी । आप सुखपूर्वक गमन करें ॥ ८०-८१ ।

इस रीति से छाया को आज्ञा देकर और छाया के स्वीकार कर लेने पर वह संज्ञा विश्वकर्मा पिता के पास जाकर प्रणामपूर्वक बोली—"हे पिता ! मैं महात्मा तेजोनिधि आर्यपुत्र काश्यप के तीव्र तेज को नहीं सहन कर सकती हूँ" ॥ ८२-८३ ।

उसकी बात सुनकर पिता ने बहुत धिक्कार करके बारंबार यही आदेश दिया कि "भर्त्ता के पास चली जावो" ॥ ८४ ।

चिन्तामवाप महतीं स्त्रीणां धिक् चेष्टितन्त्विति ।
निनिन्द बहुधात्मानं स्त्रीत्वं चातिनिनिन्द सा ॥ ८५ ।
स्वातन्त्र्यं न क्वचित् स्त्रीणां धिगस्वातन्त्र्यजीवितम् ।
शैशवे यौवने प्रान्ते पितृभर्तृसुताद्भयम् ॥ ८६ ।
त्यक्तं भर्तृगृहं मौग्ध्याद्धन्त दुर्वृत्तया मया ।
अविज्ञाताऽपि चेद्यायामथ पत्युर्निकेतनम् ॥ ८७ ।
तत्राऽस्ति सा सवर्णा वै परिपूर्णमनोरथा ।
अथाऽवतिष्ठे साऽत्रैव पित्रा निर्भर्त्सिताऽप्यहम् ॥ ८८ ।
ततोऽतिचण्डश्चण्डांशुः पित्रोरतिभयङ्करः ।
अहो यदुच्यते लोकैरुपाख्यानमिदं हि तत् ॥ ८९ ।
स्फुटं दृष्टं मयाऽद्येति स्वकराङ्गारकर्षणम् ।
नष्टं भर्तृगृहं मौग्ध्याच्छ्रेयो वा न पितुर्गृहम् ॥ ९० ।

प्रान्ते वार्धके । शैशवादित्रिषु पित्रादित्रितयाद्यथासंख्यं भयं स्यादित्यर्थः ॥ ८६ ।

मौग्ध्यान्मौढ्यात् । मौढ्यादित्येव वा पाठः । एवमग्रेऽपि । दुर्वृत्तयाऽसमीक्ष्यकारिण्या ॥ ८७ ।

साऽहम् । अत्र पितुर्गृहे । ८८ । भयङ्करो भयकर्ता भविष्यतीत्यर्थः ॥ ८९ ।

स्वकराङ्गारकर्षणं स्वहस्तेन ज्वलदङ्गारग्रहणम् । वर्षणमिति पाठे त्याग इत्यर्थः ।

उस घड़ी संज्ञा घोर चिन्ता में निमग्न होकर "स्त्रियों की चेष्टा को धिक्कार है"; क्योंकि लड़कपन में पिता, जवानी में भर्ता और बुढ़ापे में पुत्र से भय बना ही रहता है ॥ ८५–८६ ।

ओः ! विना विचारे ही मैंने मूर्खतावश स्वामिगृह को छोड़ दिया और पति ने भी अभी मुझे नहीं जाना है। यदि अब मैं पति के घर चली जाऊँ, तो वहाँ पर परिपूर्ण मनोरथ सवर्णा विद्यमान ही है और यदि पिता के तिरस्कार करने पर भी मैं यहाँ ही रह जाऊँ, तब तो अतिप्रचंड चंडांशु (सूर्य) मेरे माता-पिता पर भयंकर क्रोध करेंगे। अहो ! लोग जैसी लोकोक्ति (कहावत) कहते हैं, वह यही है। आज मैंने उसे स्पष्ट ही देख लिया। अपने हाथ से अंगारा खींचा (ज्वलत् अंगार कर्षण) अपने ही हाथ-पांव में कुल्हाड़ी मारी, अपनी मूढ़ता से पतिगृह तो विनष्ट हुआ ही, पिता के घर में भी रहने में कुशल नहीं है ॥ ८७-९० ।

वयश्च प्रथमं चारु रूपं त्रैलोक्यकाङ्क्षितम् ।
सर्वाभिभवनं स्त्रीत्वं कुलं चातीव निर्मलम् ॥ ९१ ।
पतिश्च तादृक् सर्वज्ञो लोकचक्षुस्तमोपहः ।
सर्वेषां कर्मणां साक्षी सर्वः सर्वत्र सञ्चरः ॥ ९२ ।
मह्यं श्रेयः कथं वा स्यादिति सा परिचिन्त्य च ।
अगच्छद्वडवा भूत्वा तपसे पर्यनिन्दिता ॥ ९३ ।
उत्तरांश्च कुरून् प्राप चरन्ती नीरसं तृणम् ।
व्युत्तेपे च तपस्तीव्रं पतिमाधाय चेतसि ।
तपोबलेन तत्पत्युः सहिष्ये तेज इत्यलम् ॥ ९४ ।

पितुर्गृहं श्रेयो हेतुर्न भवतीत्यर्थः । वाशब्दो वितर्के । गृहे इति क्वचित् ॥ ९०-९१ ।

सर्वः सर्वात्मकः । परात्मत्वात्सूर्यस्य । ईश्वररूपो वाऽष्टमूर्तित्वात्तस्य । सदेति पाठे सदा सर्वकाले । सर्वत्र सर्वदेशे ॥ ९२ ।

मह्यं मम । सत्यमिति पाठे सत्यं परमार्थम् । वडवाऽश्वा । पर्यनिन्दिता सर्वतो निन्दाशून्या । कृतनिश्चयेति क्वचित् ॥ ९३ ।

उत्तरान् कुरून् उत्तरसमुद्रसंलग्नं वर्षम् । चरन्ती भक्षयन्ती । व्युत्तेपे विशेषेण उत्कृष्टतया सोत्तेपे तप्तवती । तादृक् तेप इति पाठे तपोबलेनेत्यस्योपरि यादृगिति

स्त्रीत्व, अत्यन्त सुन्दर प्रथम (युवा) अवस्था, त्रिलोककांक्षितरूप, निर्मलकुल तिस पर वैसे सर्वज्ञाता, लोकचक्षु, तमोविनाशक, समग्र लोकों के साक्षी, सर्वस्वरूप और सर्वत्रगामी (मेरे) पतिदेव हैं ॥ ९१-९२ ।

"फिर मेरा कल्याण किस प्रकार से होगा" ? वह अनिन्दिता संज्ञा ऐसी ही चिन्ता करती हुई तपस्या करने के लिये, बड़वा (घोड़ी) का रूप धारण कर चली गई ॥ ९३ ।

सूखा तृण (घास) चरती हुई वह उत्तर कुरुदेश में पहुँच और हृदय में पति को रखकर इसी विचार से तीव्र तपस्या करने लगी कि तपस्या ही के बल से पति के उस तेज को सह सकूँगी ॥ ९४ ।

मन्यमानोऽथ तां संज्ञां सवर्णायां तदा रविः ।
सावर्णि जनयामास मनुमष्टममुत्तमम् ॥ ९५ ।
शनैश्चरं द्वितीयं च सुतां भद्रां तृतीयिकाम् ।
सवर्णा स्वेष्वपत्येषु सापत्न्यात् स्त्रीस्वभावतः ॥ ९६ ।
चकाराऽभ्यधिकं स्नेहं न तथा पूर्वजेष्वथ ।
मनुस्तत्क्षान्तवान् ज्येष्ठो भक्ष्यालङ्कारलालने ॥९७ ।
कनिष्ठेष्वधिकं दृष्ट्वा सावर्ण्यादिषु नो यमः ।
कदाचित्प्रोषतो बाल्याद् भाविनोऽर्थस्य गौरवात्॥९८ ।
पदा संतर्जयामास यमः संज्ञासरूपिणीम् ।
तं शशाप च सा क्रोधात् सावर्णेर्जननी तदा ॥ ९९ ।
जिघांसता त्वया पाप मां यदङ्घ्रिः समुद्यतः ।
अचिरात्तत्पतत्वेष तवेति भृशदुःखिता ॥ १०० ।

ज्ञातव्यम्, तादृगनिर्वचनीयमतिमहत्तरमिति यावत् । तदलमतिशयितं तेजः । तत्तेजोऽलं सहिष्ये इति वा ॥ ९४-९५ ।

भद्रामिति तपत्या नामान्तरम् । यद्वा भद्रां सद्वृतां नाम्ना तपतीमिति पुराणान्तरादवगन्तव्यम् ॥ ९६-९७ । गौरवाद् गुरुत्वात् ॥ ९८ ।

पदा पादेन । संज्ञायाः समानं रूपं वर्तते यस्याः सा संज्ञासरूपिणी ताम् ॥ ९९ ।

यद्यस्मात्समुद्यतः उत्थापितः । तत्तस्मात् । एष पादः ॥ १०० ।

उधर (वहाँ) सूर्य ने उसी सवर्णा छाया को ही संज्ञा जानकर उसके गर्भ से अत्युत्तम अष्टम मनु सावर्णि, दूसरे शनैश्चर और तीसरी कन्या भद्रा (तपती) को उत्पन्न किया। छाया अपने इन लड़कों पर जैसा स्नेह करती थी, चाहे सवतियाडाह से हो, अथवा स्त्रीस्वभाव के दोष से हो, उन पूर्वज लड़कों पर वैसा प्रेम नहीं रखती थी। जेठे मनु ने तो वह सब सह लिया; परन्तु छोटे यम ने भोजन, भूषण, लालन-पालन, आदि में सावर्णि-प्रभृति कनिष्ठों पर अधिकता देखकर एक दिन लड़कपन से अथवा भवितव्यता (होनहार) के गौरव से रोषवश संज्ञा की सरूपिणी छाया को पांव से मार तर्जन किया। तब तो सावर्णि की माता ने क्रोधपूर्वक यम को शाप देते हुए अत्यन्त दुःखित होकर कहा—"अरे पाप! तूने मुझे मारने के लिये जिस पाँव को उठाया है, वह तेरा पाँव शीघ्र ही गिर जावे" ॥ ९५-१०० ।

मातृशापपरित्रस्तो यमोऽपि पितुरग्रतः ।
शशंस सर्वं तद्वृत्तं रक्ष रक्षेत्युवाच च ॥ १०१ ।
मात्रा सुतेषु सर्वेषु वर्तनीयं समं यतः ।
तस्यां मयोद्यतः पादो न देहे परिपातितः ॥ १०२ ।
बाल्याद्वा यदि वा मोहात्तद्भवान् क्षन्तुमर्हसि ।
गोपते शापतो मातुर्मापतत्वङ्घ्रिरेष मे ॥ १०३ ।

विवस्वानुवाच—

अपराधसहस्रेऽपि जननी न शपेत्सुतम् ।
तस्मात्किमपि भो बाल भविष्यत्यत्र कारणम् ॥ १०४ ।
येन त्वां साऽशपत् क्रोधाद्धर्मज्ञं सत्यवादिनम् ।
मातृशापोऽन्यथा कर्त्तुं न शक्यः केनचित् क्वचित् ॥ १०५ ।
कृमयो मांसमादाय यास्यन्त्यस्मान्महीतलम् ।
इत्थं तु चरितार्थः स्याच्छापस्त्रातो भवानपि ॥ १०६ ।

अस्मात् पदात् ॥ १०६ ।

माता के शापभय से भीत यम भी "रक्षा करो रक्षा करो" (बचाओ-बचाओ) ऐसा कहते हुए पिता के आगे जाकर सब वृत्तान्त कहने लगे ॥ १०१ ।

माता को सभी लड़कों के साथ एक समान बर्ताव करना चाहिये, (पर वह ऐसा नहीं करती) इसी से मैंने उसके देह पर पाद-मात्र उठाया, पर मारा नहीं ॥ १०२ ।

यह अपराध मेरे लड़कपन से हुआ हो, चाहे मोहवश मैंने किया हो, आप उसे क्षमा कर देवें । हे गोपते ! माता के शाप से मेरा यह पैर (पाँव) गिर न पड़ने पावे ॥ १०३ ।

सूर्य बोले—

हे बालक ! (बेटा) सहस्रों अपराध करने पर भी माता पुत्र को शाप नहीं देती, अतएव इस विषय में कोई कारण अवश्य होगा, जिससे उसने तुम्हारे सदृश धर्मज्ञाता सत्यवादी को क्रोध से शाप दे दिया है। माता के शाप को कभी कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता ॥ १०४-१०५ ।

तुम्हारे इस पाँव का मांस लेकर कीड़े भूतल पर जावेंगे । इसी रीति से तुम्हारी माता का शाप चरितार्थ होगा और तुम भी सुरक्षित होगे ॥ १०६ ।

इति पुत्रं समाश्वास्य रविरन्तःपुरं ययौ।
चिरमालोक्य तां भार्यामुवाच सविता वचः ॥ १०७
अयि भामिनि बालेषु समेष्वपि कुतस्त्वया।
विधीयतेऽधिकः स्नेहः सावर्ण्यादिष्वनादिषु ॥ १०८।
नाऽचचक्षे यदा साऽथ भास्वते परिपृच्छते।
तदात्मानं समाधाय सोऽज्ञासीत्सर्वमेव हि ॥ १०९।
ततो भगवते शप्तुमुद्यते सा शशंस ह।
यथावृत्तं तथातथ्यं तुतोष भगवानपि ॥ ११०।
तथ्यभाषणतस्तां तु रविर्ज्ञात्वा निरागसम्।
न शशाप च संक्रुद्धो ययौ च त्वष्टुरन्तिकम् ॥ १११।
त्वष्टाऽपि च यथान्यायं सान्वयं तिग्मतेजसम्।
निर्दग्धुकामं कोपेन प्रागानर्च मुदा तदा।
विज्ञाय तदभिप्रायं त्वष्टोवाचाऽशु तं रविम् ॥११२।

अयीति सम्बोधने। भामिनि कोपने। भाविनीति क्वचित्। अनादिषु कनिष्ठेषु। नादिष्वति पाठे आदिषु श्राद्धदेवादिषु ॥ १०८।

आत्मानमन्तःकरणं समाधाय स्थिरीकृत्य। मनसा ध्यानं विधायेत्येतत् ॥ १०९।

अनु पश्चादयन्तीत्यन्वया माठरपिङ्गलादयस्तत्सहितं सान्वयम्। सान्त्वयन्निति

इस प्रकार से पुत्र को समाश्वासन देकर रवि अन्तःपुर में चले गये। विलम्ब से अपनी पत्नी को आते देखकर सविता ने यह वचन कहा—हे भामिनि! लड़के तो सब समान हैं; फिर तुम इन सावर्णि आदि पर अधिक स्नेह क्यों करती हो? सूर्य के ऐसे पूछने पर भी छाया ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब आत्मसमाधान करके सविता ने सब बातों को जान लिया ॥ १०७-१०९।

जब सूर्य भगवान् शाप को उद्यत हुए, तब छाया ने सब वृत्तान्त ठीक-ठीक ज्यों का त्यों कह सुनाया, जिससे भगवान् भी संतुष्ट हुए ॥ ११०।

सब बातें सच सच कह देने से सूर्य ने छाया को निर्दोष जानकर शाप नहीं दिया, पर क्रोधित होकर विश्वकर्मा के पास गये ॥ १११।

विश्वकर्मा ने क्रोध से दग्ध करना चाहते, तीक्ष्ण तेजस्वी, सूर्य को पहिले सांत्वना देते हुए सहर्ष उनका पूजन किया, तब फिर उनके अभिप्राय को समझकर तुरन्त उनसे कहा ॥ ११२।

त्वष्टोवाच—

तवाऽतितेजसो भीता प्राप्योत्तरकुरून् रवे।
वडवारूपमास्थाय वने चरति शाद्वले ॥ ११३ ।
द्रष्टा हि तां भवानद्य स्वां भार्यामार्यचारिणीम् ।
अधृष्यां सर्वभूतानां तेजसां नियमेन च ॥ ११४ ।
त्वष्टा यत्तक्षितः सूर्यस्तस्यैवाऽनुमतेन च ।
भ्रमिमारोप्य यत्नेन सोऽतिकान्ततरोऽभवत् ॥ ११५ ।
लब्धाऽनुज्ञोऽथ सविता गत्वोत्तरकुरूनरम् ।
साक्षात्तपोमयीं लक्ष्मीं चरन्तीं च तपो महत् ॥ ११६ ।
ददर्श वडवारूपां वाडवाऽनलतेजसम् ।
नीरसानि तृणान्येव वृष्वन्तीं योगमायया ॥ ११७ ।

क्वचित् ॥ ११२-११३ ।

आर्यचारिणीमार्यवच्चर्तुं शीलं यस्यास्ताम् । नियमेन चेति चकारस्तेजसाऽभि-त्यनेन सम्बध्यते । तेजसेति वा पाठः ॥ ११४ ।

यद्यस्मात्तक्षितः तनूकरणत्वं प्रापितः । भ्रमिं कुन्दम् । 'भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुन्दाख्ये शिल्पयन्त्रके' इति विश्वप्रकाशस्तस्यार्थपरत्वाद्भूमिरपि तथा ॥ ११५ ।

अरं द्रुतम् । अथेति क्वचित् ॥ ११६ । वृष्वन्तीमावृष्वन्तीं भक्षयन्तीमिति यावत् । तृष्वन्तीमिति क्वचित् ॥ ११७ ।

विश्वकर्मा बोले—

हे रवे ! संज्ञा आपके अत्यन्त तेज से भीत हो उत्तर कुरु में जाकर बड़वा-रूप धारणकर शाद्वल (घास) वन में चर रही है ॥ ११३ ।

तेज और नियम के बल से सभी भूतों (प्राणियों) के द्वारा अधृष्या, आर्यचारिणी अपनी भार्या को आज आप देखेंगे ॥ ११४ ।

विश्वकर्मा ने सूर्य को उनकी अनुमति के अनुसार यत्नपूर्वक कूंद (शान) पर चढ़ाकर छोल दिया, जिससे वे बहुत सुन्दर हो गये ॥ ११५ ।

अनन्तर श्वशुर की आज्ञा ले सविता ने झट (पट) उत्तरकुरुदेश में जाकर, बड़ी तपस्या का आचरण करती हुई, साक्षात् तपोमयी लक्ष्मी बडवानल-समान तेजस्विनी, बडवारूपिणी, उसे योगमाया के द्वारा केवल सूखी घासों को चरती हुई देखा ॥ ११६-११७ ।

अनेनसं स विज्ञाय तां त्वाष्ट्रीमश्वरूपिणीम् ।
स हरिर्हरिरूपेण मुखेन समभावयत् ॥ ११८ ।
त्वरमाणा च परितः परपूरुषशङ्कया ।
सा तन्निरवमच्छुक्रं नासिकाभ्यां विवस्वतः ॥ ११९ ।
देवौ तस्मादजायेतामश्विनौ भिषजां वरौ ।
स्वरूपमनुरूपं च द्युमणिस्तामदर्शयत् ॥ १२० ।
तुतोष साऽपि तं दृष्ट्वा मित्रं नेत्रमुदावहम् ।
पतिं पतिव्रता कान्तं स्वान्तसन्तापहारिणम् ॥ १२१ ।
निर्वृत्तिं च परां प्राप दुष्प्रापं तपसाऽथ किम् ।
तप एव परं श्रेयः तप एव परं धनम् ॥ १२२ ।
तप एव हि देवत्वे कारणं परमं मतम् ।
शिवशर्मन् यदेतद्वै दृश्यते चाऽतिदीप्तिमत् ॥ १२३ ।

अनेनसं निष्पापाम् । हरिः सूर्यः । हरिरूपेणाऽश्वरूपेण । हरिरूपोऽभूदिति क्वचित्तदा क्रियाभेदादन्वयभेदः । समभावयत् सङ्गमकरोत् ॥ ११८-११९ ।

निर्वृत्तिं स्वास्थ्यम् । निर्वृतिमिति पाठे सुखम् । युक्तमेतदित्याह । दुष्प्रापमिति ॥ १२२ ।

सूर्य ने अश्वरूपिणी उस विश्वकर्मा की पुत्री को निरपराधिनी विचार कर स्वयं भी अश्वरूप धारण कर उसके मुख में संगम किया ॥ ११८ ।

उस अश्विनीरूपा संज्ञा ने चारों ओर से त्वरामुक्त होकर परपुरुष की शंका से सूर्य के वीर्य को नासिकापुट के द्वारा वमन कर (उगिल) दिया ॥ ११९ ।

उसी से देवताओं के वैद्यवर दोनों अश्विनीकुमार उत्पन्न हुए । फिर सूर्य ने अपना यथार्थ (असली) रूप उसे दिखलाया ॥ १२० ।

तब तो वह पतिव्रता भी, हृदय के संतापहारी, नयनों के आनन्दकारी, सुन्दर-रूपधारी अपने पति सूर्य को देख अत्यन्त सन्तुष्ट हुई और बड़े आनन्द को प्राप्त हुई । (सच है) तपस्या के द्वारा क्या दुर्लभ है ? तपस्या ही परम मंगल है और तपस्या ही उत्तम धन है ॥ १२१-१२२ ।

तपस्या ही को देवता होने का मुख्य कारण माना है । हे शिवशर्मन् ! आकाश

ज्योतिश्चक्रस्वरूपं च व्योमन्युपर्यध एव च।
तत्सर्वमिह जानीहि सुमहत्तापसं महः ॥ १२४ ।

एवं शनैश्चरो जज्ञे सवर्णायां विवस्वतः।
सोऽथ वाराणसीं गत्वा सर्वत्रिदशवन्दिताम् ॥ १२५ ।

तप्त्वा तपोऽतिविपुलं लिङ्गं संस्थाप्य शाङ्करम् ।
इमं लोकमवापोच्चैर्ग्रहत्वं च हराऽर्चनात् ॥ १२६ ।

शनैश्चरेश्वरं दृष्ट्वा वाराणस्यां सुशोभनम् ।
शनिबाधा न जायेत शनिवारे तदर्चनात् ॥ १२७ ।

विश्वेशाद्दक्षिणे भागे शुक्रेशादुत्तरेण हि।
शनैश्चरेशमभ्यर्च्य लोकेऽत्र परिमोदते ॥ १२८ ।

महो ज्योतिः ॥ १२४ ।

शुक्रेशादुत्तरेण शुक्रेश्वरस्योत्तर इत्यर्थः । दक्षिणेनेति पाठश्चिन्त्यः ॥ १२८ ।

में नीचे-ऊपर यह जो अतिदीप्तिमत् ज्योतिश्चक्र का स्वरूप देख रहे हो, इन सबको तपस्या ही का बड़ा भारी तेज समझना चाहिए ॥ १२३-१२४ ।

इस प्रकार सवर्णा छाया के गर्भ से सूर्य के पुत्र शनैश्चर उत्पन्न हुए। पश्चात् वह सर्वदेववन्दिता वाराणसीपुरी में जाकर अतिविपुल तपश्चर्या एवं शिवलिंग की प्रतिष्ठा कर महादेव के समर्चन से इस उच्चलोक तथा ग्रहपद को प्राप्त हुए हैं ॥ १२५-१२६ ।

काशी में सुशोभन शनैश्चरेश्वर लिङ्ग के दर्शन और शनिवार को उस लिंग के पूजन से शनैश्चर की (ग्रह) पीड़ा नहीं होती ॥ १२७ ।

विश्वेश्वर के दक्षिण और शुक्रेश्वर के उत्तर-भाग में शनैश्चर-लिंग की पूजा करने से (मनुष्य) इस शनिलोक में आनन्दलाभ करता है ॥ १२८ ।

श्रुत्वाऽध्यायमिमं पुण्यं ग्रहपीडा न जायते।
नोपसर्गभयं तस्य काश्यां निवसतः सतः ॥ १२९।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे भौमगुरुशनिलोकवर्णनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

एतदध्यायश्रवणफलमाह ॥ श्रुत्वेति ॥ १२९।

॥ इति श्रीरामानन्दवि[illegible]यां काशीखण्डटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

काशी में निवास करते हुए जो कोई इस पुण्यमय अध्याय का श्रवण करेगा, उसे न तो ग्रहजनित पीड़ा होगी और न उपसर्गों का ही भय (कभी) होगा ॥ १२९।

भौम बृहस्पति मन्द की, बरनि प्रथम उत्पत्ति।
ग्रहपदवी पुनि जिमि लही, कही सो तप-सम्पत्ति ॥ १।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां मंगल-बृहस्पति-शनिलोक-कथावर्णनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७।

॥ अथाष्टादशोऽध्यायः ॥

अगस्तिरुवाच—

इति शृण्वन् कथां रम्यां शिवशर्माऽथ माथुरः ।
मुक्तिपुर्यां सुसंस्नातो मायापुर्यां गतासुकः ॥ १ ।
नेत्रयोः प्राघुणीचक्रे ततः सप्तर्षिमण्डलम् ।
व्रजन् स वैष्णवं लोकमन्ते विष्णुपुरीं क्षणात् ॥ २ ।
उवाच च प्रसन्नात्मा स्तुतश्चारणमागधैः ।
प्रार्थितो देवकन्याभिस्तिष्ठ तिष्ठेति च क्षणम् ॥ ३ ।
स्थितासु तासु निःश्वस्य मन्दभाग्या वयन्त्विति ।
गतः पुण्यतमांल्लोकानसौ यत्पुण्यवत्तमः ॥ ४ ।

अष्टादशे मरीच्यत्रिपुलस्त्यपुलहक्रतुः ।
वसिष्ठाऽङ्गिरसां लोको वर्ण्यतेऽत्यन्त उज्ज्वलः ॥ १ ।

इतीति । अथाऽनन्तरं शिवशर्मा इति इत्थं कथां शृण्वन् सप्तर्षिमण्डलं नेत्रयोः प्राघुणीचक्रे प्रत्यक्षीचकारेति सार्धनाऽन्वयः । **व्रजन्निति** । स शिवशर्मा वैष्णवं लोकं व्रजन् गच्छन् हे देवौ कस्याऽयमतुलो लोक इत्युवाच पप्रच्छेति चतुर्थेनाऽन्वयः । चकारः समुच्चये । न केवलं व्रजन् व्रजति उवाच चेत्यर्थः । मागधैर्देवप्रभेदैः ॥ ३ ।

स्थितास्विति । वयं मन्दभाग्या एवेति तासु देवकन्यासु निःश्वस्य स्थितासु सतीषु असौ शिवशर्मा पुण्यतमान् सप्तर्षिलोकान् गतो गतवान् । यतोऽसौ पुण्यवतां मध्ये

(सप्तर्षिलोक-वृत्तान्त)

अगस्त्य बोले—

मुक्तिपुरी में सुस्नात, हरिद्वार में प्राणत्याग करने वाला मथुरा-निवासी शिवशर्मा विष्णुपुरी के दर्शन-प्रभाव से अन्त में विष्णुलोक को गमन करता हुआ इस कथा को सुनते-सुनते सप्तर्षिमण्डल को दृष्टिगोचर करने लगा ॥ १-२ ।

चारण और मागधगण शिवशर्मा की बड़ाई करने लगे । देवकन्याएँ "इस स्थान पर क्षण भर ठहर जाइये, ठहर तो जाइये" ऐसी प्रार्थना करने लगीं ॥ ३ ।

फिर तिस पर ऊँची सांस लेकर उन सबों के खड़ी होकर इस कहने के पीछे कि "हम लोग बड़ी ही मन्दभाग्या हैं । (देखो) यह बड़ा ही पुण्यभागी नर है, जो परम पवित्र लोक में जा रहा है" ॥ ४ ।

इति शृण्वन् मुखात्तासां वचनानि विमानगः ।
देवौ कस्याऽयमतुलो लोकस्तेजोमयः शुभः ॥ ५ ।
इति द्विजवचः श्रुत्वा प्रोचतुर्गणसत्तमौ ।
शिवशर्मन् शिवमते सदा सप्तर्षयोऽमलाः ॥ ६ ।
वसन्तीह प्रजाः स्त्रष्टुं विनियुक्ताः प्रजासृजा ।
मरीचिरत्रिः पुलहः पुलस्त्यः क्रतुरङ्गिराः ॥ ७ ।
वसिष्ठश्च महाभागो ब्रह्मणो मानसाः सुताः ।
सप्तब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥ ८ ।
सम्भूतिरनसूया च क्षमा प्रीतिश्च सन्नतिः ।
स्मृतिरूर्जाक्रमादेषां पत्न्यो लोकस्य मातरः ॥ ९ ।

श्रेष्ठ इत्यगस्त्यवाक्यम् । इति तिष्ठ तिष्ठेत्यादिवचनानि शृण्वन्नित्यन्वयः । असौ पुण्यतमान् लोकान् गतो यतोऽसौ पुण्यकृत्तमो वयं मन्दभाग्याः स्वल्पपुण्या इति तासु निःश्वस्य स्थितासु सतीषु उवाचेति पूर्वेणैवाऽन्वयः । गन्तेति पाठे गमिष्यतीत्यर्थः ॥४-५।

सदा शिवा मङ्गलरूपा शिवे वा मतिर्यस्य । शिवगत इति पाठे शिव एव गतिर्यस्य । शेष पूर्ववत् । उभयपाठे तत्सम्बोधनं तथा । सदेत्यत्रापीति कचित्पाठः ॥ ६ ।

प्रजासृजा ब्रह्मणा ॥ ७ ।

सुताः पुत्राः । प्रजा इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ८ ।

ऊर्जा अरुन्धती ॥ ९ ।

विमानस्थित शिवशर्मा उन सबों के मुख से ये सब बातें सुनता हुआ उन विष्णु-पारिषदों से पूछने लगा—हे देव ! यह तेजोमय अनुपम शुभलोक किसका है ॥ ५ ।

द्विज के इन वचनों को सुनकर दोनों गणसत्तम कहने लगे—हे शिवशर्मन् ! विधाता के नियुक्त निर्मल सप्तर्षि प्रजाओं की सृष्टि के निमित्त इस स्थान पर सदा वास करते हैं । मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और वशिष्ठ, ये सातों महाभाग ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं, ये सब पुराण में सप्त ब्रह्मा कहकर निश्चित किये गये हैं ॥ ६-८ ।

संभूति, अनसूया, क्षमा, प्रीति, सन्नति, स्मृति और अरुन्धती ये सातों क्रमानुसार उन सप्तर्षियों की पत्नियाँ हैं, और ये ही (सातों) लोकमाताएँ भी हैं ॥ ९ ।

एतेषां तपसा चैतद्धार्यते भुवनत्रयम् ।
उत्पाद्य ब्रह्मणा पूर्वमेते प्रोक्ता महर्षयः ॥ १० ।
प्रजा सृजत रे पुत्रा नानारूपाः प्रयत्नतः ।
ततः प्रणम्य ब्रह्माणं तपसे कृतनिश्चयाः ॥ ११ ।
अविमुक्तं समासाद्य क्षेत्रं क्षेत्रज्ञधिष्ठितम् ।
मुक्तये सर्वजन्तूनामविमुक्तं शिवेन यत् ॥ १२ ।
प्रतिष्ठाप्य च लिङ्गानि ते स्वनाम्नाङ्कितानि च ।
शिवेति परया भक्त्या तेपुरुग्रन्तपो भृशम् ॥ १३ ।
तुष्टस्तत्तपसा शम्भुः प्राजापत्यपदं ददौ ।
लिङ्गान्यत्रीश्वरादीनि दृष्ट्वा काश्यां प्रयत्नतः ॥ १४ ।
प्राजापत्येऽत्र ते लोके वसन्त्युज्ज्वलतेजसः ।
गोकर्णेशस्य सरसः प्रत्यक्तीरे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ।

तत इति । तत आज्ञादानाऽनन्तरं ते मुनयोऽविमुक्तं समासाद्य तत्र स्वनाम्ना लिङ्गानि प्रतिष्ठाप्य शिवे परया भक्त्याऽति अत्यर्थमुक्तं तपस्तेपुरित्यग्रिमेणाऽन्वयः ॥११॥

कीदृशमविमुक्तम् ? क्षेत्रज्ञेन ईश्वरेण धिष्ठितमाश्रितमित्यर्थः । विष्ठितमिति पाठे विशेषेणाधिष्ठितमित्यर्थः । अविमुक्तनामनिरुक्तिर्मुक्तय इति । सकलप्राणिनां मुक्त्यै शिवेनाविमुक्तं न त्यक्तं यत्तदविमुक्तमित्यर्थः । यद्यस्मादिति वा ॥ १२-१३ ।

प्राजापत्ये प्रजापतीनां मरीच्यादीनां सम्बन्धिनि । गोकर्णेशस्य सरसः प्रत्यक्तीरे पश्चिमे तीरे प्रतिष्ठितं प्रतिष्ठाविधिना स्थापितमित्यर्थः । गोकर्णस्यास्येति पाठे बुद्धिसन्निहितत्वादस्येति निर्देशः ॥ १५ ।

इन्हीं सप्तर्षियों के तपोबल से त्रिभुवन रक्षित है। पूर्वकाल में ब्रह्मा ने इन लोगों को उत्पन्न करके कहा—"हे पुत्रों ! प्रयत्नपूर्वक नानारूप को प्रजाओं की सृष्टि करो"। अनन्तर तपस्यार्थ कृतनिश्चय सप्तर्षिगण ब्रह्मा को प्रणाम कर सब जन्तुओं के मुक्तिजन्य शिव जहाँ पर विराजमान रहते हैं, उसी क्षेत्रज्ञ ईश्वर के अधिष्ठित अविमुक्त क्षेत्र में पहुँचकर वे सब अपने-अपने नाम से अंकित शिवलिंगों की स्थापना कर शिव पर प्रगाढ़ भक्तियोग से अत्युग्र तपस्या करने लगे ॥ १०-१३ ।

शिव ने उन सबकी तपश्चर्या से सन्तुष्ट होकर उन लोगों को प्रजापति का पद प्रदान किया। काशी में अत्रीश्वरादिक लिंगों को यत्नपूर्वक देखने से यहाँ इस प्रजापति-लोक (सप्तर्षिमंडल) में उज्ज्वल तेज से सम्पन्न होकर वास मिलता है। गोकर्णेश्वर

लिङ्गमत्रीश्वरं दृष्ट्वा ब्रह्मतेजोऽभिवर्धते ।
कर्कोटवाप्या ईशाने मरीचेः कुण्डमुत्तमम् ॥ १६ ।
तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या भ्राजते भास्करो यथा ।
मरीचीश्वरसंज्ञं तु तत्र लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ॥ १७ ।
तल्लिङ्गदर्शनाद्विप्र मारीचं लोकमाप्नुयात् ।
कान्त्या मरीचिमालीव शोभते पुरुषर्षभः ॥ १८ ।
पुलहेशपुलस्त्येशौ स्वर्गद्वारस्य पश्चिमे ।
तौ दृष्ट्वा मनुजो लोके प्राजापत्ये महीयते ॥ १९ ।
हरिकेशवने रम्ये दृष्ट्वैवाङ्गिरसेश्वरम् ।
इह लोके वसेद्विप्र तेजसा परिबृंहितः ॥ २० ।
वरणायास्तटे रम्ये दृष्ट्वा वासिष्ठमीश्वरम् ।
क्रत्वीश्वरं च तत्रैव लभते वसतिन्त्विह ॥ २१ ।

मरीचिमाली सूर्यः ॥ १८ ।

इह वाराणस्यां सप्तर्षिमण्डले वा ॥ २१ ।

सरोवर के पश्चिम तीर पर प्रतिष्ठित अत्रीश्वर लिंग के दर्शन से ब्रह्मतेज वृद्धि होती है। कर्कोट वापी के ईशानकोण पर मरीचि का उत्तम कुण्ड है ॥ १४-१६ ।

मनुष्य वहाँ पर भक्तिपूर्वक स्नान करके सूर्य की तरह दीप्तिमान् होता है और उसी स्थान पर मरीचीश्वर नामक लिंग प्रतिष्ठित है ॥ १७ ।

हे विप्र ! उस लिंग के दर्शन से मरीचिलोक की प्राप्ति होती है, और वह पुरुषश्रेष्ठ (जो दर्शन करता है) मरीचिमाली (सूर्य) के समान कान्तिमान् हो जाता है ॥ १८ ।

पुलहेश्वर और पुलस्त्येश्वर ये दोनों लिंग स्वर्गद्वार के पश्चिम ओर अवस्थित हैं। मनुष्य उनके दर्शन से प्रजापतिलोक में सम्मानित होकर वास करता है ॥ १९ ।

हे विप्र ! रम्यतर हरिकेश वन में आंगिरेश्वर-लिंग के अवलोकन करने से, तेज के द्वारा परिपूर्ण होकर इस लोक में वास प्राप्त होता है ॥ २० ।

वरणा नदी के रमणीय (सोहावन) तट पर स्थित वशिष्ठेश्वर एवं क्रत्वीश्वर का दर्शन करने पर भी इसी प्राजापत्यलोक में निवास प्राप्त होता है ॥ २१ ।

काश्यामेतानि लिङ्गानि सेवितानि शुभैषिभिः ।
मनोऽभिवाञ्छितं दद्युरिहलोके परत्र च ॥ २२ ।

गणावूचतुः—

शिवशर्मन् महाभाग तिष्ठते साऽत्र सुन्दरी ।
अरुन्धती महापुण्या पतिव्रतपरायणा ॥ २३ ।
यस्याः स्मरणमात्रेण गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
अन्तःपुरचरैर्द्वित्रैः पवित्रैः सहितो विभुः ॥ २४ ।
सदा नारायणो देवो यस्याश्चक्रे कथां मुदा ।
कमलायाः पुरोभागे पातिव्रत्यसुतोषितः ॥ २५ ।
पतिव्रतास्वरुन्धत्याः कमले विमलाशयः ।
यथाऽस्ति न तथाऽन्यस्याः कस्याश्चित्क्वापि भामिनि ॥२६।

शुभैषिभिः कैवल्येप्सुभिः ॥ २२ ।

वसिष्ठस्याप्यरुन्धतीमिति भागवतोक्तेरपिशब्दाद्वसिष्ठस्यान्या पत्न्यस्ति साऽप्यत्र तिष्ठतीत्याहतुः । पतिव्रतेति ॥ २३ ।

हे **कमले** हे भामिनि पतिव्रतासु मध्ये यथाऽरुन्धत्या विमलाशयोऽस्ति विमलश्चासावाशयश्चेति विमलाशयः शुद्धान्तःकरणमित्यर्थः । न तथा कुत्राऽप्यन्यस्याः कस्याश्चिदित्यर्थः ॥ २६ ।

यदि कोई कल्याण की अभिलाषा से काशी में इन लिंगों का सेवन करे, तो ये सब सेवकों की ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की मनोवांछाओं को परिपूर्ण कर देते हैं ॥ २२ ।

गणों ने कहा—

महाभाग शिवशर्मन् ! यहाँ पर वह महापुण्यवती, पतिव्रतपरायणा, सुन्दरी अरुन्धती निवास करती हैं, जिसके स्मरणमात्र से गंगास्नान का फल प्राप्त होता है और अन्तःपुरचारी दो-तीन पवित्र व्यक्तियों के साथ विभु नारायणदेव पातिव्रत्यधर्म से परम संतुष्ट होकर सर्वदेव जिसकी कथा (चर्चा) हर्षपूर्वक लक्ष्मी देवी के सन्मुख किया ही करते हैं ॥ २३-२५ ।

हे कमले ! पतिव्रताओं के मध्य में अरुन्धती का जैसा निर्मल आशय है, हे भामिनि ! अन्य किसी रमणी का वैसा शुद्ध अन्तःकरण कहीं भी नहीं है ॥ २६ ।

न तद्रूपं न तच्छीलं न तत्कौलीन्यमेव च।
न तत्कलासु कौशल्यं पत्युः शुश्रूषणं न तत् ॥ २७।
न माधुर्यं न गाम्भीर्यं न चार्यपरितोषणम्।
अरुन्धत्या यथा देवि तथाऽन्यासां क्वचित्प्रिये ॥ २८।
धन्यास्ता योषितो लोके सभाग्याः शुद्धबुद्धयः।
अरुन्धत्याः प्रसङ्गे या नामाऽपि परिगृह्णते ॥ २९।
यदा पतिव्रतानां तु कथाऽस्मद्भवने भवेत्।
तदा प्राथमिकीं रेखामेषाऽलङ्कुरुते सती ॥ ३०।

न तदिति श्लोकद्वयं वाक्यम्। हे देवि हे प्रिये अरुन्धत्यां यथा रूपादीनि तथाऽन्यासां न सन्तीत्यर्थः। तत् प्रसिद्धम्। शुश्रूषणं न वेति क्वचित्पाठः ॥ २७।

आर्यपरितोषणं श्वशुरादीनां शुश्रूषणम् ॥ २८।

धन्या इति। याः स्त्रियः प्रसङ्गेऽवसरेऽरुन्धत्या नामाऽपि नाममात्रमपि परिगृह्णते परिगृह्णन्ति ता योषितो धन्या इत्यर्थः। प्रसङ्गेन यन्नाम परिगृह्यत इति क्वचित्पाठस्तत्राऽरुन्धत्याः प्रसङ्गेन यन्नाम यासां नाम परिगृह्यते, ता योषित इत्यादि पूर्ववत् ॥ २९।

यदेति। अस्मद्भवने वैकुण्ठे यदा पतिव्रतानां कथा भवेत्तदा प्राथमिकीं रेखामेषाऽरुन्धती सती पतिव्रताऽलङ्कुरुते। पतिव्रतानां गणनायां यदा रेखा ध्रियन्ते, तदा प्रथमा रेखा एतन्नाम्ना ध्रियते। सर्वपतिव्रतानां मध्ये श्रेष्ठत्वादस्या इति भावः ॥ ३०।

हे देवि! न वह रूप, न वह शील, न वह कौलीन्य, न वह कलाओं में कुशलता, न वह पति का शुश्रूषण, न वह माधुर्य, न वह गाम्भीर्य और न वह गुरुजन का परितोषण, हे प्रिये! ये सब (गुण) जैसे अरुन्धती में हैं, कहीं पर और किसी स्त्री में नहीं पाये जाते ॥ २७-२८।

जो स्त्रियाँ वार्ताप्रसंग पड़ने पर भी अरुन्धती का नाममात्र ले लेती हैं, संसार में वे सब शुद्धबुद्धि सौभाग्यवती रमणियाँ धन्य हैं ॥ २९।

मेरे गृह में जब कभी पतिव्रताओं की चर्चा उठती है, तो यह सती अरुन्धती सबसे प्रथमरेखा को अलंकृत करती है ॥ ३०।

ब्रुवतोरिति संकथां तथा गणयोर्वैष्णवयोर्मुदावहाम् ।
ध्रुवलोक उपागतस्ततो नयनातिथ्यमतथ्यवर्जितः ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे सप्तर्षिलोकवर्णनं नामाऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

ब्रुवतोरिति। ततस्तदनन्तरं वैष्णवयोर्गणयोर्नयनातिथ्यं नेत्रगोचरं ध्रुवलोक उपागतः प्राप्त इत्यन्वयः। कीदृशोर्गणयोः? इत्युक्तप्रकारां संकथां समीचीनां कथां ब्रुवतोर्ब्रुवाणयोः। कीदृशीं कथाम्? मुदावहाम्। कथम्भूतो लोकः? अतथ्यवर्जितो दैनन्दिनप्रलयरहितस्त्रैलोक्यनाशेऽप्यविनश्वर इति यावत्। तथा च भागवते भगवद्वचनम्—'स्थास्नुः परस्तात् कल्पवासिनाम्' इति ॥ ३१ ॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार हर्षप्रद कथनोपकथन करते हुए वे दोनों वैष्णवगण आकल्प सत्यमय ध्रुवलोक को दृष्टिगोचर करने लगे ॥ ३१ ॥

अति पुनीत सप्तर्षि के, मण्डल को छबि देख।
शिवशर्मा हरिदूत सम, भयहु प्रसन्न विशेष ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्द्धे भाषायां सप्तर्षिलोकवर्णनं नामाऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

॥ अथैकोनविंशोऽध्यायः ॥

शिवशर्मोवाच—

तिष्ठन्नेकेन पादेन कोऽयं भ्रमति सत्तमौ ।
अनेकरसनाव्यग्रहस्ताग्रो व्यग्रलोचनः ॥ १ ।
त्रिलोकीमण्डपस्तम्भसन्निभोभाभिरावृतः ।
अतुलं ज्योतिषां राशिं तुलया तुलयन्निव ॥ २ ।
सूत्रधार इव व्योमव्यायामपरिमापकः ।
त्रैविक्रमोंघ्रिदण्डो वा प्रोद्दण्डो गगनाङ्गणे ॥ ३ ।

एकोनविंशकेऽध्याय उपरिष्टात्त्रिलोकतः ।
वर्ण्यतेऽत्यद्भुताकारो ध्रुवलोको ध्रुवः परः ॥ १ ।

ध्रुवलोक उपागतस्ततो नयनातिथ्यमित्युक्तं तत्र तिष्ठन्निति प्रथमश्लोकेन सन्दिग्धत्वेनानूद्य त्रिलोकीत्यादिना सार्धद्वयेन मध्ये चतुर्धोत्प्रेक्ष्य पश्चात् कोऽयमित्यर्थेन पृच्छति । **तिष्ठन्नेकेनेत्यादिना** । एकेन पादेनार्थादेकं पादमुत्तोल्येत्यर्थः । यद्वा एकेन पादेन एकरूपत्वेन स्थितेन पादद्वयेनेत्यर्थः । तिष्ठन् हे सत्तमौ सतां मध्ये श्रेष्ठौ कोऽयं भ्रमति ? कथम्भूतः ? अनेकरसनाव्यग्रहस्ताग्रो नानाविधवातमयरज्ज्वाकुलकराङ्गुलिः । व्यग्रलोचनः चञ्चलनेत्रः ॥ १ ।

त्रिलोक्येव मण्डपस्तस्य स्तम्भसन्निभः स्थूणासदृशः । भाभीरश्मिभिरावृतः । एवं सन्देहास्पदत्वेनानूद्य चतुर्धोत्प्रेक्षते । अतुलमपरिमितं ज्योतिषां सूर्यादीनां राशिं तुल्या परिमाणपात्रेण तुलयन्निव परिमाणयन्निवेत्यर्थः ॥ २ ।

व्योमव्यायामस्याकाशविस्तारस्य परिमापकः परिगणको वा । अग्रिमस्य वाशब्दस्याऽत्रानुषङ्गः । क इव ? सूत्रधार इव । यथा गृहीतसूत्रः स्थपत्यादिर्गृहादिभूमिं

(ध्रुवोपाख्यान में ध्रुव का त्याग)

शिवशर्मा कहने लगे—

हे दोनों सत्तम ! एक पद को मोड़े (एक पाँव से खड़ा) वायुमय अनेक रज्जु (डोरी) के खीचने में व्याकुल हस्ताग्र, चंचल नेत्र यह कौन घूम रहा है ?॥ १ ।

यह तेज से व्याप्त, त्रैलोक्य-मंडप के स्तंभसदृश पुरुष, तो मानो (तुला) तराजू पर अतुलनीय ज्योतिराशि को तौल रहा है, (अथवा) सूत्रधार (नट) के नाईं आकाश-विस्तार को माप (नाम) रहा है, या गगनांगण में उत्थित (खड़ा हुआ) त्रिविक्रम

अथवाऽम्बरकासारसारयूपस्वरूपधृक् ।
कोऽयं कथ्यतां देवौ कृपया परया मम ॥ ४ ।
निशम्येति वचस्तस्य वयस्यस्य विमानगौ ।
[1]प्रणयादाहतुस्तस्मै ध्रुवां ध्रुवकथां गणौ ॥ ५ ।

गणावूचतुः—

मनोः स्वायम्भुवस्यासीदुत्तानचरणः सुतः ।
तस्य क्षितिपतेर्विप्र द्वौ सुतौ संबभूवतुः ॥ ६ ।
सुरुच्यामुत्तमो ज्येष्ठः सुनीत्यां तु ध्रुवोऽपरः ।
मध्येसभं नरपतेरुपविष्टस्य चैकदा ॥ ७ ।

परिमापयति, तद्वदित्यर्थः । परिमाणक इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । त्रिविक्रमो वामनः तदीयस्त्रैविक्रमोंघ्रिदण्डः पाददण्डो वा । कथं भूतः ? प्रोद्दण्डो महत्तर इत्यर्थः । गगनमेवाऽङ्गणं प्राङ्गणं तस्मिन् ॥ ३ ।

अथवाऽम्बरमाकाशमेव कासारः सरस्तत्र सारयूपस्वरूपधृक् यूपस्वरूपभृत् । तदेवं चतुर्धोत्प्रेक्ष्य पृच्छति । **कोऽयमिति** ॥ ४ ।

निशम्येत्यगस्त्योक्तिः । ध्रुवां ध्रुवफलां निश्चितफलां निश्चितार्थामिति यावत् ॥ ५ ।

उत्तानचरण उत्तानपादः ॥ ६ ।

अपरः कनिष्ठः । मध्येसभं सभाया मध्ये ॥ ७ ।

(विराट्) भगवान् का चरण है । अथवा हो न हो, यह आकाशरूपी सरोवर के सारयूप (खंभा, लाट) ही का सरूप धारण किये है । हे देव ! यह कौन है ? बड़ी कृपा कर मुझसे कहिये ॥ २-४ ।

विमानस्थित दोनों देवदूत (विष्णुगण) अपने मित्र के इस वचन को सुनकर प्रणयवश ध्रुव के चिरस्थायी होने का वृत्तान्त कहने लगे ॥ ५ ।

दोनों गण बोले—

स्वायंभुव मनु के उत्तानपाद नामक एक पुत्र थे । हे विप्र ! उस राजा के दो पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ६ ।

सुरुचि के ज्येष्ठ पुत्र उत्तम और सुनीति के दूसरे पुत्र ध्रुव हुए । एक बार सभा के मध्य में राजा विराजमान थे, तो सुनीति ने अपने पुत्र ध्रुव को वेष-भूषण से

---

१. प्रणयादूचतुरित्यपि पाठः ।

सुनीत्या राजसेवार्थं नियुक्तोऽलङ्कृतोऽर्भकः ।
ध्रुवो धात्रेयिकापुत्रैः समं विनयतत्परः ॥ ८ ।
स गत्वोत्तानचरणं क्षोणीशं प्रणनाम ह ।
दृष्ट्वोत्तमं तदुत्सङ्गे निविष्टं जनकस्य वै ॥ ९ ।
प्रोच्चसिंहासनस्थस्य नृपतेर्बाल्यचापलात् ।
आरोढुकामस्त्वभवत्सौनीतेयस्तदा ध्रुवः ॥ १० ।
आरुरुक्षुमवेक्ष्याऽमुं सुरुचिर्ध्रुवमब्रवीत् ।
दौर्भगेय किमारोढुमिच्छेरङ्कं महीपतेः ॥ ११ ।
बालबालिशबुद्धित्वादभाग्या जठरोद्भव ।
अस्मिन् सिंहासने स्थातुं न त्वया सुकृतं कृतम् ॥ १२ ।
यदि स्यात्सुकृतं तत्कि दुर्भगोदरगोऽभवः ।
अनेनैवाऽनुमानेन बुध्यस्व स्वाऽल्पपुण्यताम् ॥ १३ ।

नियुक्तः प्रेषितः । धात्रेयिकापुत्रैरुपमातृकापुत्रैः सह ॥ ८ ।
आरोढुकाम आरुरुक्षुमित्यत्र च अग्रिमस्याङ्कमित्यस्यानुषङ्गः ॥ १० ।
दौर्भगेय दुर्भगायाः पुत्रः ॥ ११ ।
बाल हे बालक । बालिशबुद्धित्वान्मूर्खबुद्धित्वात् ॥ १२ ।
तत्तदा । किं कथम् । अभवो जातोऽसि ॥ १३ ।

सुसज्जित कर राजा की सेवा में भेजा । विनयतत्पर ध्रुव ने धात्री के बालकों के साथ राजसभा में उपस्थित होकर राजा उत्तानपाद को प्रणाम किया । उस घड़ी सुनीति के पुत्र ध्रुव ने ऊँचे सिंहासन पर बैठे हुए पिता महाराज की गोद में उपविष्ट उत्तम को देखा । बाल्य-चपलता के कारण स्वयं भी उस पर चढ़ना चाहा ॥ ७-१० ।

सुरुचि ने ध्रुव को राजा की गोद में बैठने का अभिलाषी देखकर कहा—रे दुर्भगा-पुत्र ! लड़के ! क्या लड़कपन की बुद्धि से महाराज की गोद में चढ़ना चाहता है ? अरे अभागिनीगर्भसंभूत ! इस सिंहासन पर बैठने का तू ने पुण्य नहीं किया है ॥ ११-१२ ।

यदि कुछ भी पुण्य किया होता, तो दुर्भगा के उदर से क्यों उत्पन्न होता ? इसी अनुमान के द्वारा अपनी अल्पपुण्यता का विषय-विचार देख राजकुमार होने पर भी

भूत्वा राजकुमारोऽपि नालङ्कुर्या ममोदरम् ।
सुकुक्षिजममुं पश्य त्वमुत्तममनुत्तमम् ॥ १४ ।
अधिजानु धराजानेर्मानेन परिबृंहितम् ।
प्रांशोः सिंहासनस्यास्य रुचिश्चेदधिरोहणे ॥ १५ ।
कुक्षिं हित्वा किमवसः सुरुचेश्च सुरोचिषम् ।
मध्ये भूपसभं बालस्तयेति परिभर्त्सितः ॥ १६ ।
पतन्निपीतबाष्पाम्बुर्धैर्यात् किञ्चिन्न चोक्तवान् ।
उचिताऽनुचितं किञ्चिन्नोचिवान् सोऽपि पार्थिवः ॥ १७ ।
नियन्त्रितो महिष्याश्च तस्याः सौभाग्यगौरवात् ।
विसृज्य च सभालोकं शोकं संमृज्य चेष्टितैः ॥ १८ ।

नालङ्कुर्याः नालंकृतवानसि । न विद्यते उत्तमो यस्मात् स तथा तमनुत्तमम् ॥ १४ ।

धराजानेः पृथ्वीपतेः । परिबृंहितमुपलालितम् । प्रांशोरिति । अस्य प्रांशोरुच्चस्य सिंहासनस्याऽधिरोहणे रुचिश्चेत्तदा सुरुचेर्मम कुक्षिमुदरं हित्वा किं किमर्थमवसो वसतिं कृतवानसि सुनीतेः कुक्षाविति शेषः । कथम्भूतं कुक्षिम् ? सुरोचिषं सुष्ठु दीप्तिमन्तम् ॥ १५-१६ ।

पतन्निर्गच्छन्निपीतं बाष्पाम्बु नेत्रजलं येन स पतन्निपीतबाष्पाम्बुः । उचिताऽनुचितम्, भद्राऽभद्रम् ॥ १७ ।

उचिताऽनुचितानुक्तौ हेतुस्तस्याः सुरुच्याः पट्टमहिष्याः सौभाग्यगौरवात् सौभाग्याऽतिशयेन नियन्त्रितो वशीकृत इति ॥ १८ ।

तू मेरे गर्भ को अलंकृत नहीं कर सका । सुन्दर कुक्षि (कोंख—गर्भ) से उत्पन्न हुए परमोत्तम उत्तम को देखो । महीपति की गोद में (जांघों पर) बैठकर आदर और गौरव के साथ कैसा वर्द्धित हो रहा है ? यदि इस ऊँचे सिंहासन पर बैठने की रुचि थी, तो सुरुचि के शोभन गर्भ को छोड़कर दूसरी के उदर में क्यों वसा (रहा) ? राजसभा के बीच सुरुचि ने उस बालक ध्रुव को बहुत ही डपटा (धिक्कारा) ॥ १३-१६ ।

पर ध्रुव गिरते हुए अश्रुजल को पीकर धैर्यवश कुछ नहीं बोला और महिषी सुरुचि के सौभाग्य-गौरव से जकड़े (नियन्त्रित) हुए भूपाल ने भी उचित-अनुचित कुछ भी नहीं कहा । बालक ध्रुव भी सभादर्शन को छोड़, बालोचित चेष्टाओं द्वारा शोक छिपा

शैशवैः स शिशुर्नत्वा नृपं स्वसदनं ययौ।
सुनीतिर्नीतिनिलयमवलोक्याऽथ बालकम् ॥ १९ ॥
मुखलक्ष्यैव चाज्ञासीत् ध्रुवं समवमानितम्।
अभिसृत्य च तं बालं मूर्ध्न्युपाघ्राय साऽसकृत् ॥ २० ॥
किञ्चित्परिम्लानमिव ससान्त्वं परिषस्वजे।
अथ दृष्ट्वा सुनीतिं स रहोऽन्तःपुरवासिनीम् ॥ २१ ॥
दीर्घं निःश्वस्य बहुशो मातुरग्रे रुरोद ह।
सान्त्वयित्वाऽश्रुनयना वदनं परिमार्ज्य च ॥ २२ ॥
दुकूलाञ्चलसम्पर्कैर्मृदुलैर्मृदुपाणिना।
पप्रच्छ तनयं माता वद रोदनकारणम्।
विद्यमाने नरपतौ शिशुः केनाऽपमानितः ॥ २३ ॥

शैशवैः शिशुसम्बन्धिभिश्चेष्टितैः। शोकं संमृज्य प्रकटमकृत्वा स ध्रुवः शिशुर्बालः। शिशुभिः सह सशिशुरिति वा ॥ १९ ॥

मुखलक्ष्म्या मुखशोभया म्लानमुखश्रियेत्यर्थः। समवमानितं सम्यगवज्ञातम् ॥ २० ॥

किञ्चित्परिम्लानमिव मनाक् ग्लानमिव। ससान्त्वनसहितं यथा स्यात् परिषस्वजे आलिङ्गितवती ॥ २१ ॥

दुकूलाञ्चलसम्पर्कैः पट्टवस्त्रान्तसंघर्षणैः। कथम्भूतैः ? मृदुलैः कोमलैः ॥ २३ ॥

राजा को प्रणाम कर अपने घर चला गया। सुनीति भी नीतिशाली उस (अपने) बालक को देखकर मुखश्री के द्वारा ही ध्रुव को अपमानित समझ गयी। सुनीति ने तुरन्त समीप जाकर बारम्बार उसका मस्तक सूँघते हुए मानो कुछ कुम्हिलाये हुए (म्लान) ध्रुव को सांत्वना करती (चुमकारती) हुई हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् सुनीति को निर्जन अन्तःपुर में अकेली देखकर ध्रुव बड़ी लंबी सांस लेकर माता के आगे रोदन करने लगा। माता ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से पुत्र को समझाया और कोमल हस्त से, मृदुल वस्त्र के अंचलों से उसके मुख को पोंछकर पूछा—कहो (तो सही) क्यों रोते हो? बेटा! राजा के विद्यमान रहते ही किसने तुम्हारा अपमान किया? ॥ १७-२३ ॥

अपोऽथ समुपस्पृश्य ताम्बूलं परिगृह्य च ।
मात्रा पृष्टः सोपरोधं ध्रुवस्तां पर्यभाषत ॥ २४ ।
संपृच्छे जननि त्वाऽहं सम्यक् शंस ममाऽग्रतः ।
भार्यात्वेऽपि च सामान्ये कथं सा सुरुचिः प्रिया ॥ २५ ।
कथं न भवती मातः प्रिया क्षितिपतेरसि ।
कथमुत्तमतां प्राप्त उत्तमः सुरुचेः सुतः ॥ २६ ।
कुमारत्वेऽपि सामान्ये कथं त्वहमनुत्तमः ।
कथं त्वं मन्दभाग्याऽसि सुकुक्षिः सुरुचिः कथम् ॥२७ ।
कथं नृपासनं योग्यमुत्तमस्य कथं न मे ।
कथं मे सुकृतं तुच्छमुत्तमस्योत्तमं कथम् ॥ २८ ।
इति श्रुत्वा वचस्तस्य सुनीतिर्नीतिमच्छिशोः ।
किञ्चिदुच्छ्वस्य शनकैः शिशुकोपोपशान्तये ॥ २९ ।

केनास्यमानितः केन जनेनापमानिताऽवमानितस्तिरस्कृतोऽसि भवसि जातोऽसीत्येतत् । सोपरोधं उपरोधसहितं यथा स्यात् । यद्वा सोपरोधमन्तःपुरं निभृतमित्येतत् । स ध्रुवस्तामिति पाठे तां मातरं पर्यभाषत परितोभावेन पप्रच्छेत्यर्थः ॥ २४ ।

भाषणमेवाह । संपृच्छे इति चतुर्भिः । संपृच्छे पृच्छामि । जननि हे मातः । त्वा त्वाम् । सम्यक् शंस सत्यं कथय ॥ २५ ।

अहं ते सुत इत्यनुषज्जते । अनुत्तमोऽपकृष्टस्तुच्छ इत्यर्थः ॥ २७ ।

नीतिमद्वच इत्यन्वयः । नीतिमांश्चासौ शिशुश्चेति नीतिमच्छिशुः । नीतिमच्छिशोस्तस्य ध्रुवस्य वचः इति वाऽन्वयः ॥ २९ ।

इसके अनन्तर जल से कुल्लाकर पान ले (खाय) माता के सहठ पूछने पर ध्रुव उससे कहने लगा—माता ! मैं तुमसे पूछता हूँ, मुझसे ठीक-ठीक कहना । तुम और सुरुचि दोनों ही जब महाराज की एक ही रीति की भार्य्या हो, तो वह सुरुचि ही क्यों प्रियतमा है ॥ २४-२५ ।

हे माता ! तुम क्यों भूपति की प्यारी नहीं हो ? समान राजकुमार होने पर भी क्यों उत्तम उत्तम है, और मैं अनुत्तम हूँ ? क्यों तुम मन्दभाग्या हो और सुरुचि क्यों सुकुक्षि है ? क्यों राजा का सिंहासन उत्तम के योग्य है, पर मेरे योग्य नहीं है ? क्यों मेरा पुण्य तुच्छ है और उत्तम का उत्कृष्ट है ? ॥ २६-२८ ।

राजनीति विशारदा सुनीति ने नीतिमान् बालक ध्रुव की इस वाणी को सुनकर धीरे-धीरे कुछ लम्बी सांस लेकर लड़के के कोप-शान्ति-निमित्त सापत्न्य-

स्वभावमधुरां वाणीं वक्तुं समुपचक्रमे ।
सापत्नं प्रतिघं त्यक्त्वा राजनीतिविदांवरा ॥ ३० ।

सुनीतिरुवाच—

अयि तात महाबुद्धे विशुद्धेनान्तरात्मना ।
निवेदयामि ते सर्वं माऽपमाने मतिं कृथाः ॥ ३१ ।
तया यदुक्तं तत्सर्वं तथ्यमेव न चाऽन्यथा ।
सा पत्युर्महिषी राज्ञो राज्ञीनामतिवल्लभा ॥ ३२ ।
तया जन्मान्तरे तात यत्पुण्यं समुपार्जितम् ।
तत्पुण्योपचयाद्राजा सुरुच्यां सुरुचिर्भृशम् ॥ ३३ ।
मादृश्यो मन्दभाग्यायाः प्रमदा सुप्रतिष्ठिताः ।
केवलं राजपत्नीत्ववादस्तासु न तद्रुचिः ॥ ३४ ।

सापत्नं सपत्नीविषयं प्रतिघं प्रतिकूलं प्रतिपक्षमिति यावत् ॥ ३० ।

अयोति सानुकम्पसम्बोधने । कृथाः कुरु ॥ ३१ ।

मादृश्य इति । प्रमदासु मध्ये प्रतिष्ठिताः स्थिता मादृश्यो या मन्दभाग्यास्तास्वस्माकं केवलं राजपत्नीत्ववादो नृपभार्यात्वकथनमात्रं न तद्रुचिः तस्योत्तानपादस्य राज्ञो रुचिः प्रीतिर्नास्तीत्यर्थः ॥ ३४ ।

प्रतिपक्षता (सवतिया डाह) को छोड़कर स्वभावतः मधुर वचन कहना आरम्भ किया ॥ २९-३० ।

सुनीति बोली—

अयि ! महाबुद्धे ! तात (भैया) ! मैं तुमसे विशुद्ध अन्तःकरण से सब बातें निवेदन करती हूँ । इससे मन में अपमान मत करना ॥ ३१ ।

उसने (सुरुचि ने) जो कुछ कहा, वह सब बहुत ठीक ही है, कुछ झूठ नहीं है। वह पति की महिषी है और सब रानियों में राजा की बडी प्रेयसी है ॥ ३२ ।

बाबा ! उसने पूर्वजन्म में जो पुण्य संचित किया है, उसी के प्रकृष्टफल से भूपति सुरुचि पर बड़ी ही सुरुचि बनाये रखते हैं ॥ ३३ ।

मेरी ऐसी मन्दभाग्या राजा की सामान्य-स्त्रियों में गिनी जाती हैं। केवल (नाममात्र को) राजपत्नी कहलाती हैं; परन्तु इन सब पर राजा की वह रुचि नहीं है ॥ ३४ ।

महासुकृतसम्भारैरुत्तमश्चोत्तमोदरे ।
उवास तस्याः पुण्यायाः नृपसिंहासनोचितः ॥ ३५ ।
आतपत्रं च चन्द्राभं शुभे चापि च चामरे ।
भद्रासनं तथोच्चं च सिन्धुराश्च मदोद्धुराः ॥ ३६ ।
तुरङ्गमाश्च तुरगास्त्वनाधिव्याधिजीवितम् ।
निःसपत्नं शुभं राज्यं प्राज्यं हरिहरार्चनम् ॥ ३७ ।
विपुलं च कलाज्ञानमधीतमपराजितम् ।
तथा जयोऽरिषड्वर्गे स्वभावात्सात्त्विकी मतिः ॥ ३८ ।
दृष्टिः कारुण्यसम्पूर्णा वाणी मधुरभाषिणी ।
अनालस्यं च कार्येषु तथा गुरुजने नतिः ॥ ३९ ।
सर्वत्र शुचिता तात सा परोपकृतिः सदा ।
और्जस्वला मनोवृत्तिः सदैवादीनवादिता ॥ ४० ।

आतपात्रं चेत्याद्यानां नियमैर्यमैरित्यन्तानां द्वादशश्लोकानामेतैर्मनोरथफलैस्त-पोद्रुमाः तपांस्येव द्रुमः वृक्षाः फलन्त्येवेति त्रयोदशेनाऽन्वयः । भद्रासनं राजसिंहासनम् । सिन्धुराः गजाः । मदोद्धुरा मदोन्मत्ताः । तुरङ्गमाः अश्वाः । तुरगाः शीघ्रगाः । अनाधिव्याधि न विद्येते आधिव्याधी मानसव्यथारोगौ यस्मिंस्तज्जीवितम् । तथा प्राज्यं प्रजासुखम् । यद्वा प्राज्यं श्रेष्ठम् । प्राच्यमिति पाठे प्राच्यं प्राची दिग् भवमैश्वर्यम् । एतच्चाग्न्यादिदिग्भवैश्वर्याणामुपलक्षणम् ॥ ३६-३७ ।

अपराजितं परैः शत्रुभिरिति शेषः । अरिश्चासौ षड्वर्ग इन्द्रियषड्वर्ग श्चेत्यरि-षड्वर्गः तस्मिन् । इन्द्रियारिषड्वर्गस्य पराभव इत्यर्थः । अरिषड्वर्गैरिति पाठे अजय इति च्छेदः ॥ ३८-३९ ।

सा प्रसिद्धा । येति वा पाठः । और्जस्वला औदार्यवती ॥ ४० ।

उत्तम ने बड़े पुण्यसंभारों से पुण्यमयी माता के उत्तमगर्भ में निवास किया है, अतएव वह सिंहासन के योग्य हुए हैं ॥ ३५ ।

चन्द्रप्रभ छत्र, शुभ्र दो चामर, वैसा ऊँचा राजसिंहासन, मदमत्त हाथियाँ, शीघ्रगामी घोड़े, आधि-व्याधिरहित जीवन, निष्कंटक उत्तम राज्य, सर्वश्रेष्ठ हरिहर का पूजन, विपुल कलाओं का ज्ञान, अध्ययन अपराजय, काम-क्रोधादि अरिषड्वर्ग का जय, स्वभावसिद्ध सात्त्विकी बुद्धि, कारुण्यपूर्ण दृष्टि, मधुर वचन, कार्यों में निरालसता, गुरुजन में प्रणति (नम्रता), सर्वत्र पवित्रता, सर्वदैव परोपकार, औदार्यवती (तेज-

सदोऽजिरे च पाण्डित्यं प्रागल्भ्यं च रणाङ्गणे।
आर्जवं बन्धुवर्गेषु काठिन्यं क्रयविक्रये ॥ ४१ ।
मार्दवं स्त्रीप्रयोगेषु वत्सलत्वं प्रजासु च।
ब्राह्मणेभ्यो भयं नित्यं वृद्धवृत्त्युपजीवनम् ॥ ४२ ।
वासो भागीरथीतरे तीर्थे वा मरणं रणे।
अपराङ्मुखताऽर्थिभ्यः प्रत्यर्थिभ्यो विशेषतः ॥ ४३ ।
भोगः परिजनैः सार्धं दानावन्ध्यदिनागमः।
विद्याव्यसनिता नित्यं नित्यं पित्रोरुपस्थितिः ॥ ४४ ।
यशसः सञ्चयो नित्यं नित्यं धर्मस्य सञ्चयः।
स्वर्गापवर्गयोः सिद्धिः सदा शीलस्य मण्डनम् ॥ ४५ ।
सद्भिश्च सङ्गतिर्नित्यं मैत्री च पितृमित्रकैः।
इतिहासपुराणानामुत्कण्ठा श्रवणे सदा ॥ ४६ ।

सदोऽजिरे सभाङ्गणे ॥ ४१ ।

स्त्रीप्रयोगेषु स्त्रीविषयव्यवहारेषु। वृद्धानां सदाचाराणां या वृत्तिर्वर्तनं तेनोपजीवनं जीवनसम्पादनम्। वृद्धबुध्युपजीवनमिति क्वचित् ॥ ४२ ।

वासो मरणमिति तीर्थे रणे इत्युभयत्र सम्बध्यते। प्रत्यर्थिभ्यः प्रतिकूलार्थिभ्यः शत्रुभ्य इत्यर्थः ॥ ४३ ।

दानावन्ध्यो दानैरव्यर्थो दिनागमो दिवसागमनं प्रत्यहं दानमित्यर्थः। उपस्थितिरुपस्थानमनुकूलाचरणमिति यावत् ॥ ४४ ।

शीलस्य सद्वृत्तस्य मण्डनं भूषणं प्रत्यहं सद्वृत्ताचरणमित्यर्थः ॥ ४५ ।

पितृमित्रकैः पितुर्मित्रैः सह पितृवद्यानि मित्राणि तैः सहेति वा। इतिहासपुराणानां इतिहासा महाभारतादयः, पुराणानि ब्रह्मादीनि तेषाम् ॥ ४६ ।

स्विनी) मनोवृत्ति, निरन्तर अदीनवादिता, सभा के मध्य पाडित्य, रणाजिर से ढिठाई, बन्धुवर्ग पर सरलता (सिधाई), क्रय-विक्रय में कठिनता, स्त्रियों के व्यवहार में कोमलता, प्रजाओं पर वत्सलता, ब्राह्मणगण से सदा भीरुता, सदाचारवृत्ति से जीवन-निर्वाह, भागीरथी (गंगा) के तट पर वास, किसी तीर्थक्षेत्र अथवा रणक्षेत्र में मरण, याचकों से विमुख होना, विशेषतः शत्रुगण से मुँह न मोड़ना, परिजनों सहित (सुखादि) भोग, दानादि के द्वारा दिन को सफल करना, नित्य ही विद्या की व्यसनिता, सर्वदा माता-पिता का सेवन, प्रतिदिन यश का संचय, सदैव धर्म का उपार्जन, स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि, निरन्तर सद्वृत्त का आचरण, सदा सज्जनों की संगति, पिता

विपद्यपि परं धैर्यं स्थैर्यं सम्पत्समागमे ।
गाम्भीर्यं वाग्विलासेषु औदार्यं पात्रपाणिषु ॥ ४७ ।
देहे परैका कृशता तपोभिर्नियमैर्यमैः ।
एतैर्मनोरथफलैः फलन्त्येव तपोद्रुमाः ॥ ४८ ।
तस्मादल्पतपस्त्वाद्धि त्वं चाहं च महामते ।
प्राप्याऽपि राजसान्निध्यं राजलक्ष्म्या न भाजनम् ॥४९।
मानाऽपमानयोस्तस्मात् स्वकृतं कारणं परम् ।
स्त्रष्टाऽपि नापमार्ष्टुं तत् परोष्टे स्वकृतां कृतिम ।
मा शोचस्त्वमतः पुत्र दिष्टमिष्टं समर्पयेत् ॥ ५० ।
इत्याकर्ण्य सुनीत्यास्तन्महावाक्यं सुनोतिमत् ।
सौनोतेयो ध्रुवोवाचमाददे वक्तुमुत्तरम् ॥ ५१ ।

वाग्विलासेषु वचनप्रयोगेषु । औदार्यदातृत्वम् ॥ ४७ ।

परा मुख्या केवला वा । एतैरातपत्रादिकृशतान्तैर्मनोरथफलैर्मनोराज्यवत्फलत्वेन कल्पितैः मनोऽभिलाषितफलैरिति वा कृत्वा तपोद्रुमाः फलन्तीति ॥ ४८ ।

प्रस्तुतमुपसंहरति । **तस्मादिति** ॥ ४९ ।

स्वकृतं स्वेन कृतं कर्म । स्वकृतां कृतिं स्वेन कृतं कर्म स्त्रष्टा पितामपमार्ष्टुं न परोष्टे न समर्थं इत्यर्थः । सान्त्वयति । मा शोच इति । दिष्टं दैवम् । समर्पयेत् प्रापयेत् । समुन्नयेदिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ५०-५१ ।

के मित्रों के साथ मित्रता, इतिहासपुराण आदि श्रवण (करने) की उत्कंठा, विपत्ति पड़ने पर भी बड़ी धीरता, संपति मिलने पर भी स्थिरता, वाग्विलास में गंभीरता, पात्रपाणि भिक्षुकों पर उदारता, तप, नियम और यम के द्वारा शरीर में एक प्रकार की उत्कृष्ट कृशता, तपस्यारूपी वृक्ष इन्हीं मनोरथमय फलों से फलते हैं। अतएव हे महामते ! तुम और मैं अधिक तपस्या नहीं कर सकी; क्योंकि राजसांनिध्य पाने पर भी राजलक्ष्मी के भागी (पात्र) नहीं हो सकी ॥ ३६-४९ ।

इसलिये मान और अपमान के कारण अपने ही अपने कर्म हैं। ब्रह्मा भी निज-कृतकर्मफल को अन्यथा नहीं कर सकते। अतः हे बेटा ! तुम शोच मत करो। भाग्य ही इष्ट वस्तु को भी समर्पण करता है ॥ ५० ।

सुनीति के इन नीतिमय वाक्यों को सुनकर सुनीति के पुत्र ध्रुव ने उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ५१ ।

ध्रुव उवाच—

जनयित्रि सुनीते मे शृणु वाक्यमनाकुलम् ।
मा बाल इति मत्वा मामवमंस्थास्तपस्विनि ॥ ५२ ।
यद्यहं मानवे वंशे जातोऽस्म्यत्यन्तपावने ।
उत्तानपादतनयस्त्वदीयोदरसम्भवः ॥ ५३ ।
तप एव हि चेन्मातः कारणं सर्वसम्पदाम् ।
तत्तदासादितं विद्धि पदमन्यैर्दुरासदम् ॥ ५४ ।
एकमेव हि साहाय्यं कुरु मातरतन्द्रिता ।
अनुज्ञादानमात्रं च आशीर्भिरभिनन्दय ॥ ५५ ।
साऽपि ज्ञात्वा महावीर्यं कुमारं कुक्षिसम्भवम् ।
महत्योत्साहसम्पत्त्या राजमानमुवाच तम् ॥ ५६ ।

अन्यैर्दुरासदं यत्पदं तदासहितं विद्धीत्यन्वयः ॥ ५४ ।

अनुज्ञादानमात्रं चेति चकारो भिन्नक्रमे । अनुज्ञादानमात्रं कुरु आशीर्भिरभिनन्दय चेत्यर्थः ॥ ५५ ।

राजमानं भ्राजमानम् ॥ ५६ ।

ध्रुव बोले—

हे जननि ! सुनीति ! मेरी बात स्थिर होकर सुनो । तपस्विनि ! (कष्टयोगिनि) मुझे लड़का जानकर अपमान मत करो ॥ ५२ ।

(माँ !) यदि मैं अत्यन्त पावन मनुवंश में उत्पन्न हुआ हूँ और महाराज उत्तानपाद का औरस पुत्र हूँ तथा तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न हूँ, तो हे माता ! यदि तपस्या ही सब संपत्तियों का कारण है, तो दूसरों से परमदुर्लभ पद को भी प्राप्त ही जानो ॥ ५३-५४ ।

हे माता ! मोह में न पड़कर तपस्या करने की आज्ञा मुझे दो और आशीर्वादों के द्वारा मुझे अभिनन्दित करो । (बस) यही एक सहायता तुम्हारी है ॥ ५५ ।

वह सुनीति निजगर्भसंभव कुमार को महावीर्यशाली और परम उत्साही विचार कर भी उससे कहने लगी—हे स्तन्यपायिन् पुत्र ! आज भी तुम्हारी अवस्था

अनुज्ञातुं न शक्ताऽहं त्वामुत्तानशयाङ्गज ।
साष्टैकवर्षदेशीयं तथापि कथयाम्यहम् ॥ ५७ ।

सपत्नीवाक्यभल्लीभिर्भिन्ने महति मे हृदि ।
तव वाष्पौघवारीणि न तिष्ठन्ति करोमि किम् ॥ ५८ ।

तानि मन्येऽत्र मार्गेण स्रवन्त्यविरतं शिशो ।
स्रवन्तीश्च चिकीर्षयन्ति प्रतिकूलजलाः किल ॥ ५९ ।

शय्यतेऽनेनेति शयः पादः । पादप्रसारणपूर्वकं हि सर्वे शेरत इति सर्वेषामनुभवसिद्धम् । उत्तान उच्चैः शयो यस्य स उत्तानशय उत्तानपादस्तस्याऽङ्गजः उत्तानशयाङ्गजः । हे उत्तानशय हे स्तनन्धयेति पृथग् वा पदम् । स्यादुत्तानशयोडिम्भस्तनयश्च स्तनन्धय इत्यमरः । अनुत्तानशयेप्युत्तानशयपदप्रयोगस्त्वार्द्रचित्ततया । आत्मजेति क्वचित् । साष्टैकवर्षदेशीयम् अष्टाभिः सह वर्तत इति साष्टं, साष्टं च तदेकवर्षं चेति साष्टैकवर्षं ईषदसमाप्तं साष्टैकवर्षं यस्य स साष्टैकवर्षदेशीयः । "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" इति देशीयर्प्रत्ययः । सप्ताष्टदेश्यवर्षीयमिति पाठे ईषदसमाप्तानि सप्त वाऽष्ट वा वर्षाणि यस्य तमित्यर्थः । एवंभूतं त्वां यद्यप्यनुज्ञातुमाज्ञां दातुं न शक्नोमि, तथापि कथयाम्याज्ञां प्रयच्छामीत्यर्थः ॥ ५७ ।

आज्ञानर्हेप्याज्ञादाने हेतुमाह । **सपत्नीति** । सपत्नीदुष्टवाक्यान्येव भल्ल्यो बाणास्तैर्मे तव च हृदि भिन्ने सति बाष्पनिवहजलानि न तिष्ठन्ति । तव त्वत्सम्बन्धीनि त्वन्निमित्तानि बाष्पौघवारीणीति वा । अतः किं करोमि एतदर्थमाज्ञां प्रयच्छामीत्मर्थः । तत्तद्वाक्यौघवारीणीति क्वचित् ॥ ५८ ।

आज्ञादाने हेत्वन्तरमाह । **तानीति** । किल प्रसिद्धौ । हे शिशो तानि बाष्पौघवारीण्यविरतं नेत्रमार्गेण नेत्ररन्ध्रेण स्रवन्ति । स्रवन्तीश्च नदीः । 'स्रवन्ती निम्नगापगा' इत्यमरः । चिकीर्षन्ति कर्तुमिच्छन्ति । वाञ्छन्तीति यावत् । कथम्भूताः ? प्रतिकूलजलाः दुःखावहा इत्यर्थः । आनन्दबाष्पौघधाराव्यावृत्त्यर्थं विशेषणम् । न केवलं स्रवन्ति स्रवन्तीश्च चिकोर्षन्तीति वाऽन्वयः । प्रतिकूलजना इति वा पाठः । किलेति प्रसिद्धौ ॥ ५९ ।

नववर्ष की पूरी नहीं हुई है । मैं तो तुमको इस विषय में संमति नहीं दे सकती; पर कहती हूँ कि सौत के वचनरूपी भालों से बहुत फटे हुए मेरे हृदय में तुम्हारे वाष्पवृन्द के जल क्षणकाल भी नहीं ठहरते हैं । मैं क्या करूँ ? ॥ ५६-५८ ।

हे बालक ! मानो वे ही सब जल मेरे नेत्रों के मार्ग से निरन्तर झर रहे हैं और वे हीं दुःखावह जल से पूर्ण नदी बनाना चाहते हैं ॥ ५९ ।

त्वदेकतनया तात त्वदाधारैकजीविता ।
त्वमङ्गयष्टिरसि मे त्वन्मुखासक्तलोचना ॥ ६० ।
लब्धोऽसि कतिभिः कष्टैरिष्टाः सम्प्रार्थ्य देवताः ।
त्वन्मुखेन्दूदये तात मन्मनः क्षीरनीरधिः ॥ ६१ ।
आनन्दपयमापूर्य कुचावुद्वेलितो भवेत् ।
त्वदङ्गसङ्गसम्भूतसुखसन्दोहशीतला ॥ ६२ ।
सुखं शये सुशयने प्रावृत्य पुलकाम्बरम् ।
अपोऽथ समुपस्पृश्य ताम्बूलं परिगृह्य च ॥ ६३ ।
त्वदास्यस्यौष्ठपुटकदुग्धवार्धिविवर्धिताम् ।
सुधां सुधांशुवदनधयन्त्यपि धिनोमि न ॥ ६४ ।

एवं कथञ्चिद्दास्यमानाऽनुज्ञायाः पुत्रविश्लेषजनितखेदाया विलापमाहतुरयेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । षष्टिर्लकुटः ॥ ६० ।

उद्वेलितो लङ्घिततीरमर्याद उत्सिक्ततीरो वा ॥ ६१ ।

शये शयनं कुर्वे । सुशयने शोभनशय्यायाम् । अद्य इति पाठे इदानीं प्रावृत्या-स्तीर्येत्यर्थः । पुलक एवाम्बरं वस्त्रं पुलकाम्बरम् । अप इति । अथानन्तरं अपः समुपस्पृश्य मुखं प्रक्षाल्याचम्येत्यर्थः ॥ ६३ ।

त्वदास्येति । हे सुधांशुवदन चन्द्रानन त्वदास्यस्य तव मुखस्य यदोष्ठपुटकं दन्तच्छदद्वयं तदेव दुग्धवार्धिः क्षीरसमुद्रस्तेन वर्धितामुच्छलितां सुधां पीयूषं धयन्ती पिबन्ती चुम्बनादिना न धिनोमि ग्लानिं न प्राप्नोमीत्यर्थः । अपिशब्दाद् पश्यन्त्य-पश्यन्त्यपि ॥ ६४ ।

भैया ! मेरे तुम्हीं अकेले पुत्र हो । तुम्हीं मेरे जीवन के एकमात्र आधार हो, मेरे नेत्र तुन्हारे ही मुख पर आसक्त रहते हैं ॥ ६० ।

अभीष्ट देवताओं से कितनी प्रार्थना करके तब बड़े कष्ट से तुमको पायी हूँ । तात ! तुम्हारे मुखचन्द्र को देखकर मेरा हृदयरूपी क्षीरसमुद्र आनन्ददुग्ध से परिपूर्ण होकर कुचरूप वेलास्थल को अतिक्रम करता है । तुम्हारे अंगसंगति से उत्पन्न सुख-संदोह से शीतल हो रोमांचरूप-वस्त्र (तोषक) को विछाकर मैं सुखपूर्वक पलंग पर सोती हूँ । तिस पर भी हे चन्द्रवदन ! कुल्ला कर पान को खाय, तुम्हारे मुख के ओष्ठ-पुटरूप क्षीरसागर से समुत्थित अमृत को पीने पर भी मेरी अभिलाषा नहीं मिटती ॥ ६१-६४ ।

त्वदीयः शीतलालापः प्राप श्रुतिपथं यदा ।
सपत्नीवाक्यदवथुस्तदैव स्यात् सवेपथुः ॥ ६५ ।
यदङ्ग निद्रासि चिरं ध्यायन्त्यस्मि तवेत्यहम् ।
कदा निद्रादरिद्रोऽसौ भविताऽर्कोदयेऽब्जवत् ॥ ६६ ।
यदोपेया गृहान् वत्स खेलित्वा बालखेलनैः ।
तदाऽनर्घ्यार्घ्यमुत्स्रष्टुं स्तनौ स्यातामिवोन्मुखौ ॥ ६७ ।
यदा सौधाद्विनिर्याया: पद्मरेखाङ्कितं पदम् ।
प्राणानां ते यियासूनां तदा तदवलम्बनम् ॥ ६८ ।

त्वदीयेति । त्वदीयः शीतलालापः कोमलवचनं मम श्रुतिपथं यदा प्राप, तदेव सपत्नीवाक्यदवथुः सपत्नीवाक्यमेव दवथुस्तस्माद्वा यो दवथुः कम्पः, सवेपथुः सकम्पः स्यान्नश्येदित्यर्थः ॥ ६५ ।

यदङ्गेति । अङ्ग हे पुत्र यद्यदा त्वं चिरं निद्रासि निद्रां करोषि तदेति वक्ष्यमाणं ध्यायन्त्यस्मि चिन्तयन्ती भवामि । किं तत्तदाह । कदाऽसौ निद्रादरिद्रः निद्राया दरिद्रः अभावो भविता । निश्चेष्टत्वसाम्यात् सूर्योदयेऽरविन्दवद् भविष्यति । यथा सूर्योदयेऽरविन्दं विकसितं भवति तथाऽसौ निद्राऽऽक्रान्तनेत्रः कदा विकासं गमिष्यतीत्यर्थः । निद्रादरिद्रोऽसौ ध्रुव इति वा ॥ ६६ ।

उपेया उपगच्छसि । अनर्घ्यार्घ्यममूल्यार्घम् । स्यातां भवेताम् । उन्मुखौ क्षरितचूचुकौ । इवेत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ६७ ।

यदेति । यदा त्वं सौधाद् राजसदनाद् विनिर्यायाः निर्गच्छसि, तदा यियासूनां गन्तुमिच्छूनां प्राणानां धूलकादिप्रदेशे पद्मरेखाचिह्नितं तव यत्पदं तदवलम्बनमाश्रये जीवनहेतुः स्यादित्यर्थः ॥ ६८ ।

तुम्हारा शीतल आलाप जब मेरे कर्णपथ में पहुँच जाता है, तो सौत के कटु-वचन की व्यथा उस क्षण मिट जाती है ॥ ६५ ।

बच्चा ! जब तुम बहुत विलम्ब तक सोते रहते हो, तो मैं मन ही मन यह सोचती हूँ कि सूर्य उदय होने पर कमल सदृश तुम कब निद्रादरिद्र (प्रफुल्ल) होगे ॥ ६६ ।

हे वत्स ! तुम जब अपने संगियों के साथ खेलों को खेलकर घर आते हो, तो उसी क्षण मेरे दोनों वक्षोज मानों तुम्हें अमूल्य अर्घ्य देने ही के लिये उन्मुख हो जाते हैं ॥ ६७ ।

जब तुम अटारी पर से बाहर चले जाते हो, तब पद्मरेखा से अंकित तुम्हारा चरण-चिह्न देखकर ही मेरे निकलते हुए प्राण अवलम्बन पाकर रुक जाते हैं ॥ ६८ ।

यदा यदा बहिर्यासि पुत्र त्रिचतुरं पदम् ।
तदा तदा मम प्राणः कण्ठप्राघुणिकी भवेत् ॥ ६९ ।
चित्रं पुत्र त्वरयति यातुं मे मानसाण्डजः ।
सुधाधाराधर इव बहिश्चिरयति त्वयि ॥ ७० ।
अथ तिष्ठन्तु कठिनाः प्राणाः कण्ठाटवीतटे ।
तपस्यन्तोऽतिसन्तप्तास्तपसे त्वयि यास्यति ॥ ७१ ।
इत्यनुज्ञामनुप्राप्य जननीचरणाम्बुजौ ।
क्षणं मौलिजजम्बालजडौ कृत्वा ध्रुवो ययौ ॥ ७२ ।

यदा यदेति । हे पुत्र त्रिचतुरं त्रयं चतुष्टयं वा पदं यदा त्वं बहिर्यासि, तदा तदा मम प्राणः कण्ठप्राघुणिकी कण्ठातिथिः कण्ठगत इत्यर्थः । यथा यथा तथा तथेति क्वचित् ॥ ६९ ।

चित्रमिति । हे पुत्र एतच्चित्रम् । किं तत् ? त्वयि बहिश्चिरयति विलम्बभाजि सति मम मानसाण्डजो मानसं मन एवाऽण्डजश्चकोराख्यः पक्षी यातुं त्वरयति त्वरां करोति । कथम्भूते इव त्वयि ? सुधाधाराधरे इव सुधाधारामभृतधारां धरतीति तथा तस्मिन्नमृतमये चन्द्र इवेत्यर्थः । चकोराख्याऽण्डजोऽपि चन्द्ररश्म्यमृतं पातुं चन्द्रनिकटे गन्तुं त्वरयते इति लोकप्रसिद्धम् । सुधाधाराधरमय इति क्वचित्पाठः । सुधाधाराधराकार इति चाऽन्यत्र । पाठद्वयेऽपि पूर्वोक्त एवाऽर्थः ॥ ७० ।

कथं कथमप्यनुज्ञां ददात्यथेति ॥ ७१ ।

अनु अनन्तरं पश्चाद्वा । इवेति पाठे स्पष्ट एवाऽर्थः । मौलिजजम्बालजडौ मौलिजाः केशा एव जम्बालाः पङ्कास्तैर्जडौ वेष्टिताविल्यर्थः । निषद्वरस्तु जम्बालः पङ्कोऽस्त्रीशादकर्दमावित्यमरः ॥ ७२ ।

जब-जब तुम तीन-चार पग बाहर चले जाते हो, मेरा प्राण भी तब-तक कंठ में जाकर टिका रहता है ॥ ६९ ।

बेटा ! सुधावर्षी मेघ के तुल्य तुम्हारे बाहर विलम्ब करने पर, मेरा मनरूपी चातक पक्षी भी आश्चर्यरूप से जाने की ही शीघ्रता करता है । अथवा अमृतधारावर्षी चन्द्र के समान तुम्हारे विलम्ब करने पर मेरा हृदयरूपी चकोर (पक्षी) भी (उड़कर वहीं) जाने की त्वरा करता है, यह आश्चर्य है ! ॥ ७० ।

अच्छा तो तुम्हारी तपश्चर्या के लिये चले जाने पर मेरे कठिन प्राण भी अतिसंतप्तरूप से कंठ-कानन के प्रान्त में जाकर अपनी अवस्थिति करें ॥ ७१ ।

ध्रुव ने इस प्रकार माता की आज्ञा पाकर उसके चरणकमल युगल को अपने केशपाशरूपी कीचड़ से लपेट कर यात्रा की ॥ ७२ ।

तयाऽपि धैर्यसूत्रेण सुनीत्या परिगुम्फ्य च ।
नेत्रेन्दीवरजामालाध्रुवस्योपायनी कृता ॥ ७३ ।
मात्रा तन्मार्गरक्षार्थं तदा तदनुगीकृताः ।
परैरवार्यप्रसराः स्वाशीर्वादाः परःशताः ॥ ७४ ।
स्वसौधात् स विनिर्गत्य बालोऽबालपराक्रमः ।
अनुकूलेन मरुता दर्शिताऽध्वाऽविशद्वनम् ॥ ७५ ।
स [1]मरुत्तरुशाखाग्रप्रसारणमिषेण सः ।
कृताहूतिरिव प्रेम्णा वनेन वनमाविशत् ॥ ७६ ।
स मातृदैवतोभिज्ञः केवलं राजवर्त्मनि ।
न वेद काननाध्वानं क्षणं दध्यौ नृपात्मजः ॥ ७७ ।

तया सुनीत्येति सम्बन्धः । परिगुम्फ्य ग्रथित्वा । उपायनीकृता उपहारीकृता । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदेत्यमरः ॥ ७३ ।

तदनुगीकृताः तस्य ध्रुवस्य पश्चाद्गाः कृताः । नवार्याः प्रसराः स्वकार्यक्षमता येषां स्वाशीर्वादानां ते तथा । सापेक्षत्वेऽपि समास आर्षः । शतात्परे परःशताः असंख्याता इत्यर्थः ॥ ७४ । मरुता वायुना ॥ ७५ ।

स इति । मरुता वायुना यत्तरुशाखाग्राणां प्रसारणमान्दोलनं तन्मिषेण व्याजेन । वायुना तरुपल्लवग्राणां प्रसारणं मिषं व्याजं यस्मिन्, तेन वनेनेति सामानाधिकरण्यं वा ॥ ७६-७७ ।

उसने भी उसी समय नेत्ररूपी इन्दीवर (कमल) की माला धैर्यसूत्र में गूंथकर भेंट किया ॥ ७३ ।

माता सुनीति ने उसके मार्ग में रक्षा करने के लिये दूसरों से जिनकी रुकावट नहीं हो सके, ऐसे सैकड़ों से अधिक आशीर्वादों को उसके पीछे जाने के लिये नियुक्त कर दिया ॥ ७४ ॥

बड़ा पराक्रमी बालक अपनी अटारी से निकल कर, अनुकूल वायु के द्वारा मार्ग दिखलाये जाने पर वन की ओर चल पड़ा ॥ ७५ ।

वन से वायु-कंपित वृक्ष-शाखाओं के प्रसारण-मिष से मानो बुलाये जाने पर उसने वन में प्रवेश किया ॥ ७६ ।

माता मात्र जिसकी देवता है, ऐसा वह ध्रुव केवल राजपथ को जानता था। वन के मार्ग को पहचानता भी नहीं था, इसी कारण से क्षण भर चिन्ता करने लगा ॥ ७७ ।

---

१. अत्र सुमरुदिति पाठोऽपेक्षित इति भाति, अन्यथा स इति पदस्य द्विवारं पाठोऽसङ्गतः स्यात् ।

यावदुन्मील्य नयने पुरः पश्यति स ध्रुवः ।
तावद्ददर्श सप्तर्षीनतर्कितगतीन् वने ॥ ७८ ॥
बालिशेष्वसहायेषु भवेद्भाग्यं सहायकृत् ।
अरण्यान्यां रणे गेहे ततो भाग्यं हि कारणम् ॥ ७९ ॥
क्व राजतनयो बालो गहनं क्व च तद्वनम् ।
बलात्स्ववसात्प्रकुर्वत्यै नमस्ते भवितव्यते ॥ ८० ॥
यत्र यस्य हि यद्भाव्यं शुभं वाऽशुभमेव च ।
आकृष्य भाविनी रज्जुस्तत्र तस्य हि दापयेत् ॥ ८१ ॥
अन्यथा विदधात्येष मानवो बुद्धिवैभवात् ।
भगवत्या भवित्र्याऽसौ विदध्याद्विधिरन्यथा ॥ ८२ ॥
न वयो न च वैचित्र्यं न चित्रं विदधे हितम् ।
न बलं नोद्यमः पुंसां कारणं प्राक्कृतं कृतम् ॥ ८३ ॥

अरण्यान्यां महारण्ये ॥ ७९ ॥

वैचित्र्यं विविधचित्रीकरणम् । चित्रं चित्रीकरणमात्रम् । चित्तमिति वा पाठः । कृतं कर्म । तदुक्तम्—'नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवतीति' ॥ ८३ ॥

ज्यों ही ध्रुव ने आँखें खोलीं, त्यों ही वन में आगे उपस्थित, अतर्कितगति सप्तर्षियों का दर्शन पाया ॥ ७८ ॥

असहाय, अज्ञानी लोगों का सहाय भाग्य ही होता है । अरण्य में, रण में और गृह में सर्वत्र भाग्य ही कारण होता है ॥ ७९ ॥

कहाँ तो वह बालक राजकुमार और कहाँ यह गहन वन ? धन्य भवितव्यते ! तुम बलपूर्वक सभी किसी को अपने अधीन कर लेती हो—तुमको प्रणाम है ॥ ८० ॥

जिसका जहाँ पर शुभ किं वा अशुभ होने वाला रहता है, भाविनी पाश खींच कर वहाँ ही दे देता है ॥ ८१ ॥

मनुष्य अपने बुद्धि-वैभव से जैसा किया चाहता है, भवितव्यता उससे दूसरे ही विधि से करा देती है ॥ ८२ ॥

अवस्था, विचित्र कार्य-संपादन करने की शक्ति, वल और उद्योग ये सब पुरुष का कुछ भी हित-साधन नहीं कर सकते । उसका प्राक्तन कर्म ही है, यह आश्चर्य है ! ॥ ८३ ॥

अथ दृष्ट्वा स सप्तर्षीन् सप्तसप्त्यतितेजसः ।
भाग्यसूत्रैरिवाकृष्योपनीतान् प्रमुमोद ह ॥ ८४ ।
तिलकाङ्कितसद्भालान् कुशोपग्रहिताङ्गुलीन् ।
कृष्णाजिनोपविष्टांश्च यज्ञसूत्रैरलङ्कृतान् ॥ ८५ ।
साक्षसूत्रकरान् किञ्चिद्विनिमीलितलोचनान् ।
सुधौतसूक्ष्मकाषायवासः प्रावरणान्वितान् ॥ ८६ ।
अकाण्डेऽपि महाभागान् मिलितान् सप्तनीरधीन् ।
चित्रं विपद्विनिर्मग्नानुद्दिधीर्षूनिव प्रजाः ॥ ८७ ।
उपगम्य विनम्रांसः प्रवद्धकरसम्पुटः ।
ध्रुवो विज्ञापयाञ्चक्रे प्रणम्य ललितं वचः ॥ ८८ ।

ध्रुव उवाच—

अवैत मां मुनिवराः सुनीत्युदरसम्भवम् ।
उत्तानपादतनयं ध्रुवं निर्विण्णमानसम् ॥ ८९ ।

स ध्रुवः सप्तर्षीन् दृष्ट्वा प्रमुमोद ह । अनन्तरं प्रणम्य ललितं वचो विज्ञापयाञ्चक्र इति पञ्चमेनाऽन्वयः । सप्तसप्त्यतितेजसः सूर्याधिकमहसः तद्वदतितेजस इति वा ॥ ८४ ।

अकाण्ड इति । पुनः कीदृशान् ? अकाण्डेऽनवसरे मिलितान् । मेलनहेतोरभावेऽपि समवेतानित्यर्थः । अत एव चित्रमाश्चर्यम् । कानिव । विपद्विनिर्मग्नाः प्रजा उद्दिधीर्षून् उद्धर्तुमिच्छून् सप्तनीरधीन् सप्तसमुद्रानिव । अभूतोपमेयम् । यदा सप्तसागराः प्रजा उद्दिधीर्षवस्तदा यथा मिलन्ति तथा मिलितानित्यर्थः । गुणरत्नाकरत्वागाधबोधादिना समुद्रसाम्यम् ॥ ८७-८९ ।

इसके अनन्तर मानों उसी के भाग्यरूपी सूत्रजाल से (आकृष्ट) आकर्षित होकर प्राप्त हुए सूर्य के समान तेजस्वी उन सप्तर्षियों को देखकर ध्रुव अत्यन्त प्रमुदित हुआ ॥ ८४ ।

जिनके विशाल भाल में तिलक, अंगुलियों में कुशों की गंथी (पवित्री), बैठने का आसन कृष्णाजिन (मृगचर्म), पहिरने का अलंकार यज्ञोपवीत, हाथ में (सुमरिनी), नेत्र कुछ-कुछ (अधखुले), पहनने-ओढ़ने का उत्तम धौत कषाय वस्त्र था ॥ ८५-८६ ।

ओः ! जो अनवसर में भी विपत्तिमग्न प्रजागण के उद्धार करने को मानों सातों समुद्र एकत्रित हुए हैं, ऐसे उन सातों महाभागों के पास जाकर ध्रुव ने प्रणामपूर्वक कंधा झुकाए और हाथों को जोड़े हुए इस ललित वचन को कहा ॥ ८७-८८ ।

ध्रुव बोले—

हे मुनिश्रेष्ठगण ! आप लोग यह जान लेवें—मैं उत्तानपाद का पुत्र, सुनीति के गर्भ से उत्पन्न खिन्न-हृदय ध्रुव हूँ ॥ ८९ ।

इदं वनमनुप्राप्तं सनाथं युष्मदङ्घ्रिभिः ।
प्रायोऽनभिज्ञं सर्वत्र महद्धर्युषितमानसम् ॥ ९० ।
ते दृष्ट्वोर्जस्वलं बालं स्वभावमधुराकृतिम् ।
अनर्घ्यनयनेपथ्यं मृदुगम्भीरभाषिणम् ॥ ९१ ।
उपोपवेश्य शिशुकं प्रोचुर्वै विस्मिता भृशम् ।
अहो बाल विशालाक्ष महाराजकुमारक ॥ ९२ ।
विचार्याऽपि न जानीमो वद निर्वेदकारणम् ।
अद्य ते ह्यर्थचिन्ता नो क्वाऽपमानः प्रसूर्गृहे ॥ ९३ ।
नीरुक्शरीरसम्पत्तिर्निर्वेदे किं नु कारणम् ।
अनवाप्ताऽभिलाषाणां वैराग्यं जायते नृणाम् ॥ ९४ ।

महत्या ऋद्धया उषितमध्युषितमाश्रितं मानसं यस्य स तथा तम् ॥ ९० ।

ऊर्जस्वलं तेजस्विनम् । अनर्घ्यनयनेपथ्यमतिशयनीतिचतुरम् ॥ ९१ ।

नीरुक् रोगरहितः ॥ ९४ ।

आप सबके चरणों से सनाथ इस वन में आ गया हूँ । मैं सब प्रकार से समस्त विषयों में (अनजान) हूँ; क्योंकि आज तक तो मेरा चित्त राजसंपत्ति ही में लगा रहा ॥ ९० ।

उन सप्तर्षियों ने उस बड़े तेजस्वी और सहज मधुर मूर्ति तथा अमूल्य नीति-ज्ञान से अलंकृत एवं मृदु-गंभीर भाषी बालक को देखकर उसे अपने समीप बैठाकर अत्यन्त विस्मित हो पूछा—अहो विशालाक्ष बालक ! महाराजकुमार ! हम लोगों ने विचार करने पर भी तुम्हारे खेद का कारण नहीं समझा, तुम्हीं कहो—अभी तो तुम्हारे मन में अर्थ-चिन्ता नहीं है, माता के घर में रहते हुए अपमान की भी कोई सम्भावना नहीं है ॥ ९१-९३ ।

शरीर में कोई रोग भी नहीं है, तो फिर निर्वेद का कौन-सा कारण है ? जिन लोगों का मनोरथ सिद्ध नहीं होता, उन्हीं के चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है; किन्तु तुम सप्तद्वीपाधिपति के राजकुमार हो, तुम्हारे विषय में तो यह बात आयी नहीं सकती; फिर सबकी प्रकृति स्वभाववश भिन्न-भिन्न है । इसीलिये यहाँ पर (संसार

सप्तद्वीपपते राज्ञः कुमारस्त्वं तथा कथम् ।
स्वभावभिन्नप्रकृतौ लोकेऽस्मिन्न मनोगतम् ॥ ९५ ।
अवगन्तुं हि शक्येत यूनो वृद्धस्य वा शिशोः ।
इति श्रुत्वा वचस्तेषां सहजप्रेमनिर्भरम् ॥ ९६ ।

ध्रुव उवाच—

वाचं जग्राह स तदा शिशुः प्रांशुमनोरथः ।
प्रेषितो राजसेवार्थं जनन्याऽहं मुनीश्वराः ॥ ९७ ।
राजाऽङ्कमारुरुक्षुर्हि सुरुच्या परिभर्त्सितः ।
उत्तमं चोत्तमीकृत्य मां च मन्मातरं तथा ॥ ९८ ।
धिक्कृत्य प्रशशंस स्वं निर्वेदे कारणन्त्विदम् ।
निशम्येति शिशोर्वाक्यं परस्परमवेक्ष्यते ॥ ९९ ।
क्षात्रमेव शशंसुस्तदहो बालेऽपि न क्षमा ॥ १०० ।

तथा वैराग्यवानित्यर्थः । स्वभावभिन्नप्रकृतौ स्वभावान्मायातो भिन्ना नाना प्रकृतिः स्वभावो वासना यस्य तस्मिन् लोके ॥ ९५ ।

प्रांशुमनोरथ उच्चाऽभिलाषः ॥ ९७ ।

क्षात्रं क्षत्रियजातिं क्षत्रियस्वभावं वा । तत्तदा । तत्क्षात्रमिति वा । अहो इत्याश्चर्ये ॥ १०० ।

में) क्या युवा, क्या वृद्ध, क्या बालक, किसी का मनोगत भाव नहीं जाना जाता। उन लोगों का सहज-प्रेम से परिपूर्ण यह वचन सुनकर वह मनोरथसंपन्न शिशु ध्रुव कहने लगा ॥ ९४-९६ ।

ध्रुव बोले—

हे मुनीश्वरों ! माता ने राजसेवा के लिए मुझे सभा (दरबार) में भेज दिया, तदनन्तर मेरे राजा की गोद में जा बैठने का अभिलाषी होने पर विमाता सुरुचि ने मुझे झिड़कार दिया। मुझे और मेरी माता को धिक्कारती हुई अपनी और पुत्र उत्तम की उत्तमता की बड़ी प्रशंसा की। (बस) यही मेरी ग्लानि का कारण है। वे ऋषिगण लड़के की इन बातों को सुनकर परस्पर एक दूसरे का अवलोकन करने लगे ॥ ९७-९९ ।

उन लोगों ने क्षत्रियत्व की बड़ाई करते हुए कहा—अहो ! क्षत्रिय के लड़के में तनिक भी क्षमा नहीं है ? ॥ १०० ।

ऋषय ऊचुः—

किमस्माभिरहो कार्यं कस्तवाऽस्ति मनोरथः ।
ज्ञातो भवतु तावत् स नः श्रवोगोचरो कुरु ॥ १०१ ।

ध्रुव उवाच—

मुनयो मम यो बन्धुरुत्तमश्चोत्तमोत्तमः ।
पित्रा दत्तं च सोऽध्यास्तां तद्भद्रासनमुत्तमम् ॥ १०२ ।
भवत्कृतं हि साहाय्यमेतदिच्छामि सुव्रताः ।
प्रायो जाने न बालत्वादुपदेशस्तदुच्यताम् ॥ १०३ ।
अनन्यनृपभुक्तं तद्यदन्येभ्यः समुच्छ्रितम् ।
इन्द्रादिदुरवापं यत्कथं लभ्यं दुरासदम् ॥ १०४ ।

श्रवः श्रवणेन्द्रियं तद्गोचरी कुरु ॥ १०१ ।

तत्प्रसिद्धम् । भद्रासनं चक्रवर्तिसिंहासनम् ॥ १०२ ।

उपदिश्यत इत्युपदेश उपाय इत्यर्थः । तत्तस्मात् । उच्यतां कथ्यताम् ॥ १०३ ।

कस्योपदेश इत्यत आह । **अनन्येति** । समुच्छ्रितमत्युच्छ्रितमत्युच्चमिति यावत् । समुत्थितमिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । एतादृशं दुरासदं दुर्लभं यत्स्थानमिति शेषस्तत्कथं

ऋषियों ने कहा—

हम लोग तुम्हारा क्या कर सकते हैं ? और तुम्हारा कौन-सा मनोरथ है, अहो, (भला) वह ज्ञात तो हो, हम लोगों को तुम सुनाओ तो सही ॥ १०१ ।

ध्रुव ने कहा—

हे ऋषिगण ! मेरा भाई उत्तमोत्तम उत्तम पिता के दिये हुए उस उत्तम सिंहासन पर (बैठे) राज करे ॥ १०२ ।

हे सुव्रतगण ! मैं आप लोगों के निकट इसी सहायता की प्रार्थना करता हूँ कि मैं जो बात निवेदन करता हूँ, उसका उपाय उपदेश कीजिये; क्योंकि मैं तो बालक होने के कारण प्रायः कुछ भी नहीं जानता ॥ १०३ ।

जिसे पूर्वकाल में भी किसी राजा ने भोग न किया हो, जो सब (पदों) से ऊँचा हो और जो इन्द्र इत्यादि देवताओं को दुर्लभ हो, वह दुरासद पद कैसे मिल सकता है ? ॥ १०४ ।

पित्रोत्सृष्टं न काङ्क्षामि काङ्क्षामि स्वभुजार्जितम् ।
मनोरथपथातीतं भवेद्यत्पितुरप्यहो ॥ १०५ ।
पितृसम्पत्तिभोक्तारः प्रायशो नो यशोधनाः ।
नरोत्तमास्तु ते ज्ञेया ये पित्राधिक्यदर्शिनः ॥ १०६ ।
उपार्जितं हि पित्रा ये नाशयन्ति यशः श्रुतम् ।
धनं निधनमेवास्तु तेषां दुर्वृत्तचेतसाम् ॥ १०७ ।
इति श्रुत्वा वचस्तस्य मुनयः सुनयोर्जितम् ।
यथार्थमेवं प्रत्यूचुर्मरीच्याद्यास्तथा ध्रुवम् ॥ १०८ ।

मरीचिरुवाच—

अनर्चिताऽच्युतपदः पदमापद्यते कथम् ।
यथा तथा त्वमात्थाऽङ्ग नातथ्यं कथयाम्यहम् ॥ १०९ ।

केन प्रकारेण उपायेन लभ्यं स उपदेशः उपायः कथ्यतामिति पूर्वेणैवाऽन्वयः ॥१०४-१०५।

श्रुतं प्रख्यातं धनं च ॥ १०७ ।

इतीति । इत्येवं पूर्वोक्तप्रकारं सुनयोर्जितं शोभननयेन वर्धितं यथार्थं परमार्थं तस्य ध्रुवस्य वचः श्रुत्वा मुनयो मननशीला अपि मरीच्याद्यास्तथा यथार्थं ध्रुवं प्रत्यूचुः प्रत्युत्तरं दत्तवन्त इत्यर्थः ॥ १०८ ।

अनर्चितेति । हे अङ्ग ध्रुव त्वं यथा यादृशं पदम् आत्थ कथयसि, तथा तादृशं पदमनर्चिताऽच्युतपदः कथमापद्यते, न कथञ्चिदपि प्राप्नोति । एतदहं नातथ्यं न मृषा कथयामीत्यर्थः । यथा यथेति पाठे एको यथाशब्दो यथावदित्यर्थे । तथाशब्दोऽ-

---

मैं पिता का दिया हुआ नहीं लेना चाहता । मैं अपनी ही भुजाओं के बल से अर्जित पद की आकांक्षा करता हूँ, जो कि पिता के भी मनोरथपथ से अतीत हो॥१०५।

जो लोग पिता की सम्पत्ति को भोगते हैं, प्रायः वे यश के भागी नहीं होते; परन्तु जो कोई पिता की अपेक्षा अपनी अधिकता दिखलाता है, वह नरोत्तम माना जाता है और जो कोई पिता के उपार्जित, प्रसिद्ध यश अथवा धन को विनष्ट करता है, उन दुर्वृत्तचित्त वालों का (जीने से) मर जाना ही अच्छा है ॥ १०६-१०७ ।

मरीचि आदि मुनिगण ध्रुव की इस नीतिसंगत बात को सुनकर उसको इस प्रकार से यथार्थ उत्तर देने लगे ॥ १०८ ।

मरीचि ऋषि ने कहा—

ऐ बाल ! तुमने जैसा पूछा है, मैं भी वैसा ही उत्तर देता हूँ । मैं मिथ्या नहीं

अत्रिरुवाच—

अनास्वादितगोविन्दपदाम्बुजरजो रसः ।
मनोरथपथातीतं स्फीतं नाकलयेत्पदम् ॥ ११० ।

अङ्गिरा उवाच—

अदवीयः पदं तस्य सर्वासां सम्पदामिह ।
कमलाकान्तकान्तांघ्रि कमले यः सुशीलयेत् ॥ १११ ।

पुलस्त्य उवाच—

यस्य स्मरणमात्रेण महापातकसन्ततिः ।
परमान्तमवाप्नोति स विष्णुः सर्वदो ध्रुव ॥ ११२ ।

व्याहर्तव्यो यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् ॥ १०९ ।

मरीच्यनुरूपमुपदेशमत्रिरुवाच । अनास्वादितेति । पदं स्थानम् । फलमिति क्वचित्पाठः । पथमिति पाठे पन्थानमित्यर्थः । अकारान्तो वा पथशब्दो वाटः पथश्चेति-वचनात् ॥ ११० ।

अत्र्यनुरूपमुपदेशमङ्गिरा अप्युवाच । अदवीय इति । अदवीयो महदित्यर्थः । निकटवर्तीति वा । कान्तांघ्रिकमले सुखसेव्यचरणपद्मे सुशीलयेच्छोभनप्रकारेण ध्यायेत् ॥ १११ ।

परमान्तमात्यन्तिकं नाशम् ॥ ११२ ।

कहता, (भला) बिना अच्युत के चरणारविन्द की आराधना किये ऐसा पद क्योंकर मिल सकता है ? ॥ १०९ ।

अत्रि मुनि बोले—

गोविन्द के चरणकमल की धूलि का रस बिना चखे, यह मनोरथ के पथ से अतीत सुन्दर पद कोई भी नहीं पा सकता है ॥ ११० ।

अंगिरा मुनि कहने लगे—

जो कोई कमलाकान्त के कमनीय चरण-कमलों का सुशीलन करता है, उसे यहाँ पर समस्त संपत्तियों का पद अदूरवर्ती है ॥ १११ ।

पुलस्त्य जी ने कहा—

हे ध्रुव ! जिसके स्मरणमात्र से समस्त पापसमूह एक बार ही विनाश को पहुँच जाते हैं, वे ही विष्णु भगवान् सब कुछ के दाता हैं ॥ ११२ ।

पुलह उवाच—

यदाहुः परमं ब्रह्म प्रधानपुरुषात्परम् ।
यन्मायया ततं सर्वं सर्वं दास्यति सोऽच्युतः ॥ ११३ ।

क्रतुरुवाच—

यो यज्ञपुरुषो विष्णुर्वेदवेद्यो[1] जनार्दनः ।
अन्तरात्माऽस्य जगतः स तुष्टः किं न यच्छति ॥ ११४ ।

वसिष्ठ उवाच—

यद्भ्रूनर्तनवर्तिन्यः सिद्धयोऽष्टौ नृपात्मज ।
तमाराध्य हृषीकेशमपवर्गोऽप्यदूरतः ॥ ११५ ।

प्रधानं प्रकृतिः । पुरुष ईश्वरः । एकवद्भावादेकवचनम् । तस्मात्परं यत् परमं ब्रह्माहुः, सोऽच्युतः सर्वं दास्यतीत्यन्वयः । ननु सजातीयविजातीयस्वगतभेदात् कथं तस्य ब्रह्मत्वं तत्राह । यन्मायया यस्य माययाऽपरं सर्वमिति । ततमिति पाठे यद्ब्रह्म-मायया ततमित्यर्थः ॥ ११३ ।

स विष्णुः । वेति पाठे लोकोक्तिः ॥ ११४ ।

वर्तनं चालनम् । सिद्धयोऽणिमाद्याः ॥ ११५ ।

श्री पुलह बोले—

पंडित लोग जिसे प्रकृति और पुरुष से भी परवर्ती परब्रह्म कहते हैं और जिसकी माया ने समग्र ब्रह्माण्ड को छोप लिया है, वही नारायण सब कुछ देंगे ॥११३।

क्रतुऋषि ने कहा—

जो वेदनिवेदित, यज्ञपुरुष इस जगत की अन्तरात्मा है, वह सर्वव्यापी जनार्दन सन्तुष्ट होकर क्या नहीं दे सकता ? ॥ ११४ ।

वसिष्ठ मुनि बोले—

राजकुमार ! जिसकी भृकुटि घूम जाने से आठों (अणिमादि) सिद्धियाँ (अनायास ही) प्राप्त हो जाती हैं, उस हृषीकेश की आराधना करने पर मोक्ष भी दूर नहीं रह जाता ॥ ११५ ।

---

१. देवदेव इति क्वचित्पाठः ।

ध्रुव उवाच—

सत्यमुक्तं मुनीशाना विष्णोराराधनं प्रति।
कथं वा भगवानिज्यः स विधिश्चोपदिश्यताम् ॥ ११६।

मुनय ऊचुः—

तिष्ठता गच्छता वापि स्वपता जाग्रता तथा।
शयानेनोपविष्टेन जप्यो नारायणः सदा ॥ ११७।
द्वादशाक्षरमन्त्रेण वासुदेवात्मकेन च।
ध्यायंश्चतुर्भुजं विष्णुं जप्त्वा सिद्धिं न को गतः ॥ ११८।

तिष्ठतेति। तदुक्तम्—

न देशनियमश्चात्र न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति हरेर्नामनि लुब्धक ॥ इति। ११७।

मन्त्रस्यैकदेशमुद्धरति। वासुदेवात्मकेनेति। 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' इत्यनेनेत्यर्थः। तथा च वैष्णवे यदभाणि—

'हिरण्यगर्भपुरुषप्रधानाव्यक्तरूपिणे।
ओं नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञानस्वरूपिणे' ॥ इति।

तत्तु कल्पभेदाऽभिप्रायेणेति बोद्धव्यम्। जप्त्वा जपित्वा। तप्त्वेति पाठे आलोचयित्वाऽभेदेन ध्यायन्नित्यर्थः। विष्णुर्भूत्वा यजेद्विष्णुमिति वचनात्। सिद्धिं मोक्षाख्यां धमार्थकाममोक्षात्मिकां वा। ध्येयमाह। चतुर्भुजमित्यादि ॥ ११८।

तब ध्रुव ने कहा—

मुनीश्वरगण! आप लोगों ने विष्णु भगवान् की आराधना के विषय में बहुत ठीक कहा है; परन्तु उनकी सेवा किस प्रकार से करनी चाहिए, उसकी भी विधि मुझे बतलाइए ॥ ११६।

मुनियों ने कहा—

ठहरते, चलते, सोते, जागते, चाहे सोया हो अथवा बैठा हो सर्वकाल में नारायण को ही जपता रहे ॥ ११७।

हे ध्रुव! वासुदेवस्वरूप द्वादशाक्षर-मन्त्र का जप तथा विष्णु का ध्यान करता हुआ मनुष्य अवश्य सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ११८ ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
क्षणं सर्वात्मकं पश्यन् को न सिध्यति भूतले ॥ ११९ ॥

पुत्रान् कलत्रमित्राणि राज्यं स्वर्गापवर्गकम् ।
वासुदेवं जपन्मर्त्यः सर्वं प्राप्नोत्यसंशयम् ॥ १२० ॥

वासुदेवजपासक्तानपि पापकृतो जनान् ।
नोपस्पृशन्ति वै विघ्ना यमदूताश्च दारुणाः ॥ १२१ ॥

पितामहेन तेऽप्येष महामन्त्र उपासितः ।
मनुना राज्यकामेन वैष्णवेन महर्द्धिना ॥ १२२ ॥

अतसी लोकप्रसिद्धा तत्पुष्पसदृशम् । क्षणं सर्वात्मकं पश्यन्निति । तथा चोक्तम्—

सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
द्विजस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥ इति ।

सिध्यति धूतपाप्मा भवति ॥ ११९ ।

न केवलं सिध्यति; किन्तु पुत्रानिति ॥ १२० ।

नोपस्पृशन्ति नोपसर्पन्ति । अयमेव वा पाठः ॥ १२१ ।

पितामहेन स्वायम्भुवेन ॥ १२२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ।

चतुर्भुज विष्णुदेव का ध्यान करता हुआ, वासुदेवात्मकरूप का ध्यान धर देखकर कौन पृथिवीतल में सिद्ध नहीं हुआ ? ॥ ११९ ।

मनुष्य वासुदेव का जप करके अनकेशः पुत्र, कलत्र, मित्र, राज्य, स्वर्ग और अपवर्ग, यह सब कुछ निःसन्देह पाता है ॥ १२० ।

वासुदेव के जपासक्तचित्त पापी लोगों को भी दारुण विघ्न अथवा यमदूतगण नहीं छू सकते ॥ १२१ ।

महासमृद्धि सम्पन्न वैष्णव (श्रेष्ठ) तुम्हारे पितामह (दादा) स्वायंभुवमुनि ने भी राज्य-कामना से इसी महामंत्र की उपासना की थी ॥ १२२ ।

त्वमप्येतेन मन्त्रेण वासुदेवपरो भव ।
यथाऽभिलषितामृद्धिं क्षिप्रमाप्नुहि सत्तम ॥ १२३ ।
इत्युक्त्वाऽन्तर्हिताः सर्वे महात्मानो मुनीश्वराः ।
वासुदेवमना भूत्वा ध्रुवोऽपि तपसे गतः ॥ १२४ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ध्रुवलोकवर्णने ध्रुवोपदेशोनामैकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

हे सत्तम ! तुम भी इसी मंत्र को ग्रहण कर वासुदेवपरायण हो इच्छानुरूप सम्पत्ति को शीघ्र ही पावोगे ॥ १२३ ।

ऐसा कहने पर वे सब महात्मा मुनीश्वर लोग अन्तर्धान हो गये और ध्रुव भी वासुदेव में एकाग्रमन होकर तपस्या के लिये चले गये ॥ १२४ ।

अतिविचित्र ध्रुव की कथा, बरनी करि विस्तार ।
राजपाट तजि जिमि भयो, वह राजर्षिकुमार ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ध्रुवोपाख्यानध्रुवगृहत्यागवर्णनं नाम एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

॥ अथ विंशोऽध्यायः ॥

गणावूचतुः—

औत्तानपादिर्निर्गत्य ततः काननतो द्विज ।
रम्यं मधुवनं प्राप यमुनायास्तटे महत् ॥ १ ॥
आद्यं भगवतः स्थानं तत्पुण्यं हरिमेधसः ।
पापोऽपि जन्तुस्तत्प्राप्य निष्पापो जायते ध्रुवम् ॥ २ ॥
जपन् वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म निरामयम् ।
अपश्यत्तन्मयं विश्वं ध्यानस्तिमितलोचनः ॥ ३ ॥

सप्तर्ष्यादिष्टमार्गस्य ध्रुवस्यामिततेजसः ।
वर्ण्यते विंशतितमेऽध्याये चर्यातपः स्थितेः ॥

ध्रुवोऽपि तपसे गत इत्युक्तं ततः परं किं वृत्तमित्याकाङ्क्षायामाहतुः । **औत्तानपादिरिति** । मधुनाम्ना दैत्येनाधिष्ठितं वनं मधुवनम् । तदुक्तं वैष्णवे—

पुनश्च मधुसंज्ञेन दैत्येनाधिष्ठितं यतः ।
ततो मधुवनं नाम ख्यातमत्र महीतले ॥ इति ॥ १ ॥

महत्वे हेतु**राद्यमिति** । संसारं हरति मेधा यस्य स हरिमेधास्तस्य ॥ २ ॥

जपन्निति । वाच्यवाचकयोरभेदोपचारात् । निरामयं सर्वोपद्रवरहितम् । ध्यानेन स्तमिते निश्चले लोचने यस्य स तथा ॥ ३ ॥

(ध्रुव की तपस्या और विष्णु का दर्शन)

विष्णु के गणों ने कहा—

हे द्विज ! उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव उस वन से निकल कर यमुना के तीर पर बड़े सुन्दर (रमणीय) मधुवन में पहुँचा, जो (मधुवन) कि भगवान् मधुसूदन का पवित्र आदिम (निवास) स्थान है और जहाँ जाकर पापिष्ठ प्राणी भी निश्चय ही निष्पाप हो जाता है ॥ १-२ ॥

वह ध्रुव सर्वोपद्रव-रहित वासुदेव नामक परब्रह्म का जप करता हुआ ध्यान से निश्चल-लोचन होकर समस्त विश्व को विष्णुमय देखने लगा ॥ ३ ॥

हरिर्हरित्सु सर्वासु हरिर्हरिमरीचिषु ।
शिवामृगमृगेन्द्रादिरूपः काननगो हरिः ॥ ४ ।
जले शालूरकूर्मादिरूपेण भगवान् हरिः ।
हरिरश्वादिरूपेण मन्दुरास्वपि भूभुजाम् ॥ ५ ।
अनन्तरूपः पाताले गगनेऽनन्तसंज्ञकः ।
एकोऽप्यनन्ततां यातो रूपभेदैरनन्तकैः ॥ ६ ।
देवेषु यो वसेन्नित्यं देवानां वसतिर्हि यः ।
स वासुदेवः सर्वत्र दीव्येद्यद्वासनावशात् ॥ ७ ।

वासुदेवमयत्वं प्रपञ्चयतो हरिरित्यादिना तस्येक्षणे इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। हरित्सु दिशासु। हरिमरीचिषु सूर्यरश्मिषु ॥ ४ ।

शालूरो भेकः। 'भेके मण्डूकवर्षाभूशालूरप्लवदर्दुराः' इत्यमरः। मन्दुरासु वाजिशालासु। 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः ॥ ५ ।

अनन्तः शेषः। शेषोऽनन्त इत्यमरः। अनन्तसंज्ञकोऽपरिच्छिन्नरूप इत्यर्थः। मूर्तिविशेषो वा। यस्य व्रतमनन्तव्रतमित्युच्यते लोके। अलक्ष्यसंज्ञक इति क्वचित्। नन्वेकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतेरखण्डैकरसत्वावगमात् कथं तस्य नानारूपत्वं माययेत्याह। एकोऽपीति। माययेति शेषः। अनन्ततां नानारूपताम्। रूप्यतेऽनेनेति रूपमज्ञानं तस्य भेदैः कार्यैरित्यर्थः ॥ ६ ।

वासुदेवादिनामपञ्चकं पञ्चभिः श्लोकैर्निरुक्तं देवेष्वित्यादिना। देवेषु देवानामिति चोपलक्षणम्। तथा चाऽयमर्थः। सर्वेषु यो नित्यं वसत्यन्तर्यामिरूपेण सर्वेषां यो वसतिर्वसत्यस्यां सर्वमिति वसतिरधिष्ठानं स वासुदेव इत्यन्वयः। कथं तथात्वं तत्राह। यद्यस्माद्वासयत्यज्ञान् संसारेष्विति वासनाऽविद्या तद्वशाद्दीव्येद् गच्छेदन्तर्यामितयाऽधिष्ठानतया च व्याप्नुयादित्यर्थः। तथा च वैष्णवे—

सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ इति ॥ ७।

(उसने देखा कि) सकल दिङ्मण्डल में हरि ही हैं, सूर्यदेव के किरण जालों में भी हरि ही हैं, वन में शृगाल, मृग, सिंह इत्यादि रूपों से हरि ही अवस्थित हैं ॥ ४।

यों ही जल में भी मेढक, कच्छप आदि रूप से भगवान् हरि ही वर्तमान हैं, फिर राजाओं के अश्व-बल में भी वे ही हरि अश्वरूप से विद्यमान हैं ॥ ५ ।

वे ही हरि पाताल में अनन्तरूप और गगन में अनन्तनाम से विराजमान हैं, एक ही होने पर भी अनन्तरूप भेद से अनन्तता को प्राप्त हुए हैं ॥ ६ ।

वे ही देवताओं के मध्य वास करते हैं, और वे ही उनकी वसति भी हैं, इसी

विष्लृव्याप्तावयं धातुर्यत्र सार्थकतां गतः।
विष्णुनामस्वरूपे हि सर्वव्यापनशीलिनि ॥ ८ ।

सर्वेषां च हृषीकाणामीशनात्परमेश्वरः ।
हृषीकेश इति ख्यातो यः स सर्वत्र संस्थितः ॥ ९ ।

न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता महति प्रलये सति ।
अतोऽच्युतोऽखिले लोके स एकः सर्वगोऽव्ययः ॥ १० ।

इदं चराचरं विश्वं यो बभार स्वलीलया ।
भृत्या स्वरूपसम्पत्त्या सोऽत्र विश्वम्भरोऽखिलम्॥ ११ ।

सर्वव्यापनं शीलं स्वभावो यस्याऽस्ति तस्मिन् सर्वव्यापनशीलिनि । शालिनीति क्वचित् । सर्वव्यापी विराजत इति चाऽन्यत्र ॥ ८ ।

हृषीकाणामिन्द्रियाणाम् ॥ ९ ।

न च्यवन्ते न नश्यन्ति । सान्द्रानन्दब्रह्मरूपेण विराजमानत्वात् । भुशुण्डादिवद्वा ॥ १० ।

भृत्या भरणेन । भूत्येति पाठे ऐश्वर्येणेत्यर्थः । स्वरूपसम्पत्त्या कैवल्यप्राप्त्या च । अखिलं चराचरमित्यन्वयः ॥ ११ ।

कारण से वे वासुदेव हैं, और फिर, वासना के वश अर्थात् अविद्या (माया) के संग से सर्वत्र देवन (क्रीड़ा) करते हैं, अतएव उनका नाम वासुदेव पड़ा है ॥ ७ ।

इन सर्वव्यापक भगवान् का नाम विष्णु है, विष्लृ धातु व्याप्ति अर्थ में है, इनके इस विष्णु नाम में उस धातु का अर्थ सफल हुआ है ॥ ८ ।

वे सर्वत्र स्थित परमेश्वर समस्त इन्द्रियों के ऐश्वर्य करने ही से हृषीकेश नाम से विख्यात हैं ॥ ९ ।

महाप्रलय के समय भी उनके भक्तगण च्युत (पतित) नहीं होते, इसी से अखिललोक में वे ही एक सर्वत्रगामी अव्यय पुरुष, अच्युत कहलाते हैं ॥ १० ।

वे ही इस चराचर निखिल विश्व को निज लीलानुसार स्वरूप संपत्ति के द्वारा भरण करने से संसार में विश्वम्भर नाम से पुकारे जाते हैं ॥ ११ ।

तस्येक्षणे समीक्षेते नान्यद्विष्णुपदावृते ।
निरीक्ष्यः पुण्डरीकाक्षो नान्यो नियमतो ह्यतः ॥ १२ ॥
नान्यशब्दग्रहौ तस्य जातौ शब्दग्रहावपि ।
विना मुकुन्दगोविन्ददामोदरचतुर्भुज ॥ १३ ॥
गोविन्दचरणार्थार्चां तत्प्रियं कर्म वै विना ।
शङ्खचक्राङ्कितौ तस्य नाऽन्यकर्मकरौ करौ ॥ १४ ॥
निर्द्वन्द्वचरणद्वन्द्वं तन्मनो मनुते हरेः ।
हित्वाऽन्यन्मनं सर्वं निश्चलत्वमवाप ह ॥ १५ ॥

ईक्षणे नेत्रे। नान्यदित्युपपादयतः। हि यस्मान्नियमतः पुण्डरीकाक्ष एव निरीक्ष्यो नितरां द्रष्टुं योग्योऽतो नाऽन्य इति ॥ १२ ॥

मुकुन्देत्यादि सम्बोधनं विना तस्य ध्रुवस्य शब्दग्रहौ। अपिः समुच्चये। न केवलमीक्षणे अन्यन्निरीक्षेते, कर्णावप्यन्यशब्दग्रहौ न जातावित्यर्थः ॥ १३ ॥

गोविन्दचरणयोरर्थेऽर्चा गोविन्दचरणार्थार्चा तां तस्य विष्णोः प्रियमन्यत् कर्म च विना तस्य ध्रुवस्य करौ हस्तौ कर्मकरौ न। एतद्विलक्षणान्यकर्मंकरौ न भवत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

निर्द्वंन्द्वेति। हरेर्निर्द्वंन्द्वं निर्गतं द्वन्द्वमाध्यात्मिकादिदुःखत्रयं यस्य यस्मादिति वा तत्तथा तच्च तच्चरणद्वन्द्वं च तन्निर्द्वंन्द्वचरणद्वन्द्वं तन्मनस्तस्य ध्रुवस्य मनो मनुते। विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सर्वदुःखनिवारकभगवच्चरणकमलयुगलमेव निरन्तरं भावयतीत्यर्थः। किं कृत्वा। अन्यदन्यविषयं सर्वं मननं चिन्तनं हित्वा। अत एव निश्चलं स्थैर्यमवाप। तन्मनः स ध्रुव इति शेष इति वा ॥ १५ ॥

उस ध्रुव के दोनों नेत्र विष्णुपद के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं देखते थे; क्योंकि इस नियम के अनुसार केवल पुण्डरीकाक्ष ही दर्शनीय हैं और कोई भी नहीं ॥ १२ ॥

(वैसे ही) उसके दोनों ही कान केवल मुकुन्द, गोविन्द, दामोदर, चतुर्भुज, इस प्रकार के शब्दों को छोड़कर दूसरे किसी एक शब्द को ग्रहण ही नहीं करते थे ॥ १३ ॥

शंख और चक्र से चिह्नित उसके दोनों हाथ भी गोविन्द की चरणपूजा के प्रयोजनीय कार्य अथवा भगवान् के प्रियकर्मों के अतिरिक्त अन्य किसी कृत्य में नहीं लगते थे ॥ १४ ॥

उस ध्रुव का चित्त दूसरी सब चिन्ताओं को त्यागकर वासुदेव के निर्द्वन्द्व दोनों चरणों ही का चिन्तन करते-करते क्रमशः निश्चलता को प्राप्त होने लगा ॥ १५ ॥

चरणौ विष्णुशरणौ हित्वा नारायणाङ्गणम् ।
तस्य नो चरतोऽन्यत्र चरतो विपुलं तपः ॥ १६ ।
वाणी प्रमाणीक्रियते गोविन्दगुणवर्णने ।
जोषं समासता तेन महासारं तपस्यता ॥ १७ ।
नितान्तकमलाकान्तनामधेयसुधारसम् ।
रसयन्ती न रसना तस्यान्यरससस्पृहा ॥ १८ ।
श्रीमुकुन्दपदद्वन्द्वपद्मामोदप्रमोदितम् ।
गन्धान्तरं न तद्घ्राणं परिजिघ्रत्यशीघ्रगम् ॥ १९ ।

चरणाविति । तस्य ध्रुवस्य चरणौ नारायणस्याङ्गणमजिरं हित्वाऽन्यत्र नो चरतो न गच्छत इत्यन्वयः । कथम्भूतौ चरणौ ? विष्णुः शरणं रक्षिता ययोस्तौ । युक्तं चैतद्यो हि यच्छरणो भवति, स तं विहायाऽन्यत्र न गच्छतीति । कथम्भूतस्य तस्य ? विपुलं तपश्चरतः कुर्वत इत्यर्थः ॥ १६ ।

वाणीति । तेन ध्रुवेण गोविन्दगुणवर्णने । गुणेत्युपलक्षणम् । गोविन्दस्य गुण-कर्मादिकथने वर्णने वाणी प्रमाणीक्रियते । तस्य वागिन्द्रियं भगवद्गुणकर्मादिकमेव वक्तीत्यर्थः । कीदृशेन ? जोषं समासता विष्णोः सेवनं कुर्वता प्रीतिं प्राप्नुवता वा । पुनः कीदृशेन ? महासारं महाश्चर्यं यथा स्यात्तथा तपस्यता तपः कुर्वता । अस्मिन् पद्ये तृतीये चरणे विष्णुरेव श्रुतस्तेनेति क्वचित्पाठः । स च नान्यशब्दग्रहावित्यनेन पौन-रुक्त्यात्त्याज्यः ॥ १७ ।

नितान्तेति । तस्य ध्रुवस्य रसना रसनेन्द्रियं नितान्तं केवलं कमलाकान्तस्य नामधेयरूपं सुधारसं रसयन्ती आस्वादयन्ती अन्यरसेषु सस्पृहा स्पृहायुक्ता न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ।

श्रीति । तद्घ्राणं तस्य घ्राणेन्द्रियं श्रीमुकुन्दस्य पादयुगलयोर्य आमोदस्तेन प्रमोदितमतिशयेनानन्दितं सद् गन्धान्तरं न परिजिघ्रति न गृह्णाति । अशीघ्रगम्

विपुल तपश्चर्या के कर्त्ता उस ध्रुव के दोनों ही चरण विष्णु भगवान् के शरण होकर केवल नारायण-मन्दिर के आंगन को छोड़ अन्यत्र कहीं भी विचरण नहीं करते थे ॥ १६ ।

मौनावलम्बी, महासार, तपस्या-तत्पर वह ध्रुव केवल गोविन्द-गुणगान में ही अपनी वाणी को स्थल देता था ॥ १७ ।

उस ध्रुव की रसना (जिह्वा) कमलाकान्त के नामामृतरसपान करने से दूसरे रसों के स्वाद की इच्छा ही नहीं करती थी ॥ १८ ।

उसकी नासिका पद्मामोद से प्रमोदित श्रीमुकुन्द के चरणकमलयुगलगन्ध के

त्वगिन्द्रियं मधुरिपोः परिस्पृश्य पदद्वयम् ।
सर्वस्पर्शसुखं प्राप तस्य भूजानिजन्मनः ॥ २० ।
शब्दादिविषयाधारं सारं दामोदरं परम् ।
ध्रुवेन्द्रियाणि सम्प्राप्य कृतार्थान्यभवंस्तदा ॥ २१ ।
लुप्तानि सर्वतेजांसि तत्तपस्तपनोदये ।
चन्द्रसूर्यानलक्षर्णां प्रदीपितजगत्त्रये ॥ २२ ।
इन्द्रचन्द्राग्निवरुणसमीरणधनाधिपाः ।
यमनैर्ऋतमुख्याश्च जाताः स्वपदशङ्किताः ॥ २३ ।

स्थिरम् । चरणकमलामोदेन परिपूरितत्वात् ॥ १९ ।

त्वगिति । तस्य ध्रुवस्य त्वगिन्द्रियं मधुरिपोः पदद्वयं परिस्पृश्य स्पृष्ट्वा सर्वेषां स्रक्चन्दनादीनां विषयाणां स्पर्शसुखं स्पर्शजन्यं सुखं प्राप प्राप्तमित्यर्थ । कथम्भूतस्य ? भूरेव जानिर्जाया, यस्य स भूजानिरुत्तानपादस्तस्माज्जन्म यस्य तस्य ॥ २० ।

उपसंहरति । **शब्देति ।** सम्प्राप्य सम्यक् प्राप्य । तं प्राप्येति क्वचित् । तत्र तं शब्दादीनां विषयाणामाधारमधिष्ठानं प्राप्येत्यन्वयः ॥ २१ ।

लुप्तानीति । चन्द्रादीनां तेजांसि लुप्तान्यभिभूतानि नष्टानीत्यन्वयः । कदेत्याकाङ्क्षायामाह । तस्य ध्रुवस्य तप एव तपनः सूर्यः तस्योदये सति । कथम्भूते ? प्रदीपितं संक्षुब्धं जगत्त्रयं येन तस्मिन् ॥ २२ ।

समीरणो वायुः । नैर्ऋतो निर्ऋतिदिगधिष्ठाता । निर्ऋतीति पाठे उपचारात्स एवाऽर्थः । स्वपदे शङ्काऽस्माकं पदं ग्रहीष्यतीत्येवं रूपा जाता येषां ते स्वपदशङ्किताः ॥ २३ ।

सूंघने से अन्य गन्ध का आघ्राण ही नहीं करती थी ॥ १९ ।

उस राजकुमार की त्वचा मधुसूदन के पदद्वय का स्पर्शकर पावनीय सुखस्पृश्य वस्तुओं के आनन्द को अनुभव करने लगी ॥ २० ।

ध्रुव की सभी इन्द्रियाँ साररस्वरूप दामोदर को अपने-अपने विषय शब्दादिकों का आश्रय पाकर कृतार्थ होने लगीं ॥ २१ ।

त्रैलोक्यप्रकाशक उस ध्रुव के तपोरूपी सूर्य के उदय हो जाने पर चन्द्र, सूर्य, अग्नि और ग्रह-नक्षत्रादि समग्र तेज विलुप्त हो चले ॥ २२ ।

इन्द्र, चन्द्र, पवन, वरुण, यमराज, कुबेर, अग्नि और नैर्ऋतेश्वर आदि अपने-अपने पद से शंकित होने लगे ॥ २३ ।

वैमानिकास्तथाऽन्येऽपि वसुमुख्यादिवौकसः।
ततो ध्रुवात् समुत्त्रेसुः स्वाधिकारेधिताधयः॥ २४॥
यत्र यत्र ध्रुवः पादं मिनोति पृथिवीतले।
धरा तस्य भराक्रान्ता विनमेत्तत्र तत्र वै॥ २५॥
अहो तदङ्गसङ्गीनि त्यक्त्वा जाड्यं जलान्यपि।
रसवन्ति पदस्थानि स्फुरन्त्यन्यत्र तद्भयात्॥ २६॥
यावन्ति विष्वक्तेजांसि सिद्धरूपगुणानि च।
नेत्रातिथीनि तावन्ति तत्तपस्तेजसाऽभवन्॥ २७॥

विमानैश्चरन्तीति वैमानिकाः। समुत्त्रेसुरतिशयेन त्रासं प्रापुः। स्वाधिकारे स्वाधिकारनिमित्ते एधितो वर्धित आधिर्मानसी व्यथा येषां ते तथा॥ २४॥

मिनोति प्रक्षिपति॥ २५॥

अहो इति। अहो आश्चर्ये। तस्य ध्रुवस्याङ्गसङ्गीनि यानि जलानि यमुनादिगतानि अन्यत्राऽन्यत्र स्थितान्यपीति शेषः। तानि सर्वाणि जलानि जाड्यं पदार्थान्तरसंसर्गनिमित्तं कालुष्यं विहाय रसवन्ति पदस्थानि च स्वस्वरूपाणि नैसर्गिकस्वभावानीति यावत्। सदच्छानीति क्वचित्। स्युर्भवेयुरित्यर्थः। स्फुरन्त्यन्यत्रेति क्वचित्। जडस्वभावान्यपि जाड्यं त्यजन्ति अन्येषां का वार्तेति पूर्वस्यापेर्थः। तद्भयादित्यत्र तच्छब्दो ध्रुवपरस्तत्तपः परो वा। अथवा तदङ्गसङ्गीनि तच्छरीरस्थितानि पञ्चीकृतानि जलानि अन्यत्रापि स्थितानि यानि जलानीति। शेषं समानम्॥ २६॥

यावन्तीति। तत्तपस्तेजसा तस्य ध्रुवस्य तपस उत्थिततेजसा तपोरूपतेजसा वा विष्वक् सर्वत्र यावन्ति तेजांसि सिद्धरूपगुणानि च सिद्धानां यानि रूपाणि गुणाश्च तानि च। षंढत्वमार्षम्। सिद्धानां रूपाणि गुणाश्च प्रकाश्यत्वेन वर्तन्ते येषु तानि तेजांसि तथेति वा। तावन्ति नेत्रातिथीनि नेत्रगोचराण्यभवन्। तस्य ध्रुवस्येति शेषः॥ २७॥

वसु इत्यादि अन्यान्य विमानचारी देवगण भी "कहीं ध्रुव हमारा पद न ले लेवे" इस दुश्चिन्ता के द्वारा ध्रुव से बहुत ही डरने लगे॥ २४॥

ध्रुव पृथ्वीतल पर जहाँ-जहाँ पैर रखता था, वहाँ-वहाँ भूमि उसके भार (बोझ) से दबकर झुकी पड़ती थी॥ २५॥

अहो! उसी के भय से तदीय अंगसंगी जलराशि भी जड़ता छोड़कर अन्यत्र उत्तम रससम्पन्न जलपदस्थ हो गयी॥ २६॥

संसार में जितने सिद्धरूप गुणतेज हैं, वे सबके सब तपश्चर्यातेज के प्रभाव से ध्रुव के नेत्रातिथि हुए॥ २७॥

अहो निजगुणस्पर्शः सततं मातरिश्वना ।
दूरदेशान्तरस्थोऽपि तत्त्वचो विषयीकृतः ॥ २८ ॥

व्योम्नाऽपि शब्दगुणिना ध्रुवाराधनबुद्धिना ।
शब्दजातस्त्वशेषोऽपि तत्कर्णशरणीकृतः ॥ २९ ॥

आराधितोऽनुदिवसं सभूतैरपि पञ्चभिः ।
तप एव परं मेने गोविन्दार्पितमानसः ॥ ३० ॥

कौस्तुभोद्भासितहृदः पीतकौशेयवाससः ।
ध्यानात्तेजोमयं विश्वं तेनैक्षि नृपसूनुना ॥ ३१ ॥

मरुत्वत्वातिमहती चिन्ताऽऽप्ता तत्तपो भयात् ।
मत्पदं चेदाकाङ्क्षिष्यदहरिष्यत् ध्रुवं ध्रुवः ॥ ३२ ॥

अहो निजेति । अहो आश्चर्ये निजगुणश्चासौ स्पर्शश्चेति निजगुणस्पर्शः मातरिश्वना वायुना सततं तस्य ध्रुवस्य त्वचस्त्वगिन्द्रियस्य विषयीकृतो गोचरीकृत इत्यर्थः । कथम्भूतः ? दूरदेशान्तरस्थोऽपि यत्र तत्र स्थितोऽशेषः स्पर्शजातोऽपीत्यर्थः ॥ २८ ॥ **व्योम्नेति ।** ध्रुवस्याराधने बुद्धिर्यस्य स तथा तेन व्योम्नाकाशेनाऽपि शब्दगुणिना शब्दगुणवता अशेषः शब्दजातोऽपि तत्कर्णशरणीकृतः । ध्रुवस्य श्रोत्रेन्द्रियाश्रयीकृत इत्यर्थः । अपिः समुच्चयार्थे । तुः सम्भ्रमे ॥ २९ ॥ **आराधित** इति । स ध्रुवः । अपिशब्दादन्यैरपि ॥३०॥ अनुक्तं संगृह्णन्नुपसंहरति । **कौस्तुभेति ।** ऐक्षि दृष्टम् ॥ ३१ ॥ **मरुत्वता** इन्द्रेण । चिन्तामेवाह । चेद्यदि ध्रुवो मत्पदमाकाङ्क्षिष्यत् आकाङ्क्षितवान् स्यात्तदा ध्रुवं निश्चितमहरिष्यद् धृतवान् स्यादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

क्या ही आश्चर्य है ! वायु का चाहे जहाँ पर कैसा भी स्पर्श क्यों न होवे, और क्या, दूर देशान्तर का भी स्पर्शसुख वह अपनी त्वगिन्द्रिय के द्वारा सर्वदा अनुभव करने लगे ॥ २८ ॥

शब्दगुणवाला आकाश भी ध्रुव की सेवा-बुद्धि से ही (उसके मन करते ही) समस्त शब्दसमूह को उसको कर्णगोचर कराने लगा ॥ २९ ॥

इस प्रकार से प्रतिदिन पृथ्वी इत्यादि पंचभूतों से आराधित होने पर भी वह ध्रुव गोविन्द ही में चित्त को समर्पण करके तपस्या को ही परम पदार्थ मानने लगा ॥३०॥

वह राजपुरुष कौस्तुभमणिशोभित वक्षस्थल, पीतकौशेयवस्त्र, भगवान् के ध्यानप्रभाव से इस विश्व को तेजोमय देखने लगा ॥ ३१ ॥

ध्रुव की घोर तपश्चर्या देख भयत्रस्त होकर इन्द्रदेव इस चिन्ता में डूबने लगे कि "जो कहीं इस ध्रुव ने मेरे पद को चाहा, तो अवश्य ही ले लेगा" ॥ ३२ ॥

समर्थस्त्वप्सरोवर्गो नियन्तुं यमिनां यमान् ।
स तु यूनि प्रभवति नाऽत्रबाले करोमि किम् ॥ ३३ ।
तपस्विनां ततो हन्तुं द्वौ मत्साहाय्यकारिणौ ।
कामक्रोधौ न तावस्मिन् प्रभवेतां शिशौ ध्रुवे ॥ ३४ ।
एक एव किलोपायो बाले मे प्रभविष्यति ।
भूतालीं भीषणाकारां प्रहिणोमीह तद्भिये ॥ ३५ ।
बालत्वाद् भीषितो भूतैस्तपस्त्यक्ष्यत्यसौ ध्रुवम् ।
इति निश्चित्य भूतालीं प्रेषयामास वासवः ॥ ३६ ।
भल्लूकाकारसर्वाङ्ग उष्ट्रलम्बशिरोधरः ।
कश्चिद्दुर्दर्शदशनस्त्वभ्यधावत्तमर्भकम् ॥ ३७ ।

नियन्तुं निराकर्तुं नाशयितुमिति यावत् । अप्सरोवर्गोऽप्सरःसमूहः । यूनि तरुणे ॥ ३३ ।

भूतानामालीं पङ्क्तिं श्रेणीमित्यर्थः । भूतान् हि भीषणाकारानिति क्वचित् । तद्भिये तस्य ध्रुवस्य भयाय ॥ ३५ ।

उष्ट्रस्येव लम्बा लम्बायमाना शिरोधरा ग्रीवा यस्य सः । दुर्दर्शा दशना यस्य सः । पाठान्तरे क्रियाविशेषणम् ॥ ३७ ।

यद्यपि अप्साएँ संयमियों के संयम को भंग कर सकती हैं; पर उनका प्रभाव तो जवानों ही पर पड़ सकता है, इस लड़के के विषय में मैं क्या करूँ ? ॥ ३३ ।

तपस्वियों की तपस्या भंग करने में काम और क्रोध ये दो दोनों मेरे सहायक होते हैं; परन्तु इस बालक ध्रुव के ऊपर तो वे दोनों ही असमर्थ हैं ॥ ३४ ।

तब फिर इस लडके पर मेरा एक ही उपाय चल सकता है कि इसको डराने के लिये भयंकररूपा भूतावली इसके पास भेज दूँ ॥ ३५ ।

बालक होने से यह भूतों के द्वारा डराये जाने पर अवश्यमेव तपस्या छोड़ देगा, इन्द्र ने यों ही निश्चय करके ध्रुव के समीप भूत गणों को प्रेषित किया ॥ ३६ ।

कोई एक भूत, सर्वांग तो भालू के सदृश और ऊँट के समान लम्बग्रीव तथा बड़े-बड़े दातों से भयंकर था, वह उस बालक पर दौड़ने लगा ॥ ३७ ।

तं व्याघ्रवदनः कश्चिद् व्यादाय विकटाननम् ।
द्विपोच्चदेहसंस्थानो मुहुर्गर्जन् समभ्यगात् ॥ ३८ ।
रयात्तु मांसकं भुञ्जन् कश्चिद्विकटदंष्ट्रकः ।
रोषात्तमभिदुद्राव दृष्ट्वा सन्तर्जयन्निव ॥ ३९ ।
अतितीक्ष्णैर्विषाणाग्रैस्तटानुच्चान् विदारयन् ।
खुराग्रैर्दलयन् भूमिं महोक्षोऽभिजगर्ज तम् ॥ ४० ।
कश्चिच्चद्वि पन्नगोभूय फटाटोपभयानकः ।
अतिलोलद्विरसनः पुस्फूर्ज निकषा च तम् ॥ ४१ ।
कश्चिच्च महिषाकारः क्षिपन् शृङ्गाग्रतो गिरीन् ।
लाङ्गूलताडितधरः श्वसन् वेगात्तमाप्तवान् ॥ ४२ ।

द्विपो हस्ती ॥ ३८ ।

रयाद् वेगात् । तु शब्दाद्रुधिरं च पिबन् ॥ ३९ ।

महोक्षो महावृषः ॥ ४० ।

पन्नगीभूय सर्पो भूत्वा । पन्नगोऽतीवेति क्वचित् । फटायाः फणाया आटोपो विस्तारस्तेन भयानकः । अतिलोलद्विरसनोऽतिचञ्चलद्विजिह्वः । पुस्फूर्ज जगर्ज फूत्कारं कृतवानित्यर्थः । निकषा समीपे ॥ ४१ ।

लाङ्गूलताडितधरः पुच्छघातितावनिः ॥ ४२ ।

बाघ के सदृश भयंकर मुख और हस्ती के समान उच्च देह विकटानन कोई प्रेत बारम्बार गरजता हुआ उस पर टूट पड़ा ॥ ३८ ।

विकटदंष्ट्रासम्पन्न कोई एक भूत वेग से सड़ा मांस भोजन करता हुआ क्रोध से देख-देखकर ध्रुव को तर्जन करता दौड़ने लगा ॥ ३९ ।

कोई भूत वृषभरूप होकर अतितीक्ष्ण शृंगों के अग्रभाग से ऊँचो तटभूमि को खोदता हुआ और खुराग्रभाग से भूतल को विदलित करता हुआ उस ध्रुव के प्रति गर्जने लगा ॥ ४० ।

कोई भूत फन फैलाये हुए भयंकर सर्प की मूर्ति धारणकर चञ्चल दो जीभें निकालकर उसके पास पहुँच फुफकारने लगा ॥ ४१ ।

दूसरा कोई भूत भैंसे का रूप धारणकर सींघों से पर्वतों को फेंकता और पूँछ को पृथिवी पर पटकते-पटकते वेग से हांफता हुआ उस पर टूट पड़ा ॥ ४२ ।

कश्चिद्दावानलालीढखर्जूरद्रुमसन्निभम् ।
बिभ्रदूरुद्वयं भूतो व्यात्तास्यस्तमभीषयत् ॥ ४३ ।
मौलिजैरभ्रसंघर्षं कुर्वन् दीर्घकृशोदरः ।
निमग्नपिङ्गनयनः कश्चिद् भीषयति स्म तम् ॥ ४४ ।
कृपाणपाणिर्भग्नास्यो वामहस्तकपालधृत् ।
प्रचण्डं क्ष्वेडयन् कश्चिदभ्यधावत्तमर्भकम् ॥ ४५ ।
विशालशालमादाय कुर्वन् किलकिलारवम् ।
कश्चित्तमभितो याति कालो दण्डधरो यथा ॥ ४६ ।
तमः संकेतसदनं व्याघ्रं वै वदनं महत् ।
कृतान्तकन्दराकारं बिभ्रत् कश्चित्तमभ्यगात् ॥ ४७ ।

आलीढो दग्धः । भूतो देवयोनिभेदः । भीत इति पाठे भयजनक इत्यर्थः ॥४३।

कृपाणपाणिः खड्गहस्तः । प्रचण्डं यथा स्यात्तथा क्ष्वेडयन् क्ष्वेडां कुर्वन् खड्गमार्गं चरन्नित्यर्थः ॥ ४५ ।

तम इति । व्याघ्रं व्याघ्रमुखमिव । व्यात्तमिति क्वचित् । कृतान्तकन्दराकारं यममुखान्तर्बिलाकारम् ॥ ४७ ।

दावानल से दग्ध खजूर के सदृश दोनों जंघेवाला कोई प्रेत मुँह बाकर उसे डरवाने लगा ॥ ४३ ।

किसी भूत की चोटी मेघों में रगड़ खा रही थी और उसका पेट अत्यन्त दीर्घ और कृश था, एवं खोंढराई हुई पीली आँखों से वह ध्रुव को भय दिखाने लगा ॥ ४४ ।

दाहिने हाथ में कृपाण और बायें में मनुष्य की खोपड़ी लिये भग्नमुख कोई एक भूत प्रचंड सिंहनाद करता हुआ उस बालक की ओर दौड़ चला ॥ ४५ ।

कोई बड़ा भारी साखू का वृक्ष लेकर किलकिलाशब्द करता हुआ, उसके प्रति यों दौड़ा था, जैसे दण्ड लिये हुए यमराज ही होवें ॥ ४६ ।

अन्धकार के संकेतमन्दिर, पर्वत के कन्दरा समान बड़े मुखविवर को व्यादान कर कोई भूत उस पर टूट पड़ा ॥ ४७ ।

उलूकाकारतां धृत्वा फूत्कारैरतिदारुणैः ।
हृदयाकम्पनैः कश्चिद् भीषयामास तं ध्रुवम् ॥ ४८ ॥
यक्षिणी काचिदानीय रुदन्त कस्यचिच्छिशुम् ।
अपिबद्रुधिरं कोष्ठाच्चखादास्थिमृणालवत् ॥ ४९ ॥
पिपासिताद्य रुधिरं ते पिपास्याम्यहं ध्रुव ।
यथाऽस्य बालस्य तथा चर्वित्वास्थीनि वादिनी ॥ ५० ॥
आनीय तृणदारूणि परिस्तीर्य समन्ततः ।
दावाग्नि ज्वालयामास काचिद् वात्या विवर्धितम् ॥ ५१ ॥
वेतालीरूपमास्थाय भङ्क्त्वा काचित्तरून् गिरीन् ।
रुरोध गगनाध्वानं कम्पयन्तो च तं भृशम् ॥ ५२ ॥
अन्या सुनीतिरूपेण तमभिप्रेक्ष्य दूरतः ।
रुरोदातीव दुःखार्ता वक्षोघातं मुहुर्मुहुः ॥ ५३ ॥

उलूकाकारतां पेचकवेषम् ॥ ४८ ॥
मृणालवत् पद्मनालवत् ॥ ४९ ॥
वेताली भूतविशेषः । भङ्क्त्वा प्रविभज्य । भुक्त्वेति क्वचित् ॥ ५२ ॥
वक्षोघातम् उरस्ताडं यथा स्यात्तथा ॥ ५३ ॥

कोई भूत उल्लू का स्वरूप धारण कर हृदय कंपाने वाले अतिदारुण अपने फुफुकार से डराने लगा ॥ ४८ ॥

कोई यक्षिणी किसी के रोते हुए बच्चे को उठा लाई और उसका पेट फाड़कर रक्तपान एवं मृणाल की नाँई हाड़ चबाने लगी और कहने लगी—हे ध्रुव ! इस लड़के का हाड़ चबाकर आज ऐसे ही तेरा भी रुधिर पीऊँगी ॥ ४९-५० ॥

कोई यक्षिणी वनकाष्ठों को बटोर कर चारों ओर से उसे बिछा दावानल प्रज्वलित कर बवंडर से उसे बढ़ाने लगी ॥ ५१ ॥

कोई एक यक्षिणी वेताली का रूप बन पर्वत, वृक्षों को तोड़ ध्रुव को कंपित करने के लिये आकाशमार्ग को रोकने लगी ॥ ५२ ॥

दूसरी यक्षिणी (ध्रुव की माता) सुनीति का रूप धारण कर दूर से ही ध्रुव को देख अत्यन्त दुःखार्त की नाँई छाती पीटकर बारम्बार रोदन करने लगी और वह

उवाच च वचश्चाटु बहुमायाविनिर्मितम् ।
कारुण्यपूर्णवात्सल्यमतीवातन्वती सती ॥ ५४ ॥
त्वदेकशरणां वत्स बत मृत्युर्जिघांसति ।
रक्ष रक्ष गतासुं मां शरणागतवत्सल ॥ ५५ ॥
प्रतिग्रामं प्रतिपुरं प्रत्यध्वं प्रतिकाननम् ।
प्रत्याश्रमं प्रतिगिरिं श्रान्ता त्वद्वीक्षणातुरा ॥ ५६ ॥
यदा प्रभृति रे बाल निरगात्तपसे भवान् ।
तदेव दिनमारभ्य निर्गताऽहं त्वदीक्षणे ॥ ५७ ॥
तैस्तैः सपत्नीदुर्वाक्यैर्दूनोषि त्वं यथाऽर्भक ।
तथाऽहमपि दूनाऽस्मि नितरां तद्वचोऽग्निना ॥ ५८ ॥

कारुण्यपूर्णं करुणाव्याप्तं वात्सल्यं वत्सलभावं स्निग्धत्वमिति वा आतन्वती विस्तारयन्ती ॥ ५४ ॥

बतेति खेदे सम्बोधने वा ॥ ५५ ॥

दूनोषि परितप्यसे । दूनाऽस्मि परितप्ताऽस्मि ॥ ५८ ॥

अत्यन्त दीनता से मानो वात्सल्यभाव प्रकट करती हुई बहुत-सी मायामय चाटु (प्रिय) वाणी कहने लगी ॥ ५३-५४ ॥

शरणागतवत्सल ! बेटा ध्रुव ! तुम्हीं मेरे एक मात्र रक्षक हो । हाय ! मृत्यु मेरा प्राण लिया ही चाहती है, मैं मर रही हूँ, मेरी रक्षा करो, रक्षा करो ॥ ५५ ॥

तुम्हारे देखने के लिये ही मैं गाँव-गाँव, नगर-नगर, पथ-पथ, वन-वन, आश्रम-आश्रम, पर्वत-पर्वत, घूमती हुई थक गयी ॥ ५६ ॥

अरे बच्चा ! जिस दिन से तुम तपस्या करने को घर से बाहर निकले, मैं भी उसी दिन से तुम्हें देखने के लिये निकली ॥ ५७ ॥

बेटा ! जैसे तुम मेरी सवत के उन-उन दुर्वचनों से पीड़ित हुए हो, मैं भी उसी प्रकार से उसके वचनरूपी अग्नि से अत्यन्त व्यथित हो रही हूँ ॥ ५८ ॥

न निद्रामि न जागर्मि नाऽश्नामि न पिबाम्यहम् ।
ध्यायामि केवलं त्वाऽहं योगिनीव वियोगिनी ॥ ५९ ।
निद्रादरिद्रनयना स्वप्नेऽपि न तवाननम् ।
आनन्दि सर्वथा यन्मे मन्दभाग्या विलोकये ॥ ६० ।
त्वदाननप्रतिनिधिर्विधुर्विधुरया मया ।
उदित्वरोऽपि नालोकि तापं वै त्यक्तुकामया ॥ ६१ ।
त्वदालापसमालापं कलयन् किल काकलीम् ।
कोकिलोऽपि मयाकर्णि नालकाकीर्णकर्णया ॥ ६२ ।

त्वा त्वाम् । वियोगिनी त्वद्वियोगवती ॥ ५९ ।

निद्रेति । अहं मन्दभाग्या यस्मान्मे मम सर्वथाऽऽनन्दि यत्तवाननं तत्स्वप्नेऽपि न विलोकये पश्यामि । स्वप्नोऽपि तावन्नास्तीति—आह । **निद्रेति ।** निद्रादरिद्रे निद्रारहिते नयने यस्याः साऽहमिति ॥ ६० ।

त्वदिति । हे ध्रुव त्वदाननप्रतिनिधिः तव मुखप्रतिबिम्बकल्पः चन्द्र उदित्वरोऽप्युदयशीलोऽपि तापं त्यक्तुकामया मया नाऽलोकि नाऽवलोकितः । तत्र हेतुर्विधुरया त्वद्वियोगिन्येत्यर्थः ॥ ६१ ।

त्वदालापेति । हे पुत्र कोकिलोऽपि मया नाऽऽकर्णि न श्रुतः । कीदृशः ? त्वदालापसमालापं यथा स्यात्तथा । पाठान्तरे कोकिलविशेषणम् । किल निश्चितम् । तथा काकलीं मधुरध्वनिं कलयन्नुच्चारयन् । अनाकर्णने हेतुं दर्शयन्त्यात्मानं विशिनष्टि । अलकाकीर्णकर्णयेति । अलकैः शोकादग्रथितैराकीर्णौ कर्णौ यस्याः सा तथा तया ॥ ६२ ।

इस घड़ी मैं न तो सोती हूँ, न जागती हूँ, न खाती हूँ, न पीती हूँ, मैं तो तुम्हारे ही बिछोह से योगिनी की सदृश होकर केवल तुम्हारी ही चिन्ता में निमग्न रहती हूँ ॥ ५९ ।

मेरे नेत्र तो निद्रा से दरिद्र ही हैं, फिर भी यदि मुझे निद्रा आ जाती तो उस बेला मुझ अभागिनी को सब प्रकार से आनन्ददायक तुम्हारा मुख स्वप्न में भी दिखलाई पड़ जाता ॥ ६० ।

हे ध्रुव ! तुम्हारे विरह से कातर होकर मैंने संताप दूर करने की अभिलाषा से तुम्हारे मुख के प्रतिनिधि उदय होते हुए चन्द्र का भी अवलोकन नहीं किया ॥ ६१ ।

तुम्हारे आलाप के तुल्य कोकिल भी अपनी काकली बोली बोलती है, यह जानकर मैं अपने कानों को बालों से ढाँपकर उसका बोलना भी नहीं सुनती ॥ ६२ ।

त्वदङ्गसङ्गमधुरो ध्रुव धूपितया मया।
नाऽनिलोऽपि मयालिङ्गि क्वचिद्विश्रान्तया भृशम् ॥ ६३ ।
के देशाः काश्च सरितः के शैलास्त्वत्कृते ध्रुव।
मया चरणचारिण्या राजपत्न्या न लङ्घिताः ॥ ६४ ।
अध्रुवं सर्वमेवैतत् पश्यन्त्यन्धीकृताऽस्म्यहम् ।
धात्रीं त्रायस्व मां पुत्र प्राप्य त्वं मेऽन्धयष्टिताम् ॥ ६५ ।
मृदुलानि तवाऽङ्गानि क्वेमानि क्व तपस्त्विदम् ।
परुषं पुरुषैः साध्यं परुषाङ्गैर्नरर्षभ ॥ ६६ ।
अनेन तपसा वत्स त्वयाऽऽप्यं किमनेनसा।
धराधोशतनूजत्वादधिकं तद्वदाऽधुना ॥ ६७ ।

त्वदङ्गेति। हे ध्रुव अनिलोऽपि मया क्वचित् कदाचिन्नाऽऽलिङ्गितो नाऽभिष्वक्तः। कथम्भूतः ? त्वदङ्गसङ्गमधुरस्त्वदवयवसम्बन्धाच्छीतलः त्वदङ्गसङ्गवत्कोमल इति वा। मया कथम्भूतया ? भृशमत्यर्थं विश्रान्तया विशेषेण सन्तप्तया विगतश्रान्ततया सत्या वेत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन्ती स्वात्मानं विशिनष्टि। माशब्दस्य मायावाचकत्वान्मया मायया पुत्रस्नेहमय्या कृत्वा धूपितया त्वद्वियोगक्षुभितयेत्यर्थः। धूपितमाययेति पाठे पुत्रस्नेहरूपेणोद्बुद्धमाययेत्यर्थः ॥ ६३-६४ ।

अध्रुवं ध्रुवेण त्वया रहितम्। अन्धयष्टिताम् अन्धलकुटताम् ॥ ६५ ।

परुषं तपः परुषाङ्गैः पुरुषैः साध्यं क्व तव कोमलान्यमून्यङ्गानि क्वेत्यर्थः ॥६६।

तपसा कीदृशेन अनेनसा न विद्यते एनः पापं यस्मात्तेन सर्वपापनिवर्तकेनेत्यर्थः ॥ ६७ ।

हे ध्रुव ! तुम्हारे स्नेह से अतिमात्र संतप्त होकर, किसी स्थान में विश्राम करने के लिये बैठ जाने पर तुम्हारे अंगस्पर्श के समान मधुर (मलय) वायु का भी सेवन मैंने नहीं किया ॥ ६३ ।

हे ध्रुव मैंने राजपत्नी होने पर भी तुम्हारे कारण कौन देश, कौन सी नदी और पर्वत पैदल ही लंघन नहीं किये ? ॥ ६४ ।

मैं सब स्थानों को ध्रुव से हीन देखती हुई अन्धी हो गयी। बेटा ! अब तो तुम्हीं इस अन्धी माता की लकड़ी (छड़ी) बनकर मेरी रक्षा करो ॥ ६५ ।

हे नरश्रेष्ठ ! कहाँ तो ये सब तुम्हारे अतिकोमल अंग, और कहाँ कठोर अंगवाले पुरुषों से साधनीय यह कठोर तपस्या ? ॥ ६६ ।

हे वत्स ! इस कठोर तपस्या के द्वारा निष्पाप तुम राजपुत्र होने की अपेक्षा अधिक और क्या पावोगे ? उसे बतलाओ ॥ ६७ ।

अनेन वयसा बाल खेलनीयं त्वयाऽनिशम् ।
बालक्रीडनकैरन्यैः सवयः शिशुभिः समम् ॥ ६८ ।
ततः कौमारमासाद्य वयोऽभिध्यानशीलिना ।
भवता सर्वविद्यानां भाव्यं वै पारदृश्वना ॥ ६९ ।
वयोऽथ चतुरं प्राप्य योषास्रक्चन्दनादिकान् ।
निर्वेक्ष्यसि बहून् भोगानिन्द्रियार्थान् कृतार्थयन् ॥ ७० ।
उत्पाद्याऽथ बहून्पुत्रान् गुणिनो धर्मवत्सलान् ।
परिसंक्रामितश्रीकस्तेष्वथो त्वं तपश्चर ॥ ७१ ।
इदानीमेव तपसि बाल्ये वयसि कः श्रमः ।
पादाङ्गुष्ठकरीषाग्निः कदा मौलिमवाप्स्यति ॥ ७२ ।

सवयः शिशुभिः समानवयस्कैर्बालैः । कौमारं वय आसद्येत्यन्वयः । अभिध्यानशीलिना अनुसन्धानशीलिनेत्यर्थः । अध्ययनशीलिनेति क्वचित् । पारदृश्वना पारगेन ॥ ६९ ।

चतुरं दक्षं यौवनम् । यद्वा कौमारपौगण्डकिशोरापेक्षया चतुरं चतुर्थं वय इत्यर्थः । थलोप आर्षः । तथा चोक्तम्—

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ।
आपञ्चदशात् कैशोरं यौवनं तु ततः परम् ॥ इति ।

निर्वेक्ष्यसि भोक्ष्यसि । इन्द्रियार्थान् विषयान् ॥ ७० ।

इदानीमिति । इदानीमेव बाल्ये तपसि कः श्रमः ? बाल्यमारभ्य वार्धक्यपर्यन्तं तपःकरणेऽनन्तश्रम इत्यर्थः । अनन्तश्रमे दृष्टान्तः । पादाङ्गुष्ठेति । करीषाग्निर्गोमयाग्निः मौलिं मस्तकम् ॥ ७२ ।

बच्चे ! इस वयस् में तुमको खिलौना लेकर अपने समवयस्क लड़कों के साथ रात-दिन खेलना चाहिये, तत्पश्चात् किशोर अवस्था होने पर तुमको अध्ययन में तत्पर होकर समस्त विद्याओं का पारदर्शी होना चाहिये ॥ ६८-६९ ।

तदनन्तर यौवन प्राप्त होने पर इन्द्रियार्थों को कृतार्थ करते हुए चन्दन इत्यादि अनेक भोगों का उपभोग करना चाहिए ॥ ७० ।

उस घड़ी धर्मवत्सल, गुणवान् अनेक पुत्रों का उत्पादन कर और राजलक्ष्मी को उन सबके अधीन कर तब तुम तपस्या करने बैठना ॥ ७१ ।

इस बाल्य-अवस्था ही से तपश्चर्या में प्रवृत्त होने में कितना परिश्रम है ? भला पैर के अँगूठे का करीषाग्नि (कण्डी की आग) मस्तक पर कब तक पहुँचेगा ? ॥ ७२ ।

विपक्षपरिभूतेन हृतमानेन केनचित् ।
परिभ्रष्टश्रिया वाऽपि तप्तव्यं तेषु को भवान् ॥ ७३ ।
हृतमानेन तप्तव्यं निशम्येति वचो ध्रुवः ।
दीर्घमुष्णं हि निःश्वस्य पुनर्दध्यौ हरिं हृदि ॥ ७४ ।
जनयित्रीमनाभाष्य भूतभीतिं विहाय च ।
ध्रुवोऽच्युतध्यानपरः पुनरेव बभूव ह ॥ ७५ ।
साऽपि भूतावली भीतिं बहुभीषणभूषणा ।
दर्शयन्ती तमभितोऽद्राक्षीच्चक्रं सुदर्शनम् ॥ ७६ ।
परितः परिवेषाभं सूर्यस्योच्चैः स्फुरत्प्रभम् ।
रक्षणाय च रक्षोभ्यस्तस्याऽधोक्षजनिर्मितम् ॥ ७७ ।
भूतावली तमालोक्य स्फुरच्चक्रं सुदर्शनम् ।
ज्वालामालाकुलं तीव्रं रक्षन्तं परितो ध्रुवम् ॥ ७८ ।
अतीव निष्कम्पहृदं गोविन्दार्पितचेतसम् ।
तपोङ्कुरमिवोद्भिद्य मेदिनीं समुदित्वरम् ॥ ७९ ।

समुदित्वरम् सम्यगुत्थितम् ॥ ७९ ।

शत्रु से विजित, अपमानित, श्रीभ्रष्ट, ऐसे ही लोगों के मध्य से कोई व्यक्ति तपस्या करता है, पर तुम इन सबमें कौन हो ? ॥ ७३ ।

"अपमानित जन द्वारा तपस्या करनी उचित है" यह बात सुनकर ध्रुव एक लम्बी उष्ण निःश्वास लेकर फिर हृदय में भगवान् का ध्यान करने लगा ॥ ७४ ।

माता से कुछ वार्तालाप किये बिना ही भूतादिकों के भय को छोड़ ध्रुव फिर अच्युत के ध्यान में तत्पर हो गया और अतिभीषण-भूषित वह भूतावली ध्रुव को भय दिखलाने के लिये उसके समीप जाकर उसके चारों ओर सुदर्शनचक्र को देखने लगी, जो कि सूर्य के परिवेष-मंडल के सदृश उसके चतुर्दिक् देदीप्यमान था, और जिसे स्वयं भगवान् नारायण ने राक्षसगण के हाथ से रक्षा करने के लिये वहाँ पर नियुक्त किया था ॥ ७५-७७ ।

वह भूतावली, ध्रुव को चारों ओर से घेर कर रक्षण करने में तत्पर, ज्वाला-मालाओं से संकुल अत्युज्ज्वल तीव्र सुदर्शनचक्र का दर्शन कर और अत्यन्त स्थिर-चित्त, गोविन्द में अर्पितहृदय, मानो पृथिवी को भेदकर तपरूपी वृक्ष के उगते हुए

साऽपि प्रत्युतभीता तं ध्रुवं ध्रुवविनिश्चयम् ।
नमस्कृत्य यथायातं याता व्यर्थमनोरथा ॥ ८० ।

गर्जत्कादम्बिनीजालं व्योम्नि वै व्याकुलं यथा ।
वृथा भवति सम्प्राप्य मनागनिललोलताम् ॥ ८१ ।

अथ जम्भारिणा सार्धं भीताः सर्वे दिवौकसः ।
संमन्त्र्य त्वरिता जग्मुर्ब्रह्माणं शरणं द्विज ॥ ८२ ।

नत्वा विज्ञापयामासुः परिष्टुत्य पितामहम् ।
वचोऽवसरमालोक्य पृष्टागमनकारणाः ॥ ८३ ।

देवा ऊचुः—

धातरुत्तानपादस्य तनयेन सुवर्चसा ।
तपता तापिताः सर्वे त्रिलोकीतलवासिनः ॥ ८४ ।

सम्यक् संविद्महे तात ध्रुवस्य न मनोषितम् ।
पदं परिजिहीर्षुः स कस्यास्मासु महातपाः ॥ ८५ ।

सा भूतावली । आस्तां तावत्मोहकर्तृता प्रत्युत भीतेत्यर्थः '' ८० ।
वं प्रसिद्धम् । व्याकुलं सत् । व्याकुलं यदीति क्वचित् ॥ ८१ ।
जम्भारिणा इन्द्रेण ॥ ८२ ।

अंकुरसदृश ध्रुवनिश्चय वाले उस ध्रुव को देखकर आप ही भयभीत हो गई । इसके अनन्तर व्यर्थ मनोरथ हो ध्रुव को नमस्कार कर यथास्थान चली गई ॥ ७८-८० ।

जैसे आकाशव्यापी गरजता हुआ मेघचक्र अल्पमात्र वायु के चलते ही कहीं उधिरा जाता है, हे द्विज ! इसके अनन्तर भयभीत समस्त देवतालोग इन्द्र के सहित परामर्श कर शीघ्र ही ब्रह्मा के शरणागत हुए ॥ ८१-८२ ।

उन सब देवताओं के प्रणाम और स्तुति करने के अनन्तर फिर ब्रह्मा के आगमन का कारण जिज्ञासा करने पर बोलने का अवसर पा वे लोग प्रार्थना करने लगे ॥ ८३ ।

देवताओं ने कहा—

"हे विधातः ! बड़े तेजस्वी उत्तानपाद के पुत्र को कठोर तपस्या के तेज से समस्त त्रैलोक्यतलवासी लोग संतप्त हो रहे हैं । पितामह ! हम लोग सम्यक् प्रकार से ध्रुव के मनोगत भाव को नहीं जान सके हैं । वह महातपस्वी हम सब लोगों के मध्य से किसका पद छीन लिया चाहता है" ? ॥ ८४-८५ ।

इति विज्ञापितो देवैर्विहस्य चतुराननः।
प्रत्युवाचाऽथ तान् सर्वान् ध्रुवतो भीतमानसान् ॥८६।

ब्रह्मोवाच—

न भेतव्यं सुरास्तस्माद् ध्रुवाद् ध्रुवपदैषिणः।
व्रजन्तु विज्वराः सर्वे न स वः पदमिच्छति ॥ ८७।
न तस्माद् भगवद्भक्ताद् भेतव्यं केनचित् क्वचित्।
निश्चितं विष्णुभक्ता ये न ते स्युः परतापिनः ॥ ८८।
आराध्य विष्णुं देवेशं लब्ध्वा तस्मात् स्वकांक्षितम्।
भवतामपि सर्वेषां पदानि स्थिरयिष्यति ॥ ८९।
निशम्येति च गीर्वाणाः प्रणोतं ब्रह्मणा वचः।
प्रणिपत्य स्वधिष्ण्यानि प्रहृष्टाः परिवव्रजुः ॥ ९०।
अथ नारायणो देवः तं दृष्ट्वा दृढमानसम्।
अनन्यशरणं बालं गत्वा तार्क्ष्यरथोऽब्रवीत् ॥ ९१।

सुरुच्याः कुचेष्टितं ज्ञात्वा विहस्य ॥ ८६।

देवताओं द्वारा इस प्रकार से जनाये जाने पर चतुरानन ने हँसकर ध्रुव से भीतचित्त उन देवताओं के प्रति यों कहा ॥ ८६।

ब्रह्मा बोले—

"हे देवगण! नित्य (ध्रुव) पद के अभिलाषी ध्रुव से तुम लोगों को कुछ भी नहीं डरना चाहिये। निश्चिन्त होकर तुम लोग जाओ। वह तुम लोगों का पद नहीं चाहता ॥ ८७।

उस भगवद्भक्त से किसी को कहीं भी भय नहीं खाना चाहिये; क्योंकि यह निश्चित (बात) है कि जो लोग विष्णु के भक्त होते हैं, वे कभी दूसरे के सन्तापकारी नहीं होते ॥ ८८।

वह विष्णु भगवान् की आराधना कर और उन्हीं से अपना कांक्षित वरदान प्राप्त कर तुम लोगों के पदों को भी और दृढ़ कर देगा" ॥ ८९।

देवताओं ने ब्रह्मा के कथित इस वचन को सुन, परम प्रसन्न हो, ब्रह्मदेव को प्रणाम कर, अपने-अपने स्थान को प्रस्थान किया ॥ ९०।

अनन्तर नारायण देव ध्रुव को दृढ़चित्त और अनन्यभक्त देखकर, गरुडरथ से वहाँ पर जाकर बोले ॥ ९१।

श्रीविष्णुरुवाच—

प्रसन्नोऽस्मि महाभाग वरं वरय सुव्रत ।
तपसोऽस्मान्निवर्तस्व चिरं खिन्नोऽसि बालक ॥ ९२ ।
वचोऽमृतं समाकर्ण्य पर्युन्मील्य विलोचने ।
इन्द्रनीलमणिज्योतिः पटलीं पर्यलोकयत् ॥ ९३ ।
प्रत्यग्रविकसन्नीलोत्पलानां निकुरम्बकैः ।
प्रोत्फुल्लितां समन्ताच्च रोदसी सरसीमिव ॥ ९४ ।
लक्ष्मीदेवीकटाक्षौघैः कटाक्षितमिवाऽखिलम् ।
ध्रुवस्तदा निरैक्षिष्ट द्यावाभूम्योर्यदन्तरम् ॥ ९५ ।
प्रोद्यत्कादम्बिनीमध्यविद्युद्दामसमानरुक् ।
पुरः पीताम्बरः कृष्णः तेन नेत्रातिथीकृतः ॥ ९६ ।

पटलीं समूहम् । इन्द्रनीलेत्यनेन द्वयेन कृष्ण उत्प्रेक्ष्यते । यद्वा सामान्याकारणेनैव पर्यालोकनमत्रोच्यते ॥ ९३ ।

कामिवेत्याङ्क्षायामाह । **प्रत्यग्रेति** । प्रत्यग्रं विकसन्ति अत्यन्तप्रफुल्लानि यान्युत्पलानि तेषां निकुरम्बकैः समूहैः प्रफुल्लितां प्रकर्षेण विकसिताम् । समन्तात्सर्वतः रोदसी द्यावाभूमी ते एव सरसी सरस्तामिव ॥ ९४ ।

कटाक्षितं विषयीकृतमित्यर्थः ॥ ९५ ।

एवं सामान्यत उत्प्रेक्ष्य विशेषतः श्रीकृष्णं दृष्टवानित्याह । **प्रोद्यदित्यादिना** । **कादम्बिनी** मेघमाला । प्रस्फुरन्मेघमालानामन्तर्यद्विद्युद्दाम तडिन्माला, तत्समाना रुग् दीप्तिर्यस्य सः । तत्र कादम्बिन्या शरीरसाम्यं विद्युद्दाम्नामालायाः साम्यमिति । तेन ध्रुवेण नेत्रातिथीकृतः चक्षुर्गोचरीकृतः ॥ ९६ ।

श्रीविष्णु ने कहा—

हे बालक ! बहुत दिनों से तुम तपश्चर्या में कष्ट पा रहे हो, अब इससे निवृत्त होवो । हे महाभाग ! मैं प्रसन्न हूँ । हे सुव्रत ! वर माँगो ॥ ९२ ।

ध्रुव ने इस अमृतसमान वचन को सुन, दोनों आँखे खोल, इन्द्रनीलमणि के ढेर को सन्मुख देखा ॥ ९३ ।

उसने देखा कि मानो आकाश और पृथिवी का एक सरोवर है, जो नवविकसित नीलकमल के समूह द्वारा शोभा पा रहा है ॥ ९४ ।

तब ध्रुव ने फिर देखा, कि स्वर्ग और पृथिवी के अन्तर्गत समस्त स्थान लक्ष्मीदेवी के कटाक्षवृन्दों से परिपूर्ण हो रहे हैं ॥ ९५ ।

नव-नील जलदजाल के मध्यगत सौदामिनी के समान कान्तिमान् पीताम्बर

नभोनिकषपाषाणो मेरुकाञ्चनरेखितः ।
यथा तथा ध्रुवेणैक्षि तदा गरुडवाहनः ॥ ९७ ।
सुनीलगगनं यद्वद् भूषितं तु कलावता ।
पीतेन वाससा युक्तं स ददर्श हरिं तदा ॥ ९८ ।
दण्डवत् प्रणिपत्याऽथ परितः परिलुण्ठ्य च ।
रुरोद दृष्ट्वेव चिरं पितरं दुःखितः शिशुः ॥ ९९ ।
नारदेन सनन्देन सनकेन सुसंस्तुतः ।
अन्यैः सनत्कुमाराद्यैर्योगिभिर्योगिनां वरः ॥ १०० ।
कारुण्यवाष्पनीरार्द्रपुण्डरीकविलोचनः ।
ध्रुवमुत्थापयाञ्चक्रे चक्री धृत्वा करेण तम् ॥ १०१ ।

नभ आकाश एव निकषपाषाण स्वर्णपरीक्षापाषाणः, स चासौ मेरुरेव काञ्चनं स्वर्णं तेन रेखितोऽङ्कितश्च स यथा दृश्यते, तथा तदा गरुडवाहनो हरिः ध्रुवेण ऐक्षि दृष्टेत्यर्थः । अत्र नभो निकषपाषाणसाम्यं कृष्णस्य । मेरुकाञ्चनरेखितसाम्यं गरुडस्य ॥ ९७ ।

सुनीलं सुष्ठु नीलं गगनं यद्वद्यथा कलावता चन्द्रेण भूषितं पश्यति जनस्तथा स ध्रुवः पीतेन वाससा युक्तं तदा हरिं ददर्शेत्यर्थः । पीतवस्त्रेण सादृश्यं त्वत्र चन्द्रस्य निर्मलत्वेनैव सायंकाले उदयता चन्द्रेणेति व्याख्येयम् ॥ ९८ ।

पितरं सर्वस्य जनयितारम् । पितरं दृष्ट्वा दुःखितः शिशुः यथा रोदिति तथा तं दृष्ट्वेति च ॥ ९९ ।

भगवान् कृष्ण का उसने सन्मुख अवलोकन किया ॥ ९६ ।

सुमेरु की कांचनरेखा से युक्त आकाशरूपी करौटी के समान गरुडयान भगवान् पीताम्बर को ध्रुव ने उस समय देखा ॥ ९७ ।

ध्रुव ने उस पीतवसनधारी चन्द्रभूषित सुनील गगनमण्डल के सदृश हरि का दर्शन किया ॥ ९८ ।

दुःखित शिशु (पुत्र) जैसे बहुत दिनों के अनन्तर अपने पिता को देखकर (सुसुक-सुसुक कर) रोवे, बालक ध्रुव उसी प्रकार से भगवान् को देखते ही दण्डवत् प्रणाम कर चारों ओर लोटकर रोने लगा ॥ ९९ ।

नारद, सनक, सनन्दन और सनत्कुमार आदि अनेक अन्य योगियों से संस्तुत, योगीश्वर चक्रधर ने करुणामय सलिल के द्वारा कमलनयनों को आर्द्रकर हाथ पकड़कर ध्रुव को उठा लिया ॥ १००-१०१ ।

हरिस्तु परिपस्पर्श तदङ्गं धूलिधूसरम् ।
कराभ्यां सुकठोराभ्यां नित्यं शस्त्रपरिग्रहात् ॥ १०२ ।
स्पर्शनाद्देवदेवस्य सुसंस्कृतमयी शुभा ।
वाणी प्रवृत्ता तस्या स्यात् तुष्टावाऽथ ध्रुवो हरिम् ॥१०३।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ध्रुवाख्याने भगवद्दर्शनं नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

सुकठोराभ्यामंतिकठिनाभ्याम् । स इति पाठे स कृष्णः ॥ १०२ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ।

नित्य ही शस्त्रधारण के कारण अत्यन्त कठोर दोनों हाथों से धूलि से धूसर ध्रुव के अंग का स्पर्श किया ॥ १०२ ।

उन देवदेव के स्पर्शमात्र से ध्रुव के मुख से (स्वयं) अतिसंस्कृतमयी वाणी प्रवृत्त हुई, तदनन्तर वह हरि की स्तुति करने लगा ॥ १०३ ।

तपबल का नहिं हो सके, तपफल यह संसार।
लहि हरिदर्शन ध्रुव भये, प्रमुदित अपरम्पार ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ध्रुव-तपस्या-विष्णुदर्शनं नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

॥ अथैकविंशोऽध्यायः ॥

ध्रुव उवाच—

नमो हिरण्यगर्भाय सर्वसृष्टिविधायिने ।
हिरण्यरेतसे तुभ्यं सुहिरण्यप्रदायिने ॥ १ ।
नमो हरस्वरूपाय भूतसंहारकारिणे ।
महाभूतात्मभूताय भूतानां पतये नमः ॥ २ ।

एकाधिकतमे विंशेऽध्याये बालो महामनाः ।
तुष्टाव जगदीशानं लोकास्तिस्तस्य वर्ण्यते ॥ १ ।
सगुणागुणभेदेन तथा विश्वमयात्मना ।
अस्तावीत्परमानन्दं कृष्णं हृष्टमना ध्रुवः ॥ २ ।

तत्र प्रथमतो ब्रह्मरुद्रविष्णुरूपेण प्रणमति । **नमो हिरण्यगर्भायेत्यादिना ।** हिरण्यगर्भाय हिरण्यवर्णाण्डाधाराय । सृष्टिविषयं विज्ञानसामर्थ्यं वा हिरण्यं तद्गर्भे यस्य तस्या इति वा । सर्वसृष्टिविधायिने आध्यात्मिकाधिभूताधिदैविकसकलप्रपञ्च-जनयित्रे । '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्**' इति श्रुतेः । हिरण्य-रेतसे हिरण्यं स्वर्णं रेतो वीर्यं यस्य तस्मै । सुहिरण्यप्रदायिने शोभनं हिरण्यं ज्ञानं काञ्चनं वा तत्प्रदायिने दात्रे । सर्वसिद्धिविधायिन इति पाठे सर्वेषां वृत्तिरूपसिद्धि-विधायिन इत्यर्थः ॥ १ ।

नम इति । हरस्वरूपाय रुद्ररूपाय । भूतसंहारकारिणे प्राणिमात्रप्रलयकर्त्रे । यद्वा हरत्वमेव व्युत्पादयति । **भूतेति** । भूतानां संहरणाद्धर इत्यर्थः । तत्त्वमस्यादि-वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तः सन्नज्ञानं तत्कार्यं च हरतीति हरस्तत्स्वरूपायेति वा । **भूतेति** पूर्ववत् । महाभूतात्मभूताय महाभूतात्मना परिणताय विवर्तमानायेति वा । **यद्वा** महाभूतानामात्माऽहङ्कारस्तद्रूपाय तत्राधिष्ठातृत्वेन जातायेत्यर्थः । भूतानां पतये प्राणिमात्राणां नियन्त्रे ॥ २ ।

(ध्रुवकृत विष्णुस्तुति और ध्रुव को वरदानप्राप्ति)

ध्रुव ने कहा—

सर्वसृष्टिकारी, हिरण्यगर्भरूपी, हिरण्यरेता, निर्मल ज्ञान के दाता, ब्रह्मात्मक आपको प्रणाम है ॥ १ ।

भूतसंहारकर्ता, महाभूतात्मा, भूतपति, हरस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ २ ।

नमः स्थितिकृते तुभ्यं विष्णवे प्रभविष्णवे।
तृष्णाहराय कृष्णाय महाभारसहिष्णवे ॥ ३ ।
नमो दैत्यमहारण्यदाववह्निस्वरूपिणे ।
दैत्यद्रुमकुठाराय नमस्ते शार्ङ्गपाणये ॥ ४ ।
नमः कौमोदकीव्यग्रकराग्राय गदाधर ।
महादनुजनाशाय नमो नन्दकधारिणे ॥ ५ ।

स्थितिं करोतीति स्थितिकृत् तस्मै स्थितिकृते पालयित्रे इत्यर्थः। विष्णवे व्यापकाय विशते प्रविशत इति वा। प्रभविष्णवे भवनशीलाय। तृष्णा तर्षो विषयवासना वा तद्धराय। कृष्णाय सदानन्दरूपायेति पुरुषार्थता दर्शिता।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ इति स्मृतेः।

महाभारसहिष्णवे वराहरूपेण कूर्मरूपेण शेषरूपेण वा ॥ ३ ।

विष्णुत्वं प्रपञ्चयन्प्रणमति। **नमो दैत्येत्यारभ्य** जरायुजेत्यन्तेन। दैत्या एव महारण्यानि तेषु दावाग्निस्वरूपिणे वनाग्निरूपाय। दितेः पुत्राः दैत्यास्त एव द्रुमास्तेषां कुठाराय परश्वधायच्छेत्रे इत्यर्थः। शृङ्गैर्निमितं शार्ङ्गं धनुः पाणौ यस्य स तस्मै ॥ ४ ।

कुमुदाख्यस्य दैत्यस्येयं कौमोदकी गदा, तस्या धारणार्थं व्यग्राणि उद्युक्तानि कराग्राण्यङ्गुलयो यस्य तस्मै। गदां कौमोदकीं धरतीति गदाधरः। महादनुजाः दनोः कश्यपभार्याया जाता विप्रचित्तिप्रमुखास्तेषां नाशाय। नन्दकस्तन्नामा खड्गस्तद्धारिणे ॥ ५ ।

पालनपरायण, विष्णुरूप, महाभार के सहिष्णु, तृष्णाहर, सर्वप्रभु कृष्ण को प्रणाम है ॥ ३ ।

दैत्यकुलमहावन के दावानलस्वरूप आपको नमस्कार है, दानववृक्षसमूह के कुठाररूपी आपको प्रणाम है ॥ ४ ।

हे गदाधर ! कौमोदकी गदा आपके हस्ताग्र में उद्यत रहती है, हे नन्दक नामक खड्गधारी ! महादानवविनाशक ? आपको नमस्कार है ॥ ५ ।

नमः श्रीपतये तुभ्यं नमश्चक्रधराय च।
धराधराय वाराहरूपिणे परमात्मने ॥ ६ ।
नमः कमलहस्ताय कमलावल्लभाय ते।
नमो मत्स्यादिरूपाय नमः कौस्तुभवक्षसे ॥ ७ ।
नमो वेदान्तवेद्याय नमः श्रीवत्सधारिणे।
नमो गुणस्वरूपाय गुणिने गुणवर्जिते ॥ ८ ।
नमस्ते पद्मनाभाय पाञ्चजन्यधराय च।
वासुदेव नमस्तुभ्यं देवकीनन्दनाय च ॥ ९ ।

श्रयन्त्येतां योगिनोऽयोगिनो वेति श्रीर्ब्रह्मविद्याऽविद्या वा तयोः पतयेऽधिष्ठात्रे नियन्त्रे वा। चक्रं सुदर्शनं तद्धराय। धराधराय पृथिव्याश्रयाय तदुद्धर्त्रे वा सुमेरव इति वा। मेरुः शिखरिणामहमिति भगवद्वचनात्। वाराहरूपिणे सूकररूपधारिणे। परमात्मने परमेश्वराय ॥ ६ ।

कमलहस्ताय लीलाकमलधारिणे। कमलावल्लभाय लक्ष्मीकान्ताय। मत्स्यादि-रूपाय मीनादिरूपिणे। आदिशब्देन कूर्मादयो गृह्यन्ते। कौस्तुभवक्षसे कौस्तुभनामा मणिर्वक्षसि यस्य, तस्मै ॥ ७ ।

वेदान्तवेद्याय वेदैकगम्याय। तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति श्रुतेः। श्रीवत्सो भृगुपादलक्ष्म दक्षिणावर्तलोमावलिविशेषो वा तद्धारिणे। गुणस्वरूपाय सत्त्वादिरूपाय। गुणिने जीवात्मने प्रधानात्मन इति वा। गुणवर्जिते वस्तुतो गुण-वर्जिताय। विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। गुणवर्जित इति वा पाठः ॥ ८ ।

पद्मनाभाय भुवनात्मकं पद्मं नाभौ यस्य तस्मै। पञ्चजननामा दैत्यस्तदङ्गप्रभवः शङ्खः पाञ्चजन्यस्तद्धराय। वासुदेवः वसुस्तेजोरूपो देवः प्रकाशात्मा वसुश्चासौ देवश्चेति तथा वसुदेव एव वासुदेवः। स्वार्थे तद्धितः। सर्वत्राऽसौ वसति समस्तं वाऽस्मिन् वसतीति वासुदेवः। तदुक्तं वैष्णवे—

आप ही वराहरूप से पृथिवी के उद्धारकर्ता हैं, चक्रधर परमात्मा श्रीपति को प्रणाम करता हूँ, जिसके करकमल में कमल और वक्षःस्थल में कौस्तुभमणि शोभित है, उस मत्स्यादिरूपधारी कमला-वल्लभ को नमस्कार है ॥ ६-७ ।

वेदान्तवेद्य आपको नमस्कार है, श्रीवत्सचिह्नधर को प्रणति है, त्रिगुणात्मक गुणत्रयवर्जित, गुणस्वरूप आपको नमस्कार है ॥ ८ ।

पांचजन्य शङ्ख के धारणकर्ता पद्मनाभ को प्रणाम है, देवकीनन्दन ! वासुदेव ! आपको नमस्कार है ॥ ९ ।

प्रद्युम्नाय नमस्तुभ्यमनिरुद्धाय ते नमः ।
नमः कंसविनाशाय नमश्चाणूरमर्दिने ॥ १० ॥
दामोदर हृषीकेश गोविन्दाऽच्युत माधव ।
उपेन्द्र कैटभाऽराते मधुहन्तरधोक्षज ॥ ११ ॥

सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥ इति ।

वसुदेवस्याऽपत्यं वासुदेव इति वा तत्सम्बोधनं तथा । देवकीनन्दनाय दीव्यति सुखात्मना संसारचक्रेण वा क्रीडतीति विद्या देवकपुत्री वा देवकी, तां नन्दयतीति तथा ॥ ९ ।

प्रद्युम्नाय प्रकृष्टं द्युम्नं तेजो यस्य तस्मै । न केनाऽप्यवतारादौ रुद्ध इत्यनिरुद्धस्तस्मै । उभयत्राऽर्थान्तरं स्पष्टम् । कंसविनाशाय स्वकार्यं कंस्ते व्याप्नोतीति कंसमज्ञानं कंसनामाऽसुरो वा तद्विनाशाय । चाणूरमर्दिने चश्चौरो विवेकापहारित्वादप्रबोधस्तेनाणुः सूक्ष्मतरः उः शिवस्तस्य रः प्रकाशो यत्र तच्चाणूरं जगत्, चाणूराख्यो दैत्यो वा तन्मर्दिने ॥ १० ।

दामबन्धनं माया उदरेऽन्तर्यस्य मायाऽधिष्ठानत्वात् स तथा । यशोदया उलूखलेनाऽस्योदरं दाम्ना बद्धम्, तेन वा दामोदरस्तत्सम्बोधनं तथा । हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो नियन्ता । चन्द्रसूर्ययो रश्मयो हृष्टाः केशा यस्य स वा हृषीकेशस्तत्सम्बोधनं तथा हे हृषीकेश । तथा चोक्तं भारते—

सूर्याचन्द्रमसोः शश्वदंशुभिः केशसंज्ञितैः ।
बोधयन्स्वापयंश्चैव जगदुत्तिष्ठते पृथक् ॥
बोधनात्स्वापनाच्चैव जगतो हर्षणं भवेत् ।
अग्नीषोमममयैरेवं कर्मभिः पाण्डुनन्दन ॥
हृषीकेशोऽहमीशानो वरदो लोकपावनः[1] ॥ इति ।

गोविन्द हे प्राप्त कामधेन्वैश्वर्य । अच्युत स्वभावान्न प्रच्यवत इत्यच्युतस्तत्सम्बोधनं तथा । मा लक्ष्मीरविद्या वा तयोर्धव नियन्तः हे माधव । इन्द्रयोपरीन्द्रं इत्युपेन्द्रः । तथा च हरिवंशे—

ममोपरि यथेन्द्रस्त्वं स्थापितो गोभिरीश्वरः ।
उपेन्द्र इति लोकास्त्वां गास्यन्ति भुवि सर्वतः ॥ इति ।

आप ही पद्युम्न हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ, अनिरुद्धरूप आपको नमस्कार है; आप ही कंसध्वंसी और चाणूरमर्दी हैं, आपको प्रणाम है ॥ १० ।

हे दामोदर ! हृषीकेश ! गोविन्द ! अच्युत ! माधव ! कैटभरिपो ! मधुसूदन !

---

१. 'भावन' इति क्वचित्पाठः ।

नारायणाय नरकहारिणे पापहारिणे।
वामनाय नमस्तुभ्यं हरये शौरये नमः ॥ १२ ।

अनन्ताय नमस्तुभ्यमनन्तशयनाय च।
रुक्मिणीपतये तुभ्यं रुक्मिप्रमथनाय च ॥ १३ ।

चैद्यहन्त्रे नमस्तुभ्यं दानवारेऽसुरारये ।
मुकुन्द परमानन्द नन्दगोपप्रियाय च ॥ १४ ।

तत्सम्बोधनं तथा। इन्द्रस्य उपसमीपेऽवरजत्वेन जात इति वा उपेन्द्रस्तत्सम्बोधनं तथा। कैटभाऽराते कैटभनाम्नो दैत्यस्याऽरे। मधुहन्तर्मधुनाम्नो दैत्यस्य नाशकर्तः। अधः इन्द्रियेण पादेनाऽवतारादौ जायते इत्यधोक्षजः। यद्वा अक्षजमैन्द्रियकं ज्ञानं तदधोऽर्वागेव यद्यस्मात्तत्सम्बोधनं तथा ॥ ११ ।

नराणां जीवानामाश्रयाय **नारायणाय**। पापिनो येषु शास्यन्ते, ते नरकाः स्थानविशेषाः, नरकनामाऽसुरो वा तद्धारिणे। पापहारिणेऽधर्मनाशकर्त्रे। वामयति भक्तानां संसारदुःखमिति वामनस्तस्मै। अज्ञानं तत्कार्यं हरतीति हरिस्तस्मै। शूरस्याऽपत्यं शौरिस्तस्मै ॥ १२ ।

अनन्ताय अनन्तनागाय त्रिविधपरिच्छेदशून्याय वा। नारायणाऽवतारेऽनन्तशयनाय शेषशायिने। **रुक्मिणीपतये** लक्ष्मीकान्ताय। रुक्मिणी कृष्णजन्मनीति पराशरवचनात्। 'वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयम्बरे' इति शुकोक्तेश्च। रुक्मिणं रुक्मिण्या भ्रातरं प्रमथयति धनुरादिकं छित्वा केशश्मश्रूणि मुण्डयतीति रुक्मिप्रमथनस्तस्मै ॥ १३ ।

चैद्यवंशे भवश्चैद्यः शिशुपालः तद्धन्त्रे। दनोः पुत्रा दानवास्तदरे तेषां शत्रो। असुराणामरये नाशकाय। मुकुन्द मुक्तिद। परम अविद्या तत्कार्यविनिर्मुक्त। आनन्द सुखरूप। परमानन्देत्येकं पदं वा। **'स परमानन्दः'** इति श्रुतेः। नन्दगोपस्य द्रोणवस्ववतारस्य प्रियाय पुत्राय हितैषिण इति वा ॥ १४ ।

अधोक्षज ! हे नरकान्तक ! पापापहारिन् ! नारायण ! वामन ! आपको नमस्कार है, हे हरे ! शौरे ! आपको प्रणाम है ॥ ११-१२ ।

अनन्तरूप, रुक्मिप्रमथन, रुक्मिणीपति, आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ।

हे शिशुपालविनाशक ! दानवरिपो ! असुरारे ! मुकुन्द ! परमानन्द ! नन्दगोपप्रिय ! आपको प्रणाम करता हूँ ॥ १४ ।

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष दनुजेन्द्रनिषूदन ।
नमो गोपालरूपाय वेणुवादनकारिणे ॥ १५ ॥

गोपीप्रियाय केशिघ्ने गोवर्धनधराय च ।
रामाय रघुनाथाय राघवाय नमो नमः ॥ १६ ॥

रावणारे नमस्तुभ्यं विभीषणशरण्यद ।
अजाय जयरूपाय रणाङ्गणविचक्षण ॥ १७ ॥

महादेवाराधनकाले पुण्डरीकीकृतमक्षि नेत्रं येन महादेवात् पुण्डरीकतुल्यनेत्रप्राप्तत्वाद्वा पुण्डरीकाक्षस्तत्सम्बोधनं तथा । तथा चादित्यपुराणे—"एवमुक्त्वा ददौ चक्रमित्युपक्रम्य नेत्रं च पद्मसदृशं विष्णवे प्रभविष्णवे" इति । यद्वा पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्य स तथा तत्सम्बोधनं तथा । यद्वा पुण्डरीकाक्ष हे अक्षयपरमधाम । 'पुण्डरीकं परं धामाक्षयमव्ययमुच्यत' इति वचनात् । दनुजेन्द्राः हिरण्यकशिपुप्रभुतयस्तेषां निषूदन नाशक । गोपालरूपाय स्फुरद्बर्हदलोद्बद्धादिरूपाय । वेणुवादनकारिणे वेणुवाद्यकर्त्रे ॥ १५ ॥

गोप्यो राधाप्रभृतयस्तासां प्रियाय । केशिघ्ने केशिनाम्नो दैत्यस्य हन्त्रे । गोवर्धनं धरतीति गोवर्धनधरस्तस्मै । योगिनो रमन्ते अस्मिन्निति रामः । तथा च पाद्मे—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माऽभिधीयते ॥ इति ।

रमयति नयनमनांसि—इति वा रामस्तस्मै । रघुनाथाय रघुवंशोद्भवानां स्वामिने । राघवाय रघुवंशोद्भवाय ॥ १६ ॥

रावणारे दशग्रीवस्य शत्रो । विभीषणस्य शरणमेव शरण्य आश्रयस्तं ददातीति तथा तत्सम्बोधनं विभीणशरण्यद । अजाय जन्मरहिताय । जयरूपाय जयस्वरूपाय । रणाङ्गणविचक्षण रणभूमौ दक्ष ॥ १७ ॥

हे दनुजेन्द्रनिषूदन ! पुण्डरीकाक्ष ! मेरा प्रणाम है, बाँसुरी-मधुर-ध्वनिकारी गोपालरूपधारी आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १५ ॥

आप ही गोपियों के प्रियतम हैं, केशिविनाशी, गोवर्धनगिरि के धारणकर्ता हैं, आप ही राम, रघुनाथ, राघव हैं, आपको बारंबार प्रणाम है ॥ १६ ॥

हे रावणरिपो ! विभीषण के शरणदाता ! रणांगणविचक्षण ! जयस्वरूप ! अज ! आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १७ ॥

क्षणादिकालरूपाय नानारूपाय शार्ङ्गिणे ।
गदिने चक्रिणे तुभ्यं दैत्यचक्रविमर्दिने ॥ १८ ।
बलाय बलभद्राय बलारातिप्रियाय च ।
बलियज्ञप्रमथन नमो भक्तवरप्रद ॥ १९ ।
हिरण्यकशिपोर्वक्षो विदारण रणप्रिय ।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ॥ २० ।
नमस्ते धर्मरूपाय नमः सत्त्वगुणाय च ।
नमः सहस्रशिरसे पुरुषाय पराय च ॥ २१ ।

क्षण आदिर्यस्य स क्षणादिः, कालस्तद्रूपाय । नानारूपाय प्रपञ्चात्मने । शार्ङ्गं धनुः वर्तन्ते यस्य तस्मै शार्ङ्गिणे । गदा कौमोदक्याख्याऽस्याऽस्तीति गदी तस्मै गदिने । चक्रं सुदर्शनाख्यं वर्ततेऽस्येति चक्री तस्मै । दैत्यानां चक्रं समूहं विमर्दितुं शीलं यस्य तस्मै दैत्यचक्रविमर्दिने ॥ १८ ।

बलाऽधिक्याद्बलः सङ्कर्षणस्तस्मै बलाय । बलोच्छ्रयाद् बलभद्रः, स एव तस्मै बलभद्राय । बलस्याऽसुरस्याऽरातिः शत्रुरिन्द्रस्तस्य प्रियाय । बलियज्ञप्रमथन बलिनाम्नोऽसुरस्य यज्ञविध्वंसन । भक्तानां बलप्रद भक्तबलप्रद, अभक्तानां बलं प्रकर्षेण द्यति खण्डयतीति वा । 'दोऽवखण्डने' इति धातुः ॥ १९ ।

हिरण्यकशिपो दैत्यस्य वक्षो वक्षस्थलं विदारयतीति तथा । रणप्रिय संग्रामोत्सुक । ब्रह्मभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो हितो ब्रह्मण्यः, स चासौ देवश्चेति तस्मै । ब्राह्मणरूपायेति क्वचित् । गवां ब्राह्मणानां च हिताय ॥ २० ।

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मस्तद्रूपाय । तथा च पारमर्षं सूत्रम्—'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' इति । धर्माख्यदेवतारूपायेति वा । सत्त्वं गणो यस्मिंस्तस्मै शुद्धसत्त्वात्मकायेत्यर्थः ।

आप क्षणादिकल के रूप, अनेक अवतारधारी, शार्ङ्गधर हैं, आप ही गदाधर, चक्रपाणि, दैत्यवर्गविनाशी हैं, आपको मेरा प्रणाम है ॥ १८ ।

हे बलदेव ! बलभद्र ! बलाराति (इन्द्र) प्रिय ! बलियज्ञ-प्रमथन ! भक्तजनवरप्रद ! आपको प्रणाम है ॥ १९ ।

हे हिरण्यकशिपुदैत्य के वक्षःस्थलविदारक ! समरप्रिय ! गोब्राह्मणहितकारिन् ! ब्रह्मण्यदेव ! आपको नमस्कार करता हूँ ॥ २० ।

धर्मरूप आपको प्रणाम, सत्त्वगुणस्वरूप आपको नमस्कार, सहस्रशीर्षा परमपुरुष आपको मेरा प्रणाम है ॥ २१ ।

सहस्राक्ष सहस्रांघ्रे सहस्रकिरणाय च ।
सहस्रमूर्ते श्रीकान्त नमस्ते यज्ञपूरुष ॥ २२ ।
वेदवेद्यस्वरूपाय नमो वेदप्रियाय च ।
वेदाय वेदगदिने सदाचाराध्वगामिने ॥ २३ ।
वैकुण्ठाय नमस्तुभ्यं नमो वैकुण्ठवासिने ।
विष्टरश्रवसे तुभ्यं नमो गरुडगामिने ॥ २४ ।

सहस्रशिरांस्यस्य तस्मै सहस्रशीर्षेत्यादि श्रुतेः । पूर्णत्वात्पुरुषः, पुरि शयनाद्वा पुरुषः । 'नवद्वारे पुरे शेते पुरुषस्तेन चोच्यते' । कार्ये कारणतया पूर्वमपि स्थितत्वाद्वा पुरुषः । तथा च श्रुतिः—पूर्वमेवाहमिहासं तत्पुरुषस्य पुरुषत्वमिति । तद्रूपाय । पराय परमेश्वराय ॥ २१ ।

सहस्रमक्षीणि यस्य तत्सम्बोधनं तथा । सहस्रमंघ्रयो यस्य तत्सम्बोधनं तथा । सहस्रमपरिमिताः किरणा यस्य सूर्यरूपस्य तस्मै । सहस्रमपरिमितामूर्तिर्यस्य तत्सम्बोधनं तथा । श्रीकान्त लक्ष्मीपते । यज्ञपूरुष यज्ञाऽधिष्ठातृपुरुष ॥ २२ ।

वेदवेद्यो वेदैकवेद्यस्तत्स्वरूपाय । वेदप्रियाय वेदप्रवर्तकाय । वेदाय वेदस्वरूपाय । वेदनं वेदः, स्वप्रकाशश्चिदात्मा, तद्रूपायेति वा । वेदान् गदितुं कथयितुं व्यस्तुं वा शीलं यस्य तस्मै वेदव्यासरूपायेत्यर्थः । सदाचाररूपो योऽध्वा मार्गस्तेन गन्तुं शीलं यस्य तस्मै तत्प्रवर्तकायेत्यर्थः ॥ २३ ।

वैकुण्ठाय विकुण्ठायाः पुत्राय । पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सहितः सुरैः । तस्यां सकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयमिति । विकुण्ठा माया तामधिष्ठाय तिष्ठतीति वैकुण्ठस्तस्मा इति वा । वैकुण्ठे वस्तुं शीलं यस्य तस्मै । विष्टं व्याप्तिं रान्ति तर्कयन्तीति विष्टरा याज्ञवल्क्यादयस्तेभ्यः श्रूयत इति विष्टरश्रवाः । विष्टरे शब्दप्रपञ्चमये वेदे श्रूयत इति वा तस्मै । गरुडेन गन्तुं शीलं यस्य तस्मै ॥ २४ ।

हे सहस्राक्ष ! सहस्रपाद ! सहस्रकिरण ! सहस्रमूर्ते ! यज्ञपुरुष ! श्रीकान्त ! आपको प्रणति करता हूँ ॥ २२ ।

आपका स्वरूप वेद ही से वेदनीय है और आपको वेद परम प्रिय है, आप ही वेद के वक्ता एवं वेदमूर्ति हैं, आप ही (वेद के द्वारा) सदाचारपथ के प्रवर्तक हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २३ ।

हे वैकुण्ठ ! आपको प्रणाम है, हे वैकुण्ठवासिन् ! आपको नमस्कार है, हे गरुड़वाहन ! विष्टरश्रवा ! आपको प्रणाम है ॥ २४ ।

विष्वक्सेन नमस्तुभ्यं जगन्मय जनार्दन।
त्रिविक्रमाय सत्याय नमः सत्यप्रियाय च ॥ २५।
केशवाय नमस्तुभ्यं मायिने ब्रह्मगायिने।
तपोरूपाय तपसां नमस्ते फलदायिने ॥ २६।
स्तुत्याय स्तुतिरूपाय भक्तस्तुतिरताय च।
नमस्ते श्रुतिरूपाय श्रुत्याचारप्रियाय च ॥ २७।

विष्वक्सेन विष्वगञ्चति पलायन्ते दैत्यसेना यस्योद्योगमात्रेण। यद्वा विष्वगञ्चती सर्वतः प्रसर्पन्ती कैश्चिदप्यनिवारिता सेना, यस्य तत्सम्बोधनं तथा। जगन्मय प्रपञ्चरूप। **'इदं सर्वं यदयमात्मेति'** श्रुतेः। विरोधिलक्षणया जनाः पुण्यजना राक्षसास्तानर्दयतीति दाशरथिरूपेण जनमात्रं वा अर्दयति प्रलयकाल इति तत्सम्बोधनं हे जनार्दन। **त्रिविक्रमायेति** ॥ २५।

केशवाय केशिनामानं दैत्यं हतवानिति केशवस्तस्मै। तथा च हरिवंशे—

यस्मात्त्वया हतः केशी तस्मान्मच्छासनं शृणु।
केशवो नाम नाम्ना त्वं ख्यातो लोके भविष्यसि ॥ इति।

केशसंज्ञिताः सूर्यादिसङ्क्रान्ता अंशवस्तद्वत्तया वा केशवः।

अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः। इति महाभारते।

'ब्रह्मविष्णुशिवाख्याताः शक्तयः केशसंज्ञिताः' इत्यादौ केशशब्दः शक्तिपर्यायः।

को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवांके सम्भूतौ ततः केशवनाम वा ॥ इति हरिवंशे।

तत्सम्बोधनं वा तथा। मायाख्याशक्तिर्वर्तते यस्य तस्मै। ब्रह्मगायिने वेदगायिने। तपोरूपाय तपःस्वरूपाय आलोचनरूपायेति वा। तपसा तपस्विनां फलदायिने कर्मफलदात्रे ॥ २६।

स्तुत्याय स्तोत्रस्य विषयभूताय। स्तुतिरूपाय स्तोत्रस्वरूपाय। भक्तस्तुतिरताय भक्तानां स्तुतौ प्रीयमाणाय। श्रुतिरूपाय वेदरूपाय। वेदरूपायेति क्वचित्। श्रुत्याचारप्रियाय श्रुत्याचारेण प्रीयमाणाय ॥ २७।

हे विष्वक्सेन! जगन्मय! जनार्दन! आपको नमस्कार है, हे सत्य! सत्यप्रिय! त्रिविक्रम! आपको प्रणाम है ॥ २५।

हे वेदगायक! मायामय! केशव! आपको नमस्कार है, हे तपोरूप! आप ही तपस्या के फलदाता हैं, आपको प्रणाम है ॥ २६।

आप स्तुति के योग्य, स्तोत्रस्वरूप और भक्तस्तव में तत्पर हैं, श्रुतिस्वरूप एवं श्रुतिकथित आचार के प्रेमी आपको मेरा नमस्कार है ॥ २७।

अण्डजाय नमस्तुभ्यं स्वेदजाय नमोऽस्तु ते ।
जरायुजस्वरूपाय नम उद्भिज्जरूपिणे ॥ २८ ॥
देवानामिन्द्ररूपोऽसि ग्रहाणामसि भानुमान् ।
लोकानां सत्यलोकोऽसि सिन्धूनां क्षीरसागरः ॥ २९ ॥
सुराऽपगाऽसि सरितां सरसां मानसं सरः ।
हिमवानसि शैलानां धेनूनां कामधुग् भवान् ॥ ३० ॥

अण्डजाय पक्षिस्वरूपाय । स्वेदजाय मत्कुणादिरूपाय । जरायुजस्वरूपाय मानुषादिरूपाय । उद्भिज्जरूपिणे तरुरूपिणे ॥ २८ ।

विभूतिरूपेण स्तौति । देवानामित्यारभ्य त्वामाहुर्जीवनेश्वरमित्यन्तेन । देवानां वस्वादित्यादीनामिन्द्ररूपोऽसि भवसि । **'देवानामस्मि वासवः'** इति भगवद्वचनात् । नवग्रहाणां मध्ये भानुमान् सूर्योऽसि । चतुर्दशलोकानां मध्ये सत्यलोको ब्रह्मलोकोऽसि । सप्तानां सिन्धूनां सागराणां मध्ये क्षीरसागरोऽसीति सर्वत्राऽनुषज्जते ॥ २९ ।

सरितां नदीनां मध्ये सुराऽपगा गङ्गाऽसि । **'स्रोतसामस्मि जाह्नवीति'** भगवद्वचनात् । सरसां सरोवराणां मध्ये मानसं ब्रह्मणो मनसो भवं सरोऽसि । तथा च रामायणे—

कैलासे पर्वते राम मनसा निर्मितं सरः ।
ब्रह्मणा रघुशार्दूल मानसं नाम तेन तत् ॥ इति ।

शैलानां पर्वतानां मध्ये हिमवान् हिमालयोऽसि । **'स्थावराणां हिमालयः'** इति भगवद्वचनात् । धेनूनां मध्ये कामधुक सुरभिर्भवानसि । **'धेनूनामस्मि कामधुक्'** इति भगवद्वचनात् ॥ ३० ।

अण्डज, स्वदेज, जरायुज और उद्भिज्ज प्राणिमात्र के स्वरूपधारी आपको अनेक नमस्कार करता हूँ ॥ २८ ।

आप देवगण के मध्य इन्द्ररूप हैं, ग्रहगण में सूर्यस्वरूप हैं, समस्त लोकों में सत्यलोक हैं, और सब समुद्रों में क्षीरसागर हैं ॥ २९ ।

आप नदियों में गंगा, सरोवरों में मानससर, पर्वतों में हिमालय और गौओं में कामधेनु हैं ॥ ३० ।

धातूनां हाटकमसि स्फटिकश्चोपलेष्वसि ।
नीलोत्पलं प्रसूनेषु वृक्षेषु तुलसी भवान् ॥ ३१ ॥
सर्वपूज्यशिलानां वै शालग्रामशिला भवान् ।
मुक्तिक्षेत्रेषु काशी त्वं प्रयागस्तीर्थपङ्क्तिषु ॥ ३२ ॥
वर्णेषु श्वेतवर्णोऽसि द्विपदां ब्राह्मणो भवान् ।
गरुडोऽस्यण्डजेष्वीश व्यवहारेषु वाग् भवान् ॥ ३३ ॥
वेदेषूपनिषद्रूपो मन्त्राणां प्रणवो ह्यसि ।
अक्षराणामकारोऽसि यज्वनां सोमरूपधृक् ॥ ३४ ॥

अष्टानां [1]सुवर्णादीनां धातूनां मध्ये **हाटकं** सुवर्णमसि । उपलेषु पाषाणेषु मध्ये स्फटिकरूपपाषाणोऽसि । प्रसूनेषु पुष्पेषु नीलोत्पलं नीलपद्ममसि । वृक्षेषु मध्ये तुलसी सुरसा भवानसि । **'तुलसी सुरसा गौरी भूतघ्नी बहुमञ्जरी'** इति धन्वन्तरिः ॥ ३१ ॥

सर्वेषां सर्वा वा याः पूज्यशिलास्तासां मध्ये शालग्रामशिला भवानसि । मुक्तिक्षेत्रेषु मध्ये काशी त्वमसि । तीर्थपङ्क्तिषु तीर्थसमूहेषु प्रयागस्त्वमसि ॥ ३२ ॥

वर्णेषु श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु मध्ये श्वेतवर्णोऽसि । द्विपदां पदद्वययुक्तानां मध्ये ब्राह्मणो भवानसि । अण्डजेषु पक्षिषु मध्ये गरुडोऽसि । **'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'** इति भगवद्वचनात् । व्यवहारेषु लोकचर्यासु मध्ये वाग् वाणी भवानसि ॥ ३३ ॥

वेदेषु ऋगादिषु चतुर्षु उपनिषद्रूपो वेदान्तभागो भवानसि । मन्त्राणां गायत्र्यादीनां मध्ये प्रणव ओंकारोऽसि । **'मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत्'** इति भागवतोक्तेः । अक्षराणामकारादीनां मध्येऽकारोऽसि । **'अक्षराणामकारोऽस्मि'** इति भगवद्वचनात् । यज्वनां यज्ञकर्तॄणां मध्ये सोमरूपधृक् चन्द्ररूपधृक् । **'नक्षत्राणामहं शशी'** इति भगवद्वचनात् ॥ ३४ ॥

आप धातुओं में सुवर्ण, पत्थरों में स्फटिक, पुष्पों में नीलकमल और गुल्मवृक्षों में तुलसी हैं ॥ ३१ ॥

आप सर्वपूजनीय शिलासमूह में शालग्राम की शिला, मुक्तिक्षेत्रों में काशी और तीर्थश्रेणी में तीर्थराज प्रयाग हैं ॥ ३२ ॥

आप सब वर्णों (रंगों) में श्वेतवर्ण, द्विपदप्राणियों में ब्राह्मण, पक्षियों में गरुड़, और हे ईश ! लौकिक-व्यवहारविषय में (आप ही) वचनरूप हैं ॥ ३३ ॥

आप वेदों में उपनिषत् स्वरूप हैं, मंत्रों में प्रणव हैं, अक्षरों में अकार हैं और यज्ञकर्ताओं में चन्द्र हैं ॥ ३४ ॥

---

१. आदिशब्देन रजतताम्रपित्तलकांस्यरंगसीसलोहानि गृह्यन्ते ।

प्रतापिनामग्निरसि क्षमाऽसि त्वं क्षमावताम् ।
दातॄणामसि पर्जन्यः पवित्राणां परो ह्यसि ॥ ३५ ।

चापोऽसि सर्वशस्त्राणां वातो वेगवतामसि ।
मनोऽसीन्द्रियवर्गेषु निर्भयाणां करो ह्यसि ॥ ३६ ।

व्योमव्याप्तिमतां त्वं वै परमात्माऽसि चात्मनाम् ।
सन्ध्योपास्तिर्भवान् देव सर्वनित्येषु कर्मसु ॥ ३७ ।

प्रतापिनां प्रतापवतां मध्येऽग्निरसि । **'वसूनां पावकश्चास्मीति'** भगवद्वचनात् । क्षमावतां सहनशक्तिमतां क्षमासहनशक्तिरसि । दातॄणां दानकर्तॄणां मध्ये पर्जन्यो मेघस्तदधिष्ठातृदेवोऽसि । पवित्राणां मध्ये परोऽसि उत्कृष्टोऽसि । हीति प्रसिद्धौ । एवमन्यत्रापि । **'पवित्राणां पवित्रं यः'** इति स्मृतेः । पयो ह्यसीति पाठे पयो जलम् ॥ ३५ ।

सर्वशस्त्राणां मध्ये चापो धनुरसि । **'आयुधानां धनुरहमिति'** भगवदुक्तेः । वेगवतां मध्ये वातोऽसि । **'पवनः पवतामस्मीति'** भगवद्वचनात् । इन्द्रियवर्गेषु इन्द्रियसमुदायेषु मध्ये मनोऽसि । **'इन्द्रियाणां मनश्चास्मीति'** भगवद्वचनात् । निर्भयाणां मध्ये करो हस्तो ह्यसि । अत एव भये प्रत्युपस्थिते करमेव प्रसारयति सर्वो लोक इति ॥ ३६ ।

व्याप्तिमतां विभूनां पदार्थानां मध्ये व्योम आकाशं त्वमसि । वै इत्यपि प्रसिद्धौ । एवमन्यत्रापि । आत्मनां प्रत्यक्चैतन्यानां मध्ये परमात्माऽसि । **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** इति भगवद्वचनात् । **'अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वर'** इति भागवतोक्तेश्च । हे देव ! सर्वेषु नित्येषु कर्मसु भवान् सन्ध्योपास्तिः सन्ध्योपासनमसि ॥ ३७ ।

आप प्रतापशालियों में अग्नि, सहनशीलों में सर्वसहा (पृथिवी), दाताओं में पर्जन्य (मेघ), और पवित्र वस्तुओं में जल हैं ॥ ३५ ।

आप सकल शस्त्रों में धनुष, वेगवानों में वायु, इन्द्रियवर्ग में मनु और अभयदानियों में हाथ हैं ॥ ३६ ।

आप व्यापकों के मध्य आकाश, सकल आत्माओं के मध्य परमात्मा और हे देव ! समस्त नित्यकृत्यों के मध्य संध्योपासनकर्म हैं ॥ ३७ ।

क्रतूनामश्वमेधोऽसि दानानामभयं भवान् ।
लाभानां पुत्रलाभोऽसि वसन्तस्त्वमृतुष्वहो ॥ ३८ ।

युगानां प्रथमोऽसि त्वं तिथीनां त्वं कुहू ह्यसि ।
पुष्योऽसि नक्षत्रगणे संक्रमः सर्वपर्वसु ॥ ३९ ।

योगेषु व्यतिपातस्त्वं तृणेषु हि कुशो भवान् ।
उद्यमानां हि सर्वेषां निर्वाणं त्वमसि प्रभो ॥ ४० ।

क्रतूनां यागानां मध्येऽश्वमेधोऽसि। दानानां तुलापुरुषादीनां मध्ये भवान् अभयरूपं दानमसि । लाभानां राज्यप्राप्त्यादीनां मध्ये भवान् पुत्रलाभोऽसि, पुत्रोत्पत्तिरूपो लाभोऽसि। अहो भो देव ! षड्ऋतुषु मध्ये त्वं वसन्तऋतुरसि। **'ऋतूनां कुसुमाकरः'** इति भगवदुक्तेः ॥ ३८ ।

युगानां सत्यत्रेताद्वापरकलीनां मध्ये प्रथमो युगः सत्ययुगस्त्वमसि । तिथीनां प्रतिपदादिपञ्चदशानां मध्ये कुहूरमावास्याऽसि। नक्षत्रगणे नक्षत्रसमूहमध्ये पुष्यो नक्षत्रमसि । पुंस्त्वं नक्षत्राणां स्त्रीपुंरूपत्वात् । तथा चात्रैवोक्तम्—

पुरुषायितसंज्ञेन तप्तं यत्तपसाऽधुना ।
भवतीभिस्ततः पुंस्त्वमिच्छया वो भविष्यतीति ॥

सर्वपर्वसु सर्वपुण्यकालेषु मध्ये संक्रमः संक्रान्तिरसि ॥ ३९ ।

योगेषु सप्तविंशतिसंख्येषु व्यतिपाताख्यो योगस्त्वम् । रविवासरसंयुक्ताऽमावास्या व्यतिपात इति केचित् । तृणेषु मध्ये भवान् कुशोऽसि । 'कुशोऽस्मि **दर्भजातीनामिति'** च भागवतोक्तेः । उद्यम्यन्ते प्रसाध्यन्त इत्युद्यमा धर्मार्थकाममोक्षास्तेषां सर्वेषामुद्यमानां मध्ये निर्वाणं मोक्षस्त्वमसि । उपमानं हि सर्वेष्विति पाठे सर्वेषु दार्ष्टान्तिकेषु उपमानं दृष्टान्तो भवानित्यर्थः ॥ ४० ।

आप यज्ञों में अश्वमेध, दानों में अभय (दान), सब लाभों में पुत्रलाभ और ऋतुगण में वसंत हैं ॥ ३८ ।

आप युगों में सत्ययुग, तिथियों में कूहू (अमावस्या विशेष), नक्षत्रगण में पुष्य, और सब पर्वों में संक्रान्ति हैं ॥ ३९ ।

आप योगों में व्यतीपात, तृणों में कुश, और हे प्रभो ! उद्यमरूप चतुर्वर्ग में आप ही मोक्ष हैं ॥ ४० ।

सर्वासामिह बुद्धीनां धर्मबुद्धिर्भवानज ।
अश्वत्थः सर्ववृक्षेषु सोमवल्ली लतासु च ॥ ४१ ।
प्राणायामोऽसि सर्वेषु साधनेषु शुचिष्वहो ।
सर्वदः सर्वलिङ्गेषु श्रीमान् विश्वेश्वरो भवान् ॥ ४२ ।
मित्राणां हि कलत्रं त्वं धर्मस्त्वं सर्वबन्धुषु ।
त्वत्तो नान्यज्जगत्यस्मिन्नारायण चराचरे ॥ ४३ ।
त्वमेव माता त्वं तातस्त्वं सुहृत्त्वं महाधनम् ।
त्वमेव सौख्यसम्पत्तिस्त्वमायुर्जीवनेश्वरः ॥ ४४ ।

सर्वासां कामादिबुद्धीनां मध्ये इह जगति हे अज धर्मबुद्धिर्भवानसि । सर्ववृक्षेषु मध्ये भवानश्वत्थवृक्षोऽसि । 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणामिति' भगवद्वचनात् । लतासु मध्ये । चः समुच्चये । एवमन्यत्रापि । सोमवल्ली सोमलता भवानसि ॥ ४१ ।

अहो हे विष्णो पवित्रेषु साधनेषूपायेषु मध्ये भवान् प्राणायामः प्राणसंयमोऽसि । सर्वलिङ्गेषु मध्ये सर्वदः श्रीमान् विश्वेश्वरो भवानसि ॥ ४२ ।

मित्राणां मध्ये कलत्रं भार्या त्वमसि । सर्वबन्धूनां मध्ये धर्मरूपो बन्धुरसि । अनुक्तसर्वसमुच्चयार्थमाह । त्वत्त इति । हे नारायण जीवानामाश्रयचराचरे जङ्गमस्थावरात्मकेऽस्मिन् जगति त्वत्तोऽन्यन्नास्ति त्वमेव सर्वमित्यर्थः ॥ ४३ ।

त्वमेव मातेत्यादिश्लोकस्तु त्वत्त इत्यस्मात्पूर्वं बोद्धव्यः । अथवा किं तदन्यमत्तोऽन्यन्नास्तीत्याकाङ्क्षायामुपलक्षणार्थत्वेन कानिचिद्वस्तूनि दर्शयति । त्वमेव माता

हे अज ! समस्तबुद्धियों में आप धर्मबुद्धि हैं; समग्र-वृक्षों में पीपर हैं और सब लताओं में सोमलता हैं ॥ ४१ ।

आप निखिल पवित्र साधनों में प्राणायाम और समस्त शिवलिङ्गों में सर्वाभीष्टदाता श्रीमान् विश्वेश्वर हैं ॥ ४२ ।

हे नारायण ! आप स्वजन-मित्रों में पत्नी हैं और सब बन्धुगण में धर्म हैं इस चराचर संसार में आपके व्यतीत और तो कुछ भी नहीं है ॥ ४३ ।

आप ही माता, आप ही पिता, आप ही मित्र, आप ही परमधन, आप ही सुखसंपत्ति और जीवनेश्वर आयुष्य भी आप ही हैं ॥ ४४ ।

सा कथा यत्र ते नाम तन्मनो यत्त्वदर्पितम् ।
तत्कर्म यत्त्वदर्थं वै तत्तपो यद् भवत्स्मृतिः ॥ ४५ ।
तद्धनं धनिनां शुद्धं यत्त्वदर्थे व्ययीकृतम् ।
स एव सकलः कालो यस्मिन् जिष्णो त्वमर्च्यसे ॥ ४६ ।
तावच्च जीवितं श्रेयो यावत्त्वं हृदि वर्तसे ।
रोगाः प्रशममायान्ति त्वत्पादोदकसेवनात् ॥ ४७ ।
महापापानि गोविन्द बहुजन्मार्जितान्यपि ।
सद्यो विलयमायान्ति वासुदेवेति कीर्तनात् ॥ ४८ ।
अहो पुंसां महामोहस्त्वहो पुंसां प्रमादता ।
वासुदेवमनादृत्य यदन्यत्र कृतश्रमाः ॥ ४९ ।

जननी । त्वं तातः पिता । त्वं सुहृत् प्रत्युपकारमनपेक्ष्य हितकारी । महाधनं निधिरूपम् । त्वमेव सौख्यसम्पत्तिः सुखसम्भारः । त्वमायुर्जीवनं जीवनेश्वरो जीवश्च त्वम् । एवकारावन्ययोगव्यावर्तकौ सर्वत्र सम्बध्येते ॥ ४४-४५ ।

एवं ब्रह्मरुद्रविष्णुरूपेण विभूतिरूपेण च स्तुत्वा इदानीं नानाविधया स्तौति । इत्युक्तेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । **सकलः** सम्पूर्णः । सफल इति क्वचित् ॥ ४६ ।

महापापानि ब्रह्महत्यादीनि वासुदेवेति कीर्तनात् सद्यो विलयमायान्तीत्यन्वयः ॥ ४८ ।

अहो इति खेदे । यद्येन मोहेन प्रमादेन वाऽन्यत्र कृतश्रमास्ते पुमांसः । अन्यत्र कृतः श्रमो यैस्ते तथा । [1]पाठान्तरे कृतश्चासौ श्रमश्चेत्यर्थात्तैः पुंभिः ॥ ४९ ।

जिसमें आपका नाम हो, वही कथा (कथा) है, जो आपको समर्पित हो, वही मन (मन) है, जो आपके निमित्त किया जावे, वही कर्म (कर्म) है और जिसमें आपका स्मरण होवे, वही तप (तप) है ॥ ४५ ।

धनिकों का वही धन शुद्ध है, जो आपके लिए व्यय किया जावे । हे जिष्णो ! वही काल सफल है, जिसमें आप पूजित होते हैं ॥ ४६ ।

तभी तक जीवन श्रेयस्कर है, जब तक हृदय में आप वर्तमान रहें । आपके चरणोदक सेवन से ही सकल रोग शान्त हो जाते हैं ॥ ४७ ।

हे गोविन्द ! आपके "वासुदेव" इस नाम के कीर्तन करते ही अनेक जन्म के संचित महापापपुंज उसी क्षण विनष्ट हो जाते हैं ॥ ४८ ।

अहो ! मनुष्यों का कैसा महामोह है ? ओहो ! मनुष्यों की कैसी भूल है, जो कि वे वासुदेव का आदर न करके अन्यत्र परिश्रम करते हैं ॥ ४९ ।

१. कृतश्रम इत्येवं रूपे ।

इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम् ।
जीवितस्य फलं चैतद्यद्दामोदरकीर्तनम् ॥ ५० ।
अधोक्षजात्परो धर्मो नार्थो नारायणात्परः ।
न कामः केशवादन्यो नापवर्गो हरिं विना ॥ ५१ ।
इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि ।
अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत्स्मरेत् ॥ ५२ ।
हरेराराधनं पुंसां किं किं न कुरुते बत ।
पुत्रमित्रकलत्रार्थराज्यस्वर्गापवर्गदम् ॥ ५३ ।
हरत्यघं ध्वंसयति व्याधीनाधीन्नियच्छति ।
धर्मं विवर्धयेत् क्षिप्रं प्रयच्छति मनोरथम् ॥ ५४ ।

नार्थ इति नकारः काकाक्षिन्यायेनोभयत्र सम्बध्यते । नाधोक्षजादिति वा पाठः । अपवर्गो मोक्षः ॥ ५१ ।

उपसर्ग उपद्रवः । नरोऽनन्तं न वेदयेदिति क्वचित् ॥ ५२ ।

बतेत्याश्चर्ये ॥ ५३ ।

आधीन् मानसीर्व्यथाः । नियच्छति नाशयति ॥ ५४ ।

यही मंगलकारक है और यही धनोपार्जन तथा यही जीवन का साफल्य है, जो कि दामोदर का नाम कीर्तन किया जाता है ॥ ५० ।

अधोक्षज से भिन्न कोई धर्म, नारायण के व्यतिरिक्त कोई अर्थ, केशव से व्यतीत कोई काम और हरि के बिना कोई मोक्ष नहीं है ॥ ५१ ।

जो वासुदेव का स्मरण नहीं बन पड़ा, यही बड़ी हानि, यही भारी उपद्रव, और यही परम अभाग्य है ॥ ५२ ।

अरे ! हरि की आराधना से पुरुष का क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ? यह तो पुत्र, मित्र, कलत्र, अर्थ, राज्य, स्वर्ग और मोक्षपर्यन्त दे देती है ॥ ५३ ।

यही हरि की आराधना पाप को हरती, आधि और व्याधियों को ध्वंस करती एवं धर्म को बढ़ाती और मनोरथों को तुरन्त पूर्ण कर देती है ॥ ५४ ।

भगवच्चरणद्वन्द्वनिर्द्वन्द्वध्यानमुत्तमम् ।
पापिनाऽपि प्रसङ्गेन विहितं स्वहितं परम् ॥ ५५ ।
पापिनां यानि पापानि महोपपदभाञ्ज्यपि ।
सुलोनध्यानसम्पन्नो नामोच्चारो हरेर्हरेत् ॥ ५६ ।
प्रमादादपि संस्पृष्टो यथाऽनलकणो दहेत् ।
तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं हरिनाम हरेदघम् ॥ ५७ ।

भगवदिति । भगवच्चरणयोर्द्वन्द्वे युगले निर्द्वन्द्वध्यानं निश्चलं ध्यानमत एवोत्तमं पापिनापि प्रसङ्गेन धनादिप्राप्त्यर्थं विहितं कृतं चेत्तर्हि तत्परं स्वहितमिति । तथा चोक्तम्—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥
सर्वपापप्रसक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् ।
द्विजस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥ इत्यादि ॥ ५५ ।

महान्त्युपपदानि उप समीपे पदानि भजितुं शीलं येषां तानि पापानि तथा । महापापान्यपीत्यर्थः । सुलीनध्यानसम्पन्नो निश्चलध्यानसम्बद्धः । सुनीलध्यानसम्पन्न इति पाठे सुनीलः श्रीकृष्णस्तस्य ध्यानेन सम्पन्न इति व्याख्येयम् । नामोच्चारो नामोच्चारणम् ॥ ५६ ।

किं च **प्रमादादपीति** । अनलकणोऽग्निविस्फुलिङ्गः । अघं पापं संसारं वा । तथा च वैष्णवे—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् सद्यो विमुच्येत सिंहत्रस्तैर्वृकैरिव ॥

भागवते—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥

एकाग्ररूप से भगवान् के चरणयुगल का ध्यान बड़ा ही उत्तम है। यदि कोई पापी भी प्रसंगवश ध्यान करे, तो उसका परम हितसाधन हो जाता है ॥ ५५ ।

भगवान् का एकाग्रचित्त से ध्यानसहित नामोच्चारण ही पापियों के पाप क्या महापाप का भी हरण कर लेता है ॥ ५६ ।

जैसे अग्निकण अज्ञानवश भी छू जाने से दहन कर (जराय) देता है, वैसे ही हरिनाम जैसे हो, ओष्ठपुट पर आते ही समस्त अघ को हर लेता है ॥ ५७ ।

नितान्तं कमलाकान्ते शान्तं चित्तं विधाय यः ।
संशीलयेत् क्षणं नूनं कमला तत्र निश्चला ॥ ५८ ।
अयमेव परो धर्मस्त्विदमेवं परं तपः ।
इदमेव परं तीर्थं विष्णुपादाम्बु यत्पिबेत् ॥ ५९ ।
तवोपहारं भक्त्या यः सेवते यज्ञपूरुष ।
सेवितस्तेन नियतं पुरोडाशो महाधिया ॥ ६० ।
स चैवावभृथस्नातः स च गङ्गाजलाप्लुतः ।
विष्णुपादोदकं कृत्वा शङ्खे यः स्नाति मानवः ॥ ६१ ।
शालग्रामशिला येन पूजिता तुलसीदलैः ।
स पारिजातमालाभिः पूज्यते सुरसद्मनि ॥ ६२ ।

अत्राऽपि वक्ष्यति—
यदि जातु चिदन्धकद्विषस्तव नामौष्ठपुटाद्विनिःसृतम् ।
शिवशङ्करचन्द्रशेखरेत्यसकृत्तस्य न संसृतिः पुनः ॥ इति ॥ ५७ ।
विष्णुपादाम्ब्विति । तदुक्तम्—
शालग्रामशिलातोयं यदि शङ्खस्थितं भवेत् ।
तदा प्रयोजनं नास्ति तीर्थैस्त्रैलोक्यसम्भवैरिति ॥ ५९ ।
उपहारं नैवेद्यम् । पुरोडाशो नाम यज्ञेषु देवेभ्यो देयो द्रव्यप्रभेदोऽत्यन्तपवित्रः पदार्थः । तथा चोक्तम्—'सदा पुरोडाशपवित्रिता धरा' इति ॥ ६० ।

जो कोई क्षण भर भी कमलाकान्त में एकान्त और प्रशान्त-चित्त को समाधान कर उनका ध्यान करता है, तो (चंचला भी) कमला उसके पास अचला होकर निवास करने लगती है ॥ ५८ ।

विष्णुपादोदक का पीना ही परम धर्म, परम तप और सर्वोत्तम तीर्थ है ॥५९।

हे यज्ञपूरुष ! आपके प्रसादरूप नैवेद्य का जो कोई भक्तिपूर्वक सेवन करता है, वही महाबुद्धिमान् (परमपवित्र देव-भक्ष्य) पुरोडाश के सेवन का फल पा जाता है ॥ ६० ।

जो व्यक्ति विष्णुपादोदक को शंख में रखकर उससे स्नान करता है, उसे (यज्ञान्त के) अवभृथस्नान और गंगाजल के स्नान का फल प्राप्त होता है ॥ ६१ ।

जिस किसी ने तुलसीदल के द्वारा शालग्रामशिला का पूजन किया, वह देवलोक में पारिजात की मालाओं से संपूजित होता है ॥ ६२ ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः ।
विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमश्च सः ॥ ६३ ॥

शङ्खचक्राङ्किततनुः शिरसा मञ्जरीधरः ।
गोपीचन्दनलिप्ताङ्गो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः ॥ ६४ ॥

शङ्खचक्राङ्किततनुरिति गोपीचन्दनादिना, न तु दाहेन । बृहन्नारदीये दाहेन शङ्खचक्रधारणस्य निषिद्धत्वात् । तथाहि—

यस्तु सन्तप्तशङ्खादिलिङ्गचिह्नतनुर्नरः ।
स सर्वयातनाभोगी चाण्डालो जन्मकोटिभिः ॥
तं द्विजं तप्तशङ्खादिलिङ्गाङ्किततनुं नरः ।
संभाष्य रौरवं याति यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥
चक्राङ्किततनुर्यत्र तत्र कोऽपि न संवसेत् ।
यदि तिष्ठेन्महापापी सहस्रब्रह्महा भवेत् ॥
गङ्गास्नानरतो वापि अश्वमेधरतोऽपि वा ।
चक्राङ्किततनुं दृष्ट्वा पश्येत्सूर्यं जपन्नरः ॥
जपेच्च शतरुद्रीयमन्यथा रौरवं व्रजेत् ।
ब्राह्मणस्य तनुर्ज्ञेया सर्वदेवसमाश्रिता ॥
सा चेत् सन्तापिता राजन् किमु वक्ष्यामहे ततः ।
चक्राङ्किततनुर्वापि राजँल्लिङ्गान्वितोऽपि वा ॥
नाधिकारी परिज्ञेयः श्रौतस्मार्तेषु कर्मस्विति ॥

'न च अतप्ततनुर्नतदामोऽश्नुत' इति श्रुतिविरोधेन स्मृतेरप्रामाण्यम् । श्रुतेरर्थान्तरपरत्वात् । कृच्छ्रचान्द्रायणादिनाऽतप्ततनुरसन्तापितदेहोऽत एवामोऽपक्वोऽदग्धरागादिः पुमांस्तद्ब्रह्म नाश्नुते, न प्राप्नोतीति श्रुतेरर्थः । तुलस्या मञ्जरीधरः । शिरसा मस्तकेन । सुरसामञ्जरीधर इति पाठे सुरसा तुलसी । तदघमित्यत्र तच्छब्दो द्रष्टृविषयः ॥ ६४ ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अन्य कोई जाति हो, विष्णु की भक्ति से समायुक्त होने से ही उसे सर्वोत्तम जानना चाहिए ॥ ६३ ।

जिसके शरीर में दोनों भुजाओं पर (गोपीचन्दन से) शंख-चक्र का चिह्न होवे, मस्तक पर तुलसी की मञ्जरी (खोंसी) हो और सब अंग गोपीचन्दन से अनुलिप्त हों, तो उसके दर्शन से ही पाप भाग जाता है ॥ ६४ ।

प्रत्यहं द्वादशशिलाः शालग्रामस्य योऽर्चयेत् ।
द्वारवत्याः शिलायुक्ताः स वैकुण्ठे महीयते ॥ ६५ ।
तुलसी यस्य भवने प्रत्यहं परिपूज्यते ।
तद्गृहं नोपसर्पन्ति कदाचिद्यमकिङ्कराः ॥ ६६ ।
हरिनामाक्षरमुखं भाले गोपीमृदाङ्कितम् ।
तुलसीमालितोरस्कं स्पृशेयुर्न यमानुगाः ॥ ६७ ।
गोपीमृत्तुलसीशङ्खः शालग्रामः सचक्रकः ।
गृहेऽपि यस्य पञ्चैते तस्य पापभयं कुतः ॥ ६८ ।
ये मुहूर्ताः क्षणा ये च याः काष्ठा ये निमेषकाः ।
ऋते विष्णुस्मृतेर्यातास्तेषु मुष्टो यमेन सः ॥ ६९ ।
क्व द्व्यक्षरं हरेर्नाम स्फुलिङ्गसदृशं ज्वलत् ।
महती[1] पातकानां च राशिस्तूलोपमा क्व च ॥ ७० ।

शालग्रामस्य चम्पकारण्यान्तर्गतचक्रतीर्थस्य । शालग्रामस्य शालग्रामाणां द्वादशशिला इति वा । द्वारवत्याः शिला द्वारकाचक्रम् ॥ ६५ ।

जो कोई प्रतिदिन द्वारका-चक्र के सहित बारह शालग्राम की शिला का पूजन करे, वह वैकुण्ठ में सादर निवास पाता है ॥ ६५ ।

जिसके घर में प्रतिदिन तुलसी की पूजा होती है, उसके गृह में यमदूत कभी नहीं जाते ॥ ६६ ।

जिसके मुख में हरि-नाम, ललाट पर गोपीचन्दन का तिलक और छाती पर तुलसी की माला रहती है, उसे यमराज के अनुचरगण छू नहीं सकते ॥ ६७ ।

गोपीचन्दन, तुलसी, शङ्ख, शालग्राम और द्वारका (गोमती) चक्र, ये पाचों जिसके घर में होवें उसे पाप का भय कहाँ है ? ॥६८ ।

विना विष्णु-स्मरण के जो सब मुहूर्त, क्षण, काष्ठा, निमेष बीतते जाते हैं, उन्हीं सब में यह मनुष्य यमराज के द्वारा ठगा जाता है ॥ ६९ ।

---

१. स्त्रीत्वं विचारणीयमार्षं वा ।

गोविन्दं परमानन्दं मुकुन्दं मधुसूदनम् ।
त्यक्त्वाऽन्यं नैव जानामि न भजामि स्मरामि न॥ ७१ ।

न नमामि न च स्तौमि न पश्यामीह चक्षुषा ।
न स्पृशामि न वा यामि गायामि न हरिं विना ॥ ७२ ।

जले स्थले च पातालेऽप्यनिले चानलेऽचले ।
विद्याधराऽसुरसुरे किन्नरे वानरे नरे ॥ ७३ ।

तृणे स्त्रैणे च पाषाणे तरुगुल्मलतासु च ।
सर्वत्र श्यामलतनुं वीक्षे श्रीवत्सवक्षसम् ॥ ७४ ।

सर्वेषां हृदयावासः साक्षात्साक्षी त्वमेव हि ।
बहिरन्तर्विना त्वां तु न ह्यन्यं वेद्मि सर्वगम् ॥ ७५ ।

गायामि गानं करोमि । श्रयामीति क्वचित् ॥ ७२ ।

स्त्रैणे स्त्रीसमूहे । श्यामलतनुं श्रीकृष्णम् ॥ ७४ ।

सर्वेषामिति । हृदयेषु आवसतीति हृदयावासो जीवरूपेण । साक्षादपरोक्षः । 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति' श्रुतेः । साक्षी अन्तर्यामी । सर्वगं त्वां विना बहिरन्तरन्यं न वेद्मि त्वामेव सर्वं वेद्मीत्यर्थः । यदन्यदिति पाठे त्वां विना त्वत्तः सकाशाद्यदन्यत्तत्त्वमेवेत्यन्वयः ॥ ७५ ।

कहाँ तो ज्वलन्त अग्नि (अंगार) के समान दो अक्षरों का हरि-नाम, और कहाँ रुई के पहल ऐसी बड़ी पातकराशि ? मैं गोविन्द परमानन्द मुकुन्द मधुसूदन को छोड़कर न दूसरे को जानूँ, न भजूँ और न स्मरण करूँ ॥ ७१ ।

विना हरि के किसी को मैं न नमस्कार करता, न स्तुति करता, न नेत्रों से देखता, न छूता, न गाता हूँ और विना हरिमन्दिर के कहीं जाता भी नहीं हूँ ॥ ७२ ।

मैं जल, स्थल, पाताल, अनिल, अनल, पर्वत, विद्याधर, असुर, सुर, किन्नर, वानर, नर, तृण, स्त्रैण, (स्त्री-समूह), पाषाण, वृक्ष, गुल्म, लता, इत्यादि में सर्वत्र ही उस श्यामसुन्दरशरीर श्रीवत्सभूषित वक्षःस्थल श्रीकृष्ण को ही देखता हूँ ॥ ७३-७४ ।

आप सब ही के हृदयवासी साक्षात् साक्षी हैं, आपसे भिन्न भीतर बाहर सर्वव्यापक अन्य किसी को मैं नहीं जानता ॥ ७५ ।

इत्युक्त्वा विररामाऽसौ शिवशर्मन् ध्रुवस्तदा ।
देवोऽपि भगवान् विष्णुस्तमुवाच प्रसन्नदृक् ॥ ७६ ।

श्रीभगवानुवाच—

अयि बाल विशालाक्ष ध्रुव ध्रुवमतेऽनघ ।
परिज्ञातो मया सम्यक् तव हृत्स्थो मनोरथः ॥ ७७ ।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि वृष्टेरन्नसमुद्भवः ।
तद्वृष्टेः कारणं सूर्यः सूर्याधारो ध्रुवैधि भोः ॥ ७८ ।
ज्योतिश्चक्रस्य सर्वस्य ग्रहर्क्षादेः समन्ततः ।
गगने भ्रमतो नित्यं त्वमाधारो भविष्यसि ॥ ७९ ।
मेढीभूतस्तु वै सर्वान् वायुपाशैर्नियन्त्रितान् ।
आकल्पं तत्पदं तिष्ठ भ्रामयन् ज्योतिषां गणान् ॥ ८० ।

अन्नादिति । तद्वृष्टेः सा चासौ वृष्टिश्चेति तद्वृष्टिः तस्याः सूर्यः कारणम् । तदिति पृथक्पदं वा । तत्तस्माद् भो हे ध्रुव त्वं सूर्याधार एधि भवेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ इति ॥ ७८ ।

धान्याक्रमणाय भ्राम्यमाणानां पशूनां बन्धनस्तम्भो मेढी तत्सदृशो मेढीभूत इत्यर्थः । आकल्पं कल्पपर्यन्तम् । कल्पोऽत्र ब्रह्मणो दिनं परार्धद्वितयं वा । स्थास्नुः परस्तात् कल्पवासिनामिति भागवतोक्तेः ॥ ८० ।

हे शिवशर्मन् ! ध्रुव ऐसा कहकर उस घड़ी चुप हो गये और भगवान् विष्णु-देव ने प्रसन्नदृष्टिहोकर ध्रुव से कहा ॥ ७६ ।

श्रीभगवान् बोले—

अयि विशालाक्ष ! बाल ! अनघ ! ध्रुवबुद्धे ! ध्रुव ! अन्न से सकलभूतों की उत्पत्ति होती है और वह अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है, एवं उस वृष्टि के कारण सूर्य हैं—उनके भी आधार तुम होवो ॥ ७७-७८ ।

निरन्तर आकाशमण्डल में चारों ओर घूमते हुए ग्रह-नक्षत्र इत्यादि समग्र ज्योतिश्चक्र के आधार तुम्हीं होवो ॥ ७९ ।

तुम मेढ़ीरूप होकर वायुपाश से नियन्त्रित समस्त ज्योतिर्गणों को घुमाते हुए कल्पभर इस पद पर अधिष्ठित रहो ॥ ८० ।

आराध्य श्रीमहादेवं पुरा पदमिदं मया ।
आसादि यत्तदेतत्ते तपसा प्रतिपादितम् ॥ ८१ ॥
केचिच्चतुर्युगं यावत् केचिन्मन्वन्तरं ध्रुव ।
तिष्ठन्ति त्वं तु वैकल्पं पदमेतत् प्रशास्यसि ॥ ८२ ॥
मनुनाऽपि न यत्प्रापि किमन्यैर्मानवैर्ध्रुव ।
तत्पदं विहितं त्वत्साच्छक्राद्यैरपि दुर्लभम् ॥ ८३ ॥
अन्यान् वरान् प्रयच्छामि स्तवेनाऽनेन तोषितः ।
सुनीतिरपि ते माता त्वत्समीपे चरिष्यति ॥ ८४ ॥
इदं स्तोत्रवरं यस्तु पठिष्यति समाहितः ।
त्रिसन्ध्यं मनुजस्तस्य पापं यास्यति संक्षयम् ॥ ८५ ॥
न तस्य सदनं लक्ष्मीः परित्यक्ष्यत्यसंशयम् ।
न जनन्या वियोगश्च न बन्धुकलहोदयः ॥ ८६ ॥

आसादि प्राप्तम् । आसादयेति पाठे गृहीतमित्यर्थः ॥ ८१ ॥
शक्राद्यैरपि दुर्लभं तैरपि प्राप्तुमशक्यमित्यर्थः । तत्त्वत्सा त्वदधीनम् ॥ ८३ ।

मैंने पूर्वकाल में श्रीमहादेव की आराधना करके जो इस पद को प्राप्त किया था, (सो आज) तुम्हारे तपोबल से तुमको दिये देता हूँ ॥ ८१ ।

हे ध्रुव ! कोई तो चतुर्युग भर और कोई मन्वन्तरपर्यन्त अपने पद पर रहते हैं, परन्तु तुम कल्पान्तावधि इस पदाधिकार का पालन करोगे ॥ ८२ ।

वत्स ध्रुव ! अन्य मानवों की कौन बात है ? स्वयं मनु ने भी जिस पद को नहीं प्राप्त किया, इन्द्रादि देवताओं के लिये भी दुर्लभ उस पद को मैंने तुम्हारे अधीन कर दिया ॥ ८३ ।

तुम्हारी इस स्तुति से सन्तुष्ट होकर और भी अनेक वर तुमको देता हूँ, तुम्हारी माता सुनीति भी तुम्हारी समीपचारिणी होवेगी ॥ ८४ ।

जो मनुष्य स्थिरचित्त होकर इस उत्तम स्तोत्र का पाठ त्रिकाल करेगा, उसका पाप अपने आप ही क्षय हो जावेगा ॥ ८५ ।

लक्ष्मी उसका गृह कभी न छोड़ेंगी, और उसे माता का वियोग न होगा, और न बन्धुवर्ग के साथ कलह होगा—यह निश्चित है ॥ ८६ ।

ध्रुव-स्तुतिरियं पुण्या महापातकनाशिनी ।
ब्रह्महाऽपि विशुद्धचेत का कथेतरपापिनाम् ॥ ८७ ।
महापुण्यस्य जननी महासम्पत्तिदायिनी ।
महोपसर्गशमनी महाव्याधिविनाशिनी ॥ ८८ ।
यस्याऽस्ति परमा भक्तिर्मयि निर्मलचेतसः ।
ध्रुव-स्तुतिरियं जप्या तेन मत्प्रीतिकारिणी[1] ॥ ८९ ।
समस्ततीर्थस्नानेन यत्फलं लभते नरः ।
तत्फलं सम्यगाप्नोति जपन् स्तुत्याऽनया मुदा[2] ॥ ९० ।
सन्ति स्तोत्राण्यनेकानि मम प्रीतिकराणि च ।
ध्रुव-स्तुतेर्न चैतस्याः कलामर्हन्ति षोडशीम् ॥ ९१ ।
श्रुत्वाऽपीमां स्तुतिं मर्त्यः श्रद्धया परया मुदा ।
पातकैः मुच्यते सद्यो महत्पुण्यमवाप्नुयात् ॥ ९२ ।

महोपसर्गशमनी ग्रहादिमहापीडानाशिनी ॥ ८८ ।

यह ध्रुवकृत स्तुति पुण्यमयी और महापातक-नाशिनी है, इसके पाठ करने से ब्रह्मघाती भी शुद्ध हो जाता है, इतर पापियों की क्या बात है ? ॥ ८७ ।

यह स्तुति महापुण्यसंपादिनी, महासंपत्तिदायिनी, महोपसर्गशमनी एवं महाव्याधिविनाशिनी है ॥ ८८ ।

जो निर्मलचित्तपुरुष, मुझ पर परमभक्ति रखता हो, वह मेरी प्रीतिकारिणी इस ध्रुवरचित स्तुति का पाठ करे ॥ ८९ ।

मनुष्य अशेष-तीर्थस्नान से जो फल पा सकता है, प्रेमपूर्वक इस स्तुति के पाठ करने से इसके द्वारा उसे समस्त तीर्थ-स्नान का पूर्णफल प्राप्त हो जाता है ॥ ९० ।

मुझे प्रसन्न कर देने वाले अनेक स्तोत्र हैं, परन्तु इस ध्रुव-स्तुति के सोलह अंशों में एक अंश की योग्यता भी किसी में नहीं है ॥ ९१ ।

मनुष्य सहर्ष परमश्रद्धासहित इस स्तुति के केवल श्रवण करने से ही उसी क्षण पातकों से मुक्त होकर महत् पुण्य को प्राप्त करता है ॥ ९२ ।

---

१. कारिणेति क्वचित्पाठः; २. ध्रुवेति क्वचित्पाठः ।

अपुत्रः पुत्रमाप्नोति निर्धनो धनमाप्नुयात् ।
अभक्तो भक्तिमाप्नोति कीर्तनाच्च ध्रुवस्तुतेः ।। ९३ ।

दत्वा दानान्यनेकानि कृत्वा नानाव्रतानि च ।
यथा लाभानवाप्नोति तथा स्तुत्याऽनया नरः ।। ९४ ।

त्यक्त्वा सर्वाणि कार्याणि त्यक्त्वा जप्यान्यनेकशः ।
ध्रुवस्तुतिरियं जप्या सर्वकामप्रदायिनी ।। ९५ ।

श्रीभगवानुवाच—

ध्रुवाऽवधेहि वक्ष्यामि हितं तव महामते ।
येन ते निश्चलं सम्यक् पदमेतद् भविष्यति ।। ९६ ।

अहं जिगमिषुस्त्वासं पुरीं वाराणसीं शुभाम् ।
साक्षाद्विश्वेश्वरो यत्र तिष्ठते मोक्षकारणम् ।। ९७ ।

अनेकानि दानानि दत्वा नानाव्रतानि च कृत्वा यथा लाभानवाप्नोति, तथाऽनया स्तुत्याऽवाप्नोति सर्वैर्दानव्रतादिभिर्यत्फलं लभ्यते तत्सर्वमनया स्तुत्या प्राप्यत इत्यर्थः । कामानिति क्वचित् । न तथा काममाप्नोतीति पाठः स्पष्टार्थः ।। ९४ ।

अवधेहि शृणु । येन हितेन हिताऽनुष्ठानेन ।। ९६ ।

इस ध्रुवस्तुति के कीर्तन करने से अपुत्र पुत्र को पाता है, निर्धन धन-सम्पन्न होता है, और भक्तिहीन नर को भक्ति मिलती है ।। ९३ ।

अनेक दानों को देकर और विविधव्रतों को कर मनुष्य जिन अभीष्ट लाभों को पा सकता है, वे सब इस स्तुतिपाठ से मिल सकते हैं ।। ९४ ।

सब कर्मों को त्याग और समग्र जपनीयों को छोड़, सब कामनाओं को देने-वाली इस ध्रुवस्तुति का पाठ करना ही सर्वथा उचित है ।। ९५ ।

श्रीभगवान् ने कहा—

हे महाबुद्धे ! ध्रुव ! तुम्हारा हित कहता हूँ, मन लगाकर सुनो । जिसके द्वारा तुम्हारा यह पद सम्यक् प्रकार से स्थिर हो जावेगा ।। ९६ ।

मैं तो यहाँ आने के पहले ही शुभा वाराणसीपुरी में जाने का इच्छुक था, जहाँ पर मोक्ष के कारण साक्षात् विश्वेश्वर विराजमान रहते हैं ।। ९७ ।

विपन्नानां च जन्तूनां यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ।
कर्णे जापं प्रकुरुते कर्मनिर्मूलनक्षमम् ॥ ९८ ॥
अस्य संसारदुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवाऽस्ति काशिकानन्दभूमिका ॥ ९९ ॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं दुःखमहातरोः ।
तस्मिन् काश्यग्निना दग्धे दुःखस्याऽवसरः कुतः ॥ १०० ॥
प्राप्यं सम्प्राप्यते येन न भूयो येन शोच्यते ।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तदाऽऽनन्दकाननम् ॥ १०१ ॥
अमृतायनमुत्सृज्य पुरुषोऽन्यत्र यो वसेत् ।
आनन्दकाननं शम्भोः कुतस्तस्य सुखोदयः ॥ १०२ ॥
वरं शरावहस्तस्य चाण्डालागारवीथिषु ।
भिक्षार्थमटनं काश्यां राज्यं नाऽन्यत्र नीरिपु ॥ १०३ ॥

प्रसङ्गात् काशीं स्तौति । **अस्येत्यादिषड्भिः** । आनन्दभूमिका आनन्दरूपं स्थानम् ॥ ९९ ॥

काश्यग्निना काशीमरणनिमित्तरुद्रोपदिष्टज्ञानाग्निनेत्यर्थः ॥ १०० ॥

अमृतायनं कैवल्याश्रयम् ॥ १०२ ॥

निर्गता रिपवो यस्मात् तद् राष्ट्रं नीरिपु ॥ १०३ ॥

जिस काशी में स्वयं विश्वेश्वर, मृतप्राणियों के कर्ण में, कर्म के निर्मूलन करने में समर्थ (तारक-मंत्र) का उपदेश कर देते हैं, समस्त उपद्रवों के दाता इस संसारदुःख का एक-मात्र निस्तारोपाय आनन्दभूमि काशी ही है ॥ ९८-९९ ।

'यह रम्य है, यह रम्य नहीं है' इसी प्रकार से प्रिय और अप्रिय का जो ज्ञान है, वही दुःखरूप बड़े वृक्ष का बीज है, आनन्दवनाग्नि के द्वारा उस (बीज) के दग्ध हो जाने पर फिर दुःख का अवसर कहाँ है ? ॥ १०० ।

जिसके द्वारा प्रधान प्रापणीय पदार्थ पाया जाता है, और फिर संसारकष्ट के लिये शोच नहीं करना पड़ता, एवं जो परम आनन्द का स्थान है, वह यही आनन्द-कानन है ॥ १०१ ।

जो कोई इस अमृतायन (मुक्तिक्षेत्र) शिव के आनन्दकानन को छोड़कर अन्यत्र वास करता है, (भला) उसके सुख का उदय क्यों कर होगा ? वरन् काशी में चाण्डालों के घर की गलियों में भीख माँगने के लिये मिट्टी की परई लेकर घूमना अच्छा है, पर अन्यत्र निष्कंटक राज्य करना भी भला नहीं है ॥ १०२-१०३ ।

वैकुण्ठनगरात् काशीं नित्यं विश्वेशमर्चितुम् ।
अहमायामि नियमाज्जगदर्च्यं तदर्चिताम् ॥ १०४ ।
मयि या परमा शक्तिस्त्रिलोक्यारक्षणक्षमा ।
तत्र हेतुर्महेशानः स सुदर्शनचक्रदः ॥ १०५ ।
पुरा जालन्धरं दैत्यं ममाऽपि परिकम्पनम् ।
पादाङ्गुष्ठाग्ररेखोत्थं चक्रं सृष्ट्वा हरोऽहरत् ॥ १०६ ।
तच्च चक्रं मया लब्धं नेत्रपद्माऽर्चनाद्विभोः ।
एतत् सुदर्शनाख्यं वै दैत्यचक्रप्रमर्दनम् ॥ १ ७ ।

काशीं काशीं प्रति। कथम्भूतं विश्वेशम्? जगदर्च्यम्। पाठान्तरे काशी-विशेषणम् ॥ १०४ ।

स विश्वेश्वरः सुदर्शनचक्रदः ॥ १०५ ।

पुरेति। पुरा पूर्वं हरः पादाङ्गुष्ठस्य याऽग्ररेखा तस्या उत्थमुत्पादितं चक्रं सृष्ट्वा प्रक्षिप्य जालन्धरं दैत्यमहरन् मारितवानित्यर्थः। कथम्भूतम्? ममाऽपि परिकम्पनं कम्पजनकम्। पादाङ्गुष्ठस्य रेखाध इति क्वचित्। पादाङ्गुष्ठस्य रेखात इति वाऽन्यत्र। पादाङ्गुष्ठस्य रेखास्त्विति चाऽपरत्र। पादाङ्गुष्ठस्याऽग्रेणेति कृत्वेति च सर्वत्र ॥ १०६ ।

स सुदर्शनचक्रद इत्युक्तं तत्प्राप्तिमेव सकारणां दर्शयति। **तच्चक्रमिति**। एवं हि श्रूयते आदित्यपुराणे—स्वर्णकमलसहस्रेण श्रीशङ्करं श्रीकृष्णः प्रत्यहं पूजयतिस्म। तत्र कदाचिच्छ्रीकृष्णस्य भावजिज्ञासया एकस्मिन् कमले विश्वेश्वरेण हृते एतद्वाक्यम्।

हृते पुष्पे तदा विष्णुश्चिन्तयन् किमिदन्त्विति।
ज्ञात्वात्मनेत्रमुद्धृत्य पूजयामास शङ्करम् ॥

मैं जगत्पूज्य विश्वेश्वर की पूजा करने के लिये उनसे भी पूजित काशी में वैकुण्ठनगर से नित्य ही आता हूँ ॥ १०४ ।

मुझमें यह जो त्रैलोक्यरक्षण में समर्थ परमा शक्ति है, उसके कारण महेश्वर ही हैं; क्योंकि वे ही मेरे सुदर्शनचक्र के दाता हैं ॥ १०५ ।

पूर्वकाल में मेरे भी भयप्रद जालन्धर दैत्य को महेश्वर ने अपने पादांगुष्ठ की अग्ररेखा से उत्पन्न चक्र द्वारा मारा था ॥ १०६ ।

सो वह दैत्यचक्र का विमर्दक सुदर्शन नामक चक्र मैंने विभु विश्वेश्वर के पूजन में अपने नयनरूपी कमल के अर्पण करने से पाया है ॥ १०७ ।

तन्मया तव रक्षार्थं भूतविद्रावणं परम् ।
तावत् प्रणुन्नं पुरतस्ततश्चाहमिहागतः ॥ १०८ ॥
काशीमिदानीं यास्यामि विश्वेश्वरविलोकने ।
अद्य यात्राऽस्ति महती कार्तिक्यां बहुपुण्यदा ॥ १०९ ॥
कार्तिकस्य चतुर्दश्यां विश्वेशं यो विलोकयेत् ।
स्नात्वा चोत्तरवाहिन्यां न तस्य पुनरागतिः ॥ ११० ॥
इत्युक्त्वा तार्क्ष्यमारोप्य ध्रुवमानन्दमेदुरम् ।
क्षणाद्वाराणसीं प्राप हरिः स्मरहरोषिताम् ॥ १११ ॥
पञ्चक्रोश्याश्च सीमानं प्राप्य देवो जनार्दनः ।
वैनतेयादवारुह्य करे धृत्वा ध्रुवं ततः ॥ ११२ ॥

ततस्तेनैव सन्तुष्टस्य विश्वेश्वरस्य वाक्यम्—

दिव्यं ददामि ते चक्रमद्भुतं तत्सुदर्शनम् ।
प्रीत्यर्थं सर्वदेवानां निर्मितं यन्मया पुरा ॥
गृहीत्वा तद्रणे दैत्यान् जहि विष्णो ममाज्ञया ।
एवमुक्त्वा ददौ चक्रं सूर्यायुतसमप्रभमिति ॥

नेत्रमेव पद्मं नेत्रपद्म तेनाऽर्चनात् पूजनात् ॥ १०७ ।

प्रणुन्नं प्रेषितम् । पुरतः पूर्वम् ॥ १०८ ।

उसी परम भूत-विद्रावण सुदर्शन-चक्र को मैंने पहिले ही तुम्हारी रक्षा के लिये भेज दिया था, तदनन्तर मैं यहाँ आया हूँ ॥ १०८ ।

इस वेला में विश्वेश्वर के दर्शनार्थ काशी जाता हूँ; (क्योंकि) आज कार्तिकी पूर्णिमा की बड़ी पुण्यप्रदात्री यात्रा (वहाँ) है ॥ १०९ ।

कार्तिक मास की चतुर्दशी तिथि में जो पुरुष उत्तरवाहिनी गंगा में स्नान कर विश्वेश्वर का दर्शन करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ११० ।

विष्णु यह कथा कह आनन्दपूर्ण ध्रुव को भी गरुड पर चढ़ाकर स्मरहर की वासभूमि काशी को क्षणमात्र में प्राप्त हुए ॥ १११ ।

वे जनार्दनदेव पंचक्रोशी की सीमा पर पहुँच, गरुड़ पर से उतर, फिर ध्रुव को हाथ से पकड़, तदनन्तर मणिकर्णिका में स्नान और विश्वेश्वर का पूजन कर, भगवान्

मणिकर्ण्यां परिस्नाय विश्वेशमभिपूज्य च ।
ध्रुवं बभाषे भगवान् हितं तस्य चिकीर्षयन् ॥ ११३ ।
लिङ्गं स्थापय यत्नेन क्षेत्रेऽत्रैवाऽविमुक्तके ।
त्रैलोक्यस्थापनं पुण्यं यथा भवति तेऽक्षयम् ॥ ११४ ।
नियुतं यत्परिस्थाप्य लिङ्गानि फलमाप्यते ।
अन्यत्र तदिहैकेन लिङ्गेन परिलभ्यते ॥ ११५ ।
कालेन भङ्गमापन्नं जीर्णोद्धारं करोति यः ।
इह तस्य फलस्यान्तः प्रलयेऽपि न जायते ॥ ११६ ।
वित्तशाठ्यं परित्यज्य प्रासादं योऽत्र कारयेत् ।
तेन दत्तो भवेत्सर्वो मेरुर्नियुतयोजनः ॥ ११७ ।
कूपवापीतडागानि शक्त्या योऽत्र तु कारयेत् ।
अन्यत्र कारणात्तस्य पुण्यं कोटिगुणाधिकम् ॥ ११८ ।

प्रसङ्गाज्जीर्णोद्धारादीनां फलमाह । कालेनेत्यादिना ॥ ११६ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायामेकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ।

विष्णु ने ध्रुव के हित करने की इच्छा से उससे कहा ॥ ११२-११३ ।

इस अविमुक्त क्षेत्र में यत्नपूर्वक लिंग-स्थापन करो, जिससे कि त्रैलोक्यस्थापन का पुण्य तुम्हारा अक्षय हो ॥ ११४ ।

अन्यत्र दश लाख शिवलिंग के स्थापन करने से जो पुण्य होता है, इस काशी में वह केवल एक ही लिङ्ग के स्थापन से प्राप्त होता है ॥ ११५ ।

यहाँ पर कालवश टूटे-फूटे देवालयों का जो कोई जीर्णोद्धार कर(वा) देता है, उसके फल का प्रलय में भी अन्त नहीं होता ॥ ११६ ।

जो मनुष्य वित्तशाठ्य (कृपणता) परित्याग कर यहाँ पर शिवालय बनवा देवे, उसे नियुत योजन समस्त सुमेरुपर्वत दान का फल प्राप्त होता है ॥ ११७ ।

जो कोई इस स्थान पर कूप, वापी, तड़ाग आदि यथाशक्ति बनवा देता है, उसे अन्यत्र बनवाने से कोटिगुण अधिक पुण्यलाभ होता है ॥ ११८ ।

इज्यार्थमत्र यः कुर्यात् सुरम्यां पुष्पवाटिकाम् ।
पुष्पे पुष्पे फलं तस्य सुवर्णकुसुमाधिकम् ॥ ११९ ।
अत्र ब्रह्मपुरीं कृत्वा यो विप्रेभ्यः प्रयच्छति ।
वर्षाशनेन संयुक्तां तस्य पुण्यफलं शृणु ॥ १२० ।
क्षीयन्ते सलिलान्यब्धेर्भौमाश्च त्रसरेणवः ।
क्षयो न तस्य पुण्यस्य शिवलोके समासतः ॥ १२१ ।
मठानपि तपस्विभ्यः कारयित्वाऽत्र योऽर्पयेत् ।
जीवनोपायसंयुक्तान् सोऽपि पूर्वफलाश्रयः ॥ १२२ ।
कृत्वा महान्ति पुण्यानि योऽत्र विश्वेश्वरेऽर्पयेत् ।
न तस्य पुनरावृत्तिर्घोरे संसारसागरे ॥ १२३ ।
अनन्त इति वादोयं मयि लोकेऽत्र गीयते ।
परं काशीगुणानां हि मयाऽप्यन्तो न लभ्यते ॥ १२४ ।
तस्मात् प्रयत्नतः काश्यां ध्रुव श्रेयः समाश्रयेत् ।
काशीश्रेयः फलं पुंसामक्षयायोपजायते ॥ १२५ ।

जो मनुष्य इस काशी में पूजन के लिये रमणीय पुष्पवाटिका का निर्माण करता है, उसे प्रतिपुष्प में सुवर्णपुष्प से अधिक फल मिलता है ॥ ११९ ।

इस क्षेत्र में ब्रह्मपुरी बनाकर जो ब्राह्मणों को एक वर्ष के भोजन-सहित दान कर देता है, उसके पुण्य का फल सुनो ॥ १२० ।

चाहे समुद्र का जल सूख जाय, और पृथिवी के त्रसरेणु चाहे क्षय हो जावें, पर शिवलोक में प्राप्त उस जन का पुण्य कभी क्षय को नहीं प्राप्त होता ॥ १२१ ।

जो कोई इस काशी-धाम में मठों को बनवाकर जीवनोपाय के सहित तपस्वियों को देता है, उसे भी पूर्ववत् कथित फल मिलता है ॥ १२२ ।

यहाँ पर बड़े-बड़े पुण्यों का संचय करके जो विश्वेश्वर को समर्पण कर देता है, उसका इस घोर संसार-सागर में पुनरागमन नहीं होता ॥ १२३ ।

इस जगत् में मेरा नाम 'अनन्त' ऐसा कीर्तित होता है, पर मैं भी काशी की गुणावली का अन्त नहीं पाता हूँ ॥ १२४ ।

अत एव हे ध्रुव ! काशी में यत्नपूर्वक धर्म, कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए; क्योंकि काशी में अनुष्ठित धर्म का फल, अक्षयरूप रहता है ॥ १२५ ।

गणावूचतुः—

ध्रुवमित्युपदिश्याऽथ जगाम गरुड़ध्वजः।
ध्रुवोऽपि लिङ्गं संस्थाप्य वैद्यनाथसमीपतः॥ १२६।
प्रासादं सुमहत्कृत्वा कृत्वा कुण्डं तदग्रतः।
विश्वेश्वरं समभ्यर्च्य कृतकृत्यो गृहं ययौ॥ १२७।
ध्रुवेश्वरं समभ्यर्च्य ध्रुवकुण्डे कृतोदकः।
ध्रुवलोकमवाप्नोति नरो भोगसमन्वितः॥ १२८।
ध्रुवस्य परमाख्यानं यः पठेत् पाठयेदपि।
स विष्णुलोकमासाद्य जायत विष्णुवल्लभः॥ १२९।
नरो ध्रुवस्य चरितं प्रसङ्गेन स्मरन्नपि।
न पापैरभिभूयेत महत्पुण्यमवाप्नुयात्॥ १३०।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ध्रुवस्तुतिर्नामैकविंशतितमोऽध्यायः॥ २१।

गणों ने कहा—

गरुड़ध्वज ने ध्रुव को इस प्रकार से उपदेश देकर गमन किया। ध्रुव ने भी वैद्यनाथ के समीप लिंग-स्थापन करके और बहुत बड़ा प्रासाद बनवाकर उसके आगे कुंड निर्माण करा, विश्वेश्वर का पूजन कर, कृतार्थ हो गृह को गमन किया॥ १२६-१२७।

जो मनुष्य ध्रुवेश्वर का पूजन और ध्रुवकुण्ड में स्नानादि जल-क्रियाओं का सम्पादन करता है, वह भोगों से समन्वित होकर ध्रुवलोक में वास करता है॥ १२८।

जो कोई ध्रुव के इस परम आख्यान का पाठ करे वा करावे, वह विष्णुलोक में प्राप्त होकर विष्णु का प्रीतिपात्र हो जाता है॥ १२९।

जो नर इस ध्रुव-चरित का प्रसंगवश भी स्मरण करता है, वह कभी पापों से अभिभूत नहीं होता और महापुण्य का लाभ करता है॥ १३०।

"ध्रुव सगलानि जप्यो हरिनामू।
पायो अनुपम अचल सुठामू॥" (तु० रा०)

स्तुति पवित्र जिमि लहेहु, ध्रुव ध्रुवपद अधिकार।
थापि ध्रुवेशहिं काशि में, कीन्हेहु निज निस्तार ॥ १ ।

है महाल विख्यात यह, जासु ध्रुवेश्वर नाम।
सूर्यकुण्ड के पूर्व है, काशी में वह ठाम ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां ध्रुवकृत-
विष्णुस्तुतिध्रुववरदानप्राप्तिर्नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ।

।। अथ द्वाविंशोऽध्यायः ।।

शिवशर्मोवाच—

ध्रुवाख्यानमिदं रम्यं महापातकनाशनम् ।
महाश्चर्यकरं पुण्यं श्रुत्वा तृप्तोऽस्मि भो गणौ ।। १ ।

अगस्त्य उवाच—

इत्थं यावद् द्विजो ब्रूते विमानं वायुवेगगम् ।
तावत्प्राप महर्लोकं स्वर्लोकात्परमाद्भुतम् ।। २ ।

द्विजोऽथ लोकं संवीक्ष्य सर्वतो महसावृतम् ।
तौ गणौ प्रत्युवाचेदं कोऽयं लोको मनोहरः ।। ३ ।

महर्जनस्तपः सत्यलोकाः काश्याः स्तुतिस्तथा ।
द्वाविंशतितमेऽध्याये वर्ण्यतेऽमरदुर्लभा ।। १ ।

ध्रुवाख्यानमभिनन्दंस्तस्मिन्नात्मनोऽलं प्रत्ययाभावमाह । ध्रुवाख्यानमित्यनेन ।।१।

महसा तेजसा ।। ३ ।

(तीर्थ-माहात्म्य)

शिवशर्मा ने कहा—

हे गणद्वय ! इस महापातकनाशक, अतिविचित्र, रम्य ध्रुवोपाख्यान को सुनकर मैं (परम) सन्तुष्ट हुआ ।। १ ।

अगस्त्य बोले—

जब तक द्विज शिवशर्मा यह बात कह रहा था, इतने में वायुवेग के समान चलने वाला वह विमान, स्वर्गलोक की अपेक्षा परम अद्भुत महर्लोक में जा पहुँचा ।। २ ।

अतः परं उस विप्र ने सर्वतः तेज से व्याप्त उस लोक को देखकर विष्णुगणों से कहा कि कौन-सा मनोहर लोक है ? ।। ३ ।

तावूचतुस्ततो विप्रं निशामय महामते ।
अयं स हि महर्लोकः स्वर्लोकात्परमाद्भुतः ॥ ४ ।
कल्पायुषो वसन्त्यत्र तपसा धूतकल्मषाः ।
विष्णुस्मरणसंक्षीणसमस्तक्लेशसञ्चयाः ॥ ५ ।
निर्व्याजप्रणिधानेन दृष्ट्वा तेजोमयं जगत् ।
महायोगसमायुक्ता वसन्त्यत्र सुरोत्तमाः ॥ ६ ।
इत्थं कथां कथयतोर्भगवद्गणयोः प्रिये ।
क्षणाऽर्धेन विमानं तज्जनलोकं निनाय तान् ॥ ७ ।
निवसन्त्यमला यत्र मानसा ब्रह्मणः सुताः ।
सनन्दनाद्या योगीन्द्राः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः ॥ ८ ।

कल्पायुषो द्विपरार्धायुषो भृग्वादय इत्यर्थः । विष्णोः स्मरणेन ध्यानेन नष्टाः समस्ताः सवासनाः क्लेशानां अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशानां संचयाः समूहा येषां ते तथा ॥ ५ ।

निर्व्याजप्रणिधानेन निष्कपटसमाधिना । तेजोमयं ब्रह्मात्मकम् ।[1] महायोगोऽत्र जीवपरयोरैक्यचिन्तनम् ॥ ६ ।

इत्थं पूर्वोक्तां कथां कथयतोः सतोः । तत्प्रसिद्धम् । निनाय प्रापयामास ॥ ७ ।

तदनन्तर उन दोनों ही ने कहा—हे महामते ! सुनो, यह स्वर्लोक से परम अद्भुत महर्लोक है ॥ ४ ।

तपस्या के द्वारा जिनकी पापराशि धो जाती है, वे ही आकल्पजीवी (भृगु आदि) ऋषिगण, विष्णु के स्मरण से सकल क्लेश-समूहों से विमुक्त होकर निर्बीज समाधि के द्वारा जगत् को तेजोमय देख, महायोग-सम्पन्न सुरोत्तमगण यहाँ पर वास करते हैं ॥ ५-६ ।

हे प्रिये ! लोपामुद्रे ! भगवद्गणों के इस कथा के कहते रहने के मध्य में ही एक आधे क्षण के बीच वह विमान उन सबको जनलोक में ले गया, जहाँ पर ब्रह्मा के मानसपुत्र सनन्दनादिक निर्मल योगीन्द्रगण निवास करते हैं, जो सब के सब ऊर्ध्वरेता

---

१. इदमार्षम् ।

अन्ये तु योगिनो ये वै ह्यस्खलद् ब्रह्मचारिणः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तास्ते वसन्त्यतिनिर्मलाः ॥ ९ ॥
जनलोकात्तपो लोकस्तेषां लोचनगोचरः ।
कृतस्तेन विमानेन मनोवेगेन गच्छता ॥ १० ॥
वैराजा यत्र ते देवा वसेयुर्दाहवर्जिताः ।
वासुदेवे मनो येषां वासुदेवार्पितक्रियाः ॥ ११ ॥
तपसा तोष्य गोविन्दमभिलाषविवर्जिताः ।
तपोलोकमिमं प्राप्य वसन्ति विजितेन्द्रियाः ॥ १२ ॥
शिलोञ्छवृत्तयो ये वै दन्तोलूखलिकाश्च ये ।
अश्मकुट्टाश्च मुनयः शीर्णपर्णाशिनश्च ये ॥ १३ ॥

द्वन्द्वानि शीतोष्णादीनि ॥ ९ ॥

विराजा हिरण्यगर्भेणोत्पादिता वैराजाः । किञ्च । वासुदेवे इति ॥ ११ ॥

शिलोञ्छेत्यादीनां प्रथमान्तानां पदानां ते तपोलोकेऽकुतोभया वसन्तीति नवमेनाऽन्वयः । शिलोञ्छवृत्तयः पतितकणिशकणवृत्तयः । दन्ता एव उलूखलं कण्डनी येषां ते दन्तोलूखलकाः ॥ १३ ॥

हैं और दूसरे भी अस्खलित ब्रह्मचर्य, सुख-दुःखादि सर्व-द्वन्द्व से विमुक्त, मलरहित (विकारहीन) योगीगण वास करते हैं ॥ ७-९ ।

मनोवेगगामी उस विमान ने जनलोक से आगे तपोलोक को उन सबके नयन-गोचर कर दिया ॥ १० ।

वैराज देवगण और जिनका वासुदेव में ही मनोयोग रहता है, एवं जो लोग समस्त कर्मों को भी वासुदेव को ही समर्पण किये हैं, वे ही सब लोग दाह से विवर्जित होकर इस तपोलोक में रहते हैं ॥ ११ ।

जितेन्द्रियगण, निष्कामभाव से तपोद्वारा गोविन्द को सन्तुष्ट कर, इस तपोलोक में आकर वास करते हैं ॥ १२ ।

जो लोग (अन्नादि को कण-कण बिनकर) शिलोञ्छवृत्ति के द्वारा जीवननिर्वाह करते हैं; जो लोग दाँत ही के द्वारा ओखरी का कार्य कर लेने से दन्तोलूखलिक हैं, जो लोग पत्थर से तोड़कर भोजन करने से अश्मकुट्टवृत्ति वाले हैं, जो मुनिगण गलितपत्र भोजी हैं, जो लोग ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तापते हैं। जो मुनिगण गलितपत्रभोजी हैं,

ग्रीष्मे पञ्चाग्नितपसो वर्षासु स्थण्डिलेशयाः ।
हेमन्तशिशिरार्धे ये [1]क्षपन्ति सलिले क्षपाः ॥ १४ ।
कुशाग्रनीरविप्रूषस्तृषिता यतयोऽपिबन् ।
वाताशिनोऽतिक्षुधिताः पादाग्राङ्गुष्ठभूस्पृशः ॥ १५ ।
ऊर्ध्वदोषो रविदृशस्त्वेकाङ्घ्रिस्थाणुनिश्चलाः ।
ये वै दिवा निरुच्छ्वासा मासोच्छ्वासाश्च ये पुनः॥१६।
मासोपवासव्रतिनश्चातुर्मास्यव्रताश्च ये ।
ऋत्वन्ततोयपाना ये ये षण्मासोपवासकाः ॥ १७ ।

सूर्येण सह चतुर्दिक्षु चतुर्भिरग्निभिस्तपो येषां ते **पञ्चाग्नितपसः** । स्थाण्डिलेशयाः भूशायिनः । हेमन्तशिशिरयोर्ऋत्वोरर्धे पौषमाघौ व्याप्य जलेक्षपा रात्रीः क्षपयन्तीत्यर्थः ॥ १४ ।

तृषिता अपि कुशाग्रनीराणां विप्रूषः कणानेवापिबन्न यथेष्टमिति भावः । दीर्घश्छान्दसः । तत्र हेतुर्यतयो यतनशीलास्तप एकनिष्ठा न विषयपरा इत्यर्थः । अतिक्षुधिता अपि वाताशिनः पादाङ्गुष्ठाग्रेण भुवं स्पृशन्तीति पादाङ्गुष्ठाग्रभूस्पृशः ॥ १५ ।

ऊर्ध्वदोष ऊर्ध्वीकृतहस्ताः । रविदृशः सूर्यगत्यनुसारिनेत्राः । एकेनाऽङ्घ्रिणा पादेन स्थाणुवन्निश्चलाः । दिवा निरुच्छ्वासाः सम्पूर्णं दिनं व्याप्य त्यक्तोच्छ्वासाः कुम्भकपरायणा इत्यर्थः । मासोच्छ्वासा मासमभिव्याप्योच्छ्वासो येषां ते तथा रेचकपरायणा इत्यर्थः ॥ १६ ।

ऋत्वन्ते मासद्वयान्ते तोयं पानं येषां ते ऋत्वन्ततोयपानाः ॥ १७ ।

जो लोग पत्थर से लोग ग्रीष्मऋतु में पंचाग्नि तापते हैं, वर्षा में भूमि-शयन करते हैं, समस्त हेमन्त और आधा-शिशिर-ऋतु जल बैठकर बिताते हैं, जो यतिगण तृषार्त होने पर भी कुशाग्रस्थित बिन्दुमात्र पान करते हैं, और अत्यन्त क्षुधित होकर वायु-मात्र भोजन करते हैं, एवं जो लोग केवल पैर के अंगुष्ठाग्रभाग से पृथिवी को स्पर्श किये हुए तपस्या करते हैं, जो लोग ऊर्ध्वबाहु रहते हैं, वा सूर्य में अर्पित दृष्टि होते हैं अथवा एक पद से स्थाणु (ठूंठे वृक्ष) की तरह निश्चल खड़े रहते हैं, एवं दिनभर सांस नहीं लेते, तथा जो मास भर बीतने पर श्वांस छोड़ते हैं, जो चातुर्मास्य व्रती हैं, जो प्रत्येक ऋतु के अन्त में केवल जलपान करते हैं, जो छमास-पर्यन्त उपवासी रहते हैं, जो लोग वर्ष

१. इदमार्णम् ।

ये च वर्षनिमेषा वै वर्षधाराम्बुतर्षकाः ।
ये च स्थाणूपमां प्राप्ता मृगकण्डूतिसौख्यदाः ॥ १८ ॥
जटाटवीकोटरान्तः कृतनीडाऽण्डजाश्च ये ।
प्ररूढवामलूराङ्गाः स्नायुनद्धास्थिसञ्चयाः ॥ १९ ॥
लताप्रतानैः परितो वेष्टितावयवाश्च ये ।
सस्यानि च प्ररूढानि यदङ्गेषु चिरस्थितिः ॥ २० ॥
इत्यादिषु तपः क्लिष्टवर्ष्माणो ये तपोधनाः ।
ब्रह्मायुषस्तपोलोके ते वसन्त्यकुतोभयाः ॥ २१ ॥

वर्षमध्ये वर्षसमाप्तौ वा निमेषो येषां ते वर्षनिमेषाः । वर्षधाराम्बुनि वर्षसम्पातजले तर्षस्तृष्णा येषां ते वर्षधारैकजलपाना इत्यर्थः । ये च स्थाणूपमां स्थाणुतुल्यतां प्राप्ताः । स्थाणुसाम्योपमामिति क्वचित् । स्थाणुसाम्योपसम्प्राप्ता इति चाऽन्यत्र । अत एव मृगकण्डूति सौख्यदाः सुखमेव सौख्यं मृगैः कृत्वा कण्डूतिः सौख्यदा येषां ते तथा ॥ १८ ॥

जटैवाटवी विपिनं तस्याः कोटरान्तश्छिद्रमध्ये कृतो नीडो वासो यैस्तथाभूता अण्डजा येषु ते तथा । प्ररूढवामलूरा वल्मीका अङ्गेषु येषां ते तथा । **'वामूलरश्च नाकुश्च वल्मीकं पुंनपुंसकम्'** इत्यमरः । प्ररूढतृणसर्वाङ्गा इति क्वचित् । स्नायुनद्धो नाडीबद्धोऽस्थिसञ्चयो येषां ते तथा ॥ १९ ॥

लताप्रतानैर्वल्लीनां विस्तारैः समूहैरिति वा । चिरस्थिति यथा स्यात् । चिरस्थितेरिति क्वचित् । तत्र निश्चलतया चिरस्थितेर्हेतोरित्यर्थः ॥ २० ॥

इत्यादिषु पूर्वोक्तप्रकारेषु सुतपः सुशोभनतपस्यासु क्लिष्टानि क्षीणानि वर्ष्माणि शरीराणि येषां ते तथा । कर्माणि इति पाठे इत्यादीनि सुतपांस्येव क्लिष्टानि कठोराणि कर्माणि येषां ते तथा । ब्रह्मायुषो हिरण्यगर्भसमजीविनः । तदुक्तम्—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानस्ते विशन्ति परं पदमिति ॥ २१ ॥

भैर पर निमेष (पलक) गिराते हैं, जो केवल वर्षा ही के धाराजल को पीते हैं, जो लोग स्थाणु की तुल्यता प्राप्त कर मृगों को देह खुजलाने का सुख देते हैं, जिन लोगों के जटाजूट रूपी गहन खोंढ़रे के भीतर पक्षिगण अपना खोंता बनाये रहते हैं, जिनके अंगों पर विमौड़ छाये रहते हैं, जिनके हाड़ नसों से नढ़े रहते हैं, जिनके अंग चारों ओर से लता-प्रतानों के द्वारा वेष्टिव रहते हैं, जिनके अंगों पर बहुत दिनों के घासपात जमे रहते हैं, इन सब प्रकार की तपस्याओं से जिन लोगों ने अपने शरीर को क्षीण कर डाला है,

यावदित्थं स पुण्यात्मा शृणोति गणयोर्मुखात् ।
तावन्नेत्रातिथीभूतः सत्यलोको महोज्ज्वलः ॥ २२ ।
त्वरावन्तौ गणौ तत्र विमानादवरुह्य तौ ।
स्रष्टारं सर्वलोकानां तेन सार्धं प्रणेमतुः ॥ २३ ।

ब्रह्मोवाच—

गणावसौ द्विजो धीमान् त्रैववेदाङ्गपारगः ।
स्मृत्युक्ताचारचञ्चुश्च प्रतीपः पापकर्मसु ॥ २४ ।
अयि द्विज महाप्राज्ञ जाने त्वां शिवशर्मक ।
साधूकृतं त्वया वत्स सुतीर्थप्राणमोक्षणात् ॥ २५ ।

शृणोति कथामिति शेषः ॥ २२ ।

तेन शिवशर्मणा ॥ २३ ।

स्मृत्युक्ताचारचञ्चुः स्मृत्युक्ताचाराभिमुखस्तदुन्मुख इत्यर्थः । चञ्चुपदं हंससादृश्यव्याख्यापनार्थम् । स यथा क्षीरनीरे विवेचयति विविच्य च क्षीरं पिबति तथाऽयमपि पापपुण्ये विविच्य पापं विहाय पुण्यमनुतिष्ठतीत्यर्थः । यद्वा स्मृत्युक्ताचारेण चर्यते ज्ञायत इति स्मृत्युक्ताचारचञ्चुः । प्रतीपो विमुखः ॥ २४ ।

ब्रह्मा शिवशर्माणं सम्बोधयति । अयीति । अपीति पाठे निश्चये अपिशब्दः । हे शिवशर्मक । दयायां कः ॥ २५ ।

ऐसे ऐसे तपोधनगण ब्रह्मा के समान आयुष्य प्राप्त कर इस तपोलोक में अकुतोभयरूप से वास करते हैं ॥ १३-२१ ।

वह पुण्यात्मा ब्राह्मण जब तक इस प्रकार से उन दोनों विष्णुपारिषदों के मुख से यह कथा सुन रहा था, इतने में ही बड़ा उज्ज्वल सत्यलोक उनके नेत्रों का अतिथि हुआ ॥ २२ ।

तुरन्त वे दोनों विष्णुदूत, शिवशर्मा के सहित विमान पर से उतर सब लोगों के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को प्रणाम करने लगे ॥ २३ ।

ब्रह्मा बोले—

गणों ! यह ब्राह्मण बुद्धिमान्, वेदवेदांग का पारगामी, स्मृतिविहित आचारों के पालन में तत्पर और पापकर्मों से विमुख रहने वाला है ॥ २४ ।

अये महाप्राज्ञ विप्र ! शिवशर्मन् ! मैं तुमको जानता हूँ, वत्स ! उत्तमतीर्थ में प्राण त्याग कर तुमने बहुत ही अच्छा किया ॥ २५ ।

सत्वरं गत्वरं सर्वं यच्चैतद् भवतेक्षितम् ।
दैनन्दिनप्रलयतः सृजामि च पुनः पुनः ॥ २६ ।
आवैराजं प्रतिपदमुपसंहरते हरः ।
का कथा मशकाभानां नृणां मरणधर्मिणाम् ॥ २७ ।
चतुर्षु भूतग्रामेषु ह्येक एव गुणो नृणाम् ।
तस्मिन् वै भारते वर्षे कर्मभूमौ महीयसि ॥ २८ ।

भूर्लोकमारभ्य सत्यलोकपर्यन्तं सर्वं जगत् यदेतच्छब्दाभ्यां निर्दिश्यते । तत्रावान्तरविशेषमाह । **दैनन्दिनेति** । दिने दिने भवतीति दैनन्दिनः, स चासौ प्रलयश्च तस्माद्दैनन्दिनप्रलयान्निमित्तादनन्तरं वा । आवैराजं महर्लोकं आमर्यादीकृत्य सीमानं विधायेत्यतत्पुनः पुनः सृजामि भूरादिलोकत्रयमिति शेषः । हरो रुद्रः प्रतिपदं प्रतिक्षणं प्रतिदिनमिति यावत् । पुनः पुनर्लोकत्रयमुपसंहरते नाशयति । महर्लोकादीनां तु प्रकृतप्रलये द्विपरार्धावसाने सकारणकानां नाशः पुनरपि तावतः कालस्यानन्तरं सकारणकब्रह्माण्डसृष्टिरिति बोद्धव्यम् । यदा दैनन्दिनप्रलयत इत्यनेन विष्णोरेव दिने दिने प्रलय उच्यते, तदा पुनः पुनः सृजामीति विष्णुना सहाभेदविवक्षयेति योज्यम् । वैराजं सत्यलोकमभिव्याप्येति वा व्याख्येयम् । यद्वा हे वत्स शिवशर्मन् सुतीर्थप्राणमोक्षणनिमित्ततो यदेतत्सर्वं चराचरं तत्सत्वरमविलम्बितमेव गत्वरं गमनशीलं विनाशशीलं विनाशीत्येतद्भवतेक्षितं दृष्टं तत्त्वया साधुकृतं सम्यक्कृतम् । सत्वरं गत्वरमेव कुत इत्याकाङ्क्षायामाह । दैनन्दिनेति । शेषं पूर्ववत् ॥ २६ ।

चतुर्षु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजेषु नृणां एष वक्ष्यमाण एव तस्मिन् भारते वर्षे गुणः । कोऽसौ गुणः । धर्मसोपानमारुह्येह सत्यलोकमायान्तीति यत् स इति सप्तमेनाऽन्वयः ॥ २८ ।

तुमने ये सब (मार्ग में भूर्लोक से इस सत्यलोक तक) जो कुछ देखे हैं, वे सब शीघ्र ही विनष्ट हो जाने वाले हैं, प्रतिदिन प्रलय के कारण मैं बारंबार सिरजा करता हूँ ॥ २६ ।

रुद्रदेव, प्रतिपद विराट्पर्यन्त का संहार करते हैं, तो फिर मशक-समान मरणधर्मी मनुष्यों की कौन बात है ॥ २७ ।

जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज, इन चारों प्रकार के भूतग्राम में मनुष्यों का एक मात्र यही गुण है कि वे उस बड़ी कर्मभूमि भारतवर्ष में मन के सहित

चपलानि विनिर्जित्येन्द्रियाणि मनसा सह ।
विहाय वैरिणं लोभं विष्वग्गुणगणस्य च ॥ २९ ॥
धर्मवंशहरं काममर्थसञ्चयहारिणम् ।
जरापलितकर्तारं विनिष्कृत्य विचारतः ॥ ३० ॥
जित्वा क्रोधरिपुं धैर्यात्तपसो यशसः श्रियः ।
शरीरस्यापि हर्तारं नेतारं तामसीं गतिम् ॥ ३१ ॥
सदा मदं परित्यज्य प्रमादैकपदप्रदम् ।
प्रमादैकशरण्यं च सम्पदां विनिवर्तकम् ॥ ३२ ॥
सर्वत्र लघुताहेतुमहङ्कारं विहाय च ।
दूषणारोपणे यत्नं कुर्वाणं सज्जनेष्वपि ॥ ३३ ॥

कैः साधनैर्यान्तीत्याकाङ्क्षायां साधनान्याह । **चपलानीति** । चपलानीन्द्रियाणीत्यन्वयः । विष्वग्गुणगणस्य सर्वगुणसमुदायस्य । विश्वे गुणगणस्येति क्वचित्पाठः । तत्र विश्वे विश्वस्मिन् ॥ २९ ॥

धर्मवंशहरं धर्मसन्ततिहरम् । धर्मध्वंसकरमिति क्वचित् ॥ ३० ॥

धैर्याद् विवेकात् । यथोक्तं वैष्णवे—'**यशसस्तपसश्चैव क्रोधो नाशकरः परः**' इति । तामसीं नारकीं गतिं नेतारमिति लोभादीनां त्रयाणां विशेषणम् । तथा च सार्वज्ञं वचः—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेदिति ॥ ३१ ॥

मदं दर्पम् । सदा पदमिति पाठेऽहङ्कारविशेषणम् ॥ ३२ ॥

दूषणेति मोहविशेषणम् ॥ ३३ ॥

चंचल इन्द्रियों को अच्छी रीति से जीत और समस्त गुणगण के वैरी लोभ का परित्याग कर, धर्मकुलध्वंसी, अर्थसंचयविनाशी, जरापलितकारी, काम को विचार से दूर कर धीरतापूर्वक तपस्या, कीर्ति, संपत्ति और निज शरीर के नाशक एवं तामस गति के प्रापक क्रोध को जीत, सदा प्रमाद के एक मात्र कारण मद को छोड़ और प्रमाद के अकेले आश्रय संपत्तियों के निवारक, सर्वत्र लघुता के हेतु अहंकार को त्यागे हुए एवं सज्जनों पर भी दोषारोपण करने में प्रयत्नशील, महाद्रोहरोपक, मतिघाती, अत्यन्त अंधकर्ता अंधतामिस्र नरक के दर्शक मोह को त्याग, श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त महाजनों से

हित्वा मोहं महाद्रोहरोपणं मतिघातिनम् ।
अत्यन्तमन्धीकरणमन्धतामिस्रदर्शकम् ॥ ३४ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं परिक्षुण्णं महाजनैः ।
धर्मसोपानमारुह्य यदिहायान्ति हेलया ॥ ३५ ॥
कर्मभूमिं समीहन्ते सर्वे स्वर्गौकसो द्विज ।
यत्तत्रार्जितभोक्तारः पदेषूच्चावचेष्वमी ॥ ३६ ॥
नार्यावर्तसमो देशो न काशी सदृशी पुरी ।
न विश्वेश्वरसमं लिङ्गं क्वापि ब्रह्माण्डमण्डले ॥ ३७ ॥
सन्ति स्वर्गा बहुविधाः सुखेतरविवर्जिताः ।
सुकृतैकफलाः सर्वे युक्ताः सर्वसमृद्धिभिः ॥ ३८ ॥

अन्धीकरणं ज्ञाननाशकम् । अन्धतामिस्रो नरकविशेषस्तद्दर्शकम् ॥ ३४ ॥

परिक्षुण्णं सेवितम् ॥ ३५ ॥

यद्यस्मात् । तत्र **कर्मभूमौ** । पदेषु स्थानेषु उच्चावचेषूत्कृष्टापकृष्टेषु नानाविधेष्वित्यर्थः ॥ ३६ ॥

नार्यावर्तेति । आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्यहिमालयोरिति । ब्रह्माण्डमेव मण्डलं देशस्तस्मिन् । ब्रह्माण्डमण्डप इति क्वचित् । यद्यपि काशी ब्रह्माण्डमध्यगा न भवति; तथापि प्रतीत्यभिप्रायेणोक्तमिति ज्ञेयम् । एवमग्रेऽपि ज्ञातव्यम् ॥ ३७ ॥

एवं सामान्यतोऽधिकमुक्त्वा विशेषतोऽपि वक्तुमाह । **सन्तीति** । सुखेतरं दुःखं तद्वर्जिताः ॥ ३८ ॥

आचरित, धर्म की सीढ़ी से ऊपर चढ़ इस सत्यलोक में विना प्रयास ही चले आते हैं ॥ २८-३५ ॥

हे द्विज ! सभी स्वर्गवासी गण (इस) कर्मभूमि की प्राप्ति की इच्छा करते हैं, क्योंकि ये लोग कर्मभूमि में जो-जो उपार्जन करते हैं, उसी का फल उत्कृष्ट और अपकृष्ट स्थानों में भोग पाते हैं ॥ ३६ ॥

आर्यावर्त के समान देश, काशी के सदृश पुरी और विश्वेश्वर के तुल्य लिंग किसी भी ब्रह्माण्ड-मण्डल में नहीं है ॥ ३७ ॥

दुःखरहित, सुकृत के एकमात्र फलस्वरूप, सर्वसमृद्धिसम्पन्न, अनेकविध स्वर्ग है ॥ ३८ ॥

स्वर्लोकादधिकं रम्यं नहि ब्रह्माण्डगोलके ।
सर्वे यतन्ते स्वर्गाय तपोदानव्रतादिभिः ॥ ३९ ।
स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः ।
प्राह स्वर्गसदां मध्ये पातालेभ्यः समागतः ॥ ४० ।
आह्लादकारिणः शुभ्रा मणयो यत्र सुप्रभाः ।
नागाङ्गाभरणप्रोताः पातालं केन तत्समम् ॥ ४१ ।
दैत्यदानवकन्याभिरितश्चेतश्च शोभिते ।
पाताले कस्य न प्रीतिर्विमुक्तस्यापि जायते ॥ ४२ ।
दिवार्करश्मयस्तत्र प्रभां तन्वति नातपम् ।
शशिनश्च न शीताय निशि द्योताय केवलम् ॥ ४३ ।

स्वर्लोकादधिकं रम्यं सुन्दरं नास्तीत्यत्र हेतुमाह ! **सर्वे इति** ॥ ३९ ।

स्वर्गसदां देवानां मध्ये ॥ ४० ।

नागाङ्गाभरणप्रोताः नागानामङ्गाभरणलक्षणाऽलङ्कारेषु प्रोता ग्रथिता मणयो यत्र पाताले वर्तन्ते, तत्पातालं केन समं न केनाऽपि । सर्वोत्तमत्वात् । नागाभरणभूषास्विति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ४१ ।

दिवार्केति । यत्र पाताले दिवा दिवसेऽर्करश्मयः प्रभामालोकमात्रं तन्वन्तीति नातपं घर्मं न विस्तारयन्तीत्यर्थः । शशिनश्चेति चशब्दः समासस्थमपि रश्मिपदमनुवर्तयति । चन्द्रस्य च रश्मयो निशि रात्रौ न शीताय किन्तु केवलद्योताय प्रकाशाय । एतेनार्केन्दुरश्मीनां पातालेऽप्यनुप्रवेशो विवक्ष्यते । तथा च भविष्यपुराणे—

इस ब्रह्माण्डगोलक में स्वर्ग से बढ़कर अधिक रम्य दूसरा लोक नहीं है; क्योंकि सभी लोग तपस्या, दान और व्रतादि के द्वारा स्वर्गभोग का ही प्रयत्न करते हैं ॥ ३९ ।

नारद ने पाताल से आकर (एक बार) स्वर्गवासियों के मध्य में कहा था कि पाताल स्वर्गलोक से रमणीय है ॥ ४० ।

जिस पाताल में आह्लादकारी सुन्दर प्रभावाले श्वेत मणिगण, नागों के अंगाभरणों में गुंथे हैं, वह पाताल किस लोक-सा हो सकता है ? ॥ ४१ ।

इधर-उधर दैत्य-दानव की कन्याओं से शोभायमान पाताल में किस विमुक्त की भी प्रीति नहीं हो जाती ? ॥ ४२ ।

जहाँ पर दिन में सूर्य की किरणें केवल प्रभा देती हैं, घाम का संताप नहीं होता और रात्रि में चन्द्ररश्मि शीत न करके चन्द्रिका का प्रकाशमात्र करती है ॥ ४३ ।

यत्र न ज्ञायते कालो गतोऽपि दनुजादिभिः ।
वनानि नद्यो रम्याणि सदम्भांसि सरांसि च ॥ ४४ ।
कलाः पुंस्कोकिलालापाः सुचैलानि शुचीनि च ।
भूषणान्यतिरम्याणि गन्धाढ्यमनुलेपनम् ॥ ४५ ।
वीणावेणुमृदङ्गादिनिःस्वनाः श्रुतिहारिणः ।
हाटकेशं महालिङ्गं यत्र वै सर्वकामदम् ॥ ४६ ।
एतान्यन्यानि रम्याणि भोगयोग्यानि दानवैः ।
दैत्योरगैश्च भुज्यन्ते पातालान्तरगोचरैः ॥ ४७ ।
पातालेभ्योऽपि वै रम्यं द्विज वर्षमिलावृतम् ।
रत्नसानुं समाश्रित्य परितः परिसंस्थितम् ॥ ४८ ।

सूर्यो गोभिर्जगत् सर्वमादीपयति सर्वशः ।
त्रीणि रश्मिशतान्यस्य भूर्लोकं द्योतयन्ति वै ॥
त्रीणि त्रीणि तथा चान्यौ द्वौ लोकौ भासयन्त्युत ।
शतञ्चाऽपि अधस्तात्तु पातालं तापयन्त्युतेति ॥

सूर्याचन्द्रमसावेतौ गृहीतदेहान्तरौ तत्र स्त इति केचिद् व्याचक्षते ॥ ४३ ।

कला विद्याः ॥ ४५ ।

भोगयोग्यानि भोग्यार्हाणि । भोगयोग्यानीति क्वचित् ॥ ४७ ।

रत्नसानुं सुमेरुम् । रत्नसारमिति पाठेऽपि स एवाऽर्थः ॥ ४८ ।

जहाँ के निवासी दनुजादिक समय बीत जाने पर भी नहीं जानते, जिसमें रम्य वन, नदी, विमल-जल सरोवर, अव्यक्त मधुर पुंस्कोकिल का कुहुकना, अतिशुद्ध-वस्त्र, मनोहर भूषण, सुगन्धयुक्त अनुलेपन (उबटन, इत्र), वीणा, वेणु (वंशी), मृदंगादि को श्रुतिसुखद ध्वनि एवं सर्वकामप्रद, हाटकेश्वर महालिंग विराजमान है ॥ ४४-४६ ।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक रम्य उपभोग्य वस्तुओं को पातालान्तरवासी दानव उरगादिगण भोग करते हैं ॥ ४७ ।

हे द्विज ! फिर पाताल से भी रमणीय इलावृत्त वर्ष है, वह चतुर्दिक् से सुमेरु पर्वत का आश्रयण करके अवस्थित है ॥ ४८ ।

सदा सुकृतिनो यत्र सर्वभोगभुजो द्विज ।
नवयौवनसम्पन्ना नित्यं यत्र मृगोदृशः ॥ ४९ ।
भोगभूमिरियं प्रोक्ता श्रेयो विनिमयार्जिता ।
भुज्यते त्वद्विधैर्लोकैस्तीर्थाभित्यक्तदेहकैः ॥ ५० ।
अक्लीबभाषिभिश्चापि पुत्रक्षेत्राद्यहीनकैः ।
परोपकारसंक्षीणसुखायुर्धनसञ्चयैः ॥ ५१ ।
सन्ति द्वीपा ह्यनेका वै पारावारान्तरस्थिताः ।
जम्बूद्वीपसमो द्वीपो न क्वापि जगतीतले ॥ ५२ ।
तत्रापि नववर्षाणि भारतं तत्र चोत्तमम् ।
कर्मभूमिरियं प्रोक्ता देवानामपि दुर्लभा ॥ ५३ ।

मृगोदृशो हरिणोनयनाः ॥ ४९ ।

श्रेयो विनिमयार्जिता पुण्यपरिवर्तनेन सम्पादिता ॥ ५० ।

अक्लीबभाषिभिरमिथ्याभाषिभिः सत्यवादिभिरित्यर्थः । पुत्रक्षेत्रे आद्ये येषां गृहादीनां ते पुत्रक्षेत्राद्यास्तद्विहीनकैस्तद्रहितैरित्यर्थः ॥ ५१ ।

सर्वेभ्यो द्वीपेभ्यो जम्बूद्वीपस्य श्रैष्ठ्यमाह । **सन्तीति** । द्विर्गता आपो यस्मिन् स द्वीपः । पारावारान्तरस्थिताः शुद्धोदपरावीक्तीरयोरन्तरे पात्रेस्थिता मध्येस्थिता इत्यर्थः । पारावारे परार्वाचीतीरे पात्रं तदन्तरमित्यमरः । अथवा पारावारान्तरस्थितत्वं द्वीपानां दक्षिणोत्तरसमुद्रतीरं पूर्वपश्चिमसमुद्रतीरं चापि ज्ञातव्यम् ॥ ५२ ।

नववर्षाणि भद्राश्वकेतुमालभारतोत्तरकुर्वाख्यानि पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरतः समुद्रलग्नानि चत्वारि वर्षाणि । मेरोः सर्वतः इलावृत्तं तत उत्तरतो रम्यकं हिरण्मयं च

हे विप्र ! जिस स्थान में पुण्यकर्ता-गण सर्वदा समस्त भोग्यवस्तुओं का भोग करते हैं और जहाँ पर मृगनयनियाँ नित्य ही नवयौवन सम्पन्न रहती हैं ॥ ४९ ।

वह भोगभूमि कहाती है, तपःफल के बदले से यह मिलती है, जो लोग तुम्हारे ऐसा तीर्थ में देह-त्याग किये हैं, अदीन-वचन बोलते हैं, पुत्रकलत्रादि से रहित हो, अपने सुख, आयुष्य और धनराशि का क्षय करके परोपकार करते हैं, वे ही यहाँ भोग करने में समर्थ होते हैं ॥ ५०-५१ ।

महोदधि के अन्तरस्थित अनेक द्वीप हैं, उनमें जम्बूद्वीप के समान दूसरा कोई भी द्वीप भूतल पर नहीं है ॥ ५२ ।

इस जम्बूद्वीप में नव वर्ष हैं, उनमें भारतवर्ष सबसे उत्तम है । यह देवताओं की दुर्लभ कर्मभूमि कहलाता है ॥ ५३ ।

अष्टौ किम्पुरुषादीनि देवभोग्यानि तानि तु ।
तेषु स्वर्गात्समागत्य रमन्ते त्रिदिवौकसः ॥ ५४ ।
योजनानां सहस्राणि नवविस्तारतस्त्विदम् ।
भारतं प्रथमं वर्षं मेरोर्दक्षिणतः स्थितम् ॥ ५५ ।
तत्रापि हिमविन्ध्याद्रेरन्तरं पुण्यदं परम् ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये ह्यन्तर्वेदीभुवः पराः ॥ ५६ ।
कुरुक्षेत्रं हि सर्वेषां क्षेत्राणामधिकं ततः ।
ततोऽपि नैमिषारण्यं स्वर्गसाधनमुत्तमम् ॥ ५७ ।

दक्षिणतो हरिवर्षं किम्पुरुषश्चेति । तत्र तेषु नवसु वर्षेषु भारतं वर्षमजनाभं सद्भरतस्यर्षभपुत्रस्य नाम्ना विख्यातमुत्तमं श्रेष्ठमित्यर्थः । तथा चोक्तं भागवते—

तस्यासीद्भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
आख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतमिति ॥ ५३ ।

इदं भारतमित्यन्वयः । प्रथमं मुख्यम् ॥ ५५ ।

हिमविन्ध्याद्रेर्हिमालयसहितविन्ध्यपर्वतस्येत्यर्थः । हिमविन्ध्यद्र्योरिति क्वचित्पाठः । अन्तर्वेदीभुवः अन्तर्वेदीनाम्न्यो भुवः पराः उत्कृष्टाः ॥ ५६ ।

निमिषेणेदं दानवं बलमस्मिन्नरण्ये मया निहितमिति नैमिषारण्यम् । तथा च गौरमुखमृषिं प्रति वराहपुराणे विष्णोर्वाक्यम्—

एवं कृत्वा ततो देवो मुनिं गौरमुखं तदा ।
उवाच निमिषेणेदं निहतं दानवं बलम् ॥
अरण्येऽस्मिंस्ततस्त्वेतन्नैमिषारण्यसंज्ञितमिति ।
भविष्यति यथार्थं वै ब्राह्मणानां विशेषकम् ॥ इति पाठान्तरे ।

दूसरे आठों वर्ष किंपुरुषादि नामों से प्रसिद्ध हैं, वे सब देवभोग्य हैं, उनमें स्वर्गवासीगण स्वर्ग से आकर भोग (क्रीड़ा) करते हैं ॥ ५४ ।

इस भारतवर्ष का विस्तार नवसहस्र योजन है, यह जम्बूद्वीप का प्रथम वर्ष सुमेरुपर्वत के दक्षिण भाग में है ॥ ५५ ।

इसमें भी हिमालय और विन्ध्य-पर्वतों के मध्य का देश परं पुण्यप्रद है, उसमें भी गंगा और यमुना के बीच की अन्तर्वेदी भूमि परम उत्कृष्ट है ॥ ५६ ।

कुरुक्षेत्र समस्त क्षेत्रों में अधिक उत्तम है, उससे भी बढ़कर नैमिषारण्य उत्तम स्वर्ग का साधन है ॥ ५७ ।

नैमिषारण्यतोऽपीह सर्वस्मिन् क्षितिमण्डले ।
सर्वेभ्योऽपि हि तीर्थेभ्यस्तीर्थराजो विशिष्यते ।। ५८ ।
स्वर्गदो मोक्षदश्चैव सर्वकामफलप्रदः ।
प्रयागस्तन्महत्क्षेत्रं तीर्थराज इति स्मृतः ।। ५९ ।
यागाः सर्वे मया पूर्वं तुलया विधृता द्विज ।
तच्च तीर्थवरं रम्यं कामिकं कामपूरणात् ।। ६० ।
दृष्ट्वा प्रकृष्टं यागेभ्यः पुष्टेभ्यो दक्षिणादिभिः ।
प्रयागमिति तन्नाम कृतं हरिहरादिभिः ।। ६१ ।

ब्रह्मणा विसृष्टस्य चक्रस्य नेमिः शीर्यते यत्र तन्निमिशं निमिशमेव नैमिशम् । वायसराक्षसादिवत् स्वार्थे तद्धितः । तथा च वायुपुराणे—

एतन्मनोमयं चक्रं मया सृष्टं विसृज्यते ।
यत्रास्य शीर्यते नेमिः स देशः तपसः शुभः ।।
इत्युक्त्वा सूर्यसंकाशं चक्रं सृष्ट्वा मनोमयम् ।
प्रणिपत्य महादेवं विससर्ज पितामहः ।।
तेऽपि हृष्टतरा विप्राः प्रणम्य जगतां प्रभुम् ।
प्रययुस्तस्य चक्रस्य यत्र नेमिर्व्यशीर्यत ।।
तद्वनं तेन विख्यातं नैमिशं मुनिपूजितम् ।। इति ।। ५७ ।

कोऽसौ तीर्थराज इत्याकाङ्क्षायामाह । **स्वर्गद** इति । महदुत्कृष्टम् । ममेति क्वचित् ।। ५९ ।

प्रयागनाम निर्वक्ति । **यागा** इति द्वयेन ।। ६० ।

इस समस्त क्षितिमंडल में नैमिषारण्य तथा अपर सकल तीर्थों से तीर्थराज विशिष्ट है ।। ५८ ।

वह स्वर्ग, मोक्ष और समस्त कामनाओं का फलदाता महाक्षेत्र तीर्थराज ही प्रयाग कहा गया है ।। ५९ ।

पूर्वकाल में मैंने समग्र याग और कामपूरण करने से कामिक, रम्य इस तीर्थराज को तौला था, हे द्विज ! दक्षिणादि से पुष्ट सब यागों से इसे प्रकृष्ट देखकर, हरिहरादि देवों ने इसका नाम प्रयाग रक्खा ।। ६०-६१ ।

नाममात्रस्मृतेर्यस्य प्रयागस्य त्रिकालतः ।
स्मर्तुः शरीरे नो जातु पापं वसति कुत्रचित् ॥ ६२ ।
सन्ति तीर्थान्यनेकानि पापत्राणकराणि च ।
न शक्तान्यधिकं दातुं कृतैनः परिशुद्धितः ॥ ६३ ।
जन्मान्तरेष्वसंख्येषु यः कृतः पापसञ्चयः ।
दुष्प्रणोद्यो हि नितरां व्रतैर्दानैस्तपोजपैः ॥ ६४ ।
स तीर्थराजगमनोद्यतस्य शुभजन्मनः ।
अङ्गेषु वेपतेऽत्यन्तं द्रुमो वातहतं यथा ॥ ६५ ।
ततः क्रान्ताऽर्धमार्गस्य प्रयागदृढचेतसः ।
पुंसः शरीरान्निर्यातुमपेक्षेत पदान्तरम् ॥ ६६ ।
भाग्यान्नेत्रातिथीभूते तीर्थराजे महात्मनः ।
पलायते द्रुततरं तमः सूर्योदये यथा ॥ ६७ ।

यागादिभ्यः प्रकृष्टत्वमेव दर्शयति । **नाममात्रेति** ॥ ६२ ।

कृतानि यानि एनांसि पापानि तेषां परिशुद्धितो नाशादित्येव ॥ ६३ ।

स पापसञ्चयः ॥ ६४-६५ ।

पदान्तरं स्थानान्तरम् ॥ ६६ ।

जो कोई प्रयाग का त्रिकाल केवल नाम ही स्मरण करे, तो उसके शरीर में कहीं भी पाप कभी वास नहीं कर सकता ॥ ६२ ।

यद्यपि पाप से बचाने वाले अनेक तीर्थ हैं; परन्तु संचित पापराशि का नाशक इस प्रयाग से अधिक कोई भी नहीं है ॥ ६३ ।

असंख्य जन्मान्तर के संचित पापगण जो कि व्रत, दान, तप और जपादि के द्वारा कभी दूर नहीं किये जा सकते, वे सब प्रयागगमनोद्यत शुभ-जन्मी नर के अंगों में वायुसंहत वृक्ष के सदृश थर-थराकर काँप उठते हैं ॥ ६४-६५ ।

पश्चात् प्रयाग-यात्रा में दृढ़चित्त-पुरुष जब आधा मार्ग चला जाता है, तो वे सब पाप उसके शरीर से निकल कर भागने के लिये दूसरा स्थान ढूंढने लगते हैं ॥ ६६ ।

फिर तो भाग्यवश तीर्थराज के दर्शन होते ही अन्धकार शीघ्रतर भाग जाता है ॥ ६७ ।

सप्तधातुमयीभूततनौ पापानि यानि वै ।
केशेषु तानि तिष्ठन्ति वपनाद्यान्ति तान्यपि ॥ ६८ ।
एवं निष्कलुषीभूय ततः स्नायात् सितासिते ।
यं यं काममभिध्याय तं तमाप्नोति नान्यथा ॥ ६९ ।
पुण्यराशिं च विपुलं पुण्यान् भोगान्यथेप्सितान् ।
स्वर्गं प्राप्नोति तत्पुण्यान्निष्कामो मोक्षमाप्नुयात् ॥ ७० ।
स्नायाद्योऽभिलषन्मोक्षं कामानन्यान्विहाय च ।
सोऽपि मोक्षमवाप्नोति कामदात्तीर्थराजतः ॥ ७१ ।
तीर्थराजं परित्यज्य योऽन्यस्मात्काममिच्छति ।
भारताख्ये महावर्षे स कामं नाप्नुयात्स्फुटम् ॥ ७२ ।
सत्यलोके प्रयागे च नान्तरं वेद्म्यहं द्विज ।
तत्र ये शुभकर्माणस्ते मल्लोकनिवासिनः ॥ ७३ ।

त्वङ्मांसरुधिरस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्राणीति सप्तधातवस्तन्मभूततनौ तत्स्वरूपशरीर इत्यर्थः । वपनान्मुण्डनात् ॥ ६८ ।

सिताऽसिते गङ्गायमुनयोः सम्भेदेवेण्यामित्यर्थः । अभिध्याय सङ्कल्प्य । अभिध्यायन्निति क्वचित् ॥ ६९ ।

मोक्षमवाप्नोति सत्त्वशुद्धिद्वारा विविदिषाद्वारा वेत्यर्थः ॥ ७१ ।

स्फुटं झटितीत्यर्थः ॥ ७२ ।

सप्तधातुमय शरीर में जो-जो पाप हैं, वह सब केशों पर जा बैठते हैं, मुंडन करा देने से वे भी नहीं रह जाते ॥ ६८ ।

इस प्रकार से निष्पाप होकर जो सितासित-तीर्थ (गंगा-यमुना के संगम) में स्नान करता है, वह उस पुण्यबल से विपुल पुण्यराशि यथेच्छित पवित्र भोग और स्वर्ग को पाता है एवं जो निष्काम नहाता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ६९-७० ।

अन्य कामनाओं को त्याग केवल मोक्ष की ही आकांक्षा से जो स्नान करे, वह भी कामद तीर्थराज से मोक्ष-लाभ करता है, वह निश्चय करके कामना-फल को नहीं पाता ॥ ७१-७२ ।

हे द्विज ! मैं सत्यलोक और प्रयाग में क्या अन्तर है, यह नहीं जानता; क्योंकि प्रयाग में जो शुभ-कर्म करने वाले लोग हैं, वे सब मेरे सत्यलोक के निवासी हैं ॥ ७३ ।

तीर्थाऽभिलाषिभिर्मर्त्यैः सेव्यं तीर्थान्तरं नहि ।
अन्यत्र भूमिवलये तीर्थराजात्प्रयागतः ।। ७४ ।
यथान्तरं द्विजश्रेष्ठ भूपे त्वितरसेवके ।
दृष्टान्तमात्रं कथितं प्रयागेतरतीर्थयोः ।। ७५ ।
यथाकथञ्चित्तीर्थेऽस्मिन् प्राणत्यागं करोति यः ।
तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि ।। ७६ ।
यस्य भाग्यवतश्चात्र तिष्ठन्त्यस्थीन्यपि द्विज ।
न तस्य दुःखलेशोऽपि क्वापि जन्मनि जायते ।। ७७ ।
ब्रह्महत्यादिपापानां प्रायश्चित्तं चिकीर्षुणा ।
प्रयागं विधिवत्सेव्यं द्विजवाक्यान्न संशयः ।। ७८ ।

यथाकथञ्चिदिति । अनशनेन जलादिप्रवेशेन वेत्यर्थः । न चैतद्ब्राह्मणातिरिक्त-विषयमिति मन्तव्यम् । यदि त्वं न विजानासि तात विष्णोरेव स्थितिम् । गत्वा प्रयागं तत्रैव सन्त्यक्ष्यामः कलेवरमिति गर्गच्यवनादीनां वचनस्य प्रह्लादसंहितायां द्वारका-माहात्म्ये दर्शनात् ।। ७६ ।

द्विजाः सनकादयो ब्राह्मणाः । द्वाभ्यां गुरुशिष्याभ्यां जायन्त इति द्विजा वेदा वा तेषां वाक्यम् । हे द्विज वाक्यं वचनमिति वा ।। ७८ ।

भूमण्डल पर तीर्थाभिलाषी मनुष्य को तीर्थराज प्रयाग से भिन्न इतर किसी तीर्थ का सेवन नहीं करना चाहिए ।। ७४ ।

हे द्विजश्रेष्ठ ! राजा और इतर सेवक में जितना अन्तर है, प्रयाग एवं तद्भिन्न तीर्थों में भी वही है, यह एक दृष्टान्त-मात्र कथन किया गया है ।। ७५ ।

जो कोई इस प्रयाग-तीर्थ में किसी प्रकार से प्राणत्याग करता है, उसे आत्म-घात का दोष नहीं होता और ईप्सित फलों को भी पाता है ।। ७६ ।

जिस भगवान् की अस्थि (हाड़) प्रयाग में (पड़ी) रह जाती है, वह किसी जन्म में भी दुःख का लेश नहीं पाता ।। ७७ ।

जिसे ब्रह्महत्यादि पापों के प्रायश्चित्त करने की इच्छा हो, उसे निस्सन्देह ब्राह्मण के आज्ञानुसार विधिपूर्वक प्रयाग का ही सेवन करना उचित है ।। ७८ ।

किं बहूक्तेन विप्रेन्द्र महोदयमभीप्सुना ।
सेव्यं सिताऽसितं तीर्थं प्रकृष्टं जगतीतले ॥ ७९ ।
प्रयागतोऽपि तीर्थेशात् सर्वेषु भुवनेष्वपि ।
अनायासेन वै मुक्तिः काश्यां देहाऽवसानतः ॥ ८० ।
प्रयागादपि वै रम्यं विमुक्तं न संशयः ।
यत्र विश्वेश्वरः साक्षात् स्वयं समाधितिष्ठति ॥ ८१ ।
अविमुक्तान् महाक्षेत्राद्विश्वेशसमधिष्ठितात् ।
न च किञ्चित्क्वचिद्रम्यमिह ब्रह्माण्डगोलके ॥ ८२ ।
अविमुक्तमिदं क्षेत्रमपि ब्रह्माण्डमध्यगम् ।
ब्रह्माण्डमध्ये न भवेत् पञ्चक्रोशप्रमाणतः ॥ ८३ ।

प्रयागमाहात्म्यमुपसंहरति । **किं बहूक्तेनेति** ॥ ७९ ।

यदर्थं स्वर्गादीनां रम्यत्वमुक्तं तदिदानीं दर्शयति । **प्रयागतोऽपि** ॥ ८० ।

अनायासेन मुक्तौ हेतुं वदन्नतिरम्यत्वमाह । **प्रयागादिति** । ॥ ८१ ।

अन्वयमुखेनातिरम्यत्वमुक्त्वा, व्यतिरेकेणापि तदाह । **अविमुक्तादिति ।** महाक्षेत्रत्वे हेतुर्विश्वेशेति ॥ ८२ ।

तर्हि ब्रह्माण्डस्थितत्वाविशेषादयोध्यादिक्षेत्रवदिदं क्षेत्रं स्यादित्यत आह । **अविमुक्तमिति** ॥ ८३ ।

हे विप्रेन्द्र ? बहुत क्या कहें ? जिसे अत्यन्त उन्नति की इच्छा हो, वह भूतल में सर्वोत्तम सितासित तीर्थ की ही सेवा करे ॥ ७९ ।

समस्त भुवनों में तीर्थेश्वर प्रयाग से भी अधिक काशी में शरीर-त्याग होने से अनायास ही मुक्ति मिल जाती है ॥ ८० ।

अतएव अविमुक्त-क्षेत्र प्रयाग से भी परम रम्य है; क्योंकि वहाँ पर साक्षात् विश्वेश्वर स्वयं वर्तमान हैं ॥ ८१ ।

विश्वेशाधिष्ठित अविमुक्त-महाक्षेत्र से अधिक रम्य ब्रह्माण्डमण्डल में कहीं भी कुछ नहीं है ॥ ८२ ।

यह अविमुक्तक्षेत्र यद्यपि ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है, पर वह पंचक्रोश-प्रमाण ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती नहीं होता ॥ ८३ ।

यथा यथा हि वर्धेत जलमेकार्णवस्य च ।
तथा तथोन्नयेदोलस्तत्क्षेत्रं प्रलयादपि ॥ ८४ ।
क्षेत्रमेतत्त्रिशूलाग्रे शूलिनस्तिष्ठति द्विज ।
अन्तरिक्षेन भूमिष्ठं नेक्षन्ते मूढबुद्धयः ॥ ८५ ।
सदा कृतयुगं चात्र महापर्व सदाऽत्र वै ।
न ग्रहाऽस्तोदयकृतो दोषो विश्वेश्वराश्रमे ॥ ८६ ।
सदा सौम्यायनं तत्र सदा तत्र महोदयः ।
सदैव मङ्गलं तत्र यत्र विश्वेश्वरस्थितिः ॥ ८७ ।
यथा भूमितले विप्र पुर्यः सन्ति सहस्रशः ।
तथा काशी न मन्तव्या क्वापि[1] लोकोत्तरा त्वियम् ॥ ८८ ।

कथं तर्हि दैनन्दिनप्रलये प्राकृतप्रलये चात्र काशीतिष्ठेत्तत्राह । **यथा यथा होति** ॥ ८४ ।

कथं तर्हि निराश्रयमिदं तिष्ठेदित्यत आह । **क्षेत्रमेतदिति** । कथं तर्हि तथा सर्वे न पश्यन्ति तत्राह । **नेक्षन्त** इति ॥ ८५ ।

महापर्वग्रहणादि । न शुक्रगुर्वोर्ग्रहयोरस्तमनोदयाभ्यां कृतो ग्रहास्तोदयकृतः ॥ ८६ ।

सौम्यायनं प्रशस्तमयनमुत्तरायणमित्यर्थः ॥ ८७ ।

नन्वयोध्यादिक्षेत्रस्याऽपि चक्रादिधृतत्वप्रतीतेः को विशेष इति चेत्तत्राह । **यथेति** । भूमितले भूम्यादितले इत्यर्थः । तथा मननहेतुमाह । **काशीति** । **तु** शब्द

प्रलयकाल में ज्यों-ज्यों एकार्णव का जल बढ़ता जाता है, महादेव त्यों-त्यों उस क्षेत्र को ऊपर उठाते रहते हैं ॥ ८४ ।

हे द्विज ! यह क्षेत्र शिव के त्रिशूलाग्र-भाग पर अन्तरिक्ष में संस्थित है, पृथिवी पर नहीं है, मूढ़बुद्धिगण इसे नहीं देख सकते ॥ ८५ ।

इस विश्वेश्वर के आश्रम में नित्य ही सत्ययुग है, सर्वदैव महापर्व है, एवं यहाँ पर ग्रहों के उदय और अस्त होने का दोष (कभी) नहीं होता ॥ ८६ ।

जहाँ पर भगवान् विश्वनाथ की स्थिति है, वहाँ सदैव सौम्यायन और महोदय-पर्व तथा मंगल विराजमान रहता है ॥ ८७ ।

भूतल में जैसे सहस्रशः पुरियाँ हैं,, हे विप्र ? काशी को भी वैसी ही नहीं मानना चाहिए, यह तो एक लोकोत्तर नगरी है ॥ ८८ ।

१. काशी लोकोत्तरात्त्वियमिति क्वचित्पाठः ।

मया सृष्टानि विप्रेन्द्र भुवनानि चतुर्दश।
अस्या पुर्या विनिर्माता स्वयं विश्वेश्वरः प्रभुः ॥ ८९ ।
पुरा यमस्तपस्तप्त्वा बहुकालं सुदुष्करम्।
त्रैलोक्याधिकृतिं प्राप्तस्त्यक्त्वा वाराणसीं पुरीम् ॥ ९० ।
चराचरस्य सर्वस्य यानि कर्माणि तानि वै।
गोचरे चित्रगुप्तस्य काशीवासिकृतादृते ॥ ९१ ।
प्रवेशो यमदूतानां न कदाचिद्‌द्विजोत्तम।
मध्ये काशीपुरीं क्वापि रक्षिणस्तत्र तद्‌गणाः ॥ ९२ ।

इतराभ्योऽस्या आधिक्यं द्योतयति। तदेवाह। इयं काशी लोकोत्तरा चतुर्दशलोका-दूर्ध्वेति यावत् ॥ ८८ ।

तत्र हेतुमाह। **मयेति**। एतत्तु प्राकृतप्रलयानन्तरं सृष्टाविति ज्ञातव्यम्। तथा च स्कान्दे सूतसंहितायाम्—

तानि भूतानि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्य शिवाज्ञया।
तेभ्य एव सुराः सृष्टं ब्रह्माण्डाख्यमिदं मयेति ॥

अयं भावः—अयोध्यादिक्षेत्राणां चक्रादिभिर्धृतत्वेऽपि चतुर्दशभुवनान्तःपातित्वाद् ब्रह्मणा सृष्टत्वाच्चाभ्योऽस्याश्चतुर्दशभुवनबहिर्भूतत्वाद्विश्वेश्वरसृष्टत्वाच्चाधिक्यमिति ॥८९।

काशीवासिकृतात्कर्मणः **ऋते** विना ॥ ९१ ।

तद्‌गणाः श्रीमद्रुद्रगणाः ॥ ९२ ।

मैंने तो चौदहों भुवनों की सृष्टि की है; परन्तु हे विप्रेन्द्र ! इस पुरी के निर्माण-कर्ता स्वयं प्रभु विश्वेश्वर ही हैं ॥ ८९ ।

पूर्वकाल में यमराज ने बहुत समय तक अतिदुष्कर तपस्या कर, केवल वाराणसीपुरी को छोड़ त्रैलोक्य का आधिपत्य पाया था ॥ ९० ।

चित्रगुप्त भी समस्त चराचर के कर्मों को गोचर करते हैं, पर काशीवासियों के कृतकर्म को नहीं जान सकते ॥ ९१ ।

महादेव के गणों द्वारा परिरक्षित काशीपुरी में कहीं भी यमदूतों के प्रवेश का कभी अधिकार नहीं है ॥ ९२ ।

स्वयं नियन्ता विश्वेशस्तत्र काश्यां तनुत्यजाम् ।
तत्रापि कृतपापानां नियन्ता कालभैरवः ।। ९३ ।

तत्र पापं न कर्तव्यं दारुणा रुद्रयातना ।
अहो रुद्रपिशाचत्वं नरकेभ्योऽपि दुःसहम् ।। ९४ ।

पापमेव हि कर्तव्यं मतिरस्ति यदीदृशी ।
सुखेनाऽन्यत्र कर्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी ।। ९५ ।

अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम् ।
अपि पापकृता काशी रक्ष्या मोक्षार्थिनैकिका ।। ९६ ।

परापवादशीलेन परदाराऽभिलाषिणा ।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशीनिरयः क्व सः ।। ९७ ।

नियन्ता तत्त्वज्ञानोपदेष्टा । तत्रापि तनुत्यजामपि मध्ये । नियन्ता शासकः ।।९३।

तत्र काश्याम् । यत्र कृतात्पापादिति शेषः । रुद्रयातना । न केवलं काशीकृतात् पापाद्रुद्रयातनामात्रं किन्तु सुदुःसहं रुद्रपिशाचत्वमपि भवतीत्याह । अहो इति खेदे ।।९४।

ननु कामातुराणां न भयं न लज्जेत्यादिदर्शनात् किमिति पापिभिः काशी त्याज्येत्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह । **अपीति** । कामातुरोऽपीत्यर्थः । अपि पापकृता पापकृताऽपीत्यर्थः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्यत्तच्छब्दावध्याहर्तव्यौ । तथा पापकृतेति क्वचित् ।। ९६ ।

विपक्षे बाधकमाह । **परापवादेति** ।। ९७ ।

काशी में देहत्यागियों के नियन्ता स्वयं विश्वेश्वर हैं, और वहाँ पर भी पापकर्ताओं के शासक कालभैरव हैं ।। ९३ ।

अतएव वहाँ पर कभी पाप नहीं करना चाहिये; क्योंकि केवल रुद्रयातना तो दारुण हुई है, पर समस्त नरकों से दुःसह रुद्रपिशाचत्व भी प्राप्त होता है, ।। ९४ ।

'पाप ही कर्त्तव्य है' यदि ऐसी ही बुद्धि है तो इतनी बड़ी पृथिवी पड़ी है, (काशी को छोड़कर) अन्यत्र सुखपूर्वक करणीय है ।। ९५ ।

प्राणी कामातुर होने पर भी एक माता को बचाता है, वैसे ही पापी होने पर भी मोक्षार्थी को अकेली काशी तो सर्वथा बराय देनी चाहिए ।। ९६ ।

जिसे दूसरे की निन्दा करने का अभ्यास पड़ गया है, और जो परस्त्रीगमन की अभिलाषा रखता हो, उसे कभी काशी का सेवन करना उचित नहीं हैं; क्योंकि कहाँ तो परमपदप्रदात्री काशी और कहाँ नरकसम वह नर ! ।। ९७ ।

अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चाऽत्र प्रतिग्रहैः ।
परस्वं कपटैर्वापि काशी सेव्या न तैर्नरैः ॥ ९८ ।
परपीडाकरं कर्म काश्यां नित्यं विवर्जयेत् ।
तदेव चेत् किमत्र स्यात् काशीवासो दुरात्मनाम् ॥ ९९ ।
त्यक्त्वा वैश्वेश्वरीं भक्तिं येऽन्यदेवपरायणाः ।
सर्वथा तैर्न वस्तव्या राजधानी पिनाकिनः ॥ १०० ।
अर्थार्थिनस्तु ये विप्र ये च कामार्थिनो नराः ।
अविमुक्तं न तैः सेव्यं मोक्षक्षेत्रमिदं यतः ॥ १०१ ।
शिवनिन्दापरा ये च वेदनिन्दापराश्च ये ।
वेदाचारप्रतीपा ये सेव्या वाराणसी न तैः ॥ १०२ ।

पापिभिः काशी न वस्तव्येत्येतत् कैमुत्यन्यायेनाह । अभिलष्यन्तीति । धनं चेति चकारेण वस्त्रादिकं गृह्यते । युक्तारन्तुमिति पाठे युक्ता उद्युक्ताः कृताध्यवसाया इत्यर्थः । भोक्तुमन्नं प्रतिग्रहैरिति क्वचित् ॥९८।

काशीवासाऽनधिकारिणो दर्शयति । **त्यक्त्वेति** पञ्चभिः ॥ १०० ।

हे विप्र हे शिवशर्मन् ॥ १०१ ।

प्रतीपाः प्रतिकूलाः ॥ १०२ ।

जो लोग दान के द्वारा यहाँ धनादि उपार्जन किया चाहते हैं, अथवा कपट करके पराये का धनादिक लिया चाहते हैं, ऐसे मनुष्यों को काशी का सेवन नहीं करना चाहिए ॥ ९८ ।

काशी में नित्य ही परपीड़ाकर कर्म को त्याग दे, यदि वही करना है, तो वैसे दुरात्माओं को काशीवास करने का क्या प्रयोजन है ? ॥ ९९ ।

जो लोग विश्वनाथ की भक्ति त्याग कर दूसरे देवताओं में भक्तिभाव रखते हों, उन्हें कभी पिनाकपाणि की राजधानी में नहीं रहना चाहिये ॥ १०० ।

हे विप्र ! लोग अर्थ की सिद्धि चाहने वाले हों, अथवा कामार्थी हों, उन्हें इस अविमुक्त की सेवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यह तो मोक्ष-क्षेत्र है ॥ १०१ ।

जो लोग महादेव के निन्दक वा वेद की निन्दा में तत्पर हों, अथवा वैदिक आचार के विरुद्ध चलते हों, उन सबको वाराणसी का सेवन करना उचित नहीं है ॥ १०२ ।

परद्रोहधियो ये च परेर्ष्याकारिणश्च ये।
परोपतापिनो ये वै तेषां काशी न सिद्धये ॥ १०३ ।
मनसाऽपि न ये काशीमभिनन्दन्ति दुर्धियः।
तेषां निर्वाणवार्ताऽपि दूरे दुर्वृत्तचेतसाम् ॥ १०४ ।
ज्ञानेन न विना मोक्षः क्वचिदस्तीह भूतले।
तज्ज्ञानं न व्रतैर्लभ्यमपि चान्द्रायणादिभिः ॥ १०५ ।
तुलापुरुषमुख्यैश्च दानैश्च श्रद्धयान्वितैः।
देशे काले च विधिना पात्रेभ्यः प्रतिपादितैः ॥ १०६ ।
न यमैर्ब्रह्मचर्याद्यैर्नियमैर्नार्चनादिभिः।
शरीरशोषणैरुग्रैर्न तपोभिर्द्विजोत्तम ॥ १०७ ।

तेषां काशी न सिद्धये, तेषां निर्वाणवार्ताऽपि दूर इत्येतद्द्वयं तेषामन्तकाले काशीप्राप्त्यभावाऽभिप्रायेणेति बोद्धव्यम्। अथवाऽन्तकाले काशीप्राप्तावपि झटित्यनायासेन कैवल्याभावाऽभिप्रायेण। तथा चोक्तं पद्मपुराणे काशीमाहात्म्ये—

केवलं धर्मसापेक्षः कर्णे जपति तद्वचः।
अधर्मिष्ठस्य तत्क्षेत्रे यातनान्ते दिशन्मतिम् ॥
काश्यां यो निजधर्मेण मुमुक्षुस्तिष्ठति द्विजः।
अनायासाऽविलम्बाभ्यां स एव लभते फलमिति ॥ १०३ ।

काश्यामेकेनैव जन्मना मोक्षः प्राप्यत इति वक्तुं ज्ञानादिसाधनस्यैकेन जन्मना दुर्लभतामाह। **ज्ञानेनेति** यावत्समाप्ति ॥ १०५ ।

जो लोग परद्रोहबुद्धि वाले हैं, पराये की ईर्ष्या (डाह) करते हैं, एवं दूसरों को संताप देते हैं, उनकी सिद्धि काशी में नहीं होती ॥ १०३ ।

जो दुर्बुद्धिगण, चित्त से भी काशी की बड़ाई नहीं करते, उन दुर्वृत्तचित्तों की मोक्षवार्ता भी दूर ही है ॥ १०४ ।

भूतल पर विना ज्ञान के कहीं भी मोक्ष नहीं है, वह ज्ञान चान्द्रायणादि व्रतों से भी नहीं मिल सकता ॥ १०५ ।

न श्रद्धासहित उत्तम देश और काल में विधिपूर्वक सत्पात्रों में प्रतिपादित तुला-पुरुष प्रभृति दानों से, न यमों से, न ब्रह्मचर्यादि नियमों से, न पूजादिक से, न शरीर-शोषक उग्रतपस्याओं से, न अति अग्निशुश्रूषण से, न गुरुलोगों की सेवा से, न (पितरों

न महामन्त्रजप्यैश्च गुरुभिः प्रतिपादितैः ।
न स्वाध्यायैर्यथोक्तैश्च नाग्निशुश्रूषणैः परैः ॥ १०८ ।
न सेवया गुरूणां च न श्राद्धैर्देवतार्चनैः ।
न नानातीर्थयात्राभिर्ज्ञानं समधिगम्यते ॥ १०९ ।
न योगेन विना ज्ञानं योगस्तत्त्वार्थशीलनम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सदाभ्यासवशेन च ॥ ११० ।
तस्यान्तराया बहवः सुदूरश्रवणादयः ।
अतो न प्राप्यते ज्ञानं योगादेकेन जन्मना ॥ १११ ।
विना तपो जपाद्यैश्च विना योगेन सुव्रत ।
निःश्रेयो लभ्यते काश्यामिहैकेनैव जन्मना ॥ ११२ ।
त्वया शुद्धधिया काश्यां यच्छ्रेयः समुपार्जितम् ।
तच्छ्रेयसोऽप्युदर्कस्ते महानस्ति द्विजोत्तम ॥ ११३ ।

योगेन चित्तवृत्तिनिरोधेन । तथा च पातञ्जलं सूत्रम्—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' इति । तत्त्वाऽनुशीलहेतुत्वाद्योग एव तत्त्वार्थशीलनं निदिध्यासनम् ॥ ११० ।

ननु योगाऽनुष्ठानोत्पन्नबोधाभावेऽपि श्रवणादिभिर्ज्ञानं भविष्यति नेत्याह । **सुदूरेति** । श्रवणमादिर्येषां श्रवणादीनां ते श्रवणादयः । श्रवणमनननिदिध्यासनानि समासार्थः । चित्तवृत्तिनिरोधाभावे श्रवणादय एव नोत्पद्येरन्निति भावः ॥ १११ ।

तच्च तच्छ्रेयश्चेति तच्छ्रेयस्तस्य उदर्क उत्तरकालीनं फलम् ॥ ११३ ।

के) श्राद्धों से, न देवताओं के पूजन से, न अनेकतीर्थयात्राओं से वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है ॥ १०६-१०९ ।

विना योग (साधन) के ज्ञान कभी होता ही नहीं है और वह योग तत्त्वार्थशीलन से ही प्राप्त होता है, वह (शीलन) केवल गुरूपदिष्ट मार्ग से एवं सर्वदा अभ्यास से किया जा सकता है ॥ ११ ।

उसमें भी सुदूरश्रवणप्रभृति बहुत से बिघ्न पड़ जाते हैं, इसी कारण से (प्रायः) एक ही जन्म में योग के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नहीं संघटित होती ॥ १११ ।

हे सुव्रत ! विना जप, तप इत्यादि के और विना योग के काशी में तो एक ही जन्म में (अनायास) मुक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ११२ ।

हे द्विजोत्तम ! शुद्धबुद्धि से तुमने काशी में जो श्रेयस् उपार्जन किया है, उसका परिणाम बहुत ही उत्कृष्ट है ॥ ११३ ।

उक्त्वेति विररामाऽजः शृण्वतोर्गणयोस्तयोः ।
सोऽपि प्रमुदितश्चाऽभूच्छिवशर्मा महामनाः ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे ब्रह्मकृतकाशीप्रशंसा नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अजो ब्रह्मा । महति विष्णौ मनो यस्य स महामनाः ॥ ११४ ॥

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

उन दोनों सुनते हुए विष्णुगणों के सन्मुख यों ही कहकर ब्रह्मदेव विरत (चुप) हो गये और वह महामनस्वी शिवशर्मा भी (यह सब सुनकर) बड़ा ही प्रमुदित हुआ ॥ ११४ ॥

तीरथराज प्रयाग है, यद्यपि सब कुछ देत ।
मैं काशी सम नहि कहूँ, उत्तम मुक्ति निकेत ॥ १ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां तीर्थमाहात्म्य-
वर्णनं नाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

॥ अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

शिवशर्मोवाच—

सत्यलोकेश्वरविधे सर्वेषां प्रपितामह ।
किञ्चिद्विज्ञप्तुकामोऽस्मि न भयाद्वक्तुमुत्सहे ॥ १ ।

ब्रह्मोवाच—

यत्त्वं प्रष्टुमना विप्र ज्ञातं ते तन्मनोगतम् ।
पिपृच्छिषुस्त्वं निर्वाणं गणौ तत्कथयिष्यतः ॥ २ ।
नैतयोर्विष्णुगणयोरगोचरमिहास्ति हि ।
सर्वमेतौ विजानीतो यत्किञ्चिद् ब्रह्मगोलके ॥ ३ ।

त्र्यधिके विंशतितमेऽध्याये चारु मनोहरः ।
वर्ण्यते कमलाजानेरभिषेकमहोत्सवः ॥ १ ।

तच्छ्रेयसोऽप्युदर्कस्ते महानस्तीत्युक्तं तत्र प्रष्टुं विज्ञापयति । **सत्यलोके** इति । किञ्चित्कैवल्यमिति हृदिस्थम् ॥ १ ।

भगवल्लोकप्राप्तावस्य कथाव्यासङ्गेन विलम्बः कारितो मयेत्यनुचितं मन्वानोऽतः परं तन्माभूदित्याशयेनाह । यत्त्वमिति ॥ पिपृच्छिषुः प्रष्टुमिच्छुः । तन्निर्वाणम् ॥ २ ।

(विष्णु का अभिषेकोत्सव)

शिवशर्मा बोले—

हे सत्यलोकस्वामिन् ! सर्वप्राणिप्रपितामह ! विधे ! मैं कुछ निवेदन करने की इच्छा करता हूँ, पर भयवश नहीं कहते बनता ॥ १ ।

ब्रह्माजी ने कहा—

हे विप्र ! जो तुम पूछना चाहते हो, तुम्हारे उस मनोगत भाव को मैंने समझ लिया है, तुम निर्वाण के विषय में पूछना चाहते हो, तो ये दोनों गण तुमसे कहेंगे ॥ २ ।

इन दोनों विष्णुगणों को यहाँ पर कुछ भी अगोचर नहीं है । ब्रह्माण्डमण्डल में जो कुछ है, उसे ये दोनों ही भलीभाँति जानते हैं ॥ ३ ।

इत्युक्त्वा सत्कृतास्ते वै ब्रह्मणा भगवद्गणाः ।
प्रणम्य लोककर्तारं तेऽपि हृष्टाः प्रतस्थिरे ॥ ४ ।
पुनः स्वयानमारुह्य वैकुण्ठमभितो ययुः ।
गच्छताऽपि पुनस्तत्र द्विजेनापृच्छि तौ गणौ ॥ ५ ।

शिवशर्मोवाच—

कियद्दूरं वयं प्राप्ता गन्तव्यं च कियत्पुनः ।
पृच्छाम्यन्यच्च वां भद्रौ ब्रूतं प्रीत्या तदप्यहो ॥ ६ ।
काञ्च्यवन्ती द्वारवती काश्ययोध्या च पञ्चमी ।
मायापुरी च मथुरापुर्यः सप्तविमुक्तिदाः ॥ ७ ।

तत्कथनेऽसामर्थ्यमेतयोर्न मन्तव्यमित्याह । **नैतेयोरिति** ॥ ३ ।
प्रतस्थिरे प्रचलिताः ॥ ४ ।
अपृच्छि पृष्टम् । **तौ गणौ** प्रति ॥ ५ ।
अन्यच्चेति यदुक्तं तदाह । **काञ्चीति** । तथा चोक्तम्—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता [1]मुक्तिदायिकाः ॥ इति ॥ ७ ।

ब्रह्मा ने यह कह कर उन भगवान् के गणादिकों का सत्कार किया और वे सब भी लोककर्ता ब्रह्मा को प्रणाम कर हृष्टान्तःकरण हो प्रस्थित हुए ॥ ४ ।

फिर अपने विमान पर चढ़ वे वैकुण्ठ की ओर चले गये । गमनकाल में शिवशर्मा ने वहाँ पर फिर उन दोनों गणों से प्रश्न किया ॥ ५ ।

शिवशर्मा बोले—

हम लोग कितनी दूर आये ? और अभी कितनी दूर हम लोगों को चलना है ? हे भद्र ! आप लोगों से और भी एक बात की जिज्ञासा करता हूँ, प्रीतिपूर्वक उसे भी कहिये ॥ ६ ।

कांची, अवंती, द्वारवती, काशी, अयोध्या, मायापुरी और मथुरा ये सातों ही पुरियाँ मुक्तिदायिनी हैं ॥ ७ ।

---

१. मोक्षेति क्वचित्पाठः ।

विहाय षट्पुरीश्चान्याः काश्यामेव प्रतिष्ठिता ।
मुक्तिर्विश्वसृजा तत्किं मम मुक्तिर्न सम्प्रति ॥ ८ ।
इति सर्वं मम पुरः प्रसादाद्वक्तुमर्हतम् ।
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य गणावूचतुरादरात् ॥ ९ ।

गणावूचतुः—

यथार्थं कथयावस्ते यत्पृष्टं भवताऽनघ ।
विष्णुप्रसादाज्जानीवो भूतं भावि भवत्तथा ॥ १० ।
विप्राऽवभासते यावत्किरणैः पुष्पवन्तयोः ।
तावती भूः समुद्दिष्टा ससमुद्राद्रिकानना ॥ ११ ।

मुक्तिः कैवल्यम् । विश्वसृजा ब्रह्मणा प्रोक्ता—

यथा भूमितले विप्र पुर्यः सन्ति सहस्रशः ।
तथा काशी न मन्तव्या काऽपि लोकोत्तरा त्वियम् ॥
त्वया शुद्धधिया काश्यां यच्छ्रेयः समुपार्जितम् ।
तच्छ्रेयसोऽप्युदर्कस्ते महानस्ति द्विजोत्तम ॥ इति ब्र वदतेति शेषः ।
तत्तस्मात् सम्प्रति मम विदेहलक्षणामुक्तिः किं नास्तीति तृतीयः प्रश्नः ॥ ८ ।

अर्हतमर्हथो योग्यौ भवत इति यावत् । इतीत्यगस्त्यवाक्यम् ॥ ९ ।

भूतमतीतं भावि भविष्यत् भवद् वर्तमानम् ॥ १० ।

कियद्दूरं वयं प्राप्ता इति प्रथमप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं प्रसङ्गात्पृथिव्यन्तरिक्षयोः प्रमाणमाहतुः । विप्रेति सार्धेन । हे विप्र पुष्पवन्तयोः सूर्याचन्द्रमसोः । एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरावित्यमरः ॥ ११ ।

उनमें अन्य छहों पुरियों को छोड़ काशी में ही मुक्ति को विश्वस्रष्टा ने प्रतिष्ठित कहा है, तो क्या अभी भी मेरी मुक्ति नहीं हुई ? ॥ ८ ।

आप लोग प्रसन्नतापूर्वक इन सब बातों का यथार्थ उत्तर मेरे आगे कहें । दोनों गणों ने शिवशर्मा की यह बात सुनकर सादर कहा ॥ ९ ।

दोनों गण बोले—

हे अनघ ! तुमने जो प्रश्न किया, उसका ठीक-ठीक (यथार्थ) उत्तर देते हैं । हम लोगों को विष्णु के प्रसाद से भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ ज्ञात है ॥ १० ।

हे विप्र ! चन्द्र और सूर्य के किरण जहाँ तक प्रकाश पहुँचाते हैं वहाँ तक समुद्र, पर्वत और वनों सहित भूलोक कहा जाता है और उसके ऊपर आकाशमंडल भी

वियच्च तावदुपरिविस्तारपरिमण्डलम् ।
योजनानां च नियुते भूमेर्भानुर्व्यवस्थितः ॥ १२ ।
भानोः सकाशादुपरि लक्षे लक्ष्यः क्षपाकरः ।
नक्षत्रमण्डलं सोमाल्लक्षयोजनमुच्छ्रितम् ॥ १३ ।
उडुमण्डलतः सौम्य उपरिष्टाद्विलक्षतः ।
द्विलक्षे तु बुधाच्छुक्रः शुक्राद्भौमो द्विलक्षके ॥ १४ ।
माहेयादुपरिष्टाच्च सुरेज्यो नियुतद्वये ।
द्विलक्षयोजनोत्सेधः सौरिर्देवपुरोहितात् ॥ १५ ।
दशायुतसमुच्छ्रायं सौरेः सप्तर्षिमण्डलम् ।
सप्तर्षिभ्यः सहस्राणां शतादूर्ध्वं ध्रुवः स्थितः ॥ १६ ।

विस्तारपरिमण्डलं यथा स्यात् । तत्र विस्तारो दैर्घ्यम् । परिमण्डलं वर्तुलाकारता । भूमे सकाशादुपरित्यग्रिमस्यानुषङ्गः । योजनानां नियुते लक्षे । एकं शतसहस्रं तु नियुतं प्रोच्यते बुधैरिति ब्रह्माण्डदर्शनात् ॥ १२ ।

लक्ष्यो दृश्यः । लक्षयोजनं यथा स्याल्लक्षयोजनमभिव्याप्येति वा । उच्छ्रितमुच्चम् ॥ १३ ।

सौम्यो बुधः । **भौमो** मङ्गलः ॥ १४ ।

सुरेज्यो देवानां पूज्यो बृहस्पतिः । नियुतद्वये लक्षद्वितये । द्विलक्षयोजनेन प्रमाणेन उत्सेधः उच्चः । **सौरिः** शनिः ॥ १५ ।

दशायुतं लक्षं तावत् समुच्छ्रायमुच्चमित्यर्थः । सहस्राणां शताल्लक्षात् ॥ १६ ।

वैसा ही विस्तृत है, भूमि से सूर्य नियुत योजन पर ऊँचे स्थित हैं ॥ ११-१२ ।

सूर्य के निकट से लक्ष-योजन के ऊपर चन्द्रमा दिखलाई पड़ते हैं और चन्द्र से एकलक्ष योजन ऊँचे नक्षत्रमण्डल शोभित हैं ॥ १३ ।

वहाँ से दो लाख योजन के अनन्तर बुध हैं, बुध से भी दो ही लाख योजन पर शुक्र और फिर शुक्र से दो लाख योजन ऊपर मंगल हैं ॥ १४ ।

बृहस्पति मंगल से बीस लाख योजन की दूरी पर हैं और बृहस्पति से दो लाख योजन की ऊँचाई पर शनैश्चर हैं ॥ १५ ।

शनि से एक लक्ष के ऊर्ध्व सप्तर्षिमण्डल है और सप्तर्षियों से फिर एक लक्ष पर ध्रुव स्थित हैं ॥ १६ ।

पादगम्यं हि यत्किञ्चिद्वस्त्वस्ति धरणीतले ।
तद्भूर्लोक इति ख्यातः साब्धिद्वीपाद्रिकाननम् ॥ १७ ।

भूर्लोकाच्च भुवर्लोको ब्रध्नावधिरुदाहृतः ।
आदित्यादाध्रुवं विप्र स्वर्लोक इति गीयते ॥ १८ ।

परापवादशीलेन परदाराऽभिलाषिणा ।
महर्लोकः क्षितेरूर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः ।
कोटिद्वये तु संख्यातो जनो भूर्लोकतो जनैः ॥ १९ ।

चतुष्कोटिप्रमाणस्तु तपोलोकोऽस्ति भूतलात् ।
उपरिष्टात् क्षितेरष्टौ कोटयः सत्यमीरितम् ॥ २० ।

सत्यादुपरि वैकुण्ठो योजनानां प्रमाणतः ।
भूर्लोकात्परिसंख्यातः कोटिषोडशसंमितः ॥ २१ ।

भूर्लोकस्य स्वरूपमाह । **पादगम्यं** हीति ॥ १७ ।

उपरिष्टादिति । एतेनाष्टकोटियोजनपरिमितं वर्त्म वयमतिक्रान्ता इति सूचितम् ॥ २० ।

गन्तव्यं च कियत्पुनरित्यस्य द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाहतुः । **सत्यादुपरीति** । एतेनाष्टकोटियोजनमार्गो गन्तव्योऽस्तीति ध्वनितमिति भावः । यद्यपि वैकुण्ठलोको ब्रह्माण्डाद् बहिर्भागवतादौ वर्ण्यते तथाप्यत्र कल्पभेदेन वैकुण्ठलोकान्तरभेदेन वाऽत्रोच्यत इति ज्ञातव्यम् ॥ २१ ।

धरणीमण्डल में जो कुछ पैरों से चलने योग्य समुद्र, द्वीप, पर्वत और कानन-सहित स्थान हैं, वह सब भूलोक नाम से विख्यात हैं ॥ १७ ।

भूलोक से लेकर सूर्यपर्यन्त भुवर्लोक, और सूर्य से ध्रुव तक स्वर्लोक कहा जाता है ॥ १८ ।

हे विप्र ! भूमि से एक कोटि योजन के उपरि महर्लोक है, और फिर उसके उपरि दो कोटि योजन पर जनलोक को जनलोगों ने कहा है ॥ १९ ।

पृथिवी से चार कोटि योजन प्रमाण पर तपोलोक है और आठ कोटि योजन के ऊपर सत्यलोक है, और सत्यलोक से परे वैकुण्ठलोक है, जो पृथिवी से सोलह कोटि योजन प्रमाण कहा गया है ॥ २०-२१ ।

यत्रास्ते श्रीपतिः साक्षात् सर्वेषामभयप्रदः ।
ततस्तु षोडशगुणः कैलासोऽस्ति शिवालयः ॥ २२ ॥

पार्वत्या सहितः शम्भुर्गजास्यस्कन्दनन्दिभिः ।
यत्र तिष्ठति विश्वेशः सकलः सपरः स्मृतः ॥ २३ ॥

तस्य देवस्य खेलोऽयं स्वलीलामूर्तिधारिणः ।
स विश्वेश इति ख्यातः तस्याज्ञाकृदिदं जगत् ॥ २४ ॥

सर्वेषां शासकश्चासौ तस्य शास्ता न चापरः ।
स्वयं सृजति भूतानि स्वयं पाति तथाऽत्ति च ॥ २५ ॥

प्रसङ्गाद् भूर्लोकात् कैलासप्रमाणमाहतुः । **तत इति** । ततो वैकुण्ठात् षोडशगुणः षोडशकोटिसंमितः ॥ २२ ॥

कैलासं विशिनष्टि । **पार्वत्येति** । **'कला माया भवानी वा तत्सहितः सकलः सर्वस्वरूपो वा'** ॥ २३ ॥

तस्य खेलो लीलारूपोऽयं प्रपञ्चः । तस्य विशेषणं स विश्वेश इत्यारभ्य तस्येत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । विश्वेशोऽयमिति क्वचित्पाठः । तस्य कीदृशस्य ? स्वलीलामूर्तिधारिणः स्वलीलया मायया शरीरधारिणः । तस्याज्ञाकृदिदं जगत् । तथा च श्रुतिः— **'भीषास्माद्वातः** पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' इति (तै० उ० २।८।१) मद्भयाद्वाति वातोऽयमिति स्मृतेश्च ॥ २४ ॥

वहाँ पर सब के अभयदाता साक्षात् कमलापति विराजमान हैं, वहाँ से सोलह गुने ऊँचाई पर महादेव का स्थान कैलास अवस्थित है ॥ २२ ॥

उस कैलास पर सर्वस्वरूप, सर्वश्रेष्ठ भगवान् शिव पार्वती, गणेश, स्वामिकार्तिक, नन्दी आदि के सहित निवास करते हैं ॥ २३ ॥

यह दृश्यमान समस्त प्रपंच उनका खेलवाड़ है, वे अपनी लीला से मूर्ति धारण करते हैं, वे ही विश्वेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं और यह जगत् उन्हीं का आज्ञाकारी है ॥ २४ ॥

वही सब किसी के शास्ता हैं । उनका शासक कोई नहीं है, वह स्वयं भूतों की सृष्टि, पालन और प्रलय करते हैं ॥ २५ ॥

सर्वज्ञ एकः स प्रोक्तः स्वेच्छाधीनविचेष्टितः ।
तस्य प्रवर्तकः कोऽपि नहि चैव निवर्तकः ॥ २६ ।
अमूर्तं यत्परं ब्रह्म समूर्तं श्रुतिचोदितम् ।
सर्वव्यापि सदा नित्यं सत्यं द्वैतविवर्जितम् ॥ २७ ।
सर्वेभ्यः कारणेभ्यश्च परात्परतरं परम् ।
आनन्दं ब्रह्मणो रूपं श्रुतयो यत्प्रचक्षते ॥ २८ ।
संविदन्ते न यं वेदा विष्णुर्वेद न वै विधिः ।
यतो वाचो निवर्तन्ते ह्यप्राप्य मनसा सह ॥ २९ ।

तस्य शास्ता न चापर इत्येतदेव विवृणोति । **तस्य प्रवर्तक इति** ॥ २६ ।

मायया समूर्तम् । श्रुतिचोदितं श्रुत्या प्रतिपादितम् । यद्वा । अमूर्तं वाय्वाकाशरूपम् । मूर्तं पृथिव्यप्तेजोलक्षणं परं ब्रह्म च यत्तत् स इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः— **'द्वे वाव ब्रह्मणो–रूपे मूर्तं चामूर्तं चेति'** (बृ० उ० २।३।१) ब्रह्मणो विशेषणं सर्वव्यापीति सार्धद्वयम् ॥ २७ ।

सर्वेभ्यः कारणेभ्यो महदादिभ्यो यत्परं प्रधानं तस्मादपि परतरमतिदूरमत एव परम् । किं तस्य रूपं किं वा तत्र प्रमाणं तत्राह । **आनन्दमिति** । श्रुतयश्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्याद्याः ॥ २८ ।

तर्हि मानेन विषयीकृतत्वादनात्मत्वे नित्यत्वं च स्यादित्यत आहतुः **संविदन्ते इति** । न संविदन्ते न विषयीकुर्वते । संविदन्तीति क्वचित् । अतन्निरसनद्वारा वृत्तिविषयत्वद्वारा वा वेदविषयत्वमतो नाऽयं दोष इति भावः । किमत्र प्रमाणं वेद एवेत्याह । **यत इति** ॥ २९ ।

अकेले वे ही सर्वज्ञ हैं, उनकी चेष्टा स्वेच्छाधीन रहती है, उनका प्रवर्तक और निवर्तक कोई भी नहीं है ॥ २६ ।

जो वेद-विहित अमूर्त और समूर्त परब्रह्म है, वह वे ही हैं, जो सर्वव्यापी, सनातन नित्य, सत्यस्वरूप और द्वैत-रहित है, वह भी वे ही हैं ॥ २७ ।

महदादिकारणों से जो प्रधान हैं, वे उससे भी परे हैं, जिसे समस्त श्रुतियाँ ब्रह्मरूप आनन्द कहती हैं ॥ २८ ।

जिसे न तो सब वेद, न विष्णु, न ब्रह्मा ही जानते हैं, जानने में असमर्थ होकर जहाँ से वाणी मन के सहित लौट पड़ती है, जो स्वयं वेदनीय, परंज्योति, सर्वान्तः-

स्वयं वेद्यः परं ज्योतिः सर्वस्य हृदि संस्थितः ।
योगिगम्यस्त्वनाख्येयो यः प्रमाणैकगोचरः ॥ ३० ॥
नानारूपोऽप्यरूपो यः सर्वगोऽपि न गोचरः ।
अनन्तोऽप्यन्तकवपुः सर्ववित्कर्मवर्जितः ॥ ३१ ॥
तस्येदमैश्वरं रूपं खण्डचन्द्रावतंसकम् ।
तमालश्यामलगलं स्फुरद्भालविलोचनम् ॥ ३२ ॥
लसद्वामार्धनारीकं कृतशेषशुभाङ्गदम् ।
गङ्गातरङ्गसत्सङ्ग सदा धौतजटातटम् ॥ ३३ ॥

यस्मादेतादृग् ब्रह्म स शम्भुस्तस्मात् स स्वयं वेद्यः स्वभानान्यानपेक्षः तत्र हेतुः । परं ज्योतिः स्वयं ज्योतिरित्यर्थः 'अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इति श्रुतेः । प्रमाणानि केवलं गोचरे यस्य स प्रमाणैकगोचरः, प्रमाणानां मुख्यप्रकाशक इत्यर्थः । चक्षुषश्चक्षुरित्यादि श्रुतेः पूर्वोक्तरीत्या वेदान्तैकवेद्य इति वा ॥ ३० ।

मायया नानारूपोऽपि वस्तुतोऽरूपः । गोचरो विषयः । अन्तकवपुरन्तकस्वरूपः । यद्वा वस्तुतोऽनन्तोऽपि मायया परिच्छिन्नस्वरूपः । अन्तकृच्चैवेति क्वचित् ॥ ३१ ।

ननु तर्ह्येवंविधस्य सर्वव्यापिनश्चिद्घनैकरसस्य कुतः कैलासावस्थितत्वं तत्राहतुः । तस्येदमिति । ऐश्वरमीश्वरसम्बन्धि । तदेवरूपं विशिनष्टि । खण्डचन्द्रेति पादाधिकपञ्चभिः । चन्द्रस्य खण्डः खण्डचन्द्रश्चन्द्रकलेत्यर्थः, सोऽवतंसः शिरोभूषणं यस्य तत् भालं ललाटम् ॥ ३२ ।

शेषोऽनन्तः गङ्गातरङ्गानां यः सत्सङ्गः समीचीनसङ्गः, तेन धौतं प्रक्षालितं जटानां तटं यस्मिस्तत् । तरङ्गसन्दोहेति क्वचित् ॥ ३३ ।

करणनिवासी, योगिगणगम्य, अनाख्येय और प्रमाणों से एक ही गोचर होते हैं तथा जो अनेक रूप होकर भी रूपरहित, सर्वव्यापक होने पर भी किसी के गोचर नहीं, स्वयं अनन्त होने पर औरों के अन्तकमूर्ति एवं सर्वज्ञाता होकर भी कर्मवर्जित हैं ॥ २९-३१ ।

उनका ईश्वररूप ऐसा है—खण्डचन्द्र अवतंस, तमाल के तुल्य श्यामल गला, कपाल में तृतीय लोचन विस्फुरित, शरीर में वामार्धभाग नारीरूप से शोभित, शेष भगवान् उनके अंगद (बिजायठ-भुजबन्ध), गंगातरंग के सत्संग से सदैव निर्धौत

स्मराङ्गजरजःपुञ्जपूजितावयवोज्ज्वलम् ।
विचित्रगात्रविधृतमहाव्यालविभूषणम् ॥ ३४ ॥
महोक्षस्यन्दनगमं विधृताजगवायुधम् ।
गजाजिनोत्तरासङ्गं दशार्धवदनं शुभम् ॥ ३५ ॥
उत्त्रासितमहामृत्युं महाबलगणावृतम् ।
शरणार्थिकृतत्राणां नतनिर्वाणकारणम् ।
मनोरथपथातीतं वरदानपरायणम् ॥ ३६ ॥
तस्य तत्तत्स्वरूपस्य रूपातीतस्य भो द्विज ।
परावरे रुद्ररूपे सर्वं व्याप्यावतिष्ठतः ॥ ३७ ॥
निराकारोऽपि साकारः शिव एव हि कारणम् ।
मुक्तये भुक्तये वाऽपि न शिवान्मोक्षदोऽपरः ॥ ३८ ॥

स्मरः कामः तदङ्गाद् दग्धाज्जातो यो रजःपुञ्जो भस्मराशिस्तेन पूजिता उद्धूलीकृता येऽवयवास्तैरुज्ज्वलम् । व्यालाः सर्पाः ॥ ३४ ।

महानुक्षा वलीवर्द एव स्यन्दनस्तेन गमो गमनं यस्य तत् । गजाऽसुरस्याऽजिन-चर्मेव उत्तरासङ्गं उत्तरीयं वस्त्रं यस्य तत् ॥ ३५ ।

उच्चैस्त्रासितो महामृत्युर्येन तत् । सकालकालः । कालमूषिकभक्षक इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् ॥ ३६ ।

उपसंहरतस्तस्येति द्वाभ्याम् । सर्वं व्याप्यावतिष्ठतस्तस्य परावरे सगुणनिर्गुणे रुत्संसारदुःख तद्राति नाशयतीति रुद्रं तद्रूपे, संसारदुःखनाशके रूपे इत्यर्थः । रुद्रसंज्ञके इति वा ॥ ३७ ।

जटातट, सर्वांग अनंग-भस्मसमूह से पूजितोज्ज्वल, विचित्रगात्र, महाव्यालभूषणों से विभूषित, महावृषभरथगामी, अजगव (पिनाक) नामक धनुर्धारी, गजासुर के चर्म का ओढ़ना (दुपट्टा) ओढ़े, पंचमुख, शुभभय, महामृत्युंजय, महाबल प्रमथगण से वेष्ठित, शरणागतों के त्राणकर्ता, प्रणत-जनों के मोक्षदाता, मनोरथपथातीत, वरप्रदान-परायण (सदा विराजमान) हैं ॥ ३२-३६ ।

भो द्विज ! तत्त्वस्वरूप, रूपातीत, उस ईश्वर का सगुण और निर्गुण रुद्ररूप सर्वविश्वव्यापी हो रहा है ॥ ३७ ।

निराकार होने पर भी साकार वे ही शिव मुक्ति और भुक्ति के भी कारण हैं, शिव से पृथक अन्य कोई भी मोक्षदाता नहीं है ॥ ३८ ।

यथा तेनाऽखिलं ह्येतत् पार्वतीपतिसात्कृतम् ।
इदं चराचरं सर्वं दृश्याऽदृश्यमरूपिणा ॥ ३९ ।
तथा मृडानीकान्तेन विष्णुसादखिलं जगत् ।
विधाय क्रीडयते विप्र नित्यं स्वच्छन्दलीलया ॥ ४० ।
यथा शिवस्तथा विष्णुर्यथा विष्णुस्तथा शिवः ।
अन्तरं शिवविष्णवोश्च मनागपि न विद्यते ॥ ४१ ।
आहूय पूर्वं ब्रह्मादीन् समस्तान् देवतागणान् ।
विद्याधरोरगादींश्च सिद्धगन्धर्वचारणान् ॥ ४२ ।

ननु सगुणनिर्गुणे रुद्रस्यैव रूपे चेत्तर्हि कथं जगदीश्वरत्वं विष्णोः प्रख्यातमित्याशङ्कायामाहतुः । **यथेति** । तेनारूपाणि सर्वेश्वरेण । अखिलमग्रिमं सर्वमिति च पदद्वयं सङ्कोचव्यावृत्त्यर्थम् । इदं जगद्यथा पार्वतीपतिसात्कृतं मृडानीपत्यधीनीकृतम्, हि प्रसिद्धौ ॥ ३९ ।

तथा मृडानीकान्तेन विष्णुसाद्विष्णवधीनमखिलं जगद्विधाय कृत्वा स्वच्छन्दलीलया **हे विप्र** । यद्वा विना पक्षिणा गरुडेन प्रतिगच्छतीति तथा हे गरुडगामिन्निति भावि गरुडवाहनत्वं सूच्यते । तेन ह्यनाख्येयमिति पाठे वक्तुमप्यशक्यं इदं चराचरमित्यर्थः ॥ ४० ।

तर्हि शिवविष्णवोस्तरतमभावेन वैषम्यान्मुमुक्षुभिश्च नैयत्येन क आश्रयणीय इति पृच्छायामाहतुः । **यथा शिव** इति । तथा च हरिवंशे—'**यो वै विष्णुः स वै रुद्रः**' इति । भविष्ये च—'**यथा शिवस्तथा विष्णुरिति**' ॥ ४१ ।

विष्णुसादखिलं जगद्विधाय क्रीड्य इत्युक्तम् तदेव प्रपञ्चयति । आहूय पूर्वमित्यारभ्य इति इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । आहूयेत्यादिल्यबन्तत्वात्तपदानां तृतीयान्तानां च केषाञ्चित्पदानामभिषिच्य महेशेनेत्यग्रिमेण सम्बन्धः ॥ ४२ ।

उस निर्गुण ईश्वर ने जैसे इस अदृश्य चराचर विश्व को पार्वतीपति (सगुण ईश्वर) के अधीन कर रक्खा है ॥ ३९ ।

वैसे ही उमापति भगवान् इस समस्त जगत् को विष्णु के आधीन कर, हे विप्र ! स्वयं स्वच्छन्द-लीला से क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ४० ।

जैसे शिव हैं, वैसे ही विष्णु हैं, और जैसे विष्णु हैं, वैसे ही शिव हैं, शिव-विष्णु में तनिक भी भेद नहीं है ॥ ४१ ।

पुराकाल में महादेव ने ब्रह्मादिक समस्त देवता-गणों को और विद्याधर, उरग, सिद्ध, गन्धर्व, चारणप्रभृति को बुलाकर अपने सिंहासन के समान सुन्दर सिंहासन

निजसिंहासनसमं कृत्वा सिंहासनं शुभम् ।
उपवेश्य हरिं तत्रच्छत्रं कृत्वा मनोहरम् ॥ ४३ ।
श्लक्ष्णं कोटिशलाकं च विश्वकर्मविनिर्मितम् ।
पाण्डुरं रत्नदण्डं च स्थूलमुक्तावलम्बितम् ॥ ४४ ।
कलशेन विचित्रे ह्युपरिष्टाद्विराजितम् ।
सहस्रयोजनायामं सर्वरत्नमयं शुभम् ॥ ४५ ।
पट्टसूत्रमयैः रम्यैश्चामरैश्च परिष्कृतम् ।
राजाऽभिषेकयोग्यैश्च द्रव्यैः सर्वौषधादिभिः ॥ ४६ ।
प्रत्यक्षतीर्थपाथोभिः पञ्चकुम्भैर्मनोहरैः ।
सिद्धार्थाक्षतदूर्वाभिर्मन्त्रैः स्वयमुपस्थितैः ॥ ४७ ।
देवानां च तथर्षीणां सिद्धानां फणिनामपि ।
आनीय मङ्गलकराः कन्याः षोडश षोडश ॥ ४८ ।
वीणामृदङ्गाब्जभेरीमरुडिण्डिमझर्झरैः ।
आनकैः कांस्यतालाद्यैर्वाद्यैर्ललितगायनैः ॥ ४९ ।

प्रत्यक्षतीर्थपाथोभिः प्रत्यक्षाणि यानि तीर्थानि तेषां पाथोभिर्जलैः प्रत्यक्षैस्तीर्थैरेवानीतैः पाथोभिरित्यर्थः । प्रत्यक्षफलजनकतीर्थपाथोभिरिति वा । प्रक्षाल्य तीर्थेति क्वचित् पाठः । सिद्धार्थः श्वेतसर्षपः ॥ ४७ ।

अब्जः शङ्खः । मरुः डमरुः ॥ ४९ ।

बनवाकर उस पर विष्णु को बैठाकर मनोहर, अतिरम्य, कोटिशलाका (तिल्ली) युक्त, विश्वकर्मा द्वारा निर्मित, पांडुरवर्ण रत्नमयदण्डसमन्वित, बड़ी बड़ी मोतियों की लटकती हुई झालरों से शोभित, ऊपर के भाग में विचित्र कलश से विराजमान, सहस्रयोजन विस्तृत, सर्वरत्नमय, पट्टसूत्रमय चामरों से परिष्कृत छत्र का निर्माण कराय, राज्याभिषेक-योग्य सर्वौषधादि द्रव्यों के द्वारा युक्त, पंचकुंभस्थित, सरसों, अक्षत और दूर्वामिश्रित प्रत्यक्षतीर्थ के जलों से तथा स्वयं उपस्थित (वेद) मन्त्रों से देवता, ऋषि, सिद्ध और नागों की सोलह-सोलह मंगलहस्ता कन्याओं को लाकर बीणा, मृदंग, शंख, भेरी, डमरु, डिंडिम (दुग्गी), झांझ, आनक और कांस्यताल आदि वाद्य एवं ललित-

ब्रह्मघोषमहारावैरापूरितनभोऽङ्गणे ।
शुभे तिथौ शुभे लग्ने ताराचन्द्रबलान्विते ॥ ५० ।
आबद्धमुकुटं रम्यं कृतकौतुकमङ्गलम् ।
मृडानीकृतशृङ्गारं सुश्रिया सुश्रियायुतम् ॥ ५१ ।
अभिषिच्य महेशेन स्वयं ब्रह्माण्डमण्डपे ।
दत्तं समस्तमैश्वर्यं यन्निजं नान्यगामि च ॥ ५२ ।
ततस्तुष्टाव देवेशः प्रमथैः सह शार्ङ्गिणम् ।
ब्रह्माणं लोककर्तारमुवाच च वचस्त्विदम् ॥ ५३ ।
मम वन्द्यस्त्वयं विष्णुः प्रणम त्वममुं हरिम् ।
इत्युक्त्वाऽथ स्वयं रुद्रो ननाम गरुडध्वजम् ॥ ५४ ।
ततो गणेश्वरैः सर्वैर्ब्रह्मणा च मरुद्गणैः ।
योगिभिः सनकाद्यैश्च सिद्धैर्देवर्षिभिस्तथा ॥ ५५ ।
विद्याधरैः सगन्धर्वैर्यक्षरक्षोप्सरोगणैः ।
गुह्यकैश्चारणैर्भूतैः शेषवासुकितक्षकैः ॥ ५६ ।

मृडानीकृतश्रृङ्गारं भवानीरचितवेषम् । सुश्रियायुतं शोभनया पद्मया समेतम् । कथम्भूतया सुश्रिया ? शोभनकान्तिमत्या ॥ ५१ ।

ततस्तुष्टावेत्युक्तं तामेव स्तुतिं लेशतो दर्शयन्तौ इदं तया निर्दिष्टं वचनमाहतुः । **मम वन्द्यस्त्विति** । तु शब्द एवार्थे । अयं विष्णुर्मम वन्द्य एव नानुज्ञेयोऽतस्त्वमप्यमुं हरिं केवलं प्रणमेत्यर्थः ॥ ५४ ।

गान और वेदों की महाध्वनि से आकाश-अंगण के परिपूर्ण हो जाने पर ताराबल, एवं चन्द्रबल समन्वित शुभतिथि, शुभलग्न के क्षण में आवद्धमुकुट, रमणीय वेशकृत, कौतुकमंगल, पार्वती-रचित श्रृंगार, शोभामयी लक्ष्मीसंयुक्त, विष्णुदेव को ब्रह्माण्ड-मण्डल पर स्वयं अभिषिक्त कर, अनन्य भोग-भोग्य अपना समस्त एश्वर्य दे दिया ॥ ४२-५२ ।

अनन्तर महेश्वर ने प्रमथों के साथ शार्ङ्गपाणि की स्तुति की और लोककर्ता ब्रह्मा से यह वचन कहा—यह विष्णु मेरे भी वन्दनीय हैं, तुम इनको प्रणाम करो, रुद्र ने ऐसा कहकर गरुड़ध्वज को प्रणाम किया ॥ ५३-५४ ।

तब तो समस्त गणेश्वर, ब्रह्मा, देवतागण, सनकादि योगिवृन्द, सिद्धदेवर्षिसमूह, विद्याधर, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष, अप्सरोगण, गुह्यक, चारण, शेष, वासुकि, तक्षकप्रभृति,

पतत्रिभिः किन्नरैश्च सर्वैः स्थावरजङ्गमैः ।
ततो जयजयेत्युक्त्वा नमोऽस्त्विति नमोऽस्त्विति॥ ५७ ।
ततो हरिर्महेशेन संसद्विद्युसदां तदा ।
एतैर्महारवैः रम्यैश्चानर्चि परमार्चिषा ॥ ५८ ।
त्वं कर्ता सर्वभूतानां पाता हर्ता त्वमेव च ।
त्वमेव जगतां पूज्यस्त्वमेव जगदीश्वरः ॥ ५९ ।
दाता धर्मार्थकामानां शास्ता दुर्नयकारिणाम् ।
अजेयस्त्वं च संग्रामे ममाऽपि हि भविष्यसि ॥ ६० ।
इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिस्तथोत्तमा ।
शक्तित्रयमिदं विष्णो गृहाण प्रापितं मया ॥ ६१ ।
त्वद्द्वेष्टारो हरे नूनं मया शास्याः प्रयत्नतः ।
त्वद्भक्तानां मया विष्णो देयं निर्वाणमुत्तमम् ॥ ६२ ।
मायां चापि गृहाणेमां दुष्प्रणोद्यां सुरासुरैः ।
यया संमोहितं विश्वमकिञ्चिज्ज्ञं भविष्यति ॥ ६३ ।

संसद्विद्युसदां देवानां सभायाम् । आनर्चि पूजितः । परमार्चिषा उपलक्षितो हरिः । परमाशिषेति पाठे परमाशिषाऽऽनर्चीत्यर्थः ॥ ५८ ।

तामेवाशिषमाहतुस्त्वं **कर्तेत्यादिना** ॥ ५९ ।

नाग, पक्षिगण एवं किन्नरादिक सभी स्थावर, जंगम, **"जय-जय"** और **"नमोऽस्तु-नमोऽस्तु"** कहने लगे ॥ ५५-५७ ।

तदनन्तर परमप्रकाशक महादेव ने उस समय देवताओं की सभा में इन रम्य महाशब्दों से विष्णु की पूजा की ॥ ५८ ।

तुम्हीं सर्वभूतों के कर्ता, पालयिता और संहर्ता हो और तुम्ही समस्त जगत् के पूजनीय एवं जगदीश्वर हो ॥ ५९ ।

तुम्हीं धर्म, अर्थ और काम के दाता और अन्यायकारियों के शास्ता हो एवं संग्राम में तो तुम निश्चय ही मेरे द्वारा भी अजेय होगे । इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्ति, अत्युत्तम शक्तियाँ हैं । मेरे द्वारा प्रापित इन तीनों शक्तियों को ग्रहण करो ॥ ६०-६१ ।

हरे ! जो तुम्हारे द्वेष्टा होंगे, उनका मैं यत्नपूर्वक अवश्य ही शासन करूँगा, और तुम्हारे भक्तों को मैं उत्तम मोक्ष दूँगा ॥ ६२ ।

सुरासुरों से दुष्परिहार्य इस माया को भी ग्रहण करो, जिसके मोहपाश में बँधकर विश्व कुछ भी नहीं जान सकेगा ॥ ६३ ।

वामबाहुर्मदीयस्त्वं दक्षिणोऽसौ पितामहः ।
अस्याऽपि हि विधेः पाता जनिताऽपि भविष्यसि ॥६४ ।

वैकुण्ठैश्वर्यमासाद्य हरेत्थं हरः स्वयम् ।
कैलासे प्रमथैः सार्धं स्वैरं क्रीडत्युमापतिः ॥ ६५ ।

तदाप्रभृति देवोऽसौ शाङ्गंधन्वा गदाधरः ।
त्रैलोक्यमखिलं शास्ति दानवान्तकरो हरिः ॥ ६६ ।

इति ते कथिता विप्र लोकानां च परिस्थितिः ।
इदानीं कथयिष्यावस्तव निर्वाणकारणम् ॥ ६७ ।

इदं तु परमाख्यानं शृणुयाद्यः समाहितः ।
स्वर्लोकमभिगम्याऽथ काश्यां निर्वाणमाप्नुयात् ॥ ६८ ।

यज्ञोत्सवे विवाहे च मङ्गलेष्वखिलेष्वपि ।
राज्याऽभिषेकसमये देवस्थापनकर्मणि ॥ ६९ ।

अवान्तरप्रकृतमुपसंहरतो प्राह **वैकुण्ठेति** द्वाभ्याम् ॥ ६६ ।

परमप्रकृतमुपसंहरतः । **इति त इति** ॥ ६७ ।

एतदध्यायश्रवणपठनजपफलमाहेदं त्वित्यादिना ॥ ६८ ।

॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ।

मेरे वाम बाहु तुम हो और दक्षिण बाहु यह ब्रह्मा हैं और तुम इस ब्रह्मा के भी पालक एवं जनक होंगे ॥ ६४ ।

इस प्रकार से स्वयं हरि को वैकुण्ठ का ऐश्वर्य देकर, कैलास पर स्वेच्छानुरूप प्रमथगण के साथ उमापति भगवान् हर क्रीड़ा करते हैं ॥ ६५ ।

तभी से शार्ङ्गधन्वा, गदाधर, दानवों के अन्तकर्ता विष्णुदेव अखिल त्रैलोक्य (राज्य) का शासन कर रहे हैं ॥ ६६ ।

हे विप्र ! यह तो तुमसे समग्र लोगों की परिस्थिति का वर्णन किया, अब तुम्हारे मुक्ति के कारण को कहते हैं ॥ ६७ ।

जो कोई इस उत्कृष्ट उपाख्यान को मन लगाकर सुनता है, वह स्वर्गलोक में जाकर फिर काशी में मुक्ति पाता है ॥ ६८ ।

यज्ञ, उत्सव, विवाह, सब मंगलकार्य, राज्याभिषेक की वेला, देवस्थापनकर्म,

सर्वाधिकारवानेषु नयवेश्मप्रवेशने ।
पठितव्यं प्रयत्नेन तत्कार्यपरिसिद्धये ॥ ७० ।
अपुत्रो लभते पुत्रमधनो धनवान् भवेत् ।
व्याधितो मुच्यते रोगी बद्धो मुच्येत् बन्धनात् ॥ ७१ ।
जप्यमेतत्प्रयत्नेन सततं मङ्गलार्थिना ।
अमङ्गलानां शमनं हरनारायणप्रियम् ॥ ७२ ॥

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे चतुर्भुजाऽभिषेको नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

सर्वाधिकार दान और नये गृह के प्रवेश इत्यादि में उन कार्यों के सिद्धयर्थं सयत्न इसे पढ़ना चाहिए ॥ ६९-७० ।

इसके पाठ से अपुत्र पुत्रवान्, निर्धन धनवान्, रोगी नीरोग और बद्ध बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ७१ ।

अतएव मंगलार्थी-जन यत्नपूर्वक सदा इसे जपें, यह आख्यान अमंगल-शमन और हरि-हर का प्यारा है ॥ ७२ ।

हर हरि को प्रतिनिधि कियो, दीन्हेंहु सब कुछ काज ।
आप रमत स्वच्छन्द ह्वै, उमा सहित महराज ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां विष्णु-अभिषेकोत्सव-वर्णनं नाम त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ।

॥ अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

गणावूचतुः—

शिवशर्मन्नुदर्कं ते कथयावो निशामय ।
त्वमत्र वैष्णवे लोके भुक्त्वा भोगान् सुपुष्कलान् ॥१॥
ब्रह्मणो वत्सरं पूर्णं रममाणोऽप्सरोगणैः ।
सुतीर्थमरणोपात्तपुण्यशेषेण वै पुनः ॥ २ ॥
भविष्यसि महीपालो नगरे नन्दिवर्धने ।
राज्यं प्राप्यासपत्नं च समृद्धबलवाहनम् ॥ ३ ॥
कृष्टिभिर्हृष्टपुष्टैश्च रम्यहाटकभूषणैः ।
संजुष्टमिष्टापूर्तानां धर्माणां नित्यकर्तृभिः ॥ ४ ॥

चतुर्भिरधिके विंशेऽध्यायेऽत्यन्तमनोरमे ।
कैवल्यं परमानन्दं वर्ण्यते शिवशर्मणः ॥ १ ॥

इदानीं कथयिष्यावः तव निर्वाणकारणमित्युक्तं पूर्वं तदेव सप्रपञ्चं कथयतः । **शिवशर्मन्निति** । उदर्कमुत्तरकालभाविसुकृतफलमित्यर्थः । **त्वमत्रेति** । वैष्णवे वैकुण्ठे ॥ १ ॥

भविष्यसीति । राज्यं प्राप्य महीपालः सन्नन्दिवर्धने हर्षजनके तन्नाम्नि नगरे भविष्यसीत्यन्वयः ॥ ३ ॥

राज्यं विशिनष्टि । चतुरक्षरन्यूनसार्द्धाष्टादशभिः । **कृष्टिभिः** पण्डितैः संजुष्टं संसेवितमित्यन्वयः । वर्णैश्चेति क्वचित् । हाटकं सुवर्णम् । इष्टानि अन्तर्वेद्यां दीयमानानि दानानि पूर्तानि वापीकूपतड़ागादिनिर्माणानि तेषां कर्मणां नित्यकर्तृभिः ॥ ४ ॥

(शिवशर्मा का परमपद-लाभ)

दोनों विष्णुदूतों ने कहा—

शिवशर्मन् ? हम दोनों ही तुम्हारे भावी सुकृत के फल को कहते हैं, श्रवण करो, तुम इस वैकुण्ठलोक में बहुतेरे भोगों को भोगकर ब्रह्मा के पूर्ण एक वर्षपर्यन्त अप्सरागण के साथ रमण करते हुए उत्तमतीर्थमरण से प्राप्त पुण्य के अवशिष्ट भाग के द्वारा फिर भी नन्दिवर्धन नगर में राजा होंगे और असपत्न बलवाहनादि से समृद्ध हृष्ट-पुष्ट शरीर, सुन्दर सुवर्णभूषणधारी, नित्य ही इष्टापूर्त-धर्मकर्मों के अनुष्ठाता,

सदा सम्पन्नसस्यं च सूर्वरक्षेत्रसंकुलम् ।
सुदेशं सुप्रजं सुस्थ सुतृणं बहुगोधनम् ॥ ५ ।
देवतायतनानां च राजिभिः परिराजितम् ।
सुयूपा यत्र वै ग्रामाः सुवित्तर्द्धिविराजिताः ॥ ६ ।
सुपुष्पकृत्रिमोद्यानाः ससदा फलपादपाः ।
सपद्मिनीककासारा यत्र राजन्ति भूमयः ॥ ७ ।
सदम्भा निम्नगाराजिर्न यत्र जनता क्वचित् ।
कुलान्येव कुलीनानि न चान्यायधनानि च ॥ ८ ।

सदा सम्पन्नानि सस्यानि यस्मिस्तत् । अत एव सूर्वरक्षेत्रसंकुलं सूर्वराणि शोभनफलसस्याढ्यभूमीनि यानि क्षेत्राणि, तैः संकुलं व्याप्तम् ॥ ५ ।

राजिभिः पङ्क्तिभिः । यत्र राज्ये ॥ ६ ।

सुपुष्पेति । भूमयोऽत्र विशेष्या अन्यानि विशेषणानि । ससदाफलपादपाः सदाफलानि येषां तैः पादपैः सह वर्तमानाः । कासाराः सरांसि ॥ ७ ।

सदम्भो यस्याः सा सदम्भा निम्नगाराजिर्नन्दीवृन्दम् । पक्षान्तरे सदम्भा दम्भो धर्मध्वजित्वं तत्सहिता जनता जनसमूहो यत्र नेत्यर्थः । सर्वत्र शब्दश्लेषाऽलङ्कारोऽयम् । कुलानि गोत्राणि तान्येव कुलीनानि कुलीनशब्दावाच्यानि । कौ पृथिव्यां लीनानि कुलीनानीत्यन्यायधनपक्षे व्याकर्तव्यम् ॥ ८ ।

पण्डितगण से परिपूर्ण सर्वदेव सस्यसम्पन्न उपजाऊ खेतों से हरे-भरे सुदेश, उत्तम प्रजागण से युक्त सुस्थ, सुतृणपूर्ण, बहुगोधन और देवमन्दिरों की मालाओं से विराजमान राज्य को पाओगे, जिस राज्य में समस्त ग्राम यज्ञ के स्तंभों से युक्त और बड़ी धनसम्पत्ति से शोभित रहेंगे ॥ १-६ ।

जहाँ कृत्रिम उद्यान (बगीचा) सुन्दर, पुष्पों से भूषित और सदा फलप्रद (फलिन्द) वृक्षों से शोभायमान होंगे एवं जहां की भूमि कमलिनीसंयुक्त सरोवरों से अलंकृत होगी ॥ ७ ।

जहाँ की नदियाँ (सदंभा) स्वच्छ और स्वादुजल से पूर्ण रहेंगी, पर कहीं भी अधिक जनसमूह दम्भ से युक्त न होगा, जहाँ पर वंश ही कुलीन होंगे, अन्यायोपार्जित धन पृथिवी में लीन (गड़े) न रहेंगे ॥ ८ ।

विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित् ।
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः ॥ ९ ।

तमोयुक्ताः क्षपा यत्र बहुलेषु न मानवाः ।
रजोयुजस्त्रियो यत्र न धर्मबहुला नराः ॥ १० ।

धनैरनन्धो यत्रास्ति मनो नैव च भोजनम् ।
अनयः स्यन्दनं यत्र न च वै राजपूरुषः ॥ ११ ।

दण्डः परशुकुद्दालवालव्यजनराजिषु ।
आतपत्रेषु नान्यत्र क्वचित् क्रोधापराधजः ॥ १२ ।

नारीषु विभ्रमो नाम सौरतभावप्रकाशनम् । विद्वत्सु विभ्रमोऽज्ञानम् । कुटिलगामिन्यो वक्रगामिन्यः । प्रजापक्षे विमार्गगामिन्यः । विषये देशे ॥९ ।

तमोयुक्ता अन्धकारमिश्राः । क्षपा रात्रयः । बहुलेषु कृष्णपक्षेषु । पक्षान्तरे तमोगुणयुक्ताः । रजोयुजः ऋतुकालीनशोणितयुक्ताः । पक्षान्तरे रजोगुणयुजः ॥ १० ।

अनन्धोऽगर्विष्ठः । पक्षान्तरेऽन्धोऽन्नं भक्तमिति यावत् तद्रहितमनन्धो भोजनं भुजिक्रिया । न विद्यतेऽयो लोहं यत्र तत्स्यन्दनं तथा, सुवर्णादिमयमित्यर्थः । पक्षान्तरे नयो नीतिस्तद्रहितोऽनयः ॥ ११ ।

दण्डो नालं दाण्डा इति प्रसिद्धः । परशुः कुठारः । वालव्यजनं चामरम् । पक्षान्तरे क्रोधादपराधात् वा जातो धनग्रहणादिरूपो दण्डः ॥ १२ ।

जहाँ नारियों में विभ्रम (एक हाव) होगा, पर विद्वानों में विशेष भ्रम नहीं होगा । जहाँ की नदियाँ ही टेढ़ी चलेंगी, पर प्रजागण नहीं, जहाँ के कृष्णपक्ष की रातें ही तमोयुक्त होंगी, न कि वहाँ के मनुष्य तामस होंगे, और जहाँ की स्त्रियाँ ही रजस्वला होंगी, पर धार्मिक नर रजोगुणी (कभी) न होंगे ॥ ९-१० ।

जहाँ के लोगों का मन धनों के द्वारा अनन्ध (अन्धा नहीं) होगा, पर भोजन अन्ध (भात) के सहित होगा । जहाँ रथ ही अनय (लोह से रहित-सुवर्णादिरचित) होगा, न कि राजपुरुष अन्यायी होंगे ॥ ११ ।

जहाँ फरसा, कुदार, चँवर (पंखा) और छाता इत्यादि में दंड(डंडा) लगेगा, पर क्रोध अथवा अपराध के कारण अन्यत्र कहीं भी न पाया जावेगा, जिसमें जुआरियों के ही स्थान में परिदेवन(क्रीड़ा-खेलवाड़) होगा, तदभिन्न अन्य कहीं भी प्रलाप(बतझड़)

अन्यत्राक्षिकवृन्देभ्यः क्वचिन्न परिदेवनम् ।
आक्षिका एव दृश्यन्ते यत्र पाशकपाणयः ॥ १३ ।
जाड्यवार्ताजलेष्वेव स्त्रीमध्या एव दुर्बलाः ।
कठोरहृदया यत्र सीमन्तिन्यो न मानवाः ॥ १४ ।
औषधेष्वेव यत्रास्ति कुष्ठयोगो न मानवे ।
वेधोऽप्यन्तः सुरत्नेषु शूलं मूर्तिकरेषु वै ॥ १५ ।

अक्षैः सारिभिः व्यवहरन्तीत्याक्षिकास्तेषां वृन्देभ्यः समूहेभ्यः । परिदेवनं द्यूत-क्रीडा । पक्षान्तरे परिदेवनं प्रलापः । आक्षिका एव पाशकपाणयः । पक्षान्तरे पाशा एव पाशका रज्जवस्ते पाणिषु येषां ते तथा । यत्र चानृतवादिन इति क्वचित् पाठः स चिन्त्यः ॥ १३ ।

जाड्यं शैत्यम् । पक्षान्तरे जाड्यं मौर्ख्यम् । स्त्रीमध्याः स्त्रीणां मध्यप्रदेशाः दुर्बलाः कृशाः । पक्षान्तरे दुर्बलाः धनादिबलहीनाः । कठोरं क्षुरधाराभं हृदयं यासां ताः कठोरहृदयाः । सीमन्तिन्यो नार्यः । तथा च भागवते—

शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम् ।
हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम् ॥ इति ।

स्वभावत्वान्नायं विगुणः । यद्वा कठोरहृदयाः कठिनस्तना इत्यर्थः । पक्षान्तरे समान एवार्थः ॥ १४ ।

कुष्ठयोगः कुष्ठ इति प्रसिद्धस्य औषधिविशेषस्य कुष्ठशब्दस्य प्रयोगः । पक्षान्तरे कुष्ठस्य श्वित्रापरपर्यायस्य रोगस्य योगः सम्बन्धः । वेधोऽप्यन्तः सुरत्नेषु शोभन-रत्नेष्वेवान्तर्मध्ये वेधश्छिद्रम् । पक्षान्तरे वेधस्ताडनम् । वेधोऽप्यनः सुरत्नेष्विति क्वचित्पाठः । तत्रानःसु शकटेषु । शूलं मूर्तिकरेषु च । मूर्तयो विश्वेश्वरप्रतिकृतयः । यद्वा मूर्तयो मूर्तिमन्तस्तासां करेष्वेव शूलम् । पक्षान्तरे शूलं रोगविशेषः । वेधस्तिथिषु नक्षत्रे शूलो योगश्च येषु वै इति पाठे तिथिषु वेधो दशमी विद्धैकादश्यादि-रूपः । नक्षत्रवेध एकस्यां तिथौ नक्षत्रयोः सम्बन्धः । शूलः शूलयोगः अन्येषां योगानां च येषु । पक्षान्तरे वेधस्ताडनमित्युक्तमेव ॥ १५ ।

न होगा, जहाँ जुआरियों के ही हाथ में पाश (पासा) दिखलाई पड़ेगा, दूसरों के हाथ में पाश (फाँस-रज्जु) न रहेंगे ॥ १२-१३ ।

जहाँ पर जल में ही जड़ता, अन्य किसी में मूर्खता नहीं, स्त्रियों के कटिस्थल ही दुर्बल (कृश-क्षीण) होंगे और कोई दुर्बल नहीं रहेगा ओर नारियों की ही छाती कठोर होगी, पर मनुष्य कठोरहृदय न रहेंगे ॥ १४ ।

जहाँ औषध ही में कुष्ट (कुट्ट) पाया जायेगा, पर मनुष्यों में कुष्ठरोग (कोढ़) न होगा, मूर्तियों के हाथों में ही शूल (त्रिशूल) रहेगा, पर मनुष्यों को शूलरोग न होगा ॥ १५ ।

कम्पः सात्त्विकभावोत्थो न भयात्क्वापि कस्यचित् ।
संज्वरः कामजो यत्र दारिद्र्यं कलुषस्य च ॥ १६ ।

दुर्लभत्वं सदा कस्य सुकृतेन च वस्तुनः ।
इभा एव प्रमत्ता वै युद्धं वीच्योर्जलाशये ॥ १७ ।

दानहानि गजेष्वेव द्रुमेष्वेव हि कण्टकाः ।
जनेष्वेव विहारा हि न कस्यचिदुरःस्थली ॥ १८ ।

सात्त्विकभावो भक्तिः स्वभर्तृषु स्त्रीणां स्त्रीषु च पुंसाम् । **संज्वरः** कामजनित-प्रक्षोभः । पक्षान्तरे संज्वरो धनादिनिमित्तः सन्तापः । कलुषस्य पापस्य दारिद्र्यं न धनादेः ॥ १६ ।

न विद्यते कं सुखं यस्मात्तदकं पापं तस्य सदा दुर्लभत्वं न पुण्यस्य । सुकृतेन च वस्तुनः सुकृते पुण्यनिमित्ते वस्तुनोऽर्थस्य दुर्लभत्वं न च नास्ति । पुण्यार्थं सर्वेऽपि धनं व्ययन्तीत्यर्थः । दुर्लभत्वं सदैकस्य सुकृतेतरवस्तुन इति पाठे सुकृतेतरवस्तुनः पापस्येति व्याकर्तव्यम् । इभा गजा एव प्रमत्ता न जनाः । वीच्योस्तरङ्गयोरेव जलाशये सरोवरादौ युद्धं न तु परस्परस्पर्धया जनानाम् ॥ १७ ।

दानहानिर्मदोदकत्यागः । पक्षान्तरे दानहानिर्दानाभावः । द्रुमेष्वेव हि कण्टकाः । पक्षान्तरेऽन्यत्र कण्टकाः कण्टकतुल्या दुःखदा इत्यर्थः । जनेष्वेव विहरणं विहारा क्रीडा । स्त्रीत्वमार्षम् । विहरणानि विहारा इति बहुवचनं वा । पक्षान्तरे विगतहारा विहारा ॥ १८ ।

जहाँ सात्त्विकभाव से ही कम्प होगा, न कि कभी भय से किसी को कम्प हो, एवं कामजनित ही संताप होगा, न कि धनादि का संताप हो, पाप ही की दरिद्रता (अभाव) होगी, न कि अन्य किसी वस्तु की ॥ १६ ।

जहाँ सदैव पापमय वस्तु की ही दुर्लभता होगी, न कि पुण्यमय वस्तु की, हाथियाँ प्रमत्त (पागल-मस्त) होंगी, न कि मनुष्य, जलाशयों में ही तरंगों का युद्ध होगा, न कि लोगों में ॥ १७ ।

हस्तियों की ही दान (मदजल) हानि होगी, न कि जनों की दानहानि (दान का बन्द होना) होगी, वृक्षों में ही कंटक होंगे, मनुष्य कंटक (दुःखप्रद) न होंगे, मनुष्यों में ही विहार होगा, पर किसी का वक्षःस्थल हार से रहित न रहेगा ॥ १८ ।

बाणेषु गुणविश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा।
स्नेहत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने ॥ १९ ।
दण्डवार्ता सदा यत्र कृतसंन्यासकर्मणाम् ।
मार्गणाश्चापकेष्वेव भिक्षुका ब्रह्मचारिणः ॥ २० ।
यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिणः ।
प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः ॥ २१ ।

बाणेष्वेव गुणविश्लेषो ज्यापरित्यागः। पक्षान्तरेऽन्यत्र गुणानामुदारतादीनां विश्लेषो विच्छेदो नेत्यर्थः। पुस्तकेषु पुस्तिकायामेव दृढा बन्धोक्तिः, पुस्तकं दृढं बन्धनीयमिति वचनम्। तथा चोक्तम्—

तैलाद्रक्ष जलाद्रक्ष रक्ष मां श्लथबन्धनात्।
आखुभ्यः परहस्तेभ्य एवं वदति पुस्तकम् ॥ इति।

पक्षान्तरेऽन्यत्रायं दृढं बध्यतामिति वचनं नास्तीत्यर्थः, अपराधाभावात्। पाशुपते पाशुपतयोगयुक्ते परमहंसे एव स्नेहत्यागो ममताऽभावः। यद्वा पाशुपते संन्यासिन्येव स्नेहत्यागः स्नेहद्रव्याऽभ्यङ्गस्नेहाक्तभैक्षादित्यागः। तथा च श्रुतिः— 'प्राणसन्धारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। औषधवदशनमाचरेत्। हिंसातैलादिमैथुनं च प्रतिषिद्धानि, अभ्यङ्गं चैव ताम्बूलं वर्जयेत् परदारवत्' इत्यादिः।

पक्षान्तरेऽन्यत्र स्नेहस्य दयायाः स्नेहद्रव्यस्य घृतादेर्वा त्यागो नास्तीत्यर्थः ॥ १९।

कृतसंन्यासकर्मणामेकदण्डित्रिदण्डिनामेव दण्डवार्ता वंशदण्डधारणकथा। पक्षान्तरेऽन्यत्र राजदण्डवार्ता राजदण्डकथा नास्तीत्यर्थः। चापकेषु चापेषु धनुःष्विति यावत्। एवं मार्गणा बाणाः। पक्षान्तरेऽन्यत्र मार्गणा याचका न सन्तीत्यर्थः। ब्रह्मचारिण एव भिक्षुका भिक्षाहारोपजीविनः। सन्यासिनां त्वत्यादरेण निमन्त्रणमेव भवतीति भावः ॥ २०।

क्षपणका अवधूता एव मलधारिणो देहमलधारिणो दृश्यन्ते। पक्षान्तरे नान्ये

बाणों में ही गुणविश्लेष (डोरी से छूटना) होगा, लोगों में गुणों का विच्छेद न रहेगा, दृढ़बन्धन पुस्तकों का ही होगा, न कि मनुष्यों का, जहाँ पाशुपत (शैव) परमहंसों में ही सदा स्नेह (ममता) का त्याग होगा, न कि निवासीजनों में दया का त्याग होना ॥ १९।

जहाँ पर संन्यासियों की ही दण्डवार्ता होगी, अन्य की नहीं, धनुषों में ही मार्गण (बाण) मिलेंगे, पर अन्यत्र मार्गण (भिक्षुक) नहीं रहेंगे और ब्रह्मचारी ही जहाँ भिक्षुक होंगे, दूसरे भिक्षुक नहीं रहेंगे ॥ २०।

जहाँ पर अर्हन् उपासक क्षपणक (बौद्ध) लोग ही मलधारी होंगे, और कोई नहीं एवं भ्रमरगण ही प्रायः चंचलवृत्ति होंगे, लोग वैसे न होंगे ॥ २१।

इत्यादिगुणवद्देशे त्वयि राज्यं प्रशासति।
धर्मेण राजधर्मज्ञ शौण्डीर्यगुणशालिनि॥ २२।
सौभाग्यभाजिरूपाढ्ये शौर्योदार्यगुणान्विते।
सीमन्तिनीनां रम्याणां लावण्यार्जितसुश्रियाम्॥ २३।
राज्ञीनामयुतं भावि कुमाराणां शतत्रयम्।
वृद्धकाल इति ख्यात उग्रः परपुरञ्जयः॥ २४।
विजितानेकसमरः श्रीसन्तर्पितमार्गणः।
अनेकगुणसम्पूर्णः पूर्णचन्द्रनिभद्युतिः॥ २५।

इत्यर्थः। मधुव्रता भ्रमरा एव चञ्चलवृत्तयः। पक्षान्तरे नान्य इत्यर्थः। भ्रमरेष्वपि केचन चञ्चलवृत्तयो न भवन्तीति प्रायो ग्रहणम्॥ २१।

उपसंहरति। **इत्यादीति**। पूर्वोक्तप्रकारगुणवति देशे धर्मेण न्यायेन राज्यं राज्ञः कर्मप्रजापालनादि त्वयि प्रशासति कुर्वति सति लावण्येनाङ्गसौन्दर्येणार्जिता प्राप्ता शोभना श्रीर्याभिस्तासां राज्ञीनामयुतं दशसहस्रं तासु च कुमाराणां शतत्रयं भावि भविष्यतीति तृतीयेनान्वयः। राजानं विशेषयतः। शौण्डीर्येति सपादसार्धेन। शौण्डीर्यं शूरता। सौन्दर्येति क्वचित्। तत्र सौन्दर्यं शोभातिशयः। रूपं करचरणादिघटनसौष्ठवं लावण्यमिति यावत्। शौर्यं दाक्ष्यम्। औदार्यं दातृत्वं महत्त्वं वा॥ २२।

वृद्धकाल इति सार्धपञ्चकं वाक्यम्। नाम्ना वृद्धकाल इति ख्यातस्त्वं मध्ये राजसभं राजसभाया मध्ये दूरात्कार्पटिकैः रक्तवस्त्रधारिततपस्विविशेषैर्दृष्टः सन् पश्चात्तैः सर्वैः कार्पटिकैरनेकशः शोभनाशीर्वादैरभिनन्दित आनन्देन सम्बर्धितो भविष्यसीत्यन्वयः। कथम्भूतैः स्वाशीर्वादैः। तत्कर्मभाविसदृशैस्तच्चद्वकुण्ठभोगावसानपुण्यं कर्म तस्य भावि यत्फलं तत्सदृशैस्तद्योग्यैर्यथार्थैरित्यर्थः। त्वद्भाविकर्मसदृशैरिति पाठेऽपि स एवार्थः। त्वं कथम्भूतः? उग्रः प्रतापवान्॥ २४।

श्रिया धनसम्पत्त्या सन्तर्पिता मार्गणा याचका येन सः। श्रीसमर्पितेति पाठेऽपि स एवार्थः॥ २५।

इन सब गुणों से परिपूर्ण उस देश में शौण्डीर्यगुणशाली सौभाग्यभाक् स्वरूपवान् शूरता-उदारतादि गुणों से भूषित राजधर्म के ज्ञाता तुम्हारे धर्मपूर्वक राज्यशासन करने पर लावण्यवती रमणीय दश सहस्र रमणियाँ तुम्हारी रानी होंगी और तीन सौ राजकुमार उत्पन्न होंगे। तुम प्रचण्ड परपुरंजय वृद्धकाल नाम से प्रसिद्ध होगे॥ २२-२४।

तुम अनेक समरों के विजेता, भिक्षुकों को धन से तृप्ति देने वाले, बहुत गुणों

सन्ततावभृथक्लिन्नमूर्धजः क्षितिपर्षभः ।
प्रजापालनसम्पन्नः कोशप्रीणितभूसुरः ॥ २६ ।
पदारविन्दं गौविन्दं हृदि ध्यायन्नतन्द्रितः ।
वासुदेवकथालापपरिक्षिप्तदिनक्षपः ॥ २७ ।
कदाचिदुपविष्टः सन्मध्ये राजसभं द्विज ।
दूरात् कार्पटिकैर्दृष्टो वाराणस्याः समागतैः ॥ २८ ।
त्वत्कर्मभाविसदृशैस्तदा त्वमभिनन्दितः ।
तैः सर्वैः राजशार्दूल स्वाशीर्वादैरनकेशः ॥ २९ ।
श्रीमद्विश्वेश्वरो देवो विश्वेषां जगतां गुरुः ।
काशीनाथस्तु ते कुर्यात् कुमतेरपवर्जनम् ॥ ३० ।

सन्ततमवभृथेन यज्ञसमाप्त्यनन्तरं क्रियमाणेन स्नानेन क्लिन्ना आर्द्रा मूर्धजाः, केशा यस्य सः । सत्तीर्थोदकसंक्लिन्नेति पाठे सत्तीर्थान्युत्कृष्टानि यानि कावेरीतुङ्गभद्रा-कृष्णावेणागौतम्यादीनि । तथा चोक्तम्—

कावेरीतुङ्गभद्रा च कृष्णावेणा च गौतमी ।
भागीरथीति विख्याताः पञ्चगङ्गा प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

तेषामुदकैः संक्लिन्ना मूर्धजा यस्य स इत्यर्थः । कोशेन कोशस्थेन न्यायार्जित-धनेन प्रीणितास्तर्पिता भूसुरा ब्राह्मणा येन सः ॥ २६ ।

गोविन्दस्येदं गौविन्दम् । पदारविन्दे कृष्णस्येति पाठे पदारविन्दे इति द्विती-याद्विवचनम् । वासुदेवकथालापेन परिक्षिप्ते निर्वाहिते दिनक्षपे दिवसरात्री येन सः ॥ २७ ।

स्वाशीर्वादमेवाहतुः । **श्रीमद्विश्वेश्वर** इति पञ्चकेन । कुमतेरज्ञानस्य अपवर्जनं नाशनम् ॥ ३० ।

से परिपूर्ण, पूर्णचन्द्र समान द्युतिमान्, निरन्तर अवभृथ (यज्ञान्त-स्नान) से आर्द्रकेश, प्रजापालन में परमसम्पन्न, राजाओं में सर्वोत्तम और कोश (खजाना) के द्वारा ब्राह्मणगण के प्रीतिकर्ता एवं निरालस्य होकर गोविन्द के पादारविन्द का हृदय में ध्यान करते हुए दिन-रात वासुदेव के ही कथालाप में व्यतीत करने लगोगे ॥ २५-२७ ।

हे द्विज ! तुम्हारे हो भाग्यवश कहीं से किसी समय पर काशीक्षेत्र से आये हुए कुछ यात्री राजसभा में तुमको विराजित देख अनेक आशीर्वाद देते हुए इस प्रकार से कहेंगे कि हे राजशार्दूल ! जिससे तुम उस समय बड़े आनन्दित होगे ॥ २८-२९ ।

समस्त जगत् के गुरु काशीनाथ श्रीमान् विश्वेश्वरदेव तुम्हारी कुमति को दूर

नैःश्रेयसीं च सम्पत्तिं यो देयात् स्मरणादपि ।
काशीनाथः स ते दिश्याज्ज्ञानं मलविवर्जितम् ॥ ३१ ।
येन पुण्येन ते प्राप्तं राज्यं प्राज्यमकण्टकम् ।
तत्पुण्यशेषतो भूयाद्विश्वनाथे मतिस्तव ॥ ३२ ।
यस्य प्रसादात् सुलभमायुः पुत्राम्बराङ्गनाः ।
समृद्धयः स्वर्गमोक्षौ स विश्वेशः प्रसीदतु ॥ ३३ ।
नामश्रवणमात्रेण यस्य विश्वेशितुर्विभोः ।
महापातकविच्छेदः स विश्वेशोऽस्तु ते हृदि ॥ ३४ ।

न चात्र साधनप्रयास इत्याह । नैःश्रेयसीं कैवल्याख्याम् । स्मरणादपि शब्दादुच्चारणादपि । तथा च—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥ इति ।

नन्वज्ञानं ज्ञानेनैव निवर्त्यमतस्तदभावात्कथं तस्यापवर्जनं तत्राहुः । काशीनाथः स इति । स प्रसिद्धः । दिश्यादुपदिशतु । ननु तथापि सार्वज्ञ्यादिज्ञानदाने स दोषस्तदवस्थ एवेत्याशङ्क्याहुर्मलविवर्जितमज्ञानतत्कार्ययोर्नाशकमित्यर्थः ॥ ३१ ।

ननु पुण्यं विना कथं विश्वनाथस्मरणं घटेत् तत्राह । येन पुण्येनेति । प्राज्यमुत्कृष्टं प्रजासु सुखम् । तत्र हेतुरकण्टकं शत्रुरहितम् ॥ ३२ ।

ननु तथापि प्रसन्नः सन्नेकमेव फलं दद्यान्न चिरजीवनमारभ्य मोक्षावसानमित्यत्राहुः । यस्य प्रसादादिति । अम्बरं वस्त्रम् । अङ्गना उत्तमा स्त्री । वराङ्गना इति वा पाठः । समृद्धयो राज्यादिविभूतयः । परमकारुणिकत्वात्तस्येति भावः ॥ ३३ ।

करें, जो स्मरणमात्र से भी मुक्ति-संपत्ति दान करते हैं, वे ही काशीनाथ तुमको निर्मल ज्ञान का उपदेश करें ॥ ३०-३१ ।

जिस पुण्यबल से तुमने इस अकंटक बहुत बड़े राज्य को प्राप्त किया है, उसी पुण्य के शेषभाग-द्वारा तुम्हारी बुद्धि विश्वनाथ में अर्पित हो ॥ ३२ ।

जिस विश्वनाथ के प्रसाद से आयुष्य, पुत्र, वर, अंगना, समृद्धियाँ, स्वर्ग एवं मोक्ष भी सुलभ है, वे ही विश्वेश्वर (तुम पर) प्रसन्न हों ॥ ३३ ।

जिनके केवल नाम सुनते ही महापातकों का विनाश हो जाता है, वे ही विश्वेश्वर तुम्हारे हृदय में निवास करें ॥ ३४ ।

त्वं वृद्धकालो भूपालः श्रुत्वेत्याशीः परम्पराम् ।
स्मरिष्यसीदं वृत्तान्तं पुलकाङ्कवपुस्तदा ॥ ३५ ॥
आकारगोपनं कृत्वा तेभ्यो दत्वा धनं बहु ।
सुमुहूर्तमनुप्राप्य सुते राज्यं विधाय च ॥ ३६ ॥
अनङ्गलेखया राज्ञ्या ततः काशीं गमिष्यसि ।
दत्वा दानानि भूरीणि प्रीणयित्वार्ऽथिनो जनान् ॥ ३७ ॥
स्वनाम्ना तत्र संस्थाप्य लिङ्गं निर्वाणकारणम् ।
प्रासादं तत्र कृत्वोच्चैस्तदग्रे कूपमुत्तमम् ॥ ३८ ॥
विधाय विधिवत्तत्र कलशारोपणादिकम् ।
मणिमाणिक्यचाम्पेयदुकूलेभाश्वगोधनम् ॥ ३९ ॥
महाध्वजपताकाश्च च्छत्रचामरदर्पणम् ।
देवोपकरणं भूरि विश्राण्य श्रमवर्जितः ॥ ४० ॥

त्वमिति । इति आशीः परम्परां पूर्वोक्तामाशीर्वादधारां श्रुत्वा इदम् इमम् अयं चासौ वृत्तान्तश्चेति वा । इदं वृत्तान्त आवाभ्यामिदानीं कथ्यमानस्तं त्वं स्मरिष्यसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

आकारेति साधं वाक्यम् । आकारगोपनमभिप्रायसंगोपनम् । सुमुहूर्तं शोभनं लग्नम् ॥ ३६ ॥

दत्वेति सार्धश्लोकं वाक्यम् । तत्र क्त्वान्तल्यबन्तानां पदानां तत्र काश्यां द्रक्ष्यस्येकं तपोधनमित्यनेनाऽन्वयः ॥ ३७ ॥

चाम्पेयदुकूलं पीतवस्त्रम् ॥ ३९ ॥

विश्राण्य दत्वा । श्रमवर्जितः कार्पण्यजन्यखेदरहितः ॥ ४० ॥

इस आशीर्वाद की परम्परा को सुन, तुम वृद्धकाल-भूपालरूप में रोमांचितशरीर होकर उस घड़ी इस वृत्तान्त का स्मरण करोगे ॥ ३५ ॥

फिर आकार को छिपा, उन सबको बहुत सा धन देकर सुमुहूर्त में पुत्र को राज्य समर्पण कर रानी अनंगलेखा के सहित काशी जाओगे, (वहाँ) अनेक दानों को दे, याचक-जनों को सन्तुष्ट कर, अपने नाम से प्रसिद्ध मुक्तिदाता शिवलिंग की स्थापना कर, उस पर बहुत ही ऊँचा शिवालय बनवा, उसके आगे उत्तम कूप-रचना कर, विधिवत् वहाँ पर कलशारोपणादि व्यवहार कर, मणिमाणिक्य, सुवर्ण, वस्त्र, हस्ती, घोड़ा, गौ, धन, महाध्वज, पताका, क्षत्र, चामर, दर्पण एवं अनेक देवोपकरण (पुजहाई आदि)

व्रतोपवासनियमैः परिक्षीणकलेवरः ।
मध्याह्ने निर्जने तत्र द्रक्षस्येकं तपोधनम् ॥ ४१ ।
अतीवजीर्णवपुषं परिपिङ्गजटान्वितम् ।
मूर्तिमन्तमिव प्रांशुं धर्मं जनमनोहरम् ॥ ४२ ।
भारं शरीरयष्टेश्च वृद्धयष्टचां समर्प्य च ।
गर्भागाराद्विनिष्क्रम्याभ्यान्तरङ्गमण्डपे ॥ ४३ ।
उपविश्य समीपे ते प्रक्षत्येवमनुक्रमात् ।
कोऽसि त्वं किमिहाऽसि त्वं द्वितीय इव कस्त्वयम् ॥४४।
प्रासादः कारितः केन जानास्येष ततो वद ।
अस्य लिङ्गस्य किं नाम प्रायो जाने न वार्धकात् ॥ ४५ ।
पृष्ट त्वमिति तेनाऽथ तदा वृद्धतपस्विना ।
कथयिष्यस्यहं राजा वृद्धकाल इति श्रुतः ॥ ४६ ।

मूर्तिमन्तं धर्ममिवेत्यन्वयः । प्रांशुमुच्चं महान्तं धर्ममिति वा ॥ ४२ ।
गर्भागाराच्छिवालयात् ॥ ४३ ।

उपविश्येत्यर्धं वाक्यम् । स तपोधन इति शेषः । प्रक्ष्यति प्रश्नं करिष्यति । प्रश्नमेवाहतुः । कोऽसीति सार्धेन । द्वितीय इव कस्त्वयमित्यनङ्गलेखासुद्दिश्य । अनेन सम्यग् दृष्टिबलाभावः सूचितः ॥ ४४ ।

अकृपणचित्त से देकर व्रत, उपवास और नियम के द्वारा अतिक्षीण कलेवर होने पर तुम वहाँ निर्जन स्थान में दोपहर की वेला में एक तपोधन को देखोगे ॥ ३६-४१ ।

वह अतीव जीर्णशरीर, पिंगलजटाजूट से शोभित, तपस्वी, उन्नत मूर्तिधारी, धर्म के समान लोगों के मन की श्रद्धा का आस्पद, अपने शरीरयष्टि के भार को दृढ़ छड़ी पर रखे हुए, शिव-मन्दिर के भीतर से निकलकर बाहर सभामंडप में आकर तुम्हारे समीप में बैठकर इस क्रम से पूछने लगेगा—तुम कौन हो ? यहाँ पर क्यों आये हो ? (तुम्हारे ऐसा) यह दूसरा और कौन है ? यह शिवालय किसने बनवाया है ? यदि जानते हो तो बतलाओ इस लिंग का क्या नाम है ? प्रायः वृद्धता के कारण मैं नहीं जान सका ॥ ४२-४५ ।

तब उस वृद्ध तपस्वी के इस प्रकार से पूछने पर तुम कहोगे कि मैं वृद्धकाल

दाक्षिणात्य इह प्राप्तस्त्वेतया सह कान्तया ।
ध्यायामि लिङ्गमेतच्च प्रार्थयामि न किञ्चन ॥ ४७ ।
प्रासादस्यास्य जटिलः स्वयं कारयिता शिवः ।
विशेषतोऽस्य लिङ्गस्य नाम नो वेद्मि निश्चितम् ॥ ४८ ।
इति श्रुत्वा नरपतेर्वाक्यं प्राह जटाधरः ।
सत्यमुक्तं त्वयैकं हि लिङ्गनाम न वेत्सि यत् ॥ ४९ ।
पश्येयं त्वामहं नित्यमुपविष्टं सुनिश्चलम् ।
श्रुतो भविष्यति तव प्रासादो येन कारितः ॥ ५० ।
ममाग्रे तत्समाचक्ष्व यदि जानासि तत्त्वतः ।
आकर्ण्येति वचस्तस्य पुनः प्राह भवानिति ॥ ५१ ।
कर्ता कारयिता शम्भुः किमतथ्यं ब्रवीम्यहम् ।
अथवा चिन्तया किं मे तपस्विन्ननया विभो ॥ ५२ ।

दाक्षिणात्यो दक्षिणदेशोद्भवः । एतयाऽनङ्गलेखया ॥ ४७ ।

भवानिति गणवाक्यम् ॥ ५१ ।

नामक दक्षिण देश का राजा हूँ । इस अपनी सहधर्मिणी के साथ यहाँ आया हूँ और इसी लिंग का ध्यान करता हूँ, पर कुछ भी प्रार्थना नहीं करता ॥ ४६-४७ ।

हे जटिल ! इस शिवालय के बनवाने वाले स्वयं महादेव हैं, विशेषरूप से मैं इस लिंग का निश्चित नाम नहीं जानता ॥ ४८ ।

वह जटाधारी राजा का ऐसा वचन सुनकर कहेगा कि "तुमने एक बात ठीक कही—जो लिंग का नाम नहीं जानते" ॥ ४९ ।

मैं तुमको नित्य ही (यहाँ) स्थिररूप से बैठे देखता हूँ, अतएव (संभव है कि) तुमने यह सुना होगा कि यह शिवालय किसने बनवाया है ? ॥ ५० ।

"यदि ठीक-ठीक जानते हो, तो मेरे सन्मुख उसे कहो" उस तपस्वी की यह बात सुनकर तुम फिर कहोगे कि "क्या मैं झूठ कहता हूँ ! कि कर्ता और कारयिता महादेव ही हैं" । अथवा हे विभो ! तपस्विन् ! इस चिन्ता से मुझे क्या प्रयोजन है ? ॥ ५१-५२ ।

इति त्वयि स्थिते जोषं स पुनर्वृद्धतापसः ।
पिपासुरस्मि पानीयमानीयाशु प्रयच्छ मे ॥ ५३ ।
इति तेन च नुन्नस्त्वं वार्यानीय च कूपतः ।
पाययिष्यसि तं वृद्धं तापसं तत्क्षणाच्च सः ॥ ५४ ।
तदम्बुपानतो भूयात् सुपार्वणशशिप्रभः ।
तरुणो रूपसम्पन्नः कोशोन्मुक्तोरगो यथा ॥ ५५ ।
जाताश्चर्येण भवता पुनरेवाभ्यभाषि सः ।
कः प्रभावो हि भगवन्नेष येन भवान् पुनः ॥ ५६ ।
परित्यज्याऽत्र जरसं नवो भ्राजसि साम्प्रतम् ।
अस्ति चेदवकाशस्ते ततो ब्रूहि तपोधनः ॥ ५७ ।

तपोधन उवाच—

वृद्धकालक्षितिपते जाने त्वां सुमहामते ।
इमामपि च जानेऽहं तव पत्नीं पतिव्रताम् ॥ ५८ ।

जोषं तूष्णोम् ॥ ५३ ।

नुन्नः प्रेरितः प्रार्थित इति यावत् ॥ ५४ ।

तदम्बु-इति । भूयाद् भविष्यति । सुपार्वणशशिप्रभः शोभनपूर्णिमाचन्द्रसदृशः । कोशोन्मुक्तोरगो निर्मोकरहितसर्पः ॥ ५५ ।

इस प्रकार कहकर तुम्हारे चुप हो जाने पर वह वृद्धतापस फिर कहेगा— "बहुत प्यासा हूँ, मुझे पानी लाकर शीघ्र ही दो" ॥ ५३ ।

उसकी ऐसी प्रार्थना करने पर तुम कूप से जल लाकर उस वृद्धतपस्वी को पिलाओगे । (बस) वह तुरत उस पानी के पीने से पूर्णिमा के चन्द्रमा-प्रभा-सम्पन्न सुन्दर-रूप तरुण हो जायेगा, जैसे केंचुली के छोड़ देने पर सर्प फिर नवीन हो जाता है ॥ ५४-५५ ।

तब तुम आश्चर्य में आकर उससे फिर कहोगे कि भगवन् ! यह कौन-सा प्रभाव है ? जिसके द्वारा आप यहाँ बुढ़ौती को छोड़कर संप्रति नवजवान होकर शोभायमान हो रहे हैं ? हे तपोधन ! यदि आप को अवकाश हो तो कहिए ॥५६-५७।

तपोधन ने कहा—

तदनन्तर तपोधन बोलेंगे—हे महामतिमन् ! नरपते ! वृद्धकाल ! मैं तुमको जानता हूँ और तुम्हारी इस पतिव्रता पत्नी को भी जानता हूँ ॥ ५८ ।

जन्मनोऽस्मादियं राजन्नासीद्विप्रस्य कन्यका ।
दुर्वसोर्वेदवपुषः शुभाचारा शुभानना ॥ ५९ ।
तेन दत्ता विवाहार्थं नैध्रुवाय महात्मने ।
स च कालवशं प्राप्तो नैध्रुवोऽप्राप्तयौवनः ॥ ६० ।
वैधव्यं पालयन्त्येषा मृताऽवन्त्यां शुभव्रता ।
तेन पुण्येन संजाता पाण्ड्यस्य नृपतेः सुता ॥ ६१ ।
परिणीता त्वया राजन् पतिव्रतरता सदा ।
त्वया सहेह सम्प्राप्ता मुक्तिं प्राप्स्यत्यनुत्तमाम् ॥ ६२ ।
अयोध्यायामथाऽवन्त्यां मथुरायामथाऽपि वा ।
द्वारवत्यां च कान्त्यां वा मायापुर्यामथो नृप ॥ ६३ ।
अपि पातकिनो ये च कालेन निधनं गताः ।
ते हि स्वर्गादिहागत्य काश्यां मोक्षमवाप्नुयुः ॥ ६४ ।

अन्यानि पुण्यक्षेत्राणि काशीप्रापिकराणीति वक्तुं तयोः पूर्वजन्मवृत्तान्तमाह । **जन्मनोऽस्मादिय**मित्यादिना ॥ ५९ ।

नन्ववन्त्यां मोक्षपुर्यां मृतायाः कथं पुनर्जन्म तत्राह । **अयोध्याया**मित्यादि ॥६३।

हे राजन् ! यह इस जन्म के पूर्व तुर्वसु नामक ब्राह्मण की सदाचारवती सुमुखी कन्या थी ॥ ५९ ।

तुर्वसु ने इसे महात्मा नैध्रुव को विवाहार्थ दान कर दिया; फिर वह नैध्रुव विना यौवन प्राप्त हुए ही कालधर्म के वश हो गया ॥ ६० ।

यह सच्चरित्रा वैधव्य (व्रत) का पालन करती हुई अवन्तीपुरी में मर गयी। उसी पुण्य से पांड्य राजा की बेटी हुई ॥ ६१ ।

राजन् ! (अब) इस पतिव्रता से तुमने विवाह किया और यह तुम्हारे साथ यहाँ आकर उत्तम मुक्ति को पायेगी ॥ ६२ ।

हे नृप ! अयोध्या, अवंतिका, मथुरा, द्वारवती, कांची, अथवा मायापुरी (हरद्वार) में जो पातकी लोग यथाकाल मर जाते हैं, वे सब स्वर्ग से आकर यहाँ काशी में मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ६३-६४ ।

अवैमि त्वामपि नृप द्विजोऽभूः पूर्वजन्मनि ।
माथुरः शिवशर्माख्यो मायापुर्यां भवान् मृतः ॥ ६५ ।
तत्पुण्यात्प्राप्य वैकुण्ठं भुक्त्वा भोगान् मनोरमान् ।
तत्पुण्यशेषात् क्षितिपो जातस्त्वं नन्दिवर्धने ॥ ६६ ।
वृद्धकालावनीपाल तेनैव सुकृतेन च ।
मोक्षक्षेत्रमिदं प्राप्तो मुक्तिं प्राप्स्यस्यनुत्तमाम् ॥ ६७ ।
अन्यच्च शृणु राजेन्द्र त्वया यत् समुदीरितम् ।
कर्ता कारयिता शम्भुः प्रासादस्येति तत्स्फुटम् ॥ ६८ ।
सुकृतं नैव सततमाख्यातव्यं कदाचन ।
कृतं मयेति कथनात्पुण्यं क्षयति तत्क्षणात् ॥ ६९ ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं निधानवत् ।
सुकृतं कीर्तनाद् व्यर्थं भवेद् भस्महुतं तथा ॥ ७० ।

एवं भार्यायाः पूर्ववृत्तान्तमुक्त्वा तस्याऽप्याह । **अवैमीत्यादिना** ॥ ६१ ।
अन्यच्चेति । स्फुटं निश्चितम् । एतदेव युक्तमिनि भावः ॥ ६८ ।
तदेव दर्शयति । **सुकृतं नैवेति** ॥ ६९ ।
तस्मादिति । निधानवन्निधिवत् ॥ ७० ।

हे नृपते ! मैं तुमको (भले ही) जानता हूँ, तुम पूर्वजन्म में मथुरा के निवासी शिवशर्मा नामक ब्राह्मण थे । तुम हरद्वार (मायापुरी) में मृत्यु को प्राप्त हुए ॥ ६५ ।

उसी पुण्यबल से वैकुण्ठ को प्राप्त हो, मनोरम भोगों को भोगकर फिर उसी पुण्य के शेषांश से नन्दिवर्धन के राजा हुए ॥ ६६ ।

हे वृद्धकाल महिपाल ! उसी सुकृत से इस मोक्षक्षेत्र काशी को प्राप्त हुए और उत्तम मुक्ति को प्राप्त करोगे ॥ ६७ ।

हे राजेन्द्र ! और फिर यह सुनो जो तुमने यह कहा कि—"इस शिवालय के बनाने और बनवानेवाले महादेव हैं" सो बहुत ही ठीक है ॥ ६८ ।

कभी भी जो कुछ पुण्यकर्म करे, उसे किसी से नहीं कहना चाहिए; क्योंकि 'मैंने किया' ऐसा कहते ही उसी क्षण पुण्य का क्षय हो जाता है, अतएव बड़े प्रयत्न से पुण्य को धन के निधि की तरह छिपाये ही रहना चाहिए; क्योंकि कह देने से पुण्य भस्म में दी हुई आहुति के सदृश व्यर्थ हो जाता है ॥ ६९-७० ।

निश्चितं विश्वनाथेन प्रेरितेन त्वयाऽनघ।
कृतं हि कृतकृत्येन प्रासादाविह वेद्म्यहम् ॥ ७१ ।
वृद्धकालेश्वरं नाम लिङ्गमेतन् महीपते।
जानीह्यनादिसंसिद्धं निमित्तं किन्नु वै भवान् ॥ ७२ ।
दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य पूजनाच्छ्रवणान्नतेः।
वृद्धकालेशलिङ्गस्य सर्वं प्राप्नोति वाञ्छितम् ॥ ७३ ।
कूपः कालोदको नाम जराव्याधिविघातकृत्।
यदीयजलपानेन मातुः स्तन्यमपानवान् ॥ ७४ ।
कृतकूपोदकस्नानः कृततल्लिङ्गपूजनः।
वर्षेण सिद्धिमाप्नोति मनोऽभिलषितां नरः ॥ ७५ ।
न कुष्ठं न च विस्फोटा न रंघा न विचर्चिका।
पीतात्स्पृष्टात् प्रतिष्ठन्ति कफःकालदमोदकात्॥ ७६ ।

निश्चितमिति.। हि हकारावत्यन्तनिश्चयार्थौ। प्रसादाद्यपीति क्वचित् ॥ ७१ ।

कूप इति। कालं जराव्याधिविघातकमुदकं यस्य सः। तदेव दर्शयति। जराव्याधिविघातकृदिति। कालदम इति पाठे कालं मृत्युं दमयतीति तथा ॥ ७४।

न कुष्ठमिति। कालदमोदकात् पीतात् स्पृष्टाद्वा कुष्ठादयो रोगा न प्रतिष्ठन्तीत्यन्वयः। तत्र कुष्ठं श्वित्रम्। कुष्ठं श्वित्रमित्यमरः। विस्फोटः पिटकः। विस्फोटः पिटकः

हे अनघ! निश्चयरूप से तुमने विश्वनाथ के ही द्वारा प्रेरित और कृतकृत्य होकर इस शिवमन्दिर का निर्माण कराया है, यह मैं (भले) जानता हूँ ॥ ७१।

हे महीपते! यह समझ लो कि यह वृद्धकालेश्वर नामक अनादिसिद्ध लिंग है; परन्तु तुम इसके केवल निमित्तमात्र हुए हो ॥ ७२।

इस वृद्धकालेश्वर लिंग के दर्शन, स्पर्शन, पूजन, श्रवण और प्रणाम से सकल वांछित अर्थ प्राप्त होते हैं ॥ ७३।

यह कालोदकनामा कूप जरा (वृद्धता) और व्याधियों का विघातक है, इसका जलपान करने से फिर माता के स्तन का दूध नहीं पीना पड़ता ॥ ७४।

इस कूप के जल से स्नान कर इस लिंग का पूजन करने वाला नर एकवर्ष में अपनी मनोभिलषित सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ७५।

इस कालदमकूप के जल पीने अथवा स्पर्श करने से कोढ़, विस्फोटक (शीतला), रंघणी, ओदी, खुजली और कफपीड़ा आदि रोग नहीं रह पाते ॥ ७६।

नाग्निमान्द्यं नैव शूलं न मेहो न प्रवाहिका ।
न मूत्रकृच्छ्रं नो पामा पानीयस्यास्य सेवनात् ॥ ७७ ।
भूतज्वराश्च ये केचिद्ये केचिद्विषमज्वराः ।
ते क्षिप्रमुपशाम्यन्ति ह्येतत्कूपोदसेवनात् ॥ ७८ ।
तवाऽग्रतो मम जरापलितं च यथाविधि ।
एतत्कूपोदपानेन क्षणान्नष्टं नवोऽभवम् ॥ ७९ ।
वृद्धकालेश्वरे लिङ्गे सेविते न दरिद्रता ।
नोपसर्गा न वा रोगा न पापं नाघजं फलम् ॥ ८० ।
उत्तरे कृत्तिवासस्य वाराणस्यां प्रयत्नतः ।
वृद्धकालेश्वरं लिङ्गं द्रष्टव्यं सिद्धिकामुकैः ॥ ८१ ।
इत्युक्त्वा तं महीपालं हस्ते धृत्वा तपोधनः ।
सानङ्गलेखा राज्ञीकं तस्मिँल्लिङ्गे लयं ययौ ॥ ८२ ।

स्त्रियामित्यमरः । रंघा रंघणीरोगविशेषः । विचर्चिका किलासम् । किलाससिध्मेकच्छ्वान्तुपामपामे विचर्चिकेत्यमरः ॥ ७६ ।

मेहो व्याधिविशेषः । व्याधिभेदाविद्रधिः स्त्री ज्वरमेहभगन्दरा इत्यमरः । प्रवाहिका ग्रहणी । ग्रहणीरुक् प्रवाहिकेत्यमरः । मूत्रकृच्छ्रमश्मरी । अश्मरी मूत्रकृच्छ्रं स्यादित्यमरः । पामविचर्चिकयोरवान्तरभेदः ॥ ७७ ।

सानङ्गलेखाराज्ञीकं अनङ्गलेखया राज्ञ्या सहितम् ॥ ८२ ।

अग्निमन्दता, शूल (दर्द-हुक्क), प्रमेह, संग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र (करकमुत्ती-पथरी), पामा (खजुरी) आदि रोग इस कूपजल के सेवन से दूर हो जाते हैं, और इसी कूपोदक के सेवन से जो भूतज्वर हैं, एवं जितने प्रकार के विषमज्वर हैं, वे सब बहुत ही शीघ्र शान्त हो जाते हैं ॥ ७७-७८ ।

तुम्हारे ही आगे मेरी जरा और पलित (बालों की शुक्लता) इसी कूप के जलपान करने से ही विनष्ट हो गयी और मैं क्षणमात्र में नया बन गया ॥ ७९ ।

इस वृद्धकालेश्वर लिंग की सेवा करने से दरिद्रता, उपसर्ग, रोगगण, पाप और पापजनित फल नहीं होते ॥ ८० ।

वाराणसी-क्षेत्र में सिद्धिलाभार्थियों को प्रयत्नपूर्वक कृत्तिवासेश्वर के उत्तरभाग में वृद्धकालेश्वर लिंग का दर्शन करना चाहिए ॥ ८१ ।

वह तपोधन यह कहकर अनंगलेखा राज्ञी के सहित उस महिपाल का हाथ पकड़कर उसी लिंग में अन्तर्धान हो जाएगा ॥ ८२ ।

महाकाल महाकाल महाकालेति कीर्तनात् ।
शतधा मुच्यते पापैर्नात्र कार्या विचारणा ॥ ८३ ।
इत्थं भवित्री ते मुक्तिः कैटभारातिदर्शनात् ।
भोगान् भुक्त्वा बहुविधान् वैकुण्ठनगरे शुभे ॥ ८४ ।
इति संहृष्टतनूरुहः स विप्रो भगवत्तद्गुणवक्त्रतो निशम्य ।
स्वमुदर्कमथार्ककोटिरम्यं हरिलोकं परिलोकयाञ्चकार ॥८५।

मैत्रावरुणिरुवाच—

लोपामुद्रे स विप्रेन्द्रो भोगान् भुक्त्वा मनोरमान् ।
मायापुर्यां कृतप्राणत्यागपुण्यबलेन च ॥ ८६ ।
वैकुण्ठलोकादागत्य पत्तने नन्दिवर्धने ।
भौमानि भुक्त्वा सौख्यानि पुत्रानुत्पाद्य सुन्दरान् ॥ ८७ ।
तेषु राज्यं विनिक्षिप्य प्राप्य वाराणसीं पुरीम् ।
विश्वेश्वरं समाराध्य निर्वाणपदमीयिवान् ॥ ८८ ।

स्वमुदर्कं स्वीयमुत्तरकालीनं फलम् ॥ ८५ ।
भौमानीति । सुन्दरानन्धपङ्ग्वादिरहितान् । सद्गुणानिति कश्चित् ॥ ८७ ।
विश्वेश्वरमिति । निर्वाणपदं कैवल्यस्थानमीयिवान् प्राप्तवान् ॥ ८८ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां काशीखण्डटीकायां चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ।

मनुष्य—"महाकाल! महाकाल! महाकाल!" इतना कीर्तन करने से ही सैकड़ों प्रकार के पापों से छूट जाता है, इसमें कुछ भी विचार नहीं करना चाहिए ॥ ८३ ।

इसी विधि से विष्णु भगवान् के दर्शन करने पर उत्तम वैकुण्ठपुर में अनेक भोगों को भोगकर अन्त में तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी ॥ ८४ ।

अनन्तर वह ब्राह्मण शिवशर्मा उन भगवद्गणों के मुख से अपने भावी वृत्तान्त को सुनकर पुलकित शरीर होकर कोटि सूर्य के समान रमणीय विष्णुलोक का दर्शन करने लगा ॥ ८५ ।

अगस्त्य ऋषि ने कहा—

लोपामुद्रे ! वह मायापुरी में प्राण-त्याग करने के पुण्यबल से मनोरम भोगों को प्राप्त कर वैकुण्ठलोक से नन्दिवर्धन पत्तन (देश-नगर) में आकर भूतल के भोगों को भोग, सुन्दर पुत्रों को उत्पन्न कर, फिर उन सब पर राज्य का भार रख, वाराणसी नगरी में पहुँच, विश्वेश्वर की आराधना कर मोक्षपद को प्राप्त हुआ ॥ ८६-८८ ।

एतत्पुण्यतमाख्यानं विप्रस्य शिवशर्मणः ।
श्रुत्वा पापविनिर्मुक्तो ज्ञानं परममृच्छति ॥ ८९ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे शिवशर्मनिर्वाणप्रापणं नाम
चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

शिवशर्मा ब्राह्मण के इस परम पुण्य उपाख्यान के श्रवण करने से मनुष्य समस्त पापों से निर्मुक्त होकर उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करता है ॥ ८९ ।

लहो मुक्ति शिवशर्म जिमि, करि वैकुण्ठ निवास ।
वृद्धकाल नृप रूप ते, पुनि करि काशीवास ॥ १ ।
सावन में रविवार को, मेला होत विशेष ।
वृद्धकाल के स्नान ते, छुटत रोग बहु देख ॥ २ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां शिवशर्मा-
परमलाभवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ।

॥ अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

व्यास उवाच—

शृणु सूत प्रवक्ष्यामि कथां कलशजन्मनः।
यामाकर्ण्य नरो भूयाद्विरजा ज्ञानभाजनम् ॥ १ ।
गिरिं प्रदक्षिणीकृत्य श्रीसंज्ञं कलशोद्भवः।
सपत्नीको ददर्शाऽथ रम्यं स्कन्दवनं महत् ॥ २ ।
सर्वर्तुकुसुमाढ्यं च रसवत्फलपादपम् ।
सुसेव्यकन्दमूलाढ्यं सुवल्कलमहीरुहम् ॥ ३ ।

पञ्चाधिकतमे विंशेऽध्याये कलशजन्मनः।
वर्ण्यतेऽत्र सभार्यस्य शिखिवाहनदर्शनम् ॥ १ ।

एवं तावत् प्रथमतोऽध्यायत्रयेण वृन्दारकहिरण्यगर्भसंवादद्वारेण काशीमाहात्म्यं मनाक् प्रपञ्च्य ततोऽप्यगस्त्यमहालक्ष्मीलोपामुद्रासंवादद्वारेणाधिकतरं प्रपञ्च्य ततोऽप्यगस्त्यकार्तिकेयसंवादेनाधिकतमं प्रपञ्चयितुमुपक्रमते। **शृण्विति**। विरजा विगतरजोगुणः शुद्धसत्त्व इत्यर्थः ॥ १ ।

गिरिमिति। कलशोद्भवः कुम्भसम्भवः कार्तिकेयवनं दृष्टवान्। तत्र च वने षडाननमद्राक्षीदित्यग्रिमेणाऽन्वयः ॥ २ ।

गिरिं विशिनष्टि चतुर्भिः। **सर्वेति**। सौगन्धिकानां कन्दः शालूकं मूलमिति यावत्। तद्व्यतिरिक्तमन्यन्मूलम्। यद्वा कन्दो वर्तुलाकार-आर्द्रकहरिद्रासूरणादिः। मूलमधः सूक्ष्ममुपरि विस्तृताकारं मूलकादिताभ्यामाढ्यम् ॥ ३ ।

(अगस्त्य को कार्तिकेय का दर्शन)

व्यासजी ने कहा—

हे सूत! श्रवण करो, मैं कुंभयोनि अगस्त्य ऋषि की कथा-कीर्तन करता हूँ, जिसे सुनकर मनुष्य रजोगुण से रहित और ज्ञान का भाजन हो जाता है ॥ १ ।

पत्नी के सहित अगस्त्य मुनि ने श्रीशैल की प्रदक्षिणा कर विशाल और परम-रम्य स्कन्दवन का दर्शन पाया ॥ २ ।

यह वन सर्वदा सब ऋतुओं के पुष्पों से हरा-भरा सरसफलपूर्ण वृक्षों से युक्त सुखपूर्वक सेवनयोग्य कन्दमूलों से परिपूर्ण एवं कोमल वल्कलवाले वृक्षों से व्याप्त रहता है ॥ ३ ।

निवीतश्वापदगणं ससरित्पल्वलावृतम् ।
स्वच्छगम्भीरकासारं सारं सर्वभुवः परम् ॥ ४ ॥
नानापतत्रिसंघुष्टं नानामुनिजनोषितम् ।
तपः सङ्केतनिलयमिवैकं सम्पदाम्पदम् ॥ ५ ॥
लोहितो नाम तत्रास्ति गिरिः स्वर्णगिरिप्रभः ।
सुकन्दरप्रस्रवणः स्वसानुशिखरप्रभः ॥ ६ ॥
कैलासस्यैकशकलं कर्मभूमाविहागतम् ।
तपस्तप्तुमिव प्रोच्चैर्नानाश्चर्यसमन्वितम् ॥ ७ ॥

नितरां वीतो गतः श्वापदानां हिंस्रस्वभावानां व्याघ्रादीनां गणो यत्र तत्तथा। विनीतेति पाठे विनीतस्त्यक्तक्रौर्यः श्वापदानां गणो यत्र तत्तथा। सरिद्भिः सहितानि यानि पल्वलान्यल्पोदकसरांसि तैरावृतम्। स्वच्छानि निर्मलानि गम्भीराण्यगाधानि सरोवराणि यस्मिंस्तत्स्वच्छगम्भीरकासारम् ॥ ४ ॥

तपःसङ्केतनिलयं तपसो रहस्यस्थानमिवेत्युत्प्रेक्षा। एकं मुख्यम् ॥ ५ ॥

किञ्च **लोहितो** लोहितगिरिरिति दक्षिणायां प्रसिद्धः पर्वतस्तत्र वनेऽस्ति। स्वर्णगिरिप्रभः सुमेरुरिव सुन्दरः। शोभनाः कन्दरादर्यः प्रस्रवणानि च निर्झरा यत्र सः। सानवः प्रस्थाः पर्वतैकदेशसमभागाः। शिखराणि शृङ्गाणि। स्वानां स्वसम्बन्धिनां सानुशिखराणामेभिर्वा प्रभा शोभा यत्र सः। सु इति क्वचित्। सुसानुशिखरीत्यन्यत्र ॥ ६ ॥

एकशकलमेकखण्डं इह वने उच्चैर्यथा स्यात्तथा तपस्तप्तुमागतमिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

जो वन हिंसक जन्तुओं से रहित, नदी-तडागादि के सहित एवं स्वच्छ और गंभीर पोखरों से व्याप्त समस्त भूतल का उत्तम सारस्वरूप है, जो नानाविध पक्षि-गणों से निनादित, अनेक मुनिजन का निवास-स्थान, मानो तपस्या के संकेत का गृह और सर्वसंपत्तियों का एकमात्र आश्रय है ॥ ४-५ ॥

उसी स्थान पर सुवर्णगिरि के समान लोहित नामक एक पर्वत है, जिसकी कन्दरा, झरना, सानु और शिखर सभी मनोहर हैं, मानो कैलाश पर्वत का एक ऊँचा शृंग (खंड) अनेक आश्चर्यकर वस्तुओं के सहित इस कर्मभूमि में तपस्या करने के ही निमित्त आ गया है ॥ ६-७ ॥

तत्राद्राक्षीन्मुनिश्रेष्ठोऽगस्त्यः साक्षात् षडाननम् ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ सपत्नीको महातपाः ॥ ८ ॥
तुष्टाव गिरिजासूनुं सूक्तैः श्रुतिसमुद्भवैः ।
तथा स्वकृतया स्तुत्या प्रबद्धकरसम्पुटः ॥ ९ ॥

अगस्तिरुवाच—

नमोऽस्तु वृन्दारकवृन्दवन्द्यपादारविन्दाय सुधाकराय ।
षडाननायाऽमितविक्रमाय गौरीहृदानन्दसमुद्भवाय ॥ १० ॥

साक्षाद् ब्रह्म । यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मेति श्रुतेः । तदेव षडाननम् । भक्तानुजिघृक्षया गृहीतलीलाशरीरमित्यर्थः ॥ ८ ॥

सगुणाऽगुणभेदेन भक्त्या परमया [1]मुदा ।
पद्यैरष्टाभिरस्तौषीदगस्त्यो गिरिजासुतम् ॥

षडाननाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । षडाननं विशिनष्टि । वृन्दारकेत्यारभ्येत्थमित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन । वृन्दारकवृन्दैर्देवसमूहैर्वन्द्येऽभिवन्द्ये पादारविन्दे चरणकमले यस्य तस्मै । सुधाकरायाऽमृताब्धये परमानन्दायेत्यर्थः । **'स एष परमानन्दः'** इत्यादि श्रुतेः । षडाननाय षण्णामृतूनामाननं प्रापणं येन तस्मै संवत्सरादिकालरूपायेत्यर्थः । षण्मुखायेति वा । अमितविक्रमायाऽनन्तपराक्रमायेत्यर्थः । गौरी ब्रह्मविद्या निर्मलत्वात्तया हृदानन्दस्य हृदयाभिव्यङ्ग्यानन्दस्य समुद्भवो यस्माद् बुद्धिवृत्त्यभिव्यङ्गत्वात् तस्मै । तथा च श्रुतिः—**'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** इति । पार्वत्या हृदयाह्लादजनकायेति वा ॥ १० ॥

वहाँ पर मुनिवर अगस्त्य ने साक्षात् षण्मुख स्कन्द-भगवान् का दर्शन पाया, तब वे महातपस्वी पत्नी के सहित भूमि पर दण्डवत् प्रणाम कर, दोनों हाथों को जोड़ वेदोक्त सूक्तों से तथा निजनिर्मित स्तुतियों के द्वारा गिरिजासुवन कार्तिकेय की स्तुति करने लगे ॥ ८-९ ॥

अगस्त्य बोले—

देवतागण के वन्दनीय चरणकमल, सुधाकर के समान परमानन्दकर, अपरिमित पराक्रम, गौरी के हृदयानन्दजनक षण्मुख-देव को नमस्कार है ॥ १० ॥

---

१. युत इति क्वचित्पाठः ।

नमोऽस्तु तुभ्यं प्रणतार्तिहन्त्रे कर्त्रे समस्तस्य मनोरथानाम् ।
दात्रे रथानां परतारकस्य हन्त्रे प्रचण्डासुरतारकस्य ॥ ११ ॥
अमूर्तमूर्ताय सहस्रमूर्तये गुणाय गुण्याय परात्पराय ।
अपारपाराय परापराय नमोऽस्तु तुभ्यं शिखिवाहनाय ॥ १२ ॥
नमोऽस्तु ते ब्रह्मविदाम्बराय दिगम्बरायाऽम्बरसंस्थिताय ।
हिरण्यवर्णाय हिरण्यबाहवे नमो हिरण्याय हिरण्यरेतसे ॥ १३ ॥

प्रणतानां भक्तानां वा आर्तिहन्त्रे संसारदुःखनाशकाय। समस्तभक्तवृन्दस्य मनोरथानां मनोऽभिलषितानां धर्मार्थकाममोक्षाणां कर्त्रे सम्पादयित्रे। परतारकस्य परवञ्चकस्य रथानां मनोरथानां दात्रे खण्डयित्रे। नतानामिति पाठे नतानां समस्तस्य प्रपञ्चस्य कर्त्रे छेदकायेति व्याकर्तव्यम्। परतारकस्य प्रचण्डस्याऽसुरस्य तारकस्य हन्त्रे नाशयित्रे, अथवा परं प्रतारकं ज्ञानं प्रणवरूपं षडक्षररामन्त्रराजरूपं वा नतानां तद्दात्रे। शेषं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

अमूर्तमूर्ताय अमूर्ते वाय्वाकाशे, मूर्तानि पृथिव्यप्तेजांसि। **मूर्तञ्चामूर्तञ्चेति** श्रुतेः। तद्रूपायापञ्चीकृतभूतपञ्चकात्मकहिरण्यगर्भायेत्यर्थः। सहस्रमूर्तये पञ्चीकृतभूतपञ्चकात्मकविराड्रूपायेत्यर्थः। गुणाय रजःसत्त्वतम आत्मकायाकारप्रश्लेषं विना। अगुणाय निर्गुणायेति वा। गुण्याय गुणेभ्यो हितं गुण्यं प्रधानं तस्य त्रिगुणात्मकत्वात् तद्रूपाय। गुणाग्रगण्यायेति पाठे गुणा एव गण्या यस्य तस्मै निर्दोषायेत्यर्थः। परात्पराय प्रधानादपि श्रेष्ठाय दूरायेति वा। **'प्रधानात्परतः परः'** इति श्रुतेः। अपारोऽगम्यः पारोऽवधिर्यस्य स तथा तस्मै। अपरिच्छिन्नायेत्यर्थः। अपारा जीवास्तान् ज्ञानदानेन पारयतीत्यपारपारस्तस्मा इति वा। परापराय मायया कार्यकारणरूपाय। शिखिवाहनाय मयूररथाय ॥ १२ ॥

ब्रह्मविदांवराय तत्त्वज्ञानिनामादिगुरवे। दिगम्बराय दिग्वाससे। अम्बरसंस्थितायाकाशवासाय। यद्वाऽम्बरसंस्थिताय अम्बरशरीरत्वेन स्थिताय। **'आकाशशरीरं ब्रह्मेति'** श्रुतेः। हिरण्यवर्णाय स्वर्णकान्तये। तथा चोक्तम्—

प्रणत-जनों के दुःख-विघातक, समस्त मनोरथों के सम्पादक, परवंचकों को बेंत लगाने वाले, प्रचण्ड तारकासुर के घातक (नाशक) आपको नमस्कार है ॥ ११ ॥

अमूर्तमूर्त-पंचभूतस्वरूप, सहस्रमूर्ति विराट्रूप, सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मक, प्रशस्तगुणान्वित, श्रेष्ठों के प्रधान, अगम्यसीमा, माया के द्वारा कार्यकारणरूप, मयूरवाहन आपको नमस्कार है ॥ १२ ॥

ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ, दिगम्बर आकाशसंस्थित, सुवर्णवर्ण, सुवर्णभूषितबाहु, स्वयं हिरण्यस्वरूप, हिरण्यरेता आपको नमस्कार है ॥ १३ ॥

तपःस्वरूपाय तपोधनाय तपः फलानां प्रतिपादकाय ।
सदा कुमाराय हि मारमारिणे तृणीकृतैश्वर्यविरागिणे नमः ।। १४ ।
नमोऽस्तु तुभ्यं शरजन्मने विभो प्रभातसूर्याऽरुणदन्तपङ्क्तये ।
बालाय चाबालपराक्रमाय षाण्मातुरायाऽलमनातुराय ।। १५ ।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ।। इति ।

हिरण्यबाहवे हिरण्यानि स्वर्णमयानि केयूरादीनि बाहुषु हस्तादिषु यस्य तस्मै । हिरण्याय स्वर्णरूपाय । शुद्धसत्त्वात्मकायेति वा । हिरण्यं रेतो यस्य तस्मै अग्निस्वरूपाय रुद्ररूपाय वेत्यर्थः । तथा च भागवते—

यत्र यत्राऽपतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः ।
तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन्महीपते ।। इति ।। १३ ।

तपःस्वरूपाय साक्षात्तपोरूपाय । तपोधनाय तप एव धनमैश्वर्यं यस्य तस्मै । तपोधनानां तपसः फलानां प्रतिपादकाय प्रपादकाय । सदा कुमाराय सर्वदा पञ्चषडब्दार्भकरूपाय । हि प्रसिद्धौ । सनत्कुमारायेति वा । मारमारिणे कामजेत्रे एतत्तु कल्पभेदाऽभिप्रायेण बोद्धव्यम् । देवसेनाया गन्धर्वकन्याया वनपर्वणि परिणेतृत्वदर्शनाद् गुहस्य । वैष्णवे च—'श्रीर्देवसेनामैत्रेय देवसेनापतिर्हरिरिति' यद्वा ब्रह्मणो वरदानात् सदा कुमारत्वम् । तदुक्तं स्कान्दे—

पुत्रस्ते भविता देवि महायोगबलान्वितः ।
सदा बालोऽथ सुभगो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ।। इति ।

मारयन्तीति मारा दुष्टास्तेषां मारिण इति वा । माररूपिण इति पाठे कोटिकन्दर्पसुभगायेत्यर्थः । तृणीकृतमैश्वर्यं येन विरागोऽस्यास्तीति विरागी स च तस्मै ।। १४ ।

शरजन्मने शरस्तम्बोत्पत्तये । शरस्तम्बे निक्षिप्ताद् भवयोर्वीर्यात् कार्तिकेयस्य जन्मेति प्रसिद्धम् । प्रभातसूर्यारुणदन्तपङ्क्तये प्रातःकालीनसूर्यसदृशदन्तराजये । बालाय बालवत्प्रतीयमानाय । [1]अथवाऽबालपराक्रमाय अः विष्णुः स चासौ बालश्चेत्यबालः श्रीकृष्णरामवामनादिस्तस्येव पराक्रमो यस्य तस्मै । प्राकृतं व्याख्यानं स्पष्टम् । षण्णां कृत्तिकानां मातॄणामपत्यं षाण्मातुरः, तस्मै । अलमनातुरायाऽत्यन्तदक्षाय ।। १५ ।

तपस्या की मूर्ति, तपोधन, तपश्चर्याफलों के प्रतिपादक, सर्वदा (पाँच-छः वर्ष के) कुमार, कामदेव के विजयी एवं तृणीकृत ऐश्वर्य होने से परम विरागी आपको नमस्कार है ।। १४ ।

हे विभो ! शरवण में (सरपत के वन में) जन्म ग्रहण करने वाले, प्रभातसूर्य के समान अरुणवर्ण दन्तपंक्ति से शोभित, बालस्वरूप, विशाल-पराक्रमशील, अत्यन्त अनातुर (दक्ष), षाण्मातुर आपको नमस्कार है ।। १५ ।

---

१. यथाश्रुतार्थस्य स्पष्टत्वादर्थान्तरमाह ।

मीढुष्टमायोत्तरमीढुषे नमो नमो गणानां पतये गणाय ।
नमोऽस्तु ते जन्मजरातिगाय नमो विशाखाय सुशक्तिपाणये ॥ १६ ।
सर्वस्य नाथस्य कुमारकाय क्रौञ्चारये तारकमारकाय ।
स्वाहेय गाङ्गेय च कार्तिकेय शैवेय तुभ्यं सततं नमोऽस्तु ॥ १७ ।
इत्थं परिष्टुत्य स कार्तिकेयं नमो नमस्त्वित्यभिभाषमाणः ।
द्विस्त्रिः परिक्रम्य पुरो विवेश स्थितो मुनीशोपविशेति चोक्तः ॥१८।

मीढुष्टमाय सकामेषु फलसेचनकर्तृणां मध्ये श्रेष्ठाय । उत्तरमीढुषे भाविफलानां दात्रे । गणानां रुद्रपार्षदानां देवसेनानां वा पतये स्वामिने । जन्मजरे अतिक्रम्य गच्छतीति जन्मजरातिगस्तस्मै षड्भावविकाररहितायेत्यर्थः । विशाखाय विशाखो नाम कुमारस्याऽनुजस्तस्मै । तथा च वैष्णवे—

अग्निपुत्रः कुमारस्तु शरस्तम्बे व्यजायत ।
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठजः ॥ इति ।

सुशक्तिपाणये शोभना शक्तिरस्त्रविशेषः पाणौ यस्य तस्मै ॥ १६ ।

सर्वस्य नाथस्येति व्यधिकरणे षठ्यौ । विश्वनाथस्याऽपत्यायेत्यर्थः ॥ १७ ।

इत्थमिति । सोऽगस्त्य इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण परिष्टुत्य स्तुत्वा नमो नम इत्यभिभाषमाणः । तुशब्दो भक्तिश्रद्धाऽतिशयद्योतनार्थः । द्विस्त्रिः परिक्रम्य पञ्चवारान् प्रदक्षिणीकृत्य पुरः स्थितः पश्चाद्धे मुनीश उपविशेति कुमारेणोक्तः सन् विवेश चेत्यर्थः ॥ १८ ।

कामनावालों के फलदायकों में श्रेष्ठ, भाविफलों के दाता आपको नमस्कार है। गणों के अधिपति, गणस्वरूप आपको नमस्कार है, जन्म एवं जरा से रहित आपको नमस्कार है, सुन्दर शक्ति से शोभितपाणि, विशाखमूर्ति आपको नमस्कार है ॥ १६ ।

सर्व (विश्व) नाथ के कुमार (कुँवर), क्रौंच के शत्रु, तारकासुर के निहन्ता, स्वाहा के पुत्र, गंगा के सुत, पार्वती के नन्दन आपको निरन्तर नमस्कार है ॥ १७ ।

अगस्त्य मुनि इस रीति से कार्तिकेय की स्तुति कर "नमो नमोऽस्तु" कहते हुए दो तीन (पांच) बार परिक्रमा करके सन्मुख खड़े हो गये, फिर कुमार के "हे मुनीश ! बैठो" ऐसा कहने पर जा बैठे ॥ १८ ।

कार्तिकेय उवाच—

क्षेमोऽस्ति कुम्भजमुने त्रिदशैकसहायकृत् ।
जाने त्वामिह सम्प्राप्तं तथा विन्ध्याचलोन्नतिम् ॥ १९ ॥
अविमुक्ते महाक्षेत्रे क्षेमं मन्त्र्यक्षेण रक्षिते ।
यत्र क्षीणायुषां साक्षाद् विरूपाक्षोऽस्ति मोक्षदः ॥ २० ॥
भूर्भुवः स्वस्तले वाऽपि न पातालतले मलम् ।
नोर्ध्वलोके मया दृष्टं तादृक् क्षेत्रं क्वचिन्मुने ॥ २१ ॥
अहमेकचरोऽप्यत्र तत्क्षेत्रप्राप्तये मुने ।
तप्ये तपांसि नाऽद्याऽपि फलेयुर्मे मनोरथाः ॥ २२ ॥

अग्रे काशीमाहात्म्यकथनविश्वासाय कुशलप्रश्नपूर्वकं त्वत्प्राप्त्यादिकं सर्वज्ञतया जानामीत्याह **क्षेमोऽस्तीति** । हे त्रिदशैकसहायकृत् ॥ १९ ॥

ननु काश्याः कुशलं त्यक्त्वा किमिति ममैव कुशलं पृच्छ्यते तत्राह । **अविमुक्त इति** । क्षेम क्षेममेव । तत्र हेतुः त्र्यक्षेणेति । त्र्यक्षीशेति पाठे त्र्यक्षश्चासौ ईशश्चेति त्र्यक्षीशः । अदन्तताभावश्छान्दसः । किञ्च कुशलस्य का वार्ता मोक्षोऽपि यत्राऽतिसुलभ इत्याह । यत्रेति ॥ २० ॥

अत एव क्वचिदपि भूर्भुवःस्वस्तलादौ तादृक् क्षेत्रं मयाऽन्विष्यताऽपि न दृष्टम् । तव तु मननशीलत्वादेव दर्शनाभावः सम्भाव्यत इति सूचयति । **हे मुने इति** । यादृगिति पाठे यादृगिदं क्षेत्रं तादृक् क्षेत्रं कुत्राऽपि न दृष्टमित्यर्थः ॥ २१ ॥

काश्यां कृतवासत्वात्त्वं मत्तोऽपि श्रेष्ठ इत्याशयेनाह । **अहमेकेति** ॥ २२ ॥

कार्तिकेय बोले—

देवताओं के एकमात्र सहायक कुंभजमुने ! क्षेम है ? विन्ध्याचल की उन्नति और इसी कारण से तुम्हारा यहाँ का आगमन मैं जानता हूँ ॥ १९ ॥

त्रिलोचन के परिपालित अविमुक्त-क्षेत्र का कुशल क्या पूछूं ? क्योंकि जहाँ पर आयुष्य बीतने पर साक्षात् विरूपाक्ष ही मोक्ष के भी दाता हैं (तो वहाँ सदैव कुशल ही है) ॥ २० ॥

हे मुने ! भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, पातालतल और ऊर्ध्वलोक में भी मैंने वैसा क्षेत्र कहीं भी नहीं देखा ॥ २१ ॥

हे ऋषे ! मैं यहाँ पर एकचर होकर उसी क्षेत्र के प्राप्त्यर्थ तपस्या कर रहा हूँ, पर आज तक मेरे मनोरथ सफल नहीं हुए ॥ २२ ॥

न तत्पुण्यैर्न तद्दानैर्न तपोभिर्न तज्जपैः ।
न लभ्यं विविधैर्यज्ञैर्लभ्यमैशादनुग्रहात् ॥ २३ ।
ईश्वराऽनुग्रहादेव काशीवासः सुदुर्लभः ।
सुलभः स्यान्मुने नूनं न वै सुकृतकोटिभिः ॥ २४ ।
अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्याऽतिरेकिणी ।
न तत्क्षेत्रगुणान् वक्तुमीश्वरोऽपीश्वरो यतः ॥ २५ ।
अहो मतेः सुदौर्बल्यमहो भाग्यस्य दौर्विधम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यत्काशीह न सेव्यते ॥ २६ ।
शरीरं जीर्यते नित्यं संजीर्यन्तोन्द्रियाण्यपि ।
आयुर्मृगो मृगयुना कृतलक्ष्यो हि मृत्युना ॥ २७ ।

तत्क्षेत्रम् ॥ २३ ।

ईश्वरेति । सुदुर्लभोऽपि काशीवास ईश्वराऽनुग्रहादेव सुलभः स्यादित्यर्थः ॥ २४ ।

अन्यैवेति । विधातुर्याऽतिरेकिणी हिरण्यगर्भस्य सृष्टेर्या भिन्नेत्यर्थः । अतिकारिणीति पाठेऽधिकेत्यर्थः ॥ २५ ।

तर्ह्येतादृक् क्षेत्रं किमिति सर्वैर्न सेव्यते तत्राह । अहो इति । अहो इति खेदे । दौर्बल्यं मान्द्यम् । दौर्विधं कुत्सितत्वम् । माहात्म्यं धाष्ट्र्यम् ॥ २६ ।

ननु तथापि वृद्धावस्थायामेव काशी सेव्या न मरणस्यानियतत्वादित्याह । शरीरमिति त्रिभिः । आयुरेव मृगः स मृत्युना मृगयुना लुब्धकेन कृतलक्ष्यः कृतश्चासौ लक्ष्यश्चेति तथा लक्षीकृत इत्यर्थः ॥ २७ ।

वह क्षेत्र पुण्य, दान, तप, जप और विविध यज्ञादिकों से कभी नहीं प्राप्त होता, वह तो केवल ईश्वर के अनुग्रह होने पर ही मिलता है ॥ २३ ।

हे मुने ! अतिदुर्लभ काशीवास एकमात्र विश्वेश्वर की दया होने पर ही सुलभ हो पाता है, नहीं तो कोटिशः सुकृत करने पर भी निश्चय नहीं मिलता ॥ २४ ।

वह तो ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न दूसरी ही कोई सृष्टि है; क्योंकि स्वयं ईश्वर भी उस क्षेत्र के गुण-कथन में समर्थ नहीं हैं ॥ २५ ।

अहो कैसी बुद्धि को दुर्बलता है ? कैसी भाग्य की दुर्विधता है ? कैसा मोह का माहात्म्य है ? जो काशी का सेवन नहीं बन पड़ता ॥ २६ ।

यह शरीर तो नित्य ही जीर्ण हुआ जाता है, पर इन्द्रियाँ उसके भी पूर्व जीर्णता को प्राप्त हो जाती हैं; फिर यह आयुष्यरूपी मृग मृत्युरूपी व्याध का लक्ष्य बन ही चुका है ॥ २७ ।

सापदं सम्पदं ज्ञात्वा सापायं कायमुच्चकैः ।
चपलाचपलं चायुर्मत्वा काशीं समाश्रयेत् ॥ २८ ।
यावन्नैत्यायुषश्चान्तस्तावत्काशी न मुच्यते ।
कालः कलालवस्याऽपि संख्यातुं नैव विस्मरेत् ॥ २९ ।
जरानिकटनिक्षिप्ता बाधन्ते व्याधयो भृशम् ।
तथापि देहो नानेहो नाहो काशीं समोहते ॥ ३० ।
तीर्थस्नानेन जप्येन परोपकरणोक्तिभिः ।
विनाऽर्थं लभ्यते धर्मो धर्मादर्थः स्वयं भवेत् ॥ ३१ ।
विनैवाऽर्थार्जनोपायं धर्मादर्थो भवेद्ध्रुवम् ।
अतोऽर्थचिन्तामुत्सृज्य धर्ममेकं समाश्रयेत् ॥ ३२ ।

चपलाचपलं विद्युदिवाऽस्थिरम् ॥ २८ ।

न च काशीं प्राप्य पुनरपि कुत्रचिद् गन्तव्यमित्याह । **यावदिति** ॥ २९ ।

एवं मरणस्यानियतत्वाद् बालकावस्थायामेवाऽविमुक्तमाश्रयणीयमित्युक्तं पूर्वमिदानीं वृद्धावस्थायामपि ये काशीं न समाश्रयन्ति तेऽतिमन्दा इत्याह । **जरेति** । नानेहो नानाव्यापारवान् सन् । अहो खेदे ॥ ३० ।

नन्वर्थस्य धर्महेतुत्वात्तदीहां परित्यज्य किमिति काश्येवाश्रयणीया तत्राह । **तीर्थेति** ॥ ३१ ।

धर्मादर्थः स्वयं भवेदित्येतद् विवृण्वन् उपसंहरति । **विनैवेति** । तदुक्तं भारतसावित्र्याम्—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ इति ॥ ३२ ।

तब संपत्ति को आपत्ति से युक्त, एवं इस काय को अपायग्रस्त, और आयु को चपला के समान चंचल जानकर (चाहिए कि) काशी का आश्रयण करे ॥ २८ ।

जब तक आयु का अन्त न हो, तब तक कभी काशी को न छोड़े; क्योंकि काल कला के लवमात्र समय की भी गिनती करने में नहीं चूकता ॥ २९ ।

व्याधियाँ जरा के निकट निक्षेप करके अत्यन्त पीड़ा दे रही हैं, तो भी शरीर अनेक प्रकार के व्यापार ही में लगा रहता है, पर काशी सेवन नहीं करता ॥ ३० ।

तीर्थस्थान, जप और परोपकारक वचनों के द्वारा बिना अर्थ के ही धर्म होता है और धर्म से अर्थ तो स्वयं होता ही है ॥ ३१ ।

अर्थ के उपार्जनोपाय के विना भी धर्म से ही अर्थ निश्चय होता है, इसलिये अर्थ की चिन्ता को छोड़कर एकमात्र धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए ॥ ३२ ।

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात्सर्वसुखोदयः ।
स्वर्गोऽपि सुलभो धर्मात् काश्येका दुर्लभा परम् ॥ ३३ ।
उपायत्रयमेवाऽत्र स्थाणुर्निर्वाणकारणम् ।
शर्वाण्यग्रे बभाणाद्धा परिनिर्णीय सर्वतः ॥ ३४ ।
पूर्वं पाशुपतो योगस्ततस्तीर्थं सिताऽसितम् ।
ततोऽप्येकमनायासमविमुक्तं विमुक्तिदम् ॥ ३५ ।
श्रीशैलहिमशैलाद्या नानान्यायतनानि च ।
त्रिदण्डधारणं चाऽपि संन्यासः सर्वकर्मणाम् ॥ ३६ ।

ननु तर्हि धर्म एव यत्र कुत्राऽप्यनुष्ठेयस्तत एव काश्याप्तिरपि सेत्स्यतीति तत्राह । **धर्मादिति** । परं केवलम् ॥ ३३ ।

उपायेति । स्थाणुर्विश्वेशः सर्वतः परिनिर्णीय सर्वशास्त्रार्थं दृढं निश्चित्य शर्वाण्यग्रे पार्वत्याः सम्मुखे उपायत्रयं साधनत्रयमेव अद्धा साक्षान्निर्वाणकारणं कैवल्यहेतुं **बभाण** कथितवान् । परम्परया अप्युपायाः सन्तीति भावः ॥ ३४ ।

यद्यपि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमेव साक्षान्मुक्तेः कारणम्, तथापि ज्ञानदूरीभावादेतत्त्रयस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वमुक्तमिति तदेव त्रयं दर्शयति । **पूर्वं पाशुपतो योग** इति । पाशुपतो योगो नाम विभूत्या त्रिपुण्ड्रधारणं विभूत्युद्धूलनं च । सिताऽसितं प्रयागम् । अनायासं न विद्यते मोक्षदाने आयासो यस्मिंस्तदविमुक्तमानन्दकाननम् । अनायासं यथा स्याद्यथाऽवसरदेहपातमात्रेण विमुक्तिदमिति वा । एतेन सिताऽसितं तीर्थं बुद्धिपूर्वकदेहत्यागेनैव मोक्षदमित्यायातम् । अन्यथाऽनायासमिति विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः । तथा चोक्तम्—

ब्रह्मज्ञानेन मुच्यन्ते प्रयागमरणेन वा ।
अथवा स्नानमात्रेण गोमत्यां कृष्णसन्निधौ ॥ इति ॥ ३५ ।

ननु श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते । पथि श्मशाने गृहमण्डपे वा रथ्याप्रदेशेष्वपि यत्र तत्र इच्छन्ननिच्छन् पुरुषोत्तमाख्ये देहावसाने लभते च मोक्ष-

---

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम एवं काम से समस्त सुखों का उदय होता है । (अधिक क्या कहें) धर्म से स्वर्ग भी सुलभ है, पर केवल एक काशी ही दुर्लभ है ॥ ३३ ।

महादेव ने सब प्रकार से निर्णय करके पार्वती से मोक्ष के साधन तीन ही उपायों का कथन किया था ॥ ३४ ।

प्रथम तो पाशुपत योग, द्वितीय प्रयागतीर्थ और तृतीय उससे भी अनायास मुक्तिप्रद एक (वही) अविमुक्त-क्षेत्र है ॥ ३५ ।

(यद्यपि) श्रीशैल, हिमालय पर्वत, अनेक अन्य आयतन, त्रिदंडधारण, समस्त कर्मों का संन्यास, नानाविध तपस्याएँ, व्रत, यम, नियम, नदियों का संगम, अनेक

तपांसि नानारूपाणि व्रतानि नियमा यमाः ।
सिन्धूनामपि सम्भेदा अरण्यानि बहून्यपि ॥ ३७ ।
मानसान्यपि भौमानि धारातीर्थादिकानि च ।
ऊषराश्चापि पीठानि ह्यच्छिन्नाम्नायपाठनम् ॥ ३८ ।
जपश्चापि मनूनाञ्च तथाऽग्निहवनानि च ।
दानानि नानाक्रतवो देवतोपासनानि च ॥ ३९ ।
त्रिरात्रं पञ्चरात्राणि सांख्ययोगादयस्तथा ।
विष्णोराराधनं श्रेष्ठं मुक्तयेऽभिहितं किल ॥ ४० ।

मित्यादिवचनैः श्रीशैलादीनामपि मोक्षहेतुत्वं श्रूयते, सत्यं तत्तथैवेत्याह । **श्रीति** । श्रीशैलेत्यारभ्यैतानीत्यतः प्राक्तनेन । आद्यपदेन मन्दरादयो गृह्यन्ते । नानान्यायतनानि च नाना यान्यायतनानि पुरुषोत्तमादीनि तानि चेत्यर्थः ॥ ३६ ।

सिन्धूनां नदीनां सम्भेदाः सङ्गमाः । **अरण्यानि नव** । तदुक्तम्—

सैन्धवं दण्डकारण्यं जम्बूमार्गश्च पुष्करम् ।
उत्पलारण्यमारण्यं नैमिषं कुरुजाङ्गलम् ॥
हेमदमर्बुदं चैव नवाऽरण्याः प्रकीर्तिताः ॥ इति ॥ ३७ ।

मानसानि मनः कार्याणि धृत्यादीनि । भौमानि भूसम्बन्धीनि । धारातीर्थं कौमारतीर्थं दक्षिणदेशे प्रसिद्धम् । ऊषरा रेणुकादयो नव । तदुक्तम्—

यथा कालखलं सारं बदरीकं तथैव च ।
रेणुका सूकरः काशी काली कालवटेश्वरः ॥
कालञ्जरो महाकाल ऊषरा नव कीर्तिताः ॥ इति ॥

काशीत्यन्या काचित् । ऊषराणां महोषरमिति वचनात् ॥ ३८ ।

सांख्यमात्मानात्मविवेकः । योगोऽष्टाङ्गः । आदिपदेनोपासनादयः ॥ ४० ।

(दंडक-नैमिषादिक) अरण्य, (धृति-क्षमादिक) मानसतीर्थ, भूतल के धारातीर्थादिक, (कालंजर-वटेश्वरप्रभृति नव) ऊषर (विन्ध्यक्षेत्रादि) समस्त पीठ, अविच्छिन्न वेदपाठ, मन्त्रों का जप, अग्नि में हवन, विविध दान, नाना यज्ञ, देवताओं की अनेक रूप से उपासना, त्रिरात्रोपवास, पंचरात्र व्रत, सांख्य और योगादिशास्त्र तथा विष्णु की आराधना, ये सब मुक्ति के साधन कहे गये हैं ॥ ३६-४० ।

पुर्यश्चापि समाख्याता मृतजन्तुविमुक्तिदाः ।
कैवल्यसाधनानीह भवन्त्येव विनिश्चितम् ॥ ४१ ।
एतानि यानि प्रोक्तानि काशीप्राप्तिकराणि च ।
प्राप्य काशीं भवेन्मुक्तो जन्तुर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥ ४२ ।
अत एव हि तत्क्षेत्रं पवित्रमतिचित्रकृत् ।
विश्वेशितुः प्रियं नित्यं विष्वग् ब्रह्माण्डमण्डले ॥ ४३ ।
इदमेव हि तत्क्षेत्रं कुशलप्रश्नकारणम् ।
एह्येहि देहि मे स्पर्शं निजगात्रस्य सुव्रत ॥ ४४ ।
अपि काश्याः समागच्छत् स्पर्शवत् स्पर्श इष्यते ।
मयाऽत्र तिष्ठता नित्यं किन्तु त्वं तत आगतः ॥ ४५ ।

पुरीति । पुर्यश्चायोध्याद्याः काशीव्यतिरिक्ताः ॥ ४१ ।

ननु एतान्यपि कैवल्यसाधनानि चेत्तर्हि काश्याः को विशेषः, सत्यम्, कैवल्यसाधनत्वमेषां साक्षाद् विवक्षितम्, परम्परया वाऽन्त्यश्चेदोमिति ब्रूमः, आद्यश्चेत्तन्नेत्याह ।

एतानीति । मुक्तो विदेहमुक्तः ॥ ४२ ।

अत इति । यतोऽन्यत् सर्वं काशीप्राप्तिकरमत इत्यर्थः । अतिचित्रं कैवल्यम् ॥४३।

इदमिति । क्षेमोऽस्ति कुम्भजमुन इति यः कुशलप्रश्नस्तस्य कारणमिदं तत्क्षेत्रमेव हि निश्चितम् । तत्क्षेत्रात्त्वमागत इति कृत्वैव कुशलं पृच्छ्यत इत्यर्थः । अत एहि एहि आगच्छागच्छ । आदरे वीप्सा ॥ ४४ ।

काश्याः सकाशात् समागच्छतः स्पर्शो वर्तते यस्य, स काश्याः समागच्छत् स्पर्शवान् समागच्छन् स्पर्शवान् वायुर्वा तस्याऽपि स्पर्श इष्यते किं पुनस्तव साक्षात्तत आगतस्येति भावः ॥ ४५ ।

अयोध्यादि पुरियाँ भी मृत जन्तु की मोक्षदात्री कही गई हैं, ये सब अवश्य ही मोक्ष के कारण निश्चय होते हैं; परन्तु ये सब जितने कहे गये हैं, सबके सब काशी ही प्राप्त कराने वाले हैं; (क्योंकि) जन्तु काशी-प्राप्त होने पर ही मुक्त होता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं ॥ ४१-४२ ।

अतएव वह पवित्र क्षेत्र अतिविचित्र और ब्रह्माण्ड-मण्डल में विश्वेश्वर का नित्य ही परमप्रिय है ॥ ४३ ।

तुम उसी क्षेत्र से आ रहे हो, यही प्रश्न का कारण है, आओ, आओ, हे सुव्रत ! अपने शरीर का स्पर्शसुख मुझे दो ॥ ४४ ।

मैं तो यहाँ बैठकर काशी से आते हुए वायु के भी स्पर्श की अभिलाषा नित्य ही करता रहता हूँ; किन्तु तुम तो वहाँ से ही चले आ रहे हो ॥ ४५ ।

त्रिरात्रमपि ये काश्यां वसन्ति नियतेन्द्रियाः ।
तेषां पुनन्ति नियतं स्पृष्टाश्चरणरेणवः ॥ ४६ ।
त्वं तु तत्र कृतावासः कृतपुण्यमहोच्चयः ।
उत्तरप्रवहास्नानजातपिङ्गलमूर्धजः ॥ ४७ ।
तव तत्र तु यत्कुण्डमगस्तीश्वरसन्निधौ ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च कृतसर्वोदकक्रियः ॥ ४८ ।
पितॄन् पिण्डैः समभ्यर्च्य श्रद्धाश्राद्धविधानतः ।
कृतकृत्यो भवेज्जन्तुर्वाराणस्याः फलं लभेत् ॥ ४९ ।
इत्युक्त्वा सर्वगात्राणि स्पृष्ट्वा कुम्भोद्भवस्य च ।
स्कन्दोऽमृतसरोवारि विगाह्य सुखमाप्तवान् ॥ ५० ।
जय विश्वेश नेत्राणि विनिमील्य वदन्नपि ।
ततः किञ्चित्क्षणं दध्यौ गुहः स्थाणुसुनिश्चलः ॥ ५१ ।

पुनन्ति तृणगुल्मादीनपीति शेषः ॥ ४६ ।

तव कृतार्थतायाः किं वक्तव्यमित्याशयेनाह । **तव तत्रेति** ॥ ४८ ।

अमृतं सुधा तदेव सरोवारि सरोजलं तद्विगाह्य आलोड्य । तद्गात्रस्पर्शजनिताऽमृतसलिलेन स्नात्वेत्यर्थः ॥ ५० ।

जयेति । हे विश्वेश जय इति वदन्नपि । वदन्नितीति पाठे इति वदन् नेत्राणि विनिमील्य मुद्रयित्वा । षडाननत्वान्नेत्राणीति बहुवचनम् । किञ्चिद् वाङ्मनसयोरगोचरं यत्स्वरूपं तत्क्षणं दध्यौ चिन्तितवानित्यर्थः ॥ ५१ ।

जो लोग तीन दिन भी नियतेन्द्रिय होकर काशी में वास करते हैं, उनके चरणरेणु के स्पर्श करने से ही पवित्रता हो जाती है और तुम तो काशी में वास कर अत्यन्त पुण्य-संचय करते हुए उत्तरवाहिनी गंगा में नहाते-नहाते शिर के बालों को पीला बना डाले हो ॥ ४६-४७ ।

हे मुने ! उसी काशी में अगस्त्येश्वर के समीप जो तुम्हारा अगस्त्यकुण्ड है, उसमें जो स्नान, पान और समस्त तर्पणादिक उदकक्रिया कर श्रद्धापूर्वक श्राद्धविधि से पितरों को पिण्ड देवे, वह जन्तु कृतकृत्य हो काशी का फल प्राप्त करे ॥ ४८-४९ ।

स्कन्द इस प्रकार से कह कर कुम्भोद्भव मुनि के समग्र शरीर का स्पर्श कर अमृतसरोवर के जलावगाहन का सुख अनुभव करने लगे ॥ ५० ।

अतः पर स्वामिकार्तिकेय नेत्रों को मूंदकर "जय विश्वेश" कहकर स्थाणु के सदृश निश्चल हो कुछ क्षण ध्यान में लीन रहे ॥ ५१ ।

स्कन्दे विसर्जितध्याने सुप्रसन्नमनो मुखे।
प्रतीक्ष्य वागवसरं पप्रच्छाऽथ मुनिर्गुहम् ॥ ५२।

अगस्तिरुवाच—

स्वामिन् यथा भगवता भगवत्यै पुराऽकथि।
वाराणस्यास्तु महिमा हिमशैलभुवे मुदा ॥ ५३।
त्वया यथा समाकर्णि तदुत्सङ्गनिवासिना।
तथा कथय षड्वक्त्र तत्क्षेत्रं मेऽतिरोचते ॥ ५४।

स्कन्द उवाच—

शृणुष्व मैत्रावरुणे यथा भगवताऽकथि।
तत्क्षेत्रस्याऽविमुक्तस्य मम मातुः पुरः पुरा ॥ ५५।
श्रुतं च यत्तदुत्सङ्गे स्थितेन स्थिरचेतसा।
माहात्म्यं तच्छृणु मुने कथ्यमानं मयाऽनघ ॥ ५६।

विस्तरेण काशीमाहात्म्यं श्रोतुं पृच्छति। **स्वामिन्निति**। अतिरोचतेऽतिशयेन रुचिजननम्। अतिपावनमिति क्वचित् ॥ ५३।

उक्तानुवादपूर्वकं श्रावयति। **शृणुष्वेति**। आत्मनेपदमार्षम्। यथाऽकथि। माहात्म्यमित्यनुषज्यते। शृणुष्व शृण्वित्यन्वयभेदान्न पौनरुक्त्यम् ॥ ५५।

उसके पश्चात् स्कन्द के ध्यान छोड़ने पर उन्हें सुप्रसन्न-मनोमुख देखकर तथा बोलने का अवसर विचार कर अगस्त्य ने पूछा ॥ ५२।

अगस्त्य बोले—

स्वामिन्! स्कन्द! भगवान् महादेव ने भगवती गिरिराजकुमारी से जो वाराणसी की महिमा का वर्णन किया था और आपने माता पार्वती की गोद में बैठे-बैठे जिसे सुना था, हे षण्मुख! उसे कहिये; क्योंकि यह क्षेत्र मुझे बहुत ही रुचता है ॥ ५३-५४।

कार्तिकेय ने कहा—

हे अगस्त्य! पूर्वकाल में मेरी माता के सन्मुख भगवान् ने जो उस अविमुक्त क्षेत्र का माहात्म्य कहा था और माता की गोद में बैठकर जिसे मैंने स्थिरचित्त से सुना था, हे अनघ मुने! उसे मैं वर्णन करता हूँ, तुम श्रवण करो ॥ ५५-५६।

गुह्यानां परमं गुह्यमविमुक्तमिहेरितम् ।
तत्रसन्निहिता सिद्धिस्तत्र नित्यं स्थितो विभुः ॥ ५७ ।
भूर्लोके नैव संलग्नं तत्क्षेत्रं त्वन्तरिक्षगम् ।
अयोगिनो न वीक्षन्ते पश्यन्त्येव च योगिनः ॥ ५८ ।
यस्तत्र निवसेद् विप्र संयतात्मा समाहितः ।
त्रिकालमपि भुञ्जानो वायुभक्षसमो भवेत् ॥ ५९ ।
निमेषमात्रमपि यो ह्यविमुक्तेऽतिभक्तिभाक् ।
ब्रह्मचर्यसमायुक्तं तेन तप्तं महत्तपः ॥ ६० ।
यस्तु मासं वसेद्धीरो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
सर्वं तेन व्रतं चीर्णं दिव्यं पाशुपतं भवेत् ॥ ६१ ।
संवत्सरं वसंस्तत्र जितक्रोधो जितेन्द्रियः ।
अपरस्त्वविपुष्टाङ्गः पराऽन्नपरिवर्जकः ॥ ६२ ।

तत्राऽविमुक्ते सिद्धिः सन्निहिता। तत्र हेतुस्तत्र नित्यमिति। यत्रेति क्वचित् ॥ ५७।

ब्रह्मचर्यसमायुक्तं ब्रह्मचर्येण सम्यगायुक्तम् ॥ ६० ।

अपरस्त्वविपुष्टाङ्गः न परस्वेन विपुष्टमङ्गं यस्य सः। परस्वपरिपुष्टाङ्गः इति पाठेऽन्यत्र परस्वपरिपुष्टाङ्गोऽर्पात्यर्थः ॥ ६२ ।

इस लोक में अविमुक्त-क्षेत्र परमगुह्य कहा जाता है; क्योंकि वहाँ पर सिद्धि सन्निहित है और सर्वदेव विभु वहाँ अवस्थान करते हैं ॥ ५७ ।

वह क्षेत्र भूलोक में लगा हुआ नहीं है; किन्तु अन्तरिक्ष में स्थित है, उसे जो लोग योगी नहीं हैं, कदापि नहीं देख सकते, पर जो योगी हैं, वे तो देखते ही रहते हैं ॥ ५८ ।

हे विप्र ! जो कोई संयतात्मा होकर स्थिर-चित्त से वहाँ पर वास करता है, वह त्रिकाल भोजन करके भी वायुभोजी ऋषि के समान (होता है) ॥ ५९ ।

जो निमेष-मात्र भी ब्रह्मचर्य धारण कर भक्तिमान् हो अविमुक्त क्षेत्र में निवास करे, उसने बड़ी भारी तपस्या का अनुष्ठान किया ॥ ६० ।

जो धीर एक मास भर लघुभोजी और जितेन्द्रिय होकर रहे, वह समस्त दिव्य पाशुपतव्रत का आचरण कर चुका ॥ ६१ ।

जो क्रोध और इन्द्रियों को जीत, अपने ही धन से अपना पालन-पोषण-निर्वाह

पराऽपवादरहितः किञ्चिद्दानपरायणः ।
समाः सहस्रमन्यत्र तेन तप्तं महत्तपः ॥ ६३ ।
यावज्जीवं वसेद्यस्तु क्षेत्रमाहात्म्यविन्नरः ।
जन्ममृत्युभयं हित्वा स याति परमाङ्गतिम् ॥ ६४ ।
न योगैर्या गतिर्लभ्या जन्मान्तरशतैरपि ।
अन्यत्र हेलया साऽत्र लभ्येशस्य प्रसादतः ॥ ६५ ।
ब्रह्महा योऽभिगच्छेद्वै दैवाद्वाराणसीं पुरीम् ।
तस्य क्षेत्रस्य माहात्म्याद् ब्रह्महत्या निवर्तते ॥ ६६ ।
आ देहपतनं यावद्योऽविमुक्तं न मुञ्चति ।
न केवलं ब्रह्महत्या प्रकृतिश्च निवर्तते ॥ ६७ ।
अनन्यमानसो भूत्वा तत्क्षेत्रं यो न मुञ्चति ।
स मुञ्चति जरामृत्युं गर्भवासं सुदुःसहम् ॥ ६८ ।

प्रकृतिरविद्या ॥ ६७ ।

करता हुआ, पराये का अन्न और निन्दा को छोड़, कुछ दान देता हुआ, एकवर्षपर्य्यन्त वहाँ वास करे, उसे अन्यत्र सहस्रवर्षपर्यन्त तप करने का फल प्राप्त होवे ॥ ६२-६३ ।

जो नर क्षेत्र-महिमा को जानकर यावत् जीवन वास करे, वह जन्म और मृत्यु के भय से रहित होकर, परमगति को प्राप्त करे ॥ ६४ ।

अन्य स्थान में सौ जन्म पर्यन्त योगाभ्यास करने से भी जो गति नहीं प्राप्त होती, यहाँ पर ईश्वर के प्रसाद से वही गति अनायास ही प्राप्त होती है ॥ ६५ ।

यदि दैववश कोई ब्रह्मघाती मनुष्य भी काशीपुरी में पहुँच जाता है, तो उस क्षेत्र के प्रभाव से ब्रह्महत्या भी छूट जाती है ॥ ६६ ।

जो व्यक्ति मरणपर्यन्त काशी को नहीं छोड़ता, उसको केवल ब्रह्महत्या ही नहीं, प्रत्युत प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है ॥ ६७ ।

जो अनन्यचित्त होकर उस क्षेत्र का त्याग नहीं करता, वह जरा-मृत्यु से युक्त अतिदुःसह गर्भवास से मुक्त हो जाता है ॥ ६८ ।

अविमुक्तं निषेवेत देवर्षिगणसेवितम् ।
यदीच्छेन् मानवो धीमान्न पुनर्जननं भुवि ।। ६९ ।
अविमुक्तं न मुञ्चेत संसारभयमोचनम् ।
प्राप्य विश्वेश्वरं देवं न स भूयोऽभिजायते ।। ७० ।
कृत्वा पापसहस्राणि पिशाचत्वं वरं त्विह ।
न तु क्रतुशतप्राप्यः स्वर्गः काशीपुरीं विना ।। ७१ ।
अन्तकाले मनुष्याणां भिद्यमानेषु मर्मसु ।
वातेनातुद्यमानानां स्मृतिर्नैवोपजायते ।। ७२ ।
तत्रोत्क्रमणकाले तु साक्षाद्विश्वेश्वरः स्वयम् ।
व्याचष्टे तारकं ब्रह्म येनाऽसौ तन्मयो भवेत् ।। ७३ ।

ननु यावज्जीवं काशीवासे पापमपि स्यात्तथा च रुद्रपिशाचत्वं दुर्वारम्, यथा क्रमेलकस्य, सत्यम्, तथापि काशीप्राप्तौ तद्भोगाऽनन्तरं मुक्तेरवश्यंभावित्वात्तदपि सांध्यपक्षे निक्षिप्याह । कृत्वेति । व्यतिरेकमाह । काशीं विना क्रतुशतप्राप्यः स्वर्गः किमपि वरं न त्वित्यर्थः । स्वर्गभोगाऽनन्तरमधःपातादित्यर्थः । क्रतुशतं प्राप्य स्वर्गे इति क्वचित्पाठः ।। ७१ ।

क्षेत्रवासिनां तथा मरणे भगवतो दयालुतामाह । **तत्रोत्क्रमणकाल इति ।** तारकं प्रणवं षडक्षररराममन्त्रराजं वा ।। ७३ ।

जो बुद्धिमान् मनुष्य पृथ्वी पर पुनर्वार जन्म-ग्रहण की इच्छा न रखता हो, देव-ऋषिगणसेवित इस अविमुक्तक्षेत्र का सेवन करे ।। ६९ ।

संसार-भय-मोचन अविमुक्त को पाकर फिर कभी न छोड़े; क्योंकि विश्वेश्वर को पा जाने से ही पुनर्जन्म नहीं होता ।। ७० ।

सहस्रों पाप कर यहाँ पर पिशाच होना बहुत अच्छा है, परन्तु सैकड़ों यज्ञ के द्वारा प्राप्य स्वर्ग भी काशीपुरी के विना भला नहीं है ।। ७१ ।

अन्तकाल में जबकि मनुष्यों के मर्मस्थान फटने लगते हैं और वायु से शरीर छटपटाने लगता है, तो उस समय स्मरण-शक्ति नहीं रह जाती; परन्तु काशी में प्राण निकलने के समय साक्षात् विश्वेश्वर स्वयं तारक-ब्रह्म का उपदेश करते हैं, जिससे मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है ।। ७२-७३ ।

अशाश्वतमिदं ज्ञात्वा मानुष्यं बहुकिल्बिषम् ।
अविमुक्तं निषेवेत संसारभयनाशनम् ॥ ७४ ।
विघ्नैरालोड्यमानोऽपि योऽविमुक्तं न मुञ्चति ।
नैःश्रेयसीं श्रियं प्राप्य दुःखान्तं सोऽधिगच्छति ॥ ७५ ।
महापापौघशमनीं पुण्योपचयकारिणीम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदामन्ते को न काशीं सुधीः श्रयेत् ॥ ७६ ।
एवं ज्ञात्वा तु मेधावी नाऽविमुक्तं त्यजेन्नरः ।
अविमुक्तप्रसादेन विमुक्तो जायते यतः ॥ ७७ ।
अविमुक्तस्य माहात्म्यं षड्भिर्वक्त्रैः कथं मया ।
वक्तुं शक्यं न शक्नोति सहस्रास्योऽपि यत्परम् ॥ ७८ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे काशीखण्डे स्कन्दाऽगस्त्यदर्शनं नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ।

अन्ते अन्तकालेऽपि ॥ ७६ ।
सहस्रास्यः अनन्तः । यत्परं माहात्म्यमित्यन्वयः ॥ ७८ ।
॥ इति श्रीरामानन्दकृतायां टीकायां पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ।

अत्यन्त पापमय इस मनुष्यता को अनित्य जानकर संसारभयनाशक अविमुक्त-धाम का ही सेवन करे ॥ ७४ ।

अनेक विघ्नों में पड़कर भी जो अविमुक्तक्षेत्र को नहीं छोड़ता, वह मुक्ति-लक्ष्मी को पाकर समस्त दुःखों का अन्तलाभ करता है ॥ ७५ ।

कौन ऐसा बुद्धिमान् है, जो महापापौघनाशिनी, पुण्यवर्द्धिनी, भुक्ति-मुक्ति प्रदायिनी काशी का अन्त में आश्रयण न करे ? ॥ ७६ ।

यह विचार कर बुद्धिमान् नर काशी को कभी न छोड़े; क्योंकि अविमुक्त के ही प्रसाद से वह विमुक्त हो जाता है ॥ ७७ ।

(भला) जिस अविमुक्तक्षेत्र का माहात्म्य सहस्रमुख अनन्तदेव (शेषनाग) भी यथार्थरूप से वर्णन नहीं कर सकते, उसे मैं इन छः मुखों से कैसे कह सकता हूँ ॥ ७८ ।

लोपामुद्रा के सहित, जिमि अगस्त्य मुनि जाय ।
षण्मुख के दर्शन लह्यो, कथा कही सो गाय ॥ १ ।

॥ इति श्रीस्कन्दपुराणे चतुर्थे काशीखण्डे पूर्वार्धे भाषायां अगस्त्य-कार्तिकेय-दर्शनं नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥ २५ ।

श्लोकपादानुक्रमणिका

श्लोकपादाः	अ०	श्लो०
अकाण्डेऽपि महाभागान्	१९	८७
अकालेऽप्यथवा काले	६	६०
अकोपनोऽमल मतिः	६	५१
अक्लीबभाषिभिश्चापि	२२	५१
अक्लीबवादिनो धीराः	१०	२६
अक्षैः प्लक्षैः शल्लकीभिः	१	२९
अगस्तिवचनं श्रुत्वा	४	२
अग्निरेको द्विजातीनाम	१०	३५
अग्निशुश्रूषणरतः	१०	६१
अग्निशुश्रूषणरतः	१३	३९
अग्निष्टोमादिभिर्यज्ञैः	६	४७
अग्निहोत्ररता विप्राः	१०	२९
अग्निहोत्ररता विप्राः	१०	३०
अग्नीश्वरं समभ्यर्च्य	११	१५९
अग्नीश्वरं समाराध्य	११	१६१
अग्नीश्वरस्य भक्तानाम्	११	१५८
अग्ने गृहपते स्थित्या	११	३०
अङ्गानभ्यस्य तर्कांश्च	७	३
अङ्गारकचतुर्थ्यां तु	१७	१९
अङ्गारकचतुर्थ्यां ये	१७	१५
अङ्गारेश्वरभक्ता ये	१७	२१
अङ्गोद्वर्तनकाले या	१३	७८
अचला हिमवन्मुख्याः	७	५७
अच्छिन्ना तर्जनीं व्याप्य	११	६६
अच्छोदे सरसि स्नातुम्	१२	६४
अजाश्वमहिषीमेषीदासीकृष्णा-	७	२९
अजैकपादहिर्बुध्नमुख्या	१४	४
अज्ञात्वा शिवसामर्थ्यम्	१२	७७
अण्डजाय नमस्तुभ्यम्	२१	२८
अतः पुत्रं समीहन्ते	११	३५
अत एव पुराणेषु	३	५९
अत एव हि गोप्तव्यम्	१७	६४
अत एव हि तत्क्षेत्रम्	२५	४३
अत एव हि पाण्डित्यम्	८	४२
अतसीपुष्पसंकाशम्	१९	११९
अतस्त्वत्तो न मन्येऽहम्	१३	३३
अतिक्रम्य गुरोर्लोकम्	१७	६७
अतितीक्ष्णैर्विषाणाग्रैः	२०	४०
अतिथित्वमवाप नेत्रयोर्बुधलोकः	१५	२०
अतिमित्रं तत्र तेजः	२	१०७
अतीवजीर्णवपुषम्	२४	४२
अतीवधिषणाधीशः	१७	५५
अतीवनिष्कम्पहृदयम्	२०	७९
अत्यर्कमत्यग्नि च ते	१६	१२०
अत्र ब्रह्मपुरीं कृत्वा	२१	१२०
अत्र यात्रा महाचैत्र्याम्	१४	६१
अत्रार्थे कथयिष्येऽहम्	६	७२
अत्रिनेत्र समुद्भूतः	१५	२५
अथ कालेन तद्योषित	११	२
अथ गौरीपतिः शम्भुः	११	१४६
अथ जम्भारिणा सार्धम्	२०	८२
अथ तिष्ठन्तु कठिनाः	१९	७१
अथ त्रयोदशे मासे	१०	१२१
अथ दृष्ट्वा स सप्तर्षीन्	१९	८४
अथ देव्यब्रवीद् देवम्	१३	१५१
अथ नारायणो देवः	२०	९१
अथ पन्थानमाक्रम्य	७	४२
अथ बद्धः समागत्य	१३	१०७
अथवा किमिदं चित्रम्	११	३३
अथवा चिन्तनैरेतैः	१	७७

अथवा चिन्तया किं मे	७	१२७
अथवा मद्विधानां हि	१	६३
अथवा मुक्त्युपायो वै	७	१२५
अथवाऽम्बरकासारसारयूप-	१९	४
अथवा स कथं मेरुः	१	७४
अथवा सर्वतेजांसि	३	३१
अथ विद्याफलं तत्ते	१६	१८
अथ सूर्यशताभासम्	१	३७
अथातः स सुतारासु	११	५
अथान्तर्गर्भमालोक्य	१५	४१
अदः स्तोत्रं पठन् जन्तुः	१७	४९
अदत्तपरवस्तूनाम्	८	६६
अदम्भको निरारम्भः	६	५०
अदवीयः पदं तस्य	१९	१११
अदृष्टं तव नो दृष्टम्	१	५०
अदृष्टरूपां सुभगाम्	१४	७२
अद्य जातः पुनरहम्	५	६०
अद्य धन्यतरोऽस्मीह	८	४८
अद्य श्वो वा परश्वो वा	५	६२
अद्य सद्यः परिहृतम्	१	४६
अद्यापि नायुः पर्याप्तम्	७	१२२
अद्यास्य बलमालोक्य	१	६१
अद्यैतान् विवशान् हत्वा	१६	५१
अधिकं शीलयामास	१२	६७
अधिजातु धराजानेः	१९	१५
अधिष्ठितं सुकन्यानाम्	७	१३३
अधीत्य वेदान् विधिवत्	७	२
अधीत्याध्ययनार्थं स	१३	४७
अधीत्येमां कथां दिव्याम्	३	२
अधोक्षजात्परो धर्मः	२१	५१
अधोमुखे च नरके	८	८४
अध्रुवं सर्वमेवैतत्	२०	६५
अनङ्गलतिका चाऽपि	९	९
अनङ्गलेखया राज्ञ्या	२४	३७
अनन्त इति वादोऽयम्	२१	१२४
अनन्तरं हसिष्यन्ति	१३	६१
अनन्तरूपः पाताले	२०	६
अनन्ताय नमस्तुभ्यम्	२१	१३
अनन्यनृपभुक्तं तत्	१९	१०४
अनन्यमानसो भूत्वा	२५	६८
अनपत्योऽस्मि तेनाऽहम्	१३	८९
अनया किं तपस्तप्तम्	१३	१४९
अनर्चिताऽच्युतपदः	१९	१०९
अनलङ्कृतमात्मानम्	४	१०
अनाख्येयमिदं वृत्तम्	१७	८०
अनाथनाथः सर्वेषाम्	१	७८
अनाथस्याग्निसंस्कारम्	१०	३२
अनामयाश्चिन्तनया नयेशितुः	७	७७
अनास्वादितगोविन्द-	१९	११०
अनित्यनित्यरूपाय	२	३८
अनिलालोलकल्लोलवल्ली-	१	१२
अनुज्ञातं न शक्ताऽहम्	१९	५७
अनुत्तरं नाम तपः	१४	१७
अनुपोष्य त्रिरात्राणि	६	६४
अनुयाति न भर्तारम्	४	७१
अनुव्रजति भर्तारम्	४	५४
अनूरुवाक्यमाकर्ण्य	२	१५
अनेन तपसा वत्स	२०	६७
अनेन तपसोग्रेण	१३	८
अनेन वयसा बाल	२०	६८
अनेनसं स विज्ञाय	१७	११८
अनेनैव शरीरेण	१६	११५
अन्तकः शिक्षयत्येवम्	७	१०६
अन्तकाले मनुष्याणाम्	२५	७४
अन्तरात्मा ह्यहं साक्षात्	१०	३८
अन्त्यजा अपि ये केचित्	१२	१५
अन्धकं यस्त्रिशूलाग्रप्रोतं	११	११०
अन्धकान्धकहन्त्रोर्वै	१६	८०

अन्नाद् भवन्ति भूतानि	२१	७८
अन्यं वरं प्रयच्छामि	१६	११६
अन्यच्च ते प्रवक्ष्यावः	८	९८
अन्यच्च शृणु राजेन्द्रः	२४	६८
अन्यच्च शृणु विप्रेन्द्र	५	१०५
अन्यत्राक्षिकवृन्देभ्यः	२४	१३
अन्यथा विदधात्येष	१९	८२
अन्यानि मुक्तिक्षेत्राणि	६	७१
अन्यान् वरान् प्रयच्छामि	२१	८४
अन्या सुनीतिरूपेण	२०	५३
अन्ये तु योगिनो ये वै	२२	९
अन्येन दीयमाने स्वे	८	६९
अन्येषां द्यूतकर्माणाम्	१३	७२
अन्यैव काचित् सा सृष्टिः	२५	२५
अपयोदपयोवृष्टिः	११	१०१
अपराधसहस्रेऽपि	१७	१०४
अपरोऽपि परो धर्मः	१३	११८
अपवादं गुरोर्वक्तुः	८	६७
अपवादो न वक्तव्यः	४	३९
अपश्यन्त्यङ्कुरमपि	१०	६५
अपसृत्य ततो युद्धात्	१६	८
अपावनानि सर्वाणि	१०	३६
अपि कामातुरो जन्तुः	२२	९६
अपि काश्यां समागच्छत्	२५	४५
अपि पातकिनो ये च	२४	६४
अपि वेदं विदित्वा यः	१०	३७
अपुत्रः पुत्रमाप्नोति	२१	९३
अपुत्रत्वं वरं नृणाम्	१३	९०
अपुत्रस्य गृहं शून्यम्	११	३६
अपुत्रो लभते पुत्रम्	२३	७१
अपुनर्भवदेहास्ते	१७	११
अपृष्ट्वा तु सुतान् किञ्चित्	४	१०४
अपोऽथ समुपस्पृश्य	१९	२४
अप्सरोमुनिगन्धर्वसर्पग्रामणि-	९	३२
अब्दं जप्तमिदं स्तोत्रम्	१०	१४७
अभक्ताय च नाख्येयम्	१४	४७
अभयं ये प्रयच्छन्ति	१२	५६
अभित्वां ये करिष्यन्ति	१६	१२१
अभिरक्षाभिमतो विप्र	१६	१४
अभिलष्यन्ति ये नित्यम्	२२	९८
अभिलष्यन्निति प्राणान्	१२	४४
अभिलाषधिया नित्यम्	८	३५
अभिलाषाष्टकं पुण्यम्	१०	१४०
अभिषिच्य महेशेन	२३	५२
अमङ्गलेभ्यः सर्वेभ्यः	४	५०
अमन्दैः पिचुमन्दैश्च	१	२७
अमूर्तं यत्परं ब्रह्म	२३	२७
अमूर्तमूर्ताय सहस्रमूर्तये	२५	१२
अमृतं हि भवन्त्येव	१७	१०
अमृतायनमुत्सृज्य	२१	१०२
अम्भोभिरभिषिच्य स्वम्	११	४९
अयं पिशाचलोकोऽत्र	८	११
अयं शतमखः श्रीमान्	४	११२
अयं स शुक्रो भगवन्निततीदम्	१६	४०
अयने विषुवे चाऽपि	९	६६
अयमग्निर्गृहपतिः	११	२९
अयमेव परो धर्मः	२१	५९
अयमेव वरो नाथ	१३	१४६
अयमेव वरो नाथ	१५	६१
अयमेव सहस्राक्षः	१०	१८
अयमेव हि पिङ्गाक्षः	८	५५
अयशस्तमसा ख्यातिम्	१६	५६
अयाचितोपस्थितायाः	१०	५८
अयि तात महाबुद्धे	१९	३१
अयि द्विज महाप्राज्ञ	२२	२५
अयि पश्य वरारोहे	५	२
अयि भामिनि बालेषु	१७	१०८
अयि बाल विशालाक्ष	२१	७७

अयि विष्णुगणौ पुण्यौ	८	५
अयोध्याञ्च पुरीं गत्वा	७	४४
अयोध्यायामथावन्त्याम्	२४	६३
अरिष्टं दीपयन् दीप्त्या	११	६
अरुणोऽपि च तत्काले	५	६१
अर्कमुद्दिश्य सततम्	९	६०
अर्चिष्मती संयमिनी	१०	१७
अर्थानुपार्ज्य धर्मेण	७	६
अर्थार्थिनस्तु ये विप्र !	२२	१०१
अर्पयेद् द्यूतकाराणाम्	१३	६७
अलकायाः पतिरभूत्	१३	१२८
अलकायाः पुरो भागे	१४	१
अलक्ष्मीः कालकर्णी च	५	१०२
अलम्बुषा गुणवती	९	८
अलीकवाक्त्वमथवा	१	७५
अवगन्तुं हि शक्येत	१९	९६
अविज्ञायाऽन्यसामर्थ्यम्	५	६८
अविभज्य न चाश्नीयात्	४	१८
अविमुक्तं न मुञ्चेत्	२५	७०
अविमुक्तं निषेवेत	२५	६९
अविमुक्तं परित्यज्य	५	३०
अविमुक्तं समासाद्य	१४	२५
अविमुक्तं समासाद्य	१८	१२
अविमुक्त महाक्षेत्रे	१६	११४
अविमुक्तमिदं क्षेत्रम्	२२	८३
अविमुक्तरहस्यज्ञाः	३	६५
अविमुक्तस्य माहात्म्यम्	२५	७८
अविमुक्तान्महाक्षेत्रात्	२२	८२
अविमुक्ते कृतं कर्म	२	६३
अविमुक्ते महाक्षेत्रे	२	१०५
अविमुक्ते महाक्षेत्रे	२५	२०
अ[illegible] मां मुनिवराः	१९	८९
अवैमि त्वामपि नृप	२४	६५
अशाश्वतमिदं ज्ञात्वा	२५	७४

अश्रद्दधान पापात्मा	६	५४
अश्वत्थसेकं ये कुर्युः	१२	५०
अश्वत्थसेवा न कृता	७	२७
अश्वमेधसहस्रस्य	१०	१६
अश्वमेधादियागाश्च	७	५१
अष्टमूर्त्यष्टकेनेष्टम्	१६	११०
अष्टाग्निहोमिका तद्वत्	९	१२
अष्टादशपुराणानाम्	१	४
अष्टादशसु विद्यासु	९	४९
अष्टाधिकसहस्रैस्तु	११	१३५
अष्टोत्तराधिकशतेन सुचारुनाम्नाम्	८	१०९
अष्टौ किम्पुरुषादीनि	२२	५४
असकृच्चिन्तयामास	१०	८५
असकृद् दक्षिणेनाक्ष्णा	१३	१५२
असतां हृदि वक्त्रेषु	२	३
असमाप्तक्रतुशताः	१०	२४
असिं ह्यपस्पृश्य पुनः पुनर्मुनिः	५	४८
असिश्च वरणा चापि	१७	८
असौ वैद्याधरो लोकः	८	३२
अस्त्यगस्त्यस्तप्यमानः	२	१०४
अस्थीन्यपि स जन्तूनाम्	७	१०५
अस्नाताशी मलं भुङ्क्ते	१०	५२
अस्नात्वा चाऽप्यहुत्वा वा	१०	५१
अस्माकं मन्दभाग्यत्वात्	१४	५८
अस्माल्लिङ्गार्चनान्नित्यम्	१७	४४
अस्मिन् पुरेऽभिषिच्याऽथ	१७	६६
अस्मिँल्लोके सदाकालम्	८	३०
अस्य संसारदुःखस्य	२१	९१
अस्य स्तोत्रस्य पठनात्	१७	४६
अस्य स्तोत्रस्य पठनात्	१७	४८
अस्य स्वरूपं वक्ष्यावः	१२	१६
अस्यां प्रभञ्जनो नाम	१३	२
अस्योत्पत्तिं शृणु पतेः	१२	६२
अहं जिगमिषुस्त्वासम्	२१	९७

अहं यास्यामि सदनम्	१७	७८
अहं शतक्रतुर्विप्र	११	१३९
अहमप्यत्र वीरेशम्	१०	११६
अहमेकचरोऽप्यत्र	२५	२१
अहो किमेतया तन्व्या	१०	७५
अहो गणौ विचित्रेयम्	१५	२
अहो जनानां जडता विहाय	५	२०
अहो जना बालिशवत् किमेताम	५	१३
अहो तदङ्गसङ्गीनि	२०	२६
अहो दवाग्निदवथुः	१	६७
अहो न मत्तो धन्योऽस्ति	११	१२१
अहो नाहस्कराभावात्	२	२१
अहो निजगुणस्पर्शः	२०	२८
अहो पुंसां महामोहः	२१	४९
अहो बलीयान् स विधिः	१३	६४
अहो मतेः सुदौर्बल्यम्	२५	२६
अहोरात्रं वसिष्यामि	१४	४३
अहो रूपमहो तेजः	११	३२
अहो वैश्वेश्वरे क्षेत्रे	२	६४
आ कचग्रहणान्नाहम्	१७	८१
आकर्णपूर्णनेत्रश्च	१०	१२३
आकर्णय महाप्राज्ञ	१०	४३
आकर्णय महाभाग	१२	२
आकर्णय वरारोहे	६	१९
आकर्ण्य तत्करुणवत्	११	९३
आकारगोपनं कृत्वा	२४	३६
आकाशरूपबहिरन्तरुतावकाश	१६	१०६
आक्रुष्टाऽपि न चाक्रोशेत्	४	१२
आखुश्चाखुभुजः कर्णम्	३	४१
आगच्छ पादयोरस्याः	१३	१५८
आगत्य दृष्ट्वा मणिकर्णिकायाम्	७	७२
आचख्यातामिदं देवौ	१६	५
आच्छादयामि ते नित्यम्	१३	५१
आच्छिन्नं हि धनुर्बाणम्	१२	४३
आजौ प्रवर्त्तमानाय	१६	७
आज्ञातं कारणं तच्च	५	९
आज्ञातं न भवेदन्यत्	११	१२९
आज्ञातं विस्मृतं तावत्	१०	९८
आतपत्रं च चन्द्राभम्	१९	३६
आताडयैनं दुर्वृत्तम्	८	५८
आत्मघातो न कर्तव्यः	१२	१३
आत्मस्वरूप तव रूपपरम्पराभिः	१६	१०८
आत्मावबोधमहसः	११	१२३
आदायादाय बहुशः	१३	४१
आदित्यस्य हि तद्रूपम	१७	७१
आदित्याः वसवो रुद्राः	५	७
आ देहपतनं यावत्	२५	६७
आद्यं भगवतः स्थानम्	२०	२
आधिपत्यकमलातिचञ्चला	१५	३६
आधिपत्यमदमोहितम्	१५	३३
आनन्दपयसापूर्य	१९	६२
आनयैनं पातयैनम्	८	५७
आनीय तृणदारूणि	२०	५१
आपःपतिव्रतास्पर्शम्	४	६५
आपस्तम्बो याज्ञवल्क्य-	११	१९
आपृच्छ्य सर्वान् समुनीन् मुनीश्वरः	५	४५
आप्तभावेन न वयम्	१६	१३
आप्लुत्याप्लुत्य दुर्दृष्टम्	८	७५
आबद्धमुकुटं रम्यम्	२३	५१
आयुर्वेदं विचार्यापि	७	४
आराधितं सदा पुंसाम्	१२	९८
आराधितोऽनुदिवसम्	२०	३०
आराध्य विष्णुं देवेशम्	२०	८९
आराध्य श्रीमहादेवम्	२१	८१
आरुरुक्षुमवेक्ष्याऽमुम	१९	११
आरोग्यशालां यः कुर्यात्	२	७२
आर्यपुत्रार्यधिषण	१०	६६
आलस्येनाऽपि यो यायात्	३	८६

आलोक्यालोक्य तल्लिङ्गम्	११	१२०
आवयोस्तापनाशाय	११	१०३
आवर्षं प्रतिशुक्रं ये	१६	१२५
आवश्येषु सदोद्युक्ता:	१२	१०
आवाहनार्घ्यरहितम्	१४	५२
आविर्भावतिरोभावौ	९	३८
आविरासीन्महादेव:	१२	९१
आवैराजं प्रतिपदम्	२२	२७
आश्चर्यरूपे प्रथमेश्वराणाम्	१६	२८
आसीत्काम्पिल्य नगरे	१३	३७
आस्तां दूरेऽस्य कर्माणि	१३	१११
आहूता गृहकार्याणि	४	१३
आहूता वस्त्रवदना:	१२	७
आहूय पूर्वं ब्रह्मादीन्	२३	४२
आह्लादकारिण: शुभ्रा:	२२	४१
इक्षुक्षेत्राणि संकल्प्य	१२	५३
इच्छाशक्ति: क्रियाशक्ति:	२३	६१
इज्यार्थमत्र य: कुर्यात्	२१	११९
इति कृत्वा मतिं धीर:	१०	११७
इति कृत्स्नं समाकर्ण्य	३	४
इति गन्धवतीपुर्या:	१३	३१
इति चिन्तयतस्तस्य	१३	९८
इति चिन्तामहाभारम्	१	८६
इति ज्ञात्वा शिवे कार्यम्	१३	१२९
इति तद्द्रयतो दीप्ता:	१३	१२६
इति तद्वचनं श्रुत्वा	१३	१४७
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य	१२	३९
इति तस्य वच: श्रुत्वा	११	१४४
इति तस्या वच: श्रुत्वा	१०	७४
इति तिष्ठति पिङ्गाक्षे	१२	२५
इति ते कथिता विप्र	२३	६७
इति तेन च नुन्नस्त्वम्	२४	५४
इति त्वयि स्थिते जोषम्	२४	५३
इति दत्त्वा वरान् देव:	१३	१६४

इति दत्त्वा वरान् देव:	१७	६५
इति दत्त्वा वरान् शम्भु:	१४	७३
इति दत्त्वा वरान् शम्भु:	१७	५२
इति देवीगिरं श्रुत्वा	१३	१५३
इति द्विजवच: श्रुत्वा	१८	६
इति नाम ददौ तस्मै	११	२८
इति निश्चित्य निर्वाण	७	४१
इति निश्चित्य विन्ध्याद्रि:	१	८१
इति पुत्रं समाश्वास्य	१७	१०७
इति ब्रुवाणा गीर्वाणा:	३	९९
इति मन्त्रं समुच्चार्य	२	८६
इति रूढिमिह प्राप्ता:	१३	५३
इति लब्ध्वा वरं सोऽथ	५	१०९
इति विज्ञापितो देवै:	२०	८६
इति विन्ध्यवच: श्रुत्वा	१	५९
इति व्याकुलिते लोके	२	२८
इति शृण्वन् कथां रम्याम्	८	११२
इति शृण्वन् कथां रम्याम्	१८	१
इति शृण्वन् क्षणात् प्राप	८	३१
इति शृण्वन् मुखात्तासाम्	१८	५
इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यम्	४	११९
इति श्रुत्वाऽथ तद्वाक्यम्	१३	७९
इति श्रुत्वाऽथ पिङ्गाक्ष:	१२	३६
इति श्रुत्वाऽथ स मुनि:	५	९७
इति श्रुत्वा नरपते:	२४	४९
इति श्रुत्वा महेशान:	१२	९३
इति श्रुत्वा वच: पत्यु:	१०	७२
इति श्रुत्वा वच: सोऽथ	१५	५३
इति श्रुत्वा वचस्तस्य	१०	१३७
इति श्रुत्वा वचस्तस्य	११	१००
इति श्रुत्वा वचस्तस्य	१९	२९
इति श्रुत्वा वचस्तस्य	१९	१०८
इति श्रुत्वा स वचनम्	८	९
इति श्रोतुं मम मन:	१३	३४

इति संहृष्टतनूरुहः स विप्रः	२४	८५
इति सर्वं मम पुरः	२३	९
इति स्तुतो महादेवः	१६	१११
इति स्तुत्वा भगवतीम्	५	८८
इति स्तुत्वा महादेवम्	१७	४२
इति स्तुत्वा महाभागाम्	४	१०८
इति स्तुत्वा विधिं देवाः	२	४२
इति स्तुवन्तस्त्वन्योऽन्यम्	११	३४
इत्थं कथयतोरेव	१७	२२
इत्थं कथां कथयतोः	२२	७
इत्थं तद्वाक्य माकर्ण्य	१३	११५
इत्थं द्विजेन्द्र निजभृत्यगणान्	८	११०
इत्थं परिष्टुत्य च कार्तिकेयम्	२५	१८
इत्थं भवित्री ते मुक्तिः	२४	८४
इत्थं यावद्द्विजो ब्रूते	२२	२
इत्थं विलप्य बहुशः स	५	५०
इत्थं विलप्य बहुशः	११	९२
इत्थं सखित्वं श्रीशम्भोः	१३	१६५
इत्थं सधर्मिणि ! कथाम्	१६	१३०
इत्थं सुनिश्चित्य मुनिर्महात्मा	५	३१
इत्थमग्निस्वरूपं ते	११	१६३
इत्थमस्य स्वरूपं ते	१२	४६
इत्थमाज्ञापयामास	१३	१२४
इत्थमाश्वास्य तां पत्नीम्	१०	७८
इत्यनुज्ञामनुप्राप्य	१९	७२
इत्यन्धकवचः श्रुत्वा	१६	१९
इत्यन्धकवचः श्रुत्वा	१६	५३
इत्यष्टमूर्तिभिरिमाभिरुमाभिवन्द्य	१६	१०९
इत्याकर्ण्य सुनीत्यास्तत्	१९	५१
इत्यादिगुणवद्देशे	२४	२२
इत्यादि जल्पन् दुर्वृत्तैः	८	९०
इत्यादिश्य सवर्णां सा	१७	८२
इत्यादिषु तपः क्लिष्ट-	२२	२१
इत्याद्यैस्तु गणैरुग्रैः	१६	७०

इत्यानन्दामृतरसैः	११	१३२
इत्याशामवलम्ब्याऽथ	१३	१०१
इत्याश्चर्यपरा देवाः	३	६६
इत्याश्रमचरान् दृष्ट्वा	३	६२
इत्युक्तवति देवेशः	१३	२५
इत्युक्तो मुनिना बालः	११	५४
इत्युक्त्वा तं महीपालम्	२४	८२
इत्युक्त्वा तार्क्ष्यमारोप्य	२१	१११
इत्युक्त्वा दक्षिणामाशाम्	५	५८
इत्युक्त्वा दानवपतिम्	१६	२४
इत्युक्त्वान्तर्दधे वेधाः	२	१०८
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे शम्भुः	१२	१०१
इत्युक्त्वाऽन्तर्हिताः सर्वे	१९	१२४
इत्युक्त्वा भगवान् शम्भुः	१५	६५
इत्युक्त्वा मुनिपत्नीं ताम्	५	९२
इत्युक्त्वा विररामाऽसौ	२१	७६
इत्युक्त्वा सत्कृतास्ते वै	२३	४
इत्युक्त्वा सर्वगात्राणि	२५	५०
इत्युद्देशात् समाख्याता	१०	२७
इत्युद्देशान्मया ख्याता	२	१०२
इत्येकदेशः कथितः	९	९२
इत्येवमुक्तः प्रथमेश्वरेण	१६	३३
इत्येवमुक्तो देवेन	१६	७८
इदं चराचरं विश्वम्	२०	११
इदं तु परमाख्यानम्	२३	६८
इदं पतिव्रतं तेजः	४	११०
इदं पुण्यतमाख्यानम्	२	११३
इदं पुण्यतमाख्यानम्	३	१०६
इदं बीजरहस्यं मे	५	१०४
इदं रम्यमिदं नेति	२१	१००
इदं वनमनुप्राप्तम्	१९	९०
इदं वरुणलोकस्य	१२	१०२
इदं श्रेयस्त्विदं श्रेयः	१०	४८
इदं स्तोत्रवरं यस्तु	२१	८५

इदमेव तपोऽत्युग्रम्	११	५१
इदमेव व्रतं स्त्रीणाम्	४	३०
इदमेव हि तत्क्षेत्रम्	२५	४४
इदानीमेव तपसि	२०	७२
इदानीमेव पक्वान्नकरण-	१३	८१
इन्द्रचन्द्राग्निवरुणसमीरण-	२०	२३
इमं पतिव्रताध्यायम्	४	१२१
इमां गन्धवतीं पुण्याम्	१३	१
इमां विद्यां न जानाति	१६	३
इमां स्त्रियं श्लेषयाशु	८	८८
इमामर्चिष्मतीं पश्य	१०	२८
इयं वेणी हि निःश्रेणी	७	६५
इयमेव परा हानिः	२१	५२
इषीकास्तम्बमासाद्य	१५	४२
इष्टगन्धप्रसूनौघैः	११	८
इह वंशं परिस्थाप्य	२	११४
ईशानेशप्रसादेन	१४	७
ईश्वरानुग्रहादेव	२५	२४
उक्ता प्रत्युत्तरं दद्यात्	४	३६
उक्त्वेति विररामाऽजः	२२	११४
उग्रास्य ! शिशुहन्तारम्	८	७२
उच्चासनं न सेवेत	४	३८
उज्जीवितांस्तु तान् दृष्ट्वा	१६	२६
उडुमण्डलतः सौम्य	२३	१४
उत्तरांश्च कुरुन् प्राप्य	१७	९४
उत्तरे कृत्तिवासस्य	२४	८१
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते	५	८९
उत्करासन गुल्फस्फिक्	११	६९
उत्त्रासितमहामृत्युम्	२३	३६
उत्पाद्याथ बहून् पुत्रान्	२०	७१
उत्फुल्लपद्मनयना	२	११०
उत्सृजन्तमिवार्घ्यं वै	१	३६
उदुम्बरैरम्बरगैः	१	१६
उद्दण्डैश्चापि शेहुण्डैः	१	२८

उन्मील्य नयने यावत्	१३	१४३
उन्मील्य नेत्रकमले	११	१४७
उन्मील्य लोचने यावत्	१५	५४
उपकर्तुरगस्त्यस्य	६	८
उपगम्य विनम्रांशः	१९	८८
उपरागसमं पर्व	१७	१७
उपरिष्टान्मृगाङ्कस्य	१५	१७
उपलभ्य च सावित्रीम्	९	४१
उपविश्य समीपे ते	२४	४४
उपस्थितोऽयं कल्याणि	५	११
उपाकर्म ततः कृत्वा	११	४२
उपानत्पादुकाभिश्च	३	१३
उपायत्रयमेवाऽत्र	२५	३४
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्	१४	५१
उपोपवेश्य शिशुकम्	१९	९२
उपोष्य च चतुर्दश्याम्	१४	५०
उपोष्य भूतां यां काञ्चित्	१४	१२
उपोष्य रजनीमेकाम्	७	४०
उभाभ्यां शिवशक्तिभ्याम्	१३	१७
उमया सहितं रुद्रम्	१४	३४
उर्वशी मेनका रम्भा	९	७
उलूकाकारतां धृत्वा	२०	४८
उवाच च प्रसन्नात्मा	१५	५१
उवाच च प्रसन्नात्मा	१८	३
उवाच च वचश्चाटु	२०	५४
उवाच दशनज्योत्स्ना	१६	११२
उवाच देवदेवेशम्	१३	१४५
उवाच मधुरं धीरः	११	१४०
उवाच वचनं पत्नीम्	६	१२
उवाच स प्रसन्नात्मा	१३	७
उवाच स विरूपाक्षः	१६	९८
उशीनरः सुधन्वा च	८	९५
ऊनविंशतिकोऽसि त्वम्	१३	५५
ऊर्जे यवान्नमश्नीयात्	४	८८

ऊर्ध्वकेशोऽतिकृष्णाङ्गः	८	५६
ऊर्ध्वदोषो रविदृशः	२२	१६
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य	१४	१८
ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः	११	७५
ऋणापनुत्तये मातुः	७	१७
ऋष्यशृङ्गोऽथ दुर्वासा	११	२१
एकं ब्रह्मैवाद्वितीयं समस्तम्	१०	१२६
एकं मे प्रार्थितं नाथ	१०	६९
एकः कर्ता त्वं हि सर्वस्य	१०	१२७
एक एव किलोपायः	२०	३५
एकचक्ररथो मित्रः	९	८२
एकतः सर्वदानानि	४	९३
एकतः सर्वमांसानि	३	५६
एकतस्तिमिरान्नैशात्	२	२७
एकभक्तव्रती तत्र	१७	२०
एकमेव हि जानन्ति	८	१८
एकमेव हि साहाय्यम्	१९	५५
एका क्रिया द्व्यर्थकरी	२	११२
एकाहारः सदा कार्यः	४	७५
एकाहारोऽभवन्मासम्	१०	११८
एतत्ते कथितं देवि	६	४२
एतत्पुण्यतमाख्यानम्	२४	८९
एतत्स्तोत्रस्य पठनम्	१०	१४१
एतत्स्थैर्येण सर्वेषाम्	१०	२०
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुम्	९	३५
एतदुक्त्वा महेशानः	१४	४०
एतदेव करिष्यामि	१	७९
एतया विद्यया सोऽहम्	१६	२२
एतस्मिन्नप्सरोलोके	९	१३
एतस्य गल्लावुत्फुलौ	८	५९
एतां संवृणु सद्वृत्ताम्	१३	५६
एतानि यानि प्रोक्तानि	२५	४२
एतान्यन्यानि रम्याणि	२२	४७
एता वारविलासिन्यः	९	२
एते चान्ये च बहवः	८	१७
एते वेदा मूर्तिधराः	२	४९
एतेषां तपसा चैतत्	१८	१०
एतैरपि तपस्तप्तम्	१४	६
एलालवङ्गमरिचकुलुञ्जनवना-	१	३०
एवं कुर्वन्नरो जातु	९	९०
एवं चिन्तयतस्तस्य	७	१३०
एवं ज्ञात्वा तु मेधावी	२५	७७
एवं धर्मसमायुक्ता	४	१०५
एवं निष्कलुषीभूय	२२	६९
एवं बहुतिथे काले	१०	६४
एवं वर्षद्वयं तस्य	११	१३७
एवंविधैश्च विधवा	४	१०२
एवं व्रते कृते काश्याम्	१४	६०
एवं शनैश्चरे यज्ञे	१७	१२५
एवमस्तु मुने सर्वम्	५	१०१
एवमादिभिरुद्दण्डैः	३	२५
एवमाराध्य भूतेशम्	७	१००
एषामन्यतमः कार्यः	११	३९
एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः	९	६१
ऐरावतो दन्तिवरः	१०	१२
ऐहिकामुष्मिकान् भोगान्	२	४६
ओषधीनां सुधायाश्च	१५	१५
औत्तानपादिर्निर्गत्य	२०	१
औरसः क्षेत्रजः क्रीतः	११	३८
औषधान्यपि यच्छन्ति	८	३३
औषधेष्वेव यत्राऽस्ति	२४	१५
कः एष लोकोऽल्पश्रीकः	८	१०
कः कामेन न निर्जितस्त्रि-	१५	३५
कः समुच्चलितं चेतः	७	८९
कण्डूयमाना वरटा	३	६८
कथं न भवती मातः	१९	२६
कथं नाज्ञायि तनयः	१३	७५
कथं नृपासनं योग्यम्	१९	२८

कथं भुनक्ति न दिवा	१	६६
कथं विन्ध्योऽप्यवाप स्वाम्	३	३
कदम्बवादिनो नीपान्	१	१८
कदाचित्तत्पितृव्येण	१२	२६
कदाचिदुपविष्टः सन्	२४	२८
कदाचिन्नारदः श्रीमान्	१	५
कनिष्ठेष्वधिकं दृष्ट्वा	१७	९८
कन्यारूपधरा काचित्	९	२६
कन्याविवाहसमये	४	५२
कपर्देन विराजन्तम्	११	१४९
कमठीपृष्ठकठिनावकर्मकरणौ	११	६५
कम्पः सात्त्विकभावोत्थः	२४	१६
कम्बलानि विचित्राणि	४	९९
कयाचिज्जलदेव्याऽथ	१२	७४
करताडितपानीयशब्ददिङ्मुख-	१२	७२
करमर्दकैः करीरैश्च	१	२१
करवीरादिकुसुमैः	९	८७
करिकर्णाग्रचपलम्	६	९
कर्कन्धुबन्धुजीवैश्च	१	२४
कर्णवेधं ततः कृत्वा	११	४१
कर्तव्यमृषिभिर्दृष्टम्	६	५९
कर्ता कारयिता शम्भुः	२४	५२
कर्दमोऽपि च तत्कालम्	१२	८८
कर्मभूमि समीहन्ते	२२	३६
कलकण्ठः किलोत्कण्ठम्	३	७०
कलशेन विचित्रे ह्युपरिष्टात्	२३	४५
कलाः पुंस्कोकिलालापाः	२२	४५
कलासु च कृताभ्यासः	७	५
कलिङ्गाराजो भविता	१३	१२०
कलेवरं पूतिगन्धि	८	४१
कलौ चन्द्रेशमहिमा	१४	६३
कल्पवृक्षोऽङ्गणे यस्य	५	४
कल्पायुषो वसन्त्यत्र	२२	५
कल्पे कल्पेऽखिलं विश्वम्	७	९१
कश्चिच्च महिषाकारः	२०	४२
कश्चिद्दावानलालीढखर्जूरद्रुम-	२०	४३
कश्चिच्छैलो विन्ध्यनामा	४	११७
कश्चिद्धि पन्नगीभूय	२०	४१
कस्य पुण्यनिधेर्लोकः	१७	२
कस्य लोकोऽयमतुलः	१५	२१
का इमा रूपलावण्य-	९	१
काञ्चनारैः कुरुबकैः	१६	८९
काञ्चयवन्ती द्वारवती	२३	७
कामं दृष्टिनिपातेन	११	१११
कामं क्रोधं मदं मोहम्	२५	३४
कामकेलिकलाऽभिज्ञाः	९	३
कामरूपधरो देवः	९	२५
कारुण्यवाष्पनीरार्द्रपुण्डरीक-	२०	१०१
कार्तिकस्य चतुर्दश्याम्	२१	११०
कार्तिके मौननियमे	४	९०
कार्तिके वर्जयेत्तैलम्	४	८९
कार्मुकाणां विकृष्टानाम्	१६	६१
कालकूटे च गरदम्	८	७९
कालञ्जरं प्रभासश्च	६	२४
कलात् पराय कालाय	२	३३
कालेन भङ्गमापन्नम्	२१	११६
काले फलन्त्योषधयः	९	४४
कावेरी गौतमीजङ्गाम्	२	१०
काव्ये निगीर्णे गिरिजेश्वरेण	१६	४२
काशीं प्रकाशीकृतपुण्यराशिम्	५	१६
काशी कान्ती च मायाख्या	६	६८
काशीति काचिदबला	७	६६
काशी द्विजाशीर्भिरहो यदाप्ता	५	१२
काशीमिदानीं यास्यामि	२१	१०९
काशीस्थैः पतितैस्तुल्याः	३	७६
काश्यां धर्मस्तच्चतुष्पादरूपः	३	९७
काश्यां बुधेश्वरसमर्चनलब्धबुद्धिः	१५	६६
काश्यामेतानी लिङ्गानि	१८	२२

किं करोमि क्व गच्छामि	१	७२	कूपः कालोदको नाम	२४	७४
किं किं न सविता सूते	९	४७	कूपवापीतडागानाम्	१२	४७
किं कुर्वन्ति हि शास्त्राणि	७	८८	कूपवापीतडागानि शक्त्या	२१	११८
किं दानैः किं तपोभिश्च	१६	५७	कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि	७	३३
किं देवता अहह जन्म	११	८८	कृतकूपोदकस्नानः	२४	५७
किं न श्रुतं त्वया तात	११	१०५	कृतपारणको हृष्टः	६	५७
किं बहूक्तेन कुलजे	१३	८८	कृतप्रणाममालिङ्ग्य	१२	८६
किं बहूक्तेन विप्रेन्द्र	२२	७९	कृतापनयनः सोऽथ	१३	४०
किं वक्तुकामः देवि त्वम्	६	१६	कृत्वा पापसहस्राणि	२५	७१
किं वा प्रतिव्यतीपातम्	९	२४	कृत्वा बालोचितां रक्षाम्	११	३१
किञ्चित्परिम्लानमिव	१९	२१	कृत्वा महान्ति पुण्यानि	२१	१२३
किञ्चिदभ्युदिते सूर्ये	४	९४	कृत्वा मासोपवासानि	९	२५
किञ्चिद्विज्ञप्तुमिच्छामि	६	१५	कृत्वा व्रतानि साङ्गानि	९	१७
किन्तु सर्वगुणोपेतम्	११	७६	कृपाणपाणिर्भग्नास्यः	२०	४५
किमदेयं हि सुश्रोणि	१०	७०	कृपालवे नमस्तुभ्यम्	१५	५७
किमन्यैर्गुणसम्भारैः	१५	२८	कृमयो मांसमादाय	१७	१०६
किमस्माभिरहो कार्यम्	१९	१०१	कृष्टिभिर्हृष्टपुष्टैश्च	२४	४
किमहं मन्दभागीव	७	१२८	कैकी केकां परित्यज्य	३	७१
किमेभिश्चिन्तनैर्व्यर्थैः	७	१२४	केचिच्चतुर्युगं यावत्	२१	८२
कियद्दूरं वयं प्राप्ताः	२३	६	केचिद्चुर्हरिद्वारम्	७	११४
कीर्तिरुच्चैःश्रवा यस्य	१०	११	केदारेशं तु कामेशम्	१०	८७
कुछिं हित्वा किमवसः	१९	१६	के देशाः काश्च सरितः	२०	६४
कुञ्जरा इव सिंहेभ्यः	१६	१०	के न पश्यन्त्यमुं लोकम्	८	५३
कुतस्त्वच्छोटकः पत्नि	१३	८४	केशवाय नमस्तुभ्यम्	२१	२६
कुतो जलानामधिप	१२	७६	केशसंस्कारकबरी	४	२५
कुमारत्वेऽपि सामान्ये	१९	२७	कैलासस्यैकशकलम्	२५	७
कुरुक्षेत्रं हि सर्वेषाम्	२२	५७	कैश्चित्सार्धं विरोधो न	१	८२
कुर्वञ्छ्राद्धं च तीर्थेऽस्मिन्	१४	५४	कोऽयं कृशानुः कस्यायम्	१०	४२
कुलधर्मं व्यपास्यैषः	१२	४०	कोऽयं कोऽयं त्वरापन्नः	१३	१०५
कुलाचारप्रतीपोऽयम्	१३	११०	कोऽयं कोऽयं दुराचारः	१२	३८
कुविन्दा न च सन्त्यत्र	१०	८	कोऽसौ कस्य पुनः कीदृग्	१३	३३
कुशप्रतिकृतिं कृत्वा	६	४६	कोऽसौ शुक्र इति ख्यातः	१६	४
कुशाग्रनीरविप्रूषस्तृप्तिताः	२२	१५	कोकिलः कोमलालापैः	३	७३
कुसुमानि सुगन्धीनि	९	२०	कौस्तुभोद्भासितहृदः	२०	३१

क्रतूनामश्वमेधोऽसि	२१	३८
क्रमाद्राज्यमवाप्याऽथ	१३	१२२
क्रियन्ते व्याकुलाः शैलाः	५	५
क्रूरदृग् वीक्षते यावत्	१३	१५०
क्रोडीकृत्य क्रोडपोतं तरक्षुः	३	३७
क्लीबं वा दुरवस्थं वा	४	३१
क्व काशिका विश्वपदप्रकाशिका	५	१५
क्व क्षेत्रं क्व कलत्रं मे	७	१२१
क्वचिच्चलदलैरुच्चैः	१	२३
क्वचित्तिष्ठन् क्वचिज्जल्पन्	५	७२
क्वणत्कङ्कणपात्राणि	११	१२
क्व दाक्षिणात्यं तत्कांस्यम्	१३	८६
क्व द्व्यक्षरं हरेर्नाम	२१	७०
क्व मांसं क्व शिवे भक्तिः	३	६०
क्व राजतनयो बालः	१९	८०
क्व सा पर्वतदेशीया	१३	८७
क्षणं स्थगितवत्तस्थौ	११	१५१
क्षणादिकालरूपाय	२१	१८
क्षत्रियान् धर्मनिरतान्	६	७४
क्षात्रमेव शशंसुस्तद्	१९	१००
क्षालितं मुक्तिपुर्यद्भिः	८	४०
क्षीयन्ते शलिलान्यब्धेः	२१	१२१
क्षीरोदमथनोद् भूतम्	११	१०७
क्षुद्राभिर्माधवीभिश्च	१६	८६
क्षुधान्तोऽपि न गृह्णाति	३	४४
क्षेत्रं पवित्रं हि यथा	५	२४
क्षेत्रं प्रजायते पुण्यम्	७	४४
क्षेत्रमेतत् त्रिशूलाग्रे	२२	८५
क्षेमोऽस्ति कुम्भजमुने	२५	१९
खट्वाङ्गैः पट्टिशैः शूलैः	१६	६०
खपुरैः खपुराकारम्	१	९
गङ्गा त्रिकालं परिसेविता मया	५	४१
गङ्गादित्योऽस्ति तत्राऽन्यः	५	१०१
गङ्गाधरान्धकरिपो हर नीलकण्ठ	८	१००
गङ्गास्नानफलं त्वेतत्	४	१०७
गच्छन् यदृच्छया सोऽथ	६	११
गच्छाहल्यापतेऽसाधो	११	१४३
गजवाजिमहारावस्फुटच्छब्द-	१६	६४
गणका नात्र विद्यन्ते	१०	९
गणावसौ द्विजो धीमान्	२२	२४
गणेन तेन विज्ञाय	१२	८१
गणौ त्वदीयौ किल सम्भ्रमोद्-	५	३७
गणौ यावत्कथामित्थम्	१५	६८
गते तस्मिन् मुनिवरे	५	५९
गते बहुतिथे काले	२	१९
गते मुनौ निनिन्द स्वम्	१	६४
गन्धर्वोरगयक्षाणाम्	११	१६
गयातीर्थं च यत्प्रोक्तम्	६	२७
गर्जत्कादम्बिनीजालम्	२०	८१
गलन्मधूककुसुमैः	१	२५
गवयः शल्यकश्चायम्	३	४८
गवां शुश्रूषका ये च	२	९३
गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति	२	८५
गवां स्तुत्वा नमस्कृत्य	२	८१
गवाह्निकञ्च नो दत्तम्	७	३४
गान्धर्वस्त्वेष लोकोऽमी	८	२१
गायत्रीजाप्यनिरताः	२	५६
गायत्रीमन्त्रतोयाढ्याम्	९	४६
गायत्री वेदजननी	९	५३
गायत्र्येव परं विष्णुः	९	५८
गायन्ती सुस्वरं याता	१०	१११
गावः पवित्रमतुलम्	२	७७
गावो मे पुरतः सन्तु	२	८८
गिरिं प्रदक्षिणीकृत्य	२५	२
गिरिः खर्वतरो भूत्वा	५	५६
गिरिश्चतुरशीत्यायम्	६	१४
गीतज्ञा अतिगीतेन	८	२२
गीतज्ञो यदि गीतेन	८	२९

गीतविद्याप्रभावेण	८	२६	घण्टागडुककुम्भादि	३	२३
गुणागुणं विचार्येत्थम्	१०	६०	घर्मरश्मिर्दुर्निरीक्ष्यः	९	८४
गुरुं सर्वसुरेन्द्राणाम्	१७	५४	घातयेद् दूरसंस्थोऽपि	१२	१८
गुरुपुष्यसमायोगे	१७	६०	घृतकम्बलपूजाभिः	४	१००
गुरुपूजां व्यधुः सर्वे	१७	५७	घृतपक्वैः समरिचैः	४	९६
गुर्वङ्गनागमनजम्	१७	६३	चकम्पे चाचलस्तूर्णम्	५	५४
गुह्यकानामयं लोकः	८	१५	चकाराभ्यधिकं स्नेहम्	१७	९७
गुह्यानां परमं गुह्यम्	२५	५७	चतुर्णामपि वर्णानाम्	७	१०४
गृहस्थः स हि विज्ञेयः	४	६९	चतुर्णामप्याश्रमाणाम्	१०	४७
गृहाणेमं स्वतनयम्	१२	८२	चतुर्दशसु विद्यासु	२	१००
गृहानायान्तमालोक्य	१	४१	चतुर्षु भूतग्रामेषु	२२	२८
गृहीतार्घ्यं किल श्रान्तम्	१	४५	चतुष्कोटिप्रमाणस्तु	२३	२०
गृहे गृहे न किं नार्यः	४	६६	चन्द्रकान्तशिलाजालश्रुतमात्रा-	१०	७
गृहेऽपि शिष्यान् पश्यैतान्	१३	५९	चन्द्रेश्वरं समभ्यर्च्य	१४	६२
गृह्योक्तेन विधानेन	१३	४९	चन्देश्वरसमुत्पत्तिम्	१४	७६
गोकर्णो भृगुकच्छश्च	६	२५	चन्द्रेश्वरात्पूर्वभागे	१५	६७
गोतिलांश्च तुरङ्गांश्च	८	८२	चन्द्रेश्वराद्दक्षिणतः	१७	६२
गोदावरीतटं रम्यम्	५	६९	चन्देश्वरे कृतं सर्वम्	१४	४६
गोपनीयं प्रयत्नेन	१०	१४६	चपलानि विनिर्जित्य	२२	२९
गोपीपते यदुपते वसुदेवसूनो	८	१०७	चमत्कृत्य चमत्कृत्य	१४	१४
गोपीप्रियाय केशिघ्ने	२१	१६	चरणौ विष्णुशरणौ	२०	१६
गोपीमृत्तुलसीशङ्खः	२१	६८	चराचरस्य सर्वस्य	२२	९१
गोभिर्विप्रैश्च वेदैश्च	२	९०	चर्मास्थिसञ्चयेनाहम्	७	१२९
गोमयं यमुना साक्षात्	२	८४	चलत्पुच्छोऽथ पिबति	३	३८
गोरसानां प्रदातारः	१२	५४	चापोऽसि सर्वशास्त्राणाम्	२१	३६
गोविन्दं परमानन्दम्	२१	७१	चित्तमन्तर्गतं दुष्टम्	६	३८
गोविन्दचरणार्थार्चाम्	२०	१४	चित्रं पुत्र त्वरयति	१९	७०
गोविन्द माधव मुकुन्द हरे	८	९९	चित्रगुप्तादयः सर्वे	२	२५
गौरीगुरुत्वाद्धिमवान्	१	५३	चित्रध्वजपताकाभिः	३	१२
ग्रावदावा तपोद्वेष्टी	३	१०	चित्रभानुरयं साक्षात्	१०	४०
ग्रीवाजङ्घामेहनैश्च	११	६०	चिन्ताज्वरो मनुष्याणाम्	१	६९
ग्रीष्मे पञ्चाग्नितपसः	२२	१४	चिन्तामवाप महतीम्	१३	९३
ग्रीष्मोष्महन्तिमायूरपिच्छादि-	१२	५१	चिन्तामवाप महतीम्	१७	८५
घट्टान् पुण्यतटिन्यादेः	१२	५९	चिन्तार्णवे निमग्नोऽभूत	७	१२०

चैत्रहन्त्रे नमस्तुभ्यम्	२१	१४
छत्राच्छादनिकाद्यर्थे	३	१७
छत्रोपानत्कुण्डिकाश्च	७	१८
छिद्रान्वेषी भ्रमन् सोऽथ	१६	७२
जगाम काशीं निर्वाणराशिम्	१५	४८
जग्राह नियमान् घोरान्	११	१३३
जटाटवीकोटरान्त:	२२	१९
जठराग्निविवृद्ध्यै य:	१०	३३
जठरान्निर्गते शुक्रे	१६	७७
जनयित्रि सुनीते मे	१९	५२
जनयित्रीमनाभाष्य	२०	७५
जनलोकात्तपो लोक:	२२	१०
जन्मनोऽस्मादियं राजन्	२४	५९
जन्मान्तरसहस्रेषु	३	८३
जन्मान्तरेष्वसङ्ख्येषु	२२	६४
जपन् वासुदेवाख्यम्	२०	३
जपश्चापि मनूनाञ्च	२५	३९
जपहोमार्चनध्यानदान-	१४	४४
जपाहोमै: स्तोत्रपाठै:	३	२४
जप्यमेतत्प्रयत्नेन	२३	७२
जमदग्निश्च संवर्त:	११	२०
जय शङ्कर शान्त शशाङ्करुचे	१७	३४
जय विश्वेश नेत्राणि	२८	५१
जयेति चोक्त्वा जययोनिमुग्रम्	१६	२९
जयेश शम्भो गिरिजेश शङ्कर	२३	१४९
जरानिकटनिक्षिप्ता:	२५	३०
जरायुजाण्डजोद्भिज्जा:	७	८१
जलाशयानां सर्वेषाम्	१२	६१
जलाशयानां सर्वेषाम्	१२	९५
जले शालूरकूर्मादिरूपेण-	२०	५
जले स्थले च पाताले	२१	७३
जहार तरसा ताराम्	१५	३०
जाड्यवार्ता जलेष्वेव	२४	१४
जातकर्म स्वयं चक्रे	११	२७

जाताश्चर्येण भवता	२४	५६
जातिस्वभावमात्सर्यम्	३	४०
जातु मांसं न भोक्तव्यम्	३	५३
जानन्नपि गुणान् देवि	७	८७
जायन्ते च म्रियन्ते च	६	३६
जालन्धरं महादर्पम्	११	१०८
जिघांसता त्वया पाप	१७	१००
जितकामा जितक्रोधा:	१४	७०
जित्वा क्रोधरिपुं धैर्यात्	२२	३१
जीर्णोद्धारादिकरणम्	१४	४५
जीवहीनो यथा देह:	४	४९
जीवितेश कथामेताम्	८	१
जीवेन्मृगयुधर्मेण	१२	१९
ज्ञात्वा क्षेत्रस्य माहात्म्यम्	३	६४
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थम्	६	३२
ज्ञानपूते ज्ञानजले	६	४१
ज्ञानशक्तिर्भवानीश:	१३	१८
ज्ञानेन न विना मोक्ष:	२२	१०५
ज्योति: सिद्धवटे ज्योति:	७	९६
ज्योतिश्चक्रस्य सर्वस्य	२१	७९
ज्योतिश्चक्रस्वरूपं च	१७	१२४
ज्योतिश्चक्रे समस्तेऽस्मिन्	१[illegible]	१४
ज्वरो व्यतीते षडहे	१	७०
ज्वलदङ्गारवत्तेज:	१७	१३
ज्वालाकीले महाघोरे	८	७८
ढुण्ढ्याशागजसिद्धाख्यम्	१०	८९
त एव रुद्रा विज्ञेया:	१४	११
तं गर्भं विधिनादिष्टा:	१४	१९
तं दृष्ट्वा दूरतो देवा:	३	२९
तं निवार्य तदा ब्रह्मा	१५	४५
तं प्रत्युच्चै: शिरा: सोऽपि	१	४२
तं ब्रह्माद्येककर्तारम्	११	११२
तं भार्गवं प्राप्य गणाधिराज:	१६	३९
तं मन्महे महेशानम्	१	१

तं रक्ष्यमाणं दितिजैः समस्तैः १६ ३६
तं व्याघ्रवदनः कश्चित् २० ३८
तं सिनी च कुहूश्चैव १४ ३३
तच्च चक्रं मया लब्धम् २१ १०७
तटे तटे पटुवटैः १ २०
तत उत्थाय दुष्टात्मा १० १३५
ततः काशीं पुनः प्राप्य ११ १६०
ततः काशीं समासाद्य २ ६२
ततः कुमारः सञ्जज्ञे १७ ६
ततः कोलाहलो जातः १६ ७१
ततः कौमारमासाद्य २० ६९
ततः क्रान्ताऽर्धमार्गस्य २२ ६६
ततः पक्वान्नमादाय १३ १०४
ततः पप्रच्छ सा देवी ६ १७
ततः पुंसवनं तेन ११ ३
ततः प्रसन्नो भगवान् १७ ३२
ततः प्रस्थापितस्ताभ्याम् ८ ४९
ततः प्राह महेशानः १५ ६२
ततः प्रोवाच तां पत्नीम् १० ७७
ततः श्रीदर्शनानन्दसुधाधारा- ६ २
ततः सर्वे समालोक्य २ २९
ततः संशयमापन्नाः १५ ४३
ततः सह विशालाक्ष्या १३ १४१
ततसर्वहृदम्बर वरद नते १७ ३५
ततस्तं तनयः पृष्ट्वा १२ ८९
ततस्तस्मिन्मुनिसुते १२ ६५
ततस्तस्योग्रतपसा १३ ६
ततश्च सर्वदेवेभ्यः १५ ४७
ततस्तुष्टाव देवेशः २३ ५३
ततस्तुष्टो हि विश्वेशः १५ ११
ततोऽङ्गारकनाम्ना स १७ १४
ततोऽतिचा डश्चण्डांशुः १७ ८९
ततोऽत्र लिङ्गे त्वत्राम्नि १४ ४२
ततोऽथ नवमे वर्षे ११ ४४
ततोऽपत्रपसे किं न १३ ५७
ततोऽपि धर्मशास्त्राणि ९ ५०
ततोऽयुध्यन् दुराचाराः १२ ४२
ततो गच्छन् ददर्शाग्रे ८ १३
ततो गणेश्वरैः सर्वैः २३ ५५
ततो दृष्ट्वा स पितरौ ११ ९६
ततो दृष्ट्वास्य सर्वाङ्गम् ११ ५५
ततो ध्यानेन विश्वेशम् ५ १
ततो भगवते शप्तुम् १७ ११०
ततो मायापुरीं प्राप्तः ७ ११३
ततो वाराणसीं प्राप्य ३ ६
ततो विलोकयामास ८ २०
ततो विश्वपतिः श्रीमान् १५ ५०
ततो व्रजन ददर्शाग्रे ५ ७३
ततो हरिर्महेशेन २३ ५८
तत्कर्मसूत्रैराकृष्टः १२ ३७
तत्पुण्यात्प्राप्य वैकुण्ठम् २४ ६६
तत्प्रवृत्तिं पुनर्ज्ञातुम् ५ ९५
तत्र कूपं विधायैकम् १४ २७
तत्र कृत्यञ्च यत्कृत्यम् ७ १०३
तत्र तत्र सदा दीपः १३ १२५
तत्र तप्त्वा तपो घोरम् १२ ९०
तत्र पापं न कर्तव्यम् २२ ९४
तत्र बाणासिवज्रौघैः १६ ५९
तत्र स्नात्वा नरो भक्त्या १८ १७
तत्र स्नात्वा विधानेन ११ ११९
तत्राऽक्षय्यवटोऽप्यस्ति ७ ५१
तत्रागस्त्यो महालक्ष्मीम् ७ ७५
तत्राद्राक्षीन्मुनिश्रेष्ठः २५ ८
तत्रापि नववर्षाणि २२ ५३
तत्रापि सन्तर्प्य पितॄन् ७ ११२
तत्रापि हिमवद्विन्ध्यात् २२ ५६
तत्रास्ति सा सवर्णा वै १७ ८८
तत्रैव तप्तवान् सोमः १४ ३५

तत्रैव देवदेवस्य	१४	३७
तत्रैव ब्राह्मणैः प्रीतैः	१४	३६
तत्रोत्क्रमणकाले तु	२५	७३
तत्संसर्गिणमावर्षम्	८	७४
तत्सूर्यस्य गतिस्तम्भात्	२	२६
तथा चन्द्रोदकुण्डेऽत्र	१४	५५
तथाऽपि न चतस्रोऽन्याः	७	८५
तथा प्रमुच्यते चर्णात्	१४	५६
तथा मृडानीकान्तेन	२३	४०
तथैव चाटुवचनैः	४	४६
तथ्यभाषणतस्तां तु	१७	१११
तदङ्घ्रिलीनमनसः	१३	६३
तदम्बुपानतो भूयात्	२४	५५
तदा तदेति त्वं ब्रूयाः	१३	८३
तदा तदेति सा ब्रूयात्	१३	४६
तदा नृत्यन्ति मुदिताः	१४	५७
तदाप्रभृति देवोऽसौ	२३	६६
तदायुष्यस्य शेषेण	१२	१८
तदारभ्य च लोकेऽस्मिन्	१४	७४
तदा वाराणसीं प्राप्य	५	१०६
तदा स मूर्ध्न्युपाघ्राय	१५	४६
तदेव वृत्तं ध्यायन्ती	९	२७
तदोपवासः कर्तव्यः	१४	४८
तद् गच्छ शरणं तात	११	१०४
तद्दृष्टिपातं मुञ्चन वै	३	४५
तद्धनं धनिनां शुद्धम्	२१	४६
तद्धैर्यमवलम्ब्येह	१६	५०
तद्ब्राह्मणाय गौर्देया	२	९८
तद्धार्गविणाद्य कृतं वृथा नः	१६	३०
तद्विमानमथारुह्य	७	१३५
तद्विष्णोः परमं पदम्	७	६३
तद्वैगुण्यादपि स्वर्गात्	४	७२
तनूर्विना हृताः प्राणाः	१६	४८
तन्मया तव रक्षार्थम्	२१	१०८
तप एव हि चेन्मातः	१९	५४
तप एव हि देवत्वे	१७	१२३
तपःक्रोधसमुत्थाभ्याम्	५	५५
तपःशुल्का तीर्थशुल्का	९	११
तपःस्वरूपाय तपोधनाय	२५	१४
तपनस्तप्यतेऽत्यर्थे	३	३२
तपनस्तप्यतेऽत्यन्तम्	४	५८
तपश्चचार चात्युग्रम्	१५	४९
तपसा तोष्य गोविन्दम्	२२	१२
तपस्विनां ततो हन्तुम्	२०	३४
तपांसि नानारूपाणि	२५	३७
तपोजनमहर्भ्यश्च	७	५६
तपोबलेन महता	१०	३
तपोयानमिवारुह्य	५	५३
तपो लक्ष्मीस्त्वयीहास्ति	४	५
तप्त्वा तपोऽतिविपुलम्	१७	१२६
तमः सङ्केतसदनम्	२०	४७
तमस्तोमहरः सूर्यः	७	१०
तमालोक्य स्तुतिश्चक्रे	१०	१२५
तमुत्थाय कराग्राभ्याम्	१	४३
तमोयुक्ता क्षपा यत्र	२४	१०
तया जन्मान्तरे तात	१९	३३
तयाऽपि धैर्यसूत्रेण	१९	७३
तया यदुक्तं तत्सर्वम्	१९	३२
तयोस्तद्युद्धमभवत्	१५	३९
तरुरत्नं पारिजातः	१०	१३
तर्पणं प्रत्यहं कार्यम्	४	८०
तल्लिङ्गदर्शनाद् विप्र	१८	१८
तव तत्र तु यत्कुण्डम्	२५	४८
तव नाविदितं किञ्चित्	४	१११
तव निःश्वसितं वेदाः	२	३९
तव पुत्रत्वमेष्यामि	१०	१३९
तव पुत्रत्वमेष्यामि	१०	१४५
तव लिङ्गमिदं दिव्यम्	१३	२७

तवाऽतितेजसो भीता	१७	११३
तवाऽनेनाऽतितपसा	१५	५२
तवाग्रतो मम जरा	२४	७९
तवाज्ञाकारिणीं देवि	१७	७७
तवोदये भविष्यन्ति	१६	१२२
तवोपहारं भक्त्या यः	२१	६०
तस्मात्प्रयत्नतः काश्याम्	२१	१२५
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन	२	४७
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन	११	७७
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन	२४	७०
तस्मादल्पतपस्त्वाद्वै	१९	४९
तस्मादात्मसुखं प्रेप्सुः	१२	३१
तस्माद्भौमेषु तीर्थेषु	६	४५
तस्य तत्तत्स्वरूपस्य	२३	३७
तस्य दर्शनमात्रेण	१६	१२९
तस्य देवस्य खेलोऽयम्	२३	२४
तस्य प्रणामं देवोऽपि	९	३३
तस्य यत्स्खलितं तेजः	१४	२३
तस्यान्तराया बहवः	२२	१११
तस्येक्षणे समीक्षेते	२०	१२
तस्येदमैश्वरं रूपम्	२३	३२
ता इमा दिव्यभोगिन्यः	९	१६
ताडिता ताडितुं चेच्छेत्	४	४१
तानागतान् समालोक्य	१७	५३
तानि मन्येऽत्र मार्गेण	१९	५९
तान् वीक्ष्य विगतोत्साहान्	१६	४७
ताभिस्तप्त्वा तपस्तीव्रम्	१५	५
ताम्बूलीरागरक्तौष्ठीम्	२	८
तारकं ब्रह्मव्याचष्टे	५	२७
तावच्च जीवितं श्रेयः	२१	४७
तावत्तताप स तपः	१३	१४०
तावत्पारिषदाः प्राप्ताः	१३	१०८
तावत्प्रातर्जपंस्तिष्ठेत्	९	४२
तावद्विलोकयाञ्चक्रे	१०	१२२
तावद् वैकुण्ठभुवनात्	७	१३२
तावूचतुस्ततो विप्रम्	२२	४.
तिर्यगूर्ध्वं समो माने	११	५७
तिर्यग्योनिं न वै गच्छेत्	६	५३
तिलकाङ्कितसद्भालान्	१९	८५
तिलान् जुह्वति साज्यांश्च	९	६७
तिलोत्तमोर्वसीरम्भा	११	११
तिष्ठता गच्छता वाऽपि	१९	११७
तिष्ठन्नेकेन पादेन	१९	२
तीर्थं प्राप्य प्रसङ्गेन	६	६१
तीर्थप्रसङ्गात्तीर्थाङ्गम्	६	६७
तीर्थयात्रां चिकीर्षुः प्राक्	६	५६
तीर्थयात्रां प्रतिदिनम्	७	८६
तीर्थराजं परित्यज्य	२२	७२
तीर्थवासार्थिनः सर्वान्	३	८
तीर्थस्नानपरा नित्यम्	१२	८
तीर्थस्नानार्थिनी नारी	४	३४
तीर्थस्नानेन जप्येन	२५	३१
तीर्थस्नानैर्न सा शुद्धिः	६	५
तीर्थाध्यायमिमं श्रुत्वा	६	७३
तीर्थानि च यथोक्तेन	६	५५
तीर्थान्यनुसरन् धीरः	६	५२
तीर्थाभिलाषिभिर्मर्त्यैः	२२	७४
तीर्थे तपस्युपकृतौ	२	५५
तीर्थोपवासः कर्तव्य	६	६५
तीर्थोपवासकं कृत्वा	७	११७
तुच्छश्रियः स्वर्गभूमिः	१	३५
तुतोष साऽपि तं दृष्ट्वा	१७	१२१
तुम्बुरुर्नारदश्चोभौ	८	२७
तुरङ्गमाश्च तुरगाः	१९	३७
तुलसीदेवगन्धारीबृहत्पत्री-	१६	८८
तुलसी यस्य भवने	२१	६६
तुलस्यलङ्कृता ये ये	७	१०९
तुलापुरुषदानादिमहादानानि	१०	२५

तुलापुरुषमुख्यैश्च	२२	१०६
तुष्टस्तत्तपसा शम्भुः	१८	१४
तुष्टाव गिरिजासूनुम्	२५	९
तुष्टावाष्टतनुं तुष्टः	१६	१००
तुष्टेन देवदेवेन	१४	२८
तुहुण्डहुण्डादिकुजम्भजम्भ-	१६	३१
तृणे स्त्रैणे च पाषाणे	२१	७४
तृणवन्ति तृणगुल्मादीन्	३	५०
तेऽस्यां पुरि वसन्त्यैश्याम्	१४	९
ते च काशीगुणान् सर्वे	५	९६
तेजस्त्वभ्यधिकं तस्य	१७	७३
ते दृश्यन्ते प्रतिद्वारम्	९	७१
ते दृष्ट्वोर्जस्वलं बालम्	११	९१
तेन दत्ता विवाहार्थम्	२४	६०
तेन पुण्येन गान्धर्वः	८	२५
तेन ब्रह्मशिरो नाम	१५	३८
तेनेयमलका भुक्ता	१३	१३४
तेनैवास्या मुखे स्थित्वा	१०	७६
तेभ्योऽपि न विभेषि त्वम्	१३	५८
तेषां मध्ये ददर्शाऽथ	१२	७३
तेषु राज्यं विनिक्षिप्य	२४	८८
तैजसी शाम्भवी मूर्तिः	१०	३९
तैस्तैः सपत्नीदुर्वाक्यैः	२०	५८
तोयार्द्रकाकपक्षाग्रम	१२	८५
तोये शैत्यं दाहकत्वं च वह्नौ	१०	१२९
त्यक्तं भर्तृगृहं मौग्ध्यात्	१७	८७
त्यक्त्वा वैश्वेश्वरीं भक्तिम्	२२	१००
त्यक्त्वा सर्वाणि कार्याणि	२१	९५
त्रयस्त्रिंशत् सुराणां या	१०	१४
त्रिजगन्मयरूप विरूप	१७	३७
त्रिरात्रं पञ्चरात्राणि	२५	४०
त्रिरात्रमपि ये काश्याम्	२५	४६
त्रिलोकीमण्डपस्तम्भ	१९	२
त्रिलोकीसारसर्वस्वम्	११	१२२
त्रिलोकेशो लोकसाक्षी	९	८०
त्रिसन्ध्येशं महादेवम्	१०	९६
त्रीण्यपत्यानि भो ब्रह्मन्	१७	७४
त्रैलोक्यं कोलरूपेण	५	७८
त्वं कर्ता सर्वभूतानाम्	२३	५९
त्वं जातवेदसि सदादहनात्म-	५	८२
त्वं तु तत्र कृतावासः	२५	४७
त्वं पावने पथि सदा	१६	१०३
त्वं पुंप्रकृतिरूपेण	१३	२२
त्वं भाविराभिरभिभूय तमः	१६	१०१
त्वं ममास्य परामूर्तिः	१४	३८
त्वं वृद्धकालो भूपालः	२४	३५
त्वं श्रीरुपेन्द्रसदने मदनैकमातः	५	८१
त्वक्केशाङ्गुलिदशनाः	११	६१
त्वगिन्द्रियं मधुरिपोः	२०	२०
त्वचमस्य च सन्दंशैः	८	७७
त्वत्तः सर्वं त्वं हि सर्वं स्मरारे	१०	१३३
त्वत्कर्मभाविसदृशैः	२४	२९
त्वत्पीयूषमयैर्हस्तैः	१४	३९
त्वत्प्रतिष्ठितलिङ्गस्य	१७	५१
त्वत्यक्तमेतदमले हरते हरोऽपि	५	८३
त्वत्स्पृष्टमेव सकलं शुचितां	५	८६
त्वत्स्वेदादम्बुनिधयः	१३	२०
त्वदङ्गलक्षणैरेभिः	५	९१
त्वदङ्गसङ्गमधुरः	२०	६३
त्वदागमनजानन्दसन्दोहैः	९	५१
त्वदाननप्रतिनिधिः	२०	६१
त्वदालापसमालापम्	२०	६२
त्वदास्यस्यौष्ठपुटकदुग्ध-	१९	६४
त्वदीयः शीतलालापः	१९	६५
त्वदेकतनया तात	१९	६०
त्वदेकपुत्रां हा पुत्र	११	८३
त्वदेकशरणां वत्स	२०	५५
त्वद्द्वेष्टारो हरे नूनम्	२३	६२

त्वमन्नदस्त्वं किल जीवदाता	५	३६
त्वमप्येतेन मन्त्रेण	१९	१२३
त्वमेको द्वित्वमापन्नः	१३	१६
त्वमेव माता त्वं तातः	२१	४४
त्वमेव सर्वं त्वयि देव	२	४१
त्वया यथा समाकर्णि	२५	५४
त्वया शुचे शुचिष्मत्याम्	१०	१३८
त्वया शुद्धधिया काश्याम्	२२	११३
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गम्	११	१५७
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गम्	१३	१६१
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गम्	१५	६४
त्वयेदं स्थापितं लिङ्गम्	१६	१२४
त्वरमाणा च परितः	१७	११९
त्वरावन्तौ गणौ तत्र	२२	२३
त्वष्टाऽपि च यथान्यायम्	१७	११२
त्वष्टा यत्तक्षितः सूर्यः	१७	११५
त्वां तां तु प्रापयाम्यद्य	१६	११८
दक्षिणाङ्गं तव विधिः	१३	१९
दक्षिणामददत् सोमः	१४	३१
दक्षिणा राजसूयस्य	१५	२४
दण्डः परशुकुद्दालवाल-	२४	१२
दण्डनायकमुख्यांश्च	१०	८२
दण्डवत्प्रणिपत्याऽथ	२०	९९
दण्डवार्ता सदा यत्र	२४	२०
दण्डैः कमण्डलुयुतै	३	१४
दत्तं जप्तं हुतं स्नातम्	९	७४
दत्त्वा दानान्यनेकानि	२१	९४
ददर्श वडवारूपाम्	१७	११७
ददामि वरमन्यं च	१२	९६
दद्यादर्घ्यमनर्घ्याय	९	८८
दधीचिरस्थीनि न किं पुरा ददौ	५	४४
दनुजा मनुजा दैत्याः	१०	२१
दमदानदयाक्षान्तिशौचेन्द्रिय-	१२	९
दमयन्तीं कलिं कालम्	७	४८
दम्भोलिशूलासिपरश्वधानाम्	१६	३८
दर्शनात्स्पर्शनात्तस्य	२४	७३
दर्शनात्स्पर्शनाद् यस्य	१०	९९
दशायुतसमुच्छ्रायम	२३	१६
दशाश्वमेधमीशानम्	१०	८८
दाक्षिणात्य इह प्राप्तः	२४	४७
दाता धर्मार्थकामानाम्	२३	६०
दानं तीर्थं दमस्तीर्थम्	६	३१
दानमिज्यातपः शौचम्	६	३९
दानवाधिपते सर्वम्	१६	२०
दानहानिर्गजेष्वेव	२४	१८
दामोदर हृषीकेश	२१	११
दास्यामः सकलान् कामान्	२	४५
दिगङ्गनाः प्रार्थयन्ति	७	५८
दिनानि पञ्चषाण्येवम्	७	३९
दिवानिशं पूजनार्थम्	१०	१००
दिवार्करश्मयस्तत्र	२२	४३
दिव्यं वर्षसहस्रन्तु	१५	१०
दिव्याम्बरा दिव्यमाल्या	९	१४
दीक्षितायिनि कुत्रासि	१३	७७
दीक्षितेन परिज्ञाता	१३	६९
दीनानाथांश्च सन्तर्प्य	३	२६
दीपं मन्दप्रभं दृष्ट्वा	१३	१०३
दीयमानां च गां दृष्ट्वा	२	७९
दीर्घं निःश्वस्य बहुशः	१९	२२
दुकूलाञ्चलसम्पर्कैः	१९	२३
दुकूलैः स्वानुकूलैश्च	७	१४
दुर्लभत्वं सदा कस्य	२४	१७
दुर्लभा सर्वमन्त्रेषु	९	५१
दूताः शृण्वन्तु यद्बालम्	७	१०८
दूरतो वर्जयेदेषा	४	२०
दूराद्रविं स विज्ञाय	९	३०
दृष्टिः कारुण्यसम्पूर्णा	१९	३९
दृष्टिं विलुप्य भर्तुर्या	४	४४

दृष्ट्वा कान्तीं कान्तिमतीम्	७	१०२
दृष्ट्वाप्युद्दण्डकोदण्डम्	३	४६
दृष्ट्वा प्रकृष्टं यागेभ्यः	२२	६१
दृष्ट्वा मृदुलतां तस्य	१	४०
दृष्ट्वा सर्वाणि लिङ्गानि	१०	८०
दृष्ट्वा सैन्यं च प्रमथैः	१६	६६
देवतायतनानाञ्च	२४	६
देवत्रयं स भगवान्	९	५९
देवदेव महादेव	१३	९
देवस्वभोक्तुः क्रोडास्य	८	७०
देवानाञ्च तथर्षीणाम्	२३	४८
देवानामिन्द्ररूपोऽसि	२१	२९
देवालयसुधाकार्यैः	३	१९
देवालयेषु ये दद्युः	१२	५५
देवेन दत्ता ये तुभ्यम्	१३	१६०
देवेषु यो वसेन्नित्यम्	२०	७
देवैर्मनुष्यैः पितृभिः	१०	५०
देवौ तस्मादजायेताम्	१७	१२०
देशान्तरे ह्यस्तिधनः	१३	९४
देहे परैका कृशता	१९	४८
दैत्यदानवकन्याभिः	२२	४२
दोषारोपं सदा कर्तुः	८	६५
द्युमणिर्हरिदश्वोऽर्कः	९	८९
द्रष्टा हि तां भवानद्य	१७	११४
द्राक्षावल्ली नागवल्ली	१	३२
द्वात्रिंशद्दशनश्चायम्	११	७३
द्वादशाक्षरमन्त्रेण	१९	११८
द्वादशात्मा सप्तहयः	९	७९
द्वारवत्यां म्रियन्ते ये	७	१११
द्विजातिभक्त्युत्पन्नार्थैः	१२	६
द्विजाय नोर्वरा दत्ता	७	१५
द्विजोऽथ लोकं संवीक्ष्य	२२	३
द्वैरूप्येणापि कुर्वन्तम्	१	७
धनैरनन्धो यत्रास्ति	२४	११
धन्यास्ता योषितो लोके	१८	२९
धन्य सा जननी लोके	४	६०
धन्यो धन्वन्तरिर्नात्र	१	७१
धयित्वा श्रोत्रपात्राभ्याम्	१७	३
धराधरणसामर्थ्यम्	१	५२
धराधरत्वं कुलिषु	१	४८
धर्मतीर्थमिदं सम्यग्	७	६१
धर्मर्द्धिं महतीं प्राप्य	१३	१२७
धर्मवंशहरं कामम्	२२	३०
धर्मस्तु सम्पत्तिभरैः किलोह्यते	५	२३
धर्मादर्थोऽर्थतः कामः	२५	३३
धर्मार्थकाममोक्षाख्यम्	३	८५
धमार्थकामान् युक्तात्मा	१०	६२
धातरुत्तानपादस्य	२०	८४
धातूनां हाटकमसि	२१	३१
धान्यत्यागो च तद्धान्यम्	४	९२
धारैका मूत्रयत्यस्मिन्	११	७०
धिक्कृत्य प्रशशंस स्वम्	१९	९९
धिग्जीवितं शास्त्रकलोज्झितस्य	१	६५
धिग्धिगेतधिकर्द्धिचेष्टितम्	१५	३४
ध्रुवमित्युपदिश्याऽथ	२१	१२६
ध्रुवस्तुतिरियं पुण्या	२१	८७
ध्रुवस्य परमाख्यानम्	२१	१२९
ध्रुवाख्यानमिदं रम्यम्	२२	१
ध्रुवाऽवधेहि वक्ष्यामि	२१	९६
ध्रुवेश्वरं समभ्यर्च्य	२१	१२८
धूपप्रदीपनैवेद्यम्	१०	४१
धूर्जटे नीलकण्ठेश	३	९१
धौम्योपमन्युवत्साद्याः	११	२३
ध्वान्तमेतदभितः प्रसारि यत्	१५	३२
न किञ्चिदुक्त्वा स हि भूतगोप्ता	१६	४१
न कुष्ठं न च विस्फोटाः	२४	७६
न कृतान्तत एष बिभेमि हर	१७	४०
नक्षत्रग्रहराशीनाम्	१५	१९

नक्षत्रपूजका ये च	१५	१८
नक्षत्रलोकादुपरि	१५	६३
न क्षान्तं हि तपोऽत्युग्रम्	१५	१२
न खल्वयं मृतोऽण्डस्थ:	१७	७२
न गङ्गया तया भेद:	४	१०६
न गायत्री समो मन्त्र:	९	५२
न गौरी न महालक्ष्मी:	७	२३
न च कन्याविवाहार्थम्	७	१९
न च ते नाम गृह्णीयात्	४	११
न चाङ्गोद्वर्तनं कार्यम्	४	७९
न चिन्तयेदनिष्टानि	१२	३०
न चिरं तिष्ठति द्वारि	४	१४
न च्यवन्तेऽपि यद्भक्ता:	२०	१०
न जलाप्लुतदेहस्य	६	३३
न जिघृक्षति तेभ्योऽर्थम्	१२	२३
न तत्कर्म च तद्वृत्तम्	१३	४८
न तत्पुण्यैर्न तद्दानै:	२५	२३
न तत्याज च तद्धर्मम्	१३	६५
न तथा बिभीमो वह्ने:	४	५७
न तद्रूपं न तच्छीलम्	१८	२७
न तस्माद्भगवद्भक्तात्	२०	८८
न तस्य सदनं लक्ष्मी:	२१	८६
न तिथिं नैव वारञ्च	८	१७
न तिलाश्च घृतेनाक्ता:	७	२५
न तेन सदृश: कश्चित्	१३	७४
न तेषां ग्रहपीडा च	१७	१६
न तोयगृध्नूत्र शिशून्	१२	२०
नत्वा विज्ञापयत्तञ्च	१२	७९
नत्वा विज्ञापयामासु:	२०	८३
नत्वा विनायकान् सर्वान्	१०	८१
न दरिद्रा न दु:खार्ता	९	६९
न देवार्थे न विप्रार्थे	८	७१
न धनेन वियुज्येत	१३	१६२
न नमामि न च स्तौमि	२१	७२
न नाम युवयोर्वेद्मि	८	६
न निद्रामि न जागर्मि	२०	५९
नन्दिनाऽपहृते शुक्रे	१६	४६
नन्दिन् प्रयाहि त्वरितोऽतिमात्रम्	१६	३४
न परीक्ष्यो द्विजस्तीर्थे	६	५८
न पित्रोरधिकं किञ्चित्	११	४८
न पुत्रात्परमो लाभ:	११	३७
न प्रीणिता मया देवा:	७	११
न ब्राह्मणो वेदपाठात्	९	५७
न भेतव्यं सुरास्तस्मात्	२०	८७
नभोनिकषपाषाण:	२०	९७
नम: कमलहस्ताय	२१	७
नम: कौमोदकीव्यग्रकराग्राय	२१	५
नम: पूतात्मने तुभ्यम्	१५	५५
नम: श्रीपतये तुभ्यम्	२१	६
नम: सर्वार्तिनाशाय	१५	५६
नम: स्थितिकृते तुभ्यम्	२१	३
न मत्त: शङ्करोऽस्त्यन्य:	११	१४२
न मया तर्पिता विप्रा:	७	१२
न मया तोषितो विष्णु:	७	९
न मया स्थापितं लिङ्गम्	७	२१
नमस्तस्मै महेशाय	१	३
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यम्	१३	२४
नमस्ते धर्मरूपाय	२१	२१
नमस्ते पद्मनाभाय	२१	९
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष	२१	१५
न महामन्त्रजप्यैश्च	२२	१०८
न मां कृतवपुस्त्राणाम्	११	९७
न माधुर्यं न गाम्भीर्यम्	१८	२८
नमेरुभिश्च मेरुच्चशिखरै:	१	१९
नमेरु:स्वर्णपूर्णत्वात्	१	५४
नमो दैत्यमहारण्यदाववह्नि-	२१	४
नमो बुद्धिस्वरूपाय	२	३५
नमो ब्रह्माण्डरूपाय	२	३७

नमो मनःस्वरूपाय	२	३६
नमो वेदान्तवेद्याय	२१	८
नमो हरस्वरूपाय	२१	२
नमो हिरण्यगर्भाय	२१	१
नमो हिरण्यरूपाय	२	३०
नमोऽस्तु तुभ्यं प्रणतार्तिहन्त्रे	२५	११
नमोऽस्तु तुभ्यं शरजन्मने	२५	१५
नमोऽस्तु ते ब्रह्मविदां वराय	२५	१३
नमोऽस्तु वृन्दारकवृन्दवन्द्य	२५	१०
न यदाङ्गिरसे ताराम्	१५	३७
न यमं यमदूतांश्च	७	३२
न यमैर्ब्रह्मचर्याद्यैः	२२	१०७
न योगेन विना ज्ञानम्	२२	११०
न योगैर्या गतिर्लभ्या	२५	६५
न रजक्या न हैतुक्या	४	२६
नरो ध्रुवस्य चरितम्	२१	१३०
नरो न रोगी यदिहाविहाय	५	१७
नर्मदायास्तटे रम्ये	१०	४४
न वयो न च वैचित्र्यम्	११	८३
न वर्ण्यते कैः किल	७	७८
न वाजपेयावभृथे	७	२०
न वेदा न च शास्त्राणि	७	३६
न शरीरमलत्यागात्	६	३५
न शेकुरग्रतो गन्तुम्	२	१३
न सत्पथेनापि न योगयुक्त्या	५	२२
न सन्तापभयं तेषाम्	१२	९९
न सेवया गुरुणां च	२२	१०९
न स्तोतुं न नमस्कर्तुम्	११	१५२
न स्नानेन न दानेन	२	६७
न स्वः पुरी [illegible]	७	७५
नाग्निमान्द्यं नैव शूलम्	२४	७७
नाऽचचक्षे यदा साऽथ	१७	१०९
नाद्यापि मुनिरायाति	५	६३
नाधिरोहेदनड्वाहम्	४	१०३
नानादेशविशेषज्ञाः	९	४
नानापतत्रिसङ्घुष्टम्	२५	५
नानाभूतानि भूतानि	१२	६८
नानामृगगणाकीर्णम्	१	३४
नानारूपोऽप्यरूपो यः	२३	३१
नान्यत्तीर्थं न वा देवः	११	४७
नान्यशब्दग्रहौ तस्य	२०	१३
नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्	२	४०
नाममात्रस्मृतेर्यस्य	२२	६२
नामश्रवणमात्रेण	२४	३४
नाम्नां सहस्रैरन्यैश्च	१६	९३
नायं कलानिधेर्दोषः	१५	३१
नारदेन सनन्देन	२०	१००
नारायणाय नरकहारिणे	२१	१२
नार्थिनः प्रार्थितैरर्थैः	७	३५
नार्यावर्तसमो देशः	२२	३७
नालङ्कृता सवत्सा गौः	७	१६
नाविमुक्तसमं क्षेत्रम्	५	२९
नाहं वृणे वरं त्वत्तः	११	१४१
निगृहीतेन्द्रियग्रामः	६	४०
निजसिंहासनसमं कृत्वा	२३	४३
नितान्तं कमलाकान्ते	२१	५८
नितान्तकमलाकान्त	२०	१८
नित्यं कार्पटिकान् सर्वान्	१२	२४
नित्यं प्रातः समुत्थाय	१७	५०
नित्यश्राद्धं भूतबलिम्	७	३१
नित्यादिकर्मकरणात्	३	९३
निदानगप्सरो लोकस्येति	९	२८
निद्रादरिद्रनयना स्नानेऽपि	२०	६०
निधनादिविवर्जित कृतनतिकृत्	१७	३६
निमेषमात्रमपि यः	२५	६०
निमेषान् पञ्चषान् मर्त्यैः	८	४३
नियन्ता सर्वभूतानाम्	५	६

नियन्ता सर्वभूतानाम्	९	३७
नियन्त्रितो महिष्याश्च	१९	१८
नियुतं यत्परिस्थाप्य	२१	११५
निःश्रेयसश्रियः किंवा	११	१२७
निःस्पृहा सोमपा ये वै	२	५७
निराकारोऽपि साकारः	२३	३८
निरुद्धब्राह्मध्वानम्	१	८३
निरुध्यमाना चक्रेण	३	६९
निर्ऋतिर्वरुणो वायुः	४	११५
निर्जले जलदातारः	१२	४८
निर्द्वन्द्वचरणद्वन्दम्	२०	१५
निर्धूय विघ्नजालानि	१०	१०२
निर्मथ्यमानात्क्षीरोदात्	९	६
निर्मलानां कलानां च	१५	२६
निर्मलीकृत्य तच्चेतः	१६	९६
निर्वाणलक्ष्म्याः किमथ	११	१२६
निर्व्याजप्रणिधानेन	२२	६
निर्व्रणान् नीरुजः स्वस्थान्	१६	२३
निवसन्त्यमला यत्र	२२	८
निवार्य रुद्रं समरात्	१५	४०
निवीतश्वापदगणम्	२५	४
निवृत्तिं च परां प्राप	१७	१२२
निवेद्य मोदकान् पञ्च	७	७१
निशम्येति च गीर्वाणाः	२०	९०
निशम्येति वचः शम्भोः	१६	९९
निशम्येति वचस्तस्य	१९	५
निशम्योदीरितं तस्याः	१७	८४
निश्चितं विश्वनाथेन	२४	७१
निश्चितार्थां श्रुतिमिमाम्	९	४०
निष्क्रमोऽथ चतुर्थेऽस्य	११	४०
निष्पत्यूहं क्रतुशतम्	१०	२३
नीरसान्यन्नपानानि	१२	१००
नीराजनैर्गुग्गुलुभिः	३	२०
नीराजयति योऽङ्गानि	२	८९
नीराजितमिवोद्दीपैः	१	२२
नीरुक् शरीरसम्पत्तिः	१९	९४
नीलश्च नीलीनिलयः	१	५७
नृणा पापकृतां तीर्थे	६	६२
नेत्रयोः प्राघुणीचक्रे	१८	२
नेत्रानन्दकरीं दृष्ट्वा	१७	२३
नेह क्रोधो न मात्सर्यम्	२	५१
नैतयोर्विष्णुगणयोः	२३	३
नैमिषं च कुरुक्षेत्रम्	६	२२
नैमिषारण्यतोऽपीह	२५	५८
नैर्ऋतादीन् क्रमांल्लोकान्	१२	१
नैव दीनो न दुर्वृतः	८	९३
नैःश्रेयसीं च सम्पत्तिम्	२४	३१
नो ते गोत्रं नेश जन्मापि	१०	१३२
नोप्तो नलिर्न बत कासु च	११	८६
नोलूखले न मुसले	४	२८
नो वेदस्त्वामीश साक्षाद्धि वेद	१०	१३१
नौकाद्युपायैर्नद्यादौ	१२	५८
पक्वान्नगन्धमाघ्राय	१३	१००
पक्वान्नैर्भोजयेद्विप्रान्	४	९५
पञ्चक्रोश्याश्च सीमानम्	२१	११२
पञ्चगव्याशनो मासम्	१०	१२०
पञ्चतीर्थावलोकाच्च	३	८९
पञ्च दीर्घाणि शस्यानि	११	५९
पञ्चरात्रमुषित्वा तु	७	४५
पञ्च सूक्ष्माः पञ्च दीर्घः	११	५८
पञ्चामृताना स्नपनैः	३	२१
पट्टसूत्रमयैः रम्यैः	२३	४६
पठतो मे गतः कालः	७	८
पठन्ती सारिका सारम्	३	७२
पतत्रिभिः किन्नरैश्च	२३	५७
पतन्ती लिङ्गशिरसि	१३	११७
पतत्रिपीतवाष्पाम्बु	१९	१७
पतितं सोममालोक्य	१४	२१

पतिव्रतधृता नार्यः	९	१८
पतिव्रतायाश्चरणः	४	६३
पतिव्रताशिरोरत्नलोपा-	३	१०२
पतिव्रतास्वरुन्धत्या	४	७
पतिव्रतास्वरुन्धत्याः	१८	२६
पतिव्रतेयं कल्याणी	४	६
पतिश्च तादृक् सर्वज्ञः	१७	९२
पत्या विहीनाश्च यथैव योषाः	१६	४४
पत्यौ मृते च या योषित्	४	७३
पत्रैः शतसहस्रैश्च	१६	९०
पदारविन्दं गौविन्दम्	२४	२७
पदा सन्तर्जयामास	१७	९९
पद्मरागप्रवालाख्यारत्न-	११	१४
पनसैर्वननासाभैः	१	१७
पयोऽपि यत्रत्यमचिन्त्यवैभवम्	७	७६
पयोव्रतोऽभवन्मासम्	१०	११९
परं वीरेशसदृशम्	१०	१०४
परंशतं न-किं शैलाः	१	५५
परं शैलेषु शैलेन्द्रः	१	६२
परदारपरद्रव्यपरद्रोह-	१२	५
परदारपरित्यागात्	१०	५५
परदारप्रसृमरं करं छिन्ध्यस्य	८	६१
परदारमुखाघ्रातुर्मुखे	८	६३
परद्रोहधियो ये च	२२	१०३
परपीडाकरं कर्म काश्याम्	२२	९९
परप्राणदुहां पुंसाम्	१२	२९
परप्राणैस्तु ये प्राणान्	३	५२
परमर्मस्पृशश्चास्य	८	६८
परलोकस्त्वयं लोकः	४	६८
परापवादरहितः किञ्चिद्दानपरायणः	२५	६३
परापवादशीलेन परदाराभि-	२२	९७
परापवादशीलेन	२३	१९
परापवादो न मया किलोक्तः	५	४०
परार्द्धद्वयनाशेऽपि	३	८१
परिज्ञाय महादेवम्	११	१५०
परिणीता त्वया राजन्	२४	६२
परितः परिवेषाभम्	२०	७७
परितः सरितः स्वच्छा	११	९
परित्यज्यात्र जरसम्	२४	५७
परिनिर्मथ्य वाग्जालम्	६	७
परोपकरणं येषाम्	६	४
परोपकृत्या यो धर्मः	६	६
पर्णानि ऋजुताराणि	९	२१
पर्यङ्कशायिनी नारी	४	७८
पर्वतेशं पशुपतिम्	१०	९०
पलायमानो निहतः	१३	१०६
पल्लीपतिरभूदुग्रः	१२	१७
पवमानेश्वरं लिङ्गम्	१३	२८
पश्चाद्दक्षेण शप्तोऽपि	१४	२९
पश्येयं त्वामहं नित्यम्	२४	५०
पाकं कार्तस्वनं चैव	१६	१५
पाण्योस्तले च नेत्रान्ते	११	६३
पातालेभ्योऽपि वै रम्यम्	२२	४८
पातिव्रत्यरता नार्यः	२	५३
पादगम्यं हि यत्किञ्चित्	२३	१७
पादाभ्यङ्गं दीपदानम्	७	३०
पादौ सुमांसलौ रक्तौ	११	६७
पाद्मे कल्पे पुरा विप्र	१३	१३३
पानानि च विचित्राणि	४	८७
पानीयरूप परमेश जगत्पवित्र	१६	१०५
पानीयशालिकाः कुर्युः	१२	४९
पापमेव हि कर्तव्यम्	२२	९५
पापादवन्ती सा विश्वम्	७	९२
पापिनां यानि पापानि	७	६८
पापिनां यानि पापानि	२१	५६
पार्वत्या सहितः शम्भुः	२३	२३
पार्षदैर्यमदूतेभ्यः	१३	१२१
पावमानं समाराध्य	१३	३०

पाशपाणे कशापाणे	८	८७
पाश्चात्या दाक्षिणात्याश्च	२	२०
पित: सोढुं न शक्नोमि	१७	८३
पितामहं समासाद्य	२	६६
पितामहेन तेऽप्येष	१९	१२२
पिता सोमस्य भो विप्र	१४	१६
पितृवंश्या मातृवंश्या:	४	६१
पितृसम्पत्तिभोक्तार:	१९	१०६
पितॄन् पिण्डै: समभ्यर्च्य	२५	४९
पित्रोत्सृष्टं न काङ्क्षामि	१९	१०५
पित्रोरनुज्ञां प्राप्येति	११	११३
पिनाकपाणे गिरिश	१५	५९
पिपासिताऽद्य रुधिरम्	२०	५०
पीत्वा वर्षसहस्रं वै	१६	२
पीत्वा वर्षसहस्रं वै	१६	२१
पुण्यराशिं च विपुलम्	२२	७०
पुण्यशीलसुशीलाभ्याम्	७	१३४
पुत्रान् कलत्रमित्राणि	१९	१२०
पुन: पुनर्विश्वनाथम्	३	२७
पुन: पुनश्च तत्क्षेत्रम्	७	८३
पुन: प्रोवाच तान् वेधा:	२	४८
पुन: स्वयानमारुह्य	२३	५
पुनरन्यं वरं प्रादात्	१७	५८
पुनराह मुने जाने	५	९३
पुनरूचे कुलिवर:	१	४९
पुनर्ब्रूहि पुनर्ब्रूहि	११	१०२
पुन्नागमिव पुन्नागपल्लनै:	१	१४
पुराऽसौ भृगुदायाद:	१६	८२
पुरा कश्यपदायाद	१३	३
पुरा जालन्धरं दैत्यम्	२१	१०६
पुराणपाठकांश्चापि	३	१८
पुराणहीनाद्वृच्छून्यात्	२	९७
पुराणानि च ये दद्यु:	२	७०
पुरा तपस्यत: शम्भो:	१७	५
पुरा यमस्तपस्तप्त्वा	२२	९०
पुरा सिसृक्षत: सृष्टिम्	१५	३
पुरी संयमनी सेयम्	८	५१
पुरुषायितसंज्ञेन तप्तम्	१५	१३
पुरोऽगस्त्यं समालोक्य	३	१०४
पुरो ददर्श श्रीकण्ठम्	१३	१४४
पुर्यश्चापि समाख्याता:	२५	४१
पुर्यष्टकं च दुष्टेभ्य:	१४	५
पुर्या यक्षेश्वराणां ते	१३	१६६
पुलहेशपुलस्त्येशौ	१८	१९
पुंस्त्वसौभाग्यसम्पन्ना:	१६	१२७
पुष्यार्केऽप्यथ हस्तार्के	९	६३
पूजोपकरणं सर्वम्	४	१५
पूर्वाह्णे दैविकं कर्म	१०	६३
पृच्छमाना यदा देवै:	१५	४४
पृष्टस्त्वमिति ते नाथ	२४	४६
पृष्टौ तेन च तौ तत्र	१७	६८
पौषे मास्यर्कदिवसे	९	६४
प्रकृष्टं सर्वयागेभ्य:	७	४९
प्रक्रान्ते द्युमणौ दूरम्	९	३९
प्रक्षाल्य चेतसोऽत्यन्तम्	१६	९५
प्रजा: सृजत रे पुत्रा:	१८	११
प्रणवंस्त्वं श्रुतिरियम्	४	१०९
प्रणवादिचतुर्थ्यन्तै:	९	८५
प्रतापिनामग्निरसि क्षमाऽसि	२१	३५
प्रतिग्रहसमर्था हि	२	५८
प्रतिग्रहादुपावृत्त:	६	४९
प्रतिग्रामं प्रतिपुरम्	२०	५६
प्रतिज्ञां शृणुतं तातौ	११	९८
प्रतिमन्त्रं नमस्कुर्यात्	९	८९
प्रतिष्ठाप्य च लिङ्गानि	१८	१३
प्रतिस्वनैरवापूरि द्यावाभूम्यो:	१६	६३
प्रतीक्षमाणावसरम्	४	१६
प्रत्यक्षतीर्थपाथोभि:	२३	४७

प्रत्यग्रविकसन्नीलोत्पलानाम्	२०	९४
प्रत्यहं द्वादशशिलाः	२१	६५
प्रत्याश्रमं प्रतिनगम्	४	४
प्रथमं तीर्थराजन्तु	६	२१
प्रदक्षिणैः स्तोत्रजपैः	३	९०
प्रद्युम्नाय नमस्तुभ्यम्	२१	१०
प्रपा कार्या च वैशाखे	४	८५
प्रभावाददद्भुताद्भूमेः	६	४४
प्रभावेणैव गायत्र्याः	९	५५
प्रमथैर्भीमविक्रान्तैः	१६	१६
प्रमादादपि संस्पृष्टः	२१	५७
प्रयागतोऽपि तीर्थेशात्	२२	८०
प्रयागस्य गुणान् ज्ञात्वा	७	६९
प्रयागादपि तीर्थाग्र्यात्	६	७०
प्रयागादपि वै रम्यम्	२२	८१
प्रयागे माघमासो यैः	२	५९
प्रवेश एव संवीक्ष्य	७	७०
प्रवेशो यमदूतानाम्	२२	९२
प्रसङ्गतोऽपि द्रष्टव्यौ	२	१०९
प्रसन्नोऽस्मि महाभाग	२०	९२
प्रसन्नोऽस्मि वरं ब्रूहि	१७	३३
प्रससाद तदा देवः	१६	९७
प्रसह्य प्रमिमीतेश	१३	१२
प्रसार्य नयने पूर्वम्	१३	१४८
प्रसृताखिलभूतलसंवरण	१७	३८
प्राजापत्येऽत्र ते लोके	१८	१५
प्राणसंरोधनिर्वातम्	१३	१३९
प्राणायामेऽसि सर्वेषु	२१	४२
प्राप्यं सम्प्राप्यते येन	२१	१०१
प्राप्य वाराणसीं तूर्णम्	१०	७९
प्रार्थयेद् यत्क्वचित् किञ्चित्	२०	५९
प्रावृत्य वाससा मौलिम्	१३	७६
प्रासादं सुमहत्कृत्वा	२१	१२७
प्रासादः कारितः केन	२४	४५
प्रासादस्यास्य जटिलः	२४	४८
प्रेरितोऽपि जनन्या सः	१३	४४
प्रोच्चसिंहासनस्थस्य	१९	१०
प्रोद्यत्कादम्बिनीमध्य-	२०	९६
प्रोषितस्य परितोऽपि लक्ष्मणैः	५	४६
बकोऽपि पल्वले मत्स्यान्	३	५५
बलाय बलभद्राय	२१	११
बहुकौतुकवस्तूनि	९	२३
बहुधौषधदानैश्च	३	१६
बहुपुष्पफलोपेताः	७	१३
बहुसंसारसन्तापसन्तप्त-	११	११६
बहून् मुनिकुमारांश्च	१२	७१
बाणेषु गुणविश्लेषः	२४	१९
बालं रत्नैलङ्कृत्य	१२	७८
बालग्रहाभिभूतानाम्	५	१०३
बालत्वाद् भीषितो भूतैः	२०	३६
बाल बालिशबुद्धित्वात्	१९	१२
बालिशेष्वसहायेषु	१९	७९
बाल्याद्वा यदि वा मोहात्	१७	१०३
बाह्यादायान्तमालोक्य	४	४५
बिभ्यत्पतिव्रतास्पर्शम्	४	६४
बीजौषधीनां तोयानाम्	१४	२६
बृहता तपसाऽनेन	१७	४३
बृहस्पतीश्वरं लिङ्गम्	१७	६१
बृहस्पतेः स वै भार्याम्	१५	२९
ब्रह्मघोषमहारावैः	२३	५०
ब्रह्मघ्नं चान्धतामिस्रे	८	७३
ब्रह्मचर्यं हि गार्हस्थे	१०	५३
ब्रह्मचर्यमिदं चैषा	२	५०
ब्रह्मचर्याश्रमे निष्ठः	१०	४५
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा	१०	४९
ब्रह्मणो दिवसाष्टांशे	३	८०
ब्रह्मतेजः समुद्भूतः	१	३९
ब्रह्मनारायणेन्द्राणाम्	१६	७३

ब्रह्मविष्णोरपि गिराम्	१३	११	भल्लूकाकारसर्वाङ्गः	२०	३७
ब्रह्मशालां कारयन्ति	२	६९	भवता स्थापितं लिङ्गम्	१७	५९
ब्रह्मसूनुवपुस्तेजः	१	३८	भवतीनामिदं लिङ्गम्	१५	१६
ब्रह्महत्यादिपापानाम्	२२	७८	भवतोऽपि महादेव	१५	८
ब्रह्महत्यादिपापानि	७	६२	भवत्कृतं हि साहाय्यम्	१९	१०३
ब्रह्महा योऽभिगच्छेद्वै	२५	६६	भवान्तरावर्जितपुण्यराशिम्	५	१४
ब्रह्माण्डं किमकाण्डे वै	२	२२	भविष्यसि महीपालः	२४	३
ब्रह्माण्डभाण्डमथवा	११	१२५	भवेत् कूलङ्कषा यद्वत्	५	६७
ब्रह्मा बृहस्पतियुतः	११	२४	भाग्यान्नेत्रातिथीभूते	२२	६७
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः	२१	६३	भाजनानि विचित्राणि	१३	७३
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः	८	९४	भानुवारो यदा षष्ठ्याम्	९	७६
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः	९	९६	भानोः सकाशादुपरि	२३	१३
ब्राह्मणा जङ्गमं तीर्थम्	२	७६	भानोर्मनोन्नतो विन्ध्यः	२	१४
ब्राह्मणानां धनं पुत्र	१३	५२	भारं शरीरयष्टेश्च	२४	४३
ब्राह्मणाश्चैव गावश्च	२	७५	भारभूतेश्वरं किं वा	१०	९१
ब्राह्मणेभ्यः कुरुक्षेत्रे	२	६५	भार्या मूलं गृहस्थस्य	४	६७
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति	८	२४	भालनेत्रा नीलगलाः	१४	८
ब्राह्मणैः सततं श्राव्यम्	९	९५	भाले लोचनमालोक्य	११	१४८
ब्राह्मणो वत्सरं पूर्णम्	२४	२	भिक्षितुं नाधिगच्छामि	१३	९६
ब्रुवतोरिति सङ्कथां तथा	१८	३१	भुङ्क्ते भुक्ते त्वयि मुने	४	९
भक्तकल्पतरो शम्भो	१२	८०	भुवि तीर्थान्यनेकानि	७	४३
भक्तिप्रभावं विज्ञाय	१३	१३६	भूतज्वराश्च ये केचित्	२४	७८
भक्तेन विधिना पूजा	१३	११९	भूतावली तमालोक्य	२०	७८
भगवच्चरणद्वन्द्वनिर्द्वन्द्वध्यान-	२१	५५	भूत्वा राजकुमारोऽपि	१९	१४
भगवद्भक्तियुक्तानाम्	८	७	भूदारोऽपि न भूदारम्	३	३६
भगवन् भूतभव्येश	३	१	भूमिशय्या व्रते देया	४	९१
भगवंस्त्वामुपाश्रित्य	१६	९	भूमिष्ठापि न यात्र भूस्त्रिदिवतः	१	२
भगवानन्तकालेऽत्र	५	२८	भूर्भुवः स्वस्तले वाऽपि	२५	२१
भर्जयैनं चणकवत्	८	६४	भूर्लोकाच्च भुवर्लोकः	२३	१८
भर्तरि प्रोषिते याश्च	९	१९	भूर्लोके नैव संलग्नम्	२५	५८
भर्ता देवो गुरुर्भर्ता	४	४८	भोगः परिजनैः सार्धम्	१९	४४
भर्ता सदाऽनुयातव्यः	४	५३	भोगभूमिरियं	२२	५०
भर्तुरिष्टा ततस्तस्मात्	१७	७०	भ्रमरभ्रमरमालाभिः	१	३३
भर्तृविद्वेषिणीं नारीम्	४	२७	मज्जागतानि पापानि	७	६०

मञ्जिष्ठारक्तवासांसि	४	९८
मठानपि तपस्विभ्य:	२१	१२२
मठैर्विद्यार्थिनामन्नै:	३	१५
मणिकर्ण्यां परिस्नायं	२१	११३
मथुरायां द्विज: कश्चित्	७	१
मधुपिङ्गलनेत्रोऽसौ	११	७४
मनसाऽपि न ये काशीम्	२२	१०४
मनुनाऽपि न यत्प्रापि	२१	८३
मनुरेष यमावेतौ	१७	७९
मनो: स्वायम्भुवस्यासीत्	१९	६
मनोरथा न सिद्ध्येयु:	५	६५
मन्त्रज्योतिर्मये लिङ्गे	१०	१०८
मन्दान्दोलितकर्पूरकली-	१	१३
मन्दारैर्बिल्वपत्रैश्च	१६	८७
मन्देहदेहनाशार्थम्	९	४५
मन्देहदेहसन्देहात्	१	५६
मन्यमानोऽथ तां संज्ञाम्	१७	९५
मन्ये मान्यो नाधमस्य	११	५२
मम जन्म वृथा जातम्	७	८२
मम भक्तस्य नो शक्र:	११	१५४
मम भाग्योदयेनैव	११	१३१
मम मातुर्हि पूर्वेद्यु:	१३	७१
मम लोकात्परो लोक:	२	९१
मम वन्द्यस्त्वयं विष्णु:	२३	५४
ममाक्षिपसि विप्रोच्चै:	१३	७०
ममाग्रे तत्समाचक्ष्व	२४	५१
ममाज्ञा दीयतां तस्मात्	८	४७
मया च विष्णुना सार्धम्	२	८७
मया सख्यं च ते नित्यम्	१३	१५७
मया सृष्टानि विप्रेन्द्र	२२	८९
मयि या परमा शक्ति:	२१	१०५
मरीचिरत्रि: पुलह:	११	१७
मरीच्यत्र्यङ्गिरोमुख्या:	१७	२६
मरुत्वताऽतिमहती	२०	३२
मलयानिलनि:श्वासाम्	२	९
मल्लिकाशतपत्रीभि:	१६	८५
महल्लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य	१७	३१
महाकालपताकाग्रै:	७	९८
महाकाल महाकाल	७	९९
महाकाल महाकाल	२४	८३
महाकालस्य तल्लिङ्गम्	७	९७
महाध्वजपताकाश्च	२४	४०
महापापानि गोविन्द	२१	४८
महापापौघशमनीम्	२५	७६
महापुण्यस्य जननी	२१	८८
महापूजां च ये कुर्यु:	९	६८
महापूजार्थमाल्यादिगुम्फनार्थै:	३	२२
महासुकृतसम्भारै:	१९	३५
महेन्द्रमुख्या गीर्वाणा:	११	२५
महेशितु: प्रसादेन	१०	७१
महोक्षस्यन्दनगमम्	२३	३५
महोपहारानादाय	१३	९९
मह्यं श्रेय: कथं वा स्यात्	१७	९३
मातर्नमामि कमले कमलायताक्षि	५	८०
मातर्विशालाक्षि भवानि मङ्गले	५	४२
मातापित्रोरमी भक्ता:	२	५४
मातामहांस्तथोद्दिश्य	१४	५३
मातुश्चरित्रं तनय:	१३	६२
मातृशापपरित्रस्त:	१७	१०१
मात्रा तन्मार्गरक्षार्थम्	१९	७४
मात्रा सुतेषु सर्वेषु	१७	१०२
मादृश्यो मन्दभाग्या या:	१९	३४
मानसान्यपि तीर्थानि	६	२६
मानसान्यपि तीर्थानि	६	२८
मानसान्यपि भौमानि	२५	३८
मानापमानयोस्तस्मात्	१९	५०
मा मारयध्वं त्रायध्वम्	१२	३३
मायां चापि गृहाणेमाम्	२३	६३

मायापुर्यां मुक्तिपुर्याम्	८	२
मायामयीं ततश्छायाम्	१७	७६
मारीचे: कश्यपाज्जज्ञे	१७	६९
मार्कण्डं मणिकर्णीशम	१०	९२
मार्दवं स्त्रीप्रयोगेषु	१९	४२
मासोपवासं वा कुर्यात्	४	७६
मासोपवासव्रतिन:	२२	१७
मास्तु चेष्टवियोगश्च	५	१००
माहेय इत्यत: ख्यातिम्	१७	७
माहेयादुपरिष्टाच्च	२३	१५
मितं ददाति हि पिता	४	४७
मित्रपुत्रकलत्राणि क्षेत्राणि	९	४८
मित्राणां हि कलत्रं त्वम्	२१	४३
मित्रावरुणसंज्ञं वा	१०	९७
मीढुष्टमायोत्तरमीढुषे नम:	२५	१६
मुक्तिमण्डपिकायां च	३	९२
मुक्तिलक्ष्मीमहापीठमणि:	७	८०
मुक्तिस्थानान्यनेकानि	६	२०
मुक्तीकुर्वन्ति तीर्थानि	२	७३
मुखलक्ष्म्यैव चाज्ञासीत्	१९	२०
मुदं कुमुदिनीनां य:	१५	२७
मुनयो मम यो बन्धु:	१९	१०२
मुनिपृष्टास्तदा देवा:	४	१
मुनिरुत्थाय तान् सर्वान्	३	१०५
मुसलोलूखले वैश्यम्	८	८३
मृगत्वचोऽतिमुदुला:	१२	२२
मृगाणां पक्षिणामित्थम्	३	७४
मृतसञ्जीवनी नाम	१६	११७
मृत्युञ्जयं समाराध्य	११	९९
मृत्युञ्जयोग्रविषमेक्षणकामशत्रो	८	१०२
मृत्युर्मूर्ध्नि कृतावास:	७	१२३
मृदुलानी तवाङ्गानि	२०	६६
मेढीभूतस्तु वै सर्वान्	२१	८०
मेनया च सुनीत्या च	४	८
मेरुं प्रदक्षिणीकुर्यात	१	८०
मौलिजैरभ्रसङ्घर्षम्	२०	४४
म्लेच्छा अपि सुतीर्थेषु	१२	११
यं यमुद्दिश्य नियतम्	१६	११९
य: पठेत् स्नानसमये	१०	१४४
य: स्तोष्यत्यनया स्तुत्या	२	४४
य: स्नात्वोत्तरवाहिन्याम्	३	८७
य: स्वार्थं मांसपचनम्	३	५१
य एकेषु निपातोत्थ-	११	१०९
यक्षाणां किन्नराणाञ्च	१३	१५६
यक्षिणी काचिदानीय	२०	४९
यच्च क्रतुक्रियोत्सर्ग:	१४	४१
यज्ञार्थञ्च विवाहार्थम्	२	७१
यज्ञोत्सवे विवाहे च	२३	६९
यज्ञोपस्करवस्तूनि	१०	३४
यतो विनिर्गता गङ्गा	७	११४
यतो विश्वेश्वरेणैते	३	६३
यत्त्वं प्रष्टुमना विप्र	२३	२
यत्सुखं काशिवासेऽत्र	३	८२
यत्र क्षपणका एव	२४	२१
यत्र क्षीरवहा नद्य:	२	९४
यत्र चन्द्रेश्वरं लिङ्गम्	१४	६९
यत्र न ज्ञायते काल:	२२	४४
यत्र यत्र ध्रुव: पादम्	२०	२५
यत्र यस्य हि यद्भाव्यम्	१९	८१
यत्र लक्ष्मीपति: साक्षात्	७	५३
यत्र वीरेश्वरं लिङ्गम्	१०	१०३
यत्र सा विकटा देवी	१०	१०१
यत्र स्थित: स्वयं साक्षात्	७	५०
यत्रास्ते श्रीपति: साक्षात्	२३	२२
यथाकथञ्चित्तीर्थेऽस्मिन्	२२	७६
यथा कदम्बकुसुमम्	९	२९
यथा गङ्गावगाहेन	४	७०
यथा च विद्यां तां प्राप	१६	८१

यथा तेनाऽखिलं ह्येतत्	२३	३९
यथान्तरं द्विजश्रेष्ठ	२२	७५
यथा भूमितले विप्र	२२	८८
यथा यथा हि वर्धेत	२२	८४
यथार्थं कथयावस्ते	२३	१०
यथार्थयाऽनया स्तुत्या	२	४३
यथा वीरेश्वरं लिङ्गम्	१०	१०५
यथा शरीरस्योद्देशाः	६	४३
यथा शिवस्तथा विष्णुः	२३	४१
यथेष्टमरणं केचित्	१२	१४
यदङ्ग निद्रासि चिरम्	१९	६६
यदच्छभित्तौ वीक्ष्य स्वम्	१०	५
यदन्यदपि ते चित्ते	८	८
यदह्नि तीर्थप्राप्तिः स्यात्	६	६६
यदा कलानिधिः क्वापि	१०	४
यदा तुष्टोऽयमीशानः	१५	६
यदा देवं नालुलोके	१६	९४
यदा न धारणे शक्ताः	१४	२०
यदा पतिव्रतानां तु	१८	३०
यदाप्रभृति रे बाल	२०	५७
यदा यदा बहिर्यासि	१९	६९
यदा यदैव तां पृच्छेत्	१३	४५
यदारभ्य दधारैनाम्	५	७७
यदा स देवो विश्वेशः	५	९४
यदा सौधाद्विनिर्यायाः	१९	६८
यदाहुः परमं ब्रह्म	१९	११३
यदि गीतं क्वचिद्गीतम्	८	२८
यदि देयो वरो मह्यम्	५	९८
यदि नाथ प्रसन्नोऽसि	१२	९२
यदि स्यात् सुकृतं तत् किम्	१९	१३
यदि ह्यसौ दैत्यवरान्	१६	३२
यदैकलो न शक्नोषि	१३	१५
यदोपेया गृहान् वत्स	१९	६७
यद्भूनर्तनवर्तिन्यः	१९	११५
यद्यदिष्टतमं लोके	४	८२
यद्यहं मानवे वंशे	१९	५३
यद्रथ्यासु च तिष्ठन्ति	४	११४
यत्र देवा विजानन्ति	२	३१
यमदूताः पलायन्ते	४	५६
यमदूता न यस्यां हि	७	९४
यमद्य यमकर्ताऽसौ	१	८४
यमरूपं वर्णयन्ति	८	५२
यमुनेशं लाङ्गलीशम्	१०	९३
यल्लक्ष्मीनाममात्राप्त्या	६	२०
यल्लभ्यते च कैवल्यम्	११	१२७
यवान्नैर्वा फलाहारैः	४	७७
यशसः सञ्चयो नित्यम्	१९	४५
यस्तत्र निवसेद् विप्र	२५	५९
यस्तु मासं वसेद् धीरः	२५	६१
यस्मिन्नभ्युदिते जगत्	२	५
यस्मिन् वसेः क्षणमपि पुरुषे	५	८५
यस्य दर्शनमात्रेण	१३	५
यस्य धर्मेऽस्ति जिज्ञासा	२	९९
यस्य पुर्याः परिसरे	४	११३
यस्य प्रसादात् सुलभम्	२४	३३
यस्य भाग्यवतश्चात्र	२२	७७
यस्य स्मरणमात्रेण	१९	११२
यस्य हस्तौ च पादौ च	६	४८
यस्याः स्मरणमात्रेण	१८	२४
यस्याश्रमेऽत्र दृश्यन्ते	३	३३
यस्यास्ति परमा भक्तिः	२१	८९
यां श्रुत्वा चापमृत्युभ्यः	१६	६
यागाः सर्वे मया पूर्वम्	२२	६०
याचध्वं तत्र गत्वा तम्	२	१०६
या त्वंकृत्वा प्रियं ब्रूते	४	४३
यान्तमायान्तमालोक्य	१६	६८
या पीत्वा कणधूमं वै	१६	१७
या भर्तारं परित्यज्य	४	४०

या भर्तारं परित्यज्य	४	४२
यामं भुङ्क्त्वा तथाग्नेयीम्	२	७
या मतिस्त्वन्तकाले स्यात्	१२	४५
यायजूककुले जन्म	१३	९५
या लक्ष्मी: सर्वभूतानाम्	२	८२
यावज्जीवं वसेद् यस्तु	२५	६४
यावत् स पारणं कर्तुम्	७	११८
यावत्स्वलोमसंख्याऽस्ति	४	५९
यावत्स्वशक्ति शक्तोऽपि	१	८५
यावत्स्वस्थोऽस्ति मे देह:	७	३८
यावदित्थं कथाश्चक्रु:	८	३६
यावदित्थं स पुण्यात्मा	२२	२२
यावदुन्मील्य नयने	१९	७८
यावद्व्रजेत् त्रिचतुराणि	५	५२
यावन्ति विष्वक्तेजांसि	२०	२७
यावन्नैत्यायुषश्चात:	२५	२९
युक्तमुक्तं पुराविद्भि:	१	६८
युक्तायुक्तविचारोऽथ	१	७६
युगपन्नो हृतं सर्वम्	१६	४९
युगानां प्रथमोऽसि त्वम्	२१	३९
युगे युगे द्वारवत्या:	७	११०
युवनाश्वो दन्तवक्र:	८	९६
यूकां संवीक्ष्य वीक्ष्यैव	३	३९
यूय: प्रमाणं धर्मेषु	१३	११४
ये च वर्षनिमेषा वै	२२	१८
ये च स्वभावकठिना:	४	११८
ये तु प्रत्यष्टमि जना:	१४	७१
ये धर्मराजरचितां ललित-	८	१११
येन गोत्रभिदा गोत्रा	५	३
येन त्वा साऽशयत् क्रोधात्	१७	१०५
येन पुण्येन ते प्राप्तम्	२४	३२
ये पठिष्यन्ति च स्तोत्रम्	५	९९
ये प्रजा: पालयन्तीह	८	९१
ये ब्राह्मणा ब्रह्मरता:	२	५२
ये मुहूर्ता: क्षणा ये च	२१	६९
येयं कथा श्रुताऽस्माभि:	२	१११
ये वै भोगा: समुचिता:	१०	६७
येषां दृक्पातमात्रेण	५	८
ये स्वामिनं विहायाजौ	१६	५५
योगिनो यं हृदाकाशे	२	३२
योगिहृत्पद्मनिलयम्	११	१२४
योगेषु व्यतिपातस्त्वम्	२१	४०
योजनानां सहस्राणि	२२	५५
योजनानां सहस्रे द्वे	२	१८
यो यज्ञपुरुषो विष्णु:	१९	११४
यो लुब्ध: पिशुन: क्रूर:	६	३४
योऽसावादित्यपुरुष:	९	३९
योऽसौ पूर्वं महाक्रान्ति:	१५	२३
यौवनं गत्वरं ज्ञात्वा	७	७
रक्षो गुह्यकयक्षेषु	१४	६५
रज्जौ सर्प: शुक्तिकायाञ्च	१०	१२८
रणतूर्यनिनादैश्च	१६	६२
रत्नानामब्धिजातानाम्	१२	९४
रमयन्ती मनोऽतीव	१०	१
रयात्तु मांसकं भुञ्जन्	२०	३९
रविवारे सङ्क्रमश्चेत्	९	७५
रसवन्ति सुगन्धीनि	१२	५२
रसविक्रयिणं विप्रम्	८	८१
रसालयं रसालैस्तै:	१	८
राक्षसा निवसन्त्यस्याम्	१२	३
राजचम्पकधत्तूरकरवीरकुशेशयै:	१६	८४
राजन्यवर्यास्ते बाहू	१३	२१
राजाङ्कमारुरुक्षुर्हि	१९	९८
राज्ञा प्रसादलब्धानि	८	२३
राज्ञीनामयुतं भावि	२४	४
रात्रावब्जेषु सङ्कोच:	५	७६
रावणारे नमस्तुभ्यम्	२१	१७

राहुबाहुग्रहव्यग्रः	२	१७
रुग्णं तया किल तथा	११	९४
रुचिरोद्गारचित्राणि	१६	६५
रे रे भवे शोकजलैकपूर्णे	५	२१
रोरूयन्ते च पापानि	२	८०
रोहितोऽरण्यमहिषम्	३	४७
लक्ष्मीं श्रियं च कमलाम्	५	८७
लक्ष्मीकान्तः स्वयं साक्षात्	७	१०१
लक्ष्मीदेवीकटाक्षौघैः	२०	९५
लक्ष्मीपते मधुरिपो पुरुषोत्तमाद्य	८	१०३
लताप्रतानैः परितः	२२	२०
लब्धानुज्ञोऽथ सविता	१७	११६
लब्धोऽपि सिद्धिं नो यायात्	३	८३
लब्धोऽसि कतिभिः कष्टैः	१९	६१
ललाटकटिवक्षोभिः	११	६४
लसद्वामार्धनारीकम्	२३	३३
लाक्षालवणमांसानाम्	८	८६
लालापिबे च दुष्प्रेक्ष्य	८	८०
लिङ्गं संस्थाप्य सुमहत्	१५	९
लिङ्गं स्थापय यत्नेन	२१	११४
लिङ्गमत्रीश्वरं दृष्ट्वा	१८	१६
लिङ्गस्थापनपुण्येन	१६	११३
लिङ्गे मनः समाधाय	१३	१४२
लुप्तानि सर्वतेजांसि	२०	२२
लुब्धकस्तद्वने लुब्धः	१२	२७
लोकेऽतिवेलमतिवेलमहा-	१६	१०२
लोकैरध्युषितं लोकम्	८	१४
लोपामुद्रे न सा मुद्रा	५	७१
लोपामुद्रे स विप्रेन्द्रः	२४	८६
लोमशो लोमचरणः	११	१८
लोलार्कमुख्यसूर्यांश्च	१०	८३
लोहिताङ्गस्य लोकोऽयम्	१७	४
लोहितो नाम तत्रास्ति	२५	६
वक्षः कुक्ष्यलकं स्कन्धम्	११	६२
वचोऽमृतं समाकर्ण्य	२०	९३
वज्रवैदूर्यदीपानि	११	१३
वज्रव्यूहमनिर्भेद्यम्	१६	११
वत्स ते निश्चला भक्तिः	१३	१५१
वनश्रियः कुचाकारैः	१	१०
वयं त्वच्छरणं भूत्वा	१६	१२
वयं पान्था अनाथाः स्मः	१२	३४
वयं पिङ्गाक्षविश्वासाद्	१२	३५
वयश्च प्रथमं चारु	१७	९१
वयोऽथ चतुरं प्राप्य	२०	७०
वरं काशीपुरीवासः	३	७७
वरं ददामि ते भद्र	११	१५५
वरं वाराणसीरङ्कः	३	७९
वरं शरावहस्तस्य	२१	१०३
वरं हि काश्यां तृणवक्षगुल्मकाः	५	४७
वरणायास्तटे रम्ये	१८	२१
वरमेते पक्षिमृगाः	३	७५
वरमेते श्वापदा वै	३	५४
वरयोग्यास्मि चेन्नाथ	१०	७३
वरान् ददामि ते वत्स	१३	१५५
वरुणेशमिति ख्यातम्	१२	९७
वर्णाश्रमाश्च यद्राष्ट्रे	८	९२
वर्णेषु श्वेतवर्णोऽसि	२१	३३
वर्षं जपन्निदं स्तोत्रम्	१०	१४३
वसन्तीह प्रजाः स्रष्टुम्	१८	७
वसिष्ठश्च महाभाग	१८	८
वसुदत्तोऽत्र च वणिक्	१०	११५
वह्निकुण्डसमुद्भूत !	६	३
वाचं जग्राह स तदा	१९	९७
वाचां प्रपञ्चैश्चतुरैः	१७	४५
वाच्यवाचकसम्बन्धः	९	५४
वाणी प्रमाणीक्रियते	२०	१७
वापीकूपतडागानि	१२	७०
वामबाहुर्मदीयस्त्वम्	२३	६४

वाराणस्यां पञ्चनदे	२	६०
वाराणस्यां महाभाग:	१३	४
वाराणस्या रहस्यं च	५	१०८
वासुदेवजपासक्तान्	१९	१२१
वासो भागीरथीतीरे	१९	४३
विगृह्य पाणियुग्मेन	९	८६
विघ्नैरालोड्यमानोऽपि	२५	७५
विचार्याऽपि न जानीम:	१९	९३
विचार्येति स दुष्टात्मा	१२	४१
विचित्रेणैकचक्रेण	९	३१
विचित्रैश्च तथा पात्रै:	३	९
विजितानेकसमर:	२४	२५
विजित्य भानुना भानुम्	५	७४
विज्ञाताखिलशास्त्रार्थ:	१०	४६
विततेऽत्र जगत्यखिलेऽघहरम्	१७	४१
वितर्षयन्ति ये पुण्या:	१२	६०
वित्तशाठ्यं परित्यज्य	२१	११७
वित्रस्तपापां त्रिदशैर्दुरापाम्	५	१८
विदारयास्य मूर्धानम्	८	६०
विदीर्णदाडिमै: स्वान्तम्	१	१५
विदूरथोऽथ नृपति:	१०	११४
विद्या जातं समस्तं च	११	४३
विद्याधर: स्वच्छविद्य:	१०	१०६
विद्याधरै: सगन्धर्वै:	२३	५६
विद्याधर्यश्च किन्नर्य:	११	१५
विधवाकबरीबन्ध:	४	७४
विधवानां स्तना यद्वत्	५	६६
विधाय च द्राक् स हि पञ्च-	७	७४
विधाय नृत्यगीतादि	१३	१२०
विधाय विधिवत्तत्र	२४	३९
विधूय सर्वपापानि	३	१०७
विधेर्विधित्सत: पूर्वम्	१७	२५
विना तपो जपाद्यैश्च	२२	११२
विनायकेन स्कन्देन	१६	६९
विना यथा वैभवशक्तिमेकाम्	१६	४५
विना व्यवायसमयम्	४	२९
विनैवाऽर्थार्जनोपायम्	२५	३२
विनौषधैर्विना वैद्यै:	९	९१
विन्ध्य साधुरसि प्राज्ञ	५	५७
विपक्षपरिभूतेन	२०	७३
विपद्यपि परं धैर्यम्	१९	४७
विपन्नानां च जन्तूनाम्	२१	९८
विपन्नास्तेन पुण्येन	१४	१०
विपन्नो यत्र वै जन्तु:	७	९३
विपाशयन्ति ये पुण्या:	१२	५७
विपुलं च कलाज्ञानम्	१९	३८
विप्राऽवभासते यावत्	२३	११
विभ्रमो यत्र नारीषु	२४	९
विमानमिदमारुह्य	११	१६२
विमुक्तरागद्वेषो य:	१०	५६
वियच्च तावदुपरिविस्तार-	२३	१२
विवर्धिषति यो नीच:	५	६४
विशालशालमादाय	२०	४६
विश्वं त्वं नास्ति वै भेद:	१३	१३
विश्वम्भरात्मक बिभर्ति विभो	१६	१०७
विश्वरूपो विश्वकर्ता	९	७८
विश्वानर: सपत्नीक:	११	७९
विश्वानर महाभाग	११	४६
विश्वानरोटजं प्राप्य	११	४५
विश्वेशादक्षिणे भागे	१३	१६३
विश्वेशादक्षिणे भागे	१७	१२८
विश्वेश्वरो यत्र न तत्र चित्रम्	३	९८
विश्वेशं विश्वबीजानाम्	११	१३०
विश्वैकपावकनतावकपावकैक	१६	१०४
विषमालोड्य वा पेयम्	१३	११३
विषयेष्वतिसंराग:	६	३७
विष्णवे सत्त्वरूपाय	२	३४
विष्णो नृसिंह मधुसूदन चक्रपाणे	८	१०१

विष्णोरायतनं नैव	७	२२
विष्णोर्वक्षसि या लक्ष्मीः	२	८३
विष्णोर्वा मम वा शम्भोः	२	७४
विष्णोस्तु पूजनं कार्यम्	४	८१
विष्ल्व्याप्तावयं धातुः	२०	८
विष्वक्सेन नमस्तुभ्यम्	२१	२५
विसर्जितसमाधिं च	३	१०३
विस्तीर्णौ मांसलौ स्निग्धौ	११	७१
विहाय मातरं चैकाम्	४	५१
विहाय षट्पुरीश्चान्याः	२३	८
वीणामृदङ्गाब्जभेरीमरूडि-	२३	४९
वीणावेणुमृदङ्गादि	२२	४६
वीरेश्वरं समभ्यर्च्य	१०	१०९
वीरेश्वरं समाराध्य	१०	११३
वृद्धकाल क्षितिपते	२४	५८
वृद्धकालावनीपाल	२४	६७
वृद्धकालेश्वरं नाम	२४	७२
वृद्धकालेश्वरे लिङ्गे	२४	८०
वेतालीरूपमास्थाय	२०	५२
वेदवेदाङ्गवेदार्थान्	१३	३८
वेदवेदार्थतत्त्वज्ञः	१७	२८
वेदा इव सदभ्यस्ताः	१६	२५
वेदाभ्यासः कृतः पूर्वम्	८	३९
वेदास्त्वां न च विन्दन्ति	१३	१०
वेदेषूपनिषद्रूपः	२१	३४
वेद्यवेद्यस्वरूपाय	२१	२३
वैकुण्ठनगरात् काशीम्	२१	१०४
वैकुण्ठलोकादागत्य	२४	८७
वैकुण्ठस्यैकसोपानम्	७	११६
वैकुण्ठाय नमस्तुभ्यम्	२१	२४
वैकुण्ठैश्वर्यमासाद्य	२३	६५
वैदेशिकस्तथैकाकी	७	११९
वैधव्यं पालयन्त्येषा	२४	६१
वैमानिकास्तथाऽन्येऽपि	२०	२४
वैरं परित्यज्य लुठेत्	३	४३
वैराग्याद् गृहमुत्सृज्य	१०	५७
वैराजा यत्र ते देवाः	२२	११
वैवस्वतं मनुं ज्येष्ठम्	१७	७५
वैशाखे कार्तिके माघे	४	८३
वैशाखे जलकुम्भाश्च	४	८४
वैश्वानर समभ्येहि	११	५३
व्यग्रास्मि देवपूजार्थम्	१३	८०
व्यतीते तत्र कल्पे वै	१३	१३५
व्याघ्रेश्वरं वराहेशम्	१०	९४
व्यालग्राही यथा व्यालम्	४	५५
व्युष्टायामथ यामिन्याम्	१२	३२
व्योमव्याप्तिमतां त्वं वै	२१	३७
व्योम्नाऽपि शब्दगुणिना	२०	२९
व्रजन विलोकयाञ्चक्रे	१	६
व्रतोपवासनियमम्	४	३५
व्रतोपवासनियमैः	२४	४१
शक्रं कोपयता पूर्वम्	१	७३
शङ्केऽस्य द्वादशे वर्षे	११	७८
शङ्खचक्राङ्किततनुः	२१	६४
शतानि पञ्चवर्षाणि	१२	८७
शनिप्रदोषे सम्पूज्य	१४	४९
शनैश्चरं द्वितीयं च	१७	९६
शनैश्चरेश्वरं दृष्ट्वा	१७	१२७
शब्दं गृह्णास्यश्रवास्त्वं हि	१०	१३०
शब्दादिविषयाधारम्	२०	२१
शम्भोः सखित्वमापेदे	१३	२२
शम्भोः महेश करुणाकर	११	८९
शम्भोर्गणान् समालोक्य	१३	१०९
शम्भोर्वाक्यमथाकर्ण्य	१५	७
शम्भो शिव शिवाकान्त	१५	५८
शयनीयं न चोत्सृष्टम्	७	२८
शरवज्रप्रहारैस्तैः	१६	६७
शरीरं जीर्यते नित्यम्	२५	२७

शरीरहीना इव जीवसङ्घाः	१६	४३	शीर्णपर्णाशनः पक्षे	११	१३६
शशकैर्मशकैः काश्याम्	३	७८	शुक्रवन्निःसृतो यस्मात्	१६	७६
शाकशङ्खवनै रम्यम्	१	३१	शुक्रसम्बन्धिनी देवौ !!	१७	१
शाम्भवेनाथ योगेन	१६	७५	शुक्रेणोज्जीवितान् दृष्ट्वा	१६	२७
शालग्रामशिला येन	२१	६२	शुक्रेशमर्चयिष्यन्ति	१६	१२६
शालङ्कायनहारीतौ	११	२२	शुक्रेश्वरस्य ये भक्ताः	१६	१२८
शास्ति स्नेहार्द्रहृदया	१३	५०	शुक्रोदयान्मुदं लेभे	१६	७९
शिलादतनयं मृत्युग्रस्तम्	११	१०६	शुक्लपक्षे यथा चन्द्रः	३	१४
शिलोञ्छवृत्तयो ये वै	२२	१३	शुचिष्मत्यपि दुःखार्ता	११	८१
शिवं प्रसङ्गतोऽभ्यर्च्य	८	१२	शुचिष्मानिति विख्यातः	१२	६३
शिव देव गिरीश महेश विभो	१७	३९	शुण्डादण्डेन करटिः	३	३४
शिवनिन्दापरा ये च	२२	१०२	शुष्केन्धनानां भारांश्च	४	१७
शिवलोकस्तदुपरि	२	९२	शूद्रं ब्राह्मणजेतारम्	८	८५
शिवलोकाद् ब्रह्मलोकात्	७	५५	शूरः स एव स गुणी स बुधः	५	८४
शिवशर्मणि शर्मकारिणीम्	१४	७७	शूलिन् गिरीश रजनीश	८	१०६
शिवशर्मन् महाप्राज्ञ	१३	३५	शृणुकान्ते विचित्रार्थाम्	८	४
शिवशर्मन् महाबुद्धे	१६	१	शृणु तीर्थानि गदतः	६	२९
शिवशर्मन् महाभाग	१०	२	शृणु द्विज महाप्राज्ञ	९	३६
शिवशर्मन् महाभाग	१४	१५	शृणु पत्नि महाभागे	१५	१
शिवशर्मन् महाभाग	१८	२३	शृणु प्रभो ढुण्ढिविनायक त्वम्	५	३८
शिवशर्मन् शृणु कथाम्	१५	२२	शृणुष्व मैत्रावरुणे	२५	५५
शिवशर्मन्नुदर्कं ते	२४	१	शृणु सुश्रोणि सुभगे	११	१
शिवशर्मा दिवाप्युच्चैः	१४	१३	शृणु सूत प्रवक्ष्यामि	२५	१
शिवशर्मा व्रजन् सोऽथ	७	९०	शृणु सूत महाबुद्धे	३	५
शिवशर्मेति सञ्चिन्त्य	७	३७	शृणु सूत महाभाग	६	१
शिवस्मरणसंसक्ताः	१४	२	शृण्वगस्ते महाभाग	४	३
शिवालये समुद्दीप्य	१३	१३१	शृण्वन्ति महिमानं ये	७	९३
शिवलयेषु सर्वेषु	१३	१२३	शृण्वन्त्वमी पञ्च विनायकाश्च	५	३९
शिवैकदशमुद्बोध्य	१३	१३७	शैशवैः स शिशुर्नत्वा	१९	१९
शिवैक्यसुमहापात्रम्	१३	१३८	शैशवोचितनेपथ्यधारिणम्	१०	१२४
शिशो गृहपते शक्रात्	११	१५३	श्यामाकाञ्जलियाच्ञार्थम्	३	१००
शिष्यं पुत्रेण पश्यन्ति	८	३४	श्येनोऽपि वर्तिकां दृष्ट्वा	३	५७
शीते शीतापनुत्यै यः	१०	३१	श्रद्धया श्राद्धदा ये वै	१७	१८
शीलभङ्गेन दुर्वृत्ताः	४	६२	श्रद्धां विहाय ते ताते	१३	६०

श्रद्धाबीजो विप्रपादाम्बुसिक्तः	३	९५
श्रद्धावानेकभक्तश्च	९	६५
श्रमातुरेभ्यः पान्थेभ्य	१२	२१
श्रीकालराजञ्च ततः प्रणम्य	५	३२
श्रीखण्डे क्व स आमोदः	७	१०७
श्रीमदोङ्कारनाथं वा	१०	८६
श्रीमद्विश्वेश्वरो देवः	२४	३०
श्रीमुकुन्दपदद्वन्द्वपद्मामोद-	२०	१९
श्रीराम राघव रमेश्वर रावणारे	८	१०५
श्रीवत्सवज्रचक्राब्जमत्स्य-	११	७२
श्रीशैलमुख्याः किं शैलाः	१	६०
श्रीशैलशिखरं दृष्ट्वा	६	१८
श्रीशैलशिखरं श्रीमदिदम्	६	१३
श्रीशैलहिमशैलाद्याः	२५	३६
श्रीशैलो मोक्षदः सर्वः	६	६९
श्रीसूक्तं पावमानी च	७	२६
श्रुतं च यत्तदुत्सङ्गे	२५	५६
श्रुतिभिः परिपठ्येते	७	५४
श्रुतिस्मृतिपुराणज्ञाः	२	९५
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तम्	२२	३५
श्रुतिस्मृती तु नेत्रे द्वे	२	९६
श्रुत्वा तथा स वृत्तान्तम्	१३	९२
श्रुत्वाध्यायमिमं पुण्यम्	१७	१२९
श्रुत्वापीमां स्तुतिं मर्त्यः	२१	९२
श्रुत्वार्त्तनादमिति विश्वनरोऽपि	११	९५
श्रुत्वा सौरीं कथामेताम्	९	९४
शृङ्गाग्रे सर्वतीर्थानि	२	७८
श्रोतव्यानि पुराणानि	२	१०१
श्लक्ष्णं कोटिशलाकं च	२३	४४
षण्मासं नियताहारः	१४	६६
१. पासात् सिद्धिमगमत्	१०	११०
षाष्टर्दुहितरस्तस्य	१५	४
षोडशांशं स लभते	६	६३
संन्यस्ताऽखिलकर्मापि	११	५०
संयतोपस्करा दक्षा	४	११
संवत्सरं वसंस्तत्र	२५	६२
संवर्द्धयन सतां धर्मान्	२	२
संविदन्ते न यं वेदाः	२३	२१
संसारचिन्तामणिरत्र यस्मात्	७	७९
संसारतापतप्ताभ्याम्	११	११८
संसारमोहतिमिरभिदुरः	११	१२८
संसारसागरतटे हर दुःखभारम्	११	८७
संस्थाप्य लिङ्गं विधिना	१७	१२
संस्थाप्य लिङ्गं श्रीशम्भोः	१६	८३
संस्नाप्य वाससा पूतैः	११	१३४
स एवमुक्तो वृषभध्वजेन	१६	३५
सकर्पूरं च ताम्बूलम्	४	८६
सखे सुखं समाख्यावः	१७	२४
सगराद्या महीपालाः	१०	२२
स गत्वोत्तानचरणम्	१९	९
सगोरसैरन्नदानैः	३	१०
सङ्क्रमेषु न यैर्दत्तम	९	७०
स चापि योगी योगेन	१६	५२
सचैलमभिमज्ज्याऽथ	३	७
सचैलमाप्लुत्य जलेऽमले	७	७३
स चैवावभृथस्नातः	२१	६१
स तत्प्राप्य महाराज्यम्	१४	३०
स तीर्थराजगमनोद्यतस्य	२२	६५
सतूलैर्मृदुपर्य्यङ्कैः	३	११
स तेन रथमुख्येन	१४	२२
सत्कर्मणो विपाकोऽयम्	८	४६
सत्यं करिष्यन्निव तम्	११	१३८
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थम्	६	३०
सत्यमुक्तं मुनीशानाः	१९	११६
सत्यलोके प्रयागे च	२२	७३
सत्यलोकेश्वरविधे	२३	१
सत्यादुपरि वैकुण्ठः	२३	२१
सत्यायुषि न नो जातु	१६	५४

सत्वरं गत्वरं चायुः	८	४५	समं कृष्णलकेनापि	९	७२
सत्वरं गत्वरं सर्वम्	२२	२६	समभ्यर्थयितारोऽमी	४	११६
सत्त्वाः सत्त्वसमायुक्ताः	११	१०	समर्थस्त्वप्परोवर्गः	२०	३३
सदध्ना मधुनाज्येन	१	४४	समस्ततीर्थस्नानेन	२१	९०
सदम्भा निम्नगाराजिः	२४	८	स मातृदैवतो भिज्ञः	१९	७७
सदा कृतयुगं चाऽत्र	२२	८६	समाधिसमये सर्वम्	१२	८३
सदाऽनभ्युदिते भानौ	१३	९७	समालिलिम्प देवेशम्	१६	९२
सदा नारायणो देवः	१८	२५	समुत्पन्ने महाकार्ये	१७	४७
सदा मदं परित्यज्य	२२	३२	समुद्रानन्तरीयाणि	१२	६९
सदा सम्पन्नसस्यं च	२४	५	समृद्धिभाजो ह्यत्रापि	८	१८
सदा सुकृतिनो यत्र	२२	४९	सम्पश्यते तपोलक्ष्मीम्	१३	१५४
सदा सौम्यायनं तत्र	२२	८७	सम्पश्यते शिशुं तावत्	१२	८४
स दृष्ट्वा बालको वज्रम्	११	१४५	सम्पृच्छे जननि त्वाऽहम्	१९	२५
सदेहा कोकिलालापा	१०	१०७	सम्प्रधार्येति तेऽन्योऽन्यम्	१६	५८
सदैवमुपतिष्ठेरन्	९	६२	सम्प्राप्याऽथ महालक्ष्मीम्	५	७९
सदोऽजिरे च पाण्डित्यम्	१९	४१	सम्भूतिरनसूया च	१८	९
सद्भिश्च सङ्गतिर्नित्यम्	१९	४६	सम्यक् संविद्महे तात	२०	८५
सद्यः समस्तसुखदः	११	७	सरस्वती रजोरूपा	७	६४
सद्विद्यासु मनो धेहि	१३	५४	सरस्वती सिन्धुसङ्गः	६	२३
सन्ततावभृथक्लिन्नमूर्धजः	२४	२६	सर्गात्पुरा भवानेकः	१३	१४
सन्ति तीर्थान्यनेकानि	२२	६३	सर्जार्जुनाञ्जनैर्बीजैः	१	२६
सन्ति द्वीपा ह्यनेका वै	२२	५२	सर्पिर्लवणतैलादिक्षयेऽपि	४	३३
सन्ति पीठान्यनेकानि	१४	६८	सर्वं गङ्गासमं तोयम्	९	७३
सन्ति स्तोत्राण्यनेकानि	२१	९१	सर्वगोऽपि हि विश्वेशः	१७	९
सन्ति स्वर्गा बहुविधाः	२२	३८	सर्वगो मम रूपेण	१३	२६
सन्त्यक्तब्राह्मणाचारः	१३	४२	सर्वज्ञ एकः स प्रोक्तः	२३	२६
सपत्नीवाक्यभल्लीभिः	१९	५८	सर्वत्र लघुताहेतुम्	२२	३३
स पारदार्यैर्व्यसनैः	१३	६६	सर्वत्र शुचिता तात	१९	४०
सप्तद्वीपपते राज्ञः	१९	९५	सर्वदैव शिवेनाऽसौ	१३	१३२
सप्तधातुमयीभूततनौ	२२	६८	सर्वपूज्यशिलानां वै	२१	३२
सप्तानां च पुरीणां हि	७	८४	सर्वर्तुकुसुमाढ्यं च	२५	३
सप्तापि लोकपाला ये	१०	१९	सर्वलक्षणसम्भारसम्भृतः	१७	३०
स प्राप्य काशीं दुष्प्रापाम्	११	११४	सर्वस्य नाथस्य कुमारकाय	२५	१७
सफलर्द्धिरहं चाद्य	१	४७	सर्वार्थानामत्र दात्री भवानी	३	९६

सर्वाधिकारदानेषु	२३	७०
सर्वान्तरात्मा भगवान्	१०	१३६
सर्वाश्च तिथयो मन्दाः	१६	१२३
सर्वासामिह बुद्धीनाम्	२१	४१
सर्वेभ्यः कारणेभ्यश्च	२३	२८
सर्वेश्वर त्रिपुरसूदन देवदेव	८	१०४
सर्वेषां शासकश्चासौ	२३	२५
सर्वेषां हृदयावासः	२१	७५
सर्वेषाञ्च हृषीकाणाम्	२०	९
सर्वेषामेव भूतानाम्	११	१५६
स लब्धतेजा भगवान्	१४	२४
स वर्षाणां शतं कुक्षौ	१६	७४
सहस्रभोजनाद्यैश्च	१०	८४
सहस्राक्ष सहस्राङ्घ्रे	२१	२२
स होवाचेति जाबालिः	५	२५
सा कथा यत्र ते नाम	२१	४५
साक्षसूत्रकरान् किञ्चित्	१९	८६
साक्षात्किं वाडवाग्निर्वा	३	३०
साक्षादयं धर्मराजः	८	५०
साक्षान्मोक्षो न चैतासु	८	३
साक्षिण्य एताः किल काशि-	५	४३
सादित्यां मध्यमां सन्ध्याम्	९	४३
साधयिष्यामि वः कार्यम्	४	१२०
साधु साधु महाबुद्धे	८	३८
सापदं सम्पदं ज्ञात्वा	२५	२८
साऽपि ज्ञात्वा महावीर्यम्	१९	५६
साऽपि प्रत्युतभीता तम्	२०	८०
साऽपि भूतावली भीतिम्	२०	७६
साभिलाषास्तपस्यन्ति	१४	३
सामर्थ्यं प्राप्य चात्युच्चै	९	५६
साम्प्रतं नेक्ष्यते सोऽपि	१३	८५
सायमस्तमितः प्रातः	२	६
सारसो लक्ष्मणा कण्ठे	३	६७
सार्द्रवल्कलकौपीनैः	३	१०१
सा सुषुम्ना परा नाडी	५	२६
सिताऽसिते सरिच्छ्रेष्ठे	७	४६
सिद्धयोगीश्वरं पीठम्	१४	६४
सिद्धयोगीश्वरी साक्षात्	१४	६७
सिद्धलिङ्गमिहाख्यातम्	१०	११२
सीमन्तोऽथाष्टमे मासि	११	४
सुकृतं नैव सततम्	२४	६१
सुकोमलमहाराष्ट्री	२	११
सुखं शये सुशयने	१९	६३
सुखसुप्तं सुखाशीनम्	४	२१
सुगन्धचन्दनैः पुष्पैः	१३	२९
सुचिरं नरकान् भुक्त्वा	३	५८
सुतश्चाङ्गिरसो नाम	१७	२७
सुदक्षदक्षिणामाशाम्	२	१२
सुधर्मिणि गुणांस्तस्य	७	६७
सुनीत्या राजसेवायै	१९	८
सुनीलगमनं यद्वत्	२०	९८
सुपुष्पकृत्रिमोद्यानाः	२४	७
सुमरुत्तरुशाखाग्रप्रसारण-	१९	७६
सुरङ्गैश्चापि नारङ्गैः	१	११
सुरज्येष्ठः सुराचार्यम्	१७	५६
सुराऽपगाऽसि सरिताम्	२१	३०
सुरुच्यामुत्तमो ज्येष्ठः	१९	७
सुवासांसि सुवासाश्च	१०	६८
सुवासोपस्कराढ्यानि	९	२२
सुसूक्ष्माणि विचित्राणि	७	२४
सुस्नाता भर्तृवदनम्	४	२३
सुहृदि प्रेमसम्पन्ने	१३	३६
सूकरस्तब्धरोमाऽपि	३	३५
सूचीभी रोमकूपेषु	८	६२
सूत्रधार इव व्योमव्यायाम-	१९	३
सूपकारा न सन्त्यत्र	१०	१०
सूरः सूरोऽपि किं कुर्यात्	२	१६
सूर्य आत्मास्य जगतः	२	१

सूर्योदयात्प्रवर्तन्ते	२	२४
सेवते भर्तुरुच्छिष्टम्	४	१७
सोपस्कराणि वेश्मानि	२	६८
सोमवारव्रतकृत	१४	७५
सोमेश्वरं किमिन्द्रेशम्	१०	९५
सौभाग्यभाजिरूपाढ्ये	२४	२३
सौम्यमूर्तिविमानस्थः	८	३७
स्कन्दे विसर्जितध्याने	२५	५२
स्तुतिं कर्तुं न जानामि	१५	६०
स्तुत्यानया प्रसन्नाहम्	५	९०
स्तुत्याय स्तुतिरूपाय	२१	२७
स्तुत्वेति भूमौ निपपात विप्रः	१०	१३४
स्त्रीघ्नं गोघ्नञ्च मित्रघ्नम्	८	७६
स्त्रीणां हि परमश्चैकः	४	३७
स्त्रीधर्मिणी त्रिरात्रन्तु	४	२२
स्थाणो त्रिलोचन पिनाकधर	८	१०८
स्थावरा जङ्गमं रूपम्	११	२६
स्थितासु तासु निःश्वस्य	१८	४
स्थित्वा क्षणं शिव शिवेति	५	५१
स्थिरापायः सदा कायः	८	४४
स्थूललक्ष्यैः कथं लक्ष्याः	१३	११६
स्थूलवर्तिप्रदीपैश्च	४	१०१
स्नपयामास देवेशम्	१६	९१
स्नात्वा तु मणिकर्णिक्याम्	२	६१
स्नात्वा नित्यविधिं कृत्वा	१३	९१
स्नायाद्योऽभिलषन्मोक्षम्	२२	७१
स्पर्धते मेरुणा विन्ध्यः	२	१०३
स्पर्शनाद्देवदेवस्य	२०	१०३
स्पृशेन्नापि यदा मन्दः	१४	५९
स्फुटं दृष्टं मयाऽद्येति	१७	९०
स्मराङ्गजरजःपुञ्जपूजितावयवो-	२३	३४
स्मर्तव्यं विस्मृतं सर्वम्	७	१३१
स्मृत्याचारविहीनस्तु	१३	४३
स्मृत्युक्तश्रुतिवर्त्मनः	१२	४

स्मृत्वा शिवौ गणाध्यक्षम्	११	५६
स्रस्ताम्बरं विच्युतभूषणं च	१६	३७
स्वकण्ठं घर्षयत्वेव	३	४२
स्वकर्णविषयीकुर्वन्	९	७३
स्वनाम्ना तत्र संस्थाप्य	२४	३८
स्वनाम्ना लिङ्गमास्थाप्य	३	२८
स्वपत्न्यास्त्वेकदाऽऽदाय	१३	६८
स्वभावमधुरा वाणीम्	१९	३०
स्वमार्गगा धनाढ्याश्च	८	१६
स्वयं गृहीत्वा नियमम्	८	८९
स्वयं नियन्ता विश्वेशः	२२	९३
स्वयं वेद्यः परं ज्योतिः	२३	३०
स्वर्गदो मोक्षदश्चैव	२२	५९
स्वर्गापवर्गयोरेकः	७	१२६
स्वर्गापवर्गसम्पत्तिकारकं नात्र	१०	१४२
स्वर्गेष्विन्द्रपदादन्यत्	१०	१५
स्वर्धुनीदर्शनात्स्पर्शात्	३	८८
स्वर्धुन्याहारयष्ट्येव	११	११५
स्वर्लोकादधिकं रम्यम्	२२	३९
स्वर्लोकादपि रम्याणि	२२	४०
स्वल्पाभिः कररेखाभिः	११	६८
स्वसौधात् स विनिर्गत्य	१९	७५
स्वातन्त्र्यं न क्वचित् स्त्रीणाम्	१७	८६
स्वामिन् यथा भगवता	२५	५३
स्वार्थदीपदशोद्योतलिङ्गमौलि-	१३	१३०
स्वाहास्वधावषट्कारवर्जिते	२	२३
स्वैरं हसन्त्यद्य विधाय	५	४९
हंसो भानुः सहस्रांशुः	९	७७
हंहो किमंहो निचिताः प्रलब्धाः	५	११
हंहो सत्पुत्रजननि	१३	८२
हठाद्वा लोकभीत्या वा	१०	५४
हरत्यघं ध्वंसयति	२१	५४
हरार्चनोपविष्टस्य	१२	६६
हरिकेशवने रम्ये	१८	२०

हरिद्रां कुङ्कुमं चैव	४	२४
हरिनामाक्षरमुखम्	२१	६७
हरिर्हरित्सु सर्वासु	२०	४
हरिस्तु परिपस्पर्श	२०	१०२
हरेराराधनं पुंसाम्	२१	५३
हर्म्येषु नीलमणिभिः	१०	६
हव्यं कव्यं भूतबलिम्	२	३
हा कालभैरव भवानभितो	५	३४
हा काल बालकवती	११	९१
हा कालराज प्रतिभूतमत्र	५	३३
हाटकेशो महाकालः	७	९५
हा पूर्णचन्द्रमुख हा	११	८५
हा बाल हा विमल हा	११	८४
हा शिशो हा गुणनिधे	११	८२
हा हतोऽस्मीति वचसा	११	८०
हा हन्त हन्त भवता	११	९०
हितं च ते वदाम्येकम्	५	१०७
हितोपदेष्टा हितकृत्	१७	२९
हित्वा मोहं महाद्रोहरोपणम्	२२	३४
हिरण्यकशिपोर्वक्षः	२१	२०
हिरण्यगर्भो ब्रह्माऽत्रिः	१४	३२
हिरण्यगर्भो विज्ञेयः	७	५२
हुण्डौ च मुण्डयुद्धाय	३	४९
हृतमानेन तप्तव्यम्	२०	७४
हृष्टा हृष्टे विषण्णास्या	४	३२
हेमकूटत्रिकूटाद्याः	१	५८
हे यक्षराज रजनीकर चारुमूर्ते	५	३५
हेलिकश्चित्रभानुश्च	९	८३

✸